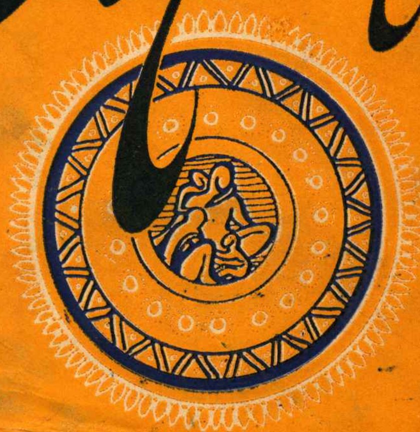
# हिन्दू परिवार-मीमांसा



श्री हरिदत्त वेदालंकार एम. ए.

# हिन्दू परिवार मीमांसा

•

हरिदत्त वेदालंकार

# हिन्दू-परिवार-मीमांसा

[ वैदिक युग से वर्तमान काल तक के हिन्दू-परिवार का ऐतिहासिक, समाजशास्त्रीय और तुलनात्मक अध्ययन ]

लेखक

**श्री हरिदत्त वेदालंकार**, एम० ए०,

प्राध्यापक—गुरुकुल विश्वविद्यालय, काँगड़ी

प्रस्तावना-लेखक

**श्री वासुदेव शरण अग्रवाल**, एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्०

प्राध्यापक—हिन्दू विश्वविद्यालय, बनारस

प्रकाशक

**बंगाल हिन्दी मंडल**

८, रॉयल एक्सचेंज प्लेस, कलकत्ता-१

वितरक
भारती-भण्डार
लीडर प्रेस,
इलाहाबाद

प्रथम संस्करण
सं० २०११ वि०
मूल्य १०)

मुद्रक—
बी० पी० ठाकुर
लीडर प्रेस, इलाहाबाद

प्रजाभिरग्ने अमृतत्वमश्याम् ।।
ऋग्वेद ५।४।१०

हे अग्नि, मैं सन्तानों द्वारा अमृतत्व
का उपभोग करूँ ।

अर्धो ह वा ऽ एस आत्मनो यज्जाया तस्माद् यावज्जायां न
विन्दते नैव तावत् प्रजायते, असर्वो हि तावद् भवति।
अथ यदैव जायां विन्दतेऽथ प्रजायते तर्हि हि सर्वो भवति ।।
शतपथ ब्राह्मण ५।२।१।१०

पत्नी निश्चय से पति का आधा अंश है, अतः जब तक पुरुष पत्नी नहीं प्राप्त करता, सन्तान नहीं उत्पन्न करता, तब तक वह पूर्ण नहीं होता । किन्तु जब वह पत्नी उपलब्ध करता है, सन्तति प्राप्त करता है तो वह पूर्ण बन जाता है ।

सौ० सुधामयी विद्यालंकृता, एम० ए०

तथा

आयुष्मती उमा

को

## विषयानुक्रमणिका

---

# दो शब्द

"हिन्दू परिवार मीमांसा" पर श्री हरिदत्त जी वेदालंकार का प्रस्तुत ग्रन्थ बंगाल हिन्दी मंडल की सन् १९४६ की पारितोषिक-योजना के अन्तर्गत सर्वोत्कृष्ट समझा गया था और १२००) का पुरस्कार भेंट कर सम्मानित किया गया था। आज इस पुस्तक को प्रकाशित कराते हुए बंगाल हिन्दी मंडल को अत्यन्त हर्ष है।

सन् १९४२ में मंडल ने हिन्दी में उच्च महत्वपूर्ण विषयों पर सुन्दर मौलिक साहित्य निर्माण कराने की एक योजना तैयार की थी। तब से अब तक भारतीय दर्शन, संस्कृति, इतिहास, व्यापार, उपन्यास एवं नाटक आदि विभिन्न रोचक विषयों पर अपने अपने विषय के अधिकारी विद्वानों द्वारा साहित्य तैयार करवा कर मंडल ने हिन्दी साहित्य की श्रीवृद्धि में योगदान देकर अपने को सौभाग्यशाली समझा है।

परिवार सम्बन्धी विषय पर यह पुस्तक भारतीय इतिहास के वर्त्तमान युग में अपना एक विशेष महत्व रखती है। इस विषय पर हिन्दी में अभी तक कोई भी प्रामाणिक मौलिक ग्रन्थ न था। वैदिक युग से बीसवीं शताब्दी के मध्य तक हिन्दू-परिवार-प्रथा का वैज्ञानिक, शोधपूर्ण ऐतिहासिक तथ्यों पर आधारित यह ग्रन्थ बड़ी ही योग्यता के साथ लिखा गया है। हिन्दू परिवार का ऐसा सर्वांगीण विशद विवेचन करनेवाली अपनी कोटि की यह पहली ही पुस्तक है।

वर्त्तमान समय में जब हिन्दू परिवार के स्वरूप में क्रान्तिकारी परिवर्तन करनेवाले अनेक बिल हमारी लोक सभा में विचाराधीन हैं—यह पुस्तक समाजशास्त्र एवं इतिहास में अभिरुचि रखनेवाले पाठकों एवं राजनैतिक क्षेत्र के नेताओं को तो रुचिकर सिद्ध होगी ही, हिन्दी प्रेमी सम्पूर्ण जनता में भी इस पुस्तक का स्वागत होगा—ऐसा हमारा विश्वास है।

दीपावली सं० २०११ वि०
८, रॉयल एक्सचेन्ज प्लेस,
कलकत्ता

**कैलाशनाथ**
मंत्री
बंगाल-हिन्दी-मंडल

# प्रस्तावना

परिवार मानव समाज की एक महत्वपूर्ण संस्था है। समाज का संरक्षण और संवर्धन इस पर अवलम्बित है। इसकी महत्ता का अनुभव करते हुए वैदिक युग में शिक्षा समाप्त करने पर प्रत्येक स्नातक को आचार्य यह उपदेश देता था —प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः ( तैत्तिरीय उपनिषद् १।११।१ ) अर्थात् सन्तान रूपी तन्तु का विच्छेद मत करो। हिन्दू समाज में मनुष्य का विकास उस समय तक पूरा नहीं समझा जाता था, जब तक कि वह विवाह करके सन्तान नहीं उत्पन्न कर लेता था। इस पुस्तक में हमारे समाज की इस महत्व पूर्ण संस्था की वैदिक युग से वर्त्तमान काल तक की ऐतिहासिक और समाज-शास्त्रीय मीमांसा का एक विनम्र प्रयत्न है। इस में हिन्दू परिवार के अतीत का अनुशीलन, वर्त्तमान का चिन्तन और भविष्य का विवेचन है।

यह पुस्तक दो भागों में विभक्त है। दसवें अध्याय तक पूर्वार्द्ध में हिन्दू परिवार के उद्‌गम और प्रयोजन तथा इसके विकास पर प्रकाश डाला गया है; पति, पत्नी, पिता, माता, पुत्र, पुत्री, भाई, बहिन आदि सम्बन्धियों की स्थिति तथा आदर्शों का वर्णन है। ग्यारहवें अध्याय से हिन्दू परिवार के साम्पत्तिक और कानूनी स्वरूप का प्रतिपादन है। संयुक्त परिवार, उत्तराधिकार तथा बंटवारे के सामान्य सिद्धान्तों के ऐतिहासिक विवेचन के बाद पिता, पुत्र, पुत्री, पत्नी, और विधवा के साम्पत्तिक स्वत्वों के वैदिक युग से आज तक के विकास की प्रक्रिया को स्पष्ट किया गया है। अन्तिम अध्याय में हिन्दू परिवार के भविष्य पर प्रभाव डालने वाले तत्वों की मीमांसा तथा भावी परिवार की रूप रेखा का वर्णन है, इसमें हिन्दू कोडबिल का तथा उसके बाद प्रस्तावित तथा इस समय लोक सभा में पेश किये गये हिन्दू परिवार पर प्रभाव डालने वाले नवीन बिलों का भी विवेचन है। अन्त में कई उपयोगी परिशिष्ट हैं। एक में मनु, याज्ञवल्क्य, नारद आदि प्रसिद्ध स्मृतिकारों और दायभाग प्रभृति धर्मशास्त्र के प्रधान ग्रन्थों के काल का निर्देश है। दूसरे परिशिष्ट में पारिभाषिक शब्दों की अंग्रेजी-हिन्दी सूची दी गयी है। इस पुस्तक में इस बात का पूरा प्रयत्न किया गया है कि समाज शास्त्र तथा कानून के पारिभाषिक शब्द प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर निश्चित किये जांय।

उदाहरणार्थ Promiscuity के लिये महाभारत के आदिपर्व ( १।१२२। ) में प्रयुक्त कामचार शब्द को लिया गया है ( पृ० ३ ), Agnate तथा Cognate के लिये क्रमशः पितृबन्धु या गोत्रज और मातृबन्धु का प्रयोग किया गया है । तीसरे परिशिष्ट में हिन्दू परिवार के आदर्श को द्योतित करने वाले कुछ वैदिक मंत्रों और सुभाषितों का संग्रह ह । इस पुस्तक की भूमिका में डा० वासुदेव शरण जी अग्रवाल ने हिन्दू परिवार की महत्ता तथा उसके आदर्शों पर सुन्दर प्रकाश डाला है ।

हिन्दू परिवार के प्राचीन काल और मध्ययुग की ऐतिहासिक मीमांसा का प्रधान आधार वैदिक संहितायें, ब्राह्मण ग्रन्थ, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र, स्मृतियां, इनकी टीकायें , निबन्ध ग्रन्थ, संस्कृत, प्राकृत के नाटक, काव्य, पालि त्रिपिटक और जातक साहित्य तथा प्राचीन अभिलेख हैं । अनेक धर्मसूत्रों, स्मृतियों तथा निबन्धग्रन्थों का रचनाकाल विवादास्पद है । इस पुस्तक में प्रधानरूप से श्री पाण्डुरंग वामन काणे के हिस्टरी आफ् धर्मशास्त्र के प्रथम खण्ड में प्रतिपादित कालक्रम को स्वीकार किया गया है । धर्मशास्त्र संबन्धी प्रकरणों में लेखक को श्री काणे की उक्त पुस्तक के दूसरे खण्ड के तीसरे भाग से तथा धर्मकोश से बहुमूल्य सहायता मिली है । हिन्दू परिवार के आधुनिक काल के विवेचन का मुख्य आधार प्रिवी कौन्सिल तथा विभिन्न हाईकोर्टों के फैसलों की रिपोर्टें , भारत सरकार की ओर से बैठायी गयी अनेक समितियों के विवरण तथा हिन्दू कानून पर लिखे गये प्रामाणिक ग्रन्थ हैं । इन सब का सहायक ग्रन्थ-सूची में निर्देश किया गया है ।

हिन्दू परिवार से संबद्ध प्रायः सभी प्रश्नों पर एतिहासिक और सहेतुक मीमांसा करने का प्रयास किया गया है । उदाहरणार्थ दूसरे अध्याय में न केवल वैदिक काल से वर्त्तमान युग तक के हिन्दू परिवार के विकास का प्रतिपादन है, अपितु विभिन्न कालों में पाये जाने वाले परिवार के स्वरूप को उत्पन्न करने वाले कारणों और परिस्थितियों का भी निर्देश किया गया है । वैदिक युग में अथवा परवर्त्ती कालों में संयुक्त कुटुम्ब पद्धति का निर्देश करने के साथ उस के उत्पादक हेतुओं का भी विचार किया गया है । तीसरे अध्याय में परिवार में पति की सर्वोच्च स्थिति का उल्लेख करने के साथ, उन कारणों का भी निर्देश है जिनसे वह परिवार में देवता समझा जाने लगा । चौथे अध्याय में वैदिक युग के बाद परिवार में पत्नी की स्थिति गिरने के कारणों पर प्रकाश डाला ग है । अग्रजाधिकार, विभाग, उत्तराधिकारादि परिवार सम्बन्धी सभी महत्वपूर्ण

विषयों की विविध व्यवस्थाओं की सहेतुक व्याख्या की गयी है। पहले प्रत्येक प्रथा का ऐतिहासिक स्वरूप बताया गया है, तदनन्तर उस ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि के आधार पर उस के उद्गम, तथा प्रवर्त्तक कारणों के सम्बन्ध में ऊहापोह किया गया है, अन्त में उस प्रथा के आधुनिक रूप की समीक्षा है तथा उसके भविष्य के सम्बन्ध में विचार किया गया है। उदाहरणार्थ पत्नी के सतीत्व के सम्बन्ध में पहले भारतीय वाङमय की सामग्री को कालक्रम से उपस्थित किया गया है, तत्पश्चात् इसके ऐतिहासिक विकास का स्पष्टीकरण है, तदनन्तर इस व्यवस्था के उत्पादक हेतुओं का प्रतिपादन है और अन्त में इसके भावी रूप पर विचार है (पृ० १६२-१७२)।

ऐतिहासिक दृष्टि से हिन्दू परिवार का विवेचन करते हुए तुलनात्मक पद्धति का भरपूर प्रयोग किया गया है। प्रसिद्ध ब्रिटिश लेखक किपलिंग यह कहा करता था कि वे इंगलैण्ड के विषय में क्या जानते हैं, जो केवल इंगलैण्ड को जानते हैं। उस की इस उक्ति का यह आशय था कि दूसरे देशों का ज्ञान होने पर और उन के साथ इंगलैण्ड की तुलना करने पर ही इस देश का यथार्थ ज्ञान संभव है। यही बात हिन्दू परिवार के सम्बन्ध में कही जा सकती है। जो केवल हिन्दू परिवार को जानते हैं, वे इस का पूरा ज्ञान नहीं रखते हैं। यह तभी संभव है जब हम हिन्दू परिवार सम्बन्धी विभिन्न व्यवस्थाओं की यूनान, रोम, फ्रांस, जर्मनी, इंगलैण्ड, अमरीका आदि दूसरे देशों की तथा अन्य जातियों की तत्सदृश व्यवस्थाओं से तुलना करें। तुलनात्मक ज्ञान के अभाव में अनेक भ्रान्तियां उत्पन्न हो सकती हैं। उदाहरणार्थ आजकल 'न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति' ( मनु० ९।३ ) की व्यवस्था के लिये मनु आदि प्राचीन शास्त्रकारों को दोष दिया जाता है। किन्तु तुलनात्मक अध्ययन से यह प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में यह व्यवस्था सार्वभौम थी। चीन में कन्फूशियस ने स्त्री के संबंध में मनु के शब्दों को अक्षरशः दोहराया है, यूनान, और रोम में भी यही स्थिति थी ( पृ० ९४ )। वस्तुतः यह तत्कालीन परिस्थितियों का परिणाम था, इस के लिये मनु आदि को दोष नहीं दिया जा सकता। इसके साथ ही तुलनात्मक पद्धति से हमें यह भी ज्ञान होता है कि यद्यपि नारी को हिन्दू शास्त्रकारों ने परतन्त्र माना, तथापि स्त्रीधन के रूप में उन्होंने वैदिक युग में ही उसे ऐसे साम्पत्तिक स्वत्व प्रदान किये, जो पश्चिमी जगत् की नारियों को पिछली शताब्दी के अन्त में ही प्राप्त हुए हैं (पृ० ५४६)। इस पुस्तक में प्रायः सर्वत्र पादटिप्पणियों में दूसरे देशों तथा जातियों की हिन्दू परिवार के साथ सादृश्य

रखने वाली प्रथाओं तथा रीति रिवाजों का रोचक एवं ज्ञानवर्द्धक प्रतिपादन किया गया है। इस प्रकार के तुलनात्मक अध्ययन में लेखक को वैस्टरमार्क, फ्रेज़र, हाबहाऊस, लैकी, काली, स्पेन्सर आदि के ग्रन्थों से बड़ी सहायता मिली है। सहायक ग्रन्थसूची में ऐसी पुस्तकों का पृथक् रूप से उल्लेख किया गया है।

इस पुस्तक में लेखक ने श्री काशीप्रसाद जायसवाल, सर हेनरी मेन, बेडेन पावेल, जाली, मैकडानल, कीथ, ज़िमर, डेलब्रुइक, वैबर, राजवाड़े, राजकुमार सर्वाधिकारी आदि सुप्रसिद्ध विद्वानों से अनेक विषयों पर असहमति प्रकट की है। हिन्दू परिवार के उद्गम ( पृ० ३-९ ) पारिवारिक सम्पत्ति तथा स्त्रीधन के आदिम रूप (पृ० ४२, पृ० ५५९), वैदिक युग में अग्रजाधिकार, कन्यावध और परासन पद्धति के प्रचलन ( पृ० ४४०, पृ० २४४, पृ० १९२ ) और वैदिक परिवार के विषय में (पृ० २६ ) नये मत स्थापित किये गये हैं और इन्हें अधिक से अधिक प्रमाणों से पुष्ट किया गया है। सर्वत्र 'नामूलं लिख्यते किंचित्' की मल्लिनाथीय प्रतिज्ञा के निर्वाह का पूरा यत्न किया गया है।

हिन्दू परिवार के सर्वांगीण वैज्ञानिक विवेचन का हिन्दी में यह प्रथम प्रयास है। अंग्रेजी तथा जर्मन आदि योरोपियन भाषाओं में हिन्दू परिवार के विशेष कालों और विशिष्ट प्रश्नों के अनेक प्रामाणिक अध्ययन हुए हैं, किन्तु लेखक की जानकारी में इस प्रकार का ऐतिहासिक दृष्टि से हिन्दू परिवार के सब पहलुओं का विवेचन करनेवाला कोई ग्रन्थ नहीं है। इस विषय की गुरुता, गम्भीरता और जटिलता के साथ लेखक अपने अल्प अध्ययन और सीमित सामर्थ्य से भी अपरिचित नहीं है। फिर भी उसने यह प्रयास इसलिये किया है कि ऐसे महत्वपूर्ण विषय पर अभी तक कोई अध्ययन नहीं था। लेखक को उस समय तक सन्तोष नहीं होगा, जब तक उसका यह विनम्र प्रयास विद्वानों द्वारा कसौटी पर कसा जाने पर खरा न उतरे। लेखक की यह धारणा है—'आ परितोषाद्विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्।'

यह पुस्तक १९४६ ई० में लिखी गयी थी। इस का प्रकाशन बहुत विलम्ब से हो रहा है, किन्तु इससे इसे अद्यतनीन बनाने और संशोधित करने में बड़ी सहायता मिली है। १९५१ की भारत की जनगणना रिपोर्ट द्वारा प्रकाश में आये परिवार सम्बन्धी कुछ महत्वपूर्ण तथ्यों का तथा हिन्दू परिवार पर प्रभाव डालने वाले हिन्दू कोड तथा उसके बाद प्रस्तावित बिलों की चर्चा का इसमें समावेश

हो सका है। १९५४ ई० के अन्त तक प्रस्तावित हिन्दू उत्तराधिकार आदि परिवारसम्बन्धी सभी नये बिलों का इसमें प्रतिपादन है।

यह पुस्तक लेखक के निवासस्थान से बहुत दूर प्रयाग में छपी है, कई वार अन्तिम प्रूफ न देखे जाने से मुद्रण में कुछ अशुद्धियां रह गयी हैं, इन को शुद्धि पत्र में दे दिया गया है। ग्रन्थ के अन्त में विस्तृत अनुक्रमणिका भी है।

ऐसा सुना जाता है कि पिछली शताब्दी में जब एक बार भारत सरकार के सम्मुख स्वर्णमान ( गोल्ड स्टैण्डर्ड ) को अपनाने का जटिल प्रश्न उपस्थित हुआ तो अर्थ विभाग के एक अध्यवसायी सचिव ने इस प्रश्न के सभी पहलुओं की मीमांसा करने वाला सौ पृष्ठ का एक वक्तव्य तय्यार किया, ताकि उसे पढ़ कर अर्थमन्त्री स्वर्णमान के सम्बन्ध में अपना निर्णय कर सकें और उसे इस टिप्पणी के साथ मन्त्री के पास भेजा कि आप भले ही कुछ और न पढ़ें, किन्तु इस वक्तव्य का अवश्य अनुशीलन करें। अर्थमन्त्री ने उसे वैसे ही वापिस करते हुए लिखा —"नहीं, मैं इतना लम्बा वक्तव्य कभी नहीं पढ़ सकता; यदि यह दो पृष्ठों में लिखा हो तो इसका वाचन कर सकता हूँ। संभवतः अनेक पाठक और समाचारपत्रों के आलोचक 'गति के वर्त्तमान युग' में, उक्त अर्थमन्त्री की भांति सात सौ पृष्ठ की पुस्तक का सारांश मात्र ही जानना चाहेंगे, अतः यहां प्रत्येक अध्याय में प्रतिपादित महत्वपूर्ण विषयों का निर्देश करना समीचीन प्रतीत होता है।

पहले अध्याय में हिन्दू परिवार के उद्गम और उद्देश्य की विवेचना की गयी है। १९ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में पश्चिम के प्रसिद्ध समाजशास्त्री मैकलीनान (१८२७-१८८१ ) बेखोफन ( १८१५-८० ) और मोर्गन ( १८१८-८१ ) ने यह कल्पना की थी कि मानव समाज की आदिम अवस्था में स्त्री-पुरुष सम्बन्ध के कोई निश्चित नियम नहीं थे, स्वच्छन्द आचरण की इस दशा को कामचार (Promiscuity), यूथ विवाह ( Group marriage ) या सामूहिक विवाह ( Communal Marriage ) कहा जाता था और यह माना जाता था कि कामचार से ही बाद में विवाह और परिवार की उत्पत्ति हुई। यद्यपि उपर्युक्त सभी विद्वान् कामचार को आदिम अवस्था स्वीकार करते थे, किन्तु इससे परिवार की उत्पत्ति की प्रक्रिया के सम्बन्ध में उनमें बड़ा मतभेद था। मैकलीनान के मत में पुरुष में यह इच्छा उत्पन्न हुई कि वह अपनी ऐसी वैयक्तिक स्त्री रखे, जिस पर दूसरे पुरुषों का कोई अधिकार न हो, अपनी जाति या क़बीले में उसके लिये यह संभव न था, अतः वह दूसरे

क़बीलों से स्त्रियां भगा कर लाने लगा, ये उस की वैयक्तिक सम्पत्ति मानी गयीं और इससे परिवार प्रथा का श्रीगणेश हुआ। स्विस समाजशास्त्री बेख़ोफ़न का विचार था कि स्त्रियां अपने स्वच्छन्द उपभोग और वेश्यावृत्ति से ऊब उठीं, उन्होंने इसके विरुद्ध विद्रोह किया और इससे नियमबद्ध विवाह प्रथा का जन्म हुआ। मोर्गन द्वारा किये रेड इंडियनों की कुछ जातियों के सामाजिक अध्ययन के आधार पर कार्लमार्क्स के सहयोगी एन्जेल्स ने यह कल्पना की कि मनुष्य में पशुचारणावस्था ( Pastoral Stage ) में वैयक्तिक सम्पत्ति संग्रह करने की भावना उत्पन्न हुई। उस समय जहां पुरुषों ने पशुओं को धन समझ कर संचित किया, वहां स्त्रियों को सम्पत्ति मान कर, उन्हें भी बटोरना शुरू किया। आजकल अधिकांश समाज-शास्त्री उपर्युक्त मनोरंजक कल्पनाओं को ऐतिहासिक तथ्य नहीं स्वीकार करते और न ही यह मानते हैं कि मानव समाज में परिवार जैसी जटिल सामाजिक संस्था का विकास इस प्रकार की किसी सरल और सार्वभौम रीति से सर्वत्र एक जैसी अवस्थाओं में से गुजरते हुए हुआ है ( पृ० ३३२ )।

किन्तु हिन्दू परिवार के उद्‌गम के सम्बन्ध में विचार करते हुए अनेक विद्वानों ने कामचार को उस की आदिम दशा माना है ( पृ० ३ ) और महाभारत के कुछ प्रमाणों के आधार पर इस की पुष्टि की है। प्रथम अध्याय में इन प्रमाणों की आलोचना करते हुए इस कल्पना को अमान्य ठहराया गया है ( पृ० ३-९ ) तथा यह बताया गया है कि पश्चिम में समाजशास्त्रीय नवीन अनुसन्धान और गवेषणा से कामचार की कल्पना सर्वमान्य नहीं रही है (पृ० १०-१२)। इस के बाद इस अध्याय में हिन्दू परिवार के प्रयोजनों को स्पष्ट करते हुए परिवार विषयक हिन्दू आदर्श की तत्सम्बन्धी ईसाई आदर्श से रोचक तुलना की गयी है।

दूसरे अध्याय में वैदिक युग से वर्त्तमान काल तक के हिन्दू परिवार के विकास का प्रतिपादन है। इस में संयुक्त हिन्दू परिवार पद्धति का स्वरूप स्पष्ट करते हुए यह बताया गया है कि विभिन्न समयों में किन कारणों से संयुक्त कुटुम्ब-पद्धति पुष्ट होती रही है। पूर्व वैदिक युग में धर्म और कृषि-प्रधान आर्थिक जीवन इसके प्रधान पोषकतत्व थे (पृ० ३२-३८)। उत्तर वैदिक युग में संयुक्त परिवार का विघटन मनोवैज्ञानिक कारणों से तथा कुछ सामाजिक परिस्थितियों से प्रारम्भ हुआ, किन्तु फिर भी हमारे समाज में संयुक्त परिवार की अक्षुण्ण परम्परा चलती रही। ६०० ई० पू० से ६०० ई० तक इसमें विघटन की प्रवृत्ति प्रबल होने के कई संकेत मिलते हैं (पृ० ५३-३६), इनमें पिता के बंटवारा करने

के अधिकार का अपहरण, बंटवारे की प्रशंसा और स्वार्जित सम्पत्ति का विकास विशेष रूप से उल्लेखनीय है । किन्तु इनके बावजूद हिन्दू परिवार में संयुक्त कुटुम्ब-पद्धति की प्रधानता बनी रही और मध्ययुग में छठी से १९वीं शती तक हिन्दू परिवार में अनेक कारणों से ( पृ० ६४-६५ ) इस का प्रचलन बना रहा । वर्त्तमान युग में संयुक्त हिन्दू परिवार का विघटन बड़ी तेज़ी से हो रहा है । इसके प्रधान हेतु निम्न हैं—नवीन आर्थिक परिस्थितियां, व्यष्टिवाद आदि नूतन विचार धारायें और वैयक्तिक अधिकारों पर बल देने वाले पश्चिमी कानून इन सब की विवेचना करते हुए (पृ० ६८-७५) वर्त्तमान समय में संयुक्त परिवार पद्धति से होने वाली हानियों का निर्देश करते हुए, इस प्रणाली के लाभों का भी प्रतिपादन किया गया है ( पृ० ८१-८२) और यह बताया गया है कि संयुक्त परिवार का विघटन होने पर भी हमें उसकी विशेषताओं को नये एकाकी परिवार में अवश्य ग्रहण करना चाहिये ।

तीसरे अध्याय में हिन्दू परिवार में पति की स्थिति पर प्रकाश डालते हुए यह बताया गया है कि पति की प्रभुता के विकास की तीन अवस्थायें रही हैं। वैदिक युग में पति-पत्नी के अधिकारों में समानता थी, ६०० ई० पू० से पति पत्नी का गुरु बना तथा २०० ई० से उसे देवता माना जाने लगा । उसके देवता बनने के कारणों की विवेचना करते हुए ( पृ० ९४-९९ ) यह बताया गया है कि वर्त्तमान युग में किन कारणों से इस स्थिति का अन्त होकर वैदिक युग की पति-पत्नी की समान स्थिति के आदर्श का प्रत्यावर्त्तन हो रहा है । इस अध्याय में पत्नी के दान, ताडन तथा अधिवेदन सम्बन्धी पति के अधिकारों का, पत्नी के भरण, पोषण, रक्षण, सद्व्यवहार विषयक पति के कर्त्तव्यों का विवेचन है और अन्त में पत्नी द्वारा शासित भार्यावश्य पतियों के सम्बन्ध में शास्त्रकारों की मनोरंजक व्यवस्थाओं का उल्लेख है ।

चौथे अध्याय में पत्नी की स्थिति का वर्णन है और यह बताया गया है कि वैदिक युग में उच्च स्थिति का उपभोग करने वाली हिन्दू स्त्री परवर्त्ती युगों में किन कारणों से शोचनीय अधोगति को प्राप्त हुई (पृ० १३३-१४४) तथा नारी को क्यों अस्वतन्त्र घोषित किया गया । पत्नी के कर्त्तव्यों की मीमांसा करते हुए स्त्रियों पर सतीत्व का बन्धन लगाने के कारणों का तथा इस के भविष्य का विवेचन किया गया है ( पृ० १६४-७२ ) । प्रायः यह समझा जाता है शास्त्रकारों ने हिन्दू समाज में स्त्री को हीन स्थिति प्रदान की है, किन्तु इस अध्याय में वर्णित पत्नी के अधिकारों से यह स्पष्ट होगा कि उपर्युक्त धारणा

सत्य नहीं हैं ( पृ० १७३-७५ ), शास्त्रों में नारी की जो निन्दा की गयी है, वह वास्तविक नहीं, किन्तु अर्थवाद मात्र है ।

पांचवें अध्याय में हिन्दू परिवार में पिता की स्थिति पर प्रकाश डालते हुए मेन के इस मत का खण्डन किया गया है कि प्राचीन हिन्दू परिवार में पिता को रोमन समाज के पिता की भांति अपनी सन्तान के साथ मनमाना व्यवहार करने, उसे प्राणदण्ड आदि देने का अमर्यादित अधिकार था और भारत में पूर्ण पितृ-प्रभुत्व (Patria Potesta) की पद्धति प्रचलित थी ( पृ० १८२-१९३ ) ।

छठे अध्याय में परिवार में माता के स्थान और महत्व का प्रतिपादन करते हुए अपने पुत्रों को वीरता का पाठ पढ़ाने वाली विदुला जैसी माताओं का उल्लेख है । सातवें अध्याय में पुत्र की स्थिति का वर्णन है । पुत्र की अधिक आकांक्षा रखने के कारणों का विवेचन करते हुए, उसकी प्राप्ति के लिये हिन्दू समाज में देवपूजन से नर-बलि तक के उपायों का निर्देश है । पुत्र के कर्त्तव्यों का उल्लेख करते हुए पुत्र द्वारा पिता की आज्ञापालन और वश्यता के प्राचीन दृष्टान्त दिये गये हैं और अन्त में यह बताया गया है कि वर्त्तमान युग में किन कारणों से पुत्रों की वश्यता में ह्रास आ रहा है ।

आठवें अध्याय में हिन्दू कुटुम्ब में पुत्री की स्थिति का विवेचन है । यद्यपि वैदिक युग से उसकी स्थिति अच्छी नहीं रही, मध्ययुग में कन्यावध की कुरीति भी भारतीय इतिहास के पृष्ठों को कलंकित करती रही है ( पृ० २४६-४८ ), तथापि हिन्दू कन्यायें पिता के अगाध प्रेम का पात्र रही हैं और उनका दर्शन सदैव मांगलिक समझा जाता रहा है ( पृ० २५३-५५ ) ।

नवें अध्याय में भाई, बहिन, देवर, बहू, मामा प्रभृति संबन्धियों का वर्णन है । राम, लक्ष्मण और भरत के भ्रातृ प्रेम का रामायण में वर्णित उच्च आदर्श अत्यन्त प्राचीन काल से हिन्दू परिवार को प्रभावित करता रहा है । राखी और भैयादूज के त्यौहारों में प्रतिबिम्बित होने वाला भाई-बहिन का निःस्वार्थ प्रेम अन्य समाजों में दुर्लभ है । यह बताया गया है कि औरंगजेब जैसा हिन्दू-द्वेषी सम्राट् भी उदयपुर की राजमाता की राखी स्वीकार करता था ( पृ० २६१ ) । परिवार में ननद के व्यवहार पर लोकगीतों के माध्यम से रोचक प्रकाश डाला गया है । देवर भाभी के आदर्श सम्बन्ध को लक्ष्मण-सीता तथा हरदौल के उदाहरणों से स्पष्ट किया गया है । महाभारत से सास बहू के अत्यन्त मधुर संबन्धों का प्रतिपादन किया गया है ( पृ० २६८-९ ), किन्तु प्राचीन काल में सर्वदा और सर्वत्र ऐसे सम्बन्ध रहे हों, सो बात नहीं है । बौद्ध साहित्य में सास-बहू के संघर्ष

के अनेक संकेत मिलते हैं ( पृ० २७० )। हिन्दू परिवार में वैदिक युग में मामा का कोई विशेष महत्त्व नहीं था, किन्तु रामायण, महाभारत और स्मृतियों के समय तक मातुल की महिमा बहुत बढ़ गयी। दसवें अध्याय में यह बताया गया है कि प्रत्येक हिन्दू परिवार में गृहस्थ के क्या कर्त्तव्य समझे जाते थे। शास्त्रकारों की दृष्टि में गृहस्थ का लक्ष्य पंच महायज्ञ तथा अन्य आवश्यक कार्य करते हुए शनैः शनैः धर्म संग्रह करना था। गृहस्थाश्रम में ऋषि, देव और पितृ ऋणों को उतार कर ही मनुष्य मोक्ष प्राप्त कर सकता था, इन्हें उतारे विना मुक्ति के लिये संन्यासी हो जाने वाला व्यक्ति मनु के मतानुसार नरकगामी होता है।

ग्यारहवें अध्याय में संयुक्त परिवार के कानूनी स्वरूप तथा उत्तराधिकार के सामान्य सिद्धान्तों का विवेचन करते हुए मिताक्षरा और दायभाग सम्प्रदायों के कुटुम्बों की विशेषतायें बतायी गयी हैं तथा दोनों प्रकार के परिवारों में दायादों के क्रम का भेद स्पष्ट करते हुए मतभेद के कारणों पर प्रकाश डाला गया है। इसके बाद हिन्दू परिवार के उन सदस्यों का वर्णन है, जिन्हें दायार्ह नहीं समझा गया; विधवा, पुत्री, माता दादी, परदादी के अतिरिक्त, स्त्रियां सामान्य रूप से दाय की अधिकारिणी नहीं समझी जातीं। इस का कारण स्त्रियों को साम्पत्तिक स्वत्व से जान बूझ कर वंचित करना नहीं था, किन्तु इसके कुछ विशेष हेतु थे ( पृ० ३२७ )। इन्हें स्पष्ट करने के बाद मलाबार की मातृक-परिवार-पद्धति में दायहरण की परिपाटी का प्रतिपादन है। अधिकांश हिन्दू समाज की परिवार-पद्धति पितृमूलक है, पिता कुटुम्ब का केन्द्र होता है, वंश परम्परा पिता द्वारा निर्धारित होती है, पुत्र पिता की सम्पत्ति प्राप्त करते हैं, किन्तु मलाबार में पुत्र को यह अधिकार नहीं है, भांजा उत्तराधिकारी बनता है। भांजे द्वारा दायहरण की यह व्यवस्था मरुमक्कत्तायम् कहलाती है और एक स्त्री से प्रादुर्भूत हुआ उस के नर नारी वंशजों का कुटुम्ब तरवाड़। इस अध्याय में इन सब की सहेतुक मीमांसा की गयी है।

बारहवें अध्याय में संयुक्त परिवार की सम्पत्ति के बंटवारे (विभाग) से सम्बन्ध रखने वाले प्रश्नों की विवेचना है। इस के स्वरूप का प्रतिपादन करने के बाद इसके विकास की अवस्थाओं का निर्देश है और यह बताया गया है कि किस प्रकार शनैः शनैः बंटवारा करने योग्य वस्तुओं में वृद्धि होती गयी, पहले वस्त्र, आभूषण, वाहन, स्त्रियां, घर, खेत आदि अविभाज्य माने जाते थे, किन्तु गुप्त युग में बृहस्पति के समय तक सभी वस्तुयें विभाज्य मानी जाने लगीं ( पृ० ३५८-९ )। इसके साथ ही अपने वैयक्तिक परिश्रम और योग्यता से उपार्जित

सम्पत्ति अविभाज्य स्वीकार की गयी, वर्त्तमान युग में हिन्दू विद्याधन कानून द्वारा इसे मान्यता दी गयी है। वर्त्तमान काल में पैतृक सम्पत्ति का पुत्रों में समान रूप से बंटवारा होता है, परन्तु प्राचीन काल में बड़े लड़के को सम्पत्ति का एकमात्र उत्तराधिकारी बनाने या सम्पत्ति में से विशेष अंश देने की विषम विभाग की पद्धति भी प्रचलित थी। कात्यायन, बृहस्पति और विज्ञानेश्वर आदि शास्त्रकारों के विरोध से इस व्यवस्था का अन्त हुआ ( पृ० ३७५-७९ )। इसके बाद इस अध्याय में बंटवारा कराने का अधिकार रखने वाले और बंटवारे में हिस्सा लेने वाले सदस्यों का वर्णन है।

तेरहवें अध्याय में पिता के साम्पत्तिक स्वत्वों के विकास का प्रतिपादन है, संयुक्त सम्पत्ति पर पिता का स्वत्व शनैः शनैः क्षीण होने की तीन अवस्थाओं का वर्णन है और यह बताया गया है कि पैतृक सम्पत्ति को इच्छानुसार बांटने और उसमें विशेष अंश ग्रहण करने के अधिकारों को पिता ने किस प्रकार खोया है, पिता को पारिवारिक सम्पत्ति के दान करने का अधिकार कहां तक है, पिता के कौन से ऋण पुत्र द्वारा चुकाये जाने योग्य माने जाते हैं।

चौदहवें अध्याय में पुत्र के अधिकारों और प्रकारों का उल्लेख है। पैतृक सम्पत्ति में जन्म से पुत्र का स्वत्व मानने के सिद्धान्त का विकास दिखाते हुए यह बताया गया है कि पिता की प्रभुता से पुत्र को किस प्रकार मुक्ति मिली। इस के बाद ज्येष्ठ पुत्र के विशेष स्वत्वों-सम्पत्ति का एकमात्र उत्तराधिकारी होने तथा उसमें विशेष अंश ग्रहण करने का विशद विवेचन है (पृ० ४३८-४६०)। तदनन्तर हिन्दू शास्त्रों में स्वीकार किये गये बारह प्रकार के पुत्रों का स्वरूप बताते हुए इस व्यवस्था के कारणों पर प्रकाश डाला गया है और इस लोक प्रचलित धारणा का खण्डन किया गया है कि इनमें अवैध पुत्रों का समावेश है, एक तालिका द्वारा गौण पुत्रों द्वारा दाय ग्रहण करने के क्रम को सूचित किया गया है ( पृ० ४७२ ), क्षेत्रज, कानीन, पौनर्भव, पारशव प्रभृति पुत्रों का वर्णन करते हुए अन्त में दत्तक पुत्र का विशेष विस्तार से निर्देश किया है क्योंकि वर्त्तमान काल में औरस के अतिरिक्त इसी प्रकार के पुत्र की पद्धति अधिक प्रचलित है।

पन्द्रहवें अध्याय में कन्या के साम्पत्तिक अधिकारों का प्रतिपादन करते हुए उस के दायाद होने की तीन अवस्थायें बतायी गयी हैं—पहली अवस्था में वैदिक युग से ४ थी श० ई० पू० तक हिन्दू परिवार में सामान्य रूप से कन्या को दायाद नहीं माना जाता था, अभ्रातृमती और अविवाहिता होने की दशा में ही उसे दाय मिलता था। दूसरी अवस्था में कौटिल्य के समय से कन्या

को दायादों में गिना जाने लगा। याज्ञवल्क्य, विष्णु, बृहस्पति ने पुत्रों तथा विधवा के अभाव में उसे दायाद माना, मनु और याज्ञवल्क्य ने उसे सम्पत्ति में भाइयों के भाग का चौथा हिस्सा देने की व्यवस्था की। अधिकांश मध्यकालीन टीकाकारों ने कन्या के दायाद होने के वचनों को पुत्र बनायी हुई लड़की तक मर्यादित किया। किन्तु विज्ञानेश्वर ने विधवा के बाद कन्या के दायहर होने का प्रबल समर्थन किया। तीसरी अवस्था १९४३ से आरम्भ होती है, इस वर्ष कन्याओं को पैतृक सम्पत्ति में पुत्र के साथ दायाद होने का प्रस्ताव केन्द्रीय व्यवस्थापिका परिषद् में पेश किया गया। हिन्दू कोड में तथा १९५४ के हिन्दू उत्तराधिकार विधेयक में इस व्यवस्था को दोहराया गया है। इस अध्याय के अन्त में यह भी बताया गया है कि शास्त्रकारों द्वारा प्रतिपादित स्त्री की अस्वतंत्रता का अर्थ पुरुष की पराधीनता नहीं, किन्तु कानूनी मामलों में स्त्री की स्वतंत्र सत्ता का न होना है (पृ० ५४२)।

सोलहवें अध्याय में 'स्त्रीबुद्धि के समान जटिल' स्त्रीधन का विवेचन है। अधिकांश सभ्य समाजों में प्राचीन एवं मध्य काल में विवाहिता स्त्री को सम्पत्ति पर कोई स्वत्व न था, पश्चिमी जगत् में स्त्रियों को यह अधिकार पिछली शताब्दी के उत्तरार्ध में मिला है (पृ० ५४५)। किन्तु हिन्दू परिवार में स्त्री-धन पर पत्नी का स्वामित्व वैदिक युग से स्वीकार किया जाता रहा है। (पृ० ५४०)। महर्षि जैमिनि ने मीमांसा दर्शन में स्त्रियों के साम्पत्तिक स्वत्व का प्रबल पोषण किया है। इसमें सन्देह नहीं कि प्राचीन काल में स्त्रियों को दाय का उत्तराधिकारी न समझने वाले बौधायन जैसे धर्मशास्त्री थे, किन्तु इस के साथ ही विज्ञानेश्वर जैसे स्त्रियों के साम्पत्तिक अधिकारों के कट्टर समर्थक भी थे और स्त्रियों को दायानर्ह समझने वाले शास्त्रकार भी स्त्रीधन पर पत्नी का स्वामित्व स्वीकार करते थे। इस अध्याय में स्त्रीधन के स्वरूप और विविध प्रकारों का प्रतिपादन किया गया है।

सत्रहवें अध्याय का विषय विधवा के साम्पत्तिक स्वत्वों का विकास है। उसे पति की सम्पत्ति पाने का अधिकार बड़े लम्बे संघर्ष के बाद मिला है; इसे चार अवस्थाओं में बांटा गया है। पहली अवस्था में वैदिक युग से २०० ई० तक सामान्य रूप से विधवा को कोई साम्पत्तिक स्वत्व नहीं प्राप्त था। दूसरी अवस्था (२००-११०० ई०) में याज्ञवल्क्य ने विभक्त परिवार में प्रपौत्र पर्यन्त सन्तान न होने की दशा में विधवा को पति की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी बनाया। तीसरी अवस्था (११००-१९३७ ई०) में जीमूतवाहन आदि ने विभक्त और

अविभक्त दोनों प्रकारों के परिवारों में पुत्र, पौत्र और प्रपौत्र के अभाव में विधवा को दायाद बनाया। १९३७ ई० से चौथी अवस्था आरम्भ हुई, इस वर्ष 'हिन्दू स्त्रियों की सम्पत्ति' के कानून द्वारा उसे पुत्र के साथ पति की सम्पत्ति में अंशहर बनाया गया। विधवा यद्यपि दायाद बन गयी है, किन्तु पति की सम्पत्ति में उस का स्वत्व सीमित होता है, वह इसे बेचने, दानादि करने का स्वत्व नहीं रखती। इस अध्याय में विधवा के सीमित स्वत्व के दुष्परिणामों की चर्चा करते हुए, उसे कानून द्वारा दूर करने के प्रयत्नों का उल्लेख किया गया है।

अन्तिम अध्याय में हिन्दू परिवार के भविष्य का विचार किया गया है। इसमें पहले पश्चिमी जगत् के कुछ विचारकों की उन मनोरंजक कल्पनाओं का उल्लेख है, जिनमें आगामी युगों में परिवार-पद्धति के अन्त की संभावना प्रकट की गयी है तथा साथ ही पश्चिमी जगत् की उन परिस्थितियों का विवेचन है, जो इन कल्पनाओं का आधार हैं और यह बताया गया है कि विज्ञान द्वारा भले ही कितने आश्चर्यजनक आविष्कार हो जांय, किन्तु परिवार के सब प्रयोजनों को एक साथ पूरा करने वाली किसी अन्य संस्था का आविष्कार निकट भविष्य में संभव नहीं प्रतीत होता। अतः परिवार पद्धति के उन्मूलन की कोई आशंका नहीं है, किन्तु इसमें अनेक परिवर्त्तन होंगे। भारत में भावी कुटुम्ब-व्यवस्था वर्त्तमान हिन्दू परिवार-प्रणाली से अनेक अंशों में विभिन्न होगी, क्योंकि इस समय उस पर अनेक आर्थिक, राजनैतिक, दार्शनिक और सामाजिक तत्व प्रभाव डाल रहे हैं। इन तत्वों की समीक्षा के बाद यह परिणाम निकाला गया है कि भविष्य में हिन्दू परिवार में संयुक्त-कुटुम्ब-पद्धति का अन्त निश्चितप्राय है, पति-पत्नी के अधिकारों में वैषम्य समाप्त हो जायगा, पति और पिता के रूप में परिवार में पुरुष की वर्त्तमान प्रभुता कम हो जायगी, नैतिकता के दोहरे आदर्श का अन्त होगा, परिवार के स्थायित्व में पहले की अपेक्षा कमी होगी, कुटुम्ब में सन्तानों की संख्या घटेगी, पर दाम्पत्य प्रेम में वृद्धि होगी।

इस पुस्तक के प्रणयन की प्रेरणा का तथा प्रकाशन की व्यवस्था का अधिकांश श्रेय बंगाल हिन्दी मण्डल कलकत्ता को है। मण्डल के अवैतनिक मंत्री श्री कैलाशनाथ जी ने इसके प्रकाशन में जो उत्साह और अनुराग दिखाया है, उसके लिये लेखक उनका तथा मण्डल का बहुत आभारी है। लीडर प्रेस के व्यवस्थापक श्री बिन्दा प्रसाद जी ठाकुर तथा जाब विभाग के अध्यक्ष श्री शुकदेव जी दुबे और पटवर्धन जी ने इसके मुद्रण में बहुमूल्य सहयोग दिया है, श्री रघुवर जी पांडे ने अन्तिम प्रूफों में भी संशोधन स्वीकार करके इस के शुद्ध

प्रकाशन में बड़ी सहायता की है, लेखक इन सब महानुभावों का कृतज्ञ है। इन के अतिरिक्त इस पुस्तक के सम्बन्ध में बहुमूल्य सुझाव देने तथा इसके प्रूफ संशोधन में सहायता देने के लिये वह अपने गुरु श्री पं० वागीश्वर जी विद्यालंकार साहित्याचार्य एम० ए० का, और सहयोगी श्री पं० धर्मदेव जी वेदवाचस्पति एम० ए० का, श्री रामनाथ जी वेदालंकार एम० ए० का, श्री शंकर देव जी विद्यालंकार एम० ए० का तथा श्री रामेश बेदी का अत्यन्त अनुगृहीत है। इस पुस्तक की प्रेस कापी तय्यार करने में उसके शिष्य रामप्रताप ने बड़ी सहायता की है। श्री वासुदेव शरण जी अग्रवाल एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट् ने इस पुस्तक की बड़ी सुन्दर और विद्वत्तापूर्ण भूमिका लिख कर लेखक को अनुगृहीत किया है। इस की छपाई के सम्बन्ध में इलाहाबाद जाने पर, श्री पं० नवरत्न जी विद्यालंकार के प्रेमपूर्ण, अविस्मरणीय आतिथ्य से इस के शीघ्र मुद्रण में बड़ा सहयोग मिला है, इसके लिये लेखक उनका बहुत आभार मानता है। गुरुकुल पुस्तकालय के भूतपूर्व अध्यक्ष श्री रामरक्खामल जी ने लेखक को इस ग्रन्थ के प्रणयन में जो सुविधायें दीं, उनके लिये वह उनके प्रति बहुत कृतज्ञ है।

इस पुस्तक में प्राचीन ग्रन्थों के सैंकड़ों प्रतीक हैं, इन्हें यद्यपि यथाशक्ति शुद्ध रखने का प्रयत्न किया गया है, तथापि कुछ अशुद्धियों का रह जाना संभव है। इन्हें तथा अन्य भूलों को प्रदर्शित करने वाले तथा इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में उपयोगी सुझाव देने वाले महानुभावों का लेखक बहुत आभारी होगा।

गुरुकुल कांगड़ी
कार्त्तिकी पूर्णिमा २०११ हरिदत्त
२५ नववम्बर १९५४

# भूमिका

भारतीय समाज विश्व के इतिहास में एक महती संस्था है। इसके अन्तर्गत करोड़ों मानवों का जीवन संचालित होता आया है और इसके आदर्शों के अनुसार चल कर वे अपनी विविध शक्तियों का संतुलन प्राप्त करते रहे हैं। इस समाज का इतिहास लगभग पांच सहस्र वर्ष से भी अधिक प्राचीन है। इसके अन्तर्गत भारतीय समाज निर्माताओं ने मानव की हितबुद्धि से भौतिक जीवन और अध्यात्म जीवन की अनेक संस्थाओं का निर्माण किया। भारतीय धर्म, दर्शन, आर्थिक जीवन, वर्ण और आश्रम, ये और इसी प्रकार के अन्य कितने ही तत्त्व हमारे सामाजिक इतिहास में महत्त्वपूर्ण प्रयोग कहे जा सकते हैं, पर इन सब में सुलभ सुखकारी एवं महत्त्वपूर्ण संस्था भारतीय परिवार है। यह अपूर्व ज्योति इस देश में प्रकट हुई। इस आलोक से पूर्वयुगों में यहां के मनुष्यों को जीवन में मार्ग दर्शन मिला। आज भी उसकी भास्वर ज्योति हमारे लिए अत्यन्त प्रिय है। परिवार के रूप में एक ऐसा रस का सोता हमारे समाज में प्रकट हुआ जो हर एक के लिए सुलभ था। उसने मानव के जीवन को सुख और शान्ति से सींच दिया। हिन्दू परिवार हमारे परिवर्तनशील इतिहास में स्थायी ध्रुव बिन्दु है। इस संस्कृति में जो कुछ भी वरेण्य और रसपूर्ण है वह सब "हिन्दू परिवार" इस एक सूत्र में समाया हुआ है। इतिहास के किन्हीं धुंधले युगों में परिवार का प्रथम आविर्भाव खोजने के लिए कई प्रकार की कल्पना की जा सकती है। किन्तु इस संस्था की नींव में इसके उषःकाल में ही इसके शिल्पी कवि ने मानों अमृत का घट स्थापित कर दिया था। इसी कारण काल के अनन्त प्रवाह में हिन्दू-परिवार का अस्तित्व अक्षय है। श्रद्धा, यज्ञ, ज्ञान, तप, प्रेम, सत्य, व्रत, नियम, ये सब महान् गुण मिलकर परिवार की रक्षा करते हैं और उसे प्रत्येक पीढ़ी में नई शक्ति और नए रस से आगे बढ़ाते हैं।

स्त्री और पुरुष दोनों परिवार के मूल हैं। नदी के दो तटों की भांति वे सहयुक्त हैं। दोनों के बीच में ही जीवन की धारा प्रवाहित होती है। वैदिक साहित्य में स्त्री और पुरुष के सम्मिलन की उपमा पृथिवी और द्युलोक से दी गई है। जैसे शुक्ति के दो दलों के बीच में मोती की स्थिति होती है, वैसे ही स्त्री और पुरुष इन दोनों के मध्य में सन्तति है। द्यावा-पृथिवी एक ही संस्थान के परस्पर

पूरक हैं। आकाशचारी मेघ वृष्टि द्वारा पृथिवी को गर्भ धारण कराते हैं और तब वृक्ष वनस्पतियों का जन्म होता है। यही स्थिति स्त्री पुरुष या पति-पत्नी की है। वे दोनों दो होते हुए भी एक हैं। दोनों के इस अभेद की स्वीकृति विवाह संस्कार है। तत्सम्बन्धी मंत्रों में यह बात स्पष्ट कही गई है।

**अमोऽहमस्मि सा त्वम्। सा त्वमसि अमोऽहम्। सामाहमस्मि ऋक् त्वम्।**

**द्यौरहं पृथिवी त्वम्**[1]।

मैं यह हूँ। तू वह है।
तू वह है। मैं यह हूँ।
मैं साम हूँ। तू ऋक् है।
मैं द्यौ हूँ। तू पृथिवी है।

दूसरे शब्दों में कहें तो स्त्री वृत्त का व्यास है और पुरुष उसकी परिधि है। जिस प्रकार ऋग्वेद के मंत्र को ही आधार बना कर उसे साम के गीत में परिवर्द्धित किया जाता है ( ऋचि अध्यूढ़ं साम गीयते, छान्दोग्य उपनिषद् १।६।१) और जिस प्रकार वृत्त के व्यास को तिगुना करके परिधि बनती है, उसी प्रकार स्त्री के जीवन से गुणित होकर पुरुष का जीवन बनता है। यही पति-पत्नी या गृहस्थ के जीवन का साम संगीत है। द्युलोक और पृथिवी लोक के साथ पुरुष और स्त्री या पति-पत्नी की उपमा देने का स्पष्ट उद्देश्य यही है कि विश्व रचना के मूलभूत हेतु की भांति वे दोनों द्विधा विभक्त होते हुए भी जीवन के समस्त व्यापारों में एक दूसरे के लिए अनिवार्य हैं। किसी हिन्दी कवि ने ठीक कहा है—होते बिरवा भए दुइ पाता। पिता सरग औ धरती माता ।। (जायसी )

जैसे ही सृष्टि का बीज अंकुरित हुआ वह दुपतिया हो गया। उसमें आकाश पिता और धरती माता बनी। जैसे ही विधाता की लेखनी यह अनन्त रहस्य भरी कथा लिखने चली उसकी दो फांकें हो गईं। एक वृक्ष था, उसमें दो डालें फूट निकलीं। चांद-सूर्य, दिन-रात, सृष्टि के सब द्वन्द्व एक दूसरे के संघाती बने

---

**१. यह मन्त्र कुछ पाठभेद के साथ निम्न ग्रन्थों में मिलता है, पहले दो में 'सा त्वमसि अमोऽहम्' का पाठ नहीं है। अथर्व० १४।२।७१, ऐतरेय ब्रा० ८।२७, काठक सं० ३५।१८, जैमिनीय उप० ब्रा० १।५४।६, ५७।४, शांखा० ब्रा० १४।९।१९, बृह० उप० ६।४।१९, २०, आश्वलायन गृह्य सूत्र १।७।६, शांखा० गृ० सू० १।१३।४, पार० गृ० सू० १।६।३, आपस्तम्ब मं० ब्रा० १।३।४, मानव गृ० सू० १।१०। १५**

हैं। विश्व का यह विधान सृष्टि के ललाट पर अंकित है जिसे जब जो चाहे पढ़ सकता है। इसके अनुसार गृहस्थ की व्याख्या हिन्दू धर्म की उस सूक्ष्म दृष्टि को प्रकट करती है जिसके द्वारा स्थूल और नश्वर का सम्बन्ध प्रकृति के नित्य और सूक्ष्म विधान के साथ मिलाने का प्रयत्न किया गया था। धर्मशास्त्र के क्षेत्र में मनु ने इस तथ्य को स्वीकार करते हुए यह सिद्धान्त स्थापित किया—

**'यो भर्त्ता सा स्मृतांगना'** ( मनुस्मृति ९।४५ )।

'जो पुरुष है वही स्त्री है।' इस मत का उद्देश्य यह बताना है कि गृहस्थ के जीवन में जितना पति का विस्तार है उतना ही पत्नी का भी। गृहस्थ की चर्चा करते हुए जिस वृत्त की ओर ऊपर संकेत किया गया है उसके अन्तराल में स्त्री और पुरुष समान रूप से व्याप्त हैं। एक विद्युत के समान और दूसरा चुम्बक के समान स्वधर्म में प्रवृत्त होता है। एक आग्नेय और दूसरा सौम्य है। एक दृढ़ और दूसरा सुकुमार है। दोनों एक ही तन्त्र के ताने बाने हैं। भारतवर्ष में इसी आदर्श को सनातन कहा गया है। यही यहाँ की प्राचीन गृहस्थोपनिषद् है जो विश्व के ध्रुव विधान के अनुसार जीवन को प्रेरणा देती है। जो सूक्ष्म और नित्य है वही मूर्तरूप में प्रकट होता है। अत एव गृहस्थ के इन उच्च भावों से असंख्य परिवारों ने प्रेरणा ग्रहण की है और उस आनन्द को आत्मसात् किया है जो परिवार के क्षेत्र की निजी वस्तु है।

हिन्दू परिवार के सम्बन्ध में धर्म शब्द पर भी विचार करना आवश्यक है। धर्म से तात्पर्य उन सत्यात्मक नियमों से है जो व्यक्ति और समाज के जीवन को धारण करते हैं। यह धर्म कर्तव्य के रूप में परिवार के प्रत्येक प्राणी के सम्मुख आता है। पिता, माता, पुत्र, बन्धु, जिनका परिवार से नाता होता है वे सब कर्तव्य के ऋण से बंधे होते हैं। जहां कर्तव्य है वहां विरोध की स्थिति नहीं रह जाती। कर्तव्य का आग्रह व्यक्ति के विचार और कर्म को तनाव से ऊपर उठा देता है। उसके द्वारा व्यक्ति सेवा का मार्ग अपनाता है। इसी भावना का दूसरा नाम यज्ञ है। जिसमें व्यक्ति दूसरे के लिए अपने स्वार्थ और सुख का समर्पण करके दूसरों की सहायता करने की युक्ति प्राप्त करता है, उस जीवन-विधि को यज्ञ कहते हैं। हिन्दू परिवार की व्यावहारिक स्थिति इसी भावना के बल पर टिकी है। इस प्रकार के प्रेममय वातावरण में परिवार के सदस्य स्वयं अपने अपने कर्तव्य को पहचान कर उसका पालन करते हैं। दूसरों से छीन झपट कर अपने लिए कुछ प्राप्त करने की बात वे मन में नहीं लाते। यही पारिवारिक जीवन का रस है। इसी स्थिति का नाम स्वर्ग का जीवन है। जहां

प्रत्येक व्यक्ति दूसरे की सहायता और सेवा करने की बात सोचता है, वही आदर्श स्थिति स्वर्ग है। इसके विपरीत जब हम प्रत्येक वस्तु को अपने ही स्वार्थ की दृष्टि से देखते हैं और अधिकार की बात कह कर केवल पाने या लेने की ही आकांक्षा करते हैं तो हम संघर्ष और विरोध को जन्म देते हैं। उस तनाव की स्थिति में जो न हो जाय थोड़ा है। उसे ही नीतिशास्त्र की भाषा में नरक कहा जा सकता है। अत एव यह बात सचाई से स्वीकार की जा सकती है कि हिन्दू समाज के जिस कोने में प्रेम की स्थिति का अधिकतम अनुभव होता रहा और जहां प्रीति का सौरभ सब से मधुर रूप में व्याप्त रहा वह हिन्दू परिवार था। रामायण में जो हिन्दू परिवार का रूप है वह स्वार्थपरता के ऊपर सेवाधर्म की विजय सूचित करता है। रामायण के आदर्श से जो शीतल वायु मिलती है वह आज भी हिन्दू पारिवारिक जीवन को सुख पहुँचाती है। पारिवारिक जीवन के स्वास्थ्य के लिए जिस आध्यात्मिक पोषण की आवश्यकता है वह रामायण के आदर्श चरित्रों से हमें पूर्णमात्रा में प्राप्त हो जाता है।

हिन्दू-समाज का जीवन मुख्य रूप से परम्परा की शक्ति से संचालित होता है। जो प्राचीन है वह नित्य नई शक्ति से नवीन के साथ मिलकर उसका पथ प्रदर्शन करता है। इस परम्परा का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। ऐसा कुछ नहीं जो इसके अन्तर्गत न आता हो। नीति, धर्म, दर्शन, विचार, ज्ञान, भक्ति, पुण्य, दान, कथा, वार्ता, व्रत, पर्व, उत्सव, संस्कार, दया, उदारता आदि जितने भी जीवन में मूल्यवान् तत्त्व हैं, वे सब परम्परा के रूप में हमें अनायास ही सुलभ होते हैं। परम्परा की महती जीवनी शक्ति ही संस्कृति है। हम प्रायः आत्म-सन्तोष से कहा करते हैं कि भारतीय समाज में कहीं कोई ऐसी शक्ति है जो उसे मृत्यु के संस्पर्श से बचाती है और जो प्राणवन्त जीवन के नए वेगों को जन्म देती है। यह शक्ति परम्परागत संस्कृति का ही रूप है। परम्परा की यह मूल्यवान् थाती परिवार को पूर्वापर क्रम से प्राप्त होती है और इसी में वह फलती फूलती, परिवर्द्धित होती हुई आगे बढ़ती है। एक प्राचीन राष्ट्र होने के नाते हमें अपनी इस परम्परा पर सच्चा आनन्द होना चाहिए। समाजशास्त्र की दृष्टि से इसने हमारे जीवन के अनेक पहलुओं की रक्षा की है। इसने हमारे ज्ञान और कर्म के कितने ही मूल्यवान् तत्त्वों को कई सहस्र वर्षों की अविच्छिन्न धारा से हमारे पास तक पहुँचाया है। इसके साथ यह भी सचाई से माना जा सकता है कि प्राचीनप्रियता की हमारी सामाजिक प्रवृत्ति सदा नूतन को स्वीकार करते रहने से ही स्वयं बची रह सकी है। नियमित विकास और संतुलित प्रगति की

यह पद्धति हिन्दू परिवार में सबसे अधिक देखी जा सकती है। हमारे जीवन में जो कुछ भी सुन्दर है परिवार में उसकी रक्षा हुई है। आगे भी परिवार के संगठन को सँभालने से ही हमें सब प्रकार की सांस्कृतिक समृद्धि प्राप्त हो सकेगी। कलाओं की दृष्टि से, पर्व और उत्सवों की दृष्टि से, लोक-साहित्य और संस्कृति की दृष्टि से हिन्दू परिवार की क्षमता अब भी बहुत बढ़ी चढ़ी है और समाज के प्रत्येक स्तर पर उसकी अभिव्यक्ति हो रही है। सांस्कृतिक जीवन को सँभालने के लिए कुल-संस्कृति को ठीक करना आवश्यक है। प्राच्य देशों की सभ्यता में कुल का अत्यधिक महत्व रहा है। कुल का आचार, कुल की मर्यादा, कुल का गौरव, इन शब्दों का जीवन में वास्तविक महत्व था। इन से लोगों के कर्म और विचारों पर नैतिक प्रभाव पड़ता था। मनुष्यों के सब प्रयत्न कुल की प्रतिष्ठा को ऊँचा उठाने के लिए होते थे। इस प्रकार के श्रेष्ठ कुलों को महाकुल कहा जाता था।

विदुर ने युधिष्ठिर से कहा—"असत्य और बल से धन प्राप्त कर लेना संभव है, किन्तु महाकुल का जो आचार है वह धन से नहीं प्राप्त किया जा सकता।" इस पर धृतराष्ट्र ने कहा—"मैंने सुना है कि जो धर्म और अर्थ में बढ़े चढ़े हैं, जो बहुत पढ़े-लिखे हैं, वे भी महाकुल की प्रशंसा करते हैं। हे विदुर, मैं जानना चाहता हूँ कि महाकुल किस प्रकार बनते हैं।" विदुर ने कहा—"तप, दम, ब्रह्म, ज्ञान, यज्ञ, सदा अन्नदान, शुद्ध विवाह, और सम्यक् आचार—इन सात गुणों से साधारण परिवार भी महाकुल बन जाते हैं। जो किसी प्रकार सदाचार का अतिक्रमण नहीं करते, जो विवाह सम्बन्ध ठीक प्रकार करते हैं, जो जीवन में झूठ का मार्ग छोड़ कर धर्म का आचरण करते हैं, जो अपने कुल के लिए विशिष्ट कीर्ति उपार्जित करने का प्रयत्न करते हैं, उनके कुल महाकुल कहलाते हैं। जो आचार से हीन हैं, उन कुलों में कितना भी धन हो, वे कुल प्रतिष्ठा नहीं प्राप्त कर सकते। किन्तु अल्प धन होने पर भी सदाचार ठीक होने से कुल लोक में यश और प्रतिष्ठा प्राप्त करते हैं और उनकी गिनती महाकुलों में होती है" ( उद्योग पर्व ३६।२१-२९; मनु० ३।६३-६७ )।

यहां बलपूर्वक यह मत प्रकट किया गया है कि धन कुलों की महत्ता का कारण नहीं, कुल की ऊँचाई तो धर्म के पालन और धर्म के नियमों की परिवार में होनेवाली नई-नई व्याख्याओं से होती है। धर्म के सद्गुणों से परिवार का सिंचन करना, यही परिवार के प्रत्येक सदस्य के मन की अभिलाषा रहती है। परिवार को महान बनाओ, श्रेष्ठ बनाओ, उसे रूप संपन्न करो, प्राण संपन्न करो,

अर्थ, धर्म और काम संज्ञक पुरुषार्थों से सम्पन्न करो, अपने जीवन की शक्ति की नवीन धारा उसमें प्रवाहित करो—इस प्रकार की उत्साहमयी मानसिक स्थिति परिवार की उच्चता का कारण बनती है। कुल का प्रत्येक सदस्य सोचता है मेरे कारण इस महती परम्परा का विशकलन न होने पावे, यह शृंखला मेरे द्वारा लुप्त न हो, मैं इसमें निर्बल कड़ी न बनूं, इसका तन्तु मेरे द्वारा उच्छिन्न न हो। प्रत्येक गृहपति इस प्रकार की भावना से यावज्जीवन अपने परिवार का संवर्धन करता रहा है। पिता माता, पति पत्नी, पुत्र पुत्री, भाई बहनों से लहलहाता हुआ परिवार रूपी भवनोद्यान कितना रमणीय और रसपूर्ण होता है, इसे शब्दों में कहना कठिन है।

ऊपर कहा जा चुका है कि हिन्दू परिवार रूपी वृत्त का व्यास या ध्रुव-बिन्दु पत्नी है—ध्रुवा द्यौ ध्रुवा पृथिवी ध्रुवं विश्वमिदं जगत्। ध्रुवासः पर्वता इमे ध्रुवा स्त्री पतिकुले इयम् ( साम मन्त्र ब्राह्मण १।३।७ )। स्त्री जीवन के रस का अक्षय्य स्रोत है। उसकी महिमा को किस प्रकार कहा जाय? विवाह संस्कार के समय इस प्रकार के ओजस्वी स्वर सुने जाते हैं—

**यस्यां भूतं समभवत् यस्यां विश्वमिदं जगत्।**
**तामद्य गाथां गास्यामि स्त्रीणां यदुत्तमं यशः॥**

(पारस्कर गृह्यसूत्र १।७।२)

यह सत्य ही है कि भूत और भविष्य समस्त जगत् के जन्म का कारण स्त्री है। उसके उत्तम यश की आराधना भारतीय संस्कृति में भरपूर हुई है। इस सम्बन्ध में मनु के एक वाक्य पर विचार करना आवश्यक है, जिसे ठीक न समझने के कारण स्त्री के उत्तम यश को हम धूमिल हुआ मानने लगते हैं। मनु ने लिखा है—

**पिता रक्षति कौमारे भर्त्ता रक्षति यौवने।**
**रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति॥**

( मनुस्मृति ९।३ )

कुमारी अवस्था में पिता, विवाहित अवस्था में पति और वृद्धावस्था में पुत्र स्त्री की रक्षा करते हैं, स्त्री स्वातन्त्र्य की अधिकारिणी नहीं होती। इस स्थूल अर्थ के पीछे प्राचीन हिन्दूधर्म शास्त्र का एक कानूनी सिद्धान्त छिपा है। मनु के अतिरिक्त और भी धर्मशास्त्रों का ऐसा ही मत था। गौतम धर्मसूत्र के अनुसार 'अस्वतन्त्रा धर्मे स्त्री' और वसिष्ठ धर्मसूत्र के अनुसार

'अस्वतंत्रा स्त्री पुरुष प्रधाना' आदि अभिमतों का इस ग्रंथ के विद्वान् लेखक ने भी उल्लेख किया है ( पृ० १४४ )।

वस्तुतः तंत्र का अभिप्राय कानूनी व्यक्तित्व ( जूरिस्टिक परसन ) है। इस पुस्तक में इसका प्रतिपादन हुआ है (पृ० ४५२-३ )। स्त्री का और पति का तंत्र विवाह के समय एक में मिल जाता है[1]। विवाह द्वारा स्त्री अपने 'स्व' को पति के 'स्व' में मिला देती है। जन्म के समय पृथक् पृथक् केन्द्र के जो दो वृत्त बनते हैं, वे कालक्रम से एक दूसरे के पास आकर परस्पर इस प्रकार मिल जाते हैं कि उनका केन्द्र एक हो जाता है। स्त्री-तंत्र और पुरुष -तंत्र इन दोनों का एकान्त सम्मिलन अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष इनमें से प्रत्येक क्षेत्र और स्तर पर होता है। दोनों का काम-तंत्र एक न हो तो संतति नहीं हो सकती। स्त्री पुरुष के काम-तंत्र की सर्वात्मना अभिन्नता ही गृहस्थ के प्रजा-उत्पादन रूप कर्म को पवित्र प्रक्रिया बनाती है। मन से, वचन से, कर्म से दोनों का कामतंत्र जब एक हो जाता है उस तन्निष्ठ व्रत का नाम ही पातिव्रत धर्म है। व्यक्ति की दृष्टि से देखा जाय तो एक ही आत्म-तत्त्व स्त्री, पुरुष, कुमार, कुमारी, इन अनेक रूपों में स्थूल पार्थिव उपकरणों द्वारा शरीर प्राप्त करता है। शरीर में रहते हुए उसका व्यक्तित्व अनेक प्रकार के विचारों और कर्मों में प्रकट होता है। इस प्रकार के जितने भी पहलू हैं, जितने भी क्षेत्र हैं, वे सब विवाह के उपरांत स्त्री और पुरुष के लिए पृथक् नहीं रह जाते, रह नहीं सकते, अन्यथा उतने ही अंश में दोनों का मिलन अपूर्ण और खण्डित रह जायगा। अतएव हिन्दू धर्मशास्त्र के अनुसार पति-पत्नी के कामतंत्र का विस्तार बिलकुल अभिन्न, समान और एकात्मक है। उससे बढ़कर एकायन मार्ग या ऐकान्तिक धर्म की कल्पना सम्भव नहीं। इसी प्रकार विवाह द्वारा दोनों के धर्म का तंत्र भी एक हो जाता है। 'पत्युर्नो यज्ञ संयोगे' (४।१।३३) सूत्र से पत्नी शब्द सिद्ध होता है, अर्थात् विवाह यज्ञ द्वारा जो स्त्री-पुरुष का संयोग होता है उससे पत्नी अपना यह अन्वितार्थ पद और अधिकार प्राप्त करती है। इसी कारण यज्ञ पत्नी के बिना असम्भव है।। तीर्थ, जप, होम, दान, व्रत सब में स्त्री का साहचर्य अनिवार्यतया आवश्यक है। जहां यह साहचर्य नहीं वहां वह कर्म अपूर्ण है। कवि ने ठीक ही कहा है--

---

१. मित्रमिश्र ने इसे दूध और पानी की तरह एक दूसरे में घुल मिल जाने वाला कहा है--पत्न्याः पतिद्रव्ये स्वत्वं नीरक्षीरवदेकलोलीभावापन्नं सहाधिकारिककर्मोपयोगि। ( व्यवहार प्रकाश, पृ० ५१० ) (हरिदत्त)।

**वधूं द्विजः प्राह तवैष वत्से वह्निर्विवाहं प्रति कर्मसाक्षी ।**
**शिवेन भर्त्रा सह धर्मचर्या कार्या त्वया मुक्तविचारयेति ॥**
( कुमार संभव ७।८३ )

पति-पत्नी दोनों की धर्मचर्या यावज्जीवन साथ होनी चाहिए । आश्वलायन गृह्यसूत्र (१।६।१) के अनुसार 'सह धर्मं चरतम्' इस प्रतिज्ञा के साथ किया हुआ विवाह सम्बन्ध ही उत्तम प्राजापत्य विवाह है ( मि० गौ० ध० सू० ४।५ ) । रामायण ( १।७३।२६ ) में जनक ने इसी भाव से कहा है—

**'इयं सीता मम सुता सहधर्मचरी तव ।'**

मुक्त विचार होकर साथ धर्माचरण करने का तात्पर्य यह नहीं है कि स्त्री अपनी विचार शक्ति, प्रेरणा और भावों को तिलाञ्जलि दे दे, किन्तु इसका अर्थ इतना ही है कि जिस धर्मतंत्र की अभिन्नता को उसने स्वीकार किया है उसमें कोई विकार न आने पावे । वह उस प्रकार के विचार न रखे जिससे धर्म के तंत्र की अभिन्नता बिगड़े । इसी प्रकार पति और पत्नी का अर्थ-तंत्र एवं व्यवहार-तंत्र भी एक हो जाता है । धर्मशास्त्रों में इस प्रकार की आदर्श अभिन्नता की बात कहकर सर्वात्मना स्त्री के तंत्र या व्यक्तित्व को पति के तंत्र में लीन करके मानों स्त्री का सब कुछ ले लिया जाता है । किन्तु इसे ही यों भी कह सकते हैं कि जो कुछ पति के तंत्र में है वह सब स्त्री को प्राप्त भी हो जाता है । सिद्धान्त रूप में इस प्रकार की स्थिति मान्य होते हुए भी व्यवहार में कई प्रकार से स्त्री के अर्थतंत्र को पुनः निर्मित करने की अनुमति धर्म-शास्त्रकारों ने प्रदान की । इसको 'स्त्रीधन' की संज्ञा दी गई । उसके 'आधिवेदनिक आदि अनेक प्रकार होते थे जिनका विद्वान् लेखक ने मार्मिक विवेचन किया है (पृ० ५५८-६४) । जब एक बार स्त्री ने अपने लिये पुरुष चुन लिया, उसे पति मानकर स्वयं पत्नी की स्थिति प्राप्त कर ली, तो फिर जीवन में आगे आने वाले अनेक प्रकार के उतार-चढ़ाव उस स्थिति का परिवर्तन नहीं कर सकते । इस आदर्श कानूनी मत के होते हुए भी व्यवहार में धर्मशास्त्रकारों ने कई प्रकार से स्त्री-तंत्र को विवाह के उपरान्त भी स्वीकार किया । उदाहरण के लिये जब पति खो जाय या मृत हो जाय या संन्यास ले ले ( नष्टे मृते प्रव्रजिते ) तो पति का तंत्र उसके साथ ही लुप्त या नष्ट हो जाता है ( नारद ५।९७ ), पर स्त्री का तंत्र उसके साथ लुप्त हुआ नहीं माना जाता । वह प्रत्यक्ष रहता ही है । अतएव उसकी सत्ता माननी आवश्यक है । वह पुनः 'स्वतंत्र' हो जाता है । उसका कानूनी व्यक्तित्व मानना

ही पड़ेगा। तभी स्त्री संपत्ति आदि रख सकेगी और धन, घर, गोधन आदि की स्वामिनी बनी रह सकेगी। यदि स्त्री के पुत्र हैं तो माता का अवशिष्ट तंत्र पुत्र के तंत्र में विलीन हुआ माना जाता था। इसी स्थिति में 'रक्षन्ति स्थाविरे पुत्राः' यह सिद्धान्त चरितार्थ होता है। स्त्रीधन के कितने प्रकारों में स्त्री का निजी तंत्र हिन्दू कानून में मान्य किया गया है और कहां नहीं, यह ऐतिहासिक विकास और कानूनी विवेचन का प्रश्न है। किन्तु सब के पीछे मूल सिद्धान्त यही था कि स्वस्थ और सहज परिस्थिति में स्त्री पुरुष के विवाह के फलस्वरूप पति-पत्नी के लौकिक और धार्मिक व्यक्तित्व सर्वात्मना अभिन्न और एक हो जाते हैं और इस एकता के संपादन के लिए पत्नी का तंत्र पति के तंत्र में लीन रहता है। कभी कभी इस प्रकार की कानूनी स्थिति से उलझे प्रश्न भी उत्पन्न हो सकते थे। जैसे, जब युधिष्ठिर द्यूत में अपने को दे चुके तो द्रौपदी का तंत्र जो अपने पति के तंत्र में लीन था उसे भी वे हार गए। कुछ लोगों का इस प्रकार का सूक्ष्म मत कौरवों की उस सभा में था। सिद्धान्तरूप से इसमें सत्यांश भी था। किन्तु व्यवहार में यदि पति युधिष्ठिर ने पहले पत्नी को नहीं दे दिया था और वे स्वयं दास बन गए थे तो धर्मशास्त्र में दास स्वयं अधन होता है, वह धन नहीं रख सकता, और न दान ही कर सकता है (मनु ८।४१६)। दास का तंत्र स्वतंत्र नहीं रह जाता, अतएव जैसे ही युधिष्ठिर दास हुए कि पत्नी का तंत्र जो पहले उनके पतिरूप में लीन था वह अलग हो गया। इस प्रकार का मत रखने वाले कुछ अन्य सभासद् थे (पृ० १०७)। इन्हीं प्रश्नों की विवेचना करके निर्णय देने के लिये द्रौपदी ने भीष्म का आवाहन किया था, किन्तु भीष्म अपना स्पष्ट मत व्यक्त न करके मौन बने रहे।

कौमार अवस्था में स्त्री का तंत्र पिता की रक्षा में एवं उसके अधीन कहा गया है। यह स्थिति भी इसी बात की द्योतक है कि यदि कुमारी कन्या का कानूनी व्यक्तित्व स्वीकार किया जाता तो व्यवहार में कोई उसे न्यायालय में भी खींच कर ला सकता था। किन्तु यदि उसका कानूनी व्यक्तित्व नहीं है तो उसे पिता की रक्षा प्राप्त है, और न्यायालय की परिधि में उसे नहीं लाया जा सकता। इस प्रकार की स्थिति केवल हिन्दू धर्मशास्त्र की ही विशेषता न थी। पुरुषप्रधान गृहस्थ धर्म से संचालित समस्त आर्य जाति का ऐसा ही धर्म था। रोम देश के कानून में भी ठीक मनु जैसा ही सिद्धान्त था। वहां कुमारी कन्या पर पिता का अधिकार ( डोमीनियन), विवाहित अवस्था में पति का अधिकार और वृद्धावस्था में पुत्र का अधिकार माना जाता था। यही पुरुष-प्रधान गृहस्थ

पद्धति या 'पेट्रिया पोटेस्टा' प्रणाली थी। ब्रह्मचर्य आश्रम के नियमों के अनुसार ब्रह्मचारी के लिये गुरुकुल में निवास आवश्यक था। उस अवस्था में यह कल्पना की जाती थी कि मानों ब्रह्मचारी उतने समय के लिए गुरु के गर्भ में वास कर रहा है। यह भाव आलंकारिक था। कालान्तर में धर्मशास्त्रकारों ने विचार किया कि स्त्री के लिए पति के अतिरिक्त अन्य किसी भी व्यक्ति में इस प्रकार की तल्लीन स्थिति की कल्पना असम्भव है। अतएव विवाह को ही स्त्री के लिए मौञ्जीबन्धन, उपनयन या गुरुकुल वास माना गया (मनु० २।६७)। पति के जीवन काल में किस प्रकार पत्नी अपने लिए पति से अधिक शारीरिक तंत्र का विस्तार नहीं चाहती थी, इसका अच्छा उदाहरण गान्धारी का वह दृष्टिकोण है जिसके अनुसार उसने शारीरिक सामर्थ्य में अपने पति से अधिक न होने के लिए आंखों पर पट्टी बांध ली थी (महाभा० १।११०।१४)। एक आदर्श दृष्टिकोण यह भी था कि पति और पत्नी के तंत्र एक दूसरे में इस प्रकार लीन हो जाते हैं कि जन्मान्तर में भी अलग नहीं होते। पति के शरीर से प्राण वियुक्त होने पर पति-पत्नी के तंत्रों की अभिन्नता यम के लोक में भी नहीं मिटती और यम को भी उसे स्वीकार करना पड़ता है। सावित्री-सत्यवान् का उपाख्यान स्वयं यम के द्वारा इसी व्याख्या की स्वीकृति है ( पृ० १५३-५४)। स्त्री और पुरुष का जीवन जब साथ-साथ बढ़ता है तो पति के परिवर्तनशील तंत्र के साथ पत्नी के तंत्र का विस्तार भी घटता बढ़ता रहता है। राम वन में, सीता घर में, यह दो तंत्रों का अमिलन होता, अतएव सीता छाया की भांति राम के तंत्र का अनुसरण करती है। वन में भी रावण उनका शरीर मात्र हर ले गया, मन का तंत्र राम के साथ अभिन्न बना ही रहा। इस प्रकार मनु ने स्त्री के पृथक् तंत्र या स्वातंत्र्य का निराकरण करके धर्मतत्त्वविद् की दृष्टि से पति-पत्नी की एकतंत्रता का ही प्रतिपादन किया है। मनु की भाषा कानूनी है। उसका अर्थ और परिणाम भी उसी प्रकार समझे जाने चाहिए। स्त्री निन्दा और कुत्सा की दृष्टि से कुछ कह डालने की भावना मनु के वाक्य में नहीं है (पृ० १७६)। आर्य जाति की सभी शाखाओं में स्त्री पुरुष के तादात्म्य सम्बन्ध एवं उससे प्रेरित आर्थिक और सामाजिक व्यवहार की व्याख्या ही स्मृतिकारों को इष्ट थी। इस विषय में अर्वाचीन विचार धारा से विचार करते हुए हमारा मन कभी-कभी क्षुभित भले ही हो, किन्तु जहां तक हिन्दू परिवार का सम्बन्ध है दायभाग और उत्तराधिकार के नियमों में इस सिद्धान्त के कारण कोई विशेष अड़चन उत्पन्न नहीं हुई और इस परिपाटी ने संपत्ति के उत्तराधिकार की एक ऐसी पद्धति को

जन्म दिया जो दीर्घ काल तक टिकी रही और जिसके कारण कम से कम वैषम्य या असुविधा उत्पन्न हुई। यों तो रिक्थ या उत्तराधिकार की कोई भी प्रणाली सब परिस्थितियों में निर्दोष या त्रुटिहीन नहीं कही जा सकती।

'हिन्दू परिवार मीमांसा' संज्ञक यह ग्रंथ हिन्दी में सामाजिक अध्ययन का अति विशिष्ट प्रयत्न है। यह एक नये प्रकार के साहित्य का सूत्रपात करता है। विद्वान् लेखक ने वैदिक युग से वर्तमान काल तक के हिन्दू परिवार का ऐतिहासिक और समाज शास्त्रीय अध्ययन प्रस्तुत किया है। ग्रंथ दो भागों में विभक्त है। पहिले दस अध्यायों में हिन्दू परिवार के सामान्य स्वरूप का वर्णन है जिसके मुख्य विषय इस प्रकार हैं। पहिले अध्याय में हिन्दू परिवार का उद्भव, महत्त्व और उद्देश्य कहे गये हैं। दूसरे में हिन्दू परिवार का विकास एवं संयुक्त कुटुम्ब पद्धति के उपादान एवं सामाजिक लाभ का अध्ययन किया गया है। तीसरे में पति, चौथे में पत्नी, पांचवें में पिता, छठे में माता, सातवें में पुत्र, आठवें में पुत्री, नववें में भाई बहिन आदि सम्बन्धियों के आदर्श, कर्त्तव्य, अधिकार आदि का सप्रमाण और सरस निरूपण है। दसवें अध्याय में गृहस्थ के सामाजिक और निजी कर्त्तव्यों का विवेचन है। ग्रन्थ के दूसरे भाग या अन्तिम आठ अध्यायों में हिन्दू परिवार में रिक्थ हरण अर्थात् साम्पत्तिक उत्तराधिकार एवं उसके बंटवारे का, तथा पिता-पुत्र, पुत्री, पत्नी, विधवा के साम्पत्तिक स्वत्त्वों का ऐतिहासिक वर्णन है। सर्वत्र लेखक ने धर्मशास्त्र के मूल संस्कृत ग्रंथों, उनके भाष्य और टीकाओं एवं गत दो शताब्दियों में होने वाले अदालती निर्णयों को प्रमाण मानकर विषय का विवेचन किया है। स्थान-स्थान पर हिन्दू परिवार की विभिन्न संस्थाओं की यूनान और रोम की आर्यशाखाओं की परिवार प्रणाली तथा अन्य समाजों की ऐसी ही पद्धतियों से तुलना की गई है।

हिन्दू परिवार भारतीय संस्कृति का संचालक सूत्र रहा है। समाज की शक्ति का स्रोत परिवार का जीवन है। अनेक परिवर्तनों के मध्य में हिन्दू परिवार की यह ध्रुव और दृढ़ शक्ति बारम्बार उभरी हुई दिखाई पड़ती है। परिवार की इस शक्ति का विघटन समाज के लिए हितकारी नहीं हो सकता। नए परिवर्तन आवश्यक हैं, किन्तु उनकी अन्तिम कसौटी यही है कि उनके द्वारा परिवार का संघटन दृढ़ बने। उसकी शीतल वायु व्यक्ति के जीवन को कुशल बनावे। उसमें एक दूसरे के प्रति सरस सम्बन्धों की सृष्टि हो। परिवार के सदस्यों के मन परस्पर उदार भावनाओं से युक्त हों, और परिवारों की यह समष्टि एक संतुलित आदर्श समाज को जन्म दे सके। हिन्दू परिवार सामाजिक

जीवन के क्षेत्र में इस देश का सब से मूल्यवान् प्रयोग है। उसे संवर्द्धित, पल्लवित और पुष्पित करना उचित है, ढीला करना नहीं। इस समय भी हिन्दू परिवार पर प्रभाव डालने वाले आर्थिक ओर सामाजिक तत्व सक्रिय हैं। लेखक ने भी अन्तिम अध्याय में उन परिवर्तनों पर कुछ विचार किया है। एक प्रकार से हिन्दू परिवार की पद्धति हिन्दू समाज के स्वस्थ विधान की कसौटी है। कुटुम्ब और समाज दोनों का हित एक है। वह संघर्ष और विरोध पर आश्रित नहीं। हिन्दू परिवार के विधान का मौलिक सूत्र उसका वही अभिन्न तंत्र है जिसकी ओर ऊपर संकेत किया गया है। एक मूल परिवार में से आवश्यकतानुसार चाहे जितनी नई शाखाएँ फूटती जाती हैं, हमारे देखते-देखते पुत्र पिता बनते जाते हैं और नए परिवारों के स्रष्टा हो जाते हैं, किन्तु मूल पद्धति में अन्तर नहीं पड़ता। कुटुम्ब का अन्तर्यामी पुरुष या उसकी आत्मा जिस स्रोत से पोषण प्राप्त करती है उसमें व्याघात नहीं पहुँचता। इस स्वाभाविक और सहज प्रणाली की रक्षा होनी आवश्यक है। अनेक कुटुम्बों से स्त्रियां अपना-अपना व्यक्तित्व लाती हैं और उनके पृथक् जल कुटुम्ब के सम्मिलित सरोवर में मिल जाते हैं। उस नए कुटुम्ब का जिसमें वे मिलती हैं जितना विस्तार हो, जो उसकी शक्ति हो, जो उसका वैभव हो, उसके सब क्षेत्रों में, सब स्तरों पर स्त्री को चाहे जितने अधिकार दीजिए, और उसके कर्त्तव्यों को भी वैसे ही प्रभावशाली और व्यापक बनाइए जैसे पुरुषों के। इसमें कुछ आपत्ति न होनी चाहिए। यह तो हिन्दू परिवार के सनातन विधान के अनुकूल ही होगा। किन्तु परिवार के तंत्र में पत्नी को मिलाकर भी उसके पार्थक्य की कल्पना करते रहना—यह न तो इस देश की समाज-व्यवस्था के अनुकूल है, और न उसके लिए हितकर ही है। अतएव भविष्य के लिए यह आवश्यक है कि हिन्दू परिवार जैसी प्राचीन और महत्त्वपूर्ण संस्था के स्वरूप को और भी संस्कारसंपन्न, उन्नतशील एवं सुखकर बनाने का उपाय किया जाय। श्री हरिदत्त जी का प्रस्तुत अध्ययन भारतीय जीवन के मेरुदण्ड हिन्दू परिवार की स्थिति, विकास और समस्याओं की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करता है, इस कारण वह अतीव स्वागत के योग्य है।

काशी विश्वविद्यालय — वासुदेव शरण

कार्तिक शुक्ल ४, संवत् २०११

# संक्षिप्त संकेत-सूची

## (क) संस्कृत और पालि ग्रन्थ

अं० नि० अंगुत्तर निकाय
अ० क० अट्ठकथा
अथर्व० अथर्ववेद
अप० अपरार्क कृत याज्ञवल्क्यस्मृति की टीका
अ० पु० अग्निपुराण
अर्थ० कौटिलीय अर्थशास्त्र
आप० ध० सू० आपस्तम्ब धर्मसूत्र
आप० गृ० सू० आपस्तम्ब गृह्यसूत्र
आश्व० गृ० सू० आश्वलायन गृह्यसूत्र
उ० उपनिषद्

| | |
|---|---|
| ऋ० | ऋग्वेद संहिता |
| ऐ० आ० | ऐतरेय आरण्यक |
| ऐ० ब्रा० | ऐतरेय ब्राह्मण |
| कात्या० | कात्यायन |
| का० सं० | काठक संहिता |
| का० सू० | कामसूत्र वात्स्यायनकृत |
| कौ० | कौटिलीय अर्थशास्त्र |
| गृ० सू० | गृह्यसूत्र |
| गो० गृ० | गोभिल गृह्यसूत्र |
| गो० ब्रा० | गोपथ ब्राह्मण |
| गौ० ध० सू० | गौतम धर्मसूत्र |
| चतु० | चतुर्वर्ग चिन्तामणि हेमाद्रि कृत |
| छा० उ० | छान्दोग्य उपनिषद् |
| जा० | जातक |

| | |
|---|---|
| जीमूत० | जीमूतवाहन |
| जै० उ० ब्रा० | जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण |
| जै० ब्रा० | जैमिनीय ब्राह्मण |
| जै० सू० | जैमिनीय सूत्र |
| ता० ब्रा० | ताण्डय ब्राह्मण |
| तै० आ० | तैत्तिरीयारण्यक |
| तै० ब्रा० | तैत्तिरीय ब्राह्मण |
| तै० सं० | तैत्तिरीय संहिता |
| द० च०, दच० | दत्तकचन्द्रिका |
| द० मी०, दमी० | दत्तकमीमांसा |
| दा० | दायभाग जीमूत वाहन कृत |
| दा० त०, दात० | दायतत्व रघुनन्दन कृत |
| दी० क० | दीपकलिका |
| दी० नि० | दीघ निकाय |
| ध० प० | धम्मपद |
| नासं० | नारदीय संहिता |
| नारद, नास्मृ० | नारद स्मृति |
| नि० | निरुक्त यास्ककृत |
| नि० सि० | निर्णय सिन्धु |
| प० पु० | पद्म पुराण |
| परा० | पराशर स्मृति |
| परा० मा० | पराशर स्मृति की माधवाचार्य कृत टीका |
| पार० गृ० सू० | पारस्कर गृह्यसूत्र |
| पा० सू० | पाणिनि सूत्र |
| पु० | पुराण |
| बाल० | बालम्भट्टी |
| बृह० | बृहस्पति |
| बौ० ध० सू० | बौधायन धर्म सूत्र |
| ब्रा० | ब्राह्मण |
| भाग० पु० | भागवत पुराण |
| म० पु० | मत्स्य पुराण |

| | |
|---|---|
| महाभा० | महाभारत |
| म० नि० | मज्झिम निकाय |
| म०, मनु० | मनुस्मृति |
| मा० गृ० सू० | मानव गृह्यसूत्र |
| मार्क० पु० | मार्कण्डेय पुराण |
| माल० मा० | मालती माधव |
| मिता० | मिताक्षरा |
| मेधा० | मेधातिथि |
| मै० सं० | मैत्रायणी संहिता |
| या०, याज्ञ० | याज्ञवल्क्य स्मृति |
| र० वं० | रघुवंश |
| लौ० गृ० सू० | लौगाक्षि गृह्यसूत्र |
| वा० ध० सू० | वासिष्ठ धर्मसूत्र |
| वा० पु० | वायुपुराण |
| वा० रा० | वाल्मीकि रामायण |
| वि० चि० | विवाद चिन्तामणि |
| वि० पि० | विनय पिटक |
| वि० पु० | विष्णु पुराण |
| विश्व० | विश्वरूप |
| विष्णु० | विष्णु स्मृति |
| वी० मि० | वीरमित्रोदय |
| विज्ञा० | विज्ञानेश्वर |
| व्यप्र० | व्यवहार प्रकाश |
| व्यम० | व्यवहार मयूख |
| श० ब्रा० | शतपथ ब्राह्मण |
| शां० आ० | शांखायन आरण्यक |
| शां० ब्रा० | शांखायन ब्राह्मण |
| शा० भा० | शाबर भाष्य |
| शुनी० | शुक्रनीतिसार |
| स्क० पु० | स्कन्द पुराण |
| सं० कौ० | संस्कार कौस्तुभ |

| | |
|---|---|
| सं० नि० | संयुत्त निकाय |
| सं० र० मा० | संस्कार रत्नमाला |
| स० वि० | सरस्वती विलास |
| स्मृ० | स्मृति |
| स्मृ०चं० | स्मृति चन्द्रिका |
| ह० च० | हर्षचरित |
| हि० के० गृ० | हिरण्यकेशी गुह्यसूत्र |

(ख) आधुनिक ग्रंथ

| | |
|---|---|
| आर्क० स० इं० | आर्किओलाजिकल सर्वे आफ इंडिया की रिपोर्टें |
| इं० ऐं० | इंडियन ऐंटिक्वेरी |
| इंसा० ब्रि० | इंसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका |
| इंसा० रिली० ई० | इंसाइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड ईथिक्स |
| इंसा० सो० सा० | इंसाइक्लोपीडिया आफसोशल साइंसिज |
| एपि० इं० | एपिग्राफिया इंडिका |
| ओडेमा० | ओरिजिन एण्ड डेवलपमैण्ट आफ मारल आइडियाज़, वैस्टरमार्ककृत |
| का० हि० ध० | काणे : हिस्टरी आफ धर्मशास्त्र |
| गौ० हि० को० | गौड़ : हिन्दू कोड |
| जा० हि० ला० क० | जाली : हिन्दू ला एण्ड कस्टम |
| टा० ए० | टाड : एनल्ज एंड एंटीक्विटीज़ आफ राजस्थान |
| ध० को० | धर्मकोश |
| बै० हि० ला० मै० | बैनर्जी : हिन्दू ला आफ मैरिज एण्ड स्त्रीधन |
| वै० इं० | वैदिक इंडेक्स |
| वै० शा० हि० मै० | वैस्टरमार्क की शार्ट हिस्टरी आफ मैरिज |
| से० रि० इं० | सेन्सस रिपोर्टस् आफ इंडिया |
| हि० ह्यू० मै० | हिस्टरी आफ ह्यूमन मैरिज, वैस्टरमार्क कृत |
| हि० ध० | हिस्टरी आफ धर्मशास्त्र काणेकृत |

इन ग्रन्थों का विशेष विवरण सहायक ग्रन्थसूची में देखिये ।

(ग) कानूनी संकेत

| | |
|---|---|
| अला० | अलाहाबाद की इंडियन ला रिपोर्टस् |
| अला० ला० ज० | अलाहाबाद ला जर्नल |
| आ० इं० रि० | आल इंडिया रिपोर्टर |
| इं० ला० रि० | इंडियन ला रिपोर्टस् |
| क० कल० | कलकत्ता इंडियन ला रिपोर्ट |
| क० ला० ज० | कलकत्ता ला जर्नल |
| क० वी० नो० | कलकत्ता वीकली नोट्स (ला रिपोर्ट्स्) |
| ना० ला० रि० | नागपुर ला रिपोर्टम् |
| प० | पटना की इंडियन ला रिपोर्ट्स् |
| बं० | बम्बई ला रिपोर्टर |
| ब० हा० रि० | बम्बई हाईकोर्ट रिपोर्टस् |
| म० | मद्रास की इंडियन ला रिपोर्टस |
| मू० इं० ए० | मूर इंडियन एपील्स |
| ला० | लाहौर इंडियन ला रिपोर्टस् |
| ला० रि० | ला रिपोर्टस् |
| वी० रि० | वीकली रिपोर्टर |
| वी० नो० | वीकली नोटिस |

(घ) अन्य संकेत

| | |
|---|---|
| अ० | अध्याय |
| अनु० | अनुवृत्त (ff.) |
| खं० | खण्ड (Volume.) |
| दे० | देखिये (Vide.) |
| दे० ऊ० | देखिये ऊपर (Vide Supra.) |
| दे० नी० | देखिये नीचे (Vide Infra.) |
| पू० पु० | पूर्वोद्धृत पुस्तक (Op. Cit.) |
| पृ० | पृष्ठ |
| भा० | भाग (Part) |
| मि० | मिलाइये (Cf.) |

———

# सहायक ग्रन्थसूची

## १ आकर ग्रन्थ

१. इंसाइक्लोपीडिया आफ सोशल साइन्सिज़ १५ खण्ड १९३०-३५ ई०
२. इंसाइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड ईथिक्स १२ खण्ड १९१५ ई०
३. इंसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका १४वां संस्करण १९२९ ई०
४. इंसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका की यीअर बुक १९३८ ई० से
५. मैकडानल व कीथ : वैदिक इंडेक्स २ खण्ड, लंडन १९१२ ई०

## २ मूल ग्रन्थ

### क. वैदिक वाङ्मय

यहां ग्रन्थों के साथ उन प्रकाशन संस्थानों का भी निर्देश किया गया है, जहां से छपे हुए ग्रन्थों का इस पुस्तक में प्रयोग किया गया है। प्रकाशन संस्थानों के संक्षिप्त संकेत इस प्रकार हैं :—आन० पू० : आनन्दाश्रम पूना; नि० सा० : निर्णय सागर, बम्बई; स्वा० मं० : स्वाध्याय मंडल, पार्डी; बि० इं० : बिब्लिओथिका इंडिका; ग० ओ० ला० सी० मै० : गवर्नमेंट ओरियंटल लाइब्रेरी सीरीज़ मैसूर; गा०ओ० सी० : गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज़; चौ० सं० सी० : चौखंभा संस्कृत सीरीज़; जी० वि०, जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता; बं० सं० सी० : बम्बई संस्कृत सीरीज़, पा० टै० सो० : पाली टैक्स्ट सोसायटी, लंडन; म० सो० : महाबोधी सोसायटी, सारनाथ; वेंक० प्रे० , वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई; त्रि० सं० सी० : त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरीज़, संपा० : संपादक सं० संस्करण, वि० : विक्रमी संवत्, ई० ईस्वी सन् ।

ऋग्वेद : स्वा० मं० द्वितीय संक०
यजुर्वेद : स्वा० मं०
सामवेद : स्वा० मं०
अथर्ववेद : स्वा० मं०
काठक संहिता : स्वा० मं०
तैत्तिरीय संहिता आन० पू०

कपिष्ठल संहिता डा० रघुवीर द्वारा लाहौर से प्रकाशित

मैत्रायणी संहिता स्वा० मं०

ऐतरेय ब्राह्मण : आन० पू० १८९६ वि०

शतपथ ब्राह्मण : अच्युत ग्रन्थमाला, बनारस

शांखायन ब्राह्मण आन० पू०

तैत्तिरीय ब्राह्मण आन० पू०

ताण्ड्य ( पंचविंश ) ब्राह्मण एशियाटिक सोसाइटी बंगाल

जैमिनीय ब्राह्मण सं० कैलैण्ड एमस्टर्डम् १९१९

जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण

गोपथ ब्राह्मण जी० वि०

ऐतरेय, तैत्तिरीय और शांखा०, आरण्यक आन० पू०

बृहदारण्यक, छान्दोग्य, कठ, उपनिषद् नि० सा०

निरुक्त आन० पू०

एकादशोपनिषद् संग्रह संपा० स्वामी सत्यानन्द, लाहौर

निरुक्त : श्री चन्द्रमणि तथा श्री राजवाडे द्वारा संपादित संस्क०

बृहद्देवता बि० इं०,

### *ख गृह्य तथा धर्मसूत्र*

आश्वलायन गृह्य सूत्र नारायण टीका सहित : नि० सा० १८९३ ई०

इसी संस्करण में कुमारिल की आश्वलायन गृह्यकारिका तथा आश्व० गृह्य परिशिष्ट भी छपा है ।

आपस्तम्ब गृह्य सूत्र सुदर्शनाचार्य टीका सहित : ग० ओ० ला० सी० मै०

आपस्तम्ब धर्म सूत्र हरदत्त कृत टीका सहित : हालास्यनाथ शास्त्री द्वारा संपा० कुंभघोणम् ।

बौधायन धर्मसूत्र : गोविन्द स्वामी के विवरण सहित, ग० ओ० ला० सी० मै०

बौधायन गृह्यसूत्र तथा गृह्य परिभाषा सूत्र : संपा०शामशास्त्री ग० ओ० ला० सी० मै०

गोभिल गृह्यसूत्र : संपा० चन्द्रकान्त तर्कालंकार बि० इं०

पारस्कर गृह्यसूत्र : कर्क, जयराम, हरिहर, गदाधर, विश्वनाथ प्रणीत भाष्य पंचक सहित, गुजराती प्रेस १९१७

हिरण्यकेशी गृह्यसूत्र : मातृदत्त टीका सहित संपा० किर्स्ते

वासिष्ठ धर्मसूत्र : बं० सं० सी० संपा० फुहरर

मानव गृह्यसूत्र : अष्टावक्र टीका सहित गा० ओ० सी०

विष्णु धर्म सूत्र : संपा० डा० जाली

लौगाक्षि गृह्यसूत्र : देवपाल की टीका सहित काश्मीर संस्कृत सीरीज

गौतम धर्मसूत्र : हरदत्त टीका सहित आन० पू०

### ग. बौद्ध वाङ्मय

अंगुत्तर निकाय : पा० टै० सो०

धम्मपद टीका सहित : पा० टै० सो०

थेरी गाथा पा० टै० सो० तथा भरतसिंह कृत अनुवाद

विनय पिटक : हिन्दी अनुवाद म० बो० सो०

मज्झिम निकाय : हिन्दी अनुवाद म० बो० सो०

दीघ निकाय : हिन्दी अनुवाद म० बो० सो०

संयुत्त निकाय : पा० टै० सो०

जातक : कावेल द्वारा संपा० अंग्रेजी अनुवाद ६ खंड, भदन्त आनन्द कौसल्यायन का हिन्दी अनुवाद, हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा प्रकाशित ४ खण्ड

बुद्धचर्या : राहुल सांकृत्यायन

### घ. रामायण, महाभारत और पुराण

वाल्मीकि रामायण : तिलकाख्य व्याख्या समेत नि० सा०। रामायण के प्रतीक स्थान संकोच के कारण काण्डों के नाम से नहीं किन्तु उनकी क्रम संख्या के अनुसार दिये गये हैं। इन काण्डों की क्रमसंख्या इस प्रकार है:—

१. बालकांड २. अयोध्याकांड ३. अरण्यकांड ४. किष्किन्धाकांड ५. सुन्दर कांड, ६. युद्धकांड, ७. उत्तरकांड।

महाभारत : म० भा०, महाभा० सारी पुस्तक में स्वा० मं० द्वारा प्रकाशित संस्क० के प्रतीक दिये गये हैं। जहां कुंभघोणम् या भांडारकर रिसर्च इंस्टीट्यूट पूना का संशोधित संस्क० व्यवहार में लाया गया है, वहां कुं० और भांडार० के संकेत दिये गये हैं। महाभारत के संकेत भी पर्वों के नाम से नहीं, किन्तु उनकी क्रम संख्या के अनुसार दिये गये हैं। यह क्रम संख्या इस प्रकार है :—

(१) आदिपर्व (२) सभापर्व (३) वनपर्व (४) विराट पर्व (५) उद्योगपर्व (६) भीष्मपर्व, (७) द्रोणपर्व (८) कर्णपर्व (९) शल्यपर्व (१०)

सौप्तिक पर्व (११) स्त्रीपर्व (१२) शान्तिपर्व (१३) अनुशासन पर्व (१४) अश्वमेध पर्व (१५) आश्रमवासिकपर्व (१६) मौसलपर्व (१७) महाप्रास्थानिक पर्व, (१८) स्वर्गारोहण पर्व

अग्नि पुराण : आन० पू०

कूर्मपुराण : बि० इं०

भागवत पुराण : नि० सा०

मत्स्यपुराण : आन० पू०

नारदीय पुराण : वेंक० प्रे०

भविष्यपुराण : वेंक० प्रे०

मार्कण्डेयपुराण : बि० इं०

पद्मपुराण : आन० पू०

विष्णुपुराण : गोपाल नारायण कंपनी, बम्बई

वायुपुराण : आन० पू०

स्कन्दपुराण : वेंक० प्रे०

ब्रह्मपुराण : वेंक० प्रे०

## (ङ) *स्मृतियाँ*

मनुस्मृति : कुल्लूकभट्ट की टीका सहित, नि० सा०

मनुटीका संग्रह : संपा० डा० जाली, बि० इं०

मनुस्मृतिः मेधातिथि, गोविन्दराज, सर्वज्ञनारायण, राघवानन्द, नन्दन व एक अन्य टीका सहित, संपादक विश्वनाथ मांडलिक

याज्ञवल्क्य स्मृति : विज्ञानेश्वर कृत मिताक्षरा टीका नि० सा०

याज्ञवल्क्य स्मृति : अपरार्क टीका आन० पू०

याज्ञवल्क्य स्मृति : विश्वरूप कृत बालक्रीडा व्याख्या, त्रि० सं० सी०

नारदीय मनुसंहिता त्रि० सं० सी०; नारद स्मृति : संपा० डा० जाली बि० इं०, इसमें असहाय की टीका भी है

पराशर स्मृति : बं० सं० सी० में माधवाचार्य कृत व्याख्या सहित तथा जीवा० का संस्करण, शेष स्मृतियों के लिये आन० पू० का २७ स्मृतियों का तथा जीवानन्द का २६ स्मृतियों का संग्रह व्यवहार में लाया गया है। जहां दोनों में अन्तर है, वहां भेदक संस्क० का निर्देश कर दिया गया है। इनमें निम्न स्मृतियां है : अंगिरा, अत्रि, आपस्तम्ब, औशनस, गोभिल, दक्ष, देवल, प्रजापति, बृहद्यम, बृहस्पति, यम, लघुविष्णु, लघुशंख, लघु शातातप, लघु-

हारीत, लघु आश्वलायन, वसिष्ठ, वृद्ध शातातप, वृद्ध हारीत, वेदव्यास, शंख-लिखित, शंख, शातातप, बौधायन, वृद्ध गौतम, लघु व्यास, लघु अत्रि, कात्यायन स्मृति सारोद्धार—पाण्डुरंग वामन काणे द्वारा संगृहीत, बृहस्पति स्मृति—गा० ओ० सी० । हारीत, शंख पैठिनसि, शौनक आदि अनेक स्मृतिकारों के ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं, किन्तु मध्यकालीन निबन्ध ग्रन्थों में उनके वचन में उद्धृत हैं । इस प्रकार के वचनों का संकेत इस प्रकार है—हारीत दायभाग द्वारा उद्धृत अथवा हारीत ( दा० पृ० . )

### (च) स्मृतियों की टीकायें तथा निबन्ध ग्रन्थ

दत्तक चन्द्रिका—आन०पू० तथा यज्ञेश्वर भट्टाचार्य कलकत्ता के संस्करण।

दत्तक मीमांसा—नन्द पण्डित कृत आन० पू० तथा यज्ञेश्वर भट्टाचार्य कलकत्ता के संस्करण ।

दायभाग—जीमूतवाहन कृत बि० इं० तथा जीवानन्द के संस्करण

दायतत्व—रघुनन्दन कृत जीवानन्द का संस्करण

दीपकलिका—शूलपाणि कृत याज्ञ० स्मृति की टीका

धर्मकोश—व्यवहार काण्ड खं० १–३ प्राज्ञ पाठशाला मण्डल, वाई

धर्मसिन्धु—काशीनाथकृत नि० सा०

पराशरमाधवीय—माधवाचार्य कृत पराशर स्मृति की टीका बं० सं० सी०

मदन पारिजात—विश्वेश्वर भट्ट कृत बि० इं०

मिताक्षरा—विज्ञानेश्वर कृत याज्ञवल्क्य स्मृति की टीका नि० सा०

मेधातिथि का मनुस्मृति पर भाष्य मांडलिक के संस्करण में

विवादचिन्तामणि—वाचस्पति मिश्र कृत, वेंकटेश्वर प्रेस

विश्वरूप—याज्ञवल्क्य स्मृति पर बालक्रीड़ा टीका का लेखक त्रि० सं० सी०

वीरमित्रोदय—याज्ञ० स्मृति की मित्रमिश्र कृत टीका चौ० सं० सी०

व्यवहार प्रकाश—मित्रमिश्र कृत चौ० सं० सी०

व्यवहार मयूख—नीलकण्ठ कृत पाण्डुरंग वामन काणे का संस्करण

श्रीमूला—गणपति शास्त्री कृत कौटिलीय अर्थशास्त्र की टीका

संस्कार प्रकाश—मित्रमिश्र कृत चौ० सं० सी०

सरस्वती विलास—श्री प्रताप रुद्र देव मंडल पूना द्वारा प्रकाशित

सायण भाष्य—ऋग्वेद का, वैदिक संशोधन मंडल, पूना

सुबोधिनी—विश्वेश्वर भट्ट कृत याज्ञ० की मिताक्षरा टीका की टीका, घारपुरे द्वारा सम्पादित

स्मृतिचन्द्रिका---देवण्ण भट्ट कृत घारपुरे का संस्करण

### (छ) संस्कृत के अन्य ग्रन्थ और काव्य

कौटिलीय अर्थशास्त्र : संपा० गणपति शास्त्री, त्रि० सं० सी०

बृहत्संहिता : वराहमिहिर कृत बि० इं०, उत्पल की टीका सहित, सुधाकर द्विवेदी द्वारा सं० संस्क०

गाथा सप्तशती : हाल कृत, नि० सा०

पूर्वमीमांसा : शबर-भाष्य सहित आन० पू०; गंगानाथ झा कृत अंग्रेजी अनुवाद गा० ओ० सी०

हर्षचरित : नि० सा०

कादम्बरी : ८म संस्क० नि० सा०

कामसूत्र : वात्स्यायन कृत चौ० सं० सी०

मालतीमाधव : संपा० रामकृष्ण गोपाल भांडारकर बं० सं० सी०

मृच्छकटिक : नि० सा०

रघुवंश : नि० सा०

अभिज्ञान शाकुन्तल : नि० सा०

कथासरित्सागर : सोमदेव भट्ट नि० सा०

कुमार संभव : नि० सा०

राजतरंगिणी : संपा० स्टाइन

विक्रमोर्वशीय : संपा० काले

उत्तर रामचरित : जीवा०संस्क०

वासवदत्ता: कृष्णमाचारियरकृत टीकासहित, श्रीवाणी विलास प्रेस श्रीरंगाम्

रत्नावली : संपा० जोगलेकर

दशकुमार चरित : जीवा० संस्क०

नैषधीय चरित : नि० सा०

किरातार्जुनीय : नि० सा०

## ३. परिवार विषयक ग्रन्थ

### (क) हिन्दू परिवार संबन्धी ग्रन्थ

इस की सामान्य विवेचना करने वाले स्वतन्त्र ग्रन्थ बहुत कम हैं, किन्तु हिन्दू कानून के ग्रन्थों में हिन्दू परिवार के सदस्यों के कर्त्तव्यों और अधिकारों की बहुत विवेचना की गयी है। यद्यपि इस विवेचना का मुख्य उद्देश्य वर्त्तमान कानून का स्पष्टीकरण है, तथापि इस विषय के अनेक प्रामाणिक ग्रन्थों में हिन्दू

परिवार के विभिन्न पहलुओं की ऐतिहासिक और वैज्ञानिक मीमांसा भी है। इस विषय के अधिकांश ग्रन्थ कलकत्ता विश्वविद्यालय की टैगोर व्याख्यान-माला में दिये गये व्याख्यान हैं, ऐसे कानूनी ग्रन्थों में निम्न उल्लेखनीय हैं।

कृष्णकमल भट्टाचार्य—दी ला रिलेटिंग टू ज्वाइण्ट फैमिली ( टैगोर कानून व्याख्यानमाला १८८५ ) कलकत्ता १८८५

राजकुमार सर्वाधिकारी—दी प्रिन्सिपल्ज़ आफ दी हिन्दू ला आफ इनहैरिटैन्स ( टै० का० व्या० १८८० ) ज्योतिप्रसाद सर्वाधिकारी द्वारा संशोधित द्वितीय संस्करण, मद्रास १९२२

जूलियस जाली—औटलाइन्ज़ आफ एन हिस्ट्री आफ हिन्दू ला ( टै० का० व्या० १८८३ ) कलकत्ता १८८५

किशोरीलाल सरकार—मीमांसा रूल्ज़ आफ इण्टरप्रेटेशन ( टै० का० व्या० १९०५)

श्री प्रियनाथ सेन—हिन्दू ज्यूरिसप्रूडेन्स ( टै० का० व्या० १९०९ ) प्रथम संस्करण १९१८

जोगेशचन्द्र घोष —दी प्रिन्सिपल्ज़ आफ हिन्दू ला ( टै० का० व्या० ) ३ खण्ड तीसरा संस्करण १९१७

राधाविनोद पाल—दी हिस्टरी आफ दि ला आफ प्राइमोजैनिचर ( टै० का० व्या० ) कलकत्ता १९२९

गंगानाथ झा—हिन्दू ला इन इट्स सोर्सेज़ खण्ड १ (१९३०) खण्ड २ (१९३३)

काशीप्रसाद जायसवाल—मनु एण्ड याज्ञवल्क्य टै० का० व्या० १९१७

जान मेन—हिन्दू ला एण्ड यूसेज, श्रीनिवास ऐय्यंगार द्वारा सम्पादित दशम संस्करण हिगिननाथम्ज़ मद्रास, १९३८, ११वां संस्करण चन्द्रशेखर ऐय्यर द्वारा संपा० १९५३, इस पुस्तक में सामान्यतः दशम संस्करण की ही पृष्ठ संख्या दी गयी है।

सर हरिसिंह गौड—दी हिन्दू कोड, चतुर्थ संस्करण, नागपुर १९३८

गोलापचन्द्र शास्त्री सरकार—हिन्दू ला, कलकत्ता १९४०

" " —एडोप्शन ( टै० का० व्या० ) कलकत्ता १९१६

आई० एस० पावटे—दाय विभाग १९४५

ज० र० घारपुरे—राइट्स आफ वुमैन अण्डर दी हिन्दू ला, सर ल्लूभाई शाह व्याख्यानमाला, बम्बई विश्वविद्यालय १९४४

पाण्डुरंग वामन काणे—हिस्टरी आफ धर्मशास्त्र खंड १ पूना १९३०, खण्ड २ भाग १-२ पूना १९४१, खण्ड ३, पूना १९४६

निम्न ग्रन्थों में हिन्दू परिवार सम्बन्धी अनेक विषयों का प्रतिपादन है—

अल्तेकर—दी पोज़ीशन आफ वुमैन इन हिन्दू सिविलज़ेशन बनारस १९३८।

द्वारकानाथ मित्तर—दी पोज़ीशन आफ वुमैन इन हिन्दू ला १९१३

मेयर—सैक्षुअल लाइफ इन एंशेण्ट इंडिया, लंडन १९३०

जॉली—हिन्दू ला एण्ड कस्टम कलकत्ता १९२८

गुरुदास बैनर्जी—हिन्दू ला आफ मैरिज एण्ड स्त्रीधन, कलकत्ता १९२३

टाड—एनल्स एण्ड एण्टीक्विटीज़ आफ राजस्थान, क्रुक द्वारा सम्पादित संस्करण, आक्सफोर्ड १९२०

इरावती कर्बे—किनशिप टर्म्ज इन दी महाभारत

इरावती कर्बे—किनशिप आर्गेनिजेशन इन इंडिया पूना १९५३

१९०१ से १९५१ की भारत की जनगणना रिपोर्टों में हिन्दू परिवार से सम्बन्ध रखने वाली बहुत मूल्यवान् सामग्री यत्र-तत्र बिखरी हुई है।

श्री पंढरीनाथ एच० वलवल्कर—हिन्दू सोशल इंस्टीटयूशन्स, लांगमैन्स बम्बई १९३९, अध्याय ५

संयुक्त हिन्दू परिवार के विभिन्न पहलुओं पर निम्न ग्रन्थ उपयोगी हैं—

(क) सामान्य विवेचन के लिये

चिन्तामणि—इंडियन सोशल रिफार्म (मद्रास १९०१) इसमें श्री सुब्रह्मण्यम् का इस पद्धति पर एक आलोचनात्मक लेख है पृ० १०७-४३।

प्रमथनाथ बोस—हिन्दू सिविलिज़ेशन डचूरिंग ब्रिटिश रूल खण्ड २ पृ० १२३-२९

संयुक्त परिवार के आर्थिक पहलू के लिये देखिये—

श्री राधा कमल मुकर्जी—दी फॉउन्डेशन्स आफ इंडियन इकनामिन्स, लांगमैन्स, कलकत्ता १९१६ अध्याय ३

वही—प्रिन्सिपल्ज़ आफ कम्पैरिटिव इकनामिक्स, लंडन १९२२। खण्ड २, भाग ३, अध्याय १-३

श्री ब्रजगोपाल भटनागर—दी बेसेज़ आफ इंडियन सोशल इकानमी, इलाहाबाद १९२५

जाथर एण्ड बेरी--इंडियन इ नामिक्स तृतीय संस्करण, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, बम्बई, १९३१ प्रथम खण्ड पृ० १०४-१०५

हिन्दू परिवार की आधुनिक प्रवृत्तियों के लिये--

के० टी० मर्चेण्ट--चेंजिग व्यूज़ आन मैरिज एण्ड फैमिली (बी० जी० पाल एण्ड कम्पनी मद्रास १९३५)। ४ था अध्याय।

चन्द्रकला हाटे--हिन्दू वुमैन एण्ड हर फ्यूचर, बम्बई १९४८

उपर्युक्त दोनों पुस्तकें बम्बई विश्वविद्यालय के समाज शास्त्र विभाग के तत्वावधान में हिन्दू युवकों और युवतियों से प्रश्नावलियों द्वारा प्राप्त उत्तरों पर आधारित गवेषणायें हैं।

हिन्दू कोड विषयक ग्रन्थों का निर्देश पृ० ६३४ पर किया गया है।

### (ख) *परिवार प्रथा की विवेचना करने वाले अन्य ग्रन्थ*

एन्जेल्स--परिवार, व्यक्तिगत सम्पत्ति और राजसत्ता की उत्पत्ति; जर्मन ग्रन्थ का अँग्रेज़ी अनुवाद, शिकागो १९०२। हिन्दी अनुवाद, राहुल सांकृत्यायन व नेमिचन्द्र जैन द्वारा कृत प्रथम संस्करण १९४५, जन प्रकाशन गृह, सैण्डहर्स्ट रोड, बम्बई।

लतूर्नो--दी इवोल्यूशन आफ मैरिज एण्ड आफ दि फैमिली--फ्रेंच ग्रन्थ का अँग्रेजी का अनुवाद, लंडन १८९१

म्यूलर लायर--दी फैमिली, एफ० डब्ल्यू० स्टैल्ला ब्राउन द्वारा जर्मन ग्रन्थ का अँग्रेजी अनुवाद, लंडन १९३१

हाबहाउस--मारल्ज़ इन इवोल्यूशन, सप्तम संस्करण, लंडन १९५१ अध्याय ५

गुडसैल--ए हिस्टरी आफ दी मैरिज एण्ड फैमिली, द्वितीय संस्करण, न्यूयार्क १९३५

सर हेनरी मेन--एंशेण्ट ला १८६६, ३ रा संस्करण

सर हेनरी मेन--अर्ली हिस्टरी आफ इंस्टीटयूशन्स ( १८७५ ई० )

**आदिम जातियों की परिवार प्रथा की विवेचना के लिये निम्न ग्रंथ उपयोगी हैं--**

मॉर्गन एल० एच०--एंशेण्ट सोसायटी, न्यूयार्क १८७७

" " --सिस्टम्ज़ आफ कनसैनग्विनिटी एण्ड एफीनटी आफ दी ह्यूमन फैमिली, स्मिथसोनियन कण्ट्रीब्यूशन्स टू नालिज, खण्ड १७, लेख दूसरा वाशिंगटन १८७०

वैस्टरमार्क, एडवर्ड एलेक्जेण्डर—दी हिस्टरी आफ ह्यूमन मैरिज, प्रथम-संस्करण १ खण्ड, लंडन १८८९, पंचम संस्क० ३ खण्ड, लंडन १९२१ ।

ब्रिफाल्ट राबर्ट—दी मदर्स ३ खण्ड

वैस्टरमार्क—दी ओरिजिन एण्ड डेवेलपमैण्ट आफ मारल आइडियाज़, लंडन १९१७

मैलिनोवस्की—दी फैमिली एमोंग दी आस्ट्रेलियन एबोरजिनीज़, लंडन १९१३

" —दी फादर इन प्रिमिटिव साइकालोजी, न्यूयार्क १९१७

" —सैक्स एण्ड रिप्रेशन इन सैवेज सोसायटी, लंडन १९२७

" —दी सैक्षुअल लाइफ आफ दी सैवेजेस इन नार्थ वैस्टर्न मैलेनीशिया, लंडन १९२९

मीड मार्गरेट—कमिंग आफ एज इन समोआ, न्यूयार्क १९२८

**उन्नत जातियों के परिवारों की विवेचना निम्न ग्रन्थों में है—**

हर्न डब्ल्यू०, ई०—दी आर्यन हाउसहोल्ड, लंडन मेलबोर्न १८७९

श्राडर—प्रिहिस्टारिक एण्टीक्विटीज़ आफ दी आर्यन पीपल्ज़, जीवन्ज़ कृत अंग्रेजी अनुवाद, लंडन १८९०

हावर्ड जार्ज इलियट—ए हिस्टरी आफ मैट्रीमोनियल इंस्टीटयूशन्स ३ खण्ड, शिकागो १९०४

ग्रोव्ज ई० आर० एण्ड आगबर्न—अमेरिकन मैरिज एण्ड फैमिली रिलेशनशिप्स, न्यूयार्क १९२८

एलनेट—हिस्टारिक ओरिजिन एण्ड सोशल डेवलेपमैण्ट आफ फैमिली लाइफ इन रशिया, न्यूयार्क १९२६

कैलहून ए० डब्ल्यू०—सोशल हिस्टरी आफ अमेरिकन फैमिली, क्लीवलैण्ड १९१७-१९

पार्सन्स ई० सी०—दी फैमिली, न्यूयार्क १९०६

**परिवार सम्बन्धी आधुनिक प्रवृत्तियों की विवेचना निम्न ग्रन्थों में है—**

रीड रुथ—दी माडर्न फैमिली, न्यूयार्क १९२९

मोरर ई० आर०—फैमिली डिसआरगैनिज़ेशन, शिकागो १९२७

रिच ( सम्पादक )—फैमिली लाइफ टू डे, बोस्टन १९२८

हैमिल्टन जी० वी०—रिसर्च इन मैरिज, न्यूयार्क १९२८

कैलवर्टन तथा शमलहासन—दी न्यू जैनरेशन, न्यूयार्क १९३०

वैस्टरमार्क--दी फ्यूचर आफ मैरिज इन वैस्टर्न सिविलज़ेशन, लंडन १९३६

मारिस हिण्डस--ह्यूमैनिटी अपरूटिड, लंडन १९२६

" " --मदर रशिया, बम्बई १९४५

इलियट एण्ड मैरिल--सोशल डिसआरगैनिज़ेशन, तृतीय संस्करण, न्यूयार्क १९५०, इसके तीसरे भाग पृ० ३२९-४५४ में परिवार की आधुनिक समस्याओं का सुन्दर विवेचन है।

सेट, उना बर्नार्ड--न्यू होराइजन्स फार दी फैमिली, तृतीय मुद्रण, न्यूयार्क १९४६

निमकाफ, मेयर--मैरिज एण्ड दी फैमिली, संशोधित संस्करण, बोस्टन १९४७

वालर विलर्ड--दी फैमिली -ए डाइनेमिक इण्टरप्रेटेशन, न्यूयार्क १९३८

किन्ज़ी अल्फ्रेड--सैक्षुअल बिहेविर इन दी ह्यूमन मेल, फिलाडेल्फिया १९४८, सैक्षुअल बिहेवियर इन दी ह्यूमन फीमेल फिलाडेल्फिया १९५३

ग्रोब्ज, अर्नेस्ट--दी अमेरिकन वुमैन, न्यूयार्क १९४४, दी कॉन्टेम्परेरी अमेरिकन फैमिली, फिलाडेल्फिया १९४७

फोलसम ज़ोसेफ--दी फैमिली एण्ड दी डेमोक्रैटिक सोसाइटी, न्यूयार्क १९४७

एनशेन, रुथ--दी फैमिली, इट्स फंक्शन एण्ड डैस्टिनी, न्यूयार्क १९४९

बेकर, हावर्ड एण्ड हिल--फैमिली मैरिज एण्ड पेरेण्टहुड, बोस्टन १९४८

बेबर--दी मैरिज एण्ड दी फैमिली, न्यूयार्क १९३९

बर्जेस एण्ड लाक--दी फैमिली, न्यूयार्क १९४५

अमेरिकन जर्नल आफ सोश्योलोजी--दी अमेरिकन फैमिली खण्ड ५३, मई १९४८ के अंक में वर्त्तमान अमरीकन परिवार का विशद विवेचन है।

एल्मर--दी सोश्योलोजी आफ दी फैमिली, बोस्टन १९४५

मैसाइवर एण्ड पेज--सोसायटी, लंडन १९५० अध्याय ११

**परिवार प्रथा के तुलनात्मक विवेचन में सहायक अन्य ग्रन्थ--**

फ्रेजर जे० जी०--दी गोल्डन बाऊ, द्वितीय परिवर्द्धित संस्करण तीन खण्ड, लंडन १९००

लैकी, विलियम एडवर्ड हार्टपोल--हिस्टरी आफ योरोपियन मारल्ज़, दो खण्ड, लंडन १९२०

रिवर्स डब्ल्यू० एच० आर०--सोशल आरगैनिज़ेशन १९२४

राबर्ट लुई--प्रिमिटिव सोसायटी, लंडन १९२१

क्राली--मिस्टिक रोज़, लंडन १९२७

रसेल, बर्ट्रेण्ड--मैरिज एण्ड मारल्स, लंडन १९२९

ईडन पाल--क्रोनोस आर फ्यूचर आफ फैमिली, लंडन १९३०

हैवलाक एलिस--स्टडीज़ इन दी साइकालोजी आफ सैक्स ६ खण्ड लंडन १९३६

फ्रेजर--टोटेमिज्म एडिनबरा १८८७

फ्रेज़र--टोटेमिज्म एण्ड एक्सोगेमी ४ खण्ड लंडन १९१०

सुमनेर, डब्ल्यू० जी० तथा कैलर ए० जी०--दी साइन्स आफ् सोसायटी ४ खण्ड, न्यू हैवन १९२६

---

# पहला अध्याय

## हिन्दू परिवार का उद्गम और उद्देश्य

विषय-प्रवेश––कामचार से हिन्दू परिवार के उद्गम की कल्पना––पाण्डु का कथन––दीर्घतमा का नियमस्थापन––कर्ण का वर्णन––अन्य प्रमाण––कामचार कल्पना की आलोचना––वैदिक साहित्य की विरोधी साक्षी––पश्चिमी समाजशास्त्रियों द्वारा कामचार कल्पना का खण्डन––परिवार का जीवशास्त्रीय उद्गम––पारिवारिक जीवन के घटक तत्त्व––परिवार के कार्य––परिवार का महत्त्व––गृहस्थाश्रम की महिमा––परिवार के तीन प्रयोजन––पुत्र की प्राप्ति, धर्म का पालन, रति––ईसाई आदर्श से तुलना।

परिवार मानव जाति में आत्मसंरक्षण, वंशवर्धन और जातीय जीवन के सातत्य को बनाये रखने का प्रधान साधन है। मनुष्य मरणधर्मा है; किन्तु मानव जाति अमर है। व्यक्ति उत्पन्न होते हैं, बचपन, यौवन और बुढ़ापे की अवस्था भोग कर समाप्त हो जाते हैं; पर वंश परम्परा द्वारा उनका सन्तान-क्रम अविच्छिन्न रूप से चलता रहता है। मृत्यु और अमृतत्त्व दो विरोधी वस्तुएँ हैं; किन्तु परिवार द्वारा इन दोनों का समन्वय हुआ है। व्यक्ति भले ही मर जायं; पर परिवार और विवाह द्वारा मानव जाति अमर हो गयी है।

प्रत्येक मनुष्य में सदैव जीवित रहने की स्वाभाविक इच्छा होती है। आजकल के मनोवैज्ञानिक इसे जिजीविषा या संरक्षण की सहज बुद्धि कहते हैं। मनुष्य ने मृत्यु पर विजय पाने के लिये, अतीत काल में अनेक उपाय ढूंढे, अमृत की खोज की, नाना रसायन बनाये, आज भी वैज्ञानिक इस सम्बन्ध में अनेक परीक्षण कर रहे हैं; किन्तु अब तक विवाह और परिवार से अधिक सरल, सुन्दर और उत्तम कोई उपाय नहीं खोजा जा सका। ऋग्वेद में यह प्रार्थना की गयी है कि मैं प्रजा द्वारा अमृतत्व का उपभोग करूँ[1]।

---

१. ऋ० ५।४।१० प्रजाभिरग्ने अमृतत्वमश्याम्।

विवाह द्वारा परिवार बनाकर मनुष्य सन्तानों के माध्यम से अपने को फैलाता है, लम्बा करता है और अमर बनाता है। इसीलिये संस्कृत में बच्चों के लिये संतति, सन्तान और तनय आदि शब्दों का प्रयोग होता है। ये सब शब्द विस्तारवाची तनु धातु से बनते हैं। पुत्र के रूप में पिता का ही पुनर्जन्म होता है; क्योंकि पिता के अंग-अंग और हृदय से प्राप्त अंशों को लेकर ही पुत्र की उत्पत्ति होती है[२]। मनुष्य को यदि अनिवार्य मृत्यु का दुःख है; तो इस बात का अवश्य सन्तोष है कि परिवार द्वारा उसने एक ऐसा हल ढूंढ लिया है; जिससे वह अपने वंशजों के रूप में अनन्त-काल तक जीवित रहेगा तथा सदा बढ़ता और फलता-फूलता रहेगा। सन्तति द्वारा अपने वंश को सुरक्षित रखना प्राणिजगत् का सार्वभौम नियम है।

मरणधर्मा मनुष्य को अमर बनानेवाली विवाह और परिवार की महत्त्वपूर्ण संस्थाओं का मानव जाति में किस प्रकार उद्भव हुआ, यह हमारा विषय नहीं; यहां केवल हिन्दू समाज में इसकी उत्पत्ति और ऐतिहासिक विकास को स्पष्ट करने का यत्किंचित् प्रयत्न किया जायगा।

उद्गम सदैव अस्पष्ट और अनिश्चित होते हैं। जब हम नदी की धारा का उद्भव ढूंढते हुए ऊपर चलते हैं तो अन्त में हमें किसी हिमानी या भूमि के भीतर से आनेवाली धारा के पास रुक जाना पड़ता है। जब प्रत्यक्ष वस्तुओं की यह दशा है, तो सहस्राब्दियों से चली आनेवाली परिवार प्रथा के उद्गम को निश्चित रूप से कैसे बताया जा सकता है। भगवती श्रुति के शब्दों में ऐसे उद्गमों को निश्चय से कौन जानता है? कौन उन्हें बता सकता है? (को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् ऋ० १०।१२९।६)। इनपर रहस्य के अन्धकार का गहरा आवरण पड़ा है।

### *कामचार से हिन्दू परिवार के उद्गम की कल्पना*

किन्तु मनुष्य की अदम्य जिज्ञासा इससे सन्तुष्ट नहीं हो सकती। वह इस पर्दे को हटाकर सुदूर अतीत के धुन्धले एवं अस्पष्ट काल के सम्बन्ध में कुछ जानना चाहती है; तथ्यों के अभाव में कल्पना के पंखों पर उड़कर उस काल की झांकी लेती है। हिन्दू परिवार के मूल के सम्बन्ध में अनेक

---

२. निरुक्त ३।४ अंगादंगात्संभवसि हृदयादभिजायसे। आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम्। मिलाइये याज्ञ० १।५६ तत्रात्मा जायते स्वयम्।

प्रसिद्ध भारतीय विद्वानों की यह कल्पना है कि अन्य देशों की भाँति भारत में भी विवाह-संस्था का उदय कामचार (Promiscuity) से हुआ[३]। कहा जाता है, कि पहले स्त्री-पुरुषों को स्वच्छन्द सम्बन्ध करने की स्वतंत्रता थी, न स्त्रियों पर और न पुरुषों पर विवाह या मैथुन के सम्बन्ध में कोई रोक-टोक या प्रतिबन्ध थे। इस निर्बाध स्वतन्त्रता की दशा को कामचार या अनावरण (Promiscuity), स्वच्छन्द विवाह (Free marriage), गणविवाह (Group Marriage), स्वैरिणीत्व (Hetaerism) कहते हैं। यह समझा जाता है कि कामचार से बाद में नियमबद्ध वर्त्तमान विवाहों का जन्म हुआ। प्राचीन ग्रन्थों के, विशेषतः महाभारत के कुछ वचनों के आधार पर अनेक विद्वानों ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, कि प्राचीन भारत में पहले कामचार था और बाद में उसे नियन्त्रित करके विवाह और परिवार की परिपाटी प्रचलित हुई।

**पाण्डु का कथन**—इस प्रकार प्राचीन भारत में कामचार का पहला पोषक आधार पाण्डु के कुछ वचन ( म० भा० १।१२२।३ अनु० ) हैं[४]। इनमें कहा गया है, कि पूर्वकाल में स्त्रियाँ खुली (अनावृताः), अपनी इच्छानुसार जहाँ चाहे वहाँ जाने वाली (कामचारविहारिण्यः) और स्वतन्त्र (किसी बन्धन से या पति से न रोकी हुई ) थीं। वे कुमारी दशा से ही अनेक पुरुषों के पास जाया करती थीं। ऐसा करना अधर्म नहीं था, क्योंकि यही उस समय की परिपाटी थी। पशु-पक्षियों की सन्तानें आज भी इसी धर्म का पालन करती हैं, उत्तरकुरु देश में अब तक इसका प्रचलन है। इसके बाद पाण्डु ने यह बताया है कि विवाह की मर्यादा इस लोक में देर से प्रचलित नहीं है। इसे स्थापित करनेवाले उद्दालक ऋषि के पुत्र श्वेतकेतु थे। एक समय जब उनके पिता के सामने, एक ब्राह्मण उनकी माता का

---

३. जायसवाल—मनु एण्ड याज्ञवल्क्य, पृ० २२४-२५; अल्तेकर—दी पोजीशन आफ वुमेन इन हिन्दू सिविलिज़ेशन, पृ० ३३-३६ ; जयचन्द्र विद्यालंकार—भारतीय इतिहास की रूप-रेखा, खं० १, पृ० २०१

४. म० भा० १।१२२।३-२१ अनावृताः किल पुरा स्त्रिय आसन्वरानने। कामचारविहारिण्यः स्वतन्त्राश्चारुहासिनि। तासां व्युच्चरमाणानां कौमारात्सुभगे पतीन्। नाधर्मोऽभूद्वरारोहे सहि धर्मः पुराऽभवत्।...उत्तरेषु च रम्भोरु कुरुष्वद्यापि वर्त्तते;

हाथ पकड़कर ले जाने लगा और श्वेतकेतु ने इस पर आपत्ति की, तो उद्दालक ने 'सनातन धर्म' कह कर इसका समर्थन किया। श्वेतकेतु को यह धर्म 'असह्य' था, उन्होंने 'बलपूर्वक' समाज में स्त्री-पुरुष की मर्यादा का स्थापन किया।

**दीर्घतमा का नियमस्थापन**--प्राचीन भारत में कामचार की सत्ता सूचित करनेवाला दूसरा प्रमाण दीर्घतमा की कथा ( म० भा० १।१०४।९-५६ ) है। दीर्घतमा उतथ्य ऋषि का पुत्र था। प्रद्वेषी नामक पत्नी से उसने कई सन्तानें उत्पन्न कीं; किन्तु बाद में उसने 'सुरभि की सन्तान से गोधर्म (कामचार) सीखा और निःशंक होकर वह यह कार्य खुल्लमखुल्ला करने लगा। (वैवाहिक) मर्यादा का उल्लंघन करनेवाले (वितथमर्याद) दीर्घतमा के आचरण को देखकर ऋषि क्रुद्ध हुए। उन्होंने कहा--इसने मर्यादा तोड़ दी है, यह आश्रम में रहने योग्य नहीं है, हम सब इस पापात्मा को छोड़ते हैं। दीर्घतमा की पत्नी भी उससे असन्तुष्ट थी। उसने कहा--मैं तुम्हारी जन्मान्धता के कारण तुम्हारा तथा तुम्हारे पुत्रों का पोषण करते-करते थक गई हूँ, अब और भरण-पोषण नहीं कर सकूंगी। दीर्घतमा के राजी करने पर भी, जब प्रद्वेषी सन्तुष्ट न हुई तो दीर्घतमा ने कहा--'मैं आज से ऐसी लोक-मर्यादा स्थापित करता हूँ कि यावज्जीवन नारी का एक ही पति सहारा ( परायण ) होगा। पति के जीवित रहने या मर जाने पर भी कोई स्त्री दूसरे पति की शरण नहीं ले सकेगी। यदि कोई नारी दूसरे व्यक्ति के पास जायेगी तो वह निःसन्देह पतित होगी[५]। पतिहीना ( अविवाहिता, विधवा या त्यक्तपतिका) स्त्रियों के लिये भी यह आज से पाप है'। प्रद्वेषी यह सुनकर अपने पति पर बहुत रुष्ट हुई और उसने पुत्रों द्वारा अन्धे पति को बेड़े के साथ बँधवाकर गंगा में फिंकवा दिया। कहा जाता है कि दीर्घतमा की उक्त व्यवस्था से पहले विवाह और परिवार की कोई मर्यादा नहीं थी।

**कर्ण का वर्णन**--कामचार का तीसरा प्रमाण कर्णपर्व में ( ८।४० ) कर्ण द्वारा मद्रदेश ( स्यालकोट ) की स्त्रियों का वर्णन है। वहाँ सब

---

५. म० भा० १।१०४।३४-३६ अद्य प्रभृति मर्यादा मया लोके प्रतिष्ठिता। एक एव पतिर्नार्या यावज्जीवं परायणम्। मृते जीवति वा तस्मिन्नापरं प्राप्नुयान्नरम्। अभिगम्य परं नारी पतिष्यति न संशयः ॥

नारियाँ 'अपनी इच्छा से पुरुषों से मिलती हैं', मद्रदेश की स्त्रियाँ शराब से मस्त होकर कपड़े फेंककर नाचती हैं, मैथुन में किसी प्रकार का बन्धन नहीं रखतीं, जिसके पास चाहती हैं, चली जाती हैं[६]। वाहीक ( पंजाब ) की स्त्रियों के बारे में भी यही बात कही गयी है (८।४४।१२-१३)। कर्ण के कथनानुसार इस देश की स्त्रियों के शिथिल आचार का कारण एक सती स्त्री का शाप था, इसे वाहीक लुटेरों ने पति से छीना था और उसका सतीत्व भंग किया था। उस सती के शाप के कारण, अब वहाँ की सभी स्त्रियाँ कुलटा और वेश्या हो गयी थीं ( म० भा० ८।४५।११-१२ )।

**अन्य प्रमाण**—महाभारत में कुछ ऐसे देशों का वर्णन है, जहाँ विवाह का कोई बन्धन नहीं था। १३।१०२।२६ में गौतम ने उत्तर कुरु के सम्बन्ध में कहा है कि वहाँ स्त्रियाँ इच्छानुसार विचरण करनेवाली होती हैं। पहले यह बताया जा चुका है कि पाण्डु के कथनानुसार उत्तर कुरु में उस समय तक कामचार का प्रचलन था। सहदेव दक्षिण दिशा की विजय करते हुए माहिष्मती नगरी में पहुँचा ( म० भा० २।३१), वहाँ स्त्रियाँ स्वैरिणी होकर जहाँ चाहें, वहाँ जाया करती थीं[७]।

## *कामचार कल्पना की आलोचना*

किन्तु उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर की गयी कामचार की कल्पना तर्कसंगत, युक्तियुक्त तथा ऐतिहासिक सत्य नहीं प्रतीत होती। यदि ध्यानपूर्वक उपर्युक्त स्थलों का मनन किया जाय तो इनकी प्रामाणिकता में पूर्ण संदेह उत्पन्न हो जाता है। अपने प्रकरणों से निकाले हुए कुछ वाक्य कामचार को अवश्य पुष्ट करते हैं; किन्तु यदि इन स्थलों के पौर्वापर्य को देखा जाय, तो ये परिवार के प्राचीन इतिहास को बताने के लिये नितान्त अप्रामाणिक सिद्ध होते हैं। कर्णपर्ववाले स्थल में शल्य ने कर्ण का सारथि बनकर अपशकुन होने पर कर्ण की भरपेट निन्दा की है, वह इस अपमान का बदला लेने के लिये न केवल शल्य की—किन्तु उस मद्र तथा वाहीक देश की भी, जहाँ शल्य शासन करता था—घोर निन्दा करता है। उसके मत में दुनियाभर की बुराइयाँ और नीचतायें वाहीक देश में हैं, वाहीक

---

६. म० भा० ८।४०।३५-३६ वासांस्युत्सृज्य नृत्यन्ति स्त्रियो या मद्यविमोहिताः। मैथुनेऽसंयताश्चापि यथा कामवशाश्च ताः॥

७. म० भा० २।३१।३९ स्वैरिण्यस्तत्र नार्यो हि यथेष्टं विचरन्त्युत।

पृथ्वी का कूड़ा है (८।४५।२३); इसी प्रसंग में कर्ण ने वहाँ की स्त्रियों के कामचार का वर्णन किया है। आज भी एक असंस्कृत व्यक्ति दूसरे के साथ कलह होने पर उसे अनेक कुत्सित सम्बन्धसूचक अपशब्द कहता है; किन्तु कोई व्यक्ति इन गालियों को प्रामाणिक समझकर यह परिणाम नहीं निकालता कि जिस व्यक्ति को ये गालियाँ दी जा रही हैं, उसने वास्तव में ऐसे कुकर्म किये हैं। फिर कर्ण की इन गालियों के आधार पर यह कैसे कहा जा सकता है कि पंजाब में उन दिनों वास्तव में मैथुन-स्वातन्त्र्य था। इससे अधिक से अधिक यही बात सिद्ध हो सकती है कि विदेशियों के आक्रमण के कारण पंजाब में अनेक विदेशी (म्लेच्छ) जातियाँ बस रही थीं, उनके संसर्ग से बड़ा धर्म संकट उत्पन्न हो गया था। महाभारतकार अपने अनुयायियों को इस संसर्ग से मुक्त रखना चाहते थे, अतः उन्होंने मद्र तथा वाहीक देश को बहुत बुरा बताया[८], उन देशों में रहनेवालों को गालियाँ देने में कोई कोर-कसर बाकी नहीं रखी, उन्हें हर तरह से बदनाम किया और यहाँ तक कहा कि आर्य वहाँ दो दिन का भी वास न करे (८।४५। ४१)। अतः इस प्रकरण को न तो पंजाब के आचार के सम्बन्ध में प्रमाण माना जा सकता है और न ही इससे हिन्दू परिवार के आदि रूप का निश्चय किया जा सकता है।

पाण्डु और दीर्घतमावाले स्थल भी इसी प्रकार के हैं। पहले में पाण्डु अपनी पत्नी कुन्ती को किसी अन्य पुरुष से नियोग करके सन्तान उत्पन्न करने के लिये कहता है, क्योंकि वह स्वयं एक शाप के प्रभाव के कारण सन्तानोत्पादन में असमर्थ था। दूसरे स्थल में भीष्म विचित्रवीर्य के मरने पर उसकी माता सत्यवती को, विचित्रवीर्य की विधवा स्त्रियों में नियोग करने की आवश्यकता समझाता हुआ, दीर्घतमा की पुरानी कहानी सुनाता है। महाभारत का अध्ययन करनेवाले यह जानते हैं कि उसका प्रणेता एक बहुत अच्छा वकील है, वह किसी भी निकम्मे, कमजोर और बुरे मामले की पैरवी बड़ी सफलता पूर्वक करता है। अपने पक्ष की पुष्टि के लिये युक्तियाँ गढ़ने तथा कल्पित पुराने दृष्टान्त उपस्थित करने में संकोच नहीं करता। इसका एक सुन्दर उदाहरण पाँच पाण्डवों के साथ द्रौपदी के विवाह को धर्मानुकूल सिद्ध करना है। यहाँ जबर्दस्ती जटिला और वार्क्षी के कल्पना-प्रसूत मन-

---

८. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, विक्रमांक, पृ० १४४-४६

माने दृष्टान्त दिये गये हैं (१।१९८।१५), जब द्रुपद को इन नज़ीरों से सन्तुष्टि नहीं होती, तो वह द्रौपदी के पिछले जन्म के वर की दुहाई देकर इस प्रचलित परम्परा-विरुद्ध विवाह को न्याय्य ठहराता है (१।१९९)। इसके अतिरिक्त महाभारतकार को वस्तुओं के उद्गम बताने का शौक है। अनुशासन पर्व में जूते और छाते के जन्म की मनोरंजक कथा दी गयी है, जमदग्नि जेठ की दुपहरी में तीर चलाने का अभ्यास कर रहे थे, उनकी पत्नी रेणुका तीरों को उठाकर वापिस ऋषि को दे रही थी, धूप से तपी ज़मीन पर उसके पाँव जले जा रहे थे, एक बार पेड़ की छाया में विश्राम कर जब वह तीर कुछ विलम्ब से लायी तो ऋषि ने क्रुद्ध होकर देरी का कारण पूछा, इसका ज्ञान होने पर, सूर्य उनके कोप का भाजन बना, इससे बचने के लिये सूर्य ने उन्हें जूता और छाता दिया, उसी समय से लोक में इनका प्रचलन शुरू हुआ (१३।९३। १४-१६)। महाभारतकार ने राज्य जैसी महत्त्वपूर्ण संस्थाओं के उद्गम के सम्बन्ध में भी विचार किया है, किन्तु वह स्वयमेव इन्हें कल्पना मात्र समझता है, इतिहास का ठोस तथ्य नहीं। राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में वह एक स्थान पर अराजकवाद का प्रतिपादन करता है (१२।५९।१४), उस समय न राजा था, न राज्य और न दण्ड देनेवाला, सब प्रजायें धर्मानुसार एक दूसरे की रक्षा करती थीं; किन्तु अन्यत्र (१२।६७) राज्य की आदिम अवस्था इस से बिल्कुल विपरीत मात्स्य न्याय की बताता है, जिसमें बलवान् निर्बल का पीड़न कर रहा था। प्रत्येक ऐतिहासिक जूते, छाते और राज्य-सम्बन्धी इन उद्भवों को महाभारतकार की कल्पना ही मानता है, इतिहास की घटना नहीं। इसी प्रकार परिवार सम्बन्धी उपर्युक्त उद्गमों को उस समय की प्रचलित कल्पना ही समझना चाहिये, वास्तविक स्थिति का बोध करानेवाला तथ्य नहीं।

महाभारत की सामान्य शैली के अतिरिक्त उपर्युक्त स्थलों का विशेष विचार भी इनकी प्रामाणिकता में संदेह उत्पन्न करता है। पाण्डु चाहता है कि कुन्ती नियोग करे; किन्तु कुन्ती उसको छोड़कर किसी दूसरे व्यक्ति के पास जाने को तय्यार नहीं, अपने पातिव्रत्य की पुष्टि में उसने भद्रा की कथा सुनाई है, जिसने अपने पति व्युषिताश्व के शव के साथ लिपटकर अलौकिक ढंग से सन्तान प्राप्त की थी (१।१२१)। कुन्ती भद्रा को आदर्श मानती हुई कहती है कि इसी तरह आप भी तप के बल से मुझमें पुत्र उत्पन्न कीजिये (१।१२१।२८)। पाण्डु अपनी असमर्थता तथा पुत्र की महत्ता भली भाँति

समझता है। उसके पास पुत्रप्राप्ति के लिये कुन्ती को नियोग के लिये राजी करने के अतिरिक्त कोई चारा नहीं है, कुन्ती का पातिव्रत्य ही इसमें सब से बड़ा बाधक है। अतः पाण्डु उसे यह समझाता है कि वैवाहिक मर्यादायें तो श्वेतकेतु द्वारा बनाई गई हैं, प्राचीनकाल में कोई बन्धन नहीं था, अतः कुन्ती को इस पुराने धर्म का पालन करने में कोई संकोच नहीं करना चाहिये। अदालतों में संबद्ध और सपक्ष व्यक्ति की साक्षी की प्रामाणिकता में सदैव सन्देह किया जाता है। अपने अभीष्ट को सिद्ध करने के उद्देश्य से कहे गये इस वचन को कैसे सत्य माना जा सकता है ?

दीर्घतमा की कथा भी कामचार की सत्ता सिद्ध करने के लिये अपर्याप्त है। जब दीर्घतमा ने गोधर्म का पालन किया तो ऋषियों ने उसे मर्यादा तोड़ने-वाला ( भिन्नमर्याद) बताया, और अपने आश्रम में रहने योग्य नहीं समझा। यदि दीर्घतमा ही विवाह की मर्यादा स्थापित करनेवाला पहला व्यक्ति था तो उसे भिन्नमर्याद कहना निरर्थक है। यदि उससे पहले कोई मर्यादा नहीं थी तो उसकी पत्नी उससे क्यों रुष्ट हुई ? ऋषियों की दृष्टि में वह मर्यादा भंग करनेवाला कैसे हुआ ? यह भी उल्लेखनीय है कि दीर्घतमा के मर्यादास्थापन के शब्दों का उच्चारण करते ही, उसकी पत्नी ने उसे पुत्रों द्वारा गंगा में फिंकवा दिया। वह मर्यादा ही क्या हुई, जिसके भंग का सर्वप्रथम शिकार दीर्घतमा बना।

उत्तर कुरु और माहिष्मती के उदाहरणों से भी कामचार को सिद्ध करना कठिन है। उत्तर कुरु की आधुनिक स्थिति अनिश्चित है[९], कुछ इसे साइबेरिया और मध्य एशिया में मानते हैं[१०], संभव है, वह आर्यों का अत्यन्त प्राचीन स्थान रहा हो, महाभारत के समय तक आर्य उससे बहुत दूर हो चुके थे और उस देश पर रहस्य का पर्दा पड़ चुका था। अज्ञात वस्तु के सम्बन्ध में अनोखी कल्पनायें की जाती हैं, उत्तर कुरु के सम्बन्ध में यह इसी प्रकार की कल्पना थी। माहिष्मती दक्षिण में नर्मदा नदी के बीच एक टापू पर थी। अनेक देशों की दिग्विजय करते हुए सहदेव ने माहिष्मती के सम्बन्ध में जो कुछ जाना होगा, वह केवल सुनी बातों के आधार पर ही होगा। आजकल आसाम,

---

९. नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका, विक्रमांक, उपायनपर्व का अध्ययन।

१०. चित्राव--प्राचीन चरित्रकोष, पृ० ६६४, नक्शा ६६७, उत्तर कुरु के औपन्यासिक वर्णन के लिये राहुल सांकृत्यायन का सिंहसेनापति देखिये।

काश्मीर जैसे दूरवर्ती स्थानों के सम्बन्ध में कई प्रकार की किम्वदन्तियाँ प्रसिद्ध हैं। ऐसी ही किम्वदन्ती सहदेव के कानों में पड़ी होगी, उसी का महाभारत में वर्णन है। मनोरंजन की दृष्टि से इसका अवश्य महत्व है; किन्तु ऐतिहासिक सचाई के रूप में बिल्कुल नहीं।

**वैदिक साहित्य की विरोधी साक्षी**--महाभारत से पहले के समूचे वैदिक वाङमय में कामचार का कोई संकेत नहीं है। वैदिक युग में युवक-युवतियों को अपना साथी चुनने की पूरी स्वतन्त्रता थी; किन्तु विवाह हो जाने के बाद स्त्रियाँ पति के घर में जाकर गृहपत्नी का कार्य करती हुई परिवार का निर्माण करती थीं। विवाह के समय पुरोहित उन्हें पितृगृह से मुक्त कर पतिगृह के साथ अच्छी तरह सुबद्ध करता था, ताकि वे पुत्रवती तथा सौभाग्यवती हों[११]। उन्हें कहा जाता था कि वे गृहस्थ में रहते हुए कभी अलग न हों, पूरी आयु का भोग करें ( ऋ० १०।८५।४२ )। कामचार की दशा में यह आशीर्वाद निरर्थक है, उस अवस्था में यह कहा जाना चाहिये कि तुम प्रतिदिन नये प्रेमी प्राप्त करो। पाणिग्रहण करते हुए वर-वधू को कहता था कि तू मुझ पति के साथ सौ वर्ष तक जीवित रह[१२]। कामचार या स्वच्छन्द आचरण में १०० वर्ष तक इकट्ठा रहने का कोई अर्थ नहीं। ब्राह्मणों, सूत्रग्रन्थों और स्मृतियों में कामचार का वर्णन कहीं नहीं मिलता। इस दशा में महाभारत के संदिग्ध प्रमाणों के आधार पर कामचार से हिन्दू-परिवार का उद्भव कैसे माना जा सकता है? सुप्रसिद्ध जर्मन विद्वान् मेयर ने ठीक ही लिखा है--'पुराने ज़माने की ऐसी पौराणिक गाथायें इस बात का विश्वसनीय आधार नहीं प्रतीत होतीं। प्राचीन आर्यों में विभिन्न देशों में फैलने से पहले ही, सुव्यवस्थित पारिवारिक जीवन का अभ्युदय हो चुका था। वेद में खुल्लमखुल्ला मैथुन-स्वातन्त्र्य का कहीं उल्लेख नहीं है। हम अतीत के धूसरतम उषाकाल में इतनी लम्बी छलांग लगाने के लिये ऐसे किस्सों पर कभी विश्वास नहीं कर सकते'[१३]।

---

११. अथर्व १४।१।१८ प्रेतो मुंचामि नामुतः सुबद्धाममुतस्करम्। यथेय-मिन्द्रमीढ्वः सुपुत्रा सुभगा सति।

१२. वहीं १४।१।५२ मया पत्या प्रजावति संजीव शरदः शतम्।

१३. मेयर--प्राचीन भारत में यौन-जीवन (सैक्सुअल लाइफ इन एंशेण्ट इंडिया) पृ० ११५ तथा पृ० १२५ की पादटिप्पणी।

**पश्चिमी समाजशास्त्रियों द्वारा कामचार की कल्पना का खण्डन**--हिन्दू परिवार का आरम्भ कामचार से हुआ, इस कल्पना को १९वीं शती के समाजशास्त्र-विशारदों की गवेषणाओं से बहुत बल मिला था; आज से ६० वर्ष पूर्व, पश्चिम में विवाह और परिवार की आदिम दशा यही समझी जाती थी, बाद में अधिक अनुसन्धान और विचार के बाद यह कल्पना अप्रामाणिक समझी जाने लगी। अमरीकी विद्वान् लुइस मोर्गन ने १८७७ ई० में इसका विस्तृत प्रतिपादन किया, मैक्लीनान, बेखोफन, लार्ड एवरबरी, क्रोपाटकिन, ब्लाख और ब्रिफाल्ट ने इसका समर्थन करते हुए यह सिद्धान्त प्रचलित किया कि प्रारम्भ में समाज में कामचार की दशा थी, इसके बाद बहुभार्यता ( Polygamy ) का विकास हुआ और अन्त में एक विवाह का नियम प्रचलित हुआ[१४]। टेलर, फ्रेजर, कोहलर शुर्त्स जैसे प्रमुख समाजशास्त्रियों ने इसे स्वीकार किया। किन्तु इसका विरोध सर्वप्रथम डार्विन ने किया, वैस्टरमार्क ने इसकी विस्तृत आलोचना की, लैंग, ग्रास तथा क्राले ने वैस्टरमार्क का समर्थन किया। पश्चिम में समाजशास्त्रियों के इस विचार-विमर्श और विवाद का यह परिणाम हुआ कि कामचार का सिद्धान्त बिल्कुल खण्डित हो गया। रिवर्स ने यह सर्वथा सत्य ही लिखा है कि कामचार की प्रारम्भिक अवस्था के मुख्य समर्थक लुइस मोर्गन ने अपनी सम्मति जिन आधारों पर बनाई थी, वे अब हेत्वाभास पूर्ण सिद्ध हो चुके हैं। इस समय हमें न केवल किसी कामचारी जाति का ज्ञान है, बल्कि हमारे पास इस कल्पना का भी कोई पुष्ट प्रमाण नहीं है कि भूतकाल में कभी कामचार की सामान्य अवस्था प्रचलित थी[१५]। अतः अब इस कल्पना को अधिकांश प्रमुख विद्वान् स्वीकार नहीं करते। इस खण्डित कल्पना के आधार पर हिन्दू परिवार की आदिम अवस्था, कामचार को कदापि सिद्ध नहीं किया जा सकता।

**परिवार का जीवशास्त्रीय उद्भव**--यदि विवाह का उद्गम कामचार या अनावरण से नहीं हुआ तो इसका मूल क्या है? इसका उत्तर हमें

---

१४. स्पेन्सर--समाजशास्त्र (सोश्योलोजी), खण्ड ३, अध्याय ३-८

१५. इंसा० रिली० ई०, खं० ८, पृ० ४३२, कामचार कल्पना के समर्थन में दिये प्रमाणों की आलोचना के संक्षिप्त विवरण के लिये देखिये वैस्टरमार्क शार्ट हिस्ट्री आफ् मैरिज, पृ० १३-२४

जीवशास्त्र से मिलता है[१६]। स्त्री-पुरुष सम्बन्ध के स्थायित्व और परिवार का मूलकारण अपनी जाति को सुरक्षित बनाये रखने की चिन्ता है। यदि पुरुष सम्बन्ध के बाद पृथक् हो जाय, गर्भावस्था में पत्नी की देख-भाल न की जाय, सन्तान उत्पन्न होने पर उसके समर्थ और बड़ा होने तक उसकी सहायता न की जाय तो अवश्यमेव मानव-जाति का शीघ्र अन्त हो जाय। कुछ पशु मैथुन के बाद अवश्य अलग हो जाते हैं, किन्तु पक्षियों की अनेक जातियों तथा मनुष्य के पूर्वज कहलानेवाले बन्दरों में ऐसा नहीं होता। गोरिल्ला और चिम्पांजी परिवार बनाकर रहते हैं। जीवन-विकास की शृंखला में निम्न जातियों में उत्पत्ति-संख्या बहुत अधिक है, बच्चे बहुत जल्दी बड़े होते हैं, वहां अवश्यमेव कामचार है, नरमादा संयोग के बाद पृथक् हो जाते हैं, उनको अपनी जाति के रक्षण की विशेष आवश्यकता नहीं। मछली के अंडे लाखों और करोड़ों की संख्या में होते हैं, उन्हें सेने की ज़रूरत नहीं, बच्चे पैदा होते ही तैर कर भोजन ढूंढ़ने लगते हैं, अतः उनमें स्त्री-पुरुष के स्थिर सम्बन्ध की आवश्यकता नहीं। यही हाल साँप आदि सरीसृपों के अण्डों का है, जो धूप की गर्मी से स्वयमेव विकसित होते हैं, अतः उनमें माता-पिता को अपने बच्चों की चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है, किन्तु पक्षियों में अण्डों को सेने के लिये नियत मात्रा में निरन्तर गर्मी पहुँचाना आवश्यक है, मादा यह काम करती है, वह अण्डों पर निरन्तर बैठी रहती है, यदि वह न बैठे तो उस जाति का अन्त हो जाय, इस समय नर उसे भोजन लाकर देता है। स्तनन्धयों में बच्चों को माता-पिता की इससे अधिक आवश्यकता होती है; क्योंकि उनके पूर्ण विकास में पर्याप्त समय लगता है। ओरंग उतान ८ से १२ वर्ष की आयु में युवा होता है, यदि उस समय तक माता-पिता शत्रुओं से उसकी रक्षा न करें, पिता उसे भोजन न दे, माता उसका पालन न करे तो वह देर तक नहीं जीवित रह सकता। अतः अपने बच्चे के प्रति स्नेह आदि मातृ भावनाओं एवं रक्षा की पितृ भावनाओं का उदय होता है। इन के बलवती होने का एक यह भी हेतु है कि बच्चों की संख्या बहुत कम होती है। मछली के एक साथ करोड़ों अण्डे होते हैं; किन्तु गोरिल्ला आदि बन्दर की अधिक

---

१६. इस सिद्धान्त के विस्तार के लिये देखिए वैस्टरमार्क पूर्वोक्त पुस्तक, पहला अध्याय।

सन्तानें नहीं होतीं। यदि इनके पालन में लापरवाही दिखाई जाय तो जाति-नाश की आशंका है, इसे सुरक्षित रखने की दृष्टि से इनमें पैतृक भावनाओं का उदय हुआ और सम्बन्ध के बाद भी बच्चों के पालन की दृष्टि से वे एक परिवार बनाकर रहते हैं।

अनेक प्राणिशास्त्रियों ने पशु-पक्षियों विशेषतः मनुष्य के पूर्वज गोरिल्ला चिम्पांजी आदि में पारिवारिक जीवन की सत्ता के पुष्ट प्रमाण दिये हैं। इनमें सन्तान की संख्या कम होने, गर्भकाल लम्बा होने तथा उस समय मादा के संरक्षण की आवश्यकता, उत्पन्न सन्तान के चिरकाल तक मातृ-दुग्ध पर आश्रित रहने, शैशवकाल लम्बा होने तथा उसमें असहाय होने के कारण आत्मसंरक्षण की सहज बुद्धि इन्हें बच्चों के साथ परिवार बनाकर रहने की प्रेरणा करती है। मादा के गाभिन होने पर घर बनाना, रातभर बच्चों की चीतों से चौकसी करना, मादा के लिये नर का भोजन लाना, मादा द्वारा बच्चे का पालन-पोषण, बन्दरों से मनुष्य समाज की जंगली जातियों तक सर्वत्र देखा जाता है[१७]। माता-पिता और बच्चे का परिवार मानव-समाज में सार्वभौम है, इसे उसने विरासत में अपने पुरखों से पाया है। उसमें कामचार कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता।

**पारिवारिक जीवन के घटक तत्त्व**--आत्म-संरक्षण की बुद्धि तथा पैतृक भावनाओं के अतिरिक्त कुछ ऐसे तत्त्व भी हैं, जो परिवार को स्थायी बनाने में सहायक सिद्ध होते हैं। मनुष्य स्वभावतः सामाजिक प्राणी है, उसका एकाकी रहना संभव नहीं। बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है 'आरम्भ में पुरुषाकार आत्मा ही था, उसने भली भाँति अवलोकन कर आत्मा से भिन्न कोई दूसरा व्यक्त पदार्थ नहीं देखा, निश्चयपूर्वक उस अकेले ने रमण नहीं किया, इसी कारण आज भी एकाकी पुरुष रमण नहीं करता। उस पुरुष ने दूसरे साथी को चाहा.... उसने इसी आत्मा को दो रूपों में परिवर्तित किया, उस समय वे पति-पत्नी हुए' (१।४।१-३)।[१८] बाइबल में भी यह कहा गया है कि सृष्टि के प्रारम्भ में आदम का कोई सहायक साथी न था, परमात्मा ने उसे गहरी नींद में सुला-

---

**१७. वैस्टरमार्क--फ्यूचर आफ् मैरिज, पृ० १३**

**१८. बृह० उप०--१।४।१-३ आत्मैवेदमग्र आसीत्पुरुषविधः। सोऽनुवीक्ष्य नान्यदात्मनोऽपश्यत्.....स वै नैव रेमे। तस्मादेकाकी न रमते, स द्वितीय-**

कर उसकी पसली की हड्डी से हव्वा को बनाया। वस्तुतः स्त्री-पुरुष संसार के आँधी पानी झेलने और कष्टों का मुकाबला करने में, पृथक् रूप से अपने-आप को असहाय पाते हैं, किन्तु मिलकर, परिवार का निर्माण कर सांसारिक कष्टों को अधिक प्रसन्नता के साथ सह सकते हैं; क्योंकि एक और एक मिलकर ग्यारह हो जाते हैं। स्त्री के प्रति स्वाभाविक यौन-आकर्षण, उसकी सुलभता और चिरकाल तक सहवास से उत्पन्न प्रेम भी परिवार को स्थायी बनाने में सहायक सिद्ध होता है। स्त्री-पुरुष में श्रम-विभाग होने पर मनुष्य परिवार की आवश्यकता तीव्रता से अनुभव करता है। जिस समाज में स्त्रियाँ खाना बनाती हैं, वहाँ मनुष्य को शीघ्र ही अपनी माता जैसी भोजन तय्यार करनेवाली स्त्री लाना अनिवार्य जान पड़ता है। एस्किमो जाति में केवल स्त्रियाँ ही गर्म कपड़े बनाना और मरम्मत करना जानती हैं; अतः उस शीतप्रधान देश में उनकी उपयोगिता स्वयंसिद्ध है। मनुष्य की कई आकांक्षायें और अभिलाषायें सन्तान से पूर्ण होती हैं। उसे यह सन्तोष होता है कि उसके न रहने पर भी उसकी सन्तान उसके नाम और कुल की परम्परा को अक्षुण्ण रखेगी, वह जिन कामों को नहीं कर सका, उन्हें सम्पन्न करेगी। बच्चों के निकट सान्निध्य और उनके साथ क्रीड़ा से जो आनन्द मिलता है, वह सहृदय माता-पिता ही जानते हैं, कालिदास के शब्दों में बच्चों की धूल से मलिन होनेवाले माता-पिता धन्य हैं। सन्तान द्वारा प्रत्येक बात में अपना अनुकरण किये जाने पर मनुष्य के अहंभाव की सन्तुष्टि होती है। इन सब कारणों से सन्तान और माता-पिता में एक ऐसा प्रेम-सम्बन्ध स्थापित हो जाता है जो परिवार को स्थायी बनाने में सहायक होता है।

**परिवार के कार्य**--आत्मसंरक्षण के जीवशास्त्रीय प्रयोजन के अतिरिक्त परिवार मानव समाज में अन्य अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य पूर्ण करता है। इससे न केवल वंशवृद्धि और सन्तानपालन के उद्देश्य पूरे होते हैं, किन्तु सन्तान का शिक्षण, सामाजिक परम्पराओं का संरक्षण और व्यक्तित्व का निर्माण भी परिवार द्वारा सम्पन्न होता है। बच्चे का प्रारम्भिक विकास मां की गोद और परिवार के पालने में होता है। इसी में वह खान-पान, शौच-सफाई, बोलचाल, कपड़े पहनने

---

**मैच्छत्। स हैतावानास यथा स्त्रीपुंमासौ संपरिष्वक्तौ स इममेवात्मानं द्वेधाऽपातयत्, ततः पतिश्च पत्नी चाभवताम्**

आदि की पहली शिक्षा ग्रहण करता है। परिवार में जो आचार, व्यवहार, धार्मिक विश्वास और परम्परायें चिरकाल से चले आ रहे हैं, उन्हें वह सीखता है। यहीं माता-पिता, भाई-बहिन आदि सभी सम्बन्धियों के साथ उसे अपने कर्त्तव्य का बोध होता है और वह समाज के धार्मिक और नैतिक आदर्शों से परिचित होता है। परिवार का वातावरण व्यक्ति को समाज के अनुरूप और उपयोगी साँचे में ढाल देता है। सेवा और सहयोग, प्रेम और स्वार्थ-त्याग के आदर्श गुणों का पहला पाठ बच्चा परिवार में ही पढ़ता है। अनेक मनोवैज्ञानिक मनुष्य की सभी परोपकारी प्रवृत्तियों का मूल पारिवारिक जीवन को मानते हैं[१९]। इसी में वह दूसरों के लिए जीना सीखता है। संयम, सदाचार और स्वार्थ-त्याग की शिक्षा ग्रहण करता है।

**परिवार का महत्त्व**--जीव-शास्त्र तथा समाज विज्ञान की दृष्टि से उपर्युक्त प्रयोजन पूर्ण करने के कारण वैदिक युग से हिन्दू समाज में परिवार की संस्था को असाधारण महत्त्व दिया गया है। वैदिक युग में ( ऋ० ५।४।१० ) अग्नि से प्रजा द्वारा अमृतत्व पाने की प्रार्थना ही नहीं की जाती थी किन्तु मनुष्य को तब तक अधूरा समझा जाता था, जब तक कि वह विवाह द्वारा सन्तान उत्पन्न न कर ले (श० ब्रा० ५।२।१।१०)। विवाह और परिवार को धर्म का अंग बनाकर इसे मानव-जीवन के लिए अनिवार्य बना दिया गया। ब्राह्मण ग्रंथों के समय से सन्तान उत्पन्न करना प्रत्येक व्यक्ति के लिए एक ऋण या धार्मिक कर्त्तव्य समझा गया। यह माना जाने लगा कि प्रत्येक व्यक्ति तीन ऋण लेकर उत्पन्न होता है, देव ऋण, ऋषि ऋण और पितृ ऋण ( तै० सं० ६।३।१०।५ )। इन ऋणों से मुक्त होने का उपाय बौधायन धर्म सूत्र में यह बताया गया है कि ब्रह्मचर्य से ऋषि ऋण, यज्ञों से देव ऋण और सन्तान से पितृ ऋण का अपाकरण होता है (२।९।७-८)।

**गृहस्थाश्रम की महिमा**--उत्तर वैदिक युग में जब हिन्दू-समाज में चार आश्रमों की व्यवस्था बद्धमूल होने लगी तो शास्त्रकारों ने गृहस्थाश्रम को बहुत महत्त्व दिया। गौतम ( ३।१ तथा ३।५ ) तथा बौधायन धर्म सूत्र ( २।६।२९, ४२-४३ ) का यह मत है कि वास्तव में

---

**१९. एलवुड--सोश्योलोजी इन इट्स साइकालोजिकल एस्पेक्ट्स, पृ० ९१३, फ्लूगल--साइको एनेलिटिक स्टडी आफ् फैमिली, पृ० ४**

केवल एक ही गृहस्थाश्रम है, ब्रह्मचर्य इसकी तय्यारी मात्र है, वानप्रस्थ और संन्यास गृहस्थ-धर्म के यावज्जीवन पालन का निर्देश करनेवाले अनेक वैदिक वचनों के विरोधी होने के कारण अमान्य हैं। बाद के धर्मशास्त्रकारों ने यद्यपि पिछले दो आश्रमों को अस्वीकार नहीं किया; किन्तु वे गृहस्थाश्रम की प्रशंसा के गीत गाते नहीं थकते। गौतम (३।३) ने इसे अन्य सब आश्रमों का मूल कहा है। प्राय: सभी स्मृतिकार इसे अन्य आश्रमों का आधार बताते हैं। मनु ने कहा, जैसे सब जन्तु वायु के सहारे जीते हैं, वैसे ही सब प्राणी गृहस्थ-आश्रम से जीवन धारण करते हैं (३।७७); जैसे सब नदी-नद समुद्र में जाकर स्थित होते हैं, वैसे तीनों आश्रम गृहस्थ में ही स्थिति प्राप्त करते हैं; उसी की सहायता से जीवित हैं (मनु ६।९०)। अन्य आश्रमों का भरण-पोषण करने के कारण यह ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ आश्रम है। विष्णु स्मृति (५९।२७ अनु) वसिष्ठ (८।१५), शंख (५।५-६), दक्ष (२।४५-४८) में इसी प्रकार का भाव व्यक्त किया गया है। व्यास-स्मृति (४।२-४, १३-१४) में गृहस्थ आश्रम को सर्वश्रेष्ठ बताते हुए यह भी कहा गया है कि जितेन्द्रिय होकर गृहस्थ धर्म का पालन करनेवाले को घर में ही कुरुक्षेत्र, नैमिषारण्य, हरिद्वार और केदारतीर्थ मिल जाते हैं, जिनकी यात्रा कर वह सब पापों से मुक्त हो जाता है।

महाभारत में गृहस्थाश्रम का गौरव गान (१२।२७०।६-७) अन्य शास्त्रों की अपेक्षा अधिक है। शान्ति पर्व में कहा गया है कि जैसे माता के आधार से सब प्राणी जीते हैं, वैसे अन्य आश्रमों की स्थिति गृहस्थ के आधार पर है। गृहस्थ के लिये मोक्ष संभव न माननेवालों की निन्दा की गई है (२७०।१०-११)। अन्यत्र अन्य तीन आश्रमों की तुलना में गृहस्थ का पलड़ा बराबर बताया गया है (शा० प० १२।१२)। कुछ स्थलों में गृहस्थ-धर्म की उपेक्षा करके संन्यासी बननेवालों की खूब खिल्ली उड़ाई गई है। संन्यास को पापिष्ठा वृत्ति कहा गया है (१२।८।७)। अकेला आदमी पुत्र, पौत्रों, देवताओं, ऋषियों, अतिथियों का भरण न करता हुआ जंगल में सुख से जी सकता है, पर न तो ये मृग स्वर्ग को पाते हैं, न सूअर, न पक्षी। यदि संन्यास से कोई राजा सिद्धि पा सके तो पहाड़ और पेड़ तुरन्त ही सिद्धि पा लें क्योंकि ये नित्य संन्यासी, निरुपद्रववाले और निरन्तर ब्रह्मचारी देखे जाते हैं (१२।१०।२२-२५)।

जरत्कारु और कुणिगर्ग की कथाओं द्वारा महाभारत ने स्त्री-पुरुष दोनों

के लिए विवाह और परिवार की अनिवार्यता प्रदर्शित की है। जरत्कारु (१।१३ व १।४५ उग्र तपस्वी ऋषि थे, उन्होंने विवाह नहीं किया; था किन्तु अपने पितरों की दुर्दशा देखकर, अन्त में उन्हें विवाह करना पड़ा। कुणिगर्ग की कन्या (९।५२) ने आजीवन घोर तप किया, बूढ़ी होने पर तपोबल के आधार पर परलोक जाने की इच्छा की। इसी समय नारद ने उसे यह बताया कि अनव्याही कन्याओं को स्वर्ग नहीं मिलता। अपने तप के अर्धांश का फल देकर उसने शृंगवान् से शादी की और इसके बाद ही वह स्वर्गलोक जा सकी। अब तक हिन्दू-समाज में विवाह की अनिवार्यता का यह विश्वास बद्धमूल है और भारत के कई प्रदेशों में यदि कोई व्यक्ति अविवाहित ही मर जाता है तो दाह-संस्कार से पहले उसकी शादी अवश्य कराई जाती है[२०]।

**परिवार के प्रयोजन**––हिन्दू समाज में विवाह और परिवार की संस्था को इस प्रकार अनिवार्य बनाने का यह कारण था कि इससे अनेक महत्त्वपूर्ण प्रयोजन पूर्ण होते थे। धर्मशास्त्रों के मत में इसके तीन प्रधान प्रयोजन थे––(१) पुत्रप्राप्ति, (२) धर्मकार्य और (३) रति। ऋग्वेद में पहले प्रयोजन तथा पुत्रों की आकांक्षा को अनेक स्थलों पर बड़ी तीव्रता से अभिव्यक्त किया गया है (१।९१।२०, १।९१।१३, ३।१।१२३)। ऋ० ५।४।१० में सन्तान द्वारा अमृतत्त्व-प्राप्ति का उल्लेख पहले हो चुका है। पाणिग्रहण के मंत्रों में वर वधू को कहता है कि मैं

---

२० .सेन्सस रिपोर्ट १९३१ खं० १, भाग १, पृ० २२७। हिन्दुओं की तरह अनेक जातियों में विवाह और परिवार एक धार्मिक बन्धन है। हज़रत मुहम्मद का एक हदीस है कि जो विवाह नहीं करता, वह शैतान का साथी है (लेन––अरेबियन सोसायटी इन मिडल एजेज़, पृ० २२१)। पारसियों में अहुरमज्दा ने जरथुस्त्र को कहा था––ब्रह्मचारी से सपत्नीक बहुत श्रेष्ठ है। यहूदियों में शादी से बचनेवाला हत्यारे जैसा अपराधी समझा जाता है। यूनान में कई स्थानों पर अविवाहितों पर मुकद्दमा चलाया जाता था, रोम में इन पर टैक्स लगाया जाता था। चीनियों में विवाह इतना अनिवार्य है कि बचपन में ही मर जानेवाले बालक-बालिकाओं की आत्मा का विवाह कराया जाता है। फिजी में यह विश्वास है कि जो व्यक्ति शादी बिना किये मर जाता है वह स्वर्ग के मार्ग पर एक देवता द्वारा रोका जाता है और चूर चूर कर दिया जाता है (मेयर–सेक्सुअल लाइफ इन एंशेण्ट इंडिया, खं० १)।

उत्तम सन्तान के लिये तेरा पाणिग्रहण करता हूँ (ऋ० १०।८५।३६)। पुरोहित वर-वधू को आशीर्वाद देते हुए दस पुत्र उत्पन्न करने का आदेश प्रकट करता था (ऋ० १०।८५।४५)। महाभारत में कई स्थलों पर विवाह का प्रयोजन सन्तान बताया गया है (३।९७, १३।१९।९०)। स्मृतिकारों ने इसपर बहुत बल दिया है। मनु ने विवाह के प्रयोजनों में सन्तानोत्पादन को सब से पहले गिना है (९।२९)। भारतीय आदर्शों का प्रतिपादन करनेवाले महाकवि कालिदास के कथनानुसार रघुवंशी राजा सन्तान के लिये गृहस्थ होते थे (प्रजायै गृहमेधिनाम् रघु० १।७)।

**दूसरा प्रयोजन-धर्म का पालन**—विवाह द्वारा परिवार-निर्माण का दूसरा प्रयोजन धर्म का पालन है। वैदिक युग में यज्ञ अनिवार्य थे, प्रत्येक व्यक्ति स्नातक होकर यज्ञ की अग्नि अपने घर में प्रज्वलित करता था; किन्तु यज्ञ पत्नी के बिना पूर्ण नहीं हो सकता था, अतः पत्नी-ग्रहण या विवाह सब के लिये अनिवार्य था, यज्ञ में साथ बैठने वाली स्त्री को ही पत्नी कहा जाता था; श्रीराम का अश्वमेध यज्ञ पत्नी के बिना पूरा नहीं हो सकता था, अतः उन्हें सीता की प्रतिमा स्थापित करनी पड़ी[२१]। याज्ञवल्क्य एक पत्नी के मरने पर, यज्ञ कार्य के लिये तुरन्त दूसरी पत्नी को व्याहने का आदेश देता है[२२]। कालिदास ने बताया है कि कामदेव पर विजय पानेवाले शिवजी के सामने जब सप्तर्षि और अरुन्धती आये, उस समय अरुन्धती को देखकर उन्हें विवाह करने की इच्छा उत्पन्न हुई; क्योंकि धर्म सम्बन्धी क्रियाओं का मूल पतिव्रता स्त्री ही है[२३]। वैदिक युग में नवदम्पति को आमरण गृहस्थाश्रम का सुख भोगने का उपदेश किया जाता था (ऋ० १०।८५।४२); किन्तु कर्मकाण्ड के विरुद्ध प्रतिक्रिया होने तथा वैराग्यपरक प्रवृत्तियों के प्रबल होने पर, सीधे ब्रह्मचर्य से संन्यास को उत्तम समझा जाने लगा, ३६ और ४८ वर्ष के ब्रह्मचर्य की महिमा गायी जाने लगी। यह विवाह और यज्ञ कर्म पर कुठाराघात था। शबर ने गृहस्थाश्रम की उपेक्षा एवं याज्ञिक

---

२१. पाणिनि ४।१।१३३ पत्युर्नो यज्ञसंयोगे; वा० रा० ८।९१।२५।

२२. याज्ञ० १।८९ दाहयित्वाग्निहोत्रेण स्त्रियं वृत्तवतीं पतिः। आहरेद्विधिवद्दारानग्नींश्चैवाविलम्बयन् ॥

२३. कुमारसंभव ६।१३ तद्दर्शनादभूच्छंभोर्भूयान् दारार्थमादरः। क्रियाणां खलु धर्म्याणां सत्पत्न्यो मूलकारणम् ॥

धर्म-कर्म पालन न कर ब्रह्मचारी रहनेवालों की कठोर शब्दों में निन्दा की "अपनी नपुंसकता छिपाने के लिये, वे ४८ वर्ष के ब्रह्मचर्य का आचरण करते हैं"[२४]। शबर के विरोध का कारण यह था कि ब्रह्मचारी रहने पर यज्ञ नहीं किये जा सकते; क्योंकि यज्ञ पत्नियों के बिना पूर्ण नहीं हो सकते। यज्ञ में पत्नी को इतना महत्व देने का कारण यह विश्वास था कि पुरुष पत्नी के बिना अपूर्ण है। शतपथ ब्राह्मण के पहले उद्धृत एक वचन में यह कहा गया है 'पत्नी निश्चयपूर्वक पति का आधा हिस्सा है, जब तक वह पत्नी नहीं प्राप्त करता, उस समय तक वह सन्तान नहीं उत्पन्न करता और अपूर्ण (असर्व) रहता है; जब स्त्री को प्राप्त करता है, प्रजा पैदा करता है, तभी वह पूर्ण होता है[२५]'। ऐ० आ० (१।२।५) में भी पत्नी की प्राप्ति से मनुष्य की पूर्णता बतायी गयी है।

**तीसरा प्रयोजन—रति**—शास्त्रों में विवाह और परिवार का तीसरा प्रयोजन रति बताया गया है। उपनिषदों में इसे सब से बड़ा आनन्द कहा है; और ब्रह्म के साथ सम्बन्ध से उत्पन्न होनेवाले आनन्द को यौन सुख की उपमा से समझाया गया है। 'जैसे कोई अपनी प्रिय पत्नी से मिलता हुआ, बाहर के जगत् को कुछ भी नहीं जानता और न आन्तरिक जगत् को जानता है, ऐसे यह पुरुष प्राज्ञ आत्मा से जुड़ा हुआ न बाहर की किसी वस्तु को जानता है, न अन्दर की वस्तु को जानता है, (बृह० उ० ४।३।२१)। प्राचीन आर्यों ने ब्रह्मानन्द सहोदर इस आनन्द के भोग को धार्मिक कर्त्तव्य बताया। शास्त्रकार काम की शक्ति से परिचित थे, अतः उन्होंने इसका उचित सेवन प्रत्येक व्यक्ति का आवश्यक कर्त्तव्य बताया। श्रीकृष्ण ने गीता में (७।११) अपने को धर्मानुकूल काम बताया है। प्राचीन आर्यों के जीवन में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष नामक चारों पुरुषार्थों की प्राप्ति आवश्यक समझी जाती थी। वे न तो विशुद्ध भोगवादी थे और न

---

२४. शबरभाष्य १।३।४ अपुंस्त्वं प्रच्छादयन्त अष्टाचत्वारिंशद्वर्षाणि ब्रह्मचर्यं चरितवन्तः।

२५. श० ब्रा० ५।२।१।१० अर्धो वा एष आत्मनो यज्जाया तस्माद्यावज्जायां न विन्दते नैव तावत्प्रजायते असर्वो हि तावद्भवति। अथ यदैव जायां विन्दतेऽथ प्रजायते तर्हि हि सर्वो भवति। मि० शत० ब्रा० ८।७।२।३ तथा तैत्ति० सं० ६।१।८५। तस्मात्पुरुषो जायां वित्वा कृत्स्नतरमिवात्मानं मन्यते। ऐ० आ० १।२।५

कोरे त्यागवादी। 'सुन्दरी वा दरी वा' का एकान्त आदर्श उन्हें मान्य नहीं था। वे अवस्थानुसार चारों पुरुषार्थों के सेवन पर बल देते थे। वात्स्यायन कहता है—शतायु पुरुष बचपन में विद्या ग्रहण करे, यौवन में काम का सेवन करे, बुढ़ापे में धर्म और मोक्ष प्राप्त करे[२६]। कालिदास ने आदर्श रघुवंशी राजाओं को यौवन में विषयों का सेवन करनेवाला बताया है। मनु ने परिवार का एक प्रयोजन रति सुख की प्राप्ति कहा है (९।२८)।

**ईसाई आदर्श से तुलना**—विषय सेवन को उचित और आवश्यक समझकर हिन्दू-समाज में विवाह और परिवार का विधान किया गया है। हिन्दू-शास्त्रकारों ने इस प्रकार सहज एवं उद्दाम यौन भावना को सामाजिक कल्याण के लिये नियन्त्रित कर विवाह को आवश्यक बनाया, यदि ऐसा न किया जाता तो इस के भयंकर दुष्परिणाम होते। ईसाइयत के इतिहास से यह भली भांति स्पष्ट होता है। हमारे यहाँ विषय-सेवन को ठीक समझकर विवाह की व्यवस्था की गयी; किन्तु ईसाइयों ने विवाह की स्वीकृति इसलिये दी कि यदि यह न दी जायगी, तो अविवाहित व्यभिचार का महापाप होने लगेगा। सैण्टपाल ने १ कोरिन्थियन ५।१-९ में विवाह संबन्धी विचारों को स्पष्ट करते हुए लिखा था। पुरुष के लिये यह अच्छा है कि वह स्त्रियों का स्पर्श न करे; फिर भी अविवाहित व्यभिचार से बचने के लिये प्रत्येक पुरुष को पत्नी तथा स्त्री को पति रखना चाहिये। वहीं १ को० ५।९ में उसने यह भी कहा है—यदि अविवाहित और विधवायें संयम नहीं कर सकतीं हों तो पाप करके जलने की अपेक्षा विवाह करना बेहतर है। टर्टुलियन इस 'बेहतर' की व्याख्या करता हुआ कहता है कि बेहतर सदा अच्छा नहीं होता, एक आँख का खोना दो आँखें खोने से बेहतर है, पर इन में से कोई भी अच्छा नहीं है, अर्थात् विवाह न करना सब से अच्छा आदर्श है। सैण्टपाल विषय-सम्बन्ध को मोक्ष में बाधक मानता है (१ कोरिन्थियन ८।३२-३४), विवाह के विषयभोग को भी वह अनिवार्य बुराई और पाप समझता है। उसके लिये विवाह में कोई भलाई या सन्तानोत्पत्ति का प्रयोजन नहीं है। चर्च ने, सैण्टपाल के इस एकांगी

---

२६. कामसूत्र १।२।१-४ शतायुर्वै पुरुषो विभज्य कालमन्योन्यानुबद्धं परस्परस्यानुपघातकं त्रिवर्गं सेवेत। बाल्ये विद्याग्रहणादीनर्थान् कामं च यौवने, स्थाविरे धर्मं मोक्षं च।

और दूषित दृष्टिकोण को अपनाकर ब्रह्मचर्य को अनावश्यक रूप से अत्यधिक महत्ता दी। हमारे यहाँ विवाह धर्म है; किन्तु ईसाइयत में यह अधर्म तथा अविवाह ( Celibacy ) धर्म है। ईसाई सन्तों में ब्रह्मचर्य का विचार यहां तक बढ़ा कि उन्होंने स्नान और सफाई को भी पाप समझा। सैण्ट अब्राहम ने ईसाई होने के ५० वर्ष बाद तक मुंह नहीं धोया। प्रसिद्ध ईसाई भिक्षुणी सिलविया सफाई न रखने से बीमार हो गयी; किन्तु ६० वर्ष की होने पर भी वह उंगलियों के सिवाय, अपने शरीर के किसी हिस्से को धोने के लिये तय्यार नहीं थी। मैल साफ करना धार्मिक पाप था; क्योंकि यह शैतान की प्रेरणा थी। मरुस्थलवर्त्ती एक ईसाई मठ में पानी की बड़ी कमी थी, मठाधीश की प्रार्थना पर वहाँ एक जलधारा प्रादुर्भूत हुई; किन्तु जब पादरियों ने उसका स्नान के लिये प्रयोग किया तो वह सरस्वती की तरह लुप्त हो गयी[२७]। मध्यकाल में ईसाई चर्च ने सन्तानोत्पत्ति के अतिरिक्त यौन सम्बन्ध व्यभिचार और पाप माना। उस समय यह युक्ति दी जाती थी कि किसान बीज बोने पर फसल तय्यार होने की प्रतीक्षा करता है, नये बीज नहीं बोता। पादरियों के लिये ब्रह्मचर्य का नियम अनिवार्य बना दिया गया, किन्तु इसका परिणाम यह हुआ कि चर्च चकलों में परिणत हुए, न केवल सामान्य पादरी अपितु बड़े-बड़े बिशप और पोप ब्रह्मचर्य के बन्धन के कारण अनुचित सम्बन्ध करने लगे। पोप जान २३ वें पर निकटाभिगमन ( Incest ) तथा व्यभिचार का दोष लगाया गया, ११७१ ई० में कैण्टरबरी के मठाधीश के बारे में खोज करने से पता लगा कि एक ही गाँव में उसकी १७ अवैध सन्तानें हैं। स्पेन में सैण्ट पोलादो के मठाधीश की ७० रखैलें थीं, लीज के बिशप हेनरी को १२७४ में अपने पद से इसलिये हटाया गया था कि उसके ६५ नाजायज़ बच्चे थे[२८]।

हिन्दू समाज में भी वैराग्यवाद और बौद्धधर्म की प्रवृत्ति प्रबल होने पर कुछ समय तक गृहस्थाश्रम तथा विवाह को हेय दृष्टि से देखा गया, किन्तु मनुस्मृति और महाभारत ने गृहस्थ के गौरव का गान कर के इस लहर को पूरी तरह से रोका। पहले यह बताया जा चुका है कि महाभारत में किस प्रकार संन्यास को पापिष्ठा वृत्ति कहकर इसकी हँसी उड़ायी गयी है। शान्तिपर्व के अठारहवें अध्याय में विदेहराज जनक के अपनी भार्या के साथ संन्यास ग्रहण

---

२७. लैकी—हिस्ट्री आफ् योरोपियन मारल्ज़, खण्ड २, पृष्ठ ११७-१८।

२८. वहीं, खण्ड २, पृ० ३५०-५१।

के समय हुए वार्त्तालाप में, अपने कर्त्तव्यों को पूरा न करके प्रव्रज्या ग्रहण करनेवालों की घोर निन्दा की गयी है। जनक-पत्नी ने कहा है—'आप उज्ज्वल राज्य श्री का परित्याग करके कुत्ते की भांति ( पराये अन्न की आशा में ) इधर-उधर देख रहे हैं, अपनी धर्मपत्नी का त्याग कर के जीने की इच्छा करनेवाले आप पापी हैं, आपका इहलोक और परलोक में कल्याण नहीं होगा। यदि राजा देने वाला न हो तो मोक्ष चाहनेवालों का निर्वाह कैसे हो ? भिक्षुक गृहस्थों के आधार से जीते हैं और उस आश्रम का स्वयं त्याग करते हैं'। महा० के मत में 'शिष्य, मठ, सम्पत्ति आदि की लालसा से काषाय वस्त्र धारण करनेवाले मूर्ख हैं। संन्यास धर्म पवित्र होने पर भी, उसे ग्रहण करके सिर मुंड़ाना, गेरुये वस्त्र धारण करना केवल जीविका-निर्वाह के लिये है।' जो लोग सुखार्थी हैं किन्तु निर्धन होने के कारण संन्यास लेते हैं, उनका अनुकरण कर गृह त्याग करना ठीक नही है[२९]। महाभारत का यह सारा प्रकरण भगवान् बुद्ध जैसे अपनी पत्नी तथा घर छोड़कर संन्यासी होनेवालों पर एक प्रबल आक्षेप है। तथागत के उपदेश के प्रभाव से इतने अधिक तरुण संन्यासी बनने लगे कि कपिलवस्तु में हाहाकार मच गया था, उनके पिता शुद्धोदन ने उनसे यह व्यवस्था करायी कि युवक माता पिता की अनुमति लेकर ही संन्यासी हों[३०] फिर भी हमारे देश में ऐसे संन्यासियों की कमी नहीं थी, जिनकी मसें भी न भीगी होती थीं, ऐसे 'अजातश्मश्रु' भिक्षुओं की एक कथा शान्ति पर्व में है, इन्द्र के समझाने से इन सब ने संन्यास-धर्म को निष्फल समझ गृहस्थ का अवलम्बन किया (१२।११।२७)। कुछ शास्त्रकारों ने सम्भवतः संन्यास के दुष्परिणामों को समझकर इसे कलिकाल में वर्जित बताया[३१]। अतः सामान्यरूप से पुत्रप्राप्ति, धर्मपालन रति आदि प्रयोजनों की पूर्त्ति के लिये हिन्दू-समाज में विवाह और परिवार को प्रायः अनिवार्य ही समझा जाता रहा है।

---

२९. महाभा० १२।१८।१२ अनु० श्रियं हित्वा प्रदीप्तां त्वं श्ववत्संप्रति वीक्ष्यसे।...नैव तेऽस्ति परो लोको नापरः पापकर्मणः। धर्म्यान्दारान्परित्यज्य यस्त्वमिच्छसि जीवितुम् ॥ न चेद्राजा भवेद्दाता कुतः स्युर्मोक्षकांक्षिणः। परिव्रजन्ति दानार्थं मुंडाः काषायवाससः ॥

३०. बुद्धचर्या, पृ० ५८।

३१. व्यास स्मृति मुक्ताफल में उद्धृत, पृ० १७६ अग्नाधेयं गवालम्भं संन्यासं पलपैतृकम्। देवरेण सुतोत्पत्तिं कलौ पंच विवर्जयेत्।

# दूसरा अध्याय

## हिन्दू परिवार का विकास

हिन्दू-परिवार का स्वरूप—इसके विकास की पाँच अवस्थायें—पहली अवस्था पूर्व वैदिक युग का परिवार—कीथ व मैकडानल की कल्पना—उसका खण्डन—संयुक्त कुटुम्ब-पद्धति के कुछ अन्य प्रमाण—इस पद्धति की विरोधी तथा पोषक परिस्थितियाँ—संयुक्त परिवार के उपादान—(१) धर्म—पितृपूजा और अग्नि-पूजा, (२) आर्थिक परिस्थिति—वैदिक परिवार की सीमा—पितृसत्ताक परिवार—पारिवारिक सम्पत्ति पर पिता का वैयक्तिक स्वाम्य—मेन की पंचायती स्वाम्य की कल्पना—इसका खण्डन—दूसरी अवस्था—परिवार के विघटन के संकेत—पुत्रों द्वारा दाय का बटवारा—विभाग का विकास—विघटन का एक अन्य संकेत, भ्रातृव्य शब्द—विघटन के कारण—(क) मनोवैज्ञानिक, (ख) सामाजिक परिस्थितियाँ, (ग) धर्म-संयुक्त परिवार की अक्षुण्ण परम्परा—इसमें परिवर्तन—तीसरी अवस्था—पिता के अधिकारों का अपहरण—विभाग की प्रशंसा—स्वार्जित सम्पत्ति—विघटन के कारण—संयुक्त परिवार का समर्थन—पितृ प्रधान परिवार का अन्त—चौथी अवस्था—स्वार्जित सम्पत्ति का क्षेत्र संकुचित किया जाना—मध्ययुग में संयुक्त परिवार पद्धति के बढ़ने के मनोवैज्ञानिक और आर्थिक कारण—अन्य कारण—पाँचवीं अवस्था—विघटन के उपादान (क) नवीन आर्थिक परिस्थितियाँ, (ख) पश्चिम की नई विचार-धारायें, (ग) पश्चिमी कानून, (घ) अन्य कारण, संयुक्त परिवार की हानियाँ, (क) परोपजीविता और अकर्मण्यता में वृद्धि, (ख) व्यक्तित्व का दमन, (ग) स्त्रियों की दुर्दशा, (घ) कलह-वृद्धि, (ङ) अविचारित सन्तानोत्पादन, (च) आर्थिक हानि—संयुक्त परिवार के गुण—इसका भविष्य।

**हिन्दू परिवार का स्वरूप**—बाइबल में सृष्टि-निर्माण के समय भगवान् ने कहा है कि विवाह होने के बाद पुरुष अपने माता-पिता को छोड़ देगा और पत्नी के साथ अलग रहेगा (जिनीसस २।२४) किन्तु हिन्दू-समाज में ऐसा नहीं होता, वैदिक युग से यहाँ यह व्यवस्था प्रचलित है कि पुत्र विवाह के बाद अपनी स्त्रियों और सन्तानों सहित

पिता के साथ एक ही घर में रहते हैं। कुछ धर्मशास्त्र यह विधान करते हैं कि भाई पिता के जीवन-काल में एक साथ ही रहें[1]। इस प्रकार का परिवार संयुक्त कुटुम्ब कहलाता है। यह निवास, भोजन, धर्म-कर्म और आर्थिक दृष्टि से संयुक्त होता है। पिता, उसके पुत्र, पुत्रवधुयें, भाई भाभियाँ आदि अनेक परिवार एक ही घर में रहते हैं, इनका भोजन एक ही चूल्हे पर बनता है, इनके यज्ञ, श्राद्ध, धर्म-कर्म एक साथ किये जाते हैं[2], सम्पत्ति का स्वामित्व, उत्पादन और उपभोग सम्मिलितरूप से होता है, परिवार के सदस्य जो कुछ कमा कर लाते हैं, उसका उपयोग परिवार के सब प्राणी मिलकर करते हैं[3]। संयुक्त परिवार एक कारपोरेशन (निकाय) या सामूहिक संगठन है, इसका मुखिया (कर्त्ता) या गृहपति एक प्रकार का ट्रस्टी है, जो समूचे परिवार की सम्पत्ति का प्रबन्ध इस दृष्टि से करता है कि उसके सदस्यों का ऐहिक तथा पारलौकिक कल्याण हो, सदस्यों की सारी कमाई संयुक्त कोश में डाली जाती है और गृहपति सब की आवश्यकतायें पूरी करने के लिये इस कोश का यथेच्छ उपयोग कर सकता है। इसमें प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यतानुसार कमाता है तथा आवश्यकतानुसार प्राप्त करता है और इस प्रकार काफी अंशों में समाजवाद के इस आदर्श को पूरा करता है कि प्रत्येक से योग्यतानुसार लिया जाय और उसे आवश्यकतानुसार दिया जाय[4]। संयुक्त परिवार में अनेक कुटुम्बों के इकट्ठा रहने के कारण सदस्यों की संख्या बहुत होती है[5]। ये सब परिवार

---

१. आपस्तम्ब धर्म सूत्र २।६।१४।१९ भ्रातॄणां जीवतोः पित्रोः सहवासो विधीयते। मि० शंख सवि० ३५१।

२. बृह० अप० २।११४ एकपाकेन वसतां पितृदेवद्विजार्चनम्। एकं भवेत्... मि० नारद स्मृ० १६।३८।

३. अप्पूवियर बनाम रामसुब्बा अय्यन (११ म्यू० इं० ए० ७५।८९-९०)।

४. जाथर बेरी—इंडियन इकनामिक्स, तृतीय संस्करण, ख० १, पृ० १०३-४।

५. वार्ड ने १९वीं शती के प्रारम्भ में बंगाल के एक हिन्दू संयुक्त कुटुम्ब के सदस्यों की संख्या ५० बतायी है। जगन्नाथ तर्क पंचानन के (१७९९-१८०६ ई०) के परिवार में पुत्र, पौत्र और प्रपौत्रों की संख्या ७०-८० के बीच में थी, उन्हें प्रप्रपौत्र का मुंह देखने का अवसर मिला था, श्राद्ध में

के मुखिया के अनुशासन में रहते हैं। संयुक्त-परिवार एक छोटा सा-राज्य है, प्रायः पिता या संयुक्त परिवार का 'कर्त्ता' इसका निरंकुश शासक होता है। इस प्रकार हिन्दू संयुक्त कुटुम्ब की चार विशेषतायें हैं, (१) पिता के साथ पुत्र, पौत्रादि का अपने परिवारों सहित इकट्ठा रहना। हिन्दू संयुक्त परिवार वास्तव में किसी ज्ञात पूर्वज के और स, दत्तक पुत्रों तथा विवाह द्वारा संबद्ध प्राणियों का समूह है। (२) एक निवास, पाक तथा संयुक्त रूप से धर्म-कर्म का पालन (३) सम्पत्ति का संयुक्त स्वामित्व और उपभोग, (४) परिवार के सदस्यों का मुखिया के अनुशासन में रहना।

वर्तमान समय में नगरों में तथा शिक्षित वर्ग में हिन्दू-परिवार के उपर्युक्त रूप में काफी परिवर्तन हो रहा है, किन्तु १९ वीं शती के अन्त तक सम्मिलित कुटुम्ब की ही प्रथा की प्रधानता थी। पिछली चार सहस्राब्दियों में भारतवर्ष में अनेक साम्राज्यों का उत्थान और पतन हुआ, विदेशी जातियाँ आईं, नये धर्म प्रचलित हुए, परन्तु परिवार के सम्बन्ध में मौलिक परिवर्तन बहुत ही कम हुए। अनेक शतियों के तूफानी थपेड़ों से संयुक्त परिवार में कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ा। वैदिक युग के प्रारम्भ में संयुक्त परिवार की पद्धति थी। इस समय से गुप्त-युग तक परिवार में विभाग की प्रवृत्तियाँ प्रबल हुईं। गुप्त युग के बाद फिर संयुक्त परिवार की प्रथा पुष्ट होने लगी। १९वीं सदी के बाद से पुनः संयुक्त परिवार विरोधी परिस्थितियाँ प्रबल होने लगी हैं। अब तक के हिन्दू परिवार के इतिहास में हमें सम्मिलित कुटुम्ब की पक्षपाती और विरोधी प्रवृत्तियों में एक संघर्ष दिखाई देता है। इस द्वन्द्व में कभी संयुक्त परिवार पक्षपाती प्रवृत्तियों का पलड़ा भारी होता है और कभी विरोधी प्रवृत्तियों का, किन्तु विरोधी प्रवृत्तियों के प्रबल होने पर भी, कोई ऐसा समय नहीं आया जब कि संयुक्त परिवार प्रथा नाम शेष रह गई हो। इसी प्रकार संयुक्त परिवार की समर्थक प्रवृत्तियों के अत्यन्त प्रबल होने पर भी विभाग की प्रथा कभी बिल्कुल लुप्त नहीं हुई। मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि हिन्दू समाज

---

प्रपितामह तक पिण्डदान होता है, यहां उसके जीवित होने से उसकी आवश्यकता न थी। ( हिस्ट्री लिटरेचर एण्ड माइथोलोजी आफ् हिन्दूज, खण्ड १, (१८१८) पृ० १४५ ) अभी तक सत्तर व्यक्तियों के संयुक्त कुटुम्ब देहातों और छोटे कस्बों में पाये जाते हैं। लेखक ज्वालापुर में सत्तर के लगभग सदस्यों के एक वैश्य कुटुम्ब को जानता है।

में संयुक्त कुटुम्ब-प्रथा सामान्य रूप से प्रचलित रही है[६]; किन्तु बीच-बीच में उसमें विभाग की प्रवृत्तियाँ प्रबल हुई हैं। इन दोनों प्रवृत्तियों के अन्तर्द्वन्द्व से हिन्दू परिवार का विकास हुआ है।

### *विकास की पाँच अवस्थाएं*

यह विकास पांच अवस्थाओं में बांटा जा सकता है।

पहली अवस्था——पूर्व वैदिक युग——इस युग में हिन्दू-समाज में संयुक्त परिवार की प्रधानता थी।

दूसरी अवस्था——उत्तर वैदिक युग से ६०० ई० पू० तक——इस काल में संयुक्त परिवार के विघटन का श्रीगणेश हुआ। पुत्र पिता की सम्पत्ति में से अपना हिस्सा अलग करने लगे।

तीसरी अवस्था——( ६०० ई० पू०-६०० ई० तक) इस समय विघटन की प्रवृत्तियाँ अधिक प्रबल हुईं। पुत्रों के बंटवारे का अधिकार मान लिया गया। विभाग की प्रशंसा की जाने लगी। स्वार्जित सम्पत्ति पर कमानेवाले का अधिकार मान लिया गया। बँटवारा प्रायः पिता-माता की मृत्यु के बाद ही उत्तम समझा गया, किन्तु यदि पिता अपने अधिकार का दुरुपयोग करता था, तो उसके जीवन-काल में उसकी इच्छा न होने पर भी पुत्र बँटवारा कर सकते थे।

चौथी अवस्था——६०० ई० से १९०० ई० तक——इस अवस्था में टीका-

---

६. संयुक्त कुटुम्ब पद्धति हिन्दू समाज के अतिरिक्त अन्य बहुत से समाजों में पायी जाती है। लीस्ट ने ट्यूटन (जर्मन) जाति के अतिरिक्त अन्य सभी आर्यजातियों में इसकी सत्ता के प्रमाण दिये हैं। चीन में इस प्रथा के प्रसार के सम्बन्ध में दे०—डूलिटल-सोशल लाइफ आफ दी चाइनीज़ २।२२५ प्र०), यहां चार पीढ़ी तक के सम्बन्धी घनिष्ठ रूप से संबद्ध माने जाते थे। दक्षिणी स्लावों में जाद्रुगा नामक विशाल परिवार होते थे; जिनमें एक ही पूर्वज की बहुत सी पीढ़ियां सम्मिलित होती थीं, पारिवारिक सम्पत्ति का उत्पादन और उपभोग संयुक्तरूप से होता था ( एंजेल्स-परिवार, व्यक्तिगत सम्पत्ति, राजसत्ता की उत्पत्ति पृ० ४०-४)। फ्रेंच राज्यक्रान्ति से पूर्व फ्रांस में बहुत बड़ी कृषक गृहस्थियां होती थी। एंजेल्स ने उत्तरी अमरीका के एक टापू क्वीन चारलौट के हायदा लोगों में एक ही छत के नीचे रहनेवाले ७०० व्यक्तियों के परिवारों का उल्लेख किया है ( वहीं पृ० ६४)।

कारों ने संयुक्त परिवार समर्थक प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित किया। विज्ञानेश्वर आदि ने स्वार्जित सम्पत्ति के क्षेत्र को बहुत संकुचित किया। जीमूत वाहन ने पिता को असाधारण अधिकार देकर पिता के जीवन काल में पारिवारिक सम्पत्ति के पुत्रों द्वारा विभाग की व्यवस्था का बंगाल में सर्वथा अन्त कर दिया।

पांचवीं अवस्था—वर्तमान युग (१९०० से)—इस युग में विघटन की प्रवृत्तियां पुनः प्रबल हो रही हैं। स्वार्जित सम्पत्ति के अधिकार को कानून बनाकर सुरक्षित कर दिया गया है। विधवाओं के अधिकारों में वृद्धि की गई है। पश्चिमी जगत् के साथ सम्पर्क में आने से तथा वर्तमान औद्योगिक युग की नवीन परिस्थितियों से, संयुक्त परिवार प्रथा के भंग होने का भय उपस्थित हो गया है। अब इन पांचों अवस्थाओं का, क्रमशः प्रतिपादन किया जायगा।

## पहली अवस्था

**पूर्व वैदिक युग का परिवार**—इस समय अर्थात् संहिताओंके काल में हिन्दू परिवार का क्या स्वरूप था? कीथ और मैकडानल ने वैदिक युग में, संयुक्त परिवार में सन्देह प्रकट किया है। उनका मत है कि वैदिक युग का परिवार संयुक्त था या नहीं, इस विषय में कोई निश्चित सम्मति नहीं बनाई जा सकती; क्योंकि इस संबन्ध में कोई निर्णायक प्रमाण नहीं है। इस बात को सिद्ध करने के लिए कोई साक्षी नहीं कि पुत्र युवा होने पर अपने पिता के साथ रहता था और उसकी पत्नी उसके पिता के घर का सदस्य बनती थी अथवा पुत्र अपना नया घर बसाता था। संभवतः इस विषय में विभिन्न प्रथायें प्रचलित थीं (वैदिक इंडेक्स १।५२७)। मैकडानल ने अन्यत्र (वैदिक रिलीजन, पृ० १५८) लिखा है—'एक सामान्य घर में एक पति और पत्नी समान स्थिति का उपभोग करते हुए रहते थे।' इसमें कोई सन्देह नहीं कि इन विद्वानों के कथन में कुछ सत्यता अवश्य है; किन्तु यह कहना ठीक नहीं कि पुत्र के पिता के साथ रहने के सम्बन्ध में कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होते। कई मन्त्र स्पष्ट रूप से यह सिद्ध करते हैं कि वैदिक युग में पिता अपने पुत्रों और पौत्रों के साथ रहता था और पुत्रवधू अपने श्वशुर के घर में निवास करती थी। विवाह के बाद पुरोहित वर-वधू को आशीर्वाद देते हुए कहता है—तुम यहीं इसी घर में रहो, वियुक्त मत होओ। अपने घर में पुत्रों और पौत्रों के साथ खेलते हुए और आनन्द मनाते हुए सारी

आयु का उपभोग करो ( ऋ० १०।८५।४२ ) । यदि पुत्र विवाह के बाद पिता से पृथक् होकर घर बनाता था तो उसी घर में पोतों के साथ खेलना और खुशी मनाना कैसे हो सकता था पुरोहित वधू को आशीर्वाद देते हुए यह भी कहता था—तू सास, ससुर, ननद और देवर पर शासन करनेवाली रानी बन (वहीं ४६)[८] ये मंत्र प्रत्येक विवाह में पढ़े जाते हैं। यदि उस समय विवाह के बाद पुत्र पिता के घर से अलग हो जाता था और अपना पृथक् घर बनाकर रहता था, तो उसमें सास-ससुर ननद-देवर नहीं हो सकते। उनके सम्बन्ध में यह आशीर्वाद देना बिल्कुल निरर्थक है कि तुम इनपर शासन करो। इस आशीर्वाद की सार्थकता उसी दशा में है, जब पुत्र अपने पिता के घर पर रहे। कीथ व मैकडानल ने अन्यत्र (वैदिक इंडेक्स १।४८४) इस की व्याख्या करते हुए कहा है कि यह मंत्र ऐसे परिवार पर लागू होता है, जहाँ पिता बूढ़ा होने के कारण परिवार का अध्यक्ष नहीं रहा, पुत्र परिवार का अध्यक्ष बना है तथा उसकी पत्नी संयुक्त परिवार की स्वामिनी बनी है। यदि मैकडानल की यह व्याख्या सही मान ली जाय तो इससे यही सिद्ध होता है, कि पुत्र विवाहित होने पर भी अपने पिता के साथ रहा करता था और उसके असमर्थ होने पर परिवार का मुखिया बनता था। यह स्थिति मैकडानल के ऊपर उद्धृत किये गये इस कथन की विरोधी है कि एक घर में एक पति और पत्नी ही रहते थे; फिर मैकडानल का यह कल्पना करना भी ठीक नहीं कि यह आशीर्वाद ऊपर कहे गये परिवार में ही लागू होता है; क्योंकि यह विवाह का एक सामान्य मंत्र है। ब्राह्मण ग्रन्थों में मैकडानल द्वारा बताये गये विशेष विनियोग का कहीं उल्लेख नहीं है। उन्होंने अपनी कल्पना के समर्थन में कोई प्रमाण नहीं दिया।

**सम्मिलित कुटुम्ब-पद्धति के अन्य प्रमाण—स्वापन सूक्त** (अथर्व ४।५)—वैदिक युग में सम्मिलित कुटुम्ब पद्धति की सूचना हमें स्वापन और सांमनस्य सूक्तों (अथर्व० ३।३०) से भी मिलती है। इनमें पहला सूक्त उससमय की संयुक्त परिवार की प्रथा और सत्ता पर बड़ा मनोरञ्जक प्रकाश डालता है। इसमें रात के समय परिवार के सब लोगों को सुलाने का प्रयत्न किया गया

---

**७. ऋ० १०।८५।४२ इहैव स्तं मा वियौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्। क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे। ८ वहीं ४६, सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव। ननान्दरि सम्राज्ञी भव, सम्राज्ञी अधिदेवृषु॥ मि० अथर्व १४।१।२२।**

है । इन मंत्रों से सब को सुलाने की आंकाँक्षा करता हुआ व्यक्ति कहता है, जो नारियाँ बेंच ( प्रोष्ठ) पर लेटी हुई हैं, पलंग पर लेटी हुई हैं, पालकी में लेटा करती हैं, जो स्त्रियां उत्तम गन्धवाली हैं, हम उन सबको सुलाते हैं । मध्य रात्रि में ( अति शर्वरे) गति करनेवाली प्रत्येक वस्तु को मैंने पकड़ लिया है । चक्षु और श्वास को भी थाम लिया है और गति करनेवाले अंगों को भी निरुद्ध कर लिया है । जो कोई बैठा हुआ है, इधर-उधर जाता है, खड़ा होकर देखता है, हम उन सबकी आँखें नींद से बन्द करते हैं। माता सो जाय, पिता सो जाय, कुत्ता सो जाय, घर का स्वामी ( विश्पति ) सो जाय । इस स्त्री के सब सम्बन्धी तथा चारों ओर के लोग सो जायँ[८], इन सब लोगों को सुलाने का क्या अभिप्राय है ? सायणाचार्य ने कौषीतकी ब्राह्मण (४।१२) के आधार पर इस सूक्त का विनियोग यह बताया है कि स्त्र्यभिगमन में उसके आस पास के लोगों को सुलाने के लिए यह सूक्त पढ़ा जाता[९] है । इस सूक्त से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि एक ही घर में अनेक परिवारों के अनेक व्यक्ति संभवतः एक प्रकोष्ठ में सोते हैं, वहाँ पति पत्नी के लिए अभीष्ट एकान्त नहीं है । अतः वे अन्य लोगों को सुलाने के लिए इस सूक्त

---

८. अथर्व ४।५।३-६ प्रोष्ठेशयास्तल्पेशया नारीर्या वह्यशीवरीः । स्त्रियो याः पुण्यगन्धयस्ताः सर्वाः स्वापयामसि ।। एजदेजदजग्रभं चक्षुः प्राणमजग्रभ । अंगान्यजग्रभम् सर्वा रात्रीणामतिशर्वरे ।। य आस्ते यश्चरति यश्च तिष्ठन् विपश्यति । तेषां सं दध्मो अक्षीणि.....।। स्वप्तु माता, स्वप्तु पिता, स्वप्तु श्वा, स्वप्तु विश्पतिः । स्वपन्त्वस्यै ज्ञातयः स्वप्त्वयमभितो जनः ।।

९. इस सूक्त के १,३,५ और ६ मंत्र ऋ० ७।५५।५-८ में किंचित् परिवर्तन के साथ पाये जाते हैं । इन मंत्रों में भी प्रस्वापन का विधान है । इस सूक्त के पहले चार मंत्रों में कुत्ते ( सारमेय ) के भौंकने का विशेषरूप से उल्लेख है । सायणाचार्य ने ऋग्वेद में इस सूक्त की टीका करते हुए कहा है कि महर्षि वसिष्ठ तीन दिन के उपवास के बाद भोजन की आशा में वरुण के घर में घुसे। घर का पहरा देनेवाला कुत्ता उनपर झपटा। वसिष्ठ ने इन मंत्रों से उसे सुलाया । चोर, डाकू चोरी करते हुए इन मंत्रों का पाठ करते हैं । ग्रिफ़िथ ने ऋ० २।५४ की टिप्पणी में कहा है, प्रेमी जब अपनी प्रेयसी के पास अभिसार के लिए जाता है, तो वह इन मंत्रों से उसके अन्य संबंधियों को सुलाती है ।

का विनियोग करते हैं। इस सूक्त का विनियोग अन्य कार्यों के लिए भी किया जा सकता है। विनियोग की यथार्थता के सम्बन्ध में मतभेद की अवश्य गुंजायश है, पर इस विषय में कोई मतभेद नहीं हो सकता कि यह उस समय में संयुक्त परिवार की सत्ता को सूचित करता है। छठे मन्त्र से यह पता चलता है कि इस परिवार में माता, पिता, विश्पति ( यह संभवतः दादा या परिवार के लोगों ( विशः ) का कोई अन्य स्वामी या Patriarch है ) तथा स्त्री के अनेक संबंधी हैं, तीसरे मन्त्र में बैंचों, पलंगों और पालकियों पर अनेक नारियाँ बताई गई हैं। ये संभवतः अविवाहित बहनें तथा भाभियाँ आदि होंगी। इनके स्वरूप पर इन मन्त्रों से कोई प्रकाश नहीं पड़ता, किन्तु यह अवश्य सूचित होता है कि यह कोई वैयक्तिक छोटा परिवार नहीं है, जिसमें केवल पति-पत्नी और उनके बच्चे हों। यह एक काफ़ी बड़ा संयुक्त परिवार है, जिसमें पति-पत्नी के अतिरिक्त उनके माता-पिता, अनेक रिश्तेदार और बहुत-सी स्त्रियाँ एक साथ एक घर में रहती हैं।

सांमनस्य सूक्त ( अथर्व० ३-३० ) में परिवार के उच्चतम आदर्शों पर बल देते हुए कुटुम्ब के सदस्यों को संयुक्त बने रहने, एक साथ खाने तथा एक साथ उपासना करने की प्रेरणा की गई है। ऐसा प्रतीत होता है कि कुटुम्ब का कोई वृद्ध पुरुष परिवार के सब प्राणियों को मिल-जुलकर प्रेमपूर्वक रहने का उपदेश कर रहा है—"मैं तुम्हें समान हृदयवाला, समान मनवाला और द्वेष शून्य बनाता हूँ। जैसे गौ ( अघ्न्या ) अपने पैदा हुए बछड़े के प्रति प्रेम रखती है, उसी प्रकार तुम एक दूसरे के प्रति प्रेम रखो।......तुम अपने बड़े लोगों का अनुकरण करनेवाले हो। तुम समान चित्तवाले ( एक जैसा संकल्प करनेवाले ) बनो। इकट्ठे मिलकर कार्यों की सिद्धि करते हुए, एक ही कार्य-भार को उठाकर चलते हुए, आपस में वियुक्त (विभक्त) मत होओ। एक दूसरे के प्रति सुन्दर वचन बोलते हुए ( यहाँ ) आओ। मैं तुम्हें मिलकर गति करनेवाला तथा समान मनवाला बनाता हूँ। तुम्हारा पानी पीने का स्थान ( प्रपा ) एक हो। तुम्हारा अन्न का हिस्सा भी दूसरों के समान हो, मैं तुमको एक बन्धन ( जुए ) में बाँधता हूँ। जिस तरह अरे, (रथ चक्र) की नाभि में चारों ओर जुड़े होते हैं, उसी प्रकार तुम एक साथ जुड़कर गति करते हुए अग्नि की पूजा करो। एक साथ ( कार्य में प्रवृत्त होकर ) गति करने वाले तुम लोगों को, मैं समान मनवाला बनाता हूँ। मैं तुम सब को संविभाग ( समान बँटवारे से एक समान अन्न के भोग )

वाला बनाता हूँ। अमृत की रक्षा करनेवाले देवताओं की तरह, तुम लोगों में सायं-प्रातः ( सदा ) उत्तम ( अनुकूल ) मनवाले होकर रहने का भाव ( जागृत ) रहे[१०]। इस सूक्त में 'मा वियौष्टं' कहकर स्पष्टरूप से कुटुम्ब को संयुक्त बनाये रखने का आदेश दिया गया है। यहां संयुक्त परिवार में केवल एक साथ भोजन करने तथा एक साथ अग्नि की पूजा करने का ही उल्लेख नहीं है; किन्तु एक साथ कार्यों की सिद्धि करने ( संराधयन्तः ) तथा एक ही साथ कार्य-भार को उठाने ( सधुराश्चरन्तः ) और एक साथ मिलकर मेहनत करने से संयुक्त परिवार के आर्थिक उद्देश्यों की समानता पर भी बल दिया गया है। उन्हें स्पष्टरूप से एक जुए में ( समाने योक्त्रे ) जुड़े रहने को कहा गया है। समान जुए में जुड़ने का मतलब है मिलकर एक पेशा या वृत्ति करना। परिवार के सदस्य जिन बंधनों से ग्रथित और संयुक्त रहते हैं, इस सूक्त में प्रायः उन सभी बंधनों का उल्लेख है।

**संयुक्त कुटुम्ब की विरोधी तथा पोषक परिस्थितियां**—उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वैदिक युग में संयुक्त परिवार की प्रथा थी। कीथ और मैकडानल का यह कहना ठीक नहीं कि उस समय संयुक्त परिवार-प्रथा के समर्थन में कोई स्पष्ट प्रमाण उपलब्ध नहीं होते। एक बात यहां स्पष्टरूप से समझ लेनी चाहिये। वैदिक युग में जगन्नाथ तर्क पंचानन के ७०-८० सदस्योंवाले परिवार में नहीं थे। मध्ययुग में परिवार के प्राणियों में कुछ विशेष कारणों से आश्चर्यजनक वृद्धि हुई। (देखो नीचे)। वैदिक युग में ये कारण उपस्थित नहीं थे। उस समय आर्यों के सामने फैलने के लिए भारत का विशाल भूखण्ड पड़ा हुआ था। आर्य लोग दक्षिणापथ और पूर्व में दूर-दूर जाकर नये प्रदेशों को बसा रहे थे। रामायण में राम को दक्षिण जाते हुए अनेक तपोवन और आश्रम मिलते हैं। अगस्त्य और अत्रि जैसे अनेक आर्य इन प्रदेशों में गये हुए थे। ये ऋषि तपोवनों में

---

१०. अथर्व० ३।३०।१, ५-७ सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः। अन्यो अन्यमभिहर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या।। ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वियौष्ट संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः। अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोमि।। समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि। सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः।। सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोम्येकश्नुष्टीन्संवननेन सर्वान्। देवा इवामृतं रक्षमाणाः सायं प्रातः सौमनसो वो अस्तु।।

अपनी स्त्रियों और पूरे कुटुम्ब के साथ रहते थे। अत्रि ऋषि के आश्रम में सीता ने अनुसूया से पातिव्रत्य का उपदेश ग्रहण किया था। ये ऋषि अपने मूल परिवारों से पृथक् होकर ही दक्षिण में बसे होंगे। यदि आर्य अपने मूल परिवारों से पृथक् न होते तो भारत में कभी उनका विस्तार नहीं हो सकता था। वैदिक युग की यह स्थिति वैयक्तिक या छोटे परिवारों को प्रोत्साहन देनेवाली कही जा सकती है, किन्तु इसके साथ एक दूसरी परिस्थिति संयुक्त परिवार को प्रोत्साहित करती थी।

दूर देश में बसनेवाला परिवार चारों ओर विरोधियों से घिरा होता था। रामायण में हम यह बार-बार पढ़ते हैं, कि राक्षस ऋषियों के यज्ञों में विघ्न डालते हैं। महर्षि विश्वामित्र ने अपने यज्ञ की रक्षा के लिए महाराज दशरथ से राम और लक्ष्मण माँगे थे। उन दोनों ने राक्षसों का वध कर महर्षि का यज्ञ पूर्ण किया। यह स्पष्ट है कि एकाकी परिवार की अपेक्षा संयुक्त परिवार अपनी संपत्ति की रक्षा करने में अधिक समर्थ होता है। उसमें लड़नेवाले योद्धाओं की संख्या अधिक होती है। वैदिक युग में इनकी बड़ी मांग थी। आज बच्चों के पालन-पोषण और शिक्षा पर भारी व्यय होता है, अतः माता-पिता बच्चों की अधिक संख्या को मुसीबत समझते हैं। किन्तु ऋग्वेद के समय में ऐसी परिस्थिति नहीं थी। अतएव विवाह के बाद पुरोहित वर को दस पुत्र उत्पन्न करने का आदेश देता था[११] (ऋ० १०।८५।४५)। एक ओर नये-नये देशों का आकर्षण आर्यों को अपनी ओर खींच रहा था, दूसरी ओर शत्रुओं से भरे हुए नये प्रदेशों में एकाकी रहने के खतरे उन्हें भयभीत कर रहे थे। इन दोनों विरोधी परिस्थितियों में सामंजस्य किस प्रकार स्थापित हो? इस समस्या का एक सुन्दर हल बड़ा परिवार था। इससे नये देशों में बसने की इच्छा भी पूरी हो जाती थी और शत्रुओं से रक्षा भी हो सकती थी। ऐसा प्रतीत होता है कि पुत्र पहले विवाह के बाद काफ़ी समय तक पिता के साथ रहता होगा। जब उसका परिवार काफ़ी विशाल हो जाता था, तो वह पिता से अलग होकर, दूसरे स्थान पर बस जाता होगा। अतः उस समय, संयुक्त परिवार-प्रथा इस रूप में तो अवश्य थी, कि पुत्र विवाह के बाद प्रायः पिता के साथ एक घर में रहता था, किन्तु इस रूप में नहीं थी कि उस घर में पोते-परपोते अपनी

---

११. इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु। दशास्यां पुत्रानाधेहि॥

स्त्रियों और सन्तानों के साथ रहते हों। इसे सीमित संयुक्त परिवार कह सकते हैं।

## *संयुक्त परिवार के उपादान*

यदि समाज-विज्ञान की दृष्टि से इस प्रश्न पर विचार किया जाय तो यह प्रतीत होगा कि जो परिस्थितियां संयुक्त परिवार की प्रथा को उत्पन्न करती हैं, या उस को बनाए रखने में सहायता देती हैं, वे पूर्व वैदिक युग में उपस्थित थीं; अतः तत्कालीन समाज में इस प्रथा का प्रचलन सर्वथा स्वाभाविक था। पिछले अध्याय में यह बताया जा चुका है कि आत्म-संरक्षण की भावना ने मानव-समाज में विवाह और परिवार की संस्था को उत्पन्न किया। मातृस्नेह, पितृप्रेम, दाम्पत्य आसक्ति ( Conjugal attachment ) अपत्यप्रीति ( Filial affection ) सहवर्तिता ( साथ रहना ) परिवार के पांच मुख्य आधार हैं। इन आधारों पर परिवार के प्रासाद का निर्माण होता है। अब यहाँ संयुक्त परिवार के उपादानों की चर्चा की जायगी और यह बताया जायगा कि इनमें से अधिकांश उपादान वैदिक युग में उपस्थित थे।

(क) **पितृपूजा**—प्राचीन काल में धर्म का एक विशेष रूप पितरों या पूर्वजों की पूजा ( Ancestor Worship ) थी। उस समय के प्रायः सभी सभ्य समाजों में इसका प्रचलन था[१२]। चीनियों को आज तक पितृपूजक कहा जाता है। यूनानी अपने पूर्वजों की निधन-तिथियों पर, जेनेसिया ( Genesia ) नामक हवियों से अपने पितरों का तर्पण करते। रोमन लोग १९ फरवरी को अपने पितरों का पिण्डदान

---

१२. विभिन्न जातियों में पितृपूजा के प्रसार के लिए देखिये स्पेन्सर-प्रिन्सिपल आफ़ सोश्यालोजी, खंड १, अध्याय २०, २५; टाइलर-प्रिमिटिव कल्चर, अ० १४; फुस्तल दी कूलांज-एंशेण्ट सिटी, फ्रेजर-गोल्डन बाऊ २।४६०, ३।८३। श्री सर्वाधिकारी की प्रिन्सिपल्ज आफ़ हिन्दू लॉ आफ़ इनहैरीटैन्स के प्रथम अध्याय में इसका अत्यन्त संक्षिप्त वर्णन मिलेगा। इससे अधिक विस्तृत वर्णन के लिए देखिये इंसा० रिली० ई० १।४२५-६७; सुमनेर तथा केलर की साइन्स आफ़ सोसाइटी, खंड ४ ( न्यू हैवन १९२७-२८ ) २।९४१-४६, ४।४१२-१७; वाशवर्न-ओरिजन एण्ड इवोल्यूशन आफ़ रिलीजन न्यू हैवन १९२३। चीन की पितृ-पूजा का सब से विस्तृत वर्णन ग्रूट के रिलीजस सिस्टम आफ़ चाइना, खंड ६ ( लीडन १८९३-१९१० ) के चौथे से छठे खंड में मिलेगा।

करते थे। कैथोलिक ईसाई ऑल सोल्ज़ डे के दिन मृतात्माओं को पूजते हैं। ऋग्वेद में पूर्वजों में यह विश्वास पाया जाता है[१३]। ऋ० ६।५२।४ में भक्त यह प्रार्थना करता है, कि यज्ञ कार्य में पितर मेरी रक्षा करें (अवन्तु मा पितरो देवहूतौ) ऋ० १०।१५।९ में वह यज्ञ में पितरों का अग्नि के साथ आह्वान करता है; यज्ञ में कुशासन पर बैठे हुए (बर्हिषदः) पितरों से वह रक्षा (ऊति) धन (रयि) व अन्न (ऊर्ज) की याचना करता है। ऋग्वेद के अन्य स्थलों में भी इसके संकेत हैं। यजुर्वेद तथा परवर्ती साहित्य में इसका विस्तार से उल्लेख हुआ है[१४]।

पितृपूजा परिवार की संस्था को कई प्रकार से प्रभावित करती है। इसे पारिवारिक जन सामूहिक रूप से करते हैं, उनकी पूजा का स्थान वही होता है, जो उनके पूर्वजों का था, इस स्थान के साथ एक पवित्रता का सम्बन्ध जुड़ जाता है। सब वंशज उसी भूमि में इकट्ठा रहने लगते हैं। श्री राधाविनोदपाल ने लिखा है—"धार्मिक विधियों का प्रारम्भिक रूप मृत व्यक्तियों की पूजा थी। वंशजों का यह कर्त्तव्य था, कि वे उस पूजा को जारी रखें; अतः इससे पूर्ण रूप से न सही, आंशिक रूप से ही, परिवार के संरक्षण को सर्वत्र बड़ा महत्त्व मिला। इसीलिए हिन्दू, यूनानी और रोमन कानूनों में पुरानी (पूर्वजों द्वारा बनायी पारिवारिक भूसम्पत्ति की) सीमाओं के उल्लंघन के लिये कठोर दण्ड नियत किये गये थे। प्रारम्भिक युगों के लोगों ने परिवार तथा भूमि में एक रहस्यमय सम्बन्ध की कल्पना की। परिवार के सदस्यों के पितरों के प्रति धर्मपालन के कुछ कर्त्तव्य होते थे। वे उन कर्त्तव्यों से (पारिवारिक) भूमि और यज्ञवेदी से जुड़े रहते थे। जैसे यज्ञवेदी भूमि से संयुक्त रहती थी, उसी तरह परिवार भूमि के साथ बँधा रहता था[१५]"। इस अवस्था में संयुक्त परिवार का बना रहना सर्वथा स्वाभाविक था।

प्राचीन काल में, आर्य जातियों में धार्मिक कार्यों को अविच्छिन्न रूप में

---

१३. ऋ० १।१०६।३, ३।३१।२, ६।३३।१, ६।५२।४, ६।१०।१५, १०।४०।१०।

१४. यजुर्वेद १९वां अध्याय, अथर्व० समूचा १८ वां काण्ड, श्राद्ध के ऐतिहासिक विकास के लिये देखिये सर्वाधिकारी—पूर्व निर्दिष्ट पुस्तक पृ० २२-६०

१५. पाल—ला आफ़ प्राइमोजैनिचर, पृ० ४५

करने का बड़ा महत्त्व था। इन्हें करने वाला सम्पत्ति का उत्तराधिकारी समझा जाता था। धर्मकार्यों का उत्तराधिकार मुख्य वस्तु थी; पारिवारिक सम्पत्ति का रिक्थहरण उसका आनुषंगिक फल। आज भी दायभाग नियम के अनुसार पिता को पिण्डदान करनेवाला ही बंगाल में रिक्थहर माना जाता है। कूलांज ने (एंशेण्ट सिटी, अध्याय ६) प्राचीन रोम और यूनान के परिवारों में पाये जानेवाले धर्म का बड़े विस्तार से उल्लेख किया है, और यह सिद्ध किया है, कि परिवार के सदस्य धार्मिक पूजा के कारण, परस्पर घनिष्ठ सूत्र में बँधे हुए थे। सर पाल विनोग्रेडोफ ने लिखा है—यूनानी कानून में, संयुक्त परिवार-पद्धति की स्पष्टतम अभिव्यक्ति स्पार्टा के परिवारों की व्यवस्था में पाई जाती है, स्पार्टा में सब भाई बड़े भाई या पवित्र अग्नि के रक्षक के साथ मिल करके रहते थे, अग्निरक्षक का यूनानी शब्द प्राचीन आर्यों में उत्तराधिकार और पारिवारिक धर्म की घनिष्ठता को सूचित करता है[१६]।

(ख) अग्निपूजा-भारत में अग्न्याधान गृहस्थ का आवश्यक धर्म था। शतपथ ब्राह्मण के मत में बुढ़ापे या मृत्यु द्वारा ही अग्निहोत्र से मुक्ति होती है[१७]। गृह्यसूत्रों में इस बात पर मतभेद है कि पुरुष को अग्न्याधान कब करना चाहिए। पारस्कर के कथनानुसार विवाह के समय गार्हपत्य अग्नि का आधान करना चाहिए; किन्तु दूसरे आचार्य विभाग (बंटवारे) के समय ही इसका आधान उचित समझते हैं। शांखायन और गोभिल गृह्यसूत्रों से यह ज्ञात होता है, कि बँटवारे की स्थिति बहुत कम आती थी, पिता के मरने पर बड़ा भाई ही परिवार का संचालन करता था[१८]। उस समय वह अग्न्याधान करता था। सामान्यतः परिवार के संयुक्त रहने के कारण पृथक् अग्न्याधान

---

१६. इंसा० ब्रिटा० १३।७९४

१७. श० ब्रा० १२।४।१।१, दीर्घसत्रं हवा एत उपयन्ति ये अग्निहोत्रं जुह्वत्येत्तद्वै जरामर्यं सत्रं यदग्निहोत्रं जरया वा ह्येतस्मान्मुच्यते मृत्युना वा।

१८. पारस्कर २।१।-२ आवसथ्याधानं दारकाले। दायाद्यकाल एकेषाम्। गोभिल० १।१।१२ प्रेते वा गृहपतौ परमेष्टिकरणम्। गदाधर ने पारस्कर के सूत्रों की व्याख्या करते हुए इस समस्या पर अच्छा प्रकाश डाला है—पैतृकद्रव्यस्य भ्रातृभिः सह रिक्थविभागकाले दायाद्यकालः तस्मिन् काले स्वेन द्रव्येण कर्मानुष्ठानसमर्थो भवति, साधारणद्रव्यस्य परित्यागसामर्थ्यादनधिकार

की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। परवर्ती काल में ही गार्हपत्य अग्नि परिवार को एक बनाने में सहायक रही हो, सो बात नहीं। ऋग्वेद में हमें सदा घर में रहनेवाली ( यो दम आस नित्यः ७।१।२ ) तथा घर की रक्षा करने वाली ( गृहपति वहीं ७।१।१ ) अग्नि की सूचना मिलती है। सायंकाल और प्रातःकाल ( दोषावस्तोः ) इसकी उपासना की जाती है। इससे बुद्धि के साथ सम्पत्ति और वीरपुत्र माँगे गये हैं। पारिवारिक अग्नि से कहा गया है—हे अग्नि, हम पुत्रों से शून्य घरों में न रहें, ( दूसरे ) पुरुषों के घर में न रहें, हे घरों की हितकारी अग्नि, निरपत्यता से युक्त हम पुत्रहीन तेरी पूजा करते हुए, सन्तानोंवाले घरों में निवास करें। हे अग्नि, हमारे लिए पुत्रों से फलता फूलता घर दो[१९]। इस पारिवारिक अग्नि से ऋ० १०।१५ में भी घनिष्ठ सम्बन्ध बताया गया है, इस सूक्त में अग्नि व पितरों से बड़ी सुन्दर प्रार्थना की गयी है। इन प्रार्थनाओं से यह सूचित होता है कि अग्निपूजा और पितृपूजा वैदिक परिवार को संयुक्त बनाये रखने में बड़ी सहायता प्रदान कर रहे थे।

(ग) **उपयुक्त आर्थिक परिस्थिति**—आर्थिक परिस्थिति का परिवार के स्वरूप पर गहरा असर पड़ता है। मृगयावस्था में परिवार छोटा होता है, पशुपालक दशा में कुछ बड़े परिवार की आवश्यकता होती है और कृषि की दशा में अधिक बड़े संयुक्त परिवार का विकास होता है। जो जातियाँ प्रकृति से प्राप्त होनेवाले फल, कन्द, मूल, मछली आदि पर अपना निर्वाह करती हैं, जिन्हें पशुपालन या खेती का ज्ञान नहीं है, वे प्रायः एकाकी परिवारों ( Single Families ) में रहती हैं। उनका परिवार पति-पत्नी और बच्चों तक ही सीमित होता है। इसका कारण स्पष्ट है। मृगयावस्था ( Hunting stage ) में एक परिवार के निर्वाह के लिये

---

एव, अतो व्यवस्था भ्रातृमतो दायाद्यकाले अभ्रातृकस्य दायकाले अविभक्तस्यापि विवाहकालेऽपि आधानाधिकारः इति मदन पारिजाते। आश्वलायनादीनाम् वैवाहिकोऽग्निरेवौपासनाग्निर्दृष्टः अत्र सांखायनगृह्ये तु अभिसमावर्त्स्यमानो यत्रान्त्यां समिधमभ्यादध्यात्तमग्निमिन्धीत वैवाह्यं वा दायाद्यकाल एके प्रेते वा गृहपतौ स्वयं ज्यायान्वैशाख्यांवामावास्यायामन्यस्यां वा कामतो नक्षत्र एक इति।

१९. ऋ० ७।१।११-१२ मा शूने अग्ने निषदाम नृणां मा शेषसोऽवीरता परित्वा। प्रजावतीषु दुर्यासु दुर्य।.......स्व जन्मना शेषसा वावृधानम्।

विशाल क्षेत्र चाहिए। यदि परिवार बड़ा होगा तो आस पास के फल, कन्द, मूल तथा भक्ष्य जानवर जल्दी ही समाप्त हो जायेंगे; उसके बाद परिवार के लिए भूखा मरने की हालत पैदा हो जायेगी। इस परिस्थिति के कारण इस दशा में एकाकी परिवार पाया जाता है। आस्ट्रेलिया की अनेक मृगया-जीवी जातियां इसका अपवाद हैं। वहाँ पृथक् परिवारों के स्थान पर विशाल समूह ( Hordes ) पाये जाते हैं, किन्तु इसका कारण यह है कि वहाँ शिकार तथा भक्ष्य फल प्रचुर मात्रा में होते हैं तथा बूमरेंग से उन जातियों को शिकार पाने में बड़ी सुविधा होती है[२०]। आस्ट्रेलिया में अलग रहनेवाली मृगयाजीवी जातियां भी पाई जाती हैं[२१]। सामान्य रूप से यही नियम स्वाभाविक है कि ऐसी जातियां पृथक् परिवारों में रहें। किन्तु जब जातियां पशुचारणावस्था ( Pastoral stage ) तथा कृषियुग (Agricultural stage) में प्रवेश करती हैं, तो उन्हें बाध्य होकर बड़ा परिवार बनाना पड़ता है। पशुओं को पालतू बनाने से, उनके दूध व मांस पर बड़े परिवार का पालन सुगमता से हो सकता है। इसके साथ एक दूसरे कारण से भी, पशुपालकों को बड़ा परिवार रखना आवश्यक होता था। पशु उनका मूल्यवान् धन थे[२३]। इनकी लूट के लिये उस समय आक्रमण की संभावना सदैव बना रहा करती थी। इस अवस्था में परिवार का बड़ा होना और इकट्ठा रहना स्वाभाविक था। किन्तु पशुपालक दशा में यह परिवार बहुत बड़ा नहीं हो सकता था। पानी और घास की कमी के कारण परिवार को बँट जाना पड़ता था (जिनीसस अ० १३)।

परिवार का चरम विकास कृषिजीवी समाजों में पूर्णरूप से होता है। पशुपालक अवस्था में, जातियों और परिवारों का जीवन फिरन्दर या

---

२०. स्पेन्सर एण्ड जिलन--नेटिव ट्राइब्स आफ सेण्ट्रल आस्ट्रेलिया।

२१. स्पेन्सर एण्ड जिलन--वहीं!

२२. वैस्टरमार्क--हिस्ट्री आफ् ह्यूमन मैरिज, पृ० ४५

२३. धन का एक प्रारम्भिक रूप प्रायः सर्वत्र पशु थे। अंग्रेजी के Pecuniary तथा Fees शब्दों का मूल अर्थ पशु है। तै० सं० ३।१।९।४ में मनु की सम्पत्ति के बंटवारे में, उसके पुत्र नाभानेदिष्ट को पहले कुछ नहीं मिला; किन्तु बाद में पशुओं से उसके हिस्से को पूरा किया गया। भारत में आज तक देहातों में पशुओं को धन कहा जाता है।

यायावर (Migratory) होता है। कृषि में वे एक भूमि के साथ बँध जाते है, उनमें स्थिरता आ जाती है। भूमि उनकी स्थायी सम्पत्ति बन जाती है। परिवार के साथ जायदाद के विचार का गठबन्धन होता है। पुरुष इस जायदाद का मालिक तथा मुखिया होता है। पशुपालन में, जितने क्षेत्र से एक परिवार पल सकता है, कृषि में उतने क्षेत्र से अनेक परिवारों का पालन हो सकता है। खेती पर जितना परिश्रम किया जायगा, उतना ही अधिक लाभ होगा। अतः परिवार के सदस्य जितने अधिक होंगे, उत्पादन उतना अधिक होगा। जब परिवार के सदस्यों से काम नहीं चलता, तो दासों से काम कराया जाता है।

अँग्रेजी का फैमिली शब्द परिवार के इस पहलू पर प्रकाश डालता है। यह लैटिन के दासवाची फेमुलस (Famulas) शब्द से बना है। मेन ( एंशेण्ट ला, पृ० १७३ ) ने लिखा है, परिमार्जित लैटिन में Familia का अर्थ 'मनुष्य के दास' होता था। प्राचीन रोमन कानून की परिभाषा में अपने अधिकार ( Potesta ) में रहनेवाले सभी प्राणी इस में शामिल समझे जाते थे"। पालस डाया कानस ने कहा है, वंश-परम्परा से संबद्ध, भृति देकर रक्खे हुए नौकर तथा युद्धों में पकड़े हुए एवं खरीदे हुए दासों के स्वामी को Pater Familia कहा जाता है। पेटर का अर्थ प्रायः उत्पादक या जनक किया जाता है, किन्तु यह पहले Rex या Besileus का पर्याय था। इस शब्द से शासक या स्वामी का अर्थ सूचित होता था, पेटर फैमिलिया का धात्वर्थ दासों का स्वामी था[२४]। नये प्रदेशों की विजयों से रोम में विशाल संयुक्त परिवारों ( Oikos मि० सं० ओकस् ) का जन्म हुआ, इन विशाल परिवारों ने बाद में ग्राम पंचायतों ( Village Communities ) का रूप धारण किया[२५]। मध्यकाल में जब ये परिवार समूह एक सामन्त के वशवर्ती हुए, तो इससे मेनर (manor) का विकास हुआ।

वैदिक युग में कृषि महत्त्वपूर्ण व्यवसाय था, ऋग्वेद में हमें कृषि प्रधान सभ्यता के दर्शन होते हैं। ऋ० १०।३४।१३ में खेती करने का स्पष्ट आदेश

---

२४. म्यूलर द्वारा उद्धृत, फैमिली, पृ० १६४

२५. सेलिगमैन--प्रिंसिपल्ज़ आफ़् इकनामिक्स। इन पंचायतों के कुछ उदाहरणों के लिए दे० एञ्जेल्स--परिवार, व्यक्तिगत सम्पत्ति, पृ० ४०-४२

दिया गया है ( कृषिमित्कृषस्व ) । ऋ० १०।१०१।४ में मेधावी (कवि ) लोगों द्वारा हल चलाने का उल्लेख है। ऋ० १०।१०१।५ कहता है—'हल जोड़ो, जुआ ठीक जोड़ो (वितनुध्वम् ) । हल चलाने के बाद बीज डालो'। इसी सूक्त में सिंचाई का भी वर्णन है। सातवें मंत्र से यह प्रतीत होता है कि उस समय घोड़ों से खेती होती थी[२६] (प्रीणीताश्वान् हितं जयाथ)। खेती योग्य भूमि को उर्वरा या क्षेत्र कहते थे, परवर्ती साहित्य खेती के संकेतों से भरा हुआ है[२७] । ऋग्वेद में क्षेत्रों को जीतने तथा क्षेत्रपति होने के अनेक संकेत मिलते हैं (देखिये नीचे पृ० ४३) । हमारे पास यह जानने का कोई साधन नहीं है कि इन क्षेत्रपतियों ने रोमन समाज की तरह दासों से काम कराया या नहीं । पंचविंश ब्राह्मण से हमें इतनी सूचना मिलती है कि उस समय आर्य जाति की परिधि से बाहर रहने वाले व्रात्य खेती नहीं करते थे (१७।१) । इन से ज़बर्दस्ती खेती करवाने का कोई निर्देश नहीं मिलता। आर्यों ने संभवतः अमरीका में बसनेवाले योरोपियन लोगों की तरह दासों के पसीने और खून से भारतवर्ष की जांगल भूमि को कृषि योग्य नहीं बनाया; किन्तु स्वयं कृषि की, इस अवस्था में उनमें बड़े एवं संयुक्त कुटुम्ब का विकास होना स्वाभाविक था ।

**परिवार की सीमा**—वैदिक परिवार में प्रायः तीन पीढ़ी तक के प्राणी सम्मिलित होते थे । श्राद्ध में तथा अन्य यज्ञों में, पितरों के आह्वान से यह बात भली भांति पुष्ट होती है । यजु० ७।४६ में कहा गया है कि हम आज यज्ञ में पिता और दादावाले ब्राह्मण प्राप्त करें ( ब्राह्मणमद्य विदेयम्पितृमन्तं पैतृमत्यम् ) यजु० १९।३६-३७ में पिता, पितामह और प्रपितामह को नमस्कार किया गया है और उनसे प्रार्थना की गयी है कि वे अपने वंशज को शुद्ध करें[२८] ।

---

२६. सायण के समय खेती में बैलों का उपयोग होता था । अतः वह इस मंत्र में घोड़ों का अर्थ बैल करता है—हे ऋत्विजः यूयमश्वान् व्यापनशीलान् बलीवर्दान् प्रीणीत ।

२७. अथर्व० २।४।५, ८।२।१९, ८।१०।२४, १०।६।१२; तै० सं० ७।१।११।१; मैत्रा० सं० १।२।२, ३।६।८; यजु० ४।१०, ९।२२, १४।१९,२१; श० ब्रा० ७।२।२।७, ८।६।२।२; तै० ब्रा० ३।१।२।५

२८. यजु० १९।३६-३७, पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः । पितामहेभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः । प्रपितामहेभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः । पुनन्तु मा पितरः सोम्यासः पुनन्तु मा पितामहाः । पुनन्तु प्रपितामहाः ।

अथर्ववेद के एक मन्त्र[२९] में परिवार के प्रिय पुरुषों के आह्वान में, पूर्वजों में पिता दादा को तथा वंशजों में पुत्र पौत्र को बुलाया गया है। प्रपितामह का उल्लेख परवर्ती संहिताओं और ब्राह्मणों में भी पाया जाता है ( तै० सं० १।८।५।१, अथर्व० १८।४।३५, शत० ब्रा० २।४।२।१६, १२।८।१।७ )। अथर्ववेद के पितृमेध या श्राद्ध प्रकरण के सूक्तों में दादा ( तत १८।४।७७ ), परदादा ( ततामह ) और परपरदादा (प्रततामह १८।४।७५) को स्वधादान का उल्लेख है। परपरदादा पूर्वजों में परिवार की चरम सीमा है। वंशजों में पोते (पौत्र या नप्ता) का अधिक वर्णन है (अथर्व० ११,७।१६, १८।४३।९; ऐत० ब्रा० ७।१०; तैति० ब्रा० २।१।८।३)। परपोता (प्रणपात) परिवार की चरम सीमा है (ऋ० ८।१७।१३); किन्तु परपोते तथा पर परदादे का उल्लेख एक ही बार हुआ है। अतः सामान्य रूप से वैदिक परिवार की सीमा परदादे और पोते तक ही समझनी चाहिए।

**पितृवंशी परिवार**--वैदिक परिवार में पितृ-परम्परा से सम्बद्ध व्यक्ति ही रहते थे। एक परिवार में रहनेवालों का मूल पूर्वज एक पुरुष होता था। समाज-शास्त्रियों ने मानव समाज के परिवारों का दो मुख्य भागों में वर्गीकरण किया है ( १ ) पितृसत्ताक पितृप्रधान या पितृवंशी परिवार ( Patriarchal Family or Patrilineal Family), (२) मातृसत्ताक--मातृप्रधान या मातृवंशी परिवार (matriarchal Family )। मातृप्रधान परिवार का वैदिक साहित्य में स्पष्ट वर्णन नहीं है। पितृ प्रधान परिवार हिन्दू समाज में अधिक प्रचलित है। इस में स्वाभाविक अथवा कृत्रिम रूप (दत्तक आदि विधि) से बनाये हुए वंशज परदादा, दादा, या पिता के अनुशासन में रहते हैं। सामाजिक कानून चाहे कोई व्यवस्था बनाये, किन्तु इस परिवार में मुखिया निरंकुश रूप से शासन करता है। हेनरी मेन ने लिखा है कि इस अवस्था में पिता का अपने बच्चों और सम्पत्ति पर असाधारण अधिकार होता है। यह बात निर्विवाद रूप से कही जा सकती है, कि वैदिक युग का परिवार पितृप्रधान परिवार था। उसमें पितृपरम्परा से सम्बद्ध पिता, पुत्र, पौत्रादि पितृबन्धु ( Agnate ) पिता के शासन और संरक्षण

---

२९. अथर्व० ९।५।३०, आत्मानं पितरं पुत्रं पौत्रं पितामहम्। जायां जनित्रीं मातरं ये प्रियास्तानुपह्वये ॥

में रहते थे। पाँचवें अध्याय में यह बताया जायेगा कि पिता को अपने परिवार के प्राणियों पर असाधारण अधिकार प्राप्त थे, यद्यपि हिन्दू पिता रोमन पिता की भांति अपने पुत्रों का वध नहीं करता था किन्तु अजीगर्त जैसे क्रूर पिता अपनी सन्तान बेच देते थे (ऐत० ब्रा० ३३।३) और ऋज्राश्व जैसे अभागे बेटों को अपने दारुण पिता से कठोर दण्ड भोगने पड़ते थे ( ऋ० १।११६।१६ )।

पिता के महत्त्व तथा परिवार-संचालन के कार्यों का वेदों में, अनेक स्थानों पर उल्लेख मिलता है। पिता शब्द ही इस बात को सूचित करता है कि वह परिवार का पालन करता है। वेद में उत्पादक के लिए जनिता शब्द का प्रयोग हुआ है ( ऋ० ४।१७।१२ )। किन्तु इस शब्द का व्यवहार बहुत कम हुआ है। सर्वत्र पालन करनेवाले पिता का ही स्मरण किया गया है। देवताओं को प्रायः पिता की उपमा दी गयी है। 'हे अग्नि, हम तुम्हारे पास उसी तरह सुगमतापूर्वक पहुँच सकें जैसे पिता पुत्र के पास पहुँचता है ( ऋ० १।१।९ )। इन्द्र सर्वश्रेष्ठ पिता है ( पिता पितृतमः पितृणाम् ४।१७।१७ )। ऋ० ७।३२।१९ में कहा गया है कि हे इन्द्र तेरे समान कोई पिता नहीं है। ऋ० ८।१।६ इन्द्र को पिता से श्रेष्ठ बताता है। १०।४८।१ में यह बताया गया कि हे इन्द्र, प्राणी तेरा पिता की तरह आह्वान करते हैं। इन सब मंत्रों से यह सूचित होता है, कि परिवार में पिता की स्थिति इतनी ऊंची और आदर्श थी, कि देवताओं को भी पिता से उपमा देना उचित समझा गया। अतः वैदिक परिवार के पितृ-प्रधान तथा पितृ-वंशीय होने में कोई सन्देह नहीं।

**पिता का सम्पत्ति पर स्वत्व**—पिता परिवार का मुखिया होने से सम्पत्ति पर एकाधिकार रखता था। पारिवारिक सम्पत्ति पर उसका पूर्ण वैयक्तिक स्वत्व था। वह अपनी इच्छा से पुत्रों में इस सम्पत्ति का बँटवारा करता था। ऋ० १।२६।३ में, सायण भाष्य के अनुसार भक्त अग्नि से प्रार्थना करता है कि तुम मेरे पिता के तुल्य हो, मैं तुम्हारा पुत्र हूँ, तुम मुझे अभीष्ट ( धन ) प्रदान करो। ३।१७०।१० में बूढ़े ( जिव्रि ) पिता से पुत्रों के धन पाने का उल्लेख है। ऋ० १।२२।७ की व्याख्या करते हुए सायण कौषीतकी ब्राह्मण के एक वचन से पिता द्वारा बँटवारे की व्यवस्था को पुष्ट करता है। पिता द्वारा पुत्रों को धन देने के संकेत ऋ० ७।३२।२६ ऋ० ९७।२, ऋ० ८।४८।७, १०।१७ में भी पाये जाते हैं ( देखिये १३ वां अध्याय )। परवर्ती साहित्य में विरासत में मिलने वाली सम्पत्ति को दाय कहा गया है, किन्तु ऋग्वेद में इसका प्रयोग केवल

१०।११४।१० में ही हुआ है और वहाँ इसका अर्थ श्रम का प्रतिफल है। ऋग्वेद में, हमें रिक्थ ( Inheritance ) का अर्थ देनेवाला कोई शब्द नहीं मिलता। जीमूतवाहन ने दाय शब्द की व्युत्पत्ति की है, जो दिया जाता है ( दीयते इति व्युत्पत्या दाय शब्दः.....दा० ३ ) । यदि यह व्युत्पत्ति सही हो, तो यह मानना पड़ेगा कि दाय पुत्रों को दी जानेवाली सम्पत्ति है, वे पिता के अनुग्रह से उसे प्राप्त करते हैं, सामान्य रूप से उस सम्पत्ति पर उनका कोई स्वत्व नहीं। सम्भवतः इन्हीं सब बातों का विचार करते हुए मैकडानल और कीथ ने यह सम्मति प्रकट की है यह स्पष्ट है कि यह ( पारिवारिक सम्पत्ति ) घर के मुखिया की सम्पत्ति थी, वह मुखिया प्रायः पिता हुआ करता था। परिवार के अन्य सदस्यों के इस सम्पत्ति पर नैतिक अधिकार ( Moral claims ) ही थे; ( कानूनी अधिकार नहीं थे) पिता इनकी उपेक्षा कर सकता था, ( वैदिक इंडेक्स १।३५१ ) ।

वैदिक युग में, पिता के असाधारण अधिकारों (देखिये पाँचवाँ अध्याय) को देखते हुए यह स्वाभाविक जान पड़ता है, कि पहले सम्पत्ति पर पिता का ही अधिकार रहा हो। पुत्रों का पिता की सम्पत्ति में कोई कानूनी स्वत्व नहीं था। जब पुत्र पिता से आग्रह करते थे और शक्तिशाली होते थे, या पिता उचित समझता था; तो वह उनमें सम्पत्ति का बँटवारा कर देता था या वे स्वयं सम्पत्ति बांट लेते थे। पहले पुत्रों को बाप से सम्पत्ति पाने का कोई कानूनी अधिकार नहीं था; किन्तु जब वे अपने पिता से अपने आग्रह या पिता के अनुग्रह से सम्पत्ति पाने लगे, तो धीरे धीरे यह विचार प्रबल होने लगा कि पुत्रों को पिता की सम्पत्ति पाने का अधिकार है, इस विचार का पूर्ण विकास होने पर यह माना जाने लगा कि जन्म ग्रहण करते ही पुत्रों का पैतृक दाय में स्वत्व हो जाता है। दूसरे देशों के उदाहरणों से भी इस बात की पुष्टि होती है। टयूटानिक जातियों में सम्पत्ति के उद्गम के सम्बन्ध में मीमांसा करते हुए फुस्तल दी कूलांज़, एशली व मेटलैण्ड इसी परिणाम पर पहुँचे हैं, कि पहले सम्पत्ति पर पिता का वैयक्तिक स्वत्व होता था; पुत्रों के अधिकारों का बाद में विकास हुआ[३०]।

---

३०. एशली--ओरिजिन आफ़ प्रापर्टी इन लैण्ड (१६-२१ अध्याय ) पोलक व मेटलैण्ड--हिस्टरी आफ इंग्लिश लॉ २।३३७। वै०इं० १।३५२ की पाद टिप्पणी ५ में उपर्युक्त लेखकों को उद्धृत किया गया है।

**मेन का मत**--पिता के वैयक्तिक अधिकार को मानने में सब से बड़ी आपत्ति सर हेनरी मेन और बेडेन पावेल तथा उनके समर्थकों की ओर से उठाई जाती है। मेन ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक विलेज कम्यूनिटीज़ इन दी ईस्ट एण्ड वैस्ट में यह सिद्ध किया है कि भूमि के रूप में स्थावर सम्पत्ति पर पहले पंचायतों का सामूहिक अधिकार होता था; बाद में इन सामूहिक अधिकारों में से व्यक्तियों के पृथक्-पृथक् अधिकारों की उत्पत्ति हुई। सम्पत्ति के विकास में पहली अवस्था सामुदायिक स्वामित्व (Collective ownership) की थी और इसके पश्चात् वैयक्तिक स्वामित्व (individual ownership) का जन्म हुआ[३१]। श्री बेडेन पावेल ने अपनी दो पुस्तकों में भारत में भू-सम्पत्ति की ऐतिहासिक विवेचना करते हुए मेन के मन्तव्य को पुष्ट किया है[३२]। इसमें कोई सन्देह नहीं कि पंजाब और मद्रास में पट्टीदारी, भाईचारी और विरासदारी के रूपों में भूमि पर आज तक संयुक्त स्वामित्व माना जाता है (मेन-हिन्दू ला, पृ० ३१७-१९)। विज्ञानेश्वर ने दायभाग की अवतरणिका में कुछ ऐसे वचनों को उद्धृत किया है, जिनसे स्थावर सम्पत्ति पर ग्राम का तथा दायादों का स्वत्व सूचित होता है।

किन्तु इन सब प्रमाणों के होते हुए भी, वैदिक युग में वैयक्तिक स्वामित्व के उल्लेख इतने प्रबल और अधिक मात्रा में हैं, कि उन्हें देखते हुए हमें मेन और बेडेन पावेल की कल्पनायें सत्य प्रतीत नहीं होतीं। शायद कुछ प्रदेशों में भूमि पर पंचायती स्वामित्व रहा हो, मेन की कल्पना इन प्रदेशों के लिए अवश्य सत्य होगी; किन्तु सभी प्रदेश ऐसे रहे हों, सो बात नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है, कि भूसम्पत्ति पर वैयक्तिक अधिकार था। वेदों में खेतों के पैमाइश किये जाने, जोते जाने तथा उनपर वैयक्तिक आधिपत्य का स्पष्ट उल्लेख है। ऋ० १।११०।५ में ऋभु एक क्षेत्र की पैमाइश करते हैं (क्षेत्रमिव विममुस्ते)। इन्द्र द्वारा खेतों को जोतने के अनेक संकेत पाये जाते हैं (ऋ० १।१००।८, ९।८५।४, ९।९१।६)। अथर्ववेद में पृथक् खेतों का स्पष्ट उल्लेख है (१०।१।१८, ११।१।२२)। ऋग्वेद में क्षेत्र

---

३१. सर हेनरी मेन ने अर्ली लॉ एण्ड कस्टम में भी यही मत अभिव्यक्त किया है।

३२. बेडेन पावेल--इण्डियन विलेज कम्यूनिटीज़ १८९६। इसी का संक्षिप्त रूप १८९९ में दूसरी पुस्तक के रूप में छपा है।

पर वैयक्तिक प्रभुता के सूचक क्षेत्रपति, क्षेत्रपत्नी, क्षेत्रजेषा, क्षेत्रजय आदि अनेक शब्द मिलते हैं ( १।३३।१५, ४।५७।१,२, ७।५५।१०, १०।६६।१,३,४। ३८।१,६।२०।१, २।२१।१ )[३३] खेतों को बच्चों के साथ गिना गया है (तोके हि ते तनय उर्वरासु (ऋ० ४।४१।६) । अन्य संहिताओं में क्षेत्रों की विजय के अनेक उल्लेख हैं (तै० सं० ३।२।८।५, का० क सं० ५।२, मैत्रा० ४।१२।३) । श्री सायणाचार्य की व्याख्या के अनुसार अपाला ने इन्द्र से तीन वर माँगे हैं—मेरे बाप का सिर गंजा हो गया है, उसमें बाल पैदा करो; उसका खेत ऊसर है, उसमें अन्न पैदा करो और मेरा त्वग्दोष दूर करो[३४]। ऋ० ३।३१।१५ में इन्द्र से प्रार्थना की गई है कि हमें बड़े खेत और बहुत सोना (महि क्षेत्र पुरु चन्द्रं ) प्रदान कीजिए । ये सब प्रमाण वैयक्तिक सम्पत्ति को सूचित करते हैं। अभी तक संहिताओं में से ऐसा कोई प्रमाण नहीं दिया गया, जिससे उस युग में सम्पत्ति पर पंचायती प्रभुत्व सिद्ध किया जा सके। अतएव कीथ तथा मैकडानल का यह कहना सर्वथा सत्य है कि वैदिक वाङमय में इसका कोई संकेत नहीं है, कि सम्पत्ति पर ग्राम या किसी सामूहिक समुदाय का स्वामित्व था। इस साहित्य में कहीं सामूहिक कृषि का उल्लेख नहीं है ( वै० इं० १।१००)[३५] ।

---

३३. अथर्व० २।२९।३, १४।२।७; शत० ब्रा० १।४।१।१५-१६ में पृथक् क्षेत्रों का उल्लेख है । २।२९।३ में यह प्रार्थना है कि हे इन्द्र यह पुरुष क्षेत्रों को जीतता हुआ शत्रुओं का पराभव करे (जयं क्षेत्राणि सहसायमिन्द्र कृण्वानो अन्यानधरान्सपत्नान् ) शुक्ल यजुर्वेद (१६।१८ ) में खेतों के मालिक (क्षेत्राणां पतिः ) का वर्णन है और अथर्व० २।८।५ में खेत की स्वामिनी (क्षेत्रस्य पत्नी) का ।

३४. ऋ० सं० ८।९१।५-६ इमानि त्रीणि विष्टपा तानीन्द्र विरोहय। शिरस्ततस्योर्वरामादिदं म उपोदरे । असौ च या न उर्वरादिमां तन्वं मम । अथो ततस्य यच्छिरः सर्वा ता रोमशा कृधि ।

३५. परवर्ती साहित्य में खेतों की वैयक्तिक सम्पत्ति के लिए देखिये छा० उप० २।२४।२, पृथक् पृथक् खेती करने के लिए दे० ऋ० १०।१०१।५ सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वितन्वते पृथक् । परवर्ती साहित्य में सीता विवाद के लिए देखिये धर्म कोश, खण्ड १, भाग २, पृ० ९२५-६२; जाली-हिन्दू ला एण्ड कस्टम, पृ० २०५; रिपोर्ट आफ़ लैण्ड रेवेन्यू कमीशन, बंगाल (१९४०) भाग २, पृ० १२९-३०

वैदिक युग में भूसम्पत्ति पर पंचायती प्रभुत्व एक अन्य कारण से भी ठीक प्रतीत नहीं होता। आर्य उस समय भारतवर्ष के विभिन्न प्रदेशों को जीत रहे थे। जो व्यक्ति जिस प्रदेश को जीतता था, उसका उसपर वैयक्तिक अधिकार माना जाता था। विजय सदा सम्पत्ति पर स्वामित्व स्थापित करने का प्रधान साधन रही है ( मेन-एंशेण्ट ला, पृ० २०४ )। हमने ऊपर यह देखा है, कि खेतों को जीता जाता था। इन जीते खेतों पर विजेताओं का वैयक्तिक स्वत्व स्वाभाविक था। प्रायः विजेता विजित भू-प्रदेश में अपने परिवार के साथ बस जाता होगा। इस पर किसी पंचायत, ग्राम या अन्य संस्था के सामूहिक स्वत्व की कल्पना कैसे की जा सकती है ? हेनरी मेन का यह विचार है, कि भारत के आर्यों ने सम्पत्ति के अपने प्रारम्भिक स्वरूप को अब तक यथापूर्व बनाये रखा है। वे लिखते हैं--'हिन्दुओं में स्वामित्व का वह रूप प्रचलित है, जो सम्पत्ति की प्रारम्भिक स्थिति के सम्बन्ध में हमारे विचारों से पूरा मेल खाता है। यह बात सब जानते हैं, कि ग्राम पंचायत अत्यन्त प्राचीन काल से चली आनेवाली संस्था है। भारतीय इतिहास में, चाहे प्रादेशिक क्षेत्र में अतीत का अनुसन्धान किया जाय, या सामान्य रूप से सारे भारत के सम्बन्ध में ऐसी गवेषणा हो; सदा यह बात पाई गई है, कि इसकी प्रगति के प्राचीनतम बिन्दु पर पंचायत विद्यमान है (मेन-वहीं, पृ० २१५-१६)। मेन के इन शब्दों में कविता का अंश भले ही हो; किन्तु सत्य का नहीं है। भारतीय वाङ्मय में 'अनुसन्धान का प्राचीनतम बिन्दु' ऋग्वेद है। ऊपर के अधिकांश प्रमाण ऋग्वेद के ही हैं, वे पंचायती स्वामित्व के सर्वथा विरोधी हैं। मध्य कालीन हिन्दू समाज के कुछ प्रदेशों में प्रचलित स्वामित्व के कई नियम, मेन के सम्पत्ति के प्रारम्भिक स्थिति सम्बन्धी विचारों से भले ही पूरा मेल खा जाँय; किन्तु वैदिक युग के स्वामित्व के नियम उनके विचारों को पुष्ट नहीं करते। उस युग में भूमि पर पंचायती स्वामित्व नहीं प्रतीत होता।

उपर्युक्त विवेचना से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं, कि पूर्व वैदिक युग में परिवार संयुक्त होता था। परिवार में पिता और उसके वंशज रहते थे। पिता इस परिवार का मुखिया होता था और सम्पत्ति पर उसका वैयक्तिक स्वत्व होता था।

### *दूसरी अवस्था-उत्तर वैदिक (ब्राह्मण) युग से ६०० ई० पूर्व तक—*

ब्राह्मण ग्रन्थों का समय उत्तर वैदिक युग है। इस समय हमें परिवार में पिता का अधिकार कम होने तथा संयुक्त परिवार के विघटन के अनेक संकेत

दृष्टिगोचर होते हैं। अगले अध्यायों में इनपर विस्तार से विचार किया जायेगा; यहां संक्षेप से केवल मोटी घटनाओं का ही निर्देश किया जायेगा।

**विघटन का पहला संकेत–पुत्रों द्वारा बंटवारा**–पहले यह बतलाया जा चुका है, कि पूर्व वैदिक युग में सम्पत्ति पर पिता का वैयक्तिक एवं पूर्ण प्रभुत्व था। पिता के जीवनकाल में, उसकी शक्ति से परिवार के सब सदस्य एक सूत्र में बँधे रहते थे। किन्तु ब्राह्मण ग्रन्थों में, हम पुत्रों को पिता के जीवनकाल में, सम्पत्ति का बटवारा करते हुए पाते हैं। तैत्ति० सं० ३।१।९।४ में कहा गया है, कि मनु ने पुत्रों में दाय का बँटवारा किया। परन्तु ऐतरेय ब्राह्मण (२२।९) में यह बतलाया गया है, कि भाइयों ने आपस में स्वयं बँटवारा कर लिया। उन्होंने छोटे भाई नाभानेदिष्ठ का कोई हिस्सा नहीं रखा था। नाभानेदिष्ठ ने पिता से अपना हिस्सा माँगा। मनु ने उससे कहा, कि अंगिरा ऋषि को यज्ञ में सहायता दो; तुम्हें उनसे धन प्राप्त होगा। यह स्पष्ट है कि ब्राह्मण-युग में संहिता-युग से एक स्पष्ट अन्तर आ चुका था। पुत्र पिता की सम्पत्ति में अपना अधिकार मानने लगे थे; उससे पालन-पोषण पाते हुए उनका ऐसा सोचना सर्वथा स्वाभाविक था। पिता अपनी स्वत्व हानि और सत्ता के अपहरण को बड़े दुःख से देख रहे थे। पिता के बूढ़े और अशक्त होने पर पुत्र सम्पत्ति का विभाग करने लगे थे। जैमिनीय ब्राह्मण में दी गई अभिप्रतारण की कथा से, इस स्थिति पर बहुत अच्छा प्रकाश पड़ता है (३।१५६)। अभिप्रतारण बूढ़ा हो चुका था, बिस्तर पर पड़ा हुआ था। पुत्रों ने उसकी जायदाद बाँटते हुए बड़ा शोर मचाया। पिता ने पूछा—यह कैसा कोलाहल है? उसे यह कहा गया—भगवन्, पुत्र आपकी जायदाद बांट रहे हैं। वह पुत्रों को रोकने में असमर्थ था, उसके पास इस व्यवस्था के आगे सिर झुकाने के सिवाय और कोई चारा नहीं था। इस अवसर पर वह इतना ही कहता है—हमने सुना था कि पुत्र, पिता के जीवित रहते हुए जायदाद बाँट लेंगे[१६]। यह स्पष्ट है कि पिता के निरंकुश अधिकारों का युग समाप्त हो रहा था, अभिप्रतारण जैसे अभागे पिताओं के पुत्र पैतृक सम्पत्ति का बँटवारा स्वयं करने लगे थे।

---

१६. जैमिनीय ब्राह्मण ३।१५६, तदु होवाचाभिप्रतारणो जीर्णः शयानः। पुत्रा हास्य दायं विभेजिरे। स ह घोष आस। को घोष इति। तस्मै होवाच। पुत्रास्ते भगवो दायं विभजन्त इति। स होवाच। शुश्राव वा अहं तत् पृष्ठानां ब्राह्मणे जीवतोऽस्य पुत्रा दायमुपयन्तीति। शुश्राव वा अहं तदिति।

पिता के जीवनकाल में बँटवारे की प्रथा कैसे शुरू हुई ? संभवत: प्रारम्भ में पिताओं ने यह सोचा होगा कि अपने जीवन काल में सम्पत्ति का बँटवारा कर देना चाहिए, ताकि मरने के बाद पुत्रों में झगड़े न उठ खड़े हों, उन्होंने अपनी इच्छा से विभाग प्रारम्भ किया होगा। जब पिताओं ने बँटवारा करना शुरू किया, तो पुत्रों ने पिता की सम्पत्ति पर अपना अधिकार समझा। परन्तु इस अवस्था में पिता को मनमाना बँटवारा करने का पूरा अधिकार था। वह अपने प्रिय पुत्र को अधिक हिस्सा दे सकता था। ताण्ड्य ब्राह्मण (१६।४।४।३-४) में कहा है, कि पिता का प्रिय पुत्र अधिक सम्पत्ति प्राप्त करता है, दूसरे पुत्रों को उससे ईर्ष्या होना स्वाभाविक था[३७]। उन्होंने समान अधिकार की माँग की होगी। नाभानेदिष्ठ ने मनु से अपना हिस्सा माँगा था। पिता द्वारा मनमाने बँटवारे से बचने के लिए पुत्र पिता के जीवनकाल में ही, उसके अशक्त होने पर स्वयमेव बँटवारा करने लगे होंगे। अभिप्रतारण के पुत्रों ने संभवत: इसी लिए बँटवारा किया हो। पुत्रों के अधिकार के विकास में यह बड़ी महत्त्वपूर्ण घटना थी। पिता द्वारा विभाग की परिपाटी होने से पुत्र विभाग की माँग करने लगे। हम आगे चलकर देखेंगे कि पिता को अपनी इच्छा के विरुद्ध भी, बँटवारा करने के लिए मजबूर होना पड़ता था। इस परिस्थिति में इस विचार का विकास होना स्वाभाविक था कि जन्म से ही पैतृक सम्पत्ति में पुत्र का स्वत्व उत्पन्न हो जाता है। इस विचार का चरम विकास हमें विज्ञानेश्वर ( ११वीं शती ई० ) की मिताक्षरा में दिखाई देता है। ( देखिये नीचे अध्याय १४ )। ब्राह्मण युग में पुत्रों के जन्मना स्वत्ववाद के सिद्धान्त का बीजवपन हो गया था।

किन्तु शास्त्रकारों ने इस बीज को न पनपने देने का पूरा प्रयत्न किया, पिताओं के अधिकार का प्रबल समर्थन किया। धर्मशास्त्र पुरानी परम्परा का समर्थन किया करते हैं। प्राचीन परम्परा यह थी, कि पिता का सम्पत्ति पर वैयक्तिक अधिकार रहे, पुत्रों का उसपर कोई स्वत्व नहीं, पिता के जीवनकाल में सम्पत्ति का बँटवारा न हो। उन्होंने इस बात पर बल दिया कि बँटवारा पिता की मृत्यु के बाद ही हो। हम आगे चलकर देखेंगे कि गुप्त-युग के प्रारम्भ तक यही स्थिति रही। नारद ने चौथी शती ई० में पिता के अयोग्य होने पर, पुत्रों को स्पष्ट रूप से बँटवारा करने का अधिकार दिया। कात्यायन ने ६ठी शती में, पिता से मनमाना बँटवारा करने का अधिकार छीना।

३७. भाइयों की ईर्ष्या के लिए जिनीसस में यूसुफ़ की कहानी देखिये।

**विघटन का दूसरा संकेत—भ्रातृव्य शब्द—**भ्रातृव्य शब्द के अर्थ परिवर्तन से परिवार के विघटन पर बड़ा मनोरंजक प्रकाश पड़ता है। भ्रातृव्य शब्द का असली अर्थ तो भतीजा ( पिता के भाई का लड़का ) है। अथर्वं० ५।२२।१२ में उसे भाई बहिन के साथ गिना गया है। १०।३।९ में उसकी बांधवों के साथ गणना है[३८]। किन्तु ब्राह्मण युग में हम इस शब्द का प्रयोग, प्रतिस्पर्धी शत्रु के अर्थ में पाते हैं। ऋग्वेद के समय से शत्रु को भ्रातृव्य कहने लगे थे[३९]। अथर्ववेद में भी इस अर्थ में भ्रातृव्य शब्द का प्रयोग हुआ है[४०]। किन्तु ब्राह्मण-युग में इस अर्थ में इसका प्रयोग बहुत बढ़ गया है। काठक संहिता में भ्रातृव्य को 'अप्रिय', 'पाप्मा' और द्विषन् के विशेषण दिये गये हैं, उसे झूठ बोलने वाला कहा गया है (१८।८, १०।७)। शतपथ ब्रा० (१।१।१।२१), ऐतरेय ब्राह्मण (३।७), पंच-विश ब्राह्मण ( २।७।२ १२।१३।२ ) में शत्रु के लिए भ्रातृव्य शब्द का ही व्यवहार किया गया है। परवर्ती साहित्य में भ्रातृव्य के उपर्युक्त दोनों अर्थ तुल्य रूप से महत्त्वपूर्ण माने जाने लगे। पाणिनि ने दोनों शब्दों की अलग अलग प्रत्ययों से सिद्धि की ( ४।१।१४४-४५ ), वह शत्रुवाचक भ्रातृव्य के लिए व्यन् प्रत्यय का विधान करता है और भतीजे का अर्थ देनेवाले के लिए व्यत् का[४१]।

भतीजे के शत्रु बनने का कारण संयुक्त परिवार की जायदाद के बटवारे के ही झगड़े होंगे[४२]। ये झगड़े अवश्यमेव बहुत प्रचण्ड होंगे, अन्यथा भ्रातृव्य का प्रयोग इतने बुरे अर्थ में न होता[४३]।

३८. अथर्व १०।३।९, भ्रातृव्या मे सबन्धवः; ह्विटनी ने अथर्व० १५। २।८ में भी भ्रातृव्य का यही अर्थ किया है।

३९. ऋ० ८।२१।२३ में इन्द्र को कहा गया है कि, तू जन्म से शत्रु-शून्य (अभ्रातृव्य) है।

४०. अथर्व० २।१८।१; ७।१०।१८ ३३,१०।९।१; मि० वाजसनेय संहिता, १।१०, तै० सं० १।३।२।१; ३।५।९।२

४१. पाणिनि—भ्रातुर्व्यच्च, व्यन्त्सपत्ने

४२. पाल-ला अफ़ प्राइमोजैनिचर पृ० २२८।

४३. आप्टे ने लिखा है कि भ्रातृव्य का यह अर्थ संभवतः ईरानियों और आर्यों के पारस्परिक झगड़ों का स्मरण करवाता है ( सोशल एण्ड रिलीजस लाइफ इन दि गृह्य सूत्राज १९३९ पूना, पृ० ६० )

**विघटन के मनोवैज्ञानिक कारण (१)––वैयक्तिक स्वाधीनता व सम्पत्ति की आकांक्षा।** वैदिक युग के पितृप्रधान संयुक्त परिवार में व्यक्ति का कोई पृथक् अस्तित्व नहीं था, वह अपने परिवार का अंग था। अंगों की शरीर से भिन्न अपनी कोई स्वतंत्र स्थिति नहीं होती, वे मशीन के पुर्जे हैं, इनका उपयोग मशीन में ही हो सकता है; किन्तु उससे अलग होने पर ये बेकार हैं। यदि हम प्रारम्भिक काल के खतरों पर ध्यान दें, तो हमें यह प्रतीत होगा कि 'संघे शक्तिः' का मंत्र उस युग में जितना आवश्यक था, उतना इस युग में नहीं है। आर्यों को हिंस्र जन्तुओं से भरे हुए जंगलों में बसना था, विरोधी जातियों का सामना करना था, अपने परिश्रम से वन्य भूमि को कृषि योग्य बनाना था तथा अन्य अनेक बड़े साहसिक कार्य करने थे; इन कार्यों के लिए संयुक्त संघटन आवश्यक था। आज भी युद्ध के समय प्रजातंत्र के परम उपासक इंगलैण्ड और अमरीका में पूरा निरंकुश फासिस्ट शासन कायम हो जाता है। फासिस्ट शत्रुओं से रक्षा के लिए उन्हें फासिस्टों की सी अनियंत्रित सत्ता अपने हाथ में लेनी पड़ती है। व्यक्तियों के अधिकार बिल्कुल कुचल दिये जाते हैं। संयुक्त परिवार में भी इसी भाँति व्यक्तियों के पृथक् स्वत्वों का पूर्ण दलन होता है। संयुक्त परिवार का सिद्धान्त ही यही है, कि इसके प्राणी अपने वैयक्तिक स्वार्थों को भुला दें तथा सामूहिक कल्याण के लिए यत्न करें। व्यक्ति को अपनी निजी इच्छा और कार्य करने की स्वतन्त्रता का सम्मिलित कुटुम्ब के हित की वेदी पर बलिदान कर देना चाहिए। व्यष्टि समष्टि के लिए है, उसे समष्टि में अपने स्वत्व को पूर्ण रूप से निमज्जित कर देना चाहिए।

किन्तु मनुष्य की अहंभावना इसका घोर विरोध करती है। आज कल के मनोवैज्ञानिक हमें यह बतलाते हैं कि यह मनुष्य का एक प्रधानतम मनोभाव है। मनुष्य बन्धनों की श्रृंखला को तोड़कर स्वतंत्र होना चाहता है, वह अपने विकास में आनेवाली बाधाओं के निराकरण की आकांक्षा रखता है, इसे संयुक्त परिवार में रहकर पूरा नहीं किया जा सकता। उसमें ममत्व बुद्धि की भावना बड़ी प्रबल है। वह वैयक्तिक रूप से कुछ सम्पत्ति पर एकाधिकार रखना चाहता है। उसकी यह अभिलाषा भी सम्मिलित कुटुम्ब में पूरी नहीं होती। इन मनोभावनाओं की पूर्त्ति पृथक् परिवार में ही संभव है।

(२) **सामाजिक परिस्थितियां**––मनुष्य में वैयक्तिक स्वाधीनता की आकांक्षा है, किन्तु उपयुक्त परिस्थितियों के अभाव में, वह उस आकांक्षा को

पूरा नहीं कर सकता। यदि वह परिवार से बाहर अपनी जीविका का उपार्जन न कर सके, तो उसे उदरपूर्त्ति के लिए स्वाधीनता की स्वाभाविक आकांक्षा को दबाते हुए, परिवार में रहना ही पड़ेगा। मन का दमन किया जा सकता है; पर क्षुधा की ज्वाला का शमन संभव नहीं। जब समाज में व्यापार आदि के कारण नये-नये पेशे बनने लगते हैं, तो परिवार का विघटन शुरु हो जाता है। १९वीं शती में, योरोप में व्यावसायिक क्रान्ति (Industrial Revolution) हुई। कारखानों में काम के लिए हजारों मनुष्यों की आवश्यकता हुई। इसका परिणाम यह हुआ कि बड़े परिवारों से बंधे हुए किसान मज़दूर बनने लगे, तेजी से परिवार का विघटन होने लगा। वैदिक युग में, खेती के साथ ही व्यापार आरम्भ हो गया था। उस समय व्यापार मुख्य रूप से स्थल के मार्गों से होता था। समुद्र यात्रा का प्रचार बहुत कम था। ब्राह्मण युग में इस व्यापार को हम बहुत बढ़ता हुआ पाते हैं। पाणिनि ने जंगल की अनेक वस्तुओं का वंशादि गण में पाठ किया है। पण, कार्षापण आदि सिक्कों तथा आढक, द्रोण प्रस्थ आदि मानों के उल्लेख से उस समय के व्यापार की वृद्धि सूचित होती है। व्यापार का क्षेत्र खुल जाने से कुछ लोग संयुक्त परिवार से पृथक् होकर अपनी आजीविका कमा सकते थे। इनका परिवार से अलग होना स्वाभाविक था; किन्तु व्यापार का विस्तार बहुत अधिक न होने के कारण से इनकी संख्या बहुत कम थी।

(३) **धर्म**--हम पहले देख चुके हैं कि पितरों की पूजा तथा अग्नि की उपासना, वैदिक युग में परिवार को संयुक्त बनाये रखने में सहायक सिद्ध हो रही थी। ब्राह्मण-युग में पितरों की पूजा के स्वरूप में कुछ भेद आ चुका था। ऋग्वेद, शुक्ल यजुर्वेद तथा अथर्ववेद के पितरों की पूजा में स्पष्ट अन्तर है। ऋग्वेद में पितरों का सामान्य रूप से आह्वान किया गया है; (१०।१५); किन्तु यजुर्वेद (१९।३६-३७) तथा अथर्ववेद में पितरों की पीढ़ियों की संख्या मर्यादित की गई है (दे० ऊपर)। इन में सामान्य रूप से तीन पीढ़ियों तक के पूर्वज होते थे। संहिता युग में यह व्यवस्था पुष्ट हो रही थी। संयुक्त परिवार के विघटन पर इसने भी प्रभाव डाला। पाल ने लिखा है--'हम यह नहीं जानते कि संयुक्त परिवारों के भंग होने का यह कारण था या नहीं। जब लोग यह विश्वास करने लगे, कि पितर परलोक में अपने वंशजों द्वारा दिये अन्न के उपभोग से जीवन धारण करते हैं, तो पुत्र में यह आकांक्षा उत्पन्न होना स्वाभाविक था, कि वह परिवार के अन्य लोगों की

अपेक्षा, अधिक सावधानी से अपने पिता को अन्न पहुँचाता रहे। हमें इस बात पर आश्चर्य नहीं होगा, कि यदि कोई विद्वान् किसी दिन यह सिद्ध कर दे, कि वैदिक परिवार में इसी कारण भतीजों में झगड़े उत्पन्न हुए। इन झगड़ों से न केवल परिवार का भंग हुआ किन्तु पितृपूजा में पितृ परम्परा में पूजी जाने वाली पीढ़ियों की मात्रा भी मर्यादित कर दी गई[४४]।

कर्मफल का धार्मिक सिद्धान्त भी परिवार के विघटन की प्रक्रिया में कुछ सहायक अवश्य हुआ है। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपने कर्मों का फल अवश्य भोगना पड़ता है, उस में किसी प्रकार की साझेदारी नहीं हो सकती। वाल्मीकि के सम्बन्ध में यह कथा प्रसिद्ध है कि वे बटमारी और लूट पाट से अपने कुटुम्ब का पालन करते थे, बाद में उन्होंने यह कार्य छोड़ दिया; क्योंकि लूट से पलनेवाले सम्बन्धी उनके पापों में साझेदारी लेने को तैयार न थे। जब परलोक के कर्मों का पृथक् रूप से उपभोग होता है, तो इस लोक के कर्मों का फल वैयक्तिक क्यों न माना जाय। इस धार्मिक विश्वास ने व्यष्टि (Individualism) और समष्टि (Communism) वाद के संघर्ष पर अवश्य कुछ प्रभाव डाला होगा; इस कारण से संयुक्त परिवार को वैयक्तिक अधिकार मानने पड़े होंगे[४५]।

**संयुक्त परिवार की अक्षुण्ण परम्परा**--विघटन के उपर्युक्त उदाहरणों तथा कारणों से यह नहीं समझना चाहिए कि ब्राह्मण युग में संयुक्त परिवार की प्रथा बिल्कुल टूटने लगी थी। इन उदाहरणों के बावजूद, समाज में संयुक्त परिवार का बोलबाला था। अभिप्रतारण जैसे अभागे पिता समाज में बहुत कम थे। मनु के पुत्रों की तरह स्वयं बँटवारा करने वाले बेटों की संख्या अधिक नहीं थी। इस काल में तूफानी थपेड़े खाने के बाद भी यह पद्धति हिन्दू समाज के समुद्र में अचल चट्टान की भाँति स्थिर खड़ी रही। इस

---

४४. भतीजों के झगड़े का परिवार में एक और प्रभाव पड़ा होगा। यदि भतीजा शत्रु है, तो उसपर यह भरोसा नहीं किया जा सकता कि वह अपने चाचा को नियमित रूप से पिण्डदान करता रहेगा। अपने पुत्र पर यह भरोसा किया जा सकता है। अतः धार्मिक दृष्टि से पुत्र की महिमा बढ़ जाती है। वह अपने पिता को नरक अर्थात् मरणोत्तर दुर्गति से बचानेवाला माना जाने लगता है (पाल-पूर्व निर्दिष्ट पुस्तक, पृ० २४८)

४५. सर्वाधिकारी--पूर्व निर्दिष्ट पुस्तक, पृ० ५५

युग की सब से अर्वाचीन रचनाओं–गृह्यसूत्रों–के अध्ययन से यह बात भली भाँति पुष्ट होती है।

गोभिल गृह्य० ( १।४।२३-२६ ) से ज्ञात होता है, कि उस समय बहुत बड़े संयुक्त परिवार होते थे। परिवार के सदस्य इतने अधिक होते थे, कि उनका खाना एक चूल्हे पर नहीं पक सकता था। इसे अलग चूल्हों पर पकाना पड़ता था। प्रत्येक भोजन तैयार होने पर वैश्वदेव यज्ञ करना आवश्यक था। विभिन्न देवताओं, भूतों, पितरों और मनुष्यों को पके हुए भोजन की बलियां दी जाती थीं, इस के बाद ही उस भोजन का उपभोग किया जा सकता था। गोभिल कहता है, कि यह आवश्यक नहीं, कि जब सब खाना तैयार हो, उस समय वैश्वदेव यज्ञ किया जाय; गृहपति के लिए पाकशाला में एक बार बलिहरण करना पर्याप्त है। उस समय अन्य रसोइयों में पके हुए भोजनों के लिए पृथक्-पृथक् बलियों को देने की कोई आवश्यकता नहीं है[४६]। इस सम्बन्ध में उसने दूसरा नियम यह भी बनाया है, कि जिस रसोई में पहले खाना बन जाय, उस रसोईवाले अग्नि में बलि देकर तथा ब्राह्मण को खिलाकर स्वयं भोजन करें; वे गृहपति के वैश्वदेव यज्ञ होने की प्रतीक्षा न करें। जिसका भोजन गृहपति के भोजन के बाद तैयार हो, उसे बलि देने की आवश्यकता नहीं है। इस नियम का उद्देश्य संभवतः यह होगा कि बच्चों को व्यर्थ में देर तक भूखा न रखा जाय। आज भी हिन्दू परिवारों में त्यौहारों पर पूजा और ब्राह्मणों को खिलाने के बाद ही भोजन का उपभोग होता है। उस समय देरी होने पर बच्चों की भूख और अधीरता माताओं को बहुत व्यथित करती है।

पारस्कर गृह्य सूत्र में ( २।९ ) एक विशाल परिवार के गृहपति के कर्त्तव्यों का एक बड़ा सुन्दर चित्र खींचा गया है। वैश्वदेव यज्ञ के बाद पहले भिक्षुकों, ब्रह्मचारियों, संन्यासियों और अतिथियों को खिलाया जाय, फिर बालक खायें, बाद में घर के बूढ़े लोगों को भोजन दिया जाय, तदनन्तर घर के अन्य लोग भोजन करें। सब के भोजन कर चुकने के बाद, गृहपति भोजन करे।

---

४६. गोभिल गृह्य सूत्र १।४।२३-२६. यद्येकस्मिन् काले पुनः पुनरन्नं पच्येत सकृदेवैतद् बलितन्त्रं कुर्वीत। यद्येकस्मिन्कुले बहुधाऽन्नं पच्येत। गृहपति महानसादेवैतद्वलितन्त्रं कुर्वीत। यस्य त्वेषामग्रतः सिध्येत् नियुक्तमग्नौ कृत्वाऽग्रं ब्राह्मणाय दत्वा भुञ्जीत। यस्यो जघन्यं भुंजीतैवेति।

**संयुक्त परिवार में परिवर्तन**--संयुक्त परिवार के अक्षुण्ण रहने पर भी उसके स्वरूप में कुछ परिवर्तन आ गया था। समुद्र की चट्टान तूफानी थपेड़ों से भले ही न हिले; किन्तु आंधी और पानी उस पर अपने चिह्न छोड़ जाते हैं। वैदिक युग का संयुक्त परिवार पितृसत्तात्मक परिवार (Patriarchal Family) था। उसका मुख्य उपादान पिता की निरंकुश सत्ता थी। पिता के मरने पर यदि परिवार संयुक्त रहना चाहता है, तो ज्येष्ठ पुत्र उस परिवार का मुखिया बनता है। इससे परिवार की रचना में एक महत्त्वपूर्ण अन्तर होता है। इस अन्तर को स्पष्ट करते हुए जान मेन ने लिखा है--"यह स्पष्ट है कि (मुखिया बने ज्येष्ठ पुत्र की) स्थिति मृत पितर (Patriarch) से बहुत भिन्न होगी। एक अपने नैसर्गिक अधिकार से परिवार का मुखिया था, दूसरा अन्य व्यक्तियों की सहमति से अधिकार प्राप्त करके मुखिया बनता है; इसलिए वह अधिकार से नहीं किन्तु चुनाव से अध्यक्ष बनता है"[४७]। सच्चे अर्थों में इसी अवस्था में संयुक्त परिवार का जन्म होता है। इससे पहले वे अपनी इच्छा से संयुक्त नहीं होते, उन्हें पिता की शक्ति, रक्तसम्बन्ध, धार्मिक बन्धन व आर्थिक कारण एक सूत्र में पिरोये रखते हैं; इन परिस्थितियों पर उनका कोई वश नहीं चलता! वे लाचारी में एक बन्धन में बँधे रहते हैं। किन्तु दूसरी अवस्था में यह बात नहीं, यदि वे अपनी इच्छा से इकट्ठा रहना चाहते हैं, तो संयुक्त परिवार बना रहता है; अन्यथा विभाग हो जाता है।

गृह्य सूत्रों में गृह्य अग्नि के सम्बन्ध में अनेक नियम दिये गये हैं (शांखा० १।१, पारस्कर १।१, आश्वलाय १।९)। इनसे परिवार की उपर्युक्त स्थिति पर प्रकाश पड़ता है। शांखा० अग्न्याधान के चार काल मानता है--(१) समावर्तन, (२) विवाह, (३) विभाग, (४) गृहपति की मृत्यु (१।१।२-५)। अन्तिम अवस्था में वह गृहपति की मृत्यु पर, बड़े लड़के को स्वयं अग्न्याधान करने का आदेश देता है (प्रेते वा गृहपतौ स्वयं ज्यायान्)। शांखायन का यह अभिप्राय प्रतीत होता है, कि संयुक्त परिवार में, सब सदस्यों की ओर से प्रतिनिधि बनकर ज्येष्ठ पुत्र इस कार्य को सम्पन्न करता है। यह स्वाभाविक है कि सम्पत्ति के सम्बन्ध में भी यह समझा जाय कि वह परिवार के सब सदस्यों की ओर से उसका प्रबन्ध कर रहा है।

---

४७. जान मेन-हिन्दू लॉ, पृष्ठ ३२०

इस विचार के मान लेने पर, पारिवारिक सम्पत्ति पर, मुखिया के वैयक्तिक स्वामित्व का अन्त हो जाता है; संयुक्त स्वामित्व के सिद्धान्त का जन्म होता है; परिवार के अन्य सदस्यों के अधिकारों को थोड़ा-बहुत स्वीकार किया जाने लगता है। आज कल संयुक्त परिवार से सूचित होने वाली प्रथा का बीजारोपण होता है।

## *तीसरी अवस्था (६०० ई० पू० से ६०० ई०)*

इस समय में, संयुक्त परिवार-विरोधी प्रवृत्तियों का, हिन्दू समाज में पूर्ण विकास हुआ; इसकी एकता के मूल कारण—पिता के विभाग सम्बन्धी अधिकारों को शनैः-शनैः पिता के हाथों से छीना गया। उसके जीवनकाल में, उसकी इच्छा के विरुद्ध बँटवारे के सिद्धान्त को, अन्त में मान लिया गया, स्वेच्छापूर्वक सम्पत्ति बाँटने का अधिकार उससे छीन लिया गया, विभाग की प्रशंसा की गई, स्वार्जित सम्पत्ति का सिद्धान्त मान्य होने लगा। ये सब व्यवस्थायें संयुक्त परिवार के मूल पर कुठाराघात करनेवाली थीं। आगे इनका यथास्थान विस्तार से प्रतिपादन हुआ है; यहाँ केवल स्थूल परिणामों का ही निर्देश किया जायगा।

**विघटन में सहायक कारण--पिता के अधिकार का अपहरण**--पहले यह बताया जा चुका है, कि पितृप्रधान परिवार में पिता की सत्ता, परिवार को संयुक्त बनाये रखने का प्रबल साधन है। पिता के जीवित रहने तक सब भाई इकट्ठे रहते हैं। ब्राह्मण-युग में बेटों ने पिता के जीवनकाल में स्वयं जायदाद का बटवारा शुरू करके विघटन की प्रवृत्तियों को उत्तेजना दी थी। इस युग में शास्त्रकारों ने प्रारम्भ में इन प्रवृत्तियों का विरोध किया, वे बंटवारे को दो अवस्थाओं में पसन्द करते थे–( १ ) यह पिता की मृत्यु के बाद हो, (२) यदि पिता के जीवनकाल में हो, तो वह पिता की इच्छा के अनुसार हो। पिता की इच्छा के विरुद्ध बंटवारा करनेवाले पुत्रों को घृणा की दृष्टि से देखा जाता था ( गौतम १५।१९ )। न केवल बंटवारा पिता की इच्छा से होता था; किन्तु पिता अपनी सम्पत्ति का मनमाना विभाग भी कर सकता था।

गौतम (२८।१), कौटिल्य (३।५), मनु (९।१०४), याज्ञवल्क्य (२।११७), नारद (स्मृ० १६।२), बृहस्पति (दाय २६), देवल (दा० १३), का यह मत है, कि बँटवारा पिता की मृत्यु के बाद होना चाहिए। कौटिल्य मनु और देवल बँटवारा पहले न करने का कारण भी बताते हैं, कि पिता के जीवित रहते

हुए पुत्रों का सम्पत्ति पर कोई स्वत्व नहीं है[४८]। मनु ने ८।४१६ में सम्पत्ति पर गृहपति का वैयक्तिक अधिकार माना है। हारीत कहता है—पिता के जीवित रहते हुए पुत्र धन का स्वतन्त्र रूप से, उपभोग तथा व्यय नहीं कर सकते। शंख लिखित भी पिता के जीवनकाल में पुत्रों को अस्वतंत्र मानने हैं[४९]। केवल पिता के ही नहीं, किन्तु उपर्युक्त स्मृतिकार, माता के जीवित रहते हुए भी बंटवारे को पसन्द नहीं करते।

पिता के जीवनकाल में पहले बंटवारा केवल एक ही शर्त पर हो सकता था। यदि पिता अनुमति प्रदान करे, तो पुत्र पैतृक सम्पत्ति का विभाग कर सकते थे[५०]। शास्त्रकारों की इतनी व्यवस्थायें करने पर भी, हिन्दू समाज में पिता की इच्छा के विरुद्ध जबर्दस्ती बँटवारा करानेवाले पुत्रों की कमी नहीं थी। अभिप्रतारण के पुत्रों द्वारा प्रारम्भ की गई परम्परा हिन्दू समाज में प्रचलित थी। शास्त्रकार इस प्रकार के विभाग के विरुद्ध थे। गौतम ने यह व्यवस्था की है कि पिता की इच्छा के प्रतिकूल बंटवारा करके अलग हुए भाई श्राद्ध में बुलाने योग्य नहीं होते (पित्रा चाकामेन विभक्तान् १५।१९)। इससे यह परिणाम निकाला जा सकता है, कि उस समय समाज में बँटवारा अच्छा नहीं समझा जाता था।

यह स्थिति गुप्त युग के प्रारम्भ तक रही। गुप्तयुग में नारद ने, पुरानी परम्परा का अवश्य निर्देश किया; परन्तु अपने समय की नवीन परिस्थितियों का भी उसने पूरा ध्यान रखा। बंटवारे का समय, वह सामान्य रूप से पिता की मृत्यु के बाद बतलाता है (ना० स्मृ० १६।२)। यह प्राचीन परिपाटी थी;

---

४८. कौटिल्य० ३।५, अनीश्वराः पितृमन्तः स्थितपितृमातृकाः पुत्राः। तेषामूर्ध्वं पितृतो दायविभागः पितृद्रव्याणाम्। मनु० ९।१०४, ऊर्ध्वं पितुश्च मातुश्च समेत्य भ्रातरः समम्। भजेरन् पैतृकं रिक्थमनीशास्ते हि जीवतोः। देवल (दा० १३), पितर्युपरते पुत्रा विभजेयुर्धनं पितुः। अस्वाम्यं भवेदेषां निर्दोषे पितरि स्थिते॥

४९. मनु० ८।४१६ भार्या पुत्रश्च दासश्च त्रय एवाधनाः स्मृताः। यत्ते समधिगच्छन्ति यस्य ते तस्य तद्धनम्॥ मि० शुक्रनीति ४।५।५७९, हारीत (दा० २३) जीवति पितरि पुत्राणामर्थादानविसर्गाक्षेपेष्वस्वातन्त्र्यम्। शंख (दा० २३) अस्वतन्त्राः पितृमन्तः।

५०. बौधा० २।२।८ पितुरनुमत्यां दायविभागः सति पितरि।

किन्तु वह पुरानी प्रथा का अन्धसमर्थक न था। पर उससे पहले एक पुरानी प्रथा यह भी थी, कि पिता ही विभाग कर सकता है। नारद व्याधिपीड़ित, क्रोधी, विषयी और शास्त्र-विरुद्ध आचरण करनेवाले पिता से विभाग का अधिकार छीन लेता है (ना० स्मृ० १६।१६)।

**विभाग की प्रशंसा**—संयुक्त परिवार को हिन्दू समाज की आधार शिला मानने वाले, कट्टरपंथी हिन्दुओं को यह जानकर संभवतः आश्चर्य हो, कि इस काल में शास्त्रकारों ने बंटवारे की प्रशंसा की है। गौतम ने कहा—बंटवारे से धर्म की वृद्धि होती है (विभागे तु धर्म वृद्धिः १८।४)। बृहस्पति ने धर्म वृद्धि की प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए लिखा है—जब भाई इकट्ठे रहते हैं, तो पितृ पूजा, देवताओं की उपासना और ब्राह्मणों का अर्चन एक घर में होता है; बँटवारा होने पर ये कार्य घर-घर में होते हैं (अप० २।११४)। व्यास का कथन है—पिता के अभाव में बंटवारा करने पर भाइयों के धर्म की वृद्धि होती है। मनु के मत में अलग रहने पर धर्म की वृद्धि होती है; अतः पृथक् होना धर्मानुकूल पद्धति है (९।११)[५१]। आज हिन्दू-समाज में ऐसे व्यक्तियों की कमी नहीं, जो शास्त्रों के आधार पर संयुक्त परिवार-प्रथा के प्रबल समर्थक हैं; किन्तु पुराने स्मृतिकार धर्मविस्तार की दृष्टि से पृथक् परिवार पद्धति को अधिक उपयोगी समझते थे। शास्त्रकारों द्वारा पृथक् परिवार के समर्थन ने संयुक्त परिवार में विघटन की प्रवृत्ति को अवश्य प्रोत्साहित किया होगा।

**स्वार्जित सम्पत्ति**—इसका विकास संयुक्त परिवार के विघटन को सूचित करता है। संयुक्त परिवार का मौलिक सिद्धान्त यह है, कि परिवार के सदस्यों द्वारा कमायी जानेवाली सम्पत्ति सामान्य कोश में डाली जाती है; उसपर कमाने वाले का वैयक्तिक स्वत्व नहीं होता। स्वार्जित सम्पत्ति का सिद्धान्त मूलतः इसका विरोधी है। पितृसत्तात्मक (Patriachal) परिवार में सारी सम्पत्ति पिता की ही समझी जाती है, परिवार के प्राणियों द्वारा कमाये धन पर मुखिया का स्वामित्व होता है।

५१. मनु० ९।१११ एवं सह वसेयुर्वा पृथग्वा धर्मकाम्यया। पृथक् विवर्धते धर्मस्तस्माद्धर्म्या पृथक्क्रिया : बृहस्पति—(अप २।११४) एकपाकेन वसतां पितृदेवद्विजार्चनम्। एकं स्याद्विभक्तानां तदेव स्याद् गृहे गृहे॥ व्यास (दा० ६०) भ्रातृणां जीवतोः पित्रोः सहवासो विधीयते। तदभावे विभक्तानां धर्मस्तेषां विवर्धते।

परन्तु जब सम्मिलित परिवारों में, वैयक्तिक अधिकारों को माना जाने लगता है, उस समय स्वार्जित सम्पत्ति के नियम बनते हैं। अपने परिश्रम से कमाई सम्पत्ति पर अपने पूर्ण तथा वैयक्तिक स्वामित्व की आकांक्षा रखना स्वाभाविक है। प्राचीन परम्परा के अनुसार इसपर परिवार का संयुक्त स्वामित्व होना चाहिए। जब तक उद्योग धन्धों, व्यवसायों का अधिक विकास नहीं होता, उस समय तक उपर्युक्त दोनों सिद्धान्तों में कोई विरोध नहीं होता। कृषि में वैयक्तिक परिश्रम से उत्पन्न सम्पत्ति इतनी अधिक नहीं होती कि स्वार्जित सम्पत्ति के विस्तृत नियम बनाने पड़ें। किन्तु जब व्यापार की वृद्धि होती है, व्यवसाय पनपने लगते हैं और इनसे व्यक्ति पर्याप्त धन कमाने लगते हैं; तो परिवार की संयुक्त सम्पत्ति से पृथक् वैयक्तिक स्वार्जित सम्पत्ति का जन्म होता है। परिवार के अन्य सदस्य अपने पुराने अधिकार को बनाया रखना चाहते हैं, बिना परिश्रम किये दूसरे की कमाई का उपभोग करना चाहते हैं; दूसरी ओर कमाने वाला अपने गाढ़े परिश्रम से अथवा वैयक्तिक योग्यता से उपार्जित धन पर, अपना प्रभुत्व रखना चाहता है।

प्रारम्भ में उपार्जकों को अपनी कमाई सम्पत्ति में दूसरों की अपेक्षा दुगना हिस्सा दिया गया[५२], यह उसका मुंह बन्द करने के लिए और आँसू पोंछने के लिए था; किन्तु इससे उनका न तो मुंह ही बन्द हुआ और न ही आँसू पुंछे। वैयक्तिक और सामूहिक अधिकारों के संघर्ष में जबर्दस्त रस्साकशी थी। यह स्पष्ट था, कि वैयक्तिक अधिकारवालों का पक्ष न्याय्य एवं प्रबल था। उन्हें अपने परिश्रम का फल मिलना ही चाहिए। समष्टिवादी वह फल देना ही नहीं चाहते।

अन्त में समझौते का एक मार्ग ढूंढ़ा गया। यदि परिवार के किसी सदस्य ने परिवार की सम्पत्ति का उपयोग करते हुए अपने वैयक्तिक परिश्रम से कुछ धन कमाया है, तो उस पर सारे परिवार का अधिकार है; यदि उसने पारिवारिक सम्पत्ति का उपयोग नहीं किया तो अपनी कमायी सम्पत्ति पर उसका पूरा अधिकार होगा। गौतम (२८।३१), कौटिल्य (३।५), मनु० (९।२०६-९), महाभारत (१३।१०५।१), विष्णु० (१८।४२), याज्ञ० (२।११८-५९) और नारद० (१६।६) ने इसी प्रकार की व्यवस्थायें की हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि चौथी शती ई० में विभक्त परिवार की व्यवस्था

---

५२. वसिष्ठ १७।४५ येन चैषां स्वयमुत्पादितम् स्यात् स द्वयंशमेव हरेत्।

शास्त्रकारों ने स्वीकार कर ली थी । संयुक्त परिवार में निश्चित रूप से विघटन की प्रवृत्ति प्रारम्भ हो गई थी । चौथी शती ई० से पहले के सब सूत्र-कार और स्मृतिकार संयुक्त परिवार का ही उल्लेख करते हैं । विभक्त परिवार के सदस्यों के अधिकारों की चर्चा उनमें उपलब्ध नहीं होती । केवल याज्ञवल्क्य ने २।१३८ में, विभक्त परिवार में, विधवा तथा कन्या को रिक्थहर बनाया, किन्तु वह संयुक्त परिवार में, उन्हें दाय में कोई स्वत्व प्रदान नहीं करता । याज्ञ-वल्क्य का विभक्त परिवार में इन्हें दायाद बनाने का कारण स्पष्ट है । संयुक्त परिवार में सामूहिक रूप से भरण-पोषण पाने के कारण इनके लिए पृथक् व्यवस्था की कोई आवश्यकता नहीं थी । विभक्त परिवार में ही इनके अनाथ और अनाश्रित होने पर सहायता की ज़रूरत थी । याज्ञ० से पहले के स्मृतिकार ऐसी कोई व्यवस्था नहीं करते । संभवतः उनके समय में विभक्त परिवारों की संख्या बहुत कम थी; याज्ञ० के समय में वह कुछ बढ़ी और नारद के समय में काफी बढ़ गई । नारद पहला स्मृतिकार है जिसने विभक्त परिवार के नियमों का पृथक् रूप से तथा स्पष्ट तौर पर वर्णन किया है । अतः यह प्रतीत होता है कि उसके समय चौथी श०ई० तक हिन्दू समाज में विभक्त परिवारों की संख्या काफ़ी बढ़ चुकी थी । पृथक् परिवार की पद्धति का काफी प्रचलन था । नारद उसकी उपेक्षा नहीं कर सकता था; उसको यह आवश्यक जान पड़ा कि वह विभक्त और संयुक्त परिवारों में रिक्थहरण की दो विभिन्न व्यवस्थायें करे ।

**विघटन के कारण (क) धार्मिक**--इस काल में हिन्दू समाज में विभाग की प्रवृत्ति बढ़ने के क्या कारण थे ? पिछले प्रकरण में बताये मनोवैज्ञानिक, धार्मिक और आर्थिक कारण, पृथक् परिवार की पद्धति को व्यापक बना रहे थे । मनुष्य की अहंभावना, वैयक्तिक महत्त्वाकांक्षा, ममत्व बुद्धि तथा व्यक्तिगत सम्पत्ति का मोह उसे अलग परिवार बनाकर रहने के लिए प्रेरित करता है । संयुक्त परिवार में वह पिता का वशवर्ती सेवक होता है; किन्तु पृथक् परिवार में अपने घर का राजा । संयुक्त परिवार की दासता से पृथक् परिवार की स्वाधीनता स्वाभाविक रूप से अधिक आकर्षक होती है । इस युग में धर्म भी परिवार के विघटित होने में सहायक सिद्ध हुआ । हम यह देख चुके हैं कि गौतम, मनु, बृहस्पति व्यास यह कहते हैं, कि भाइयों के अलग हो जाने पर धर्म-कार्यों की वृद्धि होती है । पहले पाँच भाइयों के संयुक्त परिवार में जितने धर्म कार्य होते हैं, उनके

पृथक् परिवार बना लेने से वे सब कार्य पाँच घरों में अलग-अलग होने लगते हैं। एक ही परिवार के विभाग से पंच महायज्ञों की पाँच गुना वृद्धि हो जाती है। एक दूसरी धार्मिक व्यवस्था ने भी इस समय पृथक् परिवार की प्रवृत्ति को बढ़ाया। वानप्रस्थ की व्यवस्था प्राचीन थी; किन्तु इस काल में सूत्रकार व स्मृतिकार इसकी विस्तार से व्याख्या करते हैं।[५३] यह स्पष्ट है कि इस समय वानप्रस्थ की व्यवस्था का प्रचलन अधिक होगा, वानप्रस्थ बनते समय पिता अपनी सम्पत्ति का बटवारा कर देते थे। हारीत कहता है, कि पिता अपने जीवनकाल में, पुत्रों की सम्पत्ति का बंटवारा करके वन में चला जाय अथवा संन्यासी बन जाय[५४]।

(ख) आर्थिक —इस युग में भारतवर्ष के शिल्प और व्यवसाय में बड़ी उन्नति हुई। शिल्पियों की श्रेणियाँ (Guilds) तथा व्यापारियों के निगम बने। बड़े-बड़े सार्थ (व्यापारिक काफले) देश के एक कोने से दूसरे कोने तक व्यापारिक वस्तुएँ पहुँचाने लगे। विदेशों के साथ स्थलमार्ग और जल-मार्ग से व्यापार होने लगा। बौद्धसाहित्य के अनुशीलन से यह ज्ञात होता है, कि जहाज़ बनाने का व्यवसाय उन्नत दशा में था। समुद्रवाणिज जातक में एक ऐसे जहाज़ के बनाने का उल्लेख है, जिसमें वर्धकियों (बढ़ई) के हज़ार परिवार सुगमता पूर्वक बैठकर दूरवर्ती किसी द्वीप में चले गये। ये परिवार ऋण के बोझ से दबे हुए थे। अपनी दशा से असन्तुष्ट होने के कारण इन्होंने यह निश्चय किया था, कि ये किसी दूर देश में जाकर बस जायें। एक हज़ार परिवारों को सुगमतापूर्वक ले जानेवाले जहाज़ के आकार की कल्पना सहज में की जा सकती है। बलाहस्सजातक में कहा गया है कि एक जहाज़ में पाँच सौ व्यापारी यात्रा कर रहे थे, उनका जहाज़ टूट गया, उन्हें लंका के समुद्र-तट पर उतरना पड़ा। सुप्पारक जातक में एक साथ एक जहाज़ पर समुद्रयात्रा के लिए प्रस्थान करनेवाले ७०० व्यापारियों का उल्लेख है। महाजनक जातक, संख जातक महाउम्मग जातकों से समुद्री व्यापार की उन्नत

---

५३. गौतम ३।२५-३४; आप ध० सू० २।९।२१।१८, २।९।२३।२, बौधा० ध० सू० ३।३, वसिष्ठ० ध० सू० ९; मनु० ६।१-३२। याज्ञ० ३।४५-५५ महाभा० १२।२४५।१-१४, १३।१४२ इ०।

५४. हारीत (दा० ४७) जीवन्नेव वा पुत्रान् प्रविभज्य वनमाश्रयेत्। वृद्धाश्रमं वा गच्छेत्।

अवस्था का ज्ञान होता है। बावेरु जातक में बैबिलोन के साथ भारत के व्यापार का मनोरञ्जक वर्णन उपलब्ध होता है। सातवाहन और गुप्तयुगों में यह व्यापार निरन्तर बढ़ता गया। इन युगों में, भारतीय रेशमी वस्त्र, मसाले तथा मोती आदि बहुमूल्य पदार्थों के बदले रोम से सोने के सिक्कों का प्रवाह भारत की ओर बह रहा था। रोमन लेखक प्लिनी (७८ ई०) ने अपने देश के धनिकों की इसलिए निन्दा की है कि वे करोड़ों रुपये का माल भारत से खरीदते हैं। चीन तथा पश्चिम में रोम तक भारतीय जहाज़ों एवं भारतीय नाविकों द्वारा विदेशी व्यापार होता था। इस युग में यह उत्कर्ष के उच्चतम शिखर तक पहुँच चुका था[५५]।

पहले यह बतलाया जा चुका है कि व्यापार की वृद्धि से संयुक्त परिवार के विघटन को कुछ प्रोत्साहन मिलता है। जब तक व्यापार का विकास नहीं होता, मनुष्य अपनी आजीविका के लिए पारिवारिक भूसम्पत्ति पर अवलम्बित होते हैं। किन्तु व्यापार का विकास होने से उनके लिए स्वतन्त्ररूप से आजीविका कमाने का मार्ग खुल जाता है। व्यापार में बड़े खतरे उठाने पड़ते हैं। इन खतरों को उठाकर धन कमानेवाला व्यक्ति अपनी उपार्जित सम्पत्ति पर वैयक्तिक अधिकार चाहता है। इस काल में व्यापार में आश्चर्यजनक उन्नति हुई। इसी कारण हमें स्वार्जित सम्पत्ति की चर्चा सर्वप्रथम इसी युग में उपलब्ध होती है।

**संयुक्त परिवार का समर्थन**--हिन्दू-परिवार में विघटन की प्रवृत्तियां प्रबल हो रही थीं; किन्तु कुछ शास्त्रकारों ने संयुक्त परिवार का ही समर्थन किया। गौतम दायभाग के नियमों का वर्णन करता हुआ कई वैकल्पिक व्यवस्थायें करता है। इनमें पहली यह है कि ज्येष्ठ पुत्र

---

५५. प्राचीन भारत के व्यापार तथा व्यवसाय के सम्बन्ध में निम्न ग्रंथ उपयोगी हैं:--मजूमदार--कारपोरेट लाइफ़ इन एंशेंट इण्डिया। एस० के० दास--इकनामिक कण्डीशन्स इन एन्शेंट इंडिया। राधा कुमुद मुकर्जी इण्डियन शिपिंग। हिन्दी में विभिन्न युगों के व्यापारिक, आर्थिक विकास के विवरण के लिए दे० जयचन्द्र विद्यालंकार-भारतीय इतिहास की रूप-रेखा दो खण्ड, सत्यकेतु विद्यालंकार-मौर्य साम्राज्य का इतिहास। वासुदेव उपाध्याय--गुप्त-साम्राज्य का इतिहास, दूसरा खण्ड। कृष्णदत्त वाजपेयी-भारतीय व्यापार का इतिहास।

सारी सम्पत्ति का उत्तराधिकारी बने। वही सबका भरण पोषण करे (गौ० ध० सू० २८।३)। शंख भी भाइयों को यह सलाह देता है कि सब को इकट्ठा रहना चाहिए, इकट्ठा रहने से उनकी वृद्धि होती है। कौटिल्य का भी यही परामर्श है (३।५)[५६]। मनु की दाय भाग की कई व्यवस्थाओं में से एक यह भी है कि ज्येष्ठ ही सारे पैतृक धन को ग्रहण करे। जैसे पिता के अवलम्ब से पुत्र रहते हैं उसी प्रकार छोटा भाई बड़े भाई की सहायता से जीवन बिताये (मनु० ९।१०५)। मनु यद्यपि यह कहता है कि भाई चाहें, तो इकट्ठा रहें या धर्म की वृद्धि के लिए बंटवारा कर लें (९।१११), किन्तु उसका पक्षपात और झुकाव संयुक्त परिवार की ओर है। ज्येष्ठ पुत्र की अध्यक्षता में संयुक्त कुटुम्ब का वह बड़े विस्तार से वर्णन करता है (९।१०५-११०)। मनु की एक दूसरी व्यवस्था उसके सम्मिलित परिवार सम्बन्धी पक्षपात को सूचित करती है। आज यदि कोई भाई संयुक्त परिवार में रहना नहीं चाहता है, तो वह अपना हिस्सा लेकर अलग हो जाता है। मनु की व्यवस्था ऐसी नहीं है। वह अलग होनेवाले समर्थ भाई को नाममात्र का हिस्सा प्रदान करता है (९।२०७)। याज्ञ० भी इसी व्यवस्था को दोहराता है (२।११६)[५७]। ये विधान संयुक्त परिवार के प्रति उनकी सहानुभूति को प्रकट करता है।

**पितृप्रधान परिवार का अन्त**—संयुक्त परिवार का समर्थन करते हुए भी ये शास्त्रकार समय के प्रवाह को नहीं बदल सकते थे। वे संयुक्त परिवार के आदिम रूप पितृप्रधान परिवार के हामी थे। ऊपर हम देख चुके हैं कि मनु, कौटिल्य आदि ने पिता के जीवनकाल में पुत्र का सम्पत्ति पर कोई स्वत्त्व नहीं माना, उसकी जीवित दशा में पिता की अनुमति से पैतृक सम्पत्ति बँट सकती थी। (गौतम० २८।२, बौधा० धर्म सूत्र २।२।३।८); किन्तु इस युग में कुछ विशेष अवस्थाओं में पिता के होते हुए बँटवारा उचित माना गया। शंख ने कहा कि यदि पिता न भी चाहे, तो भी उसके बूढ़े, पागल (विपरीत चेतसि), और रोगी

---

५६. गौ० ध० सू० २८।३, सर्वं वा पूर्वजस्येतरान् बिभृयात्पितृवत्; शंख० (व्यक० १४०) कामं सहवसेयुरेकमताः संहताः वृद्धिमापद्येरन् कौटिल्य ३।५, पितुरसत्यर्थे ज्येष्ठा कनिष्ठाननुगृह्णीयुरन्यत्र मिथ्यावृत्तेभ्यः।

५७. याज्ञ० (२।११६) शक्तस्यानीहमानस्य किंचिद्दत्त्वा पृथक्क्रिया।

होने पर पुत्र सम्पत्ति का बटवारा कर सकते हैं[५८]। शनैः-शनैः यह सिद्धान्त भी माना जाने लगा कि पैतृक सम्पत्ति में, पिता के साथ, पुत्रों का भी समान रूप से स्वामित्व है। विष्णु ने सर्वप्रथम यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया[५९]। याज्ञ०, बृहस्पति और व्यास ने इसका समर्थन किया। इसका परिणाम यह हुआ कि इस युग में पितृ प्रधान परिवार का अन्त हुआ; और साझेदारी ( Coparcenary ) वाले परिवार की पद्धति का प्रारम्भ हुआ। यद्यपि इससे पहले युग में ही, पितृप्रधान परिवार, संयुक्त परिवार में परिवर्तित होने लगा था; किन्तु उस काल में, अभी तक पिता को पर्याप्त विशेषाधिकार प्राप्त थे। इस काल के अन्तिम भाग में, पुत्रों के अधिकारों को स्वीकार करने से, पुरानी व्यवस्था का अन्त हुआ। सम्मिलित कुटुम्ब में पिता पुत्र के अधिकारों में समानता मानी गई।

## *चौथी अवस्था (छठी शती से १९ वीं शती ई० तक)*

छठी शती से हिन्दू परिवार में हमें एक स्पष्ट परिवर्तन दिखाई देता है। पेण्डुलम पहले विभाग की ओर जा रहा था; अब वह संयुक्त परिवार की दिशा की ओर बढ़ने लगा। पिछली चार-पांच शतियों में, विभाग और पृथक् परिवार की प्रवृत्ति प्रबल हो रही थी। पिता के अधिकारों के अपहरण तथा स्वार्जित सम्पत्ति के नियमों से इसे पर्याप्त प्रोत्साहन मिला था। संयुक्त परिवार के प्रति सहानुभूति रखते हुए भी, शास्त्रकारों को विभाग की व्यवस्था का समर्थन करना पड़ा। वे परिस्थितियों से विवश थे। छठी शती से परिस्थितियाँ बदलने लगीं; और पारिवारिक व्यवस्था का पेण्डुलम सम्मिलित कुटुम्ब-पद्धति की ओर झुकने लगा।

**स्वार्जित सम्पत्ति का क्षेत्र संकुचित किया जाना**--पेण्डुलम के परिवर्तन की सब से महत्त्वपूर्ण सूचना स्वार्जित सम्पत्ति की नई व्याख्याओं से

---

५८. मिता० २।११४, अकामे पितरि रिक्थविभागो वृद्धे विपरीतचेतसि रोगिणि च।

५९. विष्णु० १७।२ पैतामहे त्वर्थे पितापुत्रयोस्तुल्यं स्वामित्वम्। याज्ञ० २।१२१; भूर्या पितामहोपात्ता निबन्धो द्रव्यमेव वा। तत्र स्यात्सदृशं स्वाम्यं पितुः पुत्रस्य चोभयोः। बृहस्पति--( दा० ४५-४६ ) द्रव्ये पितामहोपात्ते स्थावरे जंगमे तथा। सममंशित्वमाख्यातं पितुः पुत्रस्य चैव हि, व्यास अप० २।१२१ क्रमागते गृहे क्षेत्रे पितापुत्राः समांशिनः।

मिलती है। पहले यह बताया जा चुका है, कि स्वार्जित सम्पत्ति का विचार किस प्रकार शुरू हुआ, और उसमें पृथक् परिवार और संयुक्त परिवार के विरोधी हितों का सामञ्जस्य स्थापित करने के लिए, यह शर्त लगाई गई, कि जो सम्पत्ति बिना पैतृक धन लगाये कमाई गई है, उसपर कमानेवाले का पूर्ण वैयक्तिक स्वत्व होगा। इस युग के शास्त्रकारों ने इस शर्त की बड़ी उदार व्याख्या की। इस व्याख्या से स्वार्जित सम्पत्ति का क्षेत्र बहुत मर्यादित हो गया, और संयुक्त परिवार पर आये एक महान् संकट का निवारण हुआ।

स्वार्जित सम्पत्ति को दो मुख्य रूपों में बाँटा जा सकता था—(१) विद्या-धन–अपनी विद्या द्वारा प्राप्त किया गया, (२) शौर्यधन-अपनी वीरता और साहस से युद्ध आदि में जीता हुआ धन। कात्यायन ने विद्याधन को तथा व्यास ने शौर्यधन को अपने लक्षणों द्वारा बहुत संकुचित कर दिया। कात्यायन ने कहा यदि दूसरे व्यक्ति का अन्न खाते हुए विद्या का अध्ययन किया जाता है, तो उसका विद्या-धन अविभाज्य होगा[६०]; किन्तु यदि वह परिवार के व्यय से पला है तो उसका विद्या-धन संयुक्त परिवार की सम्पत्ति मानी जायगी। यह स्पष्ट है कि ९९.९% बच्चे अपने परिवार में पलते हैं। कात्यायन की व्याख्यानुसार विद्याधन पर उनका कोई अधिकार नहीं रहता। व्यास ने यही व्यवस्था शौर्यधन के विषय में की। उसने कहा, युद्ध में परिवार के रथ या तलवार का उपयोग करते हुए, जो धन प्राप्त किया जाता है, उसमें उसके भाई भी साझीदार होते हैं। व्यास ने उसपर इतना अनुग्रह अवश्य किया है, कि इस सम्पत्ति में उसे दूसरे भाइयों से दुगुना हिस्सा दिया जाय[६१]। यह बड़ी विचित्र व्यवस्था थी। लड़ाई में मनुष्य अपने प्राणों को संकट में डालता है। व्यास की व्यवस्थानुसार, प्राणों को संकट में डालने का कोई महत्त्व नहीं था; महत्त्व सिर्फ इस बात का था कि जान जोखिम में डालते वक्त उसके हाथ में तलवार या ढाल अपने घर की थी या अपनी वैयक्तिक कमाई से बनवाई हुई। प्राणों

---

६०. मिता० २।११९ परभक्तोपयोगेन विद्या प्राप्ताऽन्यतस्तु या। तया लब्धं धनं यत्तु विद्याप्राप्तं तदुच्यते।

६१. व्यास० दा० १०७, अप० २।११९ साधारणं समाश्रित्य यत्किंचिद्वाहनायुधम्। शौर्यादिनाप्नोति भ्रातरस्तत्र भागिनः। तस्य भागद्वयं देयं शेषास्तु समभागिनः।

की अपेक्षा तलवार की अधिक कीमत थी। व्यास की इस व्यवस्था का उद्देश्य स्पष्ट था। वह स्वार्जित सम्पत्ति के मूल पर कुठाराघात करना चाहता था। स्वार्जित सम्पत्ति का संयुक्त परिवार के साथ मौलिक विरोध है। संयुक्त परिवार, सम्पत्ति पर सामूहिक स्वत्व मानता है; और स्वार्जित सम्पत्ति का मौलिक मन्तव्य, वैयक्तिक स्वामित्व है। स्वार्जित सम्पत्ति, सम्मिलित कुटुम्ब की जड़ खोखला करती है। कात्यायन और व्यास ने, अपनी व्याख्याओं से, स्वार्जित सम्पत्ति की जड़ खोखली कर दी, और संयुक्त परिवार की अखण्डता को अक्षुण्ण रखा।

टीकाकारों में, श्रीकर, विज्ञानेश्वर आदि ने कात्यायन और व्यास की परम्परा का पालन किया। स्वार्जित सम्पत्ति का क्षेत्र परिमित करके सम्मिलित कुटुम्बपद्धति का समर्थन किया (देखिये १२वां अध्याय)। जीमूत वाहन ने यद्यपि स्वार्जित सम्पत्ति की उदार व्याख्या की है; किन्तु वह पिता को सम्पत्ति पर पूर्ण अधिकार देकर संयुक्त परिवार की पद्धति को, विघटन के भय से मुक्त करता है।

बारहवीं शती से हिन्दू परिवार में दो विरोधी मत प्रचलित हुए——(१) विज्ञानेश्वर द्वारा प्रतिपादित जन्मना स्वत्ववाद, (२) जीमूतवाहन द्वारा पिता के पूर्ण स्वत्व को मानने वाला उपरमस्वत्ववाद। पहला पक्ष यह मानता था, कि परिवार में जन्म ग्रहण करते ही, पुत्र का सम्पत्ति में स्वत्व, उत्पन्न हो जाता है। दूसरा पक्ष यह कहता था, कि पिता के मरने पर ही, पुत्रों को पिता की सम्पत्ति में अधिकार मिलता है। उसके जीवित रहने पर उनका पैतृक सम्पत्ति में कोई अधिकार नहीं। इन व्यवस्थाओं के अनुसार चलनेवाले परिवारों को, हम क्रमशः मिताक्षरा कुटुम्ब और दायभाग कुटुम्ब कह सकते हैं। इनका विस्तृत निर्देश ग्यारहवें अध्याय में किया जायगा। यहां यही कथन पर्याप्त है, कि दोनों पद्धतियों से, मध्यकाल में, संयुक्त परिवार-पद्धति को बड़ा प्रोत्साहन मिला। विज्ञानेश्वर पुत्रों का पैतृक सम्पत्ति पर जन्म से अधिकार मानता है; इस से पिता का अधिकार बहुत मर्यादित हो गया है। मिताक्षरा परिवार में, पिता यदि अपनी वैयक्तिक सम्पत्ति का दान या विक्रय करना चाहता था; तो वह अपनी इच्छा से उसका यथेच्छ विनियोग नहीं कर सकता था; क्योंकि उस सम्पत्ति पर उसके पौत्र का भी अधिकार है[६२], वह पिता को इस कार्य से रोक

६२. याज्ञ० २।१२१ तथाऽविभक्तेन पित्रा पैतामहे द्रव्ये दीयमाने विक्रीयमाणे वा पौत्रस्य निषेधेऽप्यधिकारः।

सकता है; वह पिता द्वारा स्थावर सम्पत्ति के विक्रय या दान का निषेध करता है[६३]। स्थावर सम्पत्ति, भले ही व्यक्ति ने, अपने परिश्रम से कमाई हो; किन्तु सब पुत्रों से सलाह लिये बिना, वह उस सम्पत्ति का दान या विक्रय नहीं कर सकता था। विज्ञानेश्वर के इन प्रतिबन्धों का परिणाम, संयुक्त परिवार के सुदृढ़ होने के अतिरिक्त, कुछ नहीं हो सकता था। जीमूतवाहन ने पिता के पूर्ण अधिकार को स्वीकार किया। बंगाल में, पिछले ७०० वर्षों में, संयुक्त परिवार की परिपाटी, पिता की प्रभुता में खूब फलती फूलती रही।

**मध्य युग में संयुक्त परिवार के बढ़ने के कारण-नवीन परिस्थितियां:** छठी शती में हिन्दू-समाज में एक मौलिक परिवर्तन हुआ। पिछली तेरह शतियों से वह प्रगतिशील नहीं रहा। पाँचवीं शती के अन्त तक, भारतवासी ज्ञान-विज्ञान, व्यापार-व्यवसाय आदि सभी क्षेत्रों में अन्य देशों से बहुत आगे बढ़े हुए थे। 'चरैवेति' का तथा सदा आगे बढ़ने का भाव उन्हें अनुप्राणित कर रहा था। किन्तु इसके बाद आर्यों के आश्चर्यजनक विकास में और अग्रगामिता में मन्दता आने लगती है; सभी क्षेत्रों में हम आगे बढ़ना छोड़ देते हैं।

गुप्त युग में हूणों के जबर्दस्त हमले हुए। इनसे लड़ते-लड़ते गुप्त सम्राटों की शक्ति क्षीण हो गई। आठवीं शती के प्रारम्भ में सिन्ध पर अरबों के आक्रमण प्रारम्भ हुए। ये लोग न केवल राजनैतिक विजेता थे, अपितु इस्लाम की ओजस्विनी और उग्र भावना से अनुप्राणित थे। महमूद गजनवी और शिहाबुद्दीन गोरी ने हिन्दू सेनाओं को परास्त किया। १३वीं शती के प्रारम्भ से दिल्ली में इस्लामी शासन कायम हुआ। अगले ५५० वर्षों में दिल्ली पर मुस्लिम-वंश राज्य करते रहे। इस समय हिन्दुओं ने अपनी रक्षा के लिए कच्छप-वृत्ति का अवलम्बन किया। वे राजनैतिक प्रभुत्व खो चुके थे; किन्तु अपने धर्म और समाज की रक्षा के लिए उन्होंने जात-पात के बन्धनों को कड़ा किया।

हिन्दू-परिवार पर इन व्यवस्थाओं का गहरा प्रभाव पड़ा। उस समय हिन्दू-समाज का मूल मंत्र था—स्थिरता, जड़ता और गतिशून्यता; उसमें महत्त्वाकांक्षा और आगे बढ़ने की इच्छा का अभाव हो रहा था। संयुक्त परि-

---

६३. वहीं २।११३ स्थावरे स्वार्जिते पित्रा प्राप्ते च पुत्रादिपारतन्त्र्यमेव। 'स्थावरं द्विपदं चैव यद्यपिस्वयमर्जितम्। असंभूय सुतान्सर्वान्न दानं न च विक्रयः ॥

वार के लिए यह स्थिति बड़ी अनुकूल थी। बाप-दादा की जायदाद छोड़कर अन्यत्र नये स्थानों में जाने का साहस सामान्यतः नष्ट हो चुका था। बौद्ध, सातवाहन और गुप्त-युगों का समुद्री व्यापार बन्द हो गया। जब विदेश जाने पर जाति जाने का भय हो तो अपने गाँव में और कुटुम्ब में ही रहना चाहिए। 'पिता के कुंएँ का पानी चाहे खारा हो; किन्तु उसे ही पीना चाहिए'। स्वदेश भक्ति अच्छी है; परन्तु गाँव का मोह बुरी चीज है। मध्य काल में अपने गांव का मोह पराकाष्ठा तक पहुँच गया था। संयुक्त परिवार के पनपने का एक अन्य कारण उस समय की अशान्ति थी। कभी विदेशी राजाओं के हमले होते थे और कभी चोर-डाकुओं के। उस समय सेना और पुलिस के विशाल संघटन नहीं थे। 'संघे शक्तिः कलौ युगे' का मंत्र आत्मरक्षा का प्रधान साधन था। एक बड़ा संयुक्त परिवार सुगमता से अपनी रक्षा कर सकता था; पृथक् परिवार आसानी से लूटा जा सकता था।

**आर्थिक कारण**—संयुक्त परिवार के बने रहने में आर्थिक कारणों ने भी बड़ा सहयोग प्रदान किया। मध्य युग में यातायात के साधन बहुत कम थे,, यात्रा करना बहुत संकटपूर्ण था। व्यापार और व्यवसायों की पिछले युगों की उन्नति समाप्त हो चुकी थी। लोग आत्मनिर्भर और स्वावलम्बी ग्रामों में अपना जीवन बिताते थे। गाँवों से बाहर जाकर आजीविका कमाने की सुविधायें बहुत कम थीं; अतः परिवार के सदस्य घर पर ही रहते थे। उस समय न केवल आत्मरक्षा के लिए संयुक्त परिवार में रहना अधिक उपयोगी था; किन्तु दाय भाग के नियमों से, खण्डशः विभक्त होनेवाली भूसम्पत्ति की रक्षा भी सम्मिलित कुटुम्ब से होती थी। उत्तराधिकार के नियमों के अनुसार, पुत्रों में, पिता की सम्पत्ति तुल्य रूप से बंटती है। उस समय भूमि के अतिरिक्त, आजीविका के साधन बिल्कुल नाममात्र थे। यदि पृथक् परिवार बनाने के लिए भूमि या अन्य सम्पत्ति का बँटवारा होता, तो यह इतने छोटे-छोटे हिस्सों में विभक्त हो जाती कि परिवार के सब सदस्य भूखे मरने लगते। आज भारत में बँटवारे की प्रवृत्ति बढ़ने से आर्थिक दृष्टि से अनुपयोगी जोतों ( Uneconomic Holdings ) की भीषण समस्या पैदा हो गई है। मध्यकाल में, सम्मिलित कुटुम्ब की व्यवस्था चालू रहने से, परिवार की भूसम्पत्ति अखण्ड तथा अविभाज्य रहती थी; इसीलिए वह आर्थिक दृष्टि से उपयोगी थी।

संयुक्त परिवार की कुछ अन्य विशेषतायें भी उसे उपयोगी बनायें

हुए थीं। इससे परिवार की सम्पत्ति, न केवल खण्डशः विभक्त होने से बचती थी; किन्तु सम्पत्ति का व्यर्थ में अपव्यय और नाश नहीं होता था। अल्प व्यय से ही बहुत बड़े कुटुम्ब का पालन होता था। पृथक् परिवार होने पर पृथक् घर बनाना पड़ता है; गृहस्थी का सारा सामान नये सिरे से जुटाना पड़ता है। संयुक्त परिवार में रहते हुए, सब लोग एक ही घर-गृहस्थी की सामग्री का उपयोग करते हैं; अतएव बहुत कम व्यय में अपना काम चला सकते हैं। इसमें रहते हुए कोई भूखा नहीं मर सकता था। आज हमें बेकारी की भीषण समस्या दिखलाई देती है। उस समय इसका कोई चिह्न नहीं था। परिवार के सदस्य बेकार होने पर भी परिवार के व्यय से पला करते थे। आज राज्य, अपने कार्यकर्त्ताओं तथा मज़दूरों के बुढ़ापे को सुखमय बनाने के उद्देश्य से पेन्शनों और बीमों की व्यवस्था करता है, निर्धनों के निर्वाह के लिए दरिद्रगृहों (Poor Houses) की व्यवस्था करता है, जहाँ वे काम करते हैं और भोजन पाते हैं; परन्तु उस समय संयुक्त परिवार द्वारा, यह व्यवस्था स्वाभाविक रूप से भली भांति सम्पन्न होती थी। बूढ़े, विकलांग तथा दुर्बल व्यक्ति को परिवार में उनकी क्षमतानुसार कोई कार्य दिया जाता था; और वे परिवार के संयुक्त व्यय से पलते थे, इसमें श्रम-विभाग (Division of Labour) का सिद्धान्त काम करता था। परिवार के सदस्य अपनी शक्ति और योग्यता के अनुसार कार्य करते हुए भरण-पोषण पाते रहते थे। आज भी गाँवों के संयुक्त परिवार के सदस्यों से आर्थिक उत्पादन में बड़ी सहायता मिलती है। कृषकों के परिवारों में शक्तिशाली पुरुष हल चलाते, बीज बोते, सिंचाई के लिए पानी खींचते तथा खलिहानों में दाँय चलाते हैं। फसल की कटाई में, उनकी स्त्रियाँ अपने परिवार की बड़ी मदद करती हैं। इस समय मज़दूर बहुत मँहगे होते हैं, घर के प्राणियों का सहयोग मज़दूरों के भारी खर्च को बचा देता है[६४]। उनके बच्चे पशु चराने,

---

६४. वर्तमान समय में इस कारण की महत्ता अलग्योझा (मान सरोवर प्रथम भाग) नामक कहानी में प्रेमचन्द ने दिखाई है। मुलिया अपने पति रग्घू को जबर्दस्ती अपने भाइयों से अलग करवाती है। अपने भाइयों से अलग होने पर, खेती के लिए कड़ी मेहनत से, कुछ वर्षों में उसकी अकाल मृत्यु होती है। मुलिया की गोद में दो बच्चे हैं। उनको संभालते हुए, खेती का काम करना बड़ा मुश्किल था। उसकी दुर्दशा का

ईंधन और खाद बटोरने का काम करते हैं। इसी प्रकार लुहार, बढ़ई, चमार आदि कारीगरों के परिवारों में हम स्त्रियों, बच्चों और पुरुषों को मिलकर कार्य करता हुआ देखते हैं। संयुक्त परिवार मध्य युग में कम खर्च में अधिक आर्थिक उत्पादन करता रहा है।

**अन्य कारण**--सम्मिलित कुटुम्ब, परिवार के अनाथों और विधवाओं का शरणस्थल रहा है। किसी बच्चे के लिए सब से बड़ा दुर्भाग्य अनाथ होना है। स्त्री के लिए वैधव्य से बढ़कर कोई दुःख नहीं है। इन दोनों का परित्राण संयुक्त परिवार से होता था। यह इनके लिए सुरक्षित और सम्मानपूर्ण आश्रय था। बच्चों को भीख नहीं माँगना पड़ती थी और स्त्रियों को पेट भरने के लिए सतीत्व बेचने की आवश्यकता नहीं होती थी[६५]।

इन सब कारणों से मध्य काल में हिन्दू समाज में संयुक्त परिवार की पद्धति का चरम विकास हुआ। पहले बंगाल में पचास और अस्सी प्राणियों वाले विशाल संयुक्त परिवारों का उल्लेख हो चुका है। यही स्थिति अन्य प्रान्तों में भी थी। पिछली शती में मद्रास में सामान्य रूप से ऐसे परिवार मिलते थे जिनमें स्त्री पुरुषों और बच्चों की संख्या सौ तक पहुँच जाती थी[६६]।

## *वर्तमान युग*

आजकल संयुक्त हिन्दू परिवार में विघटन की प्रवृत्तियां प्रबल हो

---

वर्णन करते हुए प्रेमचन्द ने लिखा है--"सारी खेती तहस-नहस हो रही थी, उसे कौन संभालेगा। अनाज की डांठ खलिहान में पड़ी थीं। ऊख अलग सूख रही थी। वह अकेली क्या क्या करेगी? फिर सिंचाई अकेले आदमी का तो काम नहीं? तीन-तीन मजूरों को कहां से लाये? गांव में मजूर थे ही कितने? आदमियों के लिए खींचा-तानी हो रही थी। क्या करे क्या न करे", पृष्ठ २२। उसकी खेती की बरबादी सास से न सही गई। सास की समझदारी से अलग्योझा टूट जाता है और दोनों घर एक हो जाते हैं।

६५. प्रेमचन्द्र ने इसी पहलू को स्पष्ट करते हुए (अलग्योझा मानसरोवर, पृष्ठ २३) अनाथ होने पर परिवार में पोषण पाये एक पात्र केदार से कहलवाया है--भैया ने न जिलाया होता तो आज या तो मर गये होते या कहीं भीख मांगते होते। विधवा स्त्रियों के लिए देखिये सुभागी (मानसरोवर पहला भाग) बालक (वही दूसरा भाग)।

६६. चिन्तामणि--इंडियन सोशल रिफार्म, मद्रास १९०१, पृ० १२७।

रही हैं। सम्मिलित कुटुम्ब को परिस्थिति के कठोर आघात सहन करने पड़ रहे हैं। उसके पुराने स्तम्भों की नींवें खोखली हो रही हैं। क्या उनके कमजोर होने पर संयुक्त परिवार का विशाल प्रासाद धराशायी हो जायेगा ? इस प्रश्न का अन्तिम उत्तर देने से पहले विघटन के प्रेरक तत्त्वों की मीमांसा आवश्यक प्रतीत होती है।

इस समय संयुक्त परिवार के दुर्ग पर प्रबल आक्रमण हो रहा है। औद्योगिक क्रान्ति ( Industrial Revolution ) से आर्थिक उत्पादन की प्रक्रिया में मौलिक परिवर्तन हो गये हैं। देश में तेजी से उद्योगों का विकास हो रहा है। शहर बस रहे हैं; गाँव उजड़ रहे हैं। मध्य युग में परिवार जिन परिस्थितियों के कारण पोषण और वृद्धि पा रहा था, उन सब का अन्त हो रहा है। न केवल संयुक्त परिवार के किले की नींव परिवर्तित परिस्थितियों से खोखली हो रही है; किन्तु नये विचारों का डायनामाइट भी, उस दुर्ग की जीर्ण-शीर्ण दीवारों को भूमिसात् करने की तय्यारी कर रहा है।

**विघटन के उपादान। (क) नवीन आर्थिक परिस्थितियां**—मध्ययुग में यातायात की असुविधा, यात्राओं के भारी खतरे, कृषि से भिन्न पेशों का अभाव मनुष्य को संयुक्त परिवार में रहने के लिये बाधित करता था; अब यातायात के साधनों का विकास हो गया है, यात्रा करना पहले से अधिक सुगम और निरापद हो गया है। आजीविका के लिए व्यापार, व्यवसाय, शिक्षा, कानून, डाक्टरी आदि नये-नये पेशे बन रहे हैं। पहले परिवार से पृथक् होने पर कमाई के अवसर और साधन बहुत कम थे; आज उनकी संख्या बहुत बढ़ गई है। शहरों के कारखानों में अधिक वेतन का आकर्षण है। मजदूरी आदि से पेट भरने के सैकड़ों मौके हैं। इनसे लाभ उठाने के लिए गाँवों के हजारों व्यक्ति शहरों में आते हैं। इस तरह निम्न वर्ग के हिन्दू परिवार में विघटन हो रहा है। मध्यवर्ग और उच्च वर्ग के लोग नौकरियों और व्यापार के सिलसिले में शहरों में बसते हैं। सरकारी नौकरी करनेवालों को अपने संयुक्त परिवार से पृथक् होना पड़ता है। यही हाल व्यापार तथा डाक्टरी आदि पेशे करनेवाले व्यक्तियों का है। वे एक स्थान पर इकट्ठे नहीं रह सकते। सरकारी तबादले और व्यापार के चक्कर पिता को पुत्र से और छोटे भाई को बड़े भाई से अलग कर देते हैं।

जीवन संघर्ष की उग्रता भी उन्हें अलग होने के लिए विवश करती है।

गाँवों के पुराने कुटीरोद्योग औद्योगिक प्रतिस्पर्धा से नष्ट हो रहे हैं। प्राचीन गृह व्यवसायों का स्थान कल कारखाने ले रहे हैं। इससे जुलाहों, कुम्हारों आदि शिल्पियों में बेकारी और भुखमरी बढ़ रही है। कृषि से उनका पोषण नहीं हो सकता। कृषि पर जीनेवाले किसानों की संख्या पहले ही बहुत अधिक है। पढ़े-लिखे लोगों के लिए भी देहात में किसी नौकरी या व्यापार की सुविधा नहीं है। उनके लिए शहरों में जाना अनिवार्य हो जाता है। पहले पुरुष अपने परिवार से पृथक् होकर शहर में जाता है। जब वह आजीविका कमाने लगता है; तो अपने परिवार को वहाँ बुला लेता है। उसमें यह इच्छा होना स्वाभाविक है, कि अपने गाढ़े पसीने से पैदा की गई कमाई पर उसका पूरा स्वत्व हो, उसका उपभोग उसका ही परिवार करे। यदि वह उदारतावश इस धन को, गाँव में बसे अपने संयुक्त परिवार को प्रदान करता है, तो यह स्थिति देर तक नहीं चलती। पत्नी यह नहीं देख सकती कि पति पसीना बहा कर कमाई करे; और परिवार के अन्य प्राणी उससे गुलछर्रे उड़ायें। जीवन संघर्ष की उग्रता उसे इस बात के लिए बाधित करती है, कि वह उस धन का अत्यन्त सावधानी से उपयोग करे। जब वह देखती है, कि संयुक्त परिवार में उसके द्रव्य का दुरुपयोग होना अनिवार्य है, तो वह पति को पृथक् होने के लिए बाध्य करती है। संयुक्त परिवार के पक्षपाती भले ही इसे स्त्रियों की स्वार्थ बुद्धि कहें; किन्तु वर्तमान आर्थिक संघर्ष को देखते हुए, उन्हें इसके लिए दोष नहीं दिया जा सकता। परोपकार करना साधु-महात्माओं का काम है; हम प्रत्येक स्त्री से यह आशा नहीं कर सकते, कि वह अपने बच्चों और पति से भिन्न प्राणियों को अपनी सम्पत्ति लुटा देने के लिए तैयार होगी। इस अवस्था में संयुक्त परिवार का भंग होना आवश्यक है।

कृषि प्रधान युग में, आर्थिक उत्पादन की इकाई परिवार होता है। उस समय परिवार प्रायः स्वावलम्बी होता है। अपने उपयोग और उपभोग की वस्तुएँ वह अपने आप तैयार करता है। घर के लिए आवश्यक अन्न अपने खेत में पैदा किया जाता है, वस्त्रों के लिए कपास की खेती होती है। स्त्रियाँ कताई, बुनाई, सिलाई, धुलाई आदि के घरेलू काम करती हैं। लिंकन ने आदर्श प्रजातन्त्र की व्याख्या करते हुए कहा था—जनता का, जनता द्वारा, और जनता के लिए शासन प्रजातन्त्र है। कृषि युग की आर्थिक व्यवस्था भी कुछ इसी प्रकार की होती है। उसमें सारा आर्थिक उत्पादन, पारिवारिक सदस्यों द्वारा होता और उनके लिए होता है। इस अवस्था में संयुक्त परिवार

प्रथा खूब-फलती फूलती है । जितने अधिक प्राणी होंगे; काम उतना अधिक होगा। एक जुलू से जब पूछा गया, कि वह दूसरी शादी क्यों करना चाहता है ? उसने उत्तर दिया--मेरी पहली पत्नी के बीमार होने पर रोटी कौन बनायेगा । परन्तु जब मशीनों का निर्माण होता है; तो इस परिस्थिति में मौलिक परिवर्तन आ जाता है । मनुष्यों का काम मशीनें करने लगती हैं; उनके द्वारा बनी चीजें अधिक टिकाऊ और सस्ती होती हैं । इनसे मेहनत बच जाती है, जो कपड़ा पहले घर में बुना जाता था, वह मशीनों से तैयार होने लगता है । अन्तिम अध्याय में इस प्रक्रिया का विस्तार से उल्लेख होगा । एक-एक करके घर के सब काम मशीनों से होने लगते हैं; उस समय परिवार आर्थिक उत्पादन की इकाई नहीं रहता । बहुत से प्राणियों के रहने से वह, आर्थिक दृष्टि से उपयोगी होने के बजाय, भार प्रतीत होने लगता है । इस अवस्था में परिवार से बाहर, कल-कारखानों में आजीविका के साधनों का विकास होने से, संयुक्त परिवार का विघटन तथा पृथक् परिवारों का निर्माण होने लगता है । समाज में जब व्यापार और व्यवसाय की उन्नति होने लगती है, और विभिन्न सदस्यों को स्वतन्त्र रूप से कार्य करने के मौके मिलते रहते हैं; तो परिवार का पुराना स्वरूप भंग होने लगता है। वर्तमान समय में पश्चिम जगत् में परिवार क्रमशः छोटा हो रहा है ।[६७] भारत के शहरों में यह अवस्था उत्पन्न हो गई है; अतः यहाँ संयुक्त परिवार का भंग हो रहा है ।

**(ख) पश्चिम की नई विचार धारायें--व्यष्टिवाद**--पश्चिम के साथ सम्पर्क में आने के बाद, वहाँ के आचार विचार, हिन्दू जीवन के सभी पहलुओं पर गहरा प्रभाव डाल रहे हैं। यहाँ केवल परिवार पर प्रभाव डालने वाले विचारों का उल्लेख किया जायगा । पूर्व और पश्चिम में एक मौलिक मतभेद है। पश्चिम में मनुष्य के अधिकारों पर बहुत बल दिया जाता है; पूर्व में कर्त्तव्यों पर। पश्चिम का सारा प्रयत्न इसी दिशा में है, कि व्यक्तियों के स्वत्वों को सुरक्षित बनाया जाय; पूर्वी सभ्यतायें इस बात पर जोर देते हुए नहीं थकतीं, कि प्रत्येक मनुष्य को अपने दायित्व को पूर्ण करना चाहिए । फ्रांस की राज्यक्रान्ति को जन्म देनेवाले वाल्तेयर और रूसो आदि विचारकों ने तारस्वर से यह घोषणा की थी, कि मनुष्य कुछ स्वत्वों के साथ उत्पन्न

---

६७. सेलिगमैन--प्रिंसिपल्ज़ आफ़ इकनामिक्स (दशम संस्करण १९२३) पृष्ठ ८९

होता है; उन की रक्षा होनी चाहिए। भारतीय शास्त्र यह कहते हैं कि मनुष्य जन्म लेते ही तीन ऋणोंवाला होता है; उसे अपने जीवन में माता, पिता, गुरु और समाज के इन ऋणों को अवश्य चुकाना है। पश्चिम में जब कोई नया शासन विधान बनता है तो उसमें मानवीय अधिकारों की घोषणा अवश्य की जाती है। संयुक्त राज्य अमरीका के घोषणा-पत्र में यह कहा गया है—हम इन बातों को स्वयं सिद्ध सत्य मानते हैं कि सब मनुष्य समान पैदा किये गये हैं, भगवान् ने उन्हें कुछ अविच्छेद्य (Inalienable) अधिकार प्रदान किये हैं। भारत में कुछ दूसरी बातों को स्वयं सिद्ध सत्य माना गया है। यहाँ अविच्छेद्य अधिकारों के स्थान पर अविच्छेद्य दायित्वों के पालन का आदेश दिया गया है। गृहपति का यह कर्त्तव्य है कि वह पंच महायज्ञ और अतिथियों की सेवा करे; पोष्य वर्ग का पालन करे। हमें शास्त्रों में व्यक्ति के कर्त्तव्यों का विशद वर्णन उपलब्ध होता है; किन्तु स्वत्वों का उल्लेख कम मिलता है।

पश्चिम में मुख्य रूप से व्यक्ति के दो अधिकारों पर बड़ा बल दिया जाता है—(१) स्वतन्त्रता का अधिकार, (२) समानता का अधिकार। भारत के नये संविधान में इन्हें मौलिक अधिकारों के रूप में स्वीकार किया गया है। निरंकुश राजाओं, स्वच्छन्द सामन्तों और और असहिष्णु धर्माधिकारियों ने योरोप को मध्य युग में दासता की शृंखलाओं में जकड़ रखा था। १७८९ में फ्रांस की जनता ने इन जंजीरों को तोड़ा; व्यक्ति के अधिकारों पर बल देने वाले व्यष्टिवाद की प्रधानता हुई। भारत में यह समझा गया था कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने कर्त्तव्यों का पालन करना चाहिए; पश्चिम में अधिकारों पर बल दिया गया। इन दोनों अतियों (Extremes) में महान् दोष हैं। यदि अधिकारों पर बहुत बल दिया जाय, तो अराजकता की स्थिति उत्पन्न हो जायेगी, समाज अणुशः विघटित हो जायेगा। पश्चिमी देशों की आन्तरिक अशान्ति और कलह का एक बड़ा कारण वैयक्तिक अधिकारों पर अत्यधिक बल देना है। दूसरी ओर समष्टिवाद में सामाजिक कर्त्तव्यों पर बल देने का परिणाम यह होता है, कि वैयक्तिक स्वातन्त्र्य का भाव बिल्कुल नष्ट हो जाता है; मनुष्य मशीन का एक पुर्ज़ामात्र रह जाता है। आदर्श व्यवस्था में व्यष्टिवाद और समष्टिवाद का सामञ्जस्य होना आवश्यक है।

संयुक्त परिवार में, समष्टिवाद की भावना प्रधान है। प्रत्येक व्यक्ति

परिवार के सामूहिक हित के लिए यत्न करता है, अपनी सारी कमाई इसी कार्य के लिए अर्पित करता है, सुव्यवस्था के लिए परिवार के मुखिया के अनुशासन में रहता है। पहले यह कहा जा चुका है कि संयुक्त परिवार एक निरंकुश राजतन्त्र है, परिवार के सब सदस्यों को 'कर्त्ता' से दबकर रहना पड़ता है, किन्तु स्वतन्त्रता, समानता के नवीन भावों से अनुप्राणित, उच्छृंखल और विद्रोही युवक वृद्ध पुरुषों के दबैल बनकर क्यों रहें। 'सफेद बाल, सिकुड़ी खाल और पोपले मुंहवाले गृहपतियों और गृहपत्नियों के कठोर अनुशासन के दिन लद रहे हैं'[६८]। मध्ययुग में, धर्म और श्रद्धा के वातावरण में, पालन-पोषण पाने के कारण सास बहू इकट्ठी रहती थीं; आज ऐहिक (Secular) शिक्षा ग्रहण कर, समानाधिकार और स्वतंत्रता के विचारों से ओतप्रोत होकर, जब बहुएँ संयुक्त परिवार में जाती हैं, तो नूतन और पुरातन का घोर संघर्ष प्रारम्भ हो जाता है। इस से मुक्ति का उपाय पृथक् परिवार हैं। संयुक्त परिवार में रहने के लिए त्याग, तपस्या, बलिदान, आत्मानुशासन और परोपकार की भावनायें आवश्यक हैं; वर्तमान सुखवादी, भौतिक सभ्यता के वातावरण में प्रायः स्त्री पुरुषों में इन भावनाओं का ह्रास हो रहा है। इस परिस्थिति में संयुक्त परिवार का विघटन स्वाभाविक है।

**(ग) पश्चिमी कानून**--ब्रिटिश शासन की स्थापना के बाद भारत में अंग्रेजी अदालतें अपने निर्णयों द्वारा संयुक्त परिवार-पद्धति के विघटन में सहायक सिद्ध हुई हैं। विज्ञानेश्वर व जीमूतवाहन ने, हिन्दू परिवार को संयुक्त बनाये रखने के लिए, अनेक उपयोगी व्यवस्थायें की थीं। विज्ञानेश्वर ने स्वार्जित सम्पत्ति की अत्यन्त संकुचित व्याख्या करके, इस कारण से उत्पन्न होनेवाले विघटन को रोकने का यत्न किया। उसने पैतृक सम्पत्ति में पुत्रों का जन्म से स्वत्व माना। इसका परिणाम यह हुआ कि पिता को अपने पुत्रों से अनुमति लिये बिना पैतृक सम्पत्ति के अपहार (Alienation)—का कोई अधिकार न रहा। 'कर्ता' को भी इस अपहार का अधिकार नहीं था। जीमूतवाहन ने पैतृक सम्पत्ति पर पिता को पूर्ण अधिकार दिया;

---

**६८. सिनेमा देखनेवाले नवयुवक 'रोमांस' के स्वप्न लेते हैं। ये रोमांस संयुक्त परिवारों में संभव नहीं हैं (मद्रास की १९३१ की जनगणना रिपोर्ट, पृष्ठ ३४१)**

किन्तु उसके यथेच्छ विनियोग पर पाबन्दियाँ लगाई (१३वां अध्याय देखिये)। दोनों शास्त्रकारों की व्यवस्था का परिणाम यह हुआ, कि पैतृक सम्पत्ति का अपहार रुक गया। वह सम्पत्ति अविभक्त ही रहने लगी। ब्रिटिश युग तक यही स्थिति रही। इस युग में पैतृक ऋणों के सम्बन्ध में ब्रिटिश न्यायालयों ने, अंग्रेजी कानून के न्याय ( Equity ) के सिद्धान्त को, हिन्दू समाज पर लागू किया। पिता के ऋण-ग्रस्त होने पर, न्यायालयों द्वारा उपर्युक्त सिद्धांत के अनुसार, महाजन को ऋण वापिस दिलाये जाने की व्यवस्था आवश्यक थी। इस के लिए अदालतों ने प्रायः पिता को पैतृक संपत्ति के बँटवारे के लिए बाध्य किया जितने भाग से उसके ऋण का भुगतान हो सकता था, उतने भाग पर उधार देने वाले महाजन का अधिकार स्वीकार किया[६९]। यह स्पष्ट है कि इस अवस्था में वँटवारा किसी हिस्सेदार के कहने पर नहीं होता, किन्तु एक महाजन के ऋण को चुकाने के लिए होता है। वर्तमान समय में न्यायालय किसी भी ऋणी हिस्सेदार के अविभक्त भाग का महाजन को कर्जा चुकाने के लिए बटवारा करा सकते है[७०]। मद्रास और बम्बई के फैसलों के अनुसार अब इस व्यवस्था को एक निश्चित कानून समझना चाहिए कि संयुक्त परिवार का कोई भागीदार स्थावर तथा जंगम दोनों प्रकार की पैतृक सम्पत्ति में अपने अविभक्त हिस्से को बेच सकता है तथा रेहन रख सकता है[७१]। इसका परिणाम यह हुआ कि संयुक्त सम्पत्ति में हिस्सेदारों को सहस्वामित्व ( Co-ownership ) प्राप्त हो गया है।

संयुक्त परिवार एक निकाय या कारपोरेशन है, इसमें में कोई वैयक्तिक अधिकार नहीं होता। परिवार कारपोरेशनों की तरह सनातन और अविनश्वर होते हैं। परिवार की परिवार के रूप में कभी मृत्यु नहीं होती। उसके पुराने सदस्य मारते हैं और नये पैदा होते हैं किन्तु परिवार की सामूहिक सत्ता में कोई अन्तर नहीं आता। मिताक्षरा में सम्पत्ति परिवार की होती है। इस परिवार के सदस्य जन्म और मृत्यु से निरन्तर परिवर्तित होते रहते हैं। अतः मिताक्षरा व्यवस्था से शासित हिन्दू-परिवार सर हेनरी मैन के

---

६९. कृष्णकमल भट्टाचार्य—ज्वाइण्ट फैमिली इन हिन्दू ला पृ० ५५०-५१

७०. दीन दयाल बनाम जगदीश ३ कल० १९८ प्रि० कौ०

७१. बन्दास बनाम यमुना बाई १२ बं० हा० को० २२९

सुन्दर शब्दों में रक्त संबन्ध रखनेवाले व्यक्तियों का एक कारपोरेशन है[७२]। न्यायालयों के उपर्युक्त निर्णयों से संयुक्त परिवार की इस विशेषता का अन्त हो गया। श्री राधाकमल मुकर्जी ने ठीक ही लिखा है कि 'इस प्रकार संयुक्त परिवार एक बहुत महत्त्वपूर्ण विशेषता खो रहा है। संयुक्त कुटुम्ब वर्तमान समय में न्यायालयों द्वारा प्रोत्साहित की जानेवाली व्यष्टिवादी प्रवृत्तियों का शिकार बन रहा है[७३]। आयकर कानून ने संयुक्त परिवार के विघटन को बहुत प्रोत्साहित किया है।

**(घ) अन्य कारण**--श्री सरकार ने इस पद्धति के विघटन का एक बड़ा कारण अंग्रेजी शिक्षा व उससे उत्पन्न स्वार्थान्धता को माना है। "यह बात ध्यान देने योग्य है कि संयुक्त परिवार के व्यय से, शिक्षा पाने तथा संयुक्त परिवार का लाभ उठानेवाले, अंग्रेजी पढ़े-लिखे, हिन्दू युवक इतने स्वार्थान्ध हो जाते हैं, कि वे परिवार के प्रति अपने कर्त्तव्यों को पालन करानेवाले हिन्दू कानून से असन्तुष्ट रहते हैं। परिवार से प्राप्त अनेक लाभों के बदले, वे परिवार को कुछ नहीं देना चाहते। किसी पेशे, व्यवसाय या नौकरी के कारण, जब उन्हें किसी दूसरे स्थान पर रहना पड़ता है तो वे अपनी स्त्री और बच्चों को संयुक्त परिवार में रखते हैं; उस समय वे या तो अपने परिवार की देख-भाल में स्वयं असमर्थ रहते हैं, या इस बात को बहुत असुविधा-जनक समझते हैं, कि वे जिस शहर में काम करने हैं, वहाँ अपने परिवार को भी ले

---

७२. **राधाकमल मुकर्जी--प्रिंसिपल्ज़ आफ़ कम्पैरिटिव इकनामिक्स, पृ० २३-२४**

७३. **वही-वहीं पृ० २७; इसमें कोई सन्देह नहीं कि हिन्दू उत्तराधिकार और रिक्थहरण की पद्धतियों से संयुक्त परिवार की प्रथा टूट रही है। प्रत्येक पुत्र को जन्म ग्रहण करते ही पैतृक सम्पत्ति में अधिकार मिल जाता है; हमारे आर्थिक जीवन पर इसका बड़ा घातक प्रभाव पड़ता है। पारिवारिक भूसम्पत्ति बहुत छोटे-छोटे किन्तु आर्थिक दृष्टि से अनुपयोगी खण्डों में बट जाती है। भूमि से अतिरिक्त अन्य सम्पत्ति के सम्बन्ध में दादा भाई नौरोजी ने ठीक ही लिखा है, कि पारिवारिक पूंजी जब इस हालत में पहुँचती है, कि इसे आसानी से किसी कार्य में लगाया जा सके, तो वह बंट जाती है। इससे अंशहर निर्धन हो जाते हैं, अथवा उन्हें व्यवसाय में पूंजी लगाने के लिए आवश्यक धन नये सिरे से जुटाना पड़ता है।**

जायं। वास्तव में वे संयुक्त परिवार के बिना काम नहीं चला सकते; उन्हें इससे अपना सम्बन्ध विच्छिन्न करने की पूरी स्वतन्त्रता है; किन्तु वे ऐसा नहीं करते। संयुक्त परिवार का लाभ उठाते हुए भी वे अपनी आय को संयुक्त परिवार में डालना नहीं चाहते"[७४]। इसमें कोई सन्देह नहीं, शहरों में छोटी नौकरियां करने वाले कई बार मकान न मिलने पर, या बहुत मँहगा मकान मिलने पर, अपनी स्त्री और बच्चे कस्बे या देहात में बसे अपने संयुक्त परिवार में छोड़ते हैं। आर्थिक दृष्टि से उनके लिये यह व्यवस्था उपयोगी है। इस व्यवस्था का लाभ उठाते हुए उन्हें परिवार के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन करना चाहिए।

किन्तु उनकी स्वार्थान्धता को विघटन का एक मात्र कारण बताना उनके साथ अन्याय है। कई बार शिक्षित व्यक्तियों के संयुक्त परिवार से विघटन का कारण यह भी होता है, कि संयुक्त परिवार में रहते हुए, उन्हें आलसी और निठल्ले पड़े रहनेवाले, दूर के रिश्तेदारों को पालने के लिए बाध्य होना पड़ता है। वे अपने बूढ़े माता-पिता और भाई-बहिनों को पालने के लिए तैयार हैं; किन्तु जब उन्हें दिन भर मक्खी मारने वाले संबन्धियों को पालना पड़ता है, तो उनके धैर्य का बांध टूट जाता है। अपने धन को दुरुपयोग से बचाने का एक ही उपाय है, कि वे संयुक्त परिवार से अलग हो जांय[७५]।

**संयुक्त परिवार पद्धति की हानियां (क) अकर्मण्य व्यक्तियों की वृद्धि** — उपर्युक्त कारणों से हिन्दू समाज में संयुक्त कुटुम्बों का विघटन हो रहा है। वर्तमान समय में इस पद्धति से उत्पन्न होनेवाली हानियां भी इस प्रथा के भंग में सहायक हो रही हैं। संयुक्त परिवार की खूबियां अब खामियाँ बन रही हैं। इनसे देश के आर्थिक विकास में बड़ी बाधा पड़ रही है। संयुक्त परिवार की एक बड़ी खूबी यह थी, कि इस व्यवस्था में बेकार होने पर कोई भूखा नहीं रह सकता था। यूरोप में बेकारों को काम देने और आजीविका के अभाव में भूखे मरने से बचाने के लिए सार्वजनिक निर्धन गृहों (Poor Houses) की स्थापना की जाती है; हिन्दुस्तान के दरिद्र गृह संयुक्त परिवार हैं। इनमें परिवार के निर्धन व्यक्तियों का पालन-पोषण होता रहता है।

---

७४. गोलापचन्द्र सरकार—हिन्दू ला, पृ० २४२

७५. मद्रास की १९३१ ई० जनगणना रिपोर्ट, पृ० ३४१

प्राचीन काल में यह व्यवस्था भले ही समाज के लिए हितकर रही हो; परन्तु वर्तमान समय में इससे समाज में अकर्मण्य, परोपजीवी, आलसी और निठल्ले पुरुषों की ही वृद्धि होती है। संयुक्त परिवार में पलने वाले निठल्ले पुरुषों की जनगणना नहीं हुई; किन्तु यह निर्विवाद सत्य है, कि इस पद्धति ने हजारों अकर्मण्य व्यक्तियों का पोषण किया है। संयुक्त परिवार की व्यवस्था इस प्रकार की है, कि उसमें अकर्मण्यता को प्रोत्साहन मिलता है। श्रम करनेवाले को अपने परिश्रम के अनुरूप फल नहीं मिलता। चार सौ रुपया महीना कमानेवाला, दो सौ रुपया मासिक उपार्जन करने वाला और घर पर मक्खियाँ मारनेवाला—तीनों समान रूप से परिवार के संयुक्त द्रव्य से भरण-पोषण पाते हैं। यह ठीक है कि अधिक कमानेवाले को परिवार में ऊँची स्थिति मिलती है। उसकी पत्नी और बच्चों की ज्यादा कद्र होने लगती है; किन्तु बड़े-बड़े धनी कुटुम्बों में ऐसे व्यक्तियों की कमी नहीं; जो अपना सारा समय खाने-सोने और बच्चा पैदा करने में ही व्यतीत करते हैं; इस वर्ग के लोग शिक्षित समझदार और चतुर होने के कारण समाज-सुधार व्यापारिक विकास, औद्योगिक उन्नति, शिक्षा प्रसार आदि के कार्यों में बड़ा सहयोग प्रदान कर सकते हैं; उनके पास जनता की सेवा के लिए समय है ज्ञान है; धनी कुल में जन्म लेने से वे आर्थिक चिन्ताओं से मुक्त हैं; परिश्रम करके, वे समाज-सेवा के लिए अपने में क्षमता उत्पन्न कर सकते हैं; किन्तु उन्हें एक ही व्यवसाय से प्रेम है, और वह है देश में अपने जैसे निकम्मे स्त्री-पुरुषों की वृद्धि करना। न केवल वे निकम्मे होकर देश को नुकसान पहुँचाते हैं; अपितु अकर्मण्य सन्तान उत्पन्न करके वे देश को दुहरी क्षति पहुँचाते हैं[७६]।

यह आपत्ति उठायी जा सकती है, कि यदि संयुक्त परिवार का भंग होगा तो हिन्दू-समाज के बहुत से लोग भूखे मरने लगेंगे, उनके लिए दरिद्र गृहों की स्थापना करनी पड़ेगी। यह एक बड़ी गलतफहमी है। जो काम नहीं करता, उसे भूखा मरना ही चाहिए। जो काम करना चाहता है; उसे कभी भूखा मरने का डर ही नहीं। यदि हमें दरिद्र गृहों की स्थापना करनी ही पड़े; तो भी वे वर्तमान संयुक्त परिवार से लाख दर्जे बेहतर होंगे। ईस समय संयुक्त परिवार में दिया जानेवाला दान, इसे देनेवाले और लेनेवाले, दोनों को

---

७६. भटनागर—बेसेज आफ इकनामिक्स पृ० ९३

हानि पहुँचा रहा है। देनेवाला उसे लाचारी में और बुड़बुड़ाते हुए देता है; और लेनेवाला उससे आलसी बनता है। समाज इनकी कार्य-शक्ति के उपयोग से वंचित हो जाता है। काटन ने संयुक्त परिवार के इस पहलू की विवेचना करते हुए कहा है—'मैं समझता हूँ, कि आपका यह अनुमान गलत है, कि यदि परिवार के व्यय से पलनेवाले निठल्ले पुरुषों को पारिवारिक सहायता से वंचित कर दिया जाय, तो ये भिखारी बन जायेंगे और समाज को इनका बोझ उठाना पड़ेगा। योरोप के भिखारीपन और भारत की गरीबी की समस्याओं में कोई सादृश्य नहीं है। अकाल आदि आपत्तियों के न होने पर सामान्य समय में भारत का भिखारी इंग्लैण्ड के भिखारी जैसा नहीं है। वहां ऋतुओं और प्रकृति की निष्ठुरता के कारण जीवन के लिए आवश्यक द्रव्यों की संख्या अधिक है; उन्हें प्राप्त करना अधिक व्यय साध्य है। भारत में ऐसी परिस्थिति नहीं है। यदि संयुक्त परिवार भंग हो जाय तो मुझे देश में भिखारियों के बढ़ने का कोई भय नहीं है। मुसलमानों में ऐसी कोई पद्धति नहीं है; किन्तु उनमें इस तरह का भिखारीपन नहीं है। ये निठल्ले तो पहले से भिखारी हैं, इनके भिखारी बनने का कोई डर नहीं है। इन्हें काम करने के लिए बाधित किया जाना चाहिए, संयुक्त परिवार के होने से उन्हें काम करने की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती[७७]। काटन के इन वाक्यों में बड़ी सचाई है कि संयुक्त परिवार दरिद्रों की समस्या हल करने के स्थान पर अकर्मण्य तथा परोपजीवी पुरुषोंकी वृद्धि कर रहा है।

(ख) **व्यक्तित्व के विकास में बाधक होना**—संयुक्त परिवार में व्यक्तित्व के विकास के लिए कोई मौका नहीं मिलता। प्राय: बचपन से परतन्त्र और परोपजीवी रहने से, परिवार के सदस्यों में अपने पैरों पर खड़े होने की हिम्मत नहीं होती। संयुक्त परिवार की प्रशंसा में यह कहा जाता है, कि इस पद्धति में उच्चतम कोटि का मानसिक विकास होता है; इसमें रहता हुआ मनुष्य आत्मसंयम, सहानुभूति, धैर्य, कष्टसहन, आत्म-त्याग और बलिदान का पाठ पढ़ता है[७८]। इसमें सन्देह नहीं कि वह इन उदात्त शिक्षाओं को ग्रहण करता है; किन्तु स्वावलम्बन का सब से बड़ा पाठ पढ़ने का परिवार में कोई स्थान नहीं। वह

---

७७. इण्डियन सोशल रिफार्म, पृ० १३६

७८. सरकार—हिन्दू ला, पृ० २४२

अपनी आत्मा का विकास और वैयक्तिक योग्यताओं की भी वृद्धि नहीं कर सकता। एक निरंकुश सत्ता के नीचे रहते हुए उसका विकास कैसे संभव हो सकता है ? जातिभेद ने नीच कुल में उत्पन्न व्यक्तियों की योग्यताओं को बुरी तरह कुचला है। एक लेखक के मत में "यह जगन्नाथ विशाल रथ है, असीम वैयक्तिक प्रतिभा इस रथ के भारी चक्रों से चूर्णित हुई है, संयुक्त परिवार इसी रथ का लघु रूप है, 'कर्त्ता' के अनुकूल या वश में न रहनेवाले व्यक्तियों का विकास इस रथ के पहियों के नीचे कुचला गया है। उनकी योग्यताओं को पददलित किया गया, उनमें विकास पानेवाली महत्त्वाकांक्षाओं पर तुषारपात किया गया, उनकी आशाओं और अभिलाषाओं का मर्दन किया गया; क्योंकि संयुक्त परिवार का सदस्य होने के कारण उनपर अनेक महान् उत्तरदायित्व थे, उन को निबाहते हुए, वे अपने विश्वासों और आकांक्षाओं के अनुकूल आचरण नहीं कर सकते थे; यदि यह सामाजिक पद्धति न होती, तो देश में लोकोपकारी कार्यकर्त्ता, समाजसुधारक और देशभक्त बहुत अधिक होते"[७९]। संयुक्त परिवार में मुखिया और बड़े पुरुषों को तो परिवार का भार सम्हालने से ही फुर्सत नहीं, जिससे कि वे समाज की समस्याओं की ओर ध्यान दे सकें; छोटे व्यक्तियों को इतने कठोर अनुशासन में रहना पड़ता है कि उनकी योग्यताओं का विकास संभव नहीं होता। वैयक्तिक स्वाधीनता सामाजिक प्रगति का एक महत्त्वपूर्ण उपादान है; संयुक्त परिवार में इसका कोई स्थान नहीं है।

**(ग) स्त्रियों की दुर्दशा**--संयुक्त परिवार में स्त्रियों का कई कारणों से अधःपतन हुआ है। दुर्भाग्यवश हिन्दू-समाज में स्त्रियों का प्रधान कार्य था पाक; और पुरुषों का काम था--परिपाक। एक गुजराती कहावत का आशय है--पुरुष का जीवन, खाट से उठकर भोजन की चौकी पर बैठने, और भोजन की चौकी से उठकर खाट पर लेटने में व्यतीत होता है ( खाटला थी पाटला; पाटला थी खाटला)। बड़े संयुक्त परिवार में जब दर्जनों व्यक्तियों के लिए रसोई बनती है, और हर एक अलग-अलग समय पर तवे से उतरती रोटी खाना चाहता है तो स्त्रियों को इस कार्य से कैसे फुर्सत मिल सकती है ? अतः अपने बौद्धिक और मानसिक विकास के लिए उनके पास कोई समय नहीं बचता। संयुक्त परिवार में दाम्पत्य प्रेम के

---

७९. इंडियन सोशल रिफार्म, पृ० १३३

विकास का कम अवसर है। पति-पत्नी, इतनी कृत्रिम और अस्वाभाविक परिस्थितियों में मिलते हैं, कि उनमें प्रेम का विकास तो दूर की बात है; मामूली परिचय भी कम होता है[८०]। संयुक्त परिवारों में पहले ऐसे दम्पति भी होते थे, जो कई सन्तान होने के बाद भी एक दूसरे को नहीं पहचानते थे।

आज-कल शिक्षित स्त्रियाँ पुरुषों को अपनी परतन्त्रता और उत्पीड़न का प्रधान कारण समझती हैं; किन्तु संयुक्त कुटुम्ब ने हिन्दू परिवार में स्त्रियों का जितना उत्पीड़न किया है, वैसा भयंकर अत्याचार शायद ही पुरुषों ने स्त्रियों पर किया हो। स्त्रियों को पतियों ने इतना नहीं सताया; जितना उनकी सजातीय सासों ने। एक आधुनिक युवती की इस उक्ति में बहुत सत्य है, कि संयुक्त परिवार की प्रथा सास के अत्याचार का मूल कारण है; इसीलिए यह अनेक तरुणियों के दुःख का हेतु होती है[८१]। एक दूसरी युवती ने इस पहलू पर प्रकाश डालते हुए लिखा है "मैं संयुक्त परिवार से घृणा करती हूँ, इसमें स्त्री अपना व्यक्तित्व बिल्कुल खो देती है, पुत्र वधुओं की कोई बात नहीं सुनी जाती, अपने बच्चों के पालन में भी उनका कोई बस नहीं चलता, अनेक अवस्थाओं में वे यन्त्रवत् कार्य करने वाली परिवार की दासियां मात्र हैं[८२]। एक अन्य युवती का मत है—संयुक्त परिवार में निभाव करने के लिए अत्यधिक शान्त प्रकृति की आवश्यकता है, स्त्री को इसमें सब से अधिक दुःख सहना पड़ता है, दुर्भाग्य से यदि उसका पति नहीं कमाता, तो उसकी अवस्था बहुत दयनीय हो जाती है। उस समय उसके साथ दासी का-सा व्यवहार किया जाता है, उसे किसी बात की स्वतन्त्रता नहीं होती। उसका जीवन अविरत सेवा का एक दीर्घ काल होता है[८३], उसके दुःखों का अन्त एक पृथक् परिवार में ही हो सकता है।

(च) **कलहों का केन्द्र**—श्री सरकार ने लिखा है, कि संयुक्त परिवार में पले हिन्दू ऐसे स्वर्ग की कल्पना नहीं कर सकते, जहाँ संयुक्त कुटुम्ब न हो[८४]।

८०. राजेन्द्रप्रसाद—आत्मकथा पृ०

८१. मर्चेण्ट—के० टी०—चेंजिग व्यूज आन मैरिज एण्ड फैमिली (बी० जी० पाल एण्ड कं० मद्रास १९३५ ) पृ० १४७

८२. वही—वही, पृष्ठ १४६

८३. वही—वही पृष्ठ १४६-४७

८४. सरकार—हिन्दू ला, पृ० २४२

यह उक्ति उन सम्मिलित परिवारों के लिए अक्षरशः सत्य है, जिनमें कोई कलह नहीं होता; किन्तु जिनमें झगड़े होते हैं, उनके लिए यह कहना अधिक सत्य है कि ऐसे सम्मिलित परिवार में पले हिन्दू ऐसे नरक की कल्पना नहीं कर सकते, जहां संयुक्त परिवार न हो। सम्मिलित कुटुम्ब में पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष से अनेक प्रकार के झगड़े होते हैं। इन दैनिक विवादों और कलहों से संयुक्त परिवार का जीवन बड़ा दुःखमय और नारकीय बन जाता है। श्री घोष ने एक बंगाली संयुक्त परिवार का चित्र खींचते हुए लिखा है—'अधिकतम अवस्थाओं में एक बंगाली का सुखमय गृह (Sweet Home) अनन्त विह्वलताओं और क्लेशों का स्रोत होता है। जिन दीवारों में संयुक्त परिवार के बुद्धिमान् और प्रतिभा शाली व्यक्तियों को रहना पड़ता है, यदि उनसे प्रश्न किया जाय तो वे बड़ी करुण कथा कहेंगी। उन दीवारों ने कितने ही प्राणियों के अजस्र अश्रु-प्रवाह देखे हैं, कितनों की दुःख व निराशा भरी ठंडी आहों को सुना है; वे दीवारें विफल हुए, फिर शुरू किये गये और पुनः विफल हुए अनेक संघर्षों की साक्षी हैं। वीर आत्मायें किसी के आगे घुटने नहीं टेकना चाहतीं; उन दीवारों ने उन्हें अनिच्छा से घुटने टेकते देखा है। हिन्दू परिवार ने उनके हृदय में धधकनेवाली ज्वाला के अनेक स्फुलिंगों को दबा डाला है, अनेक उच्च योजनाओं को कब्र में दफना दिया है। कई बार झगड़े का कारण प्रतिष्ठासम्बन्धी छोटी-सी बात होती है, कई बार धन के हेतु और आज्ञापालन व सत्ता के प्रश्न का झगड़ा उठ खड़ा होता है। इसमें शक नहीं कि कई बार खुल्लमखुल्ला लड़ाई बन्द हो जाती है; किन्तु परिवार की यह शान्त दशा सशस्त्र तटस्थता की तरह होती है। परिवार में शान्ति उन्हीं अवस्थाओं में होती है, जब सब लोग लड़ते-लड़ते थक गये हों, या अगले मोर्चे की तैयारी कर रहे हों, या शत्रु को बलवान् समझकर चुप हों तथा अनुकूल अवसर ढूंढ़ रहे हो"[८५]। अन्य प्रान्तों के मध्य वर्ग के शिक्षित, शहरी तथा पश्चिमी रंग-ढंग से प्रभावित संयुक्त परिवारों के सम्बन्ध में बंगाली परिवार का उपर्युक्त वर्णन सोलह आना सही है। इस दुनिया में यदि किसी को नरक का दर्शन करना हो, तो वह एक झगड़ालू संयुक्त परिवार को देख ले। इसका यह आशय नहीं है कि सभी संयुक्त परिवार भीषण कलहों के केन्द्र बने हुए हैं। तात्पर्य केवल इतना ही

---

८५. एन० घोष—कृष्टो दासपाल, पृ० १४६-४७

है कि संयुक्त परिवारों में पृथक् परिवारों की अपेक्षा झगड़े बहुत अधिक होते हैं। परिवार के सदस्यों का बहुत-सा उपयोगी समय और शक्ति इन के करने या सुलझाने में नष्ट होती है। घरेलू कलहों का एक बड़ा दुष्परिणाम मुकद्दमेबाजी की वृद्धि है। इससे पारिवारिक सम्पत्ति चौपट हो जाती है; रिश्तेदारों के प्रेम-सम्बन्ध बिल्कुल नष्ट हो जाते हैं।

(ङ) **अन्धाधुन्ध सन्तानोत्पादन**--संयुक्त परिवार से हमारे समाज की एक बड़ी हानि अन्धाधुन्ध सन्तानोत्पादन की है। संयुक्त परिवार के सदस्य को स्वावलम्बी और आत्म-निर्भर होने की आवश्यकता नहीं होती। विवाह के बाद, भले ही वह परिवार की आर्थिक सम्पत्ति में वृद्धि न करे; किन्तु प्राणियों की संख्या में अवश्य वृद्धि करता है। पृथक्-परिवार में, अपनी सीमित आय से निर्वाह करनेवाला दम्पति इस बात का पूरा यत्न करता है, कि उसके परिवार में उतनी ही सन्तानें हों, जिनका वह भली भांति पालन कर सके। संयुक्त परिवार में इस प्रकार की दूरदर्शिता की कोई आवश्यकता नहीं; देहाती हिन्दू-परिवारों में कुछ अन्य कारणों से भी इस कार्य को प्रोत्साहन मिलता है। धार्मिक दृष्टि से पुत्र का होना आवश्यक है, पुत्र नहीं होगा तो पितर भूखे मरेंगे[८६]।

आर्थिक दृष्टि से संयुक्त परिवार का एक यह भी दुष्परिणाम है, कि इससे सम्पत्ति क शनैः-शनैः ह्रास हो जाता है। कई बार संयुक्त परिवार की जमीनों तथा जायदादों में सुधार करने के लिए पूंजी लगाने की आवश्यकता होती है। यह तब तक नहीं लगाई जा सकती, जब तक परिवार के सब सदस्यों की सहमति न मिल जाय। प्रायः यह सहमति नहीं मिलती और परिवार की जायदाद नष्ट होती रहती है।

**संयुक्त परिवार के लाभ**--संयुक्त परिवार की प्रथा से हिन्दू-समाज में अकर्मण्यता की वृद्धि हुई है, व्यक्ति का विकास अवरुद्ध हुआ है, स्त्रियों की घोर दुर्दशा हुई है, पारस्परिक कलह और मुकद्दमेबाजी को खूब प्रोत्साहन मिला है, हमारे देश की निर्धनता बढ़ी है। इन दुर्गुणों के कारण यह प्रथा हिन्दू-समाज के लिए हानिकारक सिद्ध हुई है। किन्तु इन खामियों के होते हुए भी, इसकी खूबियों की ओर से आँख

---

८६. राधाकमल मुकर्जी फौन्डेशन आफ इंडियन इकनामिक्स, पृ० १६-१७

मूंद लेना अच्छा नहीं। बचपन में यह एक शिक्षणालय है, इसमें लड़के उदारता, सहिष्णुता सेवा, दूसरों के साथ मिलकर रहने और काम करने का पाठ पढ़ते हैं, उनमें संकुचित स्वार्थ की भावना उत्पन्न नहीं होती। युवावस्था में यह युवकों के आचरण पर दृष्टि रखता है, उन्हें मार्गभ्रष्ट होने से बचाता है, आत्मसंयम और नियन्त्रण का पाठ पढ़ाता है, स्वार्थ-बुद्धि के स्थान पर परोपकार की भावना से कार्य करना सिखाता है। वृद्धावस्था में यह शान्ति-दायक विश्राम स्थल है। आर्थिक दृष्टि से भी यह उपयोगी है; थोड़ी आयवाला व्यक्ति संयुक्त परिवार में बड़ी अच्छी तरह गुजारा कर सकता है। इसमें वृद्ध पुरुषों के अनुभव से लाभ उठाने का मौका मिलता है। विधवाओं का यह एकमात्र शरणस्थल है। वृद्धावस्था तथा अन्य संकटों के लिए यह बीमा जैसी उपयोगी संस्था है। बीमारी व प्रसव आदि में संयुक्त परिवार से बड़ी सहायता मिलती है। बेकारी और भुखमरी को रोकने के लिए यह एक अत्यन्त प्रभावजनक सामाजिक व्यवस्था है।

संयुक्त परिवार की इन विशेषताओं पर बल देते हुए अनेक विद्वानों ने इस प्रथा की बहुत प्रशंसा की है, इसे जीवित रखने पर बल दिया है, इसका विघटन करनेवाली आधुनिक परिस्थितियों की तीव्र निन्दा की है। वे इस प्रथा को हिन्दू-समाज के लिए वाञ्छनीय समझते हैं। श्री सरकार ने लिखा है--'हिन्दू समाज की प्राण शक्ति का मूल यही पद्धति है। यह हिन्दुओं के धार्मिक और आध्यात्मिक चरित्र का आधार है। हिन्दू चरित्र की सभी उदात्त और उत्तम विशेषतायें इसी व्यवस्था का परिणाम हैं। हिन्दुओं को इस प्रथा का संरक्षण करना चाहिए। उन्हें इस पद्धति के साथ चिपटे रहना चाहिए'[८७]। दूसरी ओर ऐसे उग्र सुधारकों की भी कमी नहीं है, जो इस निर्वीर्य पद्धति के संरक्षण के लिए अपनी शक्ति का अणुमात्र भी नष्ट करना नहीं चाहते[८८], इसे सब बुराइयों की जड़ समझते हैं, इसका अविलम्ब नाश हिन्दू-समाज के लिए हितकर मानते हैं, इसकी हानि का स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं--प्रायः इसका अध्यक्ष अपने बच्चों के प्रति पक्षपाती होता है। उन्हें ऊँची शिक्षा देता है; किन्तु दूसरे बच्चों का भविष्य बरबाद कर देता है। इससे पारिवारिक झगड़े होते हैं। यह पद्धति अकर्मण्यों की वृद्धि करती है।

---

८७. सरकार--हिन्दू ला, पृ० २४३

८८. भटनागर--दी बेसेज आफ इण्डियन सोशल इकनामिक्स, पृष्ठ ९४

वर्तमान युग समानता, स्वतन्त्रता और भ्रातृत्व का युग है। इसमें एक व्यक्ति की निरंकुश सत्ता नहीं चल सकती। किसी ज़माने में इसने खर्च घटाये होंगे; आज यह कटुता बढ़ा रही है।

**संयुक्त परिवार का भविष्य**--इन दोनों विरोधी दृष्टिकोणों में से कौनसा सत्य है ? कोई व्यवस्था प्राचीन होने से मान्य नहीं होती; और नवीन होने से तिरस्करणीय भी नहीं होती। सभी सामाजिक संस्थायें ऐतिहासिक परिस्थितियों का परिणाम हैं। जब तक अनुकूल परिस्थितियां रहती हैं, उनका विकास और वृद्धि होती है; इनका अन्त होने पर इनका स्वयमेव उच्छेद हो जाता है। हिन्दू-समाज में संयुक्त परिवार के उत्पादक कारणों पर प्रकाश डाला जा चुका है, और यह भी बताया जा चुका है कि वर्तमान युग में उनका किस प्रकार अन्त हो रहा है। उपर्युक्त समीक्षा से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि शहरों में तथा हिन्दू-समाज के शिक्षित उच्च व मध्यवर्ग में संयुक्त परिवार-प्रथा नष्ट हो रही है। भविष्य में उद्योगीकरण की वृद्धि के साथ उसका विघटन और भी तेज़ी से होगा; किन्तु देहातों में अभी तक इस प्रथा की उपयोगिता बनी हुई है। जब तक भारतीय कृषि और ग्रामीण उद्योगों में मौलिक एवं क्रान्तिकारी परिवर्तन नहीं होते; तब तक उनमें संयुक्त परिवार-प्रथा लड़खड़ाते हुए किसी प्रकार अपना अस्तित्व कायम रखेगी।

शहरों में और शिक्षित समाज में इस प्रथा के लुप्त होने के कारण बिल्कुल स्पष्ट हैं, उन पर पहले विस्तार से प्रकाश डाला जा चुका है। शिक्षित जनता में समानता, स्वतन्त्रता और व्यष्टिवाद की भावनायें हैं, ये संयुक्त परिवार की व्यवस्था पर कुठाराघात करनेवाली हैं। शहरों में आर्थिक संघर्ष की उग्रता, रहन-सहन के मानदण्ड की उच्चता, इस व्यवस्था में बड़ी बाधक है। इन परिस्थितियों के होते हुए भी यह संभव है, कि पुरुष संयुक्त परिवार-प्रथा को किसी प्रकार निभा ले जांय; किन्तु स्त्रियों से यह आशा नहीं रखी जा सकती। समानाधिकारों के भावों से अनुप्राणित युवतियाँ सास की दासता में रहने की अपेक्षा, पृथक् परिवार बनाकर रहना अधिक अच्छा समझती हैं। इस सम्बन्ध में श्री मर्चेण्ट ने बड़ा उपयोगी अनुसन्धान किया है। उन्होंने हिन्दू-विवाह और परिवार के सम्बन्ध में युवकों और युवतियों से अनेक प्रश्न पूछे थे। इनमें एक प्रश्न संयुक्त-परिवार के सम्बन्ध में था। युवकों में ४०.९%ने संयुक्त-परिवार के पक्ष में राय दी और ४३.५% ने विरोध में। **युवतियों में**

केवल १३·८ ने इस प्रथा का समर्थन किया और ७५% ने घोर विरोध[८९]। पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों का अधिक संख्या में इसका विरोधी होना सामाजिक दृष्टि से बड़ा महत्त्वपूर्ण है[९०]। इससे यह सूचित होता है, कि भविष्य में इन शिक्षित स्त्रियों के पतियों को बाधित होकर सम्मिलित कुटुम्ब-प्रथा का परित्याग करना पड़ेगा। संयुक्त परिवार के विरुद्ध विचार रखनेवाली स्त्रियाँ जब विवाहित होंगी, तो वे पृथक् परिवार बनाने पर बल देंगी, संयुक्त परिवार में

---

८९. मर्चैण्ट--चैंजिग व्यूज आन मैरिज एण्ड फैमिली, पृ० १२२-२७।

९०. स्त्रियां पुराने ज़माने से भाइयों में अलगाव कराती आईं हैं। लक्ष्मण ने पंचवटी में सीता के कटुवचनों का उत्तर देते हुए कहा है--स्त्रियां भाइयों में फूट डालनेवाली होती हैं--विमुक्तधर्माश्चपलास्तीक्ष्णा भेदकराः स्त्रियः (रामा० ३।४५।२८)। वर्तमान समय में पाठक अपने चारों ओर के परिवारों में ऐसे उदाहरणों को आसानी से ढूंढ़ लेगा। आधुनिक हिन्दू-समाज को चित्रित करनेवाले कथा-साहित्य से भी स्त्रियों की प्रेरणा से बंटवारे के अनेक दृष्टान्त दिये जा सकते हैं। शरच्चन्द्र की निष्कृति ( शरत्साहित्य खण्ड, १ ) में मँझली बहू नयन तारा के कारण छोटी बहू को अलग हो जाना पड़ता है। प्रेमचन्द्र के अलग्योझा ( मानसरोवर. पहला भाग) में नई बहू पन्ना चूल्हा अलग करवाती है। स्त्रियों के बंटवारा कराने तथा फूट डालने के कारणों पर पहले प्रकाश डाला जा चुका है, स्त्रियां यह नहीं चाहतीं कि उनके पति की कमाई का कोई दूसरा उपभोग करे। आर्थिक दृष्टि से पुरुष पर अवलम्बित होने के कारण उसकी यह आकांक्षा होना स्वाभाविक ही है। प्रेमचन्द्र की उपर्युक्त कहानी में इसका बड़ा सरस वर्णन है। "मुलिया मैके से जली-भुनी आई थी। मेरा शौहर छाती फाड़कर काम करे और पन्ना रानी बनी बैठी रहें। उसके लड़के रईसजादे बने घूमें। मुलिया से यह बर्दाश्त नहीं होगा। वह किसी की गुलामी नहीं करेगी। अपने लड़के तो अपने होते नहीं; भाई किसके होते हैं। जब तक पर नहीं निकले, घेरे हुए हैं, ज्योंही सयाने हुए तो पर झाड़कर निकल जायेंगे, बात भी नहीं पूछेंगे"। स्त्रियों के झगड़े और बँटवारे का कारण बच्चे भी हुआ करते हैं। 'दो भाई' (प्रेम पूर्णिमा) में, आपस में घनिष्ठ प्रेम रखनेवाले दो सगे भाई केदार और माधव में, विवाह होने पर मनमुटाव होता है। दुर्भाग्यवश केदार निःसन्तान है, माधव की कई सन्तानें हैं; इससे यह नौबत आई कि दोनों के चूल्हे अलग हो गये।

रहने से इंकार करेंगी। ये स्त्रियां संयुक्त परिवार का सब से बड़ा दोष यह समझती हैं कि इनमें स्त्रियों को सास आदि के अत्याचारों से बुरी तरह पीड़ित होना पड़ता है, अपने व्यक्तित्व को कुचलकर, चेरी बनकर सेवा करनी पड़ती है। बम्बई की एक शिक्षित स्त्री के मत में संयुक्त कुटुम्ब एक अभिशाप है, व्यक्ति के विकास में यह महत्तम बाधा है, स्त्रियों की समानता और स्वतन्त्रता का यह घोरतम शत्रु है, पितृसत्तात्मक प्रणाली का एक निरर्थक अवशेष है[९१]। ऊपर इन विचारों का विस्तार से उल्लेख हो चुका है। स्त्रियों के इन विचारों के कारण शिक्षित वर्ग में और विशेषकर ऐसे घरों में, जहाँ पत्नियाँ पढ़ी-लिखी हैं; संयुक्त परिवार का भंग आवश्यक समझना चाहिए।

देहातों में संयुक्त परिवार-प्रथा को विघटित करनेवाले आर्थिक परिवर्तन कम हुए हैं। वहां अभी तक कृषि का प्राधान्य है। गाँवों में अकेले आदमियों को कृषि करने में बड़ी कठिनाई होती है। संयुक्त परिवार में लड़ाई-झगड़ा होने पर भी किसानी का काम सरल हो जाता है। एक साथ रहनेवाले चार भाई, अलग रहनेवालों से अधिक समृद्ध होते हैं। राधाकमल मुकर्जी ने वर्तमान ग्रामीण जगत् के आर्थिक दृष्टि से सहयोगी होने का बड़े विस्तार से वर्णन किया है[९२]।

प्रेमचन्द्र ने 'अलग्योझा' में संयुक्त परिवार के आर्थिक महत्त्व का एक यथार्थ चित्र उपस्थित किया है। देहातों में अभी तक वे सब परिस्थितियां अनेक अंशों में बनी हुई हैं, जिन परिस्थितियों ने मध्ययुग में हिन्दू-समाज में संयुक्त परिवार को कायम रखा था। जब तक ये परिस्थितियाँ रहेंगी; संयुक्त परिवार की पद्धति बनी रहेगी।

हम चाहें, या न चाहें; संयुक्त परिवार का विघटन हो रहा है। पृथक् परिवारों की संख्या बढ़ रही है; किन्तु क्या संयुक्त परिवार का पूर्णरूप से लोप हो जायेगा? क्या हिन्दू-समाज में इसका प्रभाव बिल्कुल क्षीण हो जायेगा? ऐसा प्रतीत होता है, कि संयुक्त परिवार का विघटन होने पर भी कई दृष्टियों से, यह प्रथा हिन्दू समाज को काफी समय तक प्रभावित करती रहेगी। बंगाल में, शिक्षित वर्ग में संयुक्त परिवार का विघटन होने पर भी, भाई अपने वृद्ध माता-पिता और मूल परिवार की आर्थिक सहायता करते हैं, त्यौहारों

---

९१. मर्चेण्ट--पूर्व निर्दिष्ट पुस्तक, पृष्ठ १४६

९२. राधाकमल मुकर्जी--फौण्डेशन आफ इकनामिक्स, पृ० २९-३२

पर तथा अन्य सामाजिक उत्सवों पर इकट्ठे होते हैं; घर में न रहते हुए भी अपने परिवार की अखण्डता को कायम रखने का यत्न करते हैं[९३]। मद्रास में भी यही स्थिति है। यीट्स ने लिखा है, निराशावादी यह कह सकते हैं, कि संयुक्त परिवार-पद्धति क्षीण हो गई है; इसमें सन्देह है कि यह पद्धति निराशावादियों की कल्पनानुसार दुर्बल हुई है[९४]। कई बार हम पश्चिमी रंग में रंगे हुए व्यक्तियों के ऊपरी परिवर्तन से भ्रान्त परिणाम निकाल बैठते हैं, यह आवश्यक नहीं कि जिसने धोती को छोड़ा है, वह हिन्दू रीति-नीति को भी छोड़ बैठा हो, प्रायः वस्तु-स्थिति उल्टी होती है[९५]। यह परिवर्तन केवल कपड़ों, बाहरी वेष-भूषा और रहन-सहन तक ही सीमित रहता है। जब घर के महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठते हैं तो उनका निर्णय प्राचीन प्रथाओं के अनुसार होता है। पश्चिमी शिक्षा का पिछले सौ वर्षों का प्रभाव हिन्दू धर्म में

---

९३. आसाम की १९३१ की जनगणना रिपोर्ट (पृ० ३०) में संयुक्त परिवार के तेजी से टूटने पर बड़ा सन्देह प्रकट किया है। आसाम में विघटन की प्रक्रिया बड़ी मन्द है। बंगाल की १९३१ की जनगणना रिपोर्ट, पृ० ४०१

९४. मद्रास की जन-गणना रिपोर्ट, पृ० ३४१

९५. इसका एक बड़ा कारण स्त्रियों का रूढ़ि प्रेम है। पुरुष भले ही क्रान्तिकारी विचारों को अपनायें; स्त्रियां प्रायः प्राचीन परम्पराओं को अक्षुण्ण रखती हैं। आज से सैकड़ों वर्ष पूर्व आपस्तम्ब ने अपने धर्मसूत्र की समाप्ति पर लिखा था, कि यदि (इस ग्रन्थ में बतलाये धर्मों के अतिरिक्त) किसी धर्म में सन्देह हो, तो स्त्रियों से पूछकर निर्णय कर लेना चाहिए। (स्त्रीभ्यः वर्णेभ्यश्च धर्मशेषान्प्रतीयादित्येके इत्येके २।११।२९।१५)। बूढ़ी औरतें हमेशा समाज को पुरानी लीक पर चलाने का यत्न करती हैं। मद्रास की जन-गणना रिपोर्ट में तंजोर के एक व्यक्ति ने यह ठीक ही लिखा है--स्त्रियां प्राचीन प्रथा की कभी न समझौता करनेवाली संरक्षिका (Unbending Custodians) हैं। वर्तमान हिन्दू-समाज में जब तक यह स्थिति जारी रहती है; तब तक ऊपर से भले ही कितने परिवर्तन हों, किन्तु हिन्दूसमाज में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं हो सकता (मद्रास की जनगणना रिपोर्ट, १९३१, पृ० ३४२)। किन्तु स्त्रीशिक्षा के प्रसार से इन परिवर्तनों की संभावना बहुत बढ़ रही है।

जाति-भेद का पूर्ण उच्छेद नहीं कर सका, विवाह के समय जातपात के बन्धन का काफी ध्यान रखा जाता है। जब तक हिन्दू-समाज में विवाह के समय जाति के नियम का पालन किया जाता है, उस समय तक, संयुक्त परिवार का विघटन होने पर भी, इसका पर्याप्त प्रभाव बना रहेगा। बंगाल की तरह शेष भारत में, परिवार के सदस्यों के अलग-अलग होने पर भी, उनमें पारिवारिक अखण्डता की भावना बनी रहेगी।

संयुक्त परिवार के विशाल प्रासाद के विघटन के सम्बन्ध में, हमें एक बात का अवश्य ध्यान रखना चाहिए। काल के आघात से उसकी नींवें कमज़ोर हो गई हैं, खम्भे टूट रहे हैं, छत गिरने की तैयारी है। उसकी नये सिरे से मरम्मत असम्भव है। नई इमारतों का बनना अनिवार्य है। किन्तु इन्हें बनाते समय, प्राचीन प्रासाद की ईंट, मिट्टी, चूने का उपयोग अवश्य होना चाहिए। पुराने संयुक्त परिवार की विशेषताओं और गुणों को, हमें नये कुटुम्ब में कायम रखना चाहिए। परिवार में निठल्लों को पालना घोर अपराध है; किन्तु इन्हें परिवार से निकालते समय हम इतने व्यष्टिवादी और स्वार्थपरायण न बन जांय कि अलग घर बनाने पर, अपने मरते भाई की भी मदद न करें। पश्चिम का व्यष्टिवाद, गला घोंटनेवाली प्रतिद्वन्द्विता में आस्था रखता है; संयुक्त हिन्दू परिवार समष्टि के कल्याण को अपना परम ध्येय मानता है। पहले में व्यक्ति की सफलता घोर स्वार्थी होने में है; और दूसरे का आदर्श परम परोपकारी होने में है। एक में व्यक्तित्व का उद्दाम विकास है, दूसरे में इसका प्रबल अवरोध है, हमें इन दोनों अतियों में सामंजस्य स्थापित करने का यत्न करना चाहिए। सहयोग के पुराने गारे से प्रतिद्वन्द्विता की नई ईंटों को जोड़ना चाहिए। सहानुभूति, सहृदयता और आत्मत्याग के भावों से पृथक् परिवार के नये भवन का निर्माण करना उचित है। सम्बन्धियों को सारा धन लुटा देने की उदारता या परोपकार नहीं होना चाहिए; किन्तु आवश्यकता पड़ने पर उनकी सहायता न करने की निष्ठुरता भी उचित नहीं है। दधीचि के अस्थिदान का त्याग न हो; परन्तु शाइलाक की मांस कटवाने की क्रूरता भी अभीष्ट नहीं है। इन दोनों अतियों से बचते हुए मध्य मार्ग का अवलम्बन व्यष्टि एवं समष्टि दोनों के लिए हितकर है।

----

# तीसरा अध्याय

## पति

पति की प्रभुता के विकास की तीन अवस्थायें—सखा युग—अर्धांश-कल्पना—गुरु युग—देवता युग—पति की प्रभुता के सामान्य कारण—विशेष कारण-देवता युग की समाप्ति—पति की प्रभुता का स्वरूप—वध का अधिकार—यथेच्छ विनियोग का अधिकार—मदयन्ती का दान—द्रौपदी को दांव पर रखना—पत्नी दान पर प्रतिबन्ध—ताड़न का अधिकार—अधिवेदन तथा भार्या त्याग के अधिकार-भार्या त्याग के कारण—अधिवेदन पर प्रतिबन्ध—पति के कर्त्तव्य—पत्नी का भरण—भार्योपजीवी की निन्दा—भरण की व्यवस्था का मूल कारण—पत्नी का रक्षण —रक्षा के उपाय—पत्नी के साथ उत्तम व्यवहार—स्त्रीजितों की निन्दा के कारण।

**पति की प्रभुता के विकास की अवस्थायें**—पिछले दो हजार वर्ष से, हिन्दू परिवार में पति का स्थान सर्वोच्च रहा है। महाकवि कालिदास के शब्दों में पति को स्त्रियों पर सर्वतोमुखी प्रभुता है[1]। प्रायः यह समझा जाता है कि यह स्थिति अनादि काल से चली आ रही है; किन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है। पति को यह प्रभुता, हिन्दू परिवार में शनैः शनैः तथा कुछ विशेष परिस्थितियों से प्राप्त हुई है। इसका विकास निम्न अवस्थाओं में से होकर गुजरा है—(१) सखा युग—यह वैदिक युग के आरम्भ से लगभग ६०० ई० पू० तक रहा। इसमें पति पत्नी का अर्धांश, सखा तथा उसके समान अधिकार रखनेवाला था। (२) गुरु युग (६०० ई० पू० से लगभग २०० ई० पू० तक) इसमें पति को कुछ परिस्थितियों के कारण पत्नी के गुरु बनने का कार्य सम्हालना पड़ा। ऐसा होने पर पति-पत्नी के सख्यभाव और समानता का अन्त हो गया; पति का दर्जा ऊँचा हुआ और परिणामतः पत्नी की स्थिति हीन हुई। (३) देवता युग ( २०० ई० पू० से १९०० तक)—पति इस काल में गुरु से ऊँचा उठकर देवता बना। आजकल समानता और स्वतन्त्रता की प्रगतिवादी विचार-धारा से, नूतन सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियों

---

१. शाकु० ५।२६ उपपन्ना हि दारेषु प्रभुता सर्वतोमुखी।

से, नवीन संविधान तथा नये कानूनों के प्रभाव से देवता युग का अन्त होकर समानता की पहली दशा पुनः स्थापित हो रही है। उपर्युक्त युगों का वर्गीकरण गौतम को छठी श० ई० पू० का तथा मनुस्मृति को दूसरी शती ई० पू० का मानते हुए, इन कालों की मुख्य प्रवृत्तियों के आधार पर किया गया है। २०० ई० पू० से वर्तमान समय तक के काल को देवता युग कहने का अभिप्राय केवल इतना ही है कि इस युग में पतियों को प्रधान रूप से देवता का पद प्राप्त था। यद्यपि इस काल में ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं, जिनमें हिन्दू पत्नियों ने पतियों के बराबर दर्जा पाया। सखा-युग में सभी पत्नियां पति के समान अधिकार रखती हों, सो बात नहीं; किन्तु अधिकांश इस स्थिति का उपभोग करती थीं।

**सखायुग ( ६०० ई० पू० तक )**—इस समय पति पत्नी एक दूसरे के सखा ( साथी या मित्र ) थे[२], उनके स्वत्वों और सामान्य कार्यों में कोई बड़ी विषमता या भेद नहीं था। वैदिक युग में दोनों का सामूहिक नाम दम्पती था, ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में इस शब्द का काफी प्रयोग हुआ है[३], इसका अर्थ है दम अर्थात् घर का स्वामी। इससे सूचित होता है कि दोनों का घर पर समान रूप से स्वत्व था। मैकडानल और कीथ ने लिखा है—'यह शब्द ऋग्वेद के समय स्त्रियों की उच्च स्थिति का बोधक है' ( वैदिक इंडेक्स १।३४० )।

ऋग्वेद में दम्पति द्वारा एक साथ मिलकर अनेक कार्य करने का उल्लेख है। वे दोनों 'एक मन,' होकर सोम रस निकालते थे; उसे शुद्ध करते थे; यज्ञ, दान, देवताओं को हवि देने, उनकी स्तुति तथा कामसुखोपभोग की क्रियायें करते थे ( ८।३१।५-९ )। इससे यह स्पष्ट है कि उस समय पति पत्नी यज्ञादि धार्मिक तथा अन्य सांसारिक कार्य संयुक्त रूप से करते थे।

**अर्धांगिनी की कल्पना**—वैदिक युग में पति पत्नी की समानता की पुष्टि, इन दोनों का अभेद प्रतिपादन करनेवाले तथा पत्नी को पति का आधा हिस्सा माननेवाले अनेक संदर्भों से होती है। ऋ० ५।६१।८ में भार्या के पति

---

२. ऐत० ब्रा० ३३।१ सखा ह जाया; मि० महाभा० १।७४।४० भार्या श्रेष्ठतमः सखा।

३. ऋ० ५।३।२, ८।३१।५, १०।१०।५, १०।६८।२, १०।८५।३२; अथर्व० ६।१२३।३, १२।३।१४, १४।२।९।

का आधा अंग ( नेम ) होने का संकेत है । तै० सं० ( ६।१।८।५ ) के अनुसार पत्नी निश्चय से अपने शरीर का अर्ध भाग है ( अर्धो वा एष आत्मनो यत्पत्नी मि० तै० ब्रा० ३।३।३।५ ) । शतपथ ब्रा० ( १४।४।२।४-५ ) ने इसकी पूरी व्याख्या करते हुए यह बताया है––'प्रजापति ने अपने को द्विधा विभक्त कर पति पत्नी बनाये; अतः ये दाल के दाने के आधे हिस्से ( अर्ध वृगल ) की भांति है'[४] । इस प्रकार पति पत्नी केवल समान ही नहीं, किन्तु एक ही वस्तु के दो भाग और एक ही शरीर के दो अंग थे । अतएव प्रत्येक यज्ञ कार्य में दोनों का सहयोग आवश्यक था । वाजपेय यज्ञ में स्वर्गारोहण के प्रतीक यूप की सीढ़ी पर चढ़ता हुआ यजमान, अपनी पत्नी को भी आरोहण के लिये बुलाता है; क्योंकि "पत्नी निश्चय से शरीर का आधा भाग है; अतः जब तक वह अपनी पत्नी को ( स्वर्गलोक में ) प्राप्त नहीं कर लेता, तब तक वह सन्तान नहीं पैदा करता, उस समय तक वह अधूरा है[५] ।" इससे स्पष्ट है कि शतपथकार के मत में यजमान पत्नी के विना स्वर्गलोक में भी नहीं जाना चाहता, एकाकी रूप से वह द्युलोक के फल को अपने लिये वांछनीय नहीं समझता[६] । पति पत्नी के अभेद और समानता का यह बहुत उच्च आदर्श है ।

**परवर्तीकाल में समानता का आदर्श**––सखा युग समाप्त हो जाने पर भी, शास्त्रकार इस बात को विस्मृत नहीं कर सके कि पारिवारिक जीवन का सर्वोत्तम आदर्श समानता है । आप० ध० सू० के मत में पाणिग्रहण से पति-पत्नी सब कर्मों को मिलकर करते हैं, उनका पुण्यफल और संपत्तिग्रहण

---

४. श० ब्रा० १४।४।२।४-५ तथा बृह० उप० १।४।३ स हैतावानास यथा स्त्रीपुमांसौ संपरिष्वक्तौ । ततः पतिश्च पत्नी चाभवताम् । तस्मादर्धवृगलमिव स्वः इति ह स्माऽऽह याज्ञवल्क्यः ।

५. श० ब्रा० ५।२।१।१० स रोक्ष्यन् जायामामन्त्रयते । जायऽएहि स्वो रोहावेति रोहावेत्याह जाया । तद्यज्जायामामन्त्रयतेऽर्धो ह वा एष आत्मनो यज्जाया, तस्माद्यावज्जायां न विन्दते नैव तावत्प्रजायतेऽसर्वो हि तावद्भवति ।

६. वाल्मीकि रामायण में राम द्वारा बालि का वध होने पर उसकी पत्नी तारा ने राम से अपने वध की प्रार्थना करते हुए उसका इसी प्रकार का कारण बताया है––'मेरे बिना बालि का मन ( स्वर्ग में ) नहीं लगता और वह अप्सराओं का भोग नहीं कर सकता ( वा० रा० ४।२४।३३-३८ ) ।

संयुक्त होता है। मनु के अनुसार जो पति है, वही पत्नी है (९।४५)। महाभारत में यद्यपि अनेक स्थानों पर पति के देवता होने का वर्णन है, किन्तु इसमें पुराने वैदिक आदर्श को स्मरण करते हुए भार्या को पति का आधा अंग, श्रेष्ठतम सखा (१।७४।४०) तथा मित्रों में उत्तम कहा गया है। मध्ययुग में देवल और बृहस्पति ने भार्या के पति से अभेद को स्वीकार किया और इसी आधार पर अर्धांगिनी होने के कारण विधवा को पति की सम्पत्ति में स्वत्व प्रदान किया[७]।

**गुरु युग (६०० ई० पू० से २०० ई० पू० तक)**——छठी श० ई० पू० के लगभग हिन्दू समाज में बाल विवाह का महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ। इस शताब्दी में गौतम ने यह व्यवस्था की कि रजोदर्शन से पहले ही कन्या का विवाह कर देना चाहिये (प्रदानं प्रागृतोः १८।२२); कुछ आचार्य इससे भी आगे बढ़कर यह कहने लगे कि शरीर को कपड़ों से ढांपकर रखने की बुद्धि उत्पन्न होने से पूर्व ही लड़की की शादी उचित है (प्राग्वाससः प्रतिपत्तिरित्येके गौ० ध० १८।२४)। इतनी छोटी आयु में विवाह से स्त्रियों के उपनयन संस्कार न होने की तथा उसके अभाव में शूद्र होने की संभावना थी; क्योंकि उपनयन ब्राह्मण का आठवें, क्षत्रिय का ग्यारहवें और वैश्य का बारहवें वर्ष में होता था (आश्व० गृ० १।१९।१-६)। स्त्रियों को इस दोष से बचाने के लिये दो व्यवस्थायें की गयीं। पहली व्यवस्था हारीत की थी। उसने विवाह से पहले नाममात्र का उपनयन संस्कार करने का विधान किया[८]। दूसरी व्यवस्था

---

७. आप० ध० सू० २।१४।१६-१९ जायापत्योर्न विभागो विद्यते। पाणिग्रहणाद्धि सहत्वं कर्मसु तथा पुण्यफलेषु द्रव्यपरिग्रहेषु च। मनु० ९।४५ या भर्त्ता सा स्मृतांगना। महाभा० १।७४।४० अर्धं भार्या मनुष्यस्य भार्या श्रेष्ठतमः सखा, ४।२२।१७ पुत्रः प्रियाणामधिको भार्या च सुहृदां वरा। देवल बृहस्पति दा० (१४९) अपरार्क० २।१३५ में उद्धृत——यस्य नोपरता भार्या देहार्धं तस्य जीवति। जीवत्यर्धशरीरेऽर्थं कथमन्यः समाप्नुयात्॥

८. वीरमित्रोदय संस्कार प्रकाश पृ० ४०२ में उद्धृत——सद्योवधूनां तूपस्थिते विवाहे कथंचिदुपनयनमात्रं कृत्वा विवाहः कार्यः। हारीत दो प्रकार की स्त्रियां मानता है (१) वेदाध्ययन करनेवाली ब्रह्मवादिनी, इनका उपनयन तो यथाविधि होता था; (२) जल्दी विवाह करनेवाली सद्योवधू; इनका उपनयन नाममात्र का था। उसके समय तक स्त्रियों का यह

दूसरी श० ई० पू० में मनु की थी। इसमें उपनयन और विवाह में कुछ सादृश्यों के कारण अभेद मान लिया गया। जैसे पहले संस्कार में ब्रह्मचारी पितृगृह से अलग होकर गुरुगृह में चला जाता था, वैसे दूसरे संस्कार में कन्या पीहर से सुसराल जाती थी; ब्रह्मचारी गुरु के अग्निहोत्र के लिये समिधा लाता था, कन्या पतिगृह में दोनों समय अग्नि पर खाना बनाती थी। अतः मनु ने कहा—'स्त्रियों के लिये विवाह केवल ऐसा संस्कार है, जो वेद मन्त्रों के साथ किया जाता है। उनके लिये पतिसेवा ही गुरु के पास वास करना है। गृह-कार्य ब्रह्मचारी द्वारा प्रतिदिन किया जानेवाला अग्निहोत्र है[९]।

दूसरी शताब्दी ई० पू० में मनु की व्यवस्था से पति पत्नी का आलंकारिक रूप से गुरु बना; किन्तु परिस्थितियों ने उसे वास्तविक रूप में शिक्षक बना दिया। बहुत छोटी आयु में परिणय होने से स्वभावतः पति को यह पद मिला। हिन्दू पति सैकड़ों वर्षों तक यह कार्य करता रहा है। महात्मा गांधी ने आत्मकथा में लिखा है, 'हिन्दू संसार में बचपन में विवाह होने तथा मध्यम वर्ग में पति के प्रायः साक्षर और और पत्नी के निरक्षर होने के कारण, पति-पत्नी के जीवन में बड़ा अन्तर रहता है और पति को पत्नी का शिक्षक बनना पड़ता है[१०]"। वर्तमान काल में स्त्री शिक्षा के प्रसार तथा बड़ी आयु में विवाह होने से इस स्थिति का अन्त हो रहा है।

**देवता युग**—गुरु बनने के बाद पति का देवता बनना स्वाभाविक था। सूत्रकारों में संभवतः शंख ने सर्वप्रथम यह घोषणा की, 'पति के कोढ़ी ( अष्ठीवल ), पतित ( जघन्य कार्य करने से जातिच्युत ), अंगहीन या बीमार होने पर भी, पत्नी पति से द्वेष न करे; क्योंकि स्त्रियों के लिये पति देवता है[११]। इसे

---

संस्कार लगभग समाप्त हो चुका था—मि० पुराकल्पे तु नारीणां मौंजीबंधनमिष्यते। अध्यापनं च वेदानां सावित्रीवचनं तथा॥

९. मनु० २।६७ वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः। पतिसेवा गुरौवासः गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया॥

१०. आत्मकथा पंचम संस्करण पृ० २२७।

११. शंख (स्मृच २५१) न भर्त्तारं द्विष्याद्यद्यप्यष्ठीवलः स्यात्पतितोऽअंगहीनो व्याधितो वा पतिर्हि देवता स्त्रीणाम्। मि० कामसूत्र ४।१।१ देववत्पतिमानुकूल्येन वर्त्तेत। मत्स्यपुराण २१०।१७ पतिर्हि दैवतं स्त्रीणां पतिरेव परायणम्।

पुष्ट करते हुए उसने यह तर्क दिया कि स्त्री व्रत उपवास तथा विविध प्रकार के धर्म कर्मों से नहीं, किन्तु पति के पूजन से स्वर्ग प्राप्त करती है। मनु ( ९।१५४-५५ ) ने शंख का अनुमोदन करते हुए साध्वी स्त्री को दुःशील, स्वच्छन्द आचरण वाले पति की देवता की भांति आराधना का उपदेश दिया और इसी से उसके लिये स्वर्ग की प्राप्ति बतायी। रामायण में कौशल्या ने वनगमन के समय सीता को सधन अथवा निर्धन राम की सेवा का उपदेश दिया है; क्योंकि वह देवता के समान हैं, सीता ने इससे सहमति प्रकट करते हुए कहा है—'स्त्रिया भर्त्ता हि दैवतम् ( २।३९।२५-३१ )। वन में अनुसूया ने सीता को यही शिक्षा दी है कि आर्य स्वभाव स्त्रियों के लिये दुःशील कामवृत्त या धन शून्य पति भी परम देवता है ( वा० रा० २।११७।२३ )। महाभारत-कार ने 'दैवतं परमं पतिः' की घोषणा अनेक बार की है ( १४।९०।५०, १२।२६६।३९ )।

शास्त्रकारों ने पति को देवता इसलिये बनाया कि स्त्रियों के लिये मोक्ष और स्वर्ग का यही मार्ग था। हिन्दू धर्म में इसके प्रधान मार्ग कर्मकांड और तपस्या हैं। अगले अध्याय में यह बताया जायगा कि अनेक कारणों से स्त्रियां यज्ञ कर्म से बहिष्कृत और तपस्या के साधनों से वंचित हो गयीं। इस अवस्था में स्त्रियों के लिये मोक्ष का मार्ग पति को भगवान् समझ कर उसकी पूजा ही रह गया। मनु ( ९।१५४ ), याज्ञवल्क्य, विष्णु ( २५।१५ ) ने स्त्री के लिये पृथक् यज्ञ, उपवासादि न होने के कारण इस मार्ग का निर्देश किया है। ब्रह्मवैवर्त पुराण में देवतावाद का विचार पराकाष्ठा तक पहुँचा दिया गया, 'अपने पति और भगवान् में भेद बुद्धि करनेवाली स्त्री गोहत्या का पाप करती है।"

देवता बन जाने के कारण, हिन्दू परिवार में पति को राजा के निरंकुश अधिकार प्राप्त हुए। हरदत्त ने आपस्तम्ब ध० सू० ( २।१४।१६-२० ) पर टिप्पणी करते हुए लिखा है-'वह घर में वैसा ही स्वतंत्र है, जैसे राष्ट्र में राजा, ( स्वतन्त्रोऽसौ गृहे यथा राजा राष्ट्रे )। फ्रांस का प्रसिद्ध शासक लुई १४वां कहा करता था कि मेरी इच्छा ही कानून है; हिन्दू परिवार में पति की मर्जी कानून थी। पतिव्रता स्त्रियों ने इसे यहां तक पूर्ण किया कि सैव्या जैसी पत्नियां अपने कोढ़ी पति के वेश्या के प्रति अनुरक्त होने पर उसे स्वयं वहां ले गयीं ( पद्मपुराण सृष्टि खण्ड अध्याय ४१ )। पति के प्रति भक्ति और वश्यता की यह पराकाष्ठा थी।

**पति की प्रभुता के सामान्य कारण**--पति को हिन्दू परिवार में ही यह प्रभुता प्राप्त हो, सो बात नहीं। अधिकांश प्राचीन सभ्य समाजों में, उसने ऐसी सत्ता का उपभोग किया है[१२]। वस्तुतः कुछ ऐसे सामान्य कारण हैं,

---

१२. जरथुस्त्री धर्म में पति की प्रभुता स्वीकार करते हुए, उसकी आज्ञा की अवहेलना करनेवाली स्त्री को डाइन कहा गया है (यष्ट० २२। १८।३६)। बाइबिल की पहली पुस्तक जिनीसस (३।१६) में हव्वा को परमेश्वर ने शाप दिया है--'तेरी इच्छा पति के अधीन होगी, वह तुझ पर शासन करेगा।' चीन में कन्फूशियस ने स्त्री के सदैव पुरुष के वशवर्त्ती रहने और मनु की भांति उसे कौमारावस्था में पिता या बड़े भाई की आज्ञा का, विवाहित होने पर पति के तथा उसकी मृत्यु पर पुत्र के आदेशों का पालन करने की आज्ञा दी है (लेगी-चाइनीज़ क्लासिक १।१०३ प्र०)। यूनान में ऐतिहासिक काल में पत्नी घर की नौकरानी मात्र थी, उसका सब से बड़ा आभूषण मौन रहना था (डिकिन्सन--ग्रीक व्यू आफ लाइफ पृ० १६१)। प्रसिद्ध दार्शनिक अरस्तू के शब्दों में, पत्नी को चाहिये कि वह खरीदी हुई दासी की अपेक्षा अधिक तत्परता से पति के आदेशों का पालन करे; क्योंकि वह दासी के मूल्य की अपेक्षा अधिक दाम से इसलिये खरीदी गयी है कि जीवन निर्वाह और सन्तानोत्पादन का कार्य हो सके (इकोनामिका १।७)। रोम में विवाह से पहले कन्या पिता के अधिकार में रहती थी और इसके बाद उस पर पति का अपरिमित प्रभुत्व स्थापित हो जाता था (मेन--अर्ली ला एण्ड कस्टम पृ० १५५)। ट्यूटन जातियों में पति को कुछ अवस्थाओं में अपनी पत्नी को मारने, बेचने और छोड़ने का अधिकार था। ईसाइयत ने भार्या को पूर्ण रूप से पति के अधीन बनाया। सैण्ट पाल ने कहा--पत्नियो, तुम अपने पतियों के उसी तरह अधीन हो जाओ, जैसे भगवान् के अधीन होती हो (इकोसियन्स ५।२२-३, मि० १ टिमोथी २।११; १ पीटर ३।१)। ईसाइयत की शिक्षाओं के कारण योरोप की किसी भी कानूनी पद्धति में मध्ययुगीन पत्नी को कोई भी अधिकार नहीं प्राप्त हुआ। सर हेनरी मेन के मत में विवाहित स्त्रियों पर सब से कम कृपा करनेवाली वे पद्धतियां हैं, जिन्होंने चर्च के कानून का अनुसरण किया है (अर्ली ला पृ० १५९)। मध्यकालीन इंगलैण्ड में मिल्टन ने विना युक्ति किये, पति की आज्ञा का पालन पत्नी का धर्म माना था। उसकी हव्वा ने आदम को कहा है--'हे मेरे स्रष्टा और विधाता, भगवान् की ऐसी

जिनसे उसे यह प्रभुता प्राप्त हुई और हिन्दू समाज में कुछ ऐसे विशेष कारण थे, जिनसे उसे देवता की स्थिति मिली। सामान्य कारणों में पुरुष की शक्तिमत्ता और स्त्री में समर्पण की भावना है। पुरुष प्रायः नारी से शारीरिक दृष्टि से अधिक शक्तिशाली होता है। काठक सं (२८।८, ४४।८) स्त्री को निर्वीर्य तथा मैत्रायणी सं० (४।७।४) उसे असमर्थ बताती है। मातृत्व का उत्तरदायित्व पूर्ण करते हुए तथा संकट के समय उसे पुरुष के संरक्षण की आवश्यकता होती है और यही बाद में स्वामित्व का रूप धारण कर लेता है। दूसरा मनोवैज्ञानिक कारण नारी में समर्पण की भावना है। प्रसिद्ध यौन मनोवैज्ञानिक हैवलाक एलिस के शब्दों में 'एक नवयुवती के प्रेम के सपनों में यह एक सामान्यतम आकांक्षा होती है कि वह प्रेमी को अपना समर्पण कर दे, उसकी शारीरिक शक्ति और मानसिक चातुर्य का सहारा लेने में समर्थ हो सके, अपनापन खो बैठे, उस पर अपने संकल्प का कोई नियन्त्रण न रहे, वह दूसरे पुरुष की शक्तिशाली इच्छा की वश्यता के मधुर प्रवाह में मन्द गति से बहती जाय[13]।

---

आज्ञा है कि जो तुम आदेश दो, मैं बगैर दलील दिये उसका पालन करूँ। आप मेरे लिये भगवान् और कानून हैं, स्त्री के लिये इससे अधिक न जानना ही सब से अधिक आनन्ददायी ज्ञान है, इसी में उसकी प्रशंसा है। (अल्तेकर—पोज़ीशन आफ़ वुमैन पृ० ३९९)। मनुष्य की स्वतन्त्रता के प्रबल समर्थक रूसो ने स्त्रियों को बन्धन में रखने का परामर्श दिया था, समानता का सिद्धान्त प्रतिपादित करनेवाली फ्रेंच राज्य-क्रान्ति के समय बुलायी गयी राष्ट्रीय परिषद् ने स्त्रियों का आवेदन पत्र तक सुनना स्वीकार नहीं किया (अल्तेकर—वही पृ० ४०७)। पिछली शती के अन्त तक योरोप के लगभग सभी देशों में पत्नी पर पति की प्रभुता थी।

१३. स्टडीज़ इन दी साइकालोजी आफ सैक्स—एनेलिसिस आफ सैक्सुअल इम्पल्ज़ पृ० ६६। एलिस ने यह परिणाम प्रधान रूप से इस आधार पर निकाला है कि अनेक योरोपियन देशों की स्त्रियां पतियों से पिटने में आनन्द अनुभव करती हैं; इसे प्रेम की प्रगाढ़ता का चिन्ह समझती हैं। यदि स्लाव पति अपनी पत्नियों को नहीं पीटते, तो वे इसमें अपना घोर अपमान मानती हैं; हंगरी के कुछ भागों में जब तक पति अपनी स्त्री के कान न ऐंठे, तब तक वह यह समझती है कि पति उससे प्रेम नहीं करता। इतालवी कैमोरिस्टों की स्त्रियां अपने न पीटनेवाले पतियों को बेवकूफ समझती हैं। लूशियन ने

**विशेष कारण**--उपर्युक्त दो सामान्य कारणों के अतिरिक्त हिन्दू समाज में पति की प्रभुता स्थापित होने के निम्न विशेष कारण थे--पत्नी की आर्थिक पराधीनता, पिता की प्रभुता, स्त्री के सम्बन्ध में हीन विचार, बाल विवाह तथा स्त्रियों की अशिक्षा। पत्नी भरण पोषण के लिये पति पर अवलम्बित थी; इसीलिये पति भर्त्ता कहलाता था ( महाभारत १।१०४।३१ )। प्राचीन युग में वर्त्तमानकाल की भांति, स्वतन्त्र रूप से आजीविका उपार्जन करने के द्वार स्त्रियों के लिये नहीं खुले हुए थे। अतः आर्थिक दृष्टि से परावलम्बी होने के कारण, उस पर पति की प्रभुता अवश्यम्भावी थी। हिन्दू स्त्रियों ने यह बन्धन लाचारी से नहीं, किन्तु कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार किया। सब प्रकार का सुख देनेवाले तथा अलंकरणों से लाद देनेवाले पति के प्रति पत्नी की भक्ति स्वाभाविक थी; इसीलिये वह पति की पूजा करती थी। आदर्श पतिव्रता सीता ने पति को देवता मानने के कारणों की व्याख्या करते हुए कौशल्या से कहा था[१४]--'पिता परिमित धन देता है, भाई और पुत्र भी सीमित राशि प्रदान करते हैं; ( इस अवस्था में ) अपरिमित धन देनेवाले पति की कौन स्त्री पूजा न करे ?'

---

अपनी एक रचना में यूनानी स्त्री के मुंह से यह कहलवाया है--'जो पुरुष अपनी पत्नी पर प्रहारों की बौछार नहीं करता, उसके बाल नहीं खींचता, उसके कपड़े नहीं फाड़ता, वह उससे स्नेह नहीं करता।' इस सम्बन्ध में कुछ भारतीय उदाहरण ये हैं--वात्स्यायन ने कामसूत्र में, भारत के विभिन्न प्रान्तों की स्त्रियों का वर्णन करते हुए, मालवा, आभीर देश, स्त्री राज्य तथा कोशल की नारियों को प्रहार पसन्द करनेवाली बताया गया है ( २।५।२४, २७ )। वैस्टरमार्क ने यह सिद्ध किया है कि पृष्ठ-वंशधारी निम्न प्राणियों की मादाओं की भांति स्त्रियां वीर्यवान् पुरुष को पसन्द करती हैं ( हिस्टरी आफ ह्यूमन मैरिज पृ० २५५)। वैदिक साहित्य में वृषापति की आकांक्षा के लिये देखिये सायण भाष्य के अनुसार लोपामुद्रा का वचन--'अप्पू नु पत्नीर्वृषणो जगम्युः ऋ० १।१७९।१,२ तथा इन्द्राणी का वचन ऋ० १०।८६।१५ तथा अथर्व० २०।१२६।१५।

१४. वा० रा० २।३९।३० मितं ददाति हि पिता मितं भ्राता मितं सुतः। अमितस्य तु दातारं भर्त्तारं का न पूजयेत्॥ यह श्लोक लगभग इसी रूप में महाभारत (१२।१४८।६), मत्स्यपुराण (२१०।१८), और शुक्रनीति (४।४।३१) में भी मिलता है।

**पिता की प्रभुता**--प्राचीन हिन्दू समाज में पिता को सन्तान पर असाधारण अधिकार थे ( देखिये पांचवां अध्याय )। पिता अपनी इच्छा से कन्या का दान कर सकता था। वह उसकी संपत्ति थी। इसके यथेच्छ विनियोग का उसे पूरा अधिकार था। मनु के मत में विवाहों में यज्ञादि तो मंगलकार्य के लिये हैं, वस्तुतः ( पिता या अभिभावक द्वारा किया गया ) दान ही पत्नी पर पति की प्रभुता का कारण है[१५]। प्राचीन रोम में भी कन्या इसी प्रकार विवाह द्वारा पिता के प्रभुत्व से मुक्त होकर पति की प्रभुता में आ जाती थी।

**हीन विचार**--शारीरिक शक्ति, शिक्षा आदि में पुरुषों के बराबर न होने से प्रायः अधिकांश समाजों में स्त्रियों के सम्बन्ध में हीन विचार रखे जाते हैं। कुछ असभ्य समाजों में प्रति मास स्त्री के शरीर से आर्त्तव प्रसृत होने से उसे दुर्बल और स्थायी रूप से बीमार माना जाता है। भारत में नारी के सम्बन्ध में जो हीन धारणायें थीं, उनका अगले अध्याय में विस्तार से उल्लेख होगा। यहां इतना कहना पर्याप्त है कि स्त्रियों में सब प्रकार की बुराइयों का आरोप किया गया है[१६]। यह कहा जाता है कि यदि किसी की सौ जिह्वायें हों, वह सौ वर्ष तक जिये तथा उसे स्त्रियों के दोष बखान करने के सिवाय दूसरा

---

१५. मनु० ५।१५१-५२ मंगलार्थं स्वस्त्ययनं यज्ञश्चासां प्रजापतेः। प्रयुज्यते विवाहेषु प्रदानं स्वाम्यकारणम् ॥

१६. स्त्रियों को केवल भारत में ही बदनाम नहीं किया गया। यूनानी नाटककार यूरीपाइडीज़ ने लिखा है--स्त्रियां अच्छे काम करने में तो बांझ हैं, किन्तु सब प्रकार की बुराई करने में चतुर हैं (मीडिया ४०६)। प्रसिद्ध दार्शनिक अफलातून स्त्रियों को नौकरों का दर्जा देता है और स्त्री जाति को बुद्धि और गुण की दृष्टि से पुरुष से हीन समझता है (रिपब्लिक ४।४३१, ५।४५५)। चीनियों में यह कहावत प्रचलित है--सर्वोत्तम कन्यायें निकृष्टतम लड़के के बराबर भी नहीं हैं ( स्मिथ-प्रोवर्ब्स आफ दी चाइनीज़ पृ० २६५)। हज़रत मुहम्मद का एक हदीस है कि मैंने पुरुषों के लिए एक सबसे बड़ी मुसीबत औरत को ही बनाया है। स्त्रियों को अपने सोने चांदी के ज़ेवरों का दान देना चाहिये; क्योंकि कयामत के दिन वही अधिकतर नरक जाने वाली होंगी ( लेन-स्पीचैज आफ् मुहम्मद पृ० १६१, १६३)। अरबों का यह विचार है कि पृथ्वी पर बुराइयों का मूल स्त्री है। परमात्मा ने इसे इसलिए बनाया है कि मनुष्य पार्थिव वस्तुओं से विरत न हो सके ( मेयर-सै० ला० ४९७ )।

कोई काम न हो, तो भी वह उनके दोषों को बिना कहे ही मर जायेगा[१७]। इन विचारोंवाले समाज में पति को प्रभुता मिलना स्वाभाविक ही है।

भारतीय वाङमय में नारी पर कामान्धता का आरोप करते हुए, उसपर हद दर्जे का अविश्वास प्रकट किया गया है। पद्म पुराण के अनुसार स्त्रियां इसलिए साध्वी रहती हैं कि उन्हें (गुप्त) स्थान नहीं मिलता, अवसर नहीं मिलता और उनसे प्रार्थना करनेवाला कोई पुरुष नहीं होता[१८]। पंचचूडा नारद को कहती है—'हे मुने, वे कुबड़े, अन्धे, मूर्ख और बौने के साथ संयुक्त हो जाती हैं, वे लंगड़ों तथा अन्य कुत्सित पुरुषों के पास भी जाती हैं। स्त्रियों के लिए इस लोक में कुछ भी अगम्य नहीं है[१९]। स्त्रियाँ कभी मर्यादा में नहीं रहतीं। 'यदि उनकी कामना करनेवाले पुरुष न हों और उन्हें परिजनों का भय न हो, तभी मर्यादा में न टिकनेवाली स्त्रियां अपने पतियों के साथ मर्यादा में रहती हैं[२०]। मनु के मत में पति को यह अभिमान नहीं करना चाहिए कि मैं सुन्दर हूँ या जवान हूँ; क्योंकि स्त्रियां रूप को नहीं देखतीं, वे आयु का भी ध्यान नहीं रखतीं; सुरूप हो या कुरूप, स्त्रियां पुरुष मात्र का अभिगमन करती हैं। अन्य पुरुषों के प्रति कामनावाली होने से, चंचल स्वभाव होने के कारण, नैसर्गिक रूप से स्नेह शून्य होने से पत्नियाँ अपने पतियों के प्रति सच्ची नहीं रहतीं; भले ही उनकी कितनी ही रक्षा क्यों न की जाय[२१]। स्त्रियों के प्रति जब इस

---

१७. महाभा० १२।७४।९—यदि जिह्वासहस्रं स्याज्जीवेच्च शरदां शतम्। अनन्यकर्मा स्त्रीदोषाननुक्त्वा निधनं व्रजेत्॥

१८. पद्म० पु० सृष्टि खण्ड ४९।९—स्थानं नास्ति क्षणं नास्ति न च प्रार्थयिता नरः। तेन नारद नारीणां सतीत्वमुपजायते॥

१९. महाभा० १३।३८।२०२। अपि ताः सम्प्रसज्जन्ते कुब्जान्धजड-वामनैः। पंगुष्वथ च देवर्षे ये चान्ये कुत्सिताः नराः॥

२०. वहीं १३।३८।१६ अनर्थित्वान्मनुष्याणां भयात्परिजनस्य च। मर्यादायामर्यादाः स्त्रियस्तिष्ठन्ति भर्तृषु॥ अपनी जाति की निन्दा पंचचूडा के समान अन्य देशों की स्त्रियों ने भी की है। लेडी मेरी वार्टली माण्टेगू ने कहा था—मुझे इस बात से सन्तोष है कि मैं स्त्री हूँ; मुझे किसी स्त्री से विवाह करने का भय नहीं है।

२१. मनु० ९।१४-१५ नैता रूपं परीक्षन्ते नासां वयसि संस्थितिः। सुरूपं वा विरूपं वा पुमानित्येव भुंजते॥ पौंश्चल्याश्चलचित्ताच्च न स्नेहाच्च

प्रकार की हीन धारणा हो, तो पुरुषों का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वे यत्न पूर्वक स्त्रियों की चौकसी करें। अतएव मनु यह व्यवस्था करता है कि प्रजापति द्वारा स्वाभाविक रूप से उत्पन्न किये स्त्रियों के इस प्रकार के स्वभाव को जानकर पुरुष को उनके रक्षण का परम प्रयत्न करना चाहिए ( ९।१६ )। अतः पुरुषों को उचित है कि वे सभी स्त्रियों को सदा पराधीन बनाकर रखें। उसके बचपन में पिता, यौवन में पति और बुढ़ापे में पुत्र उसकी रक्षा करें। स्त्री स्वतंत्र रहने योग्य नहीं है ( मनु० ९।२-३ )। गौतम ( १८।१ ), बौधायन ( २।३।४४ ), वसिष्ठ ( ५।१ ), विष्णु (२५।१२), याज्ञ० (१।८५) इस व्यवस्था का अनुमोदन करते हैं। स्त्री का धर्म है कि वह पराधीन रहे, अतः पति को उसका रक्षक एवं प्रभु होना चाहिए।

**बाल विवाह और स्त्रियों की अशिक्षा**––पहले यह बताया जा चुका है कि बाल विवाह के कारण पत्नी की स्थिति गिरने लगी थी। हमने यह भी देखा था कि विवाह को ही स्त्री का उपनयन मान लिया गया, बहुत छोटी अवस्था में ही उसका विवाह होने लगा था। उस समय पत्नी बिल्कुल कोमल मिट्टी होती थी। पति उसे जैसा चाहता, वैसा रूप दे सकता था। बचपन से ही वह पितृगृह में और पतिगृह में पति को देवता समझने और पूजने के उपदेश सुनती थी; इन्हीं शिक्षाओं में उसका लालन पालन होता था। दो सहस्राब्दियों से हिन्दू पत्नी इस परम्परा में पल रही हैं।

**देवता युग की समाप्ति**––किन्तु अब जमाना बदल रहा है। स्त्री जिन कारणों से पति की प्रभुता में आई थी, वे आजकल दूर हो रहे हैं। बाल विवाह की प्रथा का निषेधक कानून बन गया है। स्त्रियों में बड़ी तेजी से शिक्षा का प्रसार हो रहा है। अब वे विवाह के समय अनगढ़ मिट्टी या मोम की नाक नहीं होतीं कि उन्हें इच्छानुसार मोड़ा जा सके। शिक्षित वर्ग में धार्मिक भावनाओं का प्रभाव घटता जा रहा है। पढ़ी लिखी महिलायें शास्त्रीय आदेश का पालन करने के लिए पति को देवता नहीं स्वीकार कर सकती। स्त्रियों के सम्बन्ध में,

---

स्वभावतः। रक्षिता यत्नतोऽपीह भर्तृषु विकुर्वते ।। मनु द्वारा इस निन्दा का प्रधान कारण वस्तुतः मनुष्यों को उद्दाम काम भावना के भय से सावधान करना है। इसकी पुष्टि २।११५ से होती है। इसमें उसने माता, बहिन तथा कन्या के साथ एकान्त में बैठने का निषेध किया है; क्योंकि विद्वान् भी इन्द्रियवासना के वशीभूत हो जाता है।

विचारों में भी परिवर्तन आ रहा है; उन्हें इतना हीन नहीं समझा जाता। उन्होंने ज्ञान विज्ञान और कला कौशल के क्षेत्र में उन्नति की है। वर्तमान समय में आजीविका के लिए वे डाक्टरी आदि अनेक पेशों में जाने लगी हैं। राज्य के हस्तक्षेप तथा कन्याओं में शिक्षा और आजीविका की स्वाधीनता के कारण पितृ प्रभुत्व कम हो रहा है। इस समय पति को देवता समझने का विचार शिथिल हो रहा है।

### *पति की प्रभुता का स्वरूप*

हिन्दू परिवार में यद्यपि पति देवता या राजा माना जाता रहा है; किन्तु वह प्रायः यहूदियों का स्वच्छन्द आचरण करनेवाला सर्वशक्तिमान् जिहोवा या मध्यकालीन निरंकुश नरेश नहीं, प्रत्युत कुछ नियमों से बंधा हुआ दार्शनिकों का भगवान् और मर्यादाओं से नियन्त्रित वैधानिक राजा है। पत्नी पर उसके प्रभुत्व का विचार यहां निम्न दृष्टियों से किया जायगा–(१) पत्नी को वध करने का अधिकार, (२) पत्नी के यथेच्छ विनियोग ( दान देने, बेचने या पण्य वस्तु बनाने ) का अधिकार, (३) पत्नी को पीटने का अधिकार, (४) अधिवेदन (दूसरा विवाह करने) का अधिकार।

**वध का अधिकार**—राजा का सब से बड़ा अधिकार प्राणदण्ड होता है। क्या हिन्दू परिवार में पति को यह स्वत्व प्राप्त था? सामान्य रूप से बहुत ही कम समाजों में उसे यह अधिकार है[२२], वह केवल पत्नी के भीषणतम अपराध-

---

२२. प्रिटचर्ड द्वारा वर्णित फ़िजी टापू जैसे क्रूर पति प्रायः अपवाद रूप में पाये जाते हैं ( पोलीनीशियन रैमिनिसैन्सज पृ० ३७१ )। यहां लोती नामक एक व्यक्ति ने प्रसिद्ध होने के लिये पत्नी से आग लगवाकर उसे उसमें भूना तथा बाद में खाया। प्रायः पति पत्नी का वध इसलिये नहीं करता कि उसे उसके संबन्धियों द्वारा बदले की आशंका होती है। फ़िजी के समीपवर्ती आस्ट्रेलिया महाद्वीप के उत्तर पश्चिमी तथा केन्द्रीय भाग में पत्नी की हत्या पर पुरुष को उसके संबन्धियों को वध के लिये अपनी कोई बहिन देनी पड़ती है ( फिसोन तथा हाविट—कामिलराय व कुरनाई पृ० २८१ )। अफ्रीका के विक्टोरिया प्रदेश की बंगरांग जाति में पति पत्नी के साथ मार पीट आदि दुर्व्यवहार कर सकता है; किन्तु उसकी हत्या पर पत्नी के सम्बन्धी इसका बदला लेते हैं (कर-रिकलेक्शन्स आफ स्क्वेटिंग इन विक्टोरिया पृ० २४८ )।

व्यभिचार पर ही उसे कुछ समाजों में यह दण्ड दे सकता है[२३], किन्तु हिन्दू शास्त्रों में नारी अवध्य है[२४]। स्त्री वध महाभारत के मत में ब्रह्महत्या और गोहत्या के तुल्य महापाप ( १३।१२६।२६ ) तथा अप्रायश्चित्तीय अपराध है ( १२।१०८।३२,१७।३।१६ )। मनु प्रायश्चित्त कर लेने पर भी स्त्री-घाती के साथ सब प्रकार के सम्बन्ध का निषेध करता है ( ११।२९१ मि० विष्णु० २४।३२, याज्ञ० ३।२९९, महाभा० ५।३५।६६)। न केवल इस जीवन में स्त्री-घाती के लिये धर्मशास्त्रों में कठोर प्रायश्चित्तों की व्यवस्था है, किन्तु परलोक में उसके अत्यधिक दुर्गति पाने का उल्लेख है[२५]।

हिन्दू नारी को अवध्य समझे जाने से पति द्वारा उसे प्राणदण्ड देने का तो कोई अधिकार संभव ही नहीं, पत्नी के जघन्यतम अपराध अर्थात् असतीत्व में भी सामान्य रूप से वह उसके भरण पोषण के लिये बाध्य था। अगले अध्याय में यह बताया जायगा कि हिन्दू शास्त्रकार अन्य जातियों के व्यवस्था-कारों की अपेक्षा इस विषय में कहीं अधिक उदार थे; इस संबन्ध में वसिष्ठ का

---

२३. अफ्रीका की अशन्ती जाति में किसी व्यभिचारी पत्नी को प्राण-दण्ड दिया जा सकता है (लतर्नो—इवोल्यूशन आफ़ मैरिज पृ० २०४-५ )। न्यूज़ीलैण्ड में पति ऐसी पत्नी को लाठी मारकर ठंडा कर सकता है ( वही पृ० २१२ )। एस्किमो लोगों की कुछ जातियों में पति ऐसी पत्नी तथा जार दोनों को मार देते हैं ( पृ० २१३।१४ )। तातारों में पति जब तक कुलटा का वध नहीं कर लेता, तब तक उसे जार से क्षति पूर्त्ति के लिये दिया जाने वाला ४५ पशुओं का हर्जाना नहीं मिलता। जापान का पुराना कानून पति को कुलटा और जार दोनों के वध का अधिकार देता था ( वही पृ० २१६ )। रोमन कानून के अनुसार पति परपुरुष के साथ कामोपभोग प्रवृत्त पत्नी को देखते ही वहीं मार सकता था (वही पृ० २२३-२४)। जस्टीनियन के समय इसमें सुधार हुआ और पत्नी को मारनेवाला घातक समझा गया। मुहम्मद से पूर्व अरबों में कुलटा को पत्थरों से मारने का सामान्य नियम प्रचलित था ( ईसा० रिली० ई० खं० ५, पृ० १३१ )। संभवतः यहूदियों में ईसा से पहले ऐसा नियम था ( जान की गास्पल ८।१-११ )।

२४. महाभा० १।१५८।३१, १।२१७।१४, ३।२०६।४६, ५।३६।६६, ७।१४३।६७, १२।१३५।१३, वाल्मीकि रामायण २।६८।२१, ६।८१।२८।

२५. महाभा० १३।१११।११७-१८

'रजो-दर्शन से पत्नी की शुद्धि का सिद्धान्त[२६] लगभग सर्वमान्य था। यद्यपि गौतम ( २३।१४ ), मनु ( ८।३७१ ), यम ( विर पृ० ३९८ ) तथा महाभारत (१२।१६५।६४ ) शूद्रगामिनी कुलटा के सार्वजनिक रूप से कुत्तों द्वारा खिलाये जाने की व्यवस्था करते हैं, महानिर्वाण तन्त्र (११।५३ ) में दूसरे पुरुष के बाहुपाश में वर्तमान पत्नी की तथा उसके जार की हत्या करनेवाले को राजा द्वारा दण्डित न किये जाने का उल्लेख है; किन्तु ये व्यवस्थायें अपवाद रूप हैं। सामान्य स्थिति तो यह थी कि ऐसी पत्नी को सब प्रकार के अधिकारों से वंचित कर भोजन मात्र दिया जाय। विवाद रत्नाकर (पृ० ४२६) में मनु के नाम से उद्धृत दो श्लोकों में स्वच्छन्दगामिनी के वध तथा अंगभंग का निषेध करते हुए यह कहा गया है कि विवस्वान् ने स्वच्छन्दचारिणी व्यभिचारिणी का त्याग ( उसे दाम्पत्य, धार्मिक तथा अन्य सब अधिकारों से वंचित करना ) ही कहा है; स्त्रियों का वध, विरूपता या बन्दीकरण नहीं करना चाहिये[२७]।

**यथेच्छ विनियोग का अधिकार**––मानव समाज की अनेक जातियों में पत्नी को अपनी सम्पत्ति समझ कर, पति द्वारा उसे दूसरे व्यक्ति को उधार देने, दान करने और बेचने के अनेक उदाहरण मिलते हैं[२८], किन्तु भारतीय साहित्य

---

२६. वसिष्ठ० २८।१-४, ५।४, ३।५-८. मि० बौधायन ध० सू० २।२।४।४, याज्ञ० १।७२, अग्नि पुराण १६५।६, १९, मनु० ५।१०८, विष्णु २।९१, पराशर ७।२, १०।१२। महाभारत का भी यही मत है––मासि मासि भवेद्रागस्ततः शुद्धा भवन्त्युत, १३।५९।२१-२२

२७. स्वच्छन्दव्यभिचारिण्या विवस्वांस्त्यागमब्रवीत्। न वधं न च वैरूप्यं बन्धं स्त्रीणां विवर्जयेत्॥ त्याग के उपर्युक्त अर्थ के लिये देखिये अगला अध्याय।

२८. एगिडियस ने लिखा है कि एस्कीमो बिना किसी संकोच के अपनी पत्नी मित्रों को उधार देते हैं और ऐसे व्यक्तियों का चरित्र समाज में सब से ऊँचा समझा जाता है ( हिस्टरी आफ ग्रीनलैण्ड पृ० १४२ )। रैडस्किन नाचेज़ जाति में मित्रों को पत्नी उधार देने की प्रथा है, न्यूमैक्सिको में यूमा जाति के पति अपने दास तथा पत्नी को समान रूप से किराये पर देते हैं ( लतर्नो-पू० नि० पु० पृ० ४२ )। आस्ट्रेलियन तथा बुशमैन जातियों में पत्नी उधार देने की परिपाटी है ( वही पृ० ५८ ), पोलीनीशिया के एक टापू के संबन्ध में

में ऐसे दृष्टान्त बहुत कम हैं। महाभारत में दासी स्त्रियों के दान (१।१९८।१६, ४।७२।२६, ५।८६।८) तथा राजाओं को उपहार रूप में कन्यायें देने (२।५१। ८-९, २।५२।११, २९) और युधिष्ठिर (२।३३।५२), भगीरथ (१२।२९।६५), सगर (१२।२९।१३३) वैन्य (३।१८५।३४) आदि राजाओं द्वारा यज्ञों में ब्राह्मणों को कन्यायें देने का उल्लेख है, किन्तु इन सब उदाहरणों में पत्नीदान का कहीं वर्णन नहीं है। इसके केवल दो ही उदाहरण हैं--राजा मित्रसह द्वारा अपनी पत्नी मदयन्ती का महर्षि वसिष्ठ को दान तथा इसी प्रकार राजा युवनाश्व द्वारा अपनी स्त्रियों का देना।

**मदयन्ती का दान**--महाभारत में चार स्थलों (१२।२३४।३०, १३। १३७। १८, १।१२२।२२-२३, १।१८४।१-२) में इसका वर्णन है। पहले दो

---

पोर्टर ने लिखा है कि अपने शरीर को सजाने का बेहद चाव रखनेवाले तवी नामक पुरुष ने, अपनी रूपवती पत्नी को, लाल वस्तु के टुकड़े और कांच-खण्ड प्राप्त करने के लिये पण्य रूप में प्रस्तुत किया। फिजी की स्त्रियां सम्पत्ति की दूसरी वस्तुओं की भांति इच्छानुसार बेची जाती हैं। सामान्य रूप से उनका दाम एक बन्दूक होता है, अन्य उदाहरणों के लिये देखिये वैस्टरमार्क--ओडेमा० १।६२९ अनु०। प्रायः इन सब में पत्नी को सम्पत्ति समझकर बेचा या उधार दिया गया है। आगे बताया जायगा कि कई बार पत्नी अतिथि सेवा के लिये भी दी जाती थी। प्लूटार्क ने प्राचीन यूनान और रोम के अनेक प्रसिद्ध पुरुषों की जीवनी लिखते हुए उनके द्वारा पत्नी दान का उल्लेख किया है। भलाई की प्रतिमूर्त्ति किमोन ने अपनी पत्नी कैलियास नामक धनी पुरुष को, तथा प्रसिद्ध दार्शनिक सुकरात ने अपनी पत्नी जैनटिपि अपने मित्र अल्सीबियाडीज़ को कुछ समय के लिये दी थी। धन लोलुपता से केटो जैसे प्रसिद्ध रोमन महापुरुष ने कुलीन सन्तान चाहनेवाले होर्टेनसियस को अपनी गर्भवती पत्नी मार्शिया, अपने श्वसुर फिलिप के परामर्श से प्रदान की। (केटो आफ अटिका ३६,६८)। स्पार्टा में उत्तम सन्तान प्राप्त करने की दृष्टि से दूसरे को पत्नी देना बुरा नहीं समझा जाता था। प्लूटार्क के वर्णनानुसार वहां लाइ-करगस द्वारा की गयी व्यवस्था के अनुसार सुन्दर युवक अधिक आयुवाले पुरुष की तरुणी पत्नी के पास जा सकता था। किसी स्त्री को उसकी लज्जालुता तथा उसके बच्चों के सौन्दर्य के कारण, उसे चाहनेवाले व्यक्ति को वह बीज-वपन की अनुकूलता देने का पक्षपाती था (लाइकरगस ३९)।

स्थानों में मदयन्ती के पति का नाम मित्रसह है, तीसरे में सौदास और चौथे में कल्माषपाद। किन्तु सब जगह इस दान को पानेवाले महर्षि वसिष्ठ ही हैं। इन स्थलों के सूक्ष्म अध्ययन से इस दृष्टान्त की प्रामाणिकता में सन्देह उत्पन्न हो जाता है। पहले दो प्रसंग दान के माहात्म्य का बखान करनेवाले हैं। इनमें यह वर्णन है कि अतीतकाल में प्राचीन राजाओं ने ब्राह्मणों को किन वस्तुओं का दान कर उत्तम गति प्राप्त की। इसी प्रकरण में यह कहा गया है कि राजा मित्रसह महर्षि वसिष्ठ को अपनी प्रिय भार्या मदयन्ती का दान कर स्वर्गलोक में गये[२९]। राजाओं के इस स्तोत्र पाठ को ऐतिहासिक घटना स्वीकार करना उचित नहीं प्रतीत होता। यहां महाभारतकार का मुख्य उद्देश्य यह मालूम होता है कि अपनी अत्यन्त प्रिय वस्तुओं के दान में भी संकोच नहीं करना चाहिये[३०]।

मदयन्ती के दान के शेष दो प्रसंग आदि पर्व में हैं और दोनों स्थानों में इसके प्रयोजन विभिन्न हैं। १।१२२।२२-२३ में इसका उद्देश्य नियोग है तथा १।१८४ में ऋतुरक्षा। पहले स्थल में पाण्डु कुन्ती को नियोग के लिये प्रेरित हुआ यह कहता है कि मदयन्ती ने अपने पति सौदास की प्रसन्नता के लिये ऐसा कार्य किया था ( एवं कृतवती साऽपि भर्तुः प्रियचिकीर्षया )। पहले अध्याय में यह बताया जा चुका है कि पाण्डु के इस कथन को ऐतिहासिक तथ्य नहीं माना जा सकता। दूसरे स्थल से यह प्रतीत होता है कि उस समय के विचारशील व्यक्तियों को यह कार्य पसन्द नहीं था। अर्जुन यह पूछता है —'राजा कल्माषपाद ने वेदज्ञों में श्रेष्ठ वसिष्ठ के पास किस कारण पत्नी भेजी और श्रेष्ठ धर्म के ज्ञाता होते हुए वसिष्ठ ने इसे क्यों स्वीकार किया, महाभारतकार का उत्तर है कि कल्माषपाद एक ब्राह्मणी के शाप से पीड़ित थे, इसलिये ऋतुकाल में पत्नीगमन से उसकी अविलम्ब मृत्यु निश्चित थी[३१]। अतः वह वसिष्ठ

---

२९. राजा मित्रसहश्चैव वसिष्ठाय महात्मने। मदयन्तीं प्रियां भार्यां दत्त्वा च त्रिदिवं गतः ( १२।२३४।३० )।

३०. वृषादर्भि युवनाश्व द्वारा स्त्रीदान का भी यही उद्देश्य है। १२।२३४।२५ में उसके दान की विविध वस्तुओं का वर्णन करते हुए समस्त रत्न तथा रमणीय गृह के साथ प्रिय स्त्रियों का भी उल्लेख है, किन्तु १३।१३७।१० में विविध रत्नों और रमणीय आवास स्थान का ही वर्णन है। दोनों प्रसंग दान-माहात्म्य के ही हैं।

३१. १।१८४।२० पत्नीमृतावनुप्राप्य सद्यस्त्यक्ष्यसि जीवितम्।

द्वारा पत्नी की ऋतुरक्षा करवाने के लिये बाधित हुआ। भारतीय शास्त्रों में ऋतुकालाभिगामी होने तथा इस दशा में पत्नी को निराश न करने का बहुत अधिक वर्णन हुआ है,[३२] यहां संभवतः उसी का प्रतिपादन है, न कि वास्तविक

---

३२. यहां केवल महाभारत से इस बिषय थोड़े से प्रमाण दिये जायेंगे। भीष्म ने पति के ऋतुकालाभिगामी ( १२।२२१।११, १२।२४३।७ ) होने का विधान किया है, ऋतु न होने पर पत्नी का अभिगमन गोहत्या के समान है (१३।९३।१२४ )। आदि पर्व में यह बताया गया है कि पति अपनी ऋतुस्नात पत्नी के पास जाना कितना आवश्यक समझते थे; इसमें किसी कारण से असमर्थ होने पर किन उपायों का अवलम्बन करते थे, यह राजा उपरिचर की कथा ( १।६३ ) से स्पष्ट है। वन में मृगया के लिये गये हुए राजा को जब अपनी पत्नी गिरिका का ध्यान आया, तो उन्होंने उसकी ऋतु निष्फल न होने देने के लिये एक पक्षी द्वारा अपना वीर्य भेजा। यह द्वितीय महासमर में सैनिकों द्वारा भेजे गये इस द्रव का स्मरण कराता है। कालिदास के कथनानुसार राजा दिलीप ऋतुस्नात पत्नी के पास पहुँचने की जल्दी में थे, उन्होंने सुरभि का सम्मान नहीं किया; अतः उन्हें अपुत्र होने का शाप मिला ( रघुवंश पहला सर्ग )। इस काल में पुरुषों से स्त्रियों की ऋतुदान की मांग कितनी जबर्दस्त होती थी, यह धौम्य और शर्मिष्ठा के आख्यानों से स्पष्ट है। धौम्य ऋषि घर से बाहर जाते हुए सारी व्यवस्था अपने शिष्य उत्तंक को सौंप गये थे। ऋषि पत्नी के ऋतुमती होने पर, दूसरी स्त्रियों ने उत्तंक को उसका ऋतुकाल सफल बनाने तथा उसे निराश न करने की प्रेरणा की, किन्तु गुरुपत्नी होने से, उत्तंक ने ऐसा नहीं किया ( महाभा० १।३।४२ अनु० )। शर्मिष्ठा देवयानी की दासी बनकर ययाति के घर पर आयी थी। ऋतु स्नात होने पर उसने ययाति से 'ऋतुं देहि' की मांग की, राजा को बहुत कुछ समझाकर उससे सन्तान प्राप्त की। बाद में देवयानी के पिता इस पर बहुत रुष्ट हुए; इस पर राजा ने उसे कहा--यदि कोई स्त्री ऋतु याचना करती है और पुरुष उसे यह देना अस्वीकार करता है तो ब्रह्मवादी उसे भ्रूणहत्या का पापी बताते हैं (८३।३३-३४ )। ऋतुकाल को यह असाधारण महत्त्व देने के दो कारण प्रतीत होते हैं---इस समय सन्तानोत्पादन की संभावना तथा पत्नी का सब प्रकार की मलिनताओं से मुक्त होना। तै० सं० २।५।१।२-५ के अनुसार, स्त्रियों ने पुराने जमाने में इन्द्र से वृत्र की हत्या का

पत्नी दान का। महाभारतकार ने कल्माषपाद के लिये जो लम्बी चौड़ी सफाई दी है, उससे यह प्रतीत होता है कि पतियों को पत्नी पर स्वत्व प्राप्त होने पर भी इसका प्रयोग बहुत बुरा समझा जाता था।

**द्रौपदी को दांव पर लगाना**—प्राचीन भारत में पति द्वारा पत्नी को पण्य वस्तु बनाने का सब से प्रसिद्ध और निर्विवाद उदाहरण महाभारत के सभापर्व ( अ० २।६५ ) में मिलता है। द्यूतान्ध धर्मराज ने सब कुछ हार जाने पर शकुनि के उकसाने से[33] पूरे सात श्लोकों में ( ३५-४१ ) द्रौपदी के रूप और शील का बखान करते हुए, उस की बाजी लगायी; उस समय सभा में बैठे वृद्ध पुरुषों के मुंह से धिक्कार के शब्द निकले। सब लोग क्षुब्ध थे, राजा शोकमग्न हुए, भीष्म, द्रोण, कृप लज्जा से पानी हो गये। इस बार भी युधिष्ठिर दांव हार गये। दुर्योधन ने द्रौपदी को वहां लाने तथा उससे घर की सफाई करवाने का आदेश दिया। इस प्रसंग में यह बात ध्यान देने योग्य है कि तेजस्बिनी द्रौपदी भरी सभा में, धर्मराज द्वारा अपने को दांव पर रखने के अधिकार में, इस आधार पर ही संदेह प्रकट करती है,[34] कि धर्मराज पहले अपने को हार चुके थे; उसके बाद उन्हें उसे बाजी बनाने का अधिकार नहीं

---

एक तिहाई पाप लेते हुए, उससे इस काल में पुत्र प्राप्त करने का वर लिया था। पाप लेने का विचार भागवत पुराण ( ६।९।९ ) तथा सन्तान पाने की बात मार्कण्डेय पुराण (४९।८ अनु० ) में भी है। यह समझा जाता था कि रजो दर्शन प्रतिमास उनके उन पापों को धो डालता है (महाभा० कुं० १३।५८।१० मासि मासि ऋतुस्तासां दोषान्यपकर्षति मि० वही कुं० १३।५९।२१-२२ तथा कुं० १।१९०।५ )। इस समय सन्तान प्राप्ति की अधिक संभावना होने से इस काल को सफल न बनानेवाला भ्रूण हत्या का पापी माना गया है (बौधा० ४।१।१९ )। आगे यह बताया जायगा कि स्त्री के कुलटा होने पर भी शास्त्रकारों ने उसे घर से निष्कासन का दण्ड नहीं दिया है; किन्तु यदि वह पति से द्वेष के कारण जान-बूझकर अपना ऋतुकाल गंवाती है तो उसके लिये इस भीषण दण्ड का विधान है। बौधा० ४।१।२२–भर्तुः प्रतिनिवेशेन या स्कन्दयेदृतुम्। तां ग्राममध्ये विख्याप्य भ्रूणघ्नीं निर्धमेद् गृहात्॥ विर० (पु० ४२५) में मनु के नाम से इस आशय के दो श्लोक हैं।

३३. महाभारत २।६५।३४ अस्ति ते वै प्रिया राजन्ग्लह एकोऽपराजितः। पणस्व कृष्णां पांचालीं तयाऽऽत्मानं पुनर्जय॥

३४. वहीं २।६७।७ किं नु पूर्वं पराजैषीरात्मानमथवाऽपि माम्।

था। इसकी स्पष्ट अर्थापत्ति यह है कि हारने से पहले युधिष्ठिर को अपनी पत्नी को पण बनाने का अधिकार था। उस समय केवल विकर्ण और विदुर ने ही द्रौपदी का समर्थन करते हुए उसे अविजित बतलाया[३५], किन्तु कर्ण ने इस का खण्डन करते हुए कहा--'जब युधिष्ठिर ने जुए में सर्वस्व लगा दिया तो द्रौपदी अविजित कैसे रह सकती है, वह तो उसके सर्वस्व में सम्मिलित थी[३६]। कर्ण की मुख्य युक्ति यह है कि पत्नी की स्वतंत्र स्थिति नहीं है[३७], वह दास के समान पति की सम्पत्ति है। उसकी इस युक्ति का विदुर, विकर्ण, भीष्म, कृप आदि किसी व्यक्ति ने खण्डन नहीं किया। कर्ण उपर्युक्त वचन के बाद ही, दुःशासन को, पाण्डवों तथा द्रौपदी के वस्त्र उतरवाने का आदेश देता है।

**पत्नी दान पर प्रतिबन्ध**--वैदिक युग में पत्नी पण्य वस्तु न होने पर भी महाभारत के समय तक अवश्य पति की सम्पत्ति समझी जाने लगी थी। युधिष्ठिर जैसे धर्मात्मा अपने अन्य द्रव्यों के साथ उसे पण बनाने में नहीं हिचकते थे। हिन्दू शास्त्रकारों को यह स्थिति अभीष्ट नहीं थी; अतः छठी शताब्दी ई० पू० से उन्होंने पति के पत्नी दान के अधिकार पर प्रतिबन्ध लगाने शुरू किये। उस समय यद्यपि पति की प्रभुता में वृद्धि हो रही थी, तथापि शनैः-शनैः उससे पत्नी के यथेच्छ विनियोग का अधिकार छीन लिया गया। इसे दो अवस्थाओं में बांटा जा सकता है। पहली अवस्था तीसरी श० ई० तक रही। इसमें आपत्तिकाल में ही पत्नी देय मानी गयी। दूसरी अवस्था गुप्त युग से प्रारम्भ हुई। इसमें आपत्ति में भी पत्नी अदेय स्वीकार की गयी।

**पहली अवस्था**--इसमें गौतम ने यह कहा--'अनापत्ति में पुत्र और भार्या का दान करनेवाले को छः या बारह वर्ष का प्रायश्चित्त करना चाहिए[३८],

---

३५. वहीं २।६७।४ न हि दासीत्वमापन्ना कृष्णा भवितुमर्हति। अनीशेन हि राज्ञैषा पणे न्यस्तेति मे मतिः॥

३६. वहीं २।६८।३०-३२ यदा सभायां सर्वस्वं न्यस्तवान् पाण्डवाग्रजः। अभ्यन्तरा च सर्वस्वे द्रौपदी भरतर्षभ। एवं धर्मजितां कृष्णां मन्यसे न जितां कथम्।

३७. वहीं २।७१।१ त्रयः किलेमे ह्यधना भवन्ति दासः पुत्रश्चास्वतन्त्रा च नारी। मि० १।८२।२२। भीम ने कर्ण की बात का अनुमोदन करते हुए कहा है--नाहं कुप्ये सूतपुत्रस्य राजन्नेष सत्यं दासधर्मः प्रदिष्टः।

३८. सरस्वती विलास ( पृ० २७८-९ ) में उद्धृत, अनापदि पुत्रदारादिदाने षड्वार्षिकं चरेत्। द्वादशवार्षिकं चरेत्।

विष्णु पुत्र और पत्नी के दाता को जातिच्युत ठहराता है[३९]। कौटिल्य ने रुपया चुकाने के लिये अपने सारे धन, पुत्र और पत्नी को देना उचित माना[४०], किन्तु याज्ञवल्क्य ने स्पष्ट रूप से पत्नी को अदेय बताया; अपनी भार्या, पुत्र तथा कुटुम्ब भरण के लिये आवश्यक धन के अतिरिक्त सम्पत्ति को ही दातव्य माना[४१]।

**दूसरी अवस्था**--याज्ञवल्क्य की व्यवस्था में दो बड़े दोष थे। पत्नी का दान करनेवाले के लिये दण्ड का विधान नहीं था और पुरानी परम्परा का आश्रय लेकर, आपत्ति का बहाना या उसकी मनमानी व्याख्या करनेवालों के पत्नीदान पर कोई प्रतिबन्ध न था। गुप्तयुग में नारद ने इन दोनों दोषों को दूर करते हुए, पत्नी की गणना अदेय वस्तुओं में की और यह कहा कि भयंकर आपत्ति में भी इनका दान नहीं करना चाहिये; इनका दान करने तथा लेने-वालों को वह राजदण्ड योग्य बताता है[४२]। बृहस्पति ने नारद से मिलती जुलती व्यवस्था की[४३]। कात्यायन ने इस सम्बन्ध में दो विरोधी मतों का निर्देश किया है। पहला तो यह कि आपत्ति काल न होने पर पुत्र और पत्नी का विक्रय तथा दान, उनकी इच्छा न होने पर नहीं हो सकता; आपत्तिकाल में यह हो सकता है[४४]। किन्तु अन्यत्र दूसरी व्यवस्था करते हुए वह कहता है कि पति को पत्नी पर अनुशासन का ही अधिकार (वशित्व) है, दान या विक्रय का नहीं[४५]। कात्यायन के पुत्र आदि के सम्बन्ध में अन्य नियमों को देखते

३९. वहीं पृ० २७८ पुत्रदारादिदाता पतितो भवति।

४०. कौ० ३।१६।३ सर्वस्वं पुत्रदारमात्मानं वा प्रदायानुशयिनः प्रयच्छेत्।

४१. याज्ञ० २।१७५ स्वं कुटुम्बाविरोधेन देयं दारसुतादृते।

४२. नास्मृ० ७।५, १२ अन्वाहितं याचितकमाधि साधारणं च यत्। निक्षेपः पुत्रदारं च सर्वस्वं चान्वये सति। आपत्स्वपि हि कष्टासु वर्त्तमानेन देहिना अदेयान्याहुराचार्या यच्चान्यस्मै प्रतिश्रुतम्। गृह्णात्यदत्तं यो मोहाद्यश्चादेयं प्रयच्छति। दण्डनीया वुभावेतौ धर्मज्ञेन महीक्षिता।

४३. अपरार्क २।१७५, सवि० २७७,७८

४४. अपरार्क वहीं, विक्रयं चैव दानं च न नेयाः स्युरनिच्छवः। दाराः पुत्राश्च सर्वस्वमात्मन्येव तु योजयेत्।।

४५. सवि० २८३ न दारेषु पुत्रेषु न बन्धुष्वनपेक्षकाः। सर्वकार्येषु पुरुषाः स्वद्रव्ये प्रभविष्णवः। अतश्तसुतदाराणां वशित्वं चानुशासने। विक्रये चैव दाने च वशित्वं न सुते पितुः।

हुए यह कहा जा सकता है कि पहले मत में वह पुरानी परम्परा का वर्णन कर रहा है। उसकी वास्तविक व्यवस्था यही है कि पति को पत्नी दान का कोई अधिकार नहीं। अतः यह समझना चाहिये कि छठी श० ई० में पत्नी पति की सम्पत्ति नहीं रही; देवता होने पर भी, भर्त्ता भार्या का दान और विक्रय नहीं कर सकता था। योरोप में १९वीं शती के आरम्भ तक पतियों को यह अधिकार प्राप्त था[४६]।

**ताड़न का अधिकार**--हिन्दू पति को, पत्नी का स्वामी तथा गुरु होने से, कुछ अवस्थाओं में उसे पीटने का अधिकार था। प्राचीन काल में प्रायः सभी आदिम तथा सभ्य समाजों में भर्त्ता भार्या को शारीरिक दण्ड दे सकता था। इंगलैण्ड में कामन लॉ के सर्वोत्तम व्याख्याता ब्लैकस्टोन ने इसका समर्थन किया है[४७] और वहां १८९१ तक पतियों को यह अधिकार प्राप्त था। हिन्दू समाज की व्यवस्था में अन्य समाजों के इस संबन्ध के विधानों से विशेष अन्तर यह है कि यहां आज से २२०० वर्ष पूर्व पतियों को इस विषय में कानून द्वारा नियन्त्रित करने का प्रयत्न किया गया था।

---

४६. ग्रिम ने लिखा है कि १८२८ ई० तक इंगलैण्ड में पति अपनी पत्नियों को मण्डियों में लाकर खुले आम बेचा करते थे ( मुइलर-फैमिली पृ० २२४ )।

४७. इंगलैण्ड के कानूनों की टीका ( पुस्तक १, अध्याय १५, पृ० ४३२-३३ )। मध्यकालीन अंग्रेजी कानून के अनुसार पति पत्नी को पीटने के लिये अंगूठे से अधिक मोटी छड़ी का प्रयोग नहीं कर सकता था, किन्तु कुछ पशुतुल्य पति इसे नमक के पानी और सिरके में भिगोकर खूब मजबूत बना लेते थे, ताकि स्त्री के विलाप अधिक से अधिक दर्द भरे हों ( स्मिथ--हिस्टरी आफ माडर्न कल्चर पृ० ५२९ )। चासर की एक कहानी में पति पहले पत्नी को पीट कर उसकी एक हड्डी तोड़ता है और डाक्टर से इसका इलाज कराने के बाद उसकी टांग लंगड़ी कर देता है। पत्नी को प्राचीन तथा आधुनिक काल में पति द्वारा पीटने के अधिकार के लिये देखिये लश--हस्बैण्ड एण्ड वाइफ (४ र्थ संस्करण १९३३, पृ० २४-२९)। फिजी के नृशंस पति पत्नियों को पेड़ों के साथ बांधकर तथा कोड़ों से पीटकर अपना मनोरंजन करते थे ( विलियम्ज फिजी एण्ड दी फिजियन्स १।१५६ )। आस्ट्रेलिया में पति द्वारा पत्नी के पीटे, मारे तथा खाये जाने के उल्लेख मिलते हैं (लतूर्नो--इवोल्यूशन आफ मैरिज पृ० १०६)। रोम के पति इस

बृहदारण्यक उपनिषद् में संभवतः पति द्वारा पत्नी को छड़ी या हाथ से पीट सकने का पहली बार उल्लेख है[४८]। किन्तु यहां ताडन का न तो कोई उदात्त प्रयोजन है और न इसकी मात्रा नियत की गयी है। कौटिल्य ने सर्व प्रथम इस संबन्ध में सुन्दर व्यवस्था की है। पत्नी को अनुशासन में रखने के लिये उसे दुर्वचन न कहे जायँ, बांस की पतली खपची, रस्सी या हाथ से पत्नी की पीठ पर पति तीन प्रहार करे। इसका अतिक्रमण करने पर उसे वाग्दण्ड और पारुष्य दण्ड का आधा दण्ड दिया जाय[४८]। इससे यह स्पष्ट है कि चौथी शताब्दी ईस्वी पूर्व में पत्नी पर तीन से अधिक आघात करनेवाला पति राजकीय दण्ड का अपराधी होता था। महाभारतकार को पत्नियों का मर्यादित ताडन भी सह्य नहीं है। उसके मत में पापी घर में ही स्त्रियों को पीटा जाता है[४९];

---

अधिकार का पूरा उपयोग करते थे। सन्त मोनिका ने कई रोमन पत्नियों के चेहरों पर पतियों द्वारा ताड़ना के चिन्ह देखकर उन्हें अपनी वाणी पर संयम रखने का उपदेश दिया था (सैण्ट आगस्टाइन--कनफैशन्स ९।९)। मध्ययुगीन योरोप में बोमेनायर के विधान में पत्नी के आज्ञा भंग अथवा अनिष्ट कामना करने पर पति को उसे ताड़न का अधिकार था, बशर्ते कि वह नर्मी से पीटे और इस से पत्नी की मृत्यु न हो (लतूर्नो--वहीं पृ० २०४)। रूस में विवाह के बाद वर वधू को अपने घर ले जाते समय पीठ पर हल्के कोड़े लगाता जाता था। शयन कक्ष में प्रविष्ट होने पर, वह पत्नी को अपने जूते खोलने के लिये कहता था; एक जूते में वह अपने पर पति के प्रभुत्व की सूचना देनेवाला कोड़ा पाती थी। अपनी इच्छानुसार, पति पत्नी के व्यवहार को परुष वचनों तथा कठोर प्रहारों से सुधार सकता था (कोवलस्की--माडर्न कस्टम्ज़ एण्ड एन्शेण्ट लाज़ आफ रशिया पृ० ४४)। १६वीं शती में जर्मनी में यह कहावत थी कि गधा तथा स्त्री पिटने के लिये होते हैं।

४८. बृह० उप० ६।४।७ सा चेदस्मै न दद्यात्काममेनामवक्रीणीयात्सा-चेदस्मै नैव दद्यात्काममेनां यष्टया वा पाणिना वोपहत्यातिक्रामेत्। शांकर-भाष्य--सा चैदस्मै न दद्यान्मैथुनं कर्म कर्तु काममेनामवक्रीणीयादाभरणादिना ज्ञापयेत्। तथाऽपि सा नैवदद्यात्काममेनां यष्टया व पाणिना वोपहत्यातिक्रामे-न्मैथुनाय। कौ० ३।२।९-११ नग्ने विनग्नेऽपितृकेऽमातृके इत्यनिर्देशेन विनय-ग्राहण म्। वेणुदल रज्जुहस्तानामन्यतमेन पृष्ठे त्रिराघातः। तस्यातिक्रमे वाग्दण्ड पारुष्यदण्डाभ्यामर्धदण्डाः।

४९. महाभा० १३।१२७।६ योषितश्चैव हन्यन्ते कश्मलोपहते गृहे।

उत्सव तथा पर्व के समय देवता और पितृगण ऐसे व्यक्ति के घर से निराश लौटते हैं। जो पुरुष ब्राह्मण, स्त्रियों, संबन्धियों और गौओं में अपना पराक्रम दिखाता है, उसका डंठल से पके फल की भांति पतन होता है[५०]। स्त्रियों पर नृशंसता करनेवाला व्यक्ति धर्मत्यागी है ( १३।१९३।१२२ ) । अनुशासन पर्व में स्त्रियों पर क्रूरता करनेवाला ब्रह्मघाती के समान महापापी माना गया है ( ९४।२९ )। महाभारतकार न केवल स्त्रियों को मानव जाति का अंग ही मानता था, अपितु उन्हें गौओं और ब्राह्मणों की तरह पूज्य भी समझता था। महापरिनिर्वाण तन्त्र इसे प्रायश्चित्त योग्य अपराध ठहराता है ( ९।६४ )। उसके अनुसार स्त्री को दुर्वचन कहनेवाले को एक दिन का उपवास करना चाहिये, ताड़न करने वाले को तीन दिन का और यदि पीटने से खून बहने लगे, तो सात दिन का।

मनु ने कौटिल्य की भांति प्रहारों की मात्रा नहीं नियत की; पर प्रहार के स्थल को मर्यादित करते हुए[५१], उसका भंग करनेवाले के लिये दण्ड का निर्देश किया है। 'यदि पत्नी, पुत्र, दास, नौकर और सगा भाई अपराध करे, तो इन्हें रस्सी ( कोड़े) या खपची से पीठ पर ही पीटना चाहिये। सिर पर कभी ताड़न नहीं करना चाहिये। सिर पर मारनेवाले को चोरी का दण्ड मिलना चाहिये। यम ( विर० २ ) इसी प्रकार की व्यवस्था करता है। इसके अनुसार स्त्रियों को पीठ पर ही मारा जा सकता है, दूसरे स्थान पर प्रहार करनेवाले को चोरी का दण्ड दिया जाना चाहिये। पति द्वारा पत्नी के ताड़न के अधिकार पर हिन्दू समाज की भांति अन्य समाजों में भी प्रतिबन्ध लगाये गये हैं[५२]।

---

५०. वही ५।३६।६१ ब्राह्मणेषु च ये शूराः स्त्रीषु जातिषु गोषु च। वृन्तादिव फलं पक्वं धृतराष्ट्र पतन्ति ते ॥

५१. मनु० ८।२९९-३०० भार्या पुत्रश्च दासश्चप्रेष्यो भ्राता च सोदरः। प्राप्तापराधास्ताड्या स्यूरज्ज्वा वेणुदलेन वा ॥ पृष्ठतस्तु शरीरस्य नोत्तमांगे कथंचन। अतोऽन्यथा प्रहरन् प्राप्तः स्याच्चौरकिल्विषम् ।। मि० मत्स्य पुराण २२७।१५२-५४। याज्ञ० ने भार्या प्रहारक के लिये पचास पण के दण्ड की व्यवस्था की है।

५२. पत्नी को पीटने का अधिकार अनेक समाजों में सीमित होता है। यूबोल्ड ने मलक्कावासियों के सम्बन्ध में लिखा है कि वहां यद्यपि पति पत्नी

उपर्युक्त प्रतिबन्धों के साथ मध्ययुग में पत्नी का ताड़न स्वाभाविक समझा जाता था। शंख स्मृति (४।१६) के शब्दों में लालन और ताड़न से स्त्री श्री अर्थात् घर की शोभा बनती है। तुलसीदास ने अपने समय की अवस्था सूचित करते हुए कहा था 'शूद्र गंवार ढोल पशु नारी। ये सब ताड़न के अधिकारी।'

वर्तमान युग में भारतीय न्यायालयों ने इंगलैण्ड की अदालतों का अनुकरण करते हुए, हिन्दू पति के ताड़न के अधिकार को बहुत मर्यादित कर दिया है। पति के क्रूर होने पर पत्नी उससे कानूनी त्याग (Judicial Separation) प्राप्त कर सकती है। क्रूरता का आशय केवल मार-पीट ही नहीं, जिससे पत्नी के स्वास्थ्य को खतरा पैदा हो; अपितु ऐसी मार-पीट की तर्कसंगत संभावना (Reasonable Apprehension) भी क्रूरता समझी जाती है[५३]।

**अधिवेदन तथा भार्या त्याग के अधिकार**--हिन्दू परिवार में पति को कुछ दशाओं में एक पत्नी होते हुए, दूसरी स्त्री से विवाह (अधिवेदन) का तथा भार्या त्याग का अधिकार था। पुरुष को पुनर्विवाह का अधिकार देने का मूल कारण पुत्र प्राप्ति की कामना और धर्म पालन की चिन्ता थी। आपस्तम्ब ध० सू० ने धर्म तथा सन्तान का प्रयोजन पूर्ण होने पर पुरुष द्वारा दूसरे विवाह का निषेध और इसे करने पर कठोर प्रायश्चित्त की व्यवस्था की है (२।५।११।१२-१३)। यज्ञ करने की दृष्टि से मनु ने (५।१६८) तथा याज्ञवल्क्य (१।८८) ने पहली पत्नी के मर जाने पर, पुरुष को अविलम्ब दूसरा विवाह करने की

---

को दास की भांति पीट सकता है; पर इतना ताड़न उचित नहीं समझा जाता कि खून बहने लगे। मुस्लिम शरीयत के अनुसार पत्नी के सुधार के लिये ताड़न का अधिकार होते हुए भी पति को उसे इतना नहीं पीटना चाहिये कि कोई घाव हो जाय। प्लूटार्क के कथनानुसार समझदार रोमन पत्नी और बच्चों को पीटना पवित्र वस्तु पर हाथ उठाना समझते थे। योरोप में मध्यकाल के जिस्केलव आदि नियम निर्माताओं ने पत्नी को हथियार से पीटने तथा अंग भंग करने का निषेध किया था (वैस्टरमार्क पू० नि० पृ० ५१५)। इस मर्यादा का प्रधान कारण पत्नी के प्रति मानवीय एवं दयालुतापूर्ण व्यवहार है।

५३. सीलाबाई ब० रामचन्द्रराव १२ बं० ला० रि० ३७३ (३७७); जमना बाई ब० नारायण १ बं० १६४ (१७४)।

सलाह दी। गुप्त युग तक कुछ अवस्थाओं में पत्नी को पुनर्विवाह का अधिकार होने से[५४] पति पत्नी के अधिकारों में बड़ा अन्तर नहीं था; विधवा विवाह के निषेध से दोनों की स्थिति में वैषम्य बहुत बढ़ गया। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि शास्त्रकारों ने अधिवेदन के अधिकार पर अनेक प्रतिबन्ध लगाये हैं। यही दशा भार्या त्याग के अधिकार की है। पति कुछ असाधारण दशाओं में ही पत्नी को छोड़ सकता था, किन्तु उसे छोड़ने का अर्थ उसे घर से निकालना अथवा पूर्ण सम्बन्ध विच्छेद नहीं था, इसका अभिप्राय केवल इतना ही था कि वह पत्नी को दाम्पत्य, धार्मिक तथा बोलचाल आदि लौकिक अधिकारों से वंचित करता था[५५]। पत्नी का पति से भरण-पोषण पाने का अधिकार बना रहता था। व्यभिचार के अपराध में भी पति-पत्नी को नहीं छोड़ सकता था[५६]।

**भार्या त्याग के कारण**——सामान्य रूप से हिन्दू शास्त्रकारों ने कुछ विशेष कारण होने पर ही पति को भार्या त्याग का अधिकार दिया है। हारीत गर्भघातिनी, हीन वर्ण के पुरुष के साथ सम्बन्ध करनेवाली, शिष्य सुतगामिनी, शराबी तथा धनधान्यक्षयकरी पत्नी के त्याग का अधिकार देता है (व्यक० १३२, २४६)। बौधायन ने पति की सेवा न करनेवाली, स्वैरिणी तथा पतिघातिनी पत्नी के त्याग का विधान किया है (स्मृच २४७)। वसिष्ठ (२१।११) शिष्यगामिनी, गुरुगामिनी, चर्मकारादि पतित पुरुषगामिनी के त्याग की व्यवस्था करता है। मनु ने (९।७७-७८) कहा है——पति से द्वेष करनेवाली स्त्री के लिए एक साल प्रतीक्षा करे, एक साल के बाद भी वह पति से द्वेष करे, तो उसके दाय को छीनकर, उसका त्याग करे। जो स्त्री अपने प्रमत्त (द्यूतादि में फंसे हुए), मत्त (शराबी) या रुग्ण पति की सेवा न करके अन्यत्र जाती है, उसके आभूषण तथा अन्य सामान

---

५४. नारद स्मृति १३।९९ नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबे च पतिते पतौ। पंचस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते।।

५५. वसिष्ठ ध० सू० १७।६६ व्यवाये तीर्थगमने धर्मेभ्यश्च निवर्त्तते। मि० स्मृति चन्द्रिका की व्याख्या (पृ० २४) ततश्चायमर्थः संभोगसहाधिकारसंस्पर्शसंभाषणादिभ्यो वर्जिता स्त्री निवर्त्तते।।

५६. हारीत (स्मृच २४२) भार्याया व्यभिचारिण्याः परित्यागो न विद्यते। दद्यात्पिण्डं कुचेलं च अधः शय्यां च शाययेत्।।

छीनकर तीन मास तक उसका त्याग करना चाहिए। पत्नी के शराबी, कुलटा, प्रतिकूल, रोगिणी, हिंस्र या अपव्ययी होने पर पति को दूसरा विवाह कर लेना चाहिए ( ९।८० मि० याज्ञ० १।७३ )।

विवाह का एक प्रधान प्रयोजन सन्तानोत्पादन था। पुत्र ऐहिक व पारलौकिक कार्यों के लिए आवश्यक समझा जाता था ( दे० सातवां अध्याय )। अतः मनु कहता है--पत्नी के वन्ध्या होने पर पति को विवाह के आठवें वर्ष में दूसरा विवाह कर लेना चाहिए। यदि उसकी सब सन्तानें पैदा होकर मर जाती हैं, तो १०वें वर्ष में अधिवेदन करना चाहिए। यदि कन्यायें ही पैदा हों, तो ११वें वर्ष और यदि पत्नी अप्रियवादिनी हो तो पति को फौरन दूसरा विवाह कर लेना चाहिए[५७]।

कौटिल्य ने वन्ध्या, मृतप्रजा तथा कन्या प्रसविनी के सम्बन्ध में मनु से मिलती जुलती व्यवस्था की है ; किन्तु उसकी अप्रियवादिनी की शर्त का उल्लेख नहीं किया और आठ वर्ष से पहले विवाह करनेवाले के लिये दण्ड का विधान किया है। ऐसे व्यक्ति को राज्य को २४ पण का जुर्माना देना पड़ता था तथा पहली स्त्री को दूसरा विवाह करने से होनेवाली क्षति पूरी करने के लिये पर्याप्त धन ( आधिवेदनिक ) तथा कन्या शुल्क का आधा स्त्री धन देना भी आवश्यक था ( ३।२।४७-५१ ), वह पतियों को इस विषय में कोई विशेष अधिकार नहीं देता। प्राचीन यूनान में पतियों को इस बात का दुःख था कि दहेज ने भार्यात्याग को कठिन बना दिया है[५८]। मौर्य

---

५७. मनु० ९।८१ वन्ध्याष्टमाधिवेद्याब्दे दशमे तु मृतप्रजा। एकादशे स्त्रीजननी सद्यस्त्वप्रियवादिनी ॥ कुल्लूक यहां अप्रियवादिनी के साथ अपुत्र होने की शर्त्त जोड़ता है। अप्रियवादिनी सद्य एव यद्यपुत्रा भवति। पुत्रवत्यां तु 'धर्मप्रजासंपन्ने दारे नान्यां कुर्वीत, अन्यतरापाये तु कुर्वीत, इत्यापस्तम्बनिषेधाददधिवेदनं न कार्यम्।

५८. यूरीपाइडीज ने अपने नाटक मेलनिप्पस में एक पात्र से यह कहलवाया है--'दहेज तलाक को कठिन बना देता है।' इसका कारण यह था कि यूनान में यद्यपि पति पत्नी का परित्याग कर सकता था, परन्तु उसे दहेज वापिस करना तथा उस पर सूद देना आवश्यक होता था। प्लूटार्क के कथनानुसार रोम के संस्थापक रोमुलस ने यह कानून बनाया था कि पत्नी छोड़नेवाले पति को उसे अपनी सम्पत्ति का आधा हिस्सा देना चाहिये।

युग में हिन्दू-परिवार में भी पति पत्नी को छोड़ते हुए अवश्य घबराते होंगे; क्योंकि पत्नी छोड़ने के साथ उन्हें काफी आर्थिक क्षति उठानी पड़ती थी।

देवल ने भी मनु० ९।८१ की पहली तीन शर्तों को दोहराया है (स्मृच २४४); किन्तु अप्रियवादिनी पत्नी के त्याग का कोई उल्लेख नहीं किया। कुछ शास्त्रकार दूसरा विवाह करने से पहले पति के लिये पहली पत्नी की आज्ञा एवं परितोषण आवश्यक समझते हैं। मनु का मत है कि यदि पत्नी हितैषिणी, शीलसम्पन्ना और रोगिणी हो, तो उसकी अनुमति प्राप्त करके ही दूसरा विवाह करना चाहिए ( ९।८२ )। कई पत्नियां सौत के आ जाने पर अपने दुःखपूर्ण जीवन से बचने के लिये घर से भाग जाती थीं। मनु ने इसके लिए बड़ी कड़ी व्यवस्था की है। दूसरा विवाह करने पर यदि पहली पत्नी क्रुद्ध होकर घर से निकल जाती है, तो उसे जल्दी ही घर में बन्द कर देना चाहिए या उसके पितृगृह में उसे छोड़ देना चाहिए ( ९।८३ )। आगे चलकर मनु की इस व्यवस्था का कारण स्पष्ट किया जायगा। अन्य शास्त्रकारों ने मनु की इस कठोर व्यवस्था का अनुकरण नहीं किया। देवल ऐसी नौबत ही नहीं पैदा होने देना चाहता। वह पति के पुनर्विवाह के अधिकार को रुग्णा, वन्ध्या, स्त्री प्रसविनी, उन्मत्ता और विगतार्त्तवा होने तक ही परिमित करता है ( अप० १।७३, स्मृच २४६ )। इन अवस्थाओं में पत्नी प्रायः दूसरे विवाह की अनुमति दे देती है। किन्तु यदि पुरुष केवल कामवश दूसरी स्त्री से शादी करना चाहता है, तो उसके लिए पहले यह उचित है कि वह

---

इस्लाम में यद्यपि कुछ अवस्थाओं के न होने पर तलाक शब्द के तीन वार उच्चारण से ही पति पत्नी का त्याग कर सकता है, किन्तु 'मेहर' ( स्त्री-धन) वापिस करना पड़ता है। तलाक के समय दहेज की वापिसी तथा भरण-पोषण की व्यवस्था अधिकांश सभ्य समाजों में है (वैस्टर मार्क-हिस्ट्री आफ ह्यूमन मैरिज पृ० ५२३ अनु० )। इसका उद्देश्य पतियों द्वारा स्वच्छन्द रूप से भार्यात्याग पर अंकुश लगाना है। इसका निरंकुश प्रयोग केवल इने-गिने आदिम समाजों में ही है। लतूर्नो ( इवोल्यूशन आफ मैरिज पृ० २२९ अनु० ) ने अफ्रीका के हाटन टाट तथा न्यू कैलीडोनिया और उत्तरी अमरीका की चिपिवे, चिन्तुक जातियों के पतियों के सम्बन्ध में लिखा है कि तबीयत भर जाने पर वे अपनी पत्नी छोड़ देते हैं।

पहली विवाहिता पत्नी को धन से सन्तुष्ट करे, तभी दूसरी स्त्री से शादी करे ( स्मृच २४४ )[५९]।

**अधिवेदन पर प्रतिबन्ध**—पत्नी के दोषयुक्त होने पर भी जब पति उसका त्याग करता है, तो इसका आशय यही है कि वह उसे तीर्थ अर्थात् सहवास के अधिकार से वंचित रखता है (व० १७।६६)। पति कभी उसके भरण पोषण की जिम्मेवारी से मुक्त नहीं होता। याज्ञ० (१।७४) ने स्पष्ट कहा है, 'अधिविन्ना ( दूसरा विवाह करने के बाद पूर्व विवाहिता पत्नी ) का भरण पोषण करना चाहिए, नहीं तो बड़ा पाप लगता है ( अधिविन्ना तु भर्त्तव्या महदेनोन्यथा भवेत् )। महाभारत का मत है कि पापी होने पर भी पत्नी का भरण होना चाहिए ( १३।५९।३० )। स्त्री का सब से बड़ा अपराध व्यभिचार हो सकता है। आगे यह बताया जायगा कि इस अवस्था में भी पति का यह कर्त्तव्य है कि वह पत्नी का भरण पोषण करे।

शास्त्रकार पति पर पत्नी के भरण पोषण का उत्तरदायित्व डालकर ही सन्तुष्ट नहीं रहे, उन्होंने निर्दोष पत्नी के त्याग करनेवालों की घोर निन्दा की तथा उन्हें दण्डनीय अपराधी बताया है। महाभारत ( कुं० १३।५९।१० प्र० ) साध्वी स्त्री को छोड़नेवाले पुरुष का अपराध ऐसा मानता है, जिसकी कोई निष्कृति नहीं है ( एवं हि भार्यां त्यजतां नराणां नास्ति निष्कृतिः )। देवल भी इसी मत का समर्थन करता है। पराशर ने इस विषय में बड़ी मनोरञ्जक दण्ड व्यवस्था की है। 'जो पुरुष यौवन में अदुष्ट तथा अपतित भार्या का परित्याग करता है; वह सात जन्म तक स्त्री बनता है और हर जन्म में वह स्त्री विधवा होती है'[६०]। मनुष्य स्वार्थान्ध तथा कामान्ध होने पर परलोक के दण्डों की परवाह नहीं करता। ऐसे पति के लिये याज्ञवल्क्य और नारद ने राजदण्ड की व्यवस्था की। 'जो पुरुष आज्ञा सम्पादिनी,

---

५९. स्मृच २४४ एकामुत्क्रम्य कामार्थामन्यां लब्धुं यदीच्छति। समर्थस्तोषयित्वार्थैः पूर्वोढामपरां वहेत्॥ देवल अप० १।७३ व्याधितां स्त्रीप्रजां वन्ध्यामुन्मत्तां विगतार्त्तवाम्। अदुष्टां लभते त्यक्तुं तीर्थान्नत्वेव कर्मणः॥

६०. मि० देवल (स्मृच २४५) स्वदारांस्त्यजतो मोहान्नरस्यान्याय मोचिनः। धर्मं वंशपरित्यक्तुर्निष्कृतिर्न विधीयते॥ परा० ४।१५ अदुष्टामपतितां भार्यां यौवने यः परित्यजेत्। सप्तजन्म भवेत्स्त्रीत्वं वैधव्यं च पुनः पुनः॥

दक्ष, पुत्रवती एवं प्रियवादिनी स्त्री को छोड़ता है, उसकी सम्पत्ति का तीसरा भाग छीनकर पत्नी को दिलाना चाहिए। यदि वह निर्धन है, तो स्त्री को भरण दिलाना चाहिए' ( याज्ञ० १।७६ )। नारद पति की सम्पत्ति की जब्ती से सन्तुष्ट न होकर कहता है--'जो पुरुष, अनुकूल, प्रियंवदा, कुशल साध्वी और प्रजावती पत्नी को छोड़ता है, राजा को चाहिए कि वह उस पुरुष को बहुत अधिक दण्ड दे और उसे उस पत्नी के साथ ही रखे[६१]। वह दारत्यागी को बड़ा पतित तथा विश्वास न करने योग्य समझता है। ऐसा पुरुष अदालत में साक्षी देने योग्य नहीं है ( ४।१८० )।

नारद और याज्ञवल्क्य ने निर्दोष पत्नी के अधिवेदन में राजदण्ड का विधान किया; किन्तु उन दोनों ने बहुत ही लचकीले कारणों से पति के अधिवेदन के अधिकार को स्वीकार किया है[६२]। अप्रिय बोलनेवाली पत्नी को अधिवेदन योग्य माना है। इस विषय में आपस्तम्ब ने आदर्श व्यवस्था की है। उसके मत में विवाह के दो उद्देश्य हैं' (१)--धर्म का पालन, (२) प्रजा की प्राप्ति। इनके पूर्ण हो जाने पर दूसरा विवाह नहीं करना चाहिए। यदि कोई पुरुष ऐसा करता है, तो आपस्तम्ब ने उसके लिए कठोर प्रायश्चित्त की व्यवस्था की है। इस प्रकार अपनी निर्दोष पत्नी का परित्याग करनेवाला पुरुष छः मास तक बालोंवाला हिस्सा बाहर रखते हुए गधे की खाल को (वस्त्रों के स्थान पर ) धारण करे और सात घरों से भिक्षा मांगकर अपना निर्वाह करे[६३]।

---

६१. ना० स्मृ० १५।९५ अनुकूलामवाग्दुष्टां दक्षां साध्वीं प्रजावतीम्। त्यजन् भार्यामवस्थाप्यो राज्ञा दण्डेन भूयसा ॥

६२. याज्ञ० १।७३ सुरापी व्याधिता धूर्ता वन्ध्याऽर्थघ्न्यप्रियंवदा। स्त्रीप्रसूश्चाधिवेत्तव्या पुरुषद्वेषिणी तथा। ना० स्मृ० १५।९३-९५ स्त्रीधनभ्रष्टसर्वस्वां गर्भविस्रंसिनीं तथा। भर्त्तुश्च वधमिच्छन्तीं स्त्रियं निर्वासयेत् गृहात् ॥ अनर्थशीलां सततं तथैवाप्रियवादिनीम्। पूर्वाशिनी च या भर्त्तुः तां स्त्रीं निर्वासयेत्गृहात् ॥

६३. आप० ध० सू० २।५।११।१२-१३ धर्मप्रजासम्पन्ने दारे नान्यां कुर्वीत। अन्यतराभावे कार्या प्रागग्न्याधेयात् तथा वहीं १।१०।२८।१९ खराजिनं बहिर्लोम परिधाय दारव्यतिक्रामिणे भिक्षामिति सप्तागाराणि चरेत्। सा वृत्तिः षण्मासान्। दक्ष (अप० पृ० ११३) कहता है--पहली पत्नी के दोषवती होने पर ही दूसरी पत्नी ग्रहण करे।

पति पत्नी को छोड़कर दूसरा विवाह करके उसके सुहाग को जब चाहे नष्ट कर सकता था। पत्नी के लिए यह परम दुर्भाग्य था; क्योंकि उसकी पति से अन्यत्र कहीं गति नहीं थी। पतिव्रता सीता राम के आदेश से अग्नि परीक्षा में सर्वथा निर्दोष सिद्ध हुई थी, फिर भी रामचन्द्र ने केवल लोकापवाद के भय से उनका परित्याग उचित समझा। लक्ष्मण ने उन्हें हिंस्र पशुओं वाले बन में छोड़ दिया। उस समय सीता ने जो उद्‌गार प्रकट किये हैं ( वा० रा० ७। ४८ ) वे हिन्दू पत्नी की विवशता, दुःख तथा पति के असाधारण अधिकार को प्रकट करते हैं। उपर्युक्त प्रतिबन्धों के होते हुए भी, प्रायः पति को पत्नी छोड़ने का पूर्ण अधिकार था। कालिदास ने अभिज्ञान शाकुन्तल में दुष्यन्त द्वारा शकुन्तला के प्रत्याख्यान का जो चित्र उपस्थित किया है, वह उस समय के पतियों की भार्यात्याग विषयक निरंकुश सत्ता को सूचित करता है। दुष्यन्त द्वारा शकुन्तला के स्वीकार न किये जाने पर ,उसके साथ आया हुआ ऋषि-कुमार शारद्वत कहता है—यह आपकी पत्नी है। आपकी इच्छा हो, इसे छोड़ दीजिये या स्वीकार कीजिए; क्योंकि स्त्रियों पर ( पतियों की ) सर्व-तोमुखी प्रभुता होती है[६४]।

वर्तमान काल में इस प्रभुता का अन्त हो रहा है। प्रस्तावित हिन्दू विधान में एक पत्नी के रहते हुए पति द्वारा दूसरा विवाह निषिद्ध ठहराया गया था ( भाग २ धारा ७ क तथा २५ ) कुछ विशेष अवस्थाओं (धारा ३०) में पति पत्नी समानरूप से बिवाह विच्छेद कर सकते थे और इसके बाद दोनों को पुनर्विवाह करने का तुल्य अधिकार था ( धारा ५० ) नये हिन्दू विवाह विधेयक में भी इस प्रकार की व्यवस्था है।

**पत्नी का भरण**—सर्वतोमुखी प्रभुता के साथ पति पर कई महान् उत्तर-दायित्व भी थे; इनकी गुरुता, प्रभुता की महत्ता को थोड़ा बहुत संतुलित करती थी। पति के कर्त्तव्यों में सर्वप्रथम और सब से महत्त्वपूर्ण पत्नी का पालन करना था। अथर्ववेद में पाणिग्रहण के प्रथम मंत्र में ही पति यह प्रतिज्ञा करता है कि पत्नी मेरे द्वारा पोषणीय है (ममेयमस्तु पोष्या १४।१।५२ )। पति और भर्त्ता शब्द का अर्थ क्रमशः रक्षण और भरण करनेवाला है। भार्या का अर्थ है भरण की

---

६४. अभिज्ञान शाकु० ५।२६ तदेषा भवतः कान्ता त्यज वैनां गृहाण वा। उपपन्ना हि दारेषु प्रभुता सर्वतोमुखी ॥

जाने योग्य स्त्री। महाभारत में इन शब्दों की व्युत्पत्ति स्पष्ट करते हुए कहा गया है—भरण करने योग्य स्त्री के भरण करने से ( पुरुष ) भर्त्ता तथा पालन करने से पति कहलाता है ( १।१०४।३१ ) [६५]। अन्यत्र यह बताया गया है, यदि पति भरण तथा पालन का दायित्व पूर्ण नहीं करता, तो वह भर्त्ता और पति नहीं रहता[६६]। मनु के मत में साध्वी भार्या का सदा भरण करना चाहिए ( ९।९५ ); किन्तु इससे यह परिणाम नहीं निकालना चाहिए कि पति दुश्चरित्रा पत्नी के पालन के दायित्व से मुक्त हो जाता है। याज्ञ० (१।७०) व्यभिचारिणी को पिण्डमात्र का अधिकारी मानता है। आगे यह बताया जायेगा कि पत्नी के व्यभिचारिणी होने के लिए पति ही दोषी माना जाता था। अतः पति के लिए यह आवश्यक था कि वह ऐसी स्त्री का भरण करे। पति द्वारा दूसरे विवाह के बाद पहली पत्नी (अधिविन्ना) के भरण की याज्ञवल्क्य की व्यवस्था का ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। मेधातिथि और कुल्लूक (९।९५ ) पति से द्वेष करनेवाली पत्नी के भी भरण का विधान करते हैं। मनु (८।३८९ ) माता, पिता और स्त्री को सदा भरण योग्य मानता है तथा इन्हें छोड़नेवाले पुरुष को राज्य द्वारा ६०० पण के जुर्माने की व्यवस्था करता है। मनुस्मृति की कुछ प्रतियों में ११।१० के बाद एक अधिक श्लोक पाया जाता है। इसके अनुसार ( चोरी आदि ) अकार्यों द्वारा भी माता, पिता और पत्नी का भरण करना चाहिए[६७]। महाभारत उसी पुरुष का जन्म सफल मानता है, जो अन्न पान से अपनी पत्नी के मन को जीत ले[६८]।

**भार्योपजीवी की निन्दा**—हिन्दू शास्त्रकार न केवल पति द्वारा भार्या के भरण पोषण के कर्त्तव्य पर बल देते हैं; अपितु उन पुरुषों की निन्दा करते हैं, जो अपनी पत्नी की सम्पत्ति से निर्वाह करते हैं। भर्त्ता पुरुष के लिए यह बात

---

६५. महाभा० १।१०४।३१ भार्यायाः भरणाद् भर्त्ता पालनाच्च पतिः स्मृतः।

६६. महाभा० १२।२६६।३६ भरणाद्धि स्त्रिया भर्त्ता पालनाच्चैव स्त्रियाः पतिः। गुणस्यास्य निवृत्तौ तु न भर्त्ता न पुनः पतिः।।

६७. वृद्धौ मातापितरौ साध्वी भार्या शिशुः सुतः। अप्यकार्यशतं कृत्वा भर्त्तव्याः मनुरब्रवीत्।। यह श्लोक विज्ञाने० (या० १।२२४) व मेधा० (मनु ३।३६२) ने उद्धृत किया है।

६८. ५।३९।८३ अन्नपानजिता दाराः सफलं तस्य जीवितम्।

अपमानजनक समझी गई है कि वह भरणीय भार्या के आश्रय पर जीवन यापन करे। महा० (१३।९३।१२४-१२५) में भार्योपजीवी को गोघाती के समान पापी का दर्जा दिया गया है। १३।९४।२२ में पुरु अगस्त्य का कमल चुरानेवाले को शाप देते हुए कहता है—'जिसने आपका कमल चुराया है, वह भार्या के आश्रय पर पुष्ट हो (भार्यया चैव पुष्यतु), श्वसुर के सहारे उसकी जीविका चले; १४।९०।४६ में पत्नी से पोषण प्राप्त करनेवाले व्यक्ति को दयनीय बतलाया गया है। ७।७३।३३ में पत्नी पर जीवित रहने वाले के लिये मृत्यु के बाद निन्दित गति पाने का वर्णन है। पत्नीजीवी पुरुष की तीव्रतम निन्दा अनुशासन पर्व (१३०।३७-३९) में है। वहां इसे ब्राह्मण घाती, गोघाती तथा व्यभिचारी पुरुष की भांति पापी, असंभाष्य और नराधम कहा गया है, इसके पाप की निष्कृति नहीं है, मवाद और रुधिर का का भक्षण करने वाले ये लोग नरक में मछलियों की तरह भूने जाते हैं[६९]।

---

६९. भार्योपजीवी की तीव्र निन्दा का एक कारण यह है कि पुरुष को अपनी पत्नी का भरण करना चाहिए; किन्तु दूसरा कारण यह भी प्रतीत होता है कि नट (चारण, कुशीलव, शैलूष) तथा खेल तमाशा दिखाने वाले अपनी स्त्रियों के नृत्य तथा गान से तथा उनको दूसरे पुरुषों को देकर आजीविका का उपार्जन करते थे। इन पुरुषों की पत्नियों के सम्बन्ध में शास्त्रकार व्यभिचार सम्बन्धी कठोर नियमों को लागू नहीं करते। उदाहरणार्थ सामान्यतः पुरुष परस्त्री के साथ समागम करने पर दण्डनीय होता था (मनु० ८।३६१, याज्ञ० २।१८५); किन्तु चारणों पर यह नियम लागू नहीं होता था (वहीं ८।३६२, बौधा० २।४।३)। शास्त्रकारों ने यद्यपि इन लोगों में व्यभिचार के कानून को कड़ा नहीं रखा था, किन्तु ऐसे पुरुषों की तीव्र भर्त्सना की। अपनी पत्नी के रूप को जीविका का साधन बनानेवाले पुरुष को घातक के समान पापी और नरकगामी बताया गया है (विष्णु० ३७।२५, ४३।२६, ४४।५)। चारण, कुशीलव को साथी के अयोग्य बताया गया है (मनु० ८।६५, याज्ञ० २।७०-७१, ना० स्मृ० च ४।१८१ प्र०)। भार्याजीवी चारण आदि न केवल अदालत में गवाही नहीं दे सकते थे, बलिक उनके अन्न को भी अभक्ष्य माना गया है (मनु० ४।२१४, याज्ञ० १।१६१ प्र०, विष्णु० ५१।१२।-१३; व्यास० ३।५१)। अपनी पत्नी के प्रेमी से भेंट लेने वाले के लिए कठोर दण्ड की व्यवस्था है (याज्ञ० २।३०१)।

पति यदि पत्नी का भरण-पोषण न करे, तो पत्नी क्या उस पति को छोड़कर दूसरा विवाह कर सकती थी या पति को अपने भरण के लिए बाधित कर सकती थी। प्राचीन साहित्य से इस विषय पर अधिक प्रकाश नहीं पड़ता; केवल दीर्घतमा की कथा में इस का कुछ वर्णन मिलता है। इस जन्मान्ध ऋषि ने परिवार के भरण पोषण की चिन्ता नहीं की। जब इसने स्वच्छन्द जीवन बिताना शुरु किया तो इस की पत्नी प्रद्वेषी इससे द्वेष रखने लगी। एक बार उसने जब प्रद्वेषी से इसका कारण पूछा तो उसने उत्तर दिया, —'पति भार्या के भरण से भर्त्ता और पालन करने से पति कहलाते हैं; हे महा तपस्वी, जन्म से अन्धे आपका तथा पुत्रों का सदा भरण करते हुए मैं थक गई हूँ, अब और भरण नहीं कर सकूंगी'। दीर्घतमा ने उसे कहा 'मुझे क्षत्रियों के पास ले जाओ। वहां से धन प्राप्त होगा।' इस पर प्रद्वेषी का उत्तर है—'मुझे आपके दिये दुःखदायी धन की आवश्यकता नहीं है। तुम जो चाहे करो, मैं पहले की तरह तुम्हारा भरण पोषण नहीं करूँगी'। उस समय दीर्घतमा ने यह मर्यादा स्थापित की कि पत्नी एक पति को छोड़ कर अन्यत्र नहीं जा सकती। किन्तु यह सुन कर प्रद्वेषी बहुत क्रुद्ध हुई और उसने अन्धे पति को पुत्रों से बेड़े पर बंधवा गंगा में फिंकवा दिया (महाभा० १।१०४।२९-४०)। महाभारत प्रद्वेषी के पुनर्विवाह के सम्बन्ध में मौन है। बाल विवाह के प्रचार के बाद पति का पत्नी के भरण पोषण का दायित्व बहुत बढ़ गया। संयुक्त परिवार की प्रथा के कारण उसे इसमें बड़ी सुविधा थी।

**भरण की व्यवस्था के मूल कारण**—पति द्वारा पत्नी के भरण की व्यवस्था सार्वभौम है। इस का मूल कारण जीव शास्त्र से सम्बन्ध रखता है। आत्म-संरक्षण के लिए यह आवश्यक है कि पति पत्नी का भरण पोषण करे। पक्षियों में हम यह देखते हैं कि मादा अण्डों को सेती है, और नर उसकी रक्षा करता है तथा उसके लिए भोजन सामग्री जुटाता है। प्रायः सभी प्राणिशास्त्री इस बात पर सहमत हैं कि गोरिल्ला और चिम्पाञ्जी परिवार बनाकर रहते हैं। इनमें मादा के गर्भवती होने पर मादा किसी पेड़ में एक घोंसला बनाता है। मादा वहां बच्चा जनती है। नर रात भर पेड़ के नीचे बैठा हुआ चीते आदि से रक्षा के लिये पहरा देता है। यदि वह ऐसा न करे तो उसकी जाति नष्ट हो जाय[७०]। मानव भी इन्हीं कारणों से पत्नी की रक्षा करने के लिए बाध्य होता है। पत्नी को यदि गर्भावस्था में तथा प्रसव के बाद आराम न दिया जाय, इन

---

७०. वैस्टरमार्क शार्ट हिस्टरी आफ मैरिज पृ० १४

दोनों अवस्थाओं में उसका उपयुक्त भरण पोषण न हो तो इसका उसकी सन्तान पर गहरा असर पड़ेगा। पुरुष द्वारा स्त्री के भरण की व्यवस्था समाज के लिए अत्यन्त कल्याणप्रद है; इसीलिये यह सर्वत्र सर्वमान्य समझी जाती है। यदि कोई पुरुष अपनी पत्नी को छोड़ता है तो अन्य व्यक्ति परित्यक्ता के साथ सहानुभूति प्रकट करते हैं, परित्याग करने वाले से रुष्ट होते हैं; क्योंकि उसने अपने सामाजिक कर्त्तव्य का पालन नहीं किया। शनैः शनैः इस विचार का उदय होता है कि पति विवाह द्वारा अपने ऊपर एक दायित्व लेता है। यदि वह इस दायित्व को पूरा नहीं निबाहता तो समाज में निन्दा का पात्र बनता है, क्योंकि उस व्यक्ति की इस उपेक्षा से अन्ततोगत्वा समाज को हानि पहुँचती है। अतः पति द्वारा पत्नी के भरण की व्यवस्था सब देशों और जातियों में पाई जाती है[७१]।

**पत्नी का रक्षण**——भरण के साथ ही पत्नी के रक्षण का भी कार्य जुड़ा हुआ है। जीवशास्त्रीय दृष्टिकोण से भरण और रक्षण एक ही प्रक्रिया के दो पहलू हैं। जिन कारणों से भरण पति का कर्त्तव्य स्वीकार किया जाता

---

७१. संसार की अत्यन्त हीन समझी जाने वाली जातियों में भी यह विचार है। कैलीफोर्निया की पटविन जाति सभ्यता की दृष्टि से संसार की निम्नतम जाति है, किन्तु पावर्ज ने इसके सम्बन्ध में यह लिखा है कि इस जाति में यह सिद्धान्त हम लोगों की अपेक्षा अधिक प्रबलता से स्वीकार किया जाता है कि मनुष्य स्त्रियों के भरण के लिए बाध्य है। लंका के वेद्दा लोग परिवार के भरण पोषण को आवश्यक वैवाहिक कर्त्तव्य समझते हैं। मालदिववासियों में चार पत्नियों के व्याहने की स्वतंत्रता है, किन्तु इसी शर्त्त पर कि वह उनके भरण पोषण करने में समर्थ हों। न्यू ब्रिटेन के नरभक्षियों में मुखियाओं का यह कर्त्तव्य है कि वे इस बात की देख भाल करें कि योद्धाओं के परिवारों का भरण पोषण हो रहा है। टोंगा द्वीपवासियों में विवाहित स्त्री वह है, जो किसी पुरुष के साथ सहवास करती है और उससे भरण पोषण पाती है। मओरी जाति में पत्नी का काम सन्तानोत्पादन है तथा पति का गृह रक्षण व पालन (वै० ओडेमा० पृ० ५२६ अ०) अनेक जातियों में विवाह से पहले वर की इस बात की परीक्षा ली जाती है कि वह अपने परिवार का पालन और रक्षण करने में कितनी सामर्थ्य रखता है (वैस्टरमार्क वही पृ० १८) पति द्वारा छोड़ी जाने पर भी पत्नी पति से भरण पाने का अधिकार रखती है, इस विषय के उदाहरणों के लिए दे०, वैस्टरमार्क वही पृ० १९।

है, उन्हीं कारणों से रक्षण का दायित्व भी उसी पर पड़ता है। रक्षण का सामान्य अभिप्राय है--शत्रुओं तथा भौतिक संकटों से रक्षा। हिन्दू परिवार में पति का यह कर्त्तव्य है कि वह पत्नी की सब प्रकार की आपत्तियों से रक्षा करे। महाभारत में विदुर ने इस बात का प्रतिपादन किया है कि आपत्ति के लिए धन को बचाये और धन से स्त्रियों की रक्षा करे[७२]। यद्यपि इसी ग्रन्थ में अन्यत्र (१२।१३१।८) यह भी सलाह दी गई है कि यदि राजा शत्रु द्वारा आक्रान्त हो, तो वह उसे स्त्रियां देकर अपनी रक्षा करे। किन्तु इसका उपयोग शायद ही कभी किया गया हो। महाभारत में संकट उपस्थित होने पर, पुरुष ने कभी पत्नी द्वारा अपनी रक्षा नहीं चाही; किन्तु पत्नी की रक्षा को परम धर्म माना है। आदि पर्व में एक ब्राह्मण के आगे यह समस्या है कि वह बक राक्षस के भोजन के लिए अपने परिवार में से किस व्यक्ति को भेजे। कई श्लोकों में अपनी पत्नी की प्रशंसा करते हुए उसने उपर्युक्त सिद्धान्त का खण्डन किया है-- "मैं साध्वी, कभी न अपकार करने वाली, सदा अनुकूल रहने वाली तुझ पत्नी का अपने जीवित रहने के लिए परित्याग नहीं कर सकता[७३] आश्वमेधिक पर्व में उञ्छवृत्ति ब्राह्मण के सामने अतिथि को खिलाने की समस्या है। दारुण दुर्भिक्ष में उसके घर एक अतिथि आता है। उसे वह अपना हिस्सा देता है, किन्तु अतिथि की क्षुधा निवृत्ति नहीं होती। वह उसके लिए अन्य भोजन ढूंढ़ता है। पत्नी ब्राह्मण को कहती है कि मेरा हिस्सा अतिथि को दे दो। किन्तु ब्राह्मण का उत्तर है--"हे शोभने, कीट पतंग और मृगों में भी नर मादा का रक्षण और पोषण करते हैं; अतः तुम्हारा यह कहना ठीक नहीं है।.......जो पुरुष भार्या के रक्षण में असमर्थ है वह महान् अपयश पाता है तथा नरक में जाता है[७४]। भास के मध्यम व्यायोग नाटक में परिवार के मुखिया के सामने बकवध पर्व के ब्राह्मण वाली समस्या उपस्थित है, किन्तु वह पत्नी द्वारा अपने प्राण नहीं बचाता।

---

७२. महा० ५।३७।१८ आपदर्थे धनं रक्षेद्दारान् रक्षेद्धनैरपि। आत्मानं सततं रक्षेद्दारैरपि धनैरपि॥

७३. वही १।१५९।३३-३४ त्वामहं जीवितस्यार्थे साध्वीमनपकारिणीम्। परित्यक्तुं न पश्यामि भार्यां नित्यमनुव्रताम्॥

७४. महाभा० १४।९०।४५, ४८-४९ अपि कीट पतंगानां मृगाणां चैव शोभने। स्त्रियो रक्ष्याश्च पोष्याश्च न त्वेवं वक्तुमर्हति॥......भार्या रक्षणे योऽक्षमः पुमान्। अयशो महदाप्नोति नरकांश्चैव गच्छति॥

भार्या के रक्षण पर महाभारत में बहुत अधिक बल दिया गया है, इसमें असमर्थ पुरुष की निन्दा की गयी है। यहां थोड़े से प्रमाणों का ही निर्देश होगा। ४।२१।३९ में कीचक से बचाने की याचना करती हुई द्रौपदी ने भीम को इस रक्षण सम्बन्धी दायित्व का स्मरण कराया है (४।२१।४०-४२ मि० ३।१२।७१-७२, मनु० ९।५-६)। पाण्डवों के लिए यह सब से बड़ा कलंक था कि वे अपनी पत्नी की रक्षा नहीं कर सके। द्रौपदी ने अपना तथा पाण्डवों का दासता से उद्धार किया था। वन पर्व में वह अपने पतियों की नपुंसकता की निन्दा करते कहती है—'युद्ध में श्रेष्ठ महाबलवान् पाण्डवों की मैं निन्दा करती हूँ; ये अपनी यशस्विनी धर्मपत्नी को कष्टपीड़ित देखते रहे। भीमसेन के बल को धिक्कार है, अर्जुन के गाण्डीव को धिक्कार है (३।१२।६८-६९)। पाण्डवों के लिए यह बात बहुत अधिक सन्तापकर थी। दुर्योधन ने अपनी पत्नी की रक्षा में असमर्थ पाण्डवों को षण्ढ कहा था (५।१६०।११४, ५।१६१।१३२) तथा उन्हें द्रौपदी का क्लेश बताते हुए पुरुष बनने का उपदेश दिया था[७५]। पाण्डवों के लिए इससे अधिक तीव्र भर्त्सना क्या हो सकती थी। महाभारतकार के मत में भार्या रक्षण में असमर्थ व्यक्ति नरक गामी होता है (१४।९०। ४८-९)।

धर्मसूत्रों और स्मृतियों में स्त्री रक्षण को बहुत महत्व दिया गया है क्योंकि स्मृतिकारों को नारी के स्वभाव पर बहुत अधिक अविश्वास था, उनके मत में स्त्रियों में काम वासना अधिक होती है,[७६] वे सदा नये पुरुषों को चाहती हैं। असती होना उनका स्वभाव है। यदि वे असती या कुलटा होती हैं तो इसमें उनका कोई दोष नहीं, पुरुषों को उन पर हमेशा पहरा रखना चाहिए[७७]। पति का यह कर्त्तव्य है कि वह उनकी रक्षा करे। पति यदि उनकी रक्षा नहीं करेगा तो दूषित सन्तान उत्पन्न होगी, अतः स्त्री की यत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिए (मनु० ९।९)। मनुष्य अपनी पत्नी की रक्षा से अपने पुत्र, चरित्र, कुल आत्मा तथा धर्म की रक्षा करता है (मनु० ९।७)। हारीत पत्नी की रक्षा न होने से धर्मनाश, इससे आत्मनाश तथा आत्मनाश से सर्वनाश मानता है (विर० ४१०)। पैठीनसि भी हारीत की तरह भार्या की रक्षा

---

७५. ५।१६०।९० कृष्णायाश्च परिक्लेशं संस्मरन् पुरुषो भव।

७६. बृहत्पराशर पृ० १२१ ; स्त्रीणामष्टगुणः कामो व्यवसायश्च षड्गुणः। लज्जा चतुर्गुणा तासामाहारश्च तदर्धकः॥

७७. देखिए चौथा अध्याय।

पर बल देता है; क्योंकि उसका रक्षण न करने से वर्णों में संकर हो जाने की संभावना है ( विर० ४११ )। बृहस्पति चौबीसों घण्टे स्त्रियों की चौकसी रखने की व्यवस्था करता हुआ कहता है—स्त्रियों के सम्बन्धियों को मामूली प्रसंगों में भी स्त्रियों की रक्षा करनी चाहिए। दिन रात सास आदि से तथा अन्य बड़ी स्त्रियों द्वारा उसका रक्षण होना चाहिए ( व्यक० १२९, विर० ४११ )। याज्ञ० भी पत्नी को रक्षणीय बताता है ( १।८१ )। स्त्रियों की रक्षा करने के उद्देश्य से उन्हें परतन्त्र बनाने की व्यवस्था का प्रचलन हुआ (महाभारत १३। २०।१४-२० )।

**पत्नी की रक्षा के उपाय**—किन्तु जीवन भर स्त्री को परतन्त्र बना कर उसके असतीत्व का निवारण नहीं हो सकता। भीष्म का मत है—पुरुष किसी प्रकार से नारी की रक्षा नहीं कर सकता। विश्व को बनाने वाले (प्रजापति) उनकी रक्षा नहीं कर सकते तो मनुष्य उनकी रक्षा कैसे कर सकते हैं? (कठोर) वचनों से, वध से बन्धन से तथा विविध प्रकार के क्लेश देकर नारियों की चौकसी नहीं की जा सकती, क्योंकि ये सदा असंयत है[७८]। मनु भीष्म की तरह निराशावादी नहीं है, वह स्त्रियों की रक्षा को कठिन मानता हुआ भी उनका सारा समय घरेलू कार्यों से इतना भर देता है कि उन्हें असती होने का अवसर ही न मिले। 'कोई पुरुष ( अन्तः पुर में बन्द कर के ) बलपूर्वक स्त्रियों की ( परपुरुषों के ध्यान तथा कदाचरण आदि से ) रक्षा करने में समर्थ नहीं है। उनका रक्षण इन उपायों के प्रयोग से हो सकता है—धन के संग्रह (उसे घर में सुरक्षित रखने ), व्यय करने, ( घर की सब वस्तुओं की ) सफाई, दैनिक धार्मिक कार्य, भोजन पकाने तथा ( घर की सब वस्तुओं की ) देखभाल में पत्नी को लगाये रखने से। सावधान पुरुषों द्वारा अपने घर में बन्द की हुई स्त्रियां सुरक्षित नहीं होतीं ( उनके चित्त में परपुरुषों के विचार आ सकते हैं ), जो स्त्रियां (उपर्युक्त उपायों से ) अपनी रक्षा करती है, वही सुरक्षित रहती है ( मनु० ९।१०-१२ )। मनु के आशय को स्पष्ट करता हुआ गोविन्दराज लिखता है—पत्नी का मन इन कार्यों में लगा रहता है, इन्हें करते हुए थक कर वह सो जाती है और ( दूसरे पुरुष के ) सम्बन्ध का स्मरण

---

७८. १३।४०।१४-१५; **न तासा रक्षणं शक्यं कर्त्तुं पुंसा कथंचन। अपि विश्वकृता तात कुतस्तु पुरुषैरिह ॥ वाचा च वधबन्धैर्वा क्लैशैर्वा विविधैस्तथा न शक्या रक्षितुं नार्यस्ताहि नित्यमसंयताः ॥**

नहीं करती[७९]। बृहस्पति ( व्यक० १३०, विर० ४११ ) के मत में स्त्रियों को शुद्ध रखने का यही उपाय है कि पत्नी को पारिवारिक आय व्यय, भोजन बनाने; घर के सामान के रक्षण, सफाई तथा अग्निहोत्र के कार्यों में लगाया जाय[८०]। हारीत ( विर० ४३१-४ ) शुक्र ( ४।४।८-३१ ) ने पत्नी के कार्यों की विस्तृत सूची दी है, इनके अनुसार प्रातः काल पति के जगने से पहले उठकर वह अपने दैनिक कार्यों में जुटती है और रात को अपने पति के सोने तक उन कार्यों को करती रहती है। सम्भवतः ये शास्त्रकार पत्नी की रक्षा का सर्वोत्तम ढंग यही समझते थे कि उसे सदा कार्यव्यापृत रखा जाय।

**पत्नी के साथ व्यवहार**—पत्नी के भरण और रक्षण के अतिरिक्त पति का यह भी कर्त्तव्य है कि वह पत्नी के प्रति प्रेमपूर्ण और उत्तम व्यवहार करे। विदुर के मत में पति को यह उचित है कि वह उसके साथ ( प्रत्येक वस्तु का ) सम विभाग करे, उसके साथ मीठे वचन बोले, उसके प्रति कोमल रहे और मधुरवाणी का प्रयोग करे ( ५।३८।१० )। पति को मधुर वाणी के प्रयोग का ही परामर्श नहीं दिया गया, अपितु पत्नी के साथ विवाद न करने का तथा दुर्वचन न कहने का भी निषेध किया गया है और ऐसे पुरुष की तीव्र शब्दों में भर्त्सना की गई है। महाभारत के उद्योग पर्व में यमदूतों के पाशों से बांधे जाकर, नरक में ले जाये जाने वाले १७ प्रकार के पुरुषों का वर्णन है, इनमें पत्नी को देर तक गाली देने वाले का भी उल्लेख है ( स्त्रियं च यः परिवदते अतिवेलम् ( ५।३७।५ )। पति को पत्नी के प्रिय कार्य से ही सन्तुष्ट नहीं होना चाहिए; किन्तु क्रुद्ध होने पर भी स्त्रियों के लिए कोई अप्रीतिकर कार्य नहीं करना चाहिए ( सुसंरब्धो ऽपि रामाणां न कुर्यादप्रियं नरः १।७४।५२ )।

पत्नी के प्रति उत्तम व्यवहार ही पर्याप्त नहीं है, उसकी पूजा होनी चाहिए। हिन्दू शास्त्र न केवल यह बताते हैं कि पत्नी को पति की पूजा करनी चाहिए, अपितु वे यह भी कहते हैं कि पति को अपनी पत्नी का सम्मान करना चाहिए। स्त्रियां 'पूजा के योग्य महाभाग्यवती और पुण्यशीला हैं, वे घर की शोभा हैं (महाभा० ५।३८।१० मि० मनु ९।२६ )। भीष्म पुरुषों को शिक्षा देते हुए

---

७९. मनु० ९।११ पर गोविन्दराज की टीका-एवं च तद् व्यापृतमना श्रान्ता स्वपिति संयोगं न स्मरति।

८०. विर० ४१६ आय व्ययेऽन्न संस्कारे गृहोपस्कररक्षणे। शौचाग्नि-कार्ये संयोज्या स्त्रीणां शुद्धिरियं स्मृता॥

कहते हैं—स्त्रियां मान योग्य हैं, हे मनुष्यो, उन का मान करो। स्त्री से धर्म और रति का कार्य पूरा होता है, तुम्हारी परिचर्या और सेवा उनके आधीन है। सन्तान का उत्पादन, उत्पन्न सन्तान का परिपालन और सांसारिक जीवन में प्रीति पत्नी के कारण होती है; इनका सम्मान करना चाहिए। इससे तुम्हारे सब कार्य सिद्ध होंगे ( १३।४६।९-१२ ), हे राजन् स्त्रियों का सदा लालन और पूजन करना चाहिए। जहां स्त्रियां पूजी जाती हैं; वहीं देवता रमण करते हैं; जहां इनकी पूजा नहीं होती वहां धार्मिक क्रियायें निष्फल होती हैं ( वहीं १३। ४६।५-६१ मि० मनु० ३।५६-५७ )। स्त्रियों को लक्ष्मी कहा गया है (१३।४६।१५, ५।३८।११ )[८१] स्त्रियों के निरादर से लक्ष्मी रूठ जाती है, अत: ऐश्वर्य की आकांक्षा रखने वालों को स्त्रियों की पूजा उत्तमोत्तम आभूषणों वस्त्रों और भोजन से करनी चाहिए ( मनु ३।५९ )। 'जो पति, पिता भाई बहुत कल्याण चाहते हों; उन्हें स्त्री को अलंकारों से भूषित करना चाहिए ( मनु० ३।५५ महाभा० १३।४६।३ )। मनु यह भी कहता है कि स्त्री इस प्रकार भूषित, पूजित और सम्म्मानित होने से शोभायमान होती है, उसके ऐसा होने पर सारा कुल चमक उठता है। यदि वह शोभायमान नहीं होती तो कुल भी नहीं चमकता[८२]।

स्त्रियों को घर में इतना पूजित और सम्मानित बनाने का क्या कारण था? ऊपर उद्धृत वचनों में इसका कुछ उत्तर आ चुका है। पत्नी गृहस्थ का मूल है। उसी की सहायता से पुरुष सन्तानोत्पादन करके पितृ ऋण से मुक्त होता है। वही उसके पितरों को तराने वाली है। उसी के साथ यज्ञ करके पति स्वर्गगामी होता है। इस दुनिया की दु:खपूर्ण बीहड़ यात्रा में पत्नी ही पुरुष का सहारा होती है। शकुन्तला ने पति के लिए पत्नी के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए कहा है[८३]

---

८१. स्त्रियः श्रियश्च गेहेषु न विशेषोऽस्ति कश्चन। महाभा० १३।४६।१५ श्रिय एते स्त्रियो नाम सत्कार्या भूतिमिच्छता। ५।३८।११ स्त्रियः श्रियो गृहस्योक्ताः।

८२. मनु० ३।६२ स्त्रियां तु रोचमानायां सर्वं तद्रोचते कुलम्। तस्यामरोचमानायां सर्वमेव न रोचते॥

८३. महाभारत १।७४।४१-५३ अर्धं भार्या मनुष्यस्य भार्या श्रेष्ठतमः सखा। भार्या मूलं त्रिवर्गस्य भार्या मूलं तरिष्यतः॥ भार्यावन्तः क्रियावन्तः सभार्याः गृहमेधिनः। भार्यावन्तः प्रमोदन्ते भार्यावन्तः श्रियान्विताः। सखायः

'भार्या पुरुष का आधा भाग है, वह उसका श्रेष्ठतम मित्र है। भार्या धर्म अर्थ काम का मूल है, संसार सागर तरने का साधन है। भार्या वाले ही यज्ञादिक धार्मिक क्रियायें करते हैं, भार्या वाले ही गृहस्थ होते हैं। वही आमोद करते हैं, वही श्री से युक्त होते हैं। प्रियंवदा पत्नियां एकान्त में पति का मित्र होती हैं। ये बियाबान मार्ग में पथिक का विश्राम स्थल हैं। भार्यावान् का ही विश्वास किया जाता है। भार्या ही मनुष्यों की परम गति है", इसके बाद शकुन्तला भार्या द्वारा आत्मरूप पुत्र की उत्पत्ति से पुरुष को प्राप्त होने वाले आनन्दों का उल्लेख करती है और फिर पत्नी के महत्त्व पर प्रकाश डालती हुई कहती है—'मानसिक दुःखों से संतप्त तथा बीमारियों से आतुर पुरुष अपनी स्त्रियों से उसी प्रकार प्रसन्न होते हैं, जैसे स्वेद से आर्त पुरुष शीतल जल से स्नान करके प्रसन्नता लाभ करते हैं। अत्यन्त क्रुद्ध होने पर भी पति को पत्नी का अप्रिय कार्य नहीं करना चाहिए; क्योंकि रति प्रीति और धर्म पत्नियों के ही हाथ में है। स्त्रियां सन्तान की सनातन पुण्य जन्म भूमि हैं। ऋषियों में भी ऐसी शक्ति नहीं है कि वे स्त्री के विना प्रजा की सृष्टि कर सकें ( म० भा० १।७४।४२-५२)। इससे अधिक सुन्दर शब्दों में भार्या की महिमा का वर्णन नहीं किया जा सकता। मनुस्मृति के एक श्लोक में भार्या की गरिमा का वर्णन करते हुए कहा गया है कि अपत्य, धर्म कार्य, सेवा, उत्तम सुख (रति) पितरों का तथा अपना स्वर्ग पत्नी के ही आधीन है। ऐसी स्त्री की पूजा करना स्वाभाविक है ( ९।२८ )। ऊपर हमने मनु द्वारा स्त्री को शोभा सम्पन्न बनाने का उल्लेख किया है।। मनु० ( ३।६१ ) व महाभा० (१४।४६।४) पत्नी को अलंकार, वस्त्र आदि से शोभा सम्पन्न बनाने का यह कारण बताते हैं कि यदि वह इन से कान्तिमती न हो तो पति को प्रसन्न नहीं कर सकती और पति को प्रसन्न न रखने से सन्तान नहीं होगी[८४] अतः सन्तानोत्पादन का

प्रविविक्तेषु भवन्त्येताः प्रियंवदाः। पितरो धर्मकार्येषु भवन्त्यार्त्तस्य मातरः। कान्तारेष्वपि विश्रामो जनस्याध्वनिकस्य वै। यः सदारः स विश्वास्यस्तस्माद् दारा परा गतिः ॥४५॥....... दह्यमाना मनो दुःखैर्व्याधिभिश्चातुरा नराः। ह्लादन्ते स्वेषु दारेषु घर्मार्त्ताः सलिलेष्विव। सुसंरब्धोऽपि रामाणां न कुर्यादप्रियं नरः। रतिं प्रीतिं च धर्मं च तास्वायत्तमवेक्ष्य हि। आत्मनो जन्मनः क्षेत्रं पुण्यं रामाः सनातनम्। ऋषीणामपि का शक्तिः स्रष्टुं रामामृते प्रजाम् ॥

८४. मनु० ३।६१ यदि हि स्त्री न रोचेत पुमांसं न प्रमोदयेत्। अप्रमोदात् पुनः पुंसः प्रजनं न प्रवर्तते ॥

वैवाहिक प्रयोजन पूरा करने के लिए पत्नी को कान्तिमती व शोभा-सम्पन्न बनाना पति का कर्त्तव्य है। परिवार के उच्चतम आदर्श का चित्रण करते हुए मनु कहता है—जिस कुल में पति पत्नी से तथा पत्नी पति से सन्तुष्ट रहती है वहां सदा अविचल कल्याण बना रहता है[८५]।

पति के लिये पत्नी का सम्मान तथा पूजा करना उचित है, किन्तु उसके इशारे पर नाचना ठीक नहीं। शास्त्रकारों ने पत्नी द्वारा शासित पति की घोर निन्दा की है और पत्नी के वश में रहने वाले पतियों (Hen-pecked) को भार्यावश्य तथा स्त्रीजित का नाम दिया है। पति को स्त्रीजित न होने, स्त्रीजित को पापी समझ कर उसके घर का अन्न न खाने तथा उसके नरकगामी होने के सम्बन्ध में कुछ शास्त्रीय वचनों का यहां उल्लेख किया जायगा। महाभारत में विदुर पति को पत्नी के प्रति प्रियंवद (प्रिय बोलने वाला) होने का परामर्श देता है; किन्तु साथ ही यह चेतावनी भी देता है कि वह स्त्रियों के वश में न हो (न चासां वशगो भवेत् ५।३८।१०)। स्त्रीजित प्राचीन समय में इतना जघन्य माना गया था कि उसके घर में भोजन करने का अनेक शास्त्रकारों ने निषेध किया है। मनु (४।२१७) व याज्ञ० (१।१६३) स्त्रीजित के अन्न को अभक्ष्य समझते हैं। वसिष्ठ (१४।११) कहता है—कुत्ते पालने वाले, शूद्रा को पत्नी बनाने वाले, भार्याजित तथा अपने घर में उपपति (जार) रखने वाले के घर में देवता भोजन नहीं करते (उस घर की हवि वे ग्रहण नहीं करते)। पत्नी द्वारा शासित पुरुष के नरकगामी होने का महाभारत में उल्लेख है। द्रोणपर्व में जयद्रथवध की प्रतिज्ञा करते हुए अर्जुन कहता है कि यदि मैं जयद्रथ का वध न करूँ तो उन पापी व्यक्तियों की गति को प्राप्त करूँ, जो अपने भृत्यों, स्त्रियों तथा आश्रितों द्वारा शासित होते हैं[८७]।

---

८५. वहीं ३।६० सन्तुष्टो भार्यया भर्त्ता भर्त्रा भार्या तथैव च। यस्मिन्नेतत् कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम्॥

८६. वसिष्ठ १४।१५ नाश्नन्ति श्ववतो देवाः नाश्नन्ति वृषलीपतेः। भार्याजितस्य नाश्नन्ति यस्य चोपपतिर्गृहे। स्त्रीजित के मनोरंजक उदाहरण के लिये देखिये पंचतन्त्र में वररुचि और नन्द की कथा।

८७. ७।७३ भृत्यैः संदिश्यमानानां पुत्रदाराश्रितैस्तथा॥ बौद्ध साहित्य में भी यही विचार पाया जाता है। कण्डिन जातक (सं० १३) में एक मूर्ख मृग वन में हरिणी पर आसक्त होने से अपने प्राण खोता है। उस वन में रहने

स्त्रीजितों की निन्दा कई कारण थे। पति परिवार का स्वामी माना जाता था; इस में उसी का शासन चलना चाहिए। पुरुष नारी द्वारा शासित हो, यह उसकी अहंभावना और महत्ता को ठेस पहुँचाती थी। इस निन्दा का दूसरा कारण यह था कि स्त्रियों की बुद्धि पर बहुत कम विश्वास किया जाता था। घर में रहने से तथा बाहर की दुनियां में न आने से उनका दृष्टिकोण विशाल नहीं हो सकता और न उनमें दुनियां के उतार चढ़ाव को समझने की पूर्ण शक्ति नहीं हो सकती; इसलिए उनके परामर्श से चलने वाले पुरुष का उचित मार्ग दर्शन नहीं हो सकता है। कुछ संस्कृत सूक्तियां हिन्दू समाज की इस सामान्य धारणा का प्रतिपादन करती हैं। भोज प्रबन्ध में कालिदास द्वारा पाणिनि के स्त्री पुंवच्च सूत्र की समस्या पूर्ति करते हुए कहा गया है कि घर में जब स्त्री पुरुष बन जाती है तो घर चौपट हो जाता है (स्त्री पुंवच्च प्रभवति यदा तद्धि गेहं विनष्टम्) एक नीति के श्लोक में कहा गया है स्त्री बुद्धि प्रलयंकरी होती है[८८]। अतः इससे शासित होने वाला पुरुष गर्हा का पात्र समझा जाता है। स्त्रीजित की निन्दा का तीसरा कारण यह था कि ऐसे पुरुष को प्रायः इन्द्रिय लोलुप समझा जाता था। यह माना जाता था कि कामासक्ति के कारण ही उसकी ऐसी दशा हुई है। सामान्य रूप से वैराग्य प्रधान तथा संयम को महत्त्व देने वाले समाज में यह एक बड़ी निन्दनीय बात थी। रामचन्द्र जब सीता के विरह में विह्वल हो रहे थे, उस समय सुग्रीव ने उनकी भर्त्सना की (वा० रा० ४।७।५) 'मैं अपनी पत्नी के वियोग पर बन्दर होते हुए भी दुःखी न हुआ, आप चरित्रवान् होते हुए भी उसके लिए इतने शोकातुर क्यों होते हो?' विषयासक्ति गर्हणीय है, अतः भार्याजित पति निन्दा का पात्र समझा गया।

हिन्दू परिवार में पति की स्थिति, प्रभुत्व व दायित्व का वर्णन हो चुका; अगले अध्याय में पत्नी की स्थिति पर प्रकाश डाला जायगा।

---

वाले बोधिसत्त्व इस घटना को देख कर यह परिणाम निकालते हैं कि इस मृग ने हरिणी के वश में होकर अपने प्राणों को खोया है, अतः जिस जनपद का स्त्रियां संचालन करती हैं, उस जनपद को धिक्कार है। (धिक् त्थुतं जनपदं यत्थित्थी परिनायिका ते चापि धिक्किता सत्ता ये इत्थीनं वसं गता।

८८. आत्मबुद्धिः शुभकरी गुरुबुद्धिर्विशेषतः। परबुद्धिर्विनाशाय स्त्रीबुद्धिः प्रलयंकरी ॥

# चौथा अध्याय

## पत्नी

पत्नी की महिमा——वैदिक युग में पत्नी की स्थिति——अधःपतन का आरंभ स्त्रियों को यज्ञाधिकार से वंचित करने के कारण——मासिक धर्म——कर्म काण्ड की जटिलता——उपनयन संस्कार के अभाव में स्त्रियों का शूद्र बनाया जाना——वैराग्य प्रधान धर्म——नारी के सम्बन्ध में हीन विचार——स्त्रियों का आजीवन संरक्षण ——पत्नी के कर्त्तव्य——पतिसेवा——पातिव्रत्य——आदर्श पतिव्रतायें——सतीत्व की महिमा——इसका ऐतिहासिक विकास——भारतीय नारी का संघर्ष-सतीत्व का एकांगी आदर्श——सतीत्व का भविष्य——पत्नी के अधिकार ।

**पत्नी की महिमा**——पत्नी गृहस्थ का मूल है, अतः वैदिक युग से उसे घर की आत्मा और प्राण समझा जाता रहा है। ऋग्वेद के मत में पत्नी ही घर है ( जायेदस्तम् ३।५३।४ )। महाभारत में किये गये पत्नी के गौरवगान का पहले ( पृ० १२८ ) उल्लेख हो चुका है, उसके कथनानुसार घर, घर नहीं; किन्तु गृहिणी घर है; गृहिणीहीन घर अरण्य सदृश है; पेड़ के नीचे भी, यदि पत्नी हो, तो वह घर है; उसके विना महल भी बीहड़ जंगल है। संसार में भार्या के समान कोई बन्धु, आश्रय या धर्म कार्य में सहायक नहीं है। जिसके घर में साध्वी और प्रियवादिनी भार्या न हो, उसे वन में चला जाना चाहिये [1] ।

प्रायः अधिकांश समाजों में प्राचीन समय में पत्नी और नारी की स्थिति बहुत शोचनीय थी; किन्तु हिन्दू परिवार के सब से पुराने काल वैदिक युग में

१. महाभारत १२।१४५।६ अनु०, न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते। गृहं तु गृहिणीहीनमरण्यसदृशं मतम्। वृक्षमूलेऽपि दयिता यस्य तिष्ठति तद्गृहम्। प्रासादोऽपि तया हीनः कान्तारादतिरिच्यते ॥ १२॥ नास्ति भार्यासमो बन्धुर्नास्ति भार्या समा गतिः। नास्ति भार्यासमो लोके सहायो धर्मसंग्रहे ॥१६ ॥ यस्य भार्या गृहे नास्ति साध्वी च प्रियवादिनी। अरण्यं तेन गन्तव्यं यथारण्यं तथा गृहम् ॥१७॥ मि० पंचतन्त्र ४।८१ गृहं तु गृहिणीहीनं कान्तारादतिरिच्यते।

उस की दशा अत्यन्त उन्नत थी। यहां पहले इसे स्पष्ट किया जायगा, बाद में हिन्दू समाज में उसकी स्थिति गिरने के कारण बताये जायेंगे।

**वैदिक युग में पत्नी की स्थिति**—इस समय हिन्दू परिवार में पत्नी का स्थान बहुत ऊँचा था। उसे घर में रानी की तरह रहने का आशीर्वाद दिया जाता था ( ऋ० १०।८५।४६ )। ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर पति पत्नी द्वारा संयुक्त रूप से यज्ञ करने का उल्लेख है[२]। न केवल संयुक्त अपितु पृथक रूप से भी स्त्रियों द्वारा यज्ञ करने का वर्णन है[३]। श० ब्रा० (२।५।१।११) में विदुषी स्त्री को यज्ञ में निमन्त्रित करने तथा यजुर्वेद में पत्नियों के साथ यज्ञ करने का प्रतिपादन है। अथर्व० ११।१।१७-२७ में स्त्रियों को स्पष्ट रूप हेसे यज्ञ की अधिकारिणी ( योषितो यज्ञिया इमाः ) कहा गया है। शतपथ ब्राह्मण में पत्नी से यज्ञ की अनेक क्रियायें करवाने का वर्णन है ( १।९।२।१, १।९। २।५।२१-२५ )। आश्व० श्रौत-सूत्र ( १।११।१ ), ऋग्विधान (३।११६-१७ ), कात्यायन श्रौत सूत्र ( ५।१०।७ ), पारस्कर गृह्य सूत्र (१।६) आश्वलायन गृह्य सूत्र ( १।८।५ ) में विवाहित स्त्रियों द्वारा पढ़े जाने जाने वाले वैदिक मंत्रों का प्रतिपादन है। पूर्वमीमांसा ( ६।१।१७-२१) का मत है पति-पत्नी दोनों सम्पत्ति के स्वामी होते हैं, अतः उन्हें संयुक्त रूप से यज्ञ करने चाहिये। पहले यह बताया जा चुका है कि पत्नी के बिना यज्ञ अधूरा समझा जाता था। अपत्नीक व्यक्ति को यज्ञ का अधिकार नहीं था[४]। श्रीराम अपना अश्वमेध यज्ञ सीता के अभाव में उस की सोने की प्रतिमा बनवाकर ही पूरी कर सके थे[५]। पाणिनि ( ४।१।३३ ) के अनुसार पति को यज्ञ

---

२. ऋ० १।७२।५ पत्नीवन्तो नमस्यं नमस्यन्; ऋ० ५।३।२; ऋ० ५।४३।१५; तै० ब्रा० ३।७।५।

३. ऋ० ५।२८।१ में सायण की व्याख्यानुसार विश्ववारा प्रातः काल यज्ञ करती है। ऋ० ८।९१।१ में कन्या द्वारा इन्द्र को सोम की हवि देने की तथा ऋ० १०।८६।१ में स्त्रियों के यज्ञ में जाने की चर्चा है।

४. शत० ब्रा० अयज्ञीयो वैष योऽपत्नीकः मि० तै० ब्रा० २२।२।६, ३।३।३।१ अयज्ञो व एषः। योऽपत्नीकः।

५. रामोऽपि कृत्वा सौवर्णी सीतां पत्नीं यशस्विनीम्। ईजे यज्ञैर्बहुविधैः सह भ्रातृभिरर्चितैः॥ गोभिल स्मृति ३।४०; कांचनीं मय पत्नीं च वा० रा० ८।९१।२५

कार्यों में सहयोग देने वाली स्त्री ही पत्नी होती थी, वैदिक काल में वह यज्ञ में न केवल मन्त्रोच्चारण में करती थी; किन्तु यज्ञ की वेदी के निर्माण में (श० ब्रा० १०।२।३।१, १०।२।३।३), स्थालीपाक में दानों के छिल्के अलग करने में (हि० गृ० १।२३।३ ) तथा अन्य अनेक यज्ञीय कार्यों में (श० ब्रा० ३।८।२।१-६ ) पति को सहयोग देती थी तथा शस्य वृद्धि के लिये स्वतन्त्र रूप से भी सीता यज्ञ करती थीं ( पार० गृ० २।१७ )।

**अधःपतन का आरम्भ**—वैदिक युग के आरम्भ में, यज्ञादि कार्यों में पति के साथ तुल्य अधिकार रखने वाली पत्नी की यह ऊँची स्थिति देर तक नहीं रह सकी। नारी को शनैः शनैः यज्ञ के अधिकार से वंचित किया जाने लगा और प्राचीन काल में पत्नी द्वारा किये जाने वाले कई कार्य पुरोहितों द्वारा होने लगे। शतपथ ब्राह्मण ( १।१।४।१३ ) से ज्ञात होता है कि पहले पत्नी द्वारा होने वाला हवि बनाने का कार्य, बाद में अग्नि प्रज्वलित करने वाला पुरोहित ( अग्नीध्र ) करने लगा। सोम याग की एक प्रारम्भिक विधि-प्रवर्ग्य ( महावीर या घर्म नामक गर्म बर्त्तन में दूध डालना ) पहले पत्नीकर्म था, बाद में इसे उद्‌गता करने लगा[६]। याज्ञिकों के एक सम्प्रदाय ने यह प्रतिपादन किया कि स्त्रियां यज्ञ कार्य की अधिकारिणी नहीं हैं, उन का स्थान यज्ञवेदी से बाहर होना चाहिये[७]। यद्यपि शतपथ ब्राह्मण ने इस मत का विरोध किया, तथापि यह स्पष्ट है कि १५०० ई० पू० से स्त्रियों को यज्ञों से बाहर निकालने की प्रवृत्ति से हिन्दू परिवार में स्त्रियों की स्थिति में अधः पतन का प्रारम्भ हुआ, अगले हजार वर्षों में स्त्रियों को यज्ञाधिकार से वंचित कर शूद्रों के समकक्ष बना दिया गया।

स्त्रियों को यज्ञाधिकार से वंचित करने के निम्न प्रधान कारण थे (१) स्त्रियों का मासिक धर्म (२) कर्म काण्ड की जटिलता एवं पवित्रता में वृद्धि (३) अन्तर्जातीय विवाह (४) स्त्रियों का उपनयन के अभाव में शूद्र समझा जाना।

(१) **मासिक धर्म**—सर्वप्रथम तैत्ति० सं० ( २।५।१ ) और तैत्ति० ब्रा० ( ३।७।१ ) में इस का संकेत है। तैत्ति० सं० में दी गयी एक प्राचीन कथा के अनुसार, इन्द्र ने देवों के पुरोहित विश्वरूप की ब्रह्महत्या, इस कारण

---

६. श० ब्रा० १४।३।१।८५ पत्नीकर्मैव एतेऽत्र कुर्वन्ति यदुद्‌गातारः।
७. शांखायन ब्राह्मण २७।४ अयज्ञिया वै पत्न्यो बहिर्वेदिहिताः।

की कि उसने गुप्तरूप से असुरों को यज्ञ में भाग देना स्वीकार किया था। इस ब्रह्महत्या का एक तिहाई पाप स्त्रियों ने यह वर लेकर स्वीकार किया कि वे ऋतुकाल में सन्तान प्राप्त करें। अतः यह पाप लेने से उस समय स्त्री "मलिन वस्त्रों वाली होती है। ऐसी स्त्री के साथ किसी को बोलना और बैठना नहीं चाहिये और न ही ऐसी स्त्री का अन्न खाना चाहिये"[८]। यह स्वाभाविक था कि पत्नी इस अपवित्र दशा में यज्ञवेदी में न जाय। तैत्ति० ब्रा० (३।७।१) उस पुरुष को बड़ा अभागा समझता है, जिसकी पत्नी रजस्वला होने से, उसे यज्ञ के दिन नहीं प्राप्त होती, क्योंकि पत्नी के न होने से आधा यज्ञ नष्ट हो जाता है[९]। प्रारम्भ में स्त्रियां केवल रजस्वला दशा में ही अमेध्य समझी जाती होंगी, बाद में प्रतिमास इस प्रकार दूषित होने के कारण स्थायी रूप से अमेध्य समझी जाने लगी। शतपथ ब्राह्मण इसीलिये पत्नी के नाभि से नीचे के भाग को अमेध्य बताता है (१।३।१।१३; ५।२।१।१८) और इसे दूर करने के लिये पत्नी के लिये वस्त्रों के ऊपर पवित्र कुशा घास के चण्डातक (जांघिया) की व्यवस्था करता है। इससे यह स्पष्ट है कि स्त्री को मासिक धर्म से भिन्न दिनों में भी अशुचि माना जाने लगा, इसी लिये शांखायन ने पत्नी को अमेध्य ठहराया[१०]। परवर्त्ती साहित्य में रजस्वला की अमेध्यता का बहुत वर्णन है[११]।

---

८. तैत्ति० सं० २।५।१-७ तस्मान्मलवद्वाससा न संवदेत। न सहाऽऽसीत नास्या अन्नमद्यात्। मि० भागवत पुराण ६।९।९

९. तैत्ति० ब्रा० ३।७।१ अर्धो वा एतस्य यज्ञस्य मीयते यस्य व्रत्येऽहन् पत्न्यनालम्भुका भवति।

१०. रजस्वला दशा में स्त्रियों की अमेध्यता का विचार अनेक जातियों में है। प्यूबेलो इंडियन यह समझते हैं कि इस समय उन्हें स्पर्श करने वाला बीमार पड़ जाता है, न्यूजीलैण्ड के मओरियों में उसे छूने वाला समाज में अस्पृश्य (Taboo) हो जाता है। ट्रावन्कोर के वेद्दों में इस काल में स्त्री चौथाई मील दूर झोंपड़ी में रखी जाती है। एक आस्ट्रेलियन को जब यह पता लगा कि उसकी पत्नी इस दशा में उसके कम्बल पर लेटी है, तो उस ने उसका वध कर दिया (काले-मिस्टिक रोज ४र्थ संस्करण पृ० ५३, फ्रेजर-गोल्डन बाउ १।२२६-२७)। इस दशा में पत्नी को अपवित्र समझने का मूल कारण आदिम जातियों का यह विश्वास है कि जीवन शक्ति रुधिर में होती है (फ्रेजर-वहीं

(२) **कर्मकांड की जटिलता**--उत्तर वैदिक युग में यज्ञों का आडम्बर बहुत बढ़ गया, यज्ञ की छोटी क्रियाओं के लिये विस्तृत विधियां बनीं। पहले पति पत्नी द्वारा पूर्ण होने वाले सरल यज्ञ अब होता, उद्गाता, अध्वर्यु, ब्रह्मा आदि अनेक पुरोहित मिल कर संपन्न करने लगे। जटिलता की वृद्धि के साथ इनमें विशेषीकरण (Specialisation) का आरम्भ हुआ। पत्नी के पास इसके लिये समय नहीं था। इसलिये पत्नी द्वारा हवि तय्यार करने का काम अग्नीध्र ने तथा प्रवर्ग्य का कार्य उद्गाता ने लिया[१२]। धर्मशास्त्रकारों ने

---

२।२४०)। स्त्री को इस अवस्था में शारीरिक निर्बलता प्रतीत होती है, ऐसा समझा जाता है कि इस का कारण इस अवसर पर निकलने वाला रक्त है और इस दशा में उसे स्पर्श करने वाले उसी प्रकार दुर्बल और रुग्ण होंगे, अतः रजस्वला अस्पृश्य समझी जाती है और दूर रखी जाती है। कनाडा की डेने नामक अमरीकन जाति में उसका दर्शन दूसरों के लिये इतना भयंकर समझा जाता है कि छाती तक उसके मुंह को चमड़े के आवरण से ढक दिया जाता है (पोम राय-मैरिज, पास्ट, प्रेजेण्ट फ्यूचर पृ० ३८)। एक रैड इंडियन कहानी के अनुसार यदि तम्बाकू में रज की कुछ बूंदें रखी जायं तो पाइप में केवल तीन वार इसे पीने से मनुष्य मर जाता है (मेयर स० ला० १।२२६)

११. इसके लिये देखिये वसिष्ठ ५।९।५ अनु०, पराशर० ७।९-१८, इस समय उसके साथ बात करना वर्जित था (महाभारत १३।१०४।५३, आप० १।३।९।१३), उससे छुआ अन्न अभक्ष्य था (महाभा० १३।१०४।४०, १३।२३।४; मनु० ४।२०८, याज्ञ० १।१६८, विष्णु० ५१।१६); रजस्वला द्वारा जानबूझ कर द्विज को स्पर्श करने पर विष्णु ने उसके लिये कोड़े लगाने की व्यवस्था की है (५।१०५)। उसकी दृष्टि पड़ने से वस्तुओं के अपलिवत्र होने के लिये डुबोइस--हिन्दू मैनर्स पृ० ३४७, ७०८-१०। ऐसी स्त्री अगम्या मानी गयी है, याज्ञवल्क्य इस नियम का उल्लंघन करने वाले के लिये तीन दिन का उपवास और घी खाने का प्रायश्चित्त बताता है (३।२८८), महाभारत में अनेक स्थानों पर इसे महापाप माना गया है (१२।७३।४२, १३।१०४।१५०, १६।८।५-६, १२।१६५।२६, १३।१५७।९ अनु०, १२।२८२।४३ अनु० ७।७३।३८। श्राद्ध के समय इसे दूर रखना चाहिये अन्यथा पितर १३ वर्ष भूखे रहेंगे (१३।१२७। १३-१४ मि० १३।९२-१५, मार्कण्डेय पुराण ३२।२५)

१२. दे० ऊ० टि० सं० ६; मीमांसा सूत्रों के रचे जाने के समय (५०० ई० पू०-२०० ई० पू०) स्त्रियों द्वारा याज्ञिक कर्मकाण्ड

यह व्यवस्था वैदिक विधियों को सुचारु रूप से पूरा करने की दृष्टि से ही की, याज्ञिक विधियों में अपना जीवन लगाने वाले पुरोहित वर्ग तक ही यज्ञ कराना सीमित कर दिया गया। इसका एक प्रधान कारण उनका यह विश्वास था कि वेद मन्त्रों के उच्चारण में तनिक भूल अनिष्ट कर होती है[13]। इससे न केवल स्त्रियां किन्तु ब्राह्मणेतर वर्ग भी, यज्ञ के अधिकार से वंचित हो गया।

(३) **अन्तर्जातीय विवाह**—आर्यों के अनार्या स्त्रियों के साथ विवाह भी पत्नी को यज्ञाधिकार से बहिष्कृत करने का एक मुख्य कारक्ष थे। वसिष्ठ धर्म सूत्र (१८।१७) ने स्पष्ट शब्दों में यह घोषणा की कि कृष्णवर्णा स्त्री धर्म के लिये नहीं, किन्तु रमण के लिये होती है[14]। ये अनार्या पत्नियां वैदिक कर्मकाण्ड तथा विधि विधान से अपरिचित होने से बड़ी भूलें कर सकती थीं। पवित्रता

---

में भाग लेने के प्रश्न पर बड़ा मतभेद था। ऐतिशायन के नेतृत्व में कुछ मीमांसक तीन कारणों से यज्ञ में केवल पुरुष का ही अधिकार मानते थे— (१) 'स्वर्ग कामो यजेत' आदि विधि वाक्यों में पुल्लिंग का ही निर्देश है (२) गर्भस्थ शिशु का लिंग अविज्ञात होने की दशा में ही भ्रूण हत्या को पाप ठहराया गया है, दोनों लोकों का उपकार करने वाली वस्तु का नाश करने से ही भ्रूणहा महापापी होता है, वह यज्ञ का भी हनन करता है, क्योंकि वह जन्म ग्रहण कर यज्ञ करने वाले का घात करता है, सब वस्तुओं के धारक और ऐश्वर्य दाता होने से यज्ञ भ्रूण है, उस का घातक भ्रूणहा है। यदि यज्ञ में स्त्री पुरुष दोनों का समान रूप से अधिकार हो तो गर्भस्थ प्राणी के वध में लिंग के अविज्ञात होने की शर्त्त लगाना अनावश्यक था (३) यज्ञ द्रव्य साध्य है, स्त्रियों के पास स्वतन्त्र सम्पत्ति नहीं अतः वे यज्ञ कैसे कर सकती हैं? जैमिनि ने इन तीनों हेतुओं का पूर्वमीमांसा (६।१।६-२४) में विस्तृत खण्डन करते हुए यह सिद्धान्त बनाया कि स्त्रियां पति के साथ ही यज्ञ कर सकती हैं, स्वतन्त्र रूप से उन्हें यज्ञ करने का अधिकार नहीं है (६।१। १७-२१)।

१३. पाणिनि शिक्षा ५२, मंत्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्त न तमर्थमाह। सा वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥

१४. वसिष्ठ ध० सू०, ८।१७ कृष्णवर्णा या रामा रमणायैव न धर्माय। मि० निरुक्त २।१३, 'नाग्नि चित्वा रामामुपेयात्। रामा रमणायोपेयते न धर्माय।

की सुरक्षा के लिये ऐसी स्त्रियों से यज्ञकार्य का अधिकार छीनना वांछनीय समझा गया।

**(४) स्त्रियों का उपनयन संस्कार के अभाव में शूद्र समझा जाना--** पिछले अध्याय में यह बताया गया है कि छठी शती ई० पू० में हिन्दू समाज में बाल विवाह का प्रचार होने से स्त्रियों के उपनयन की प्रथा अप्रचलित होने लगी थी ( पृ० ९१-९२ )। नियत अवधि तक उपनयन संस्कार न होने से गृह्य सूत्रों के समय से व्यक्ति शूद्र समझा जाता था[१५]। किन्तु यदि इस कारण स्त्रीमात्र को शूद्र माना जाय तो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य कहाँ से उत्पन्न होंगे। हारीत ने यह तर्क उपस्थित करते हुए स्त्रियों के उपनयन का प्रबल समर्थन किया[१५क]। किन्तु बाल विवाह के प्रसार के कारण इस का अधिक देर तक टिका रहना संभव न था। मनु ने स्त्रियों के लिये विवाह ही उपनयन संस्कार स्वीकार किया ( २।६७ )।

स्त्रियों के उपनयन की प्रथा न रहने के कारण उनसे यज्ञ और मन्त्रोच्चारण का अधिकार छिनना स्वाभाविक था। मनु इस का कारण स्पष्ट करते हुए कहता है कि यज्ञ करने वाला होता, वेद का पारंगत विद्वान् तथा यज्ञ क्रिया में निष्णात ( वैतानकुशल ) होना चाहिये। उपनयन न होने से स्त्रियां वेद की विद्वान् न होती थीं, अतः उन्हें यज्ञ करने का अधिकार नहीं दिया गया[१६]। गृह्य सूत्रों के समय में स्त्रियां गार्हपत्य अग्नि में मन्त्रों के साथ बलि देती थीं (अश्व० गृ० सू० १।९।१-९), सीतायज्ञ (पार० गृ० २।१७) और रुद्रयज्ञ स्वतंत्ररूप से कर सकती थीं। किन्तु २०० ई० पू० में मनु ने उपर्युक्त कारण से पत्नी द्वारा मंत्रों के विना बलि देने (३।१२१) तथा कन्या और युवती द्वारा होता बनने का निषेध किया और यह कहा कि होम करने पर ये नरक गामी होते हैं (११।३७। महाभारत का भी ऐसा ही विचार है,

---

१५. आश्वा० गृ० सू० १।१।३३, १।१९।५-६ पार० गृ० सू० २।५। ३६-४०, मनु० ३।३९-४० विष्णु० १।२६-२७।

१५ क. विष्णु० १।२६-२७; पराशर माधवीय खं० १ भाग २ पृ० ४८ पर उद्धृत न हि शूद्रयोनौ ब्राह्मणक्षत्रियवैश्या जायन्ते।

१६. मनु० ११।३७, नरके हि पतन्त्येते जुह्वन्तः स च यस्य तत्। तस्माद्वैतानकुशलो होता स्याद्वेदपारगः। वही ११।३६ न वै कन्या न युवति नाल्प विद्यो न बालिशः। होता स्यादग्निहोत्रस्य नार्त्तो नासंस्कृतस्तथा॥

( १३।१६५।२१-२२ ); मनु विवाह के अतिरिक्त स्त्रियों के सब संस्कार मंत्रों के विना करने का विधान किया। २०० ई० पू० के बाद उपनयन के अभाव एवं यज्ञाधिकार न रहने से स्त्रियों की गणना शूद्रों की कोटि में होने लगी और इन दोनों से समान व्यवहार वाली व्यवस्थाओं का प्रायः उल्लेख होने लगा। भगवद्गीता (९।३२) में दोनों पापयोनि कहे गये हैं। मनु० (५।१३९) और याज्ञ० (१।२१) दोनों के एक जैसी आचमन की व्यवस्था करता है। बौधा० ( २।१।११-१२ ) ने दोनों को मारने का एक ही प्रायश्चित्त बताया है। भागवत पुराण के अनुसार स्त्री, शूद्र और द्विज बन्धु ( ब्राह्मण होने का ढोंग करने वाले) को वेद पढ़ने का अधिकार नहीं है; देवी भागवत के मत में इसीलिये इनके-लिये पुराण बनाये गये हैं[१७]। मध्यकाल में यह व्यवस्था सर्वमान्य थी कि स्त्रियों और शूद्रों का दर्जा एक है। उस समय न केवल भारत में, अपितु इंगलैण्ड आदि पश्चिमी देशों में भी स्त्रियां अध्ययन के अधिकार से वंचित थी, आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय १९२० ई० तक स्त्रियों को उपाधि नहीं देता था[१८]।

वैदिक युग में पत्नी पति के साथ बैठकर यज्ञ करती थी, उस के बिना पति का यज्ञ पूरा नहीं हो सकता था; किन्तु २०० ई० पू० में उस का इतना अधः पतन हुआ कि वह शूद्र बना दी गयी। उस की इस दुरवस्था का मूल कारण पहले कर्मकाण्ड प्रधान धर्म था; किन्तु बाद में इसे वैराग्य मूलक धर्म, नारी के सम्बन्ध में हीन विचारों तथा स्त्रियों की यावज्जीवन पराधीनता के सिद्धान्त से बड़ी पुष्टि मिली और मध्यकाल पत्नी की स्थिति कभी ऊँची नहीं उठ सकी। पहले वह याज्ञिकों द्वारा निरादृत हुई;[१९], बाद में परिव्राजकों द्वारा तिरस्कृत हुई।

---

१७. भाग० १।४।२५ स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुति गोचरा। देवी भागवत–स्त्रीशूद्र द्विजबन्धूनां न वेदश्रवणं मतं। तेषामेवहितार्थाय पुराणानि कृतानि च।

१८. अल्तेकर––पोजीशन आफ वुमैन पृ० ४००

१९. हिन्दू समाज में ही स्त्रियों को याज्ञिक कर्मकाण्ड से उपर्युक्त कारणों से वंचित किया गया हो, सो बात नहीं। लगभग इन्हीं कारणों-रजस्वला दशा में तथा बच्चा उत्पन्न होने पर अशुचि होने तथा उस समय बुरे प्रभावों को संक्रान्त करने से–प्रायः अधिकांश वन्य तथा सभ्य जातियों में पहले अस्थायी

**वैराग्यमूलक धर्म और स्त्रियां**—ब्राह्मण ग्रन्थों के कर्म काण्ड प्रधान धर्म के विरुद्ध प्रबल विद्रोह करने वाली तथा प्रव्रज्या और त्याग पर बल देने वाली बौद्ध एवं हिन्दू विचार धारायें भी पत्नी की स्थिति को गिराने में सहायक हुईं। इन से हिन्दू समाज में यह विचार बद्धमूल हुआ कि विषयासक्ति का प्रधान साधन होने से नारी सब दुःखों का मूल है; उसे 'छोड़ कर पुरुष दुनिया

---

रूप से स्त्रियों को मनुष्यों तथा देवताओं के सम्पर्क से दूर रखा गया, बाद में स्त्री को स्थायी रूप से अशुचि मान लेने पर उसे देवपूजादि धार्मिक कार्यों से वंचित किया गया। राजमहल की पहाड़ी जातियों में स्त्रियां बलि नहीं दे सकती और न ही पूजा स्थानों पर जाकर धर्मकर्म में भाग ले सकती हैं। टोडा जाति में स्त्रियां तिरीरी ( पवित्र पशुओं का बाड़ा ) में नहीं जा सकतीं, न्यू आयर्लैण्ड, पपुआ की खाड़ी, टोंगा, गिल्बर्ट समोआ, मार्शल टापुओं में स्त्रियां पूजा कार्य में कोई भाग नहीं ले सकती। फिजी में वे कुत्तों से अधिक अपवित्र हैं; क्योंकि कुत्ते कुछ मन्दिरों से बहिष्कृत हैं और स्त्रियां सभी मन्दिरों से। आस्ट्रेलिया के आदि वासी अपने पवित्र स्थान (बोरा) में झांकने वाली स्त्री का वध कर देते हैं, मारक्विसास टापू में धार्मिक त्यौहार मनाये जाने के स्थान (हूला हूला) में न केवल प्रवेश करने वाली, किन्तु इस स्थान के पेड़ों की छाया छूने वाली स्त्रियां वधार्ह थीं। सभ्य जातियों में प्राचीन चीन और यूनान में स्त्रियां मन्दिरों में पूजा नहीं कर सकती थीं। हज़रत मुहम्मद ने इस्लाम में यद्यपि स्त्रियों को नमाज़ पढ़ने की आज्ञा दी थी, किन्तु वे यह कार्य मस्जिद में नहीं कर सकती थीं; क्योंकि उनके वहां जाने से पुरुषों में भक्ति से भिन्न प्रकार के भाव उत्पन्न होने की संभावना थी, वैराग्य और तपस्याप्रधान ईसाइयत में हव्वा की उत्तराधिकारिणी होने तथा मनुष्य को कुपथ पर प्रेरित करने का हेतु होने से स्त्रियों का धर्म कार्यों से बहिष्कार स्वाभाविक था। टर्टुलियन अपने विरोधियों पर यह भयंकर दोष लगाता है कि वे स्त्रियों को धर्मकार्य की स्वतन्त्रता प्रदान करते हैं। छठी शती की एक ईसाई परिषद् ने यह निश्चय किया कि स्त्रियां अनावृत हाथों में यूकेरिस्ट (ईसा के अन्तिम भोजन संस्कार का प्रसाद) नहीं ले सकती, मैस (ईसा मसीह के अन्तिम भोज का त्यौहार) मनाने के समय वेदी के समीप नहीं आ सकतीं। मध्ययुग में स्त्री विरोधी भावना इतनी प्रबल हो गयी कि चर्च में गाये जाने वाले गीतों के लिये स्त्रियों के स्थान पर हिजड़े रखे जाने लगे (क्राली-मिस्टिक रोज़ पृ० ४२-४६ वैस्टरमार्क—ओडेमा० १।६६४-६६)।

को छोड़ देता है और संसार त्याग के बाद वह सुखी होता है'[२०]। 'प्रजापति ने लोगों को दुनियां में फंसाने के लिये कामिनी और कांचन की सृष्टि की है, इन में न फंसने वाला साक्षात् शिव है[२१]। इस समय पुरुष को नारी से विमुख करने के लिये प्रायः सभी शास्त्रकारों ने उस की घोर निन्दा की, उसमें सब प्रकार के दोषों का वर्णन करते हुए उसे त्याज्य बताया। भीष्म के मतानुसार नारी की सृष्टि ही पुरुष को पतित करने के लिये उस समय की गयी थी[२२], जब प्रजापति को सब लोगों के धर्मात्मा होने के कारण स्वर्ग के देवताओं से भर जाने की आशंका उत्पन्न हुई (१३।४०।६-९); 'स्त्रियों से बढ़ कर कोई पापी नहीं, वे जलती हुई आग, माया, उस्तरे की धार, विष और सर्प हैं (महाभारत १३।४०।४-५) 'अग्नि लकड़ियों से, समुद्र नदियों से, यमराज मृत प्राणियों से और स्त्रियां पुरुषों से कभी तृप्त नहीं होती'। युधिष्ठिर के कथनानुसार नये-नये तृण चाहने वाली गौओं की भांति स्त्रियां नये नये पुरुष ग्रहण करती हैं[२३]। बृहस्पति ने राजनीति के ग्रन्थों की रचना स्त्रियों का व्यवहार देख कर ही की है। (१३।३९।१०-११)। इत्सिग के कथनानुसार छः वार संन्यासी होकर गृहस्थ बनने वाले भर्तृहरि ने यह घोषणा की कि इस संसार सागर में मनुष्य रूप मछलियों को फंसाने का कांटा नारी जाति है (शृंगार शतक ५३)। नारी को अत्यन्त भीषण रूप में चित्रित करते हुए उसने कहा कि वह संदेहों

---

२०. योगवसिष्ठ १।२१।३५ यस्य स्त्री तस्य भोगेच्छा निस्त्रीकस्य क्व भोगभूः। स्त्रियं त्यक्त्वा जगत् त्यक्तं, जगत् त्यक्त्वा सुखी भवेत्॥

२१. वेधा द्वेधा भ्रमं चक्रे कान्तासु कनकेषु। तेषु तास्वप्यनासक्तः साक्षाद्भर्गोनराकृतिः॥

२२. सैण्ट आगस्टाईन ने भी ऐसा ही मत प्रकट किया है। उसे आश्चर्य था कि स्त्री क्यों बनाई गई। आदम के लिये साथी की आवश्यकता तो दूसरे मनुष्य से भी पूरी हो सकती थी किन्तु स्त्री की उत्पत्ति का कारण यह था कि अकेला सांप आदम को नहीं बहका सकता था। मनुष्य को स्वर्ग से पतित करने के लिये ही स्त्री बनाई गई।

२३. महाभा० १३।३८।२५, नाग्निस्तृप्यति काष्ठानां नापगानां महोदधिः। नान्तकः सर्वभूतानां न पुंसां वामलोचनाः॥ १३।३९।६ गावो नवतृणानीव गृह्णन्त्येता नवं नवम्। महाभारत में स्त्रियों की निन्दा के लिये देखिये १३।३८।१-३० १३।३९।१-११, १३।४०।३-१५।

का भंवर, अविनयों (धृष्टताओं) का लोक, दुःसाहसों का नगर, दोषों की अक्षय निधि, सैंकड़ों कपटों वाली, स्वर्गद्वार का विघ्न, अविश्वासों की जन्मभूमि, नरकपुरी का द्वार, मायाओं की पेटी , ऊपर से अमृतमय और भीतर से विषमय तथा प्राणियों को बांधने का पाश है ( शृंगार शतक ४५ ) । शंकराचार्य के 'द्वारं किमेकं नरकस्य नारी' का अनुसरण करते हुए, मध्यकाल के सभी सन्तों ने नारी की निन्दा की और उससे बचने का उपदेश दिया[२४] ।

सम्भवतः वराहमिहिर ही एकमात्र ऐसा व्यक्ति है, जिसने वैराग्यवृत्ति के कारण नारियों की निन्दा करने वालों की कड़ी खबर ली है । उसके मत में इस प्रकार नारियों के दोषों की चर्चा करने वालों के वाक्य सद्भाव युक्त नहीं है । "ऐसा कौन सा दोष है, जो पुरुष नहीं करते । पुरुष अपनी ठिठाई के कारण ही स्त्रियों को तुच्छ समझते हैं । मनु ने कहा है कि वे गुणों में पुरुषों से अधिक हैं, माता और पत्नी नारी ही हैं । मनुष्य का जन्म स्त्री से ही होता है । हे कृतघ्नो, उनकी निन्दा करते हुए, तुम्हें कहां सुख मिल सकता है ? पति-पत्नी यदि वैवाहिक प्रतिज्ञाओं का उल्लंघन करते हैं तो वे समान रूप से दोषी हैं । पुरुष इसकी परवाह नहीं करते, किन्तु स्त्रियां करती हैं; अतः स्त्रियां श्रेष्ठ हैं । पुरुष एकान्त में स्त्रियों की खुशामद ( चटुलवाक्य) करता है; पर उनकी मृत्यु के बाद ( दूसरी स्त्रियों के साथ ) विवाह कर के वे वाक्य भुला देता है । स्त्रियां ( पति की मृत्यु पर ) कृतज्ञतावश उसके शरीर के साथ अग्नि में प्रवेश करती हैं । निष्पाप स्त्रियों की निन्दा करने वाले पुरुषों की ढिठाई कितनी अधिक है । वे उन चोरों की तरह हैं; जो चोरी करते हुए भी यह शोर मचाते चोर ठहर, चोर ठहर"[२५] । किन्तु वराह मिहिर का यह विरोध अरण्य रोदन

---

२४. ईसाइयत में भी वैराग्य की प्रवृत्ति प्रबल होने पर सन्तों ने नारी की भरपेट निन्दा की है । टर्टुलियन ने इन्हें कहा था कि तुम शैतान का दरवाजा हो, तुम ने उस व्यक्ति को प्रेरणा दी, जिस पर शैतान हमला करने में असमर्थ था । सैण्ट बर्नर्ड ने अपनी माता को लिखा कि तुम लोग पापिनी हो और तुम ने मुझे पाप में जन्म दिया है । सैण्ट आगस्टाइन के अनुसार स्त्री चाहे माता या बहिन के रूप में हो, हमें सदैव सचेत रहना चाहिये, क्योंकि प्रत्येक स्त्री में हव्वा का निवास है ।

२५. बृहत्संहिता ( ७४ अध्याय ) ये ऽप्यंगनानां प्रवदन्ति दोषान्वैराग्य मार्गेण गुणान्विहाय । ते दुर्जना मे मनसो वितर्कः सद्भाववाक्यानि न तानि

मात्र था। विषयासक्ति का मूल होने से नारियां हिन्दू समाज में गर्हा और घृणा का पात्र बनीं इस अवस्था में उनकी दशा उन्नत होना संभव न था।

**नारी के सम्बन्ध में हीन विचारर**—प्रायः सभी समाजों में नारी के सम्बन्ध में अच्छी और बुरी धारणायें होती है[२६]। किन्तु इनमें हीन विचारों का ही प्राधान्य रहता है। वैदिक युग में पत्नी की स्थिति ऊँची होती हुई भी, ऐसे विचारों की कमी नहीं थी। इन्द्र के मतानुसार स्त्रियों के मन को काबू में नहीं रखा जा सकता; उसे नीचे देखने का आदेश दिया गया है[२७]। उर्वशी अपने विरह में व्याकुल पुरूरवा को समझाती है कि स्त्रियों की मित्रतायें देर तक टिकने वाली नहीं होतीं, वे भेड़िये के दिल हैं, अर्थात् विश्वास दिला कर अपने वश में आये प्राणियों का वध करने वाली हैं[२८]। तै० सं० में नारी की शारीरिक अक्षमता ( निरिन्द्रिय ) के कारण उसे यज्ञ में सोम का भाग लेने का अनधिकारी तथा पापी पुरुषों से भी गयी बीती बात कहने वाली बताया गया है [२९]। मैत्रायणी संहिता के अनुसार पति से धन द्वारा खरीदी

---

तेषाम् ॥५॥ प्रब्रूत सत्यं कतरोऽगनानां दोषस्तु यो नाचरितो मनुष्यैः। धाष्टर्चेन पुंभिः प्रमदा निरस्ताः। गुणाधिकास्ताः मनुनात्र चोक्तम् ॥६॥ जाया वा स्याज्जनित्री वा स्यात्संभवः स्त्रीकृतो नृणाम्। दम्पत्योः व्युत्क्रमे दोषः समः शास्त्रे प्रतिष्ठितः। नरा न तमवेक्षन्ते तेनात्र वरमंगनाः ॥७॥ अहो धार्ष्ट्यमसाधूनां निन्दतामनघाः स्त्रियः। मुष्णतामिव चौराणां तिष्ठ तिष्ठेति जल्पताम् ॥८॥

२६. फ्रांस में बालजक ने स्त्री को मनुष्यों और देवदूतों को जोड़ने वाली कड़ी कहा और विक्टर ह्यूगो ने बहुत अच्छी तरह पूरा बनाया हुआ शैतान; पहले बनाये गये शैतान में कुछ कमियां रह गयी थीं, भगवान् ने उन्हें दूर करते हुए स्त्री का निर्माण किया। मनु ने ९।२६-२८, ३।५५-६२, नारियों की बड़ी प्रशंसा की है, अन्यत्र (९।१२-१८) उन के दोषों को विस्तार से गिनाया है

२७. ऋ० ८।३३।१७, १९ इन्द्रश्चिद् घा तदब्रवीत् स्त्रिया अशास्यं मनः अधः पश्यस्व मोपरि।

२८. ऋ० १०।९५।१५ पुरूरवो मा मृथाः—न वै स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति। सालावृकानां हृदयान्येताः। सायण भाष्य यथा वत्सादीनां विश्वासमापन्नानां घातुकानि तद्वत्।

२९. तै० सं० ६।५।८।२ तस्मात्स्त्रियोनिरिन्द्रिया अदायादीरपि पापात्पुंसः उपतिस्तरं वदन्ति। मि० शतपथ ४।४।२।१३।

जाने पर भी, दूसरे पुरुषों के साथ विचरण का कार्य कर लेने से, स्त्री झूठ (१।१०।११) तथा विनाश या आपत्ति या मृत्यु की देवता (निर्ऋति) से संबद्ध है[३०]।

मध्ययुग के संस्कृत साहित्य में स्त्रियों के परपुरुषों को छलने, बहकाने, धोखा देने, अत्यधिक कुटिल, क्रूर तथा कामुक होने का दोषारोपण है। पंचतंत्र के मत में झूठ, विना सोचे काम करना (साहस), छल का व्यवहार, मूर्खता, अतिलोभ, अपवित्रता और निर्दयता स्त्रियों के स्वाभाविक गुण हैं[३१]। उन का स्वाभाव समुद्र की तरंगों के समान चंचल और प्रेम सन्ध्या काल के बादलों रंग के समान क्षणिक होता है (मित्रभेद २०६, २०९)। वे एक पुरुष के साथ बात करती हैं, दूसरे को कटाक्षों से देखती हैं और तीसरे का अपने चित्त में स्मरण करती हैं (वहीं १४६)। परपुरुष के लिये लालयित रहने के कारण, वे कुलनाश, लोकनिन्दा और प्राणों के संकट की भी परवाह नहीं करती (वहीं १८५-९२) नारी कभी पतिव्रता नहीं रह सकती (कालोलूकीय १९६, अपरी० ९३), वे केवल अपना, सुख चाहती हैं, मन्दबुद्धि होती हैं (वहीं ६०-६२), स्त्रियों का आहार दुगना, बुद्धि (चालाकी) चौगुनी, साहस (अविचारपूर्ण कार्य) छः गुना और काम भाव आठ गुना होता है[३२]। स्त्रियों का कभी विश्वास

---

३०. मैत्रायणी सं० १।१०।११ अनृतं स्त्री अनृतमेषा करोति या पत्युः क्रीता सत्यथान्यैश्चरति। मैत्रा० सं० ३।६।३ त्रयो वै नैर्ऋता अक्षाः स्त्रियः स्वप्नः स्त्री को शत० ब्रा० १४।१।१।३१ में भी अनृत कहा गया है। काठक सं० २८।८।४४ में स्त्री को भावुक और निर्वीर्य कहा गया है, वहां उस पर यह भी आरोप है कि वह रात को पति से अपना अभिप्राय सिद्ध कर लेती (इंसा० रि० ई०) है।

३१. मित्रभेद श्लोक, २०७ अनृतं साहसं माया मूर्खत्वमतिलोभता। अशौचं निर्दयत्वं च स्त्रीणां दोषाः स्वभावजाः॥

३२. हितोपदेश सुहृद्भेद श्लोक १२०, आहारो द्विगुणः स्त्रीणां बुद्धिस्तासां चतुर्गुणः। षड्गुणो व्यवसायश्च कामश्चाष्टगुणः स्मृतः॥ बुद्धि का अभिप्राय यहां रंगे हाथ परपुरुष के साथ पकड़े जाने पर भी प्रत्युत्पन्न मति द्वारा बहाना ढूंढ़ने की चतुराई है, देखिए सुहृद्भेद की दूसरी कथा, विग्रह की मन्दमति की सातवीं कथा, समुद्रदत्त वणिक् की संधि की चौथी और वीरधर रथकार की काकोलूकीय की ११ वीं कथा।

नहीं करना चाहिये ( मित्रलाभ १९ ) । षड्रत्न के मत में गोद में पड़ी युवती की भी चौकसी करनी चाहिये[३३] ।

**स्त्रियों का आजीवन संरक्षण**—प्राचीन काल में स्त्रियों की स्थिति हीन होने का एक बड़ा कारण यावज्जीवन इनके परतन्त्र रहने के सिद्धान्त का सर्वमान्य होना था । वैदिक वाङ्मय में इसका कोई स्पष्ट उल्लेख नहो है; किन्तु धर्मसूत्रों के समय से प्रायः प्रत्येक शास्त्रकार ने इस का समर्थन किया । गौतम ने नारी को धर्मकार्य में पराधीन बताया । किन्तु वसिष्ठ ने सामान्य रूप से उसे स्वतन्त्रता न देने की घोषणा करते हुए , बचपन में पिता को, यौवन में पति को और बुढ़ापे में पुत्र को, उस का रक्षक बताया । वसिष्ठ की यह व्यवस्था इन्हीं शब्दों में बौधायन ( २।२।५२ ) विष्णु ( २५।१३ ) मनु (९।३ ) व्यास ( महाभारत १३।२०।२१ ) और नारद ( १६।३१ ) ने दोहरायी हैं । मनु के मत में स्त्री को घर के कामों में भी ( ९।१४६-४८ ) तथा याज्ञवल्क्य के अनुसार कहीं भी स्वतन्त्रता नहीं है[३४] । एक आधुनिक

---

३३. अंके स्थितापि युवतिः परिरक्षणीया स्त्रियों के सम्बन्ध में इस प्रकार के हीन विचार हिन्दू समाज में ही नहीं, किन्तु सभी समाजों में प्रचलित हैं । वर्तमान काल में औद्योगिक दृष्टि से अत्युन्नत अमरीका के हालीवुड से आने वाले फिल्मों में नारियों के सम्बन्ध में ऐसे विचार मिलते हैं । लेविन द्वारा प्रस्तुत एक फिल्म में स्त्रियों के सम्बन्ध में निम्न नियम बताये गये हैं—(१) स्त्री जो बात कहे, उस पर कभी विश्वास मत करो, (२) स्त्री के मौन होने पर सावधान हो जाओ, (३) स्त्री के लिये जो खर्च किया जाता है, वह उस योग्य नहीं है । (४) स्त्रियों को शिक्षित करना वैसा ही है, जैसे रेजर को ऐसे स्थान पर रखना, जहां से उसे बन्दर उठा सकता है । मून एण्ड सिक्सपैन्स नामक फिल्म में एक पात्र का उद्गार है—स्त्रियां बड़े विचित्र पशु हैं, तुम उन्हें कुत्तों की तरह पददलित करते हुए चल सकते हो । तुम उन्हें उस समय तक पीट सकते हो, जब तक पीटते हुए तुम्हारी बांहें न दुखने लगें और फिर भी वे तुमसे प्रेम करेंगी (एसोशियेटेड प्रेस आफ अमेरिका का समाचार, अमृत बाजार पत्रिका २७ जन० १९४६, पृ० १२ )

३४. गौतम ध० सू० १८।१ अस्वतन्त्रा धर्मे स्त्री; वसिष्ठ ५।१-३ अस्वतन्त्रा स्त्री पुरुषप्रधाना । पिता रक्षति कौमारे भर्त्ता रक्षति यौवने । रक्षन्ति स्थविरे पुत्राः न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ॥ मि० याज्ञ० १।८५ न स्वातन्त्र्यं क्वचित्स्त्रियः । मनु ५।१४७

स्त्री रमाबाई ने इन व्यवस्थाओं पर कटु व्यंग्य करते हुए लिखा है कि हिन्दू स्त्री केवल एक ही स्थान -नरक-में स्वाधीन रह सकती है[३५]।

शास्त्रकारों ने संभवतः तीन कारणों से नारी को अस्वतंत्र बनाया था। **पहिला कारण** नारी के अबला होने के कारण, कुदृष्टि का शिकार होने पर उसकी आत्मरक्षा में असमर्थता थी। संसार में कीचक जैसे दुष्टों की कभी-कमी नहीं रही; महाभारत के मत में पतिहीना स्त्री की सब लोग वैसे ही कामना करते हैं, जैसे पक्षी पृथिवी पर पड़े हुए मांस खण्ड की[३६]। ऐसे दुर्जनों से स्त्री के सतीत्व और सम्मान की रक्षा के लिये उसे सदैव किसी पुरुष के संरक्षण में देना वांछनीय समझा गया। **दूसरा कारण** स्त्री का आर्थिक परावलम्बन और स्वयं जीविका उपार्जन करने में अक्षमता थी। पति ही पत्नी का प्रधान आर्थिक आश्रय था। उस के अभाव में पालन पोषण की व्यवस्था न होने से, नारी को कोई दुःख न उठाना पड़े, इसलिये ऐसा विधान किया गया। इस विषय में नारद की व्यवस्था से यह उद्देश्य भली भांति स्पष्ट होता है। इसने पति तथा पुत्रों के अभाव में पति कुल के अन्य व्यक्तियों द्वारा तथा इनके भी न होने पर पितृकुल के व्यक्तियों द्वारा तथा इनके अभाव में राजा द्वारा नारी के भरण पोषण तथा संरक्षण की व्यवस्था की है[३७]। **तीसरा कारण** यह था कि पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों पर सतीत्व का बन्धन इसलिये अधिक आवश्यक था कि उस के न रहने पर वर्ण संकरता आदि अनेक दोषों की अधिक संभावना थी। मनु के कथनानुसार यदि स्त्रियों की रक्षा की उपेक्षा की जाय तो वे पितृ एवं पति दोनों कुलों को सन्ताप पहुँचा सकती हैं (९।५)। नारद (१६।३०) के मत में स्वतन्त्रता से कुलीन स्त्रियां भी बिगड़ जाती हैं; अतः प्रजापति ने उन की पराधीनता की व्यवस्था की है[३८]। इससे यह स्पष्ट है कि शास्त्रकारों ने

---

३५. दी हाईकास्ट हिन्दू वुमैन, पृ० ४१

३६. महाभारत १।१६०।१२-१३ उत्सृष्टमामिषं भूमौ प्रार्थयन्ति यथा खगाः। प्रार्थयन्ति जनाः सर्वे पतिहीनां तथा स्त्रियम्॥

३७. नारद सं० १४।२९ पक्षद्वयावसाने तु राजा भर्त्ता प्रभुः स्त्रियः। स तस्याः भरणं कुर्यान्निगृह्णीयात्पथश्च्युताम्।

३८. नारद १६।३० स्वातन्त्र्याद्विप्रणश्यन्ति कुले जाता अपि स्त्रियः। अस्वातन्त्र्यमतस्तासां प्रजापतिरकल्पयत्। मि० हितोपदेश मित्रलाभ श्लोक ११४।

नारी की परतन्त्रता की व्यवस्था उसे 'पुरुष की गुलामी की जंजीरों में जकड़ने के लिये नहीं, किन्तु उस के हित की दृष्टि से की थी और न केवल हिन्दू शास्त्रकारों अपितु प्राचीन काल के अन्य सभी उन्नत देशों के व्यवस्थापकों ने इन्हीं परिस्थितियों के कारण नारी के पराधीन होने का ठीक इन्हीं शब्दों में विधान किया है[३९]।

**पत्नी के कर्त्तव्य**---धर्मशास्त्रों में इन का बड़े विस्तार से वर्णन है[४०]। इनमें पतिसेवा और पातिव्रत्य को बहुत अधिक महत्व दिया गया है, इन्हें देखने से पहले भार्या के सामान्य कर्त्तव्यों का संक्षिप्त उल्लेख किया जायगा। मनु (५।१५०) के मतानुसार पत्नी में चार बातें होनी चाहियें---वह सदैव हंसमुख रहे, गृह कार्यों में दक्ष हो, घर की सब चीजें साफ सुथरी रखे और अपव्ययी न हो[४१]। याज्ञवल्क्य ने इन के अतिरिक्त पति का प्रिय कार्य करना, सास ससुर

---

३९. चीन में कन्फूशियस की व्यवस्था के अनुसार 'बचपन में स्त्री को अपने पिता या बड़े भाई की आज्ञा का पालन करना चाहिये, विवाहित होने पर पति के, तथा पिता और पति की मृत्यु के बाद पुत्रों के आदेश को मानना चाहिये (लेगी-चाइनीज क्लासिक्स १।१०३ पृ०)। टकर ने यूनान की नारी के सम्बन्ध में लिखा है ---'स्त्री जीवन के किसी काल में संरक्षक के बिना नहीं रह सकती थी, उस का पिता जीवित न होने पर समीपतम सम्बन्धी उस का संरक्षक होता था और स्त्री के विवाह के बाद भी संरक्षक बना रहता था। पति की मृत्यु के बाद उस का पुत्र उस का संरक्षक होता था (लाइफ इन एंशेण्ट एथेन्स पृ० ५२)। रोम के सम्बन्ध में यूजीन हैकर का कथन है कि रोम में स्त्री पिता, पति या अन्य अभिभावक के संरक्षण में रहती थी, वह उनकी सम्मति के बिना कुछ नहीं कर सकती थी। स्त्रियों को संरक्षण में रखने के निम्न कारण समझे जाते थे---स्त्री चरित्र की चंचलता, कामातुरता और कानूनी मामलों की अनभिज्ञता (ए शार्ट हिस्टरी आफ वुमैन्स राइटस् पृ० २)

४०. मनु० ५।१५०-५६, याज्ञवल्क्य १।८३-८७, विष्णुधर्मसूत्र २५। १-८, महाभारत ३।२३३। १९-५८ में द्रौपदी द्वारा सत्य भामा को तथा १३। १२३ में शाण्डिली द्वारा सुमना को पत्नी के धर्मों का विस्तार से उपदेश है। व्यासस्मृति २।२०-३२, हारीत (स्मृच २५०)

४१. सदा प्रहृष्टया भाव्यं गृहकार्येषु दक्षया। सुसंस्कृतोपस्करया व्यये चामुक्तहस्तया। कामसूत्र (४।१।३२) के मत में पत्नी को वार्षिक आय के

की चरण वन्दना,[४२] उत्तम आचरण और संयम उस के प्रधान गुण बताये हैं ( १।८३, ८७ )। शंख ने पति के उत्तम आचरण में ये बातें गिनायी हैं—( पति या बड़े व्यक्तियों द्वारा ) न कहे जाने पर घर से बाहर न निकलना, ऊपर का कपड़ा ओढ़े बिना न निकलना, जल्दी न चलना, व्यापारी, संन्यासी बूढ़े और वैद्य के अतिरिक्त किसी दूसरे पुरुष से न बोलना, नाभि को न दिखाना, टखने ( गुल्फ) तक ( साड़ी आदि वस्त्र ) पहनना, स्तन विवृत न करना, अपना मुंह ( हाथ या वस्त्र से ढके बिना ) जोर से न हंसना, अपने पति तथा अन्य सम्बन्धियों से घृणा न करना, नर्त्तकी , धूर्ता, प्रेमियों को मिलाने वाली साधुनियों, स्त्रीज्योतिषियों (प्रेक्षणिका), जादू (माया) और वशीकरण की दवाई(मूल)और गुप्तविधि (कुहक)करने वाली तथा दुःशील स्त्रियों के साथ न मिलना, क्योंकि इन के संसर्ग से कुल स्त्रियों का चरित्र दूषित होता है[४३]—मनु ने स्त्रियों के बिगड़ने के छः कारण बताये हैं—सुरापान, बुरे व्यक्तियों का संग, पति से दूर रहना, ( तीर्थ आदि अन्य स्थानों में ) घूमना, दिन में सोना, दूसरों के घरों में रहना[४४]। मनु (८।३६१) और याज्ञवल्क्य (२।२८५ ) निषिद्ध पुरुष के साथ बोलने पर पत्नी के लिये दण्ड व्यवस्था

---

अनुसार व्यय करना चाहिये—सांवत्सरिकमायमाख्याय तदनुरूपं व्ययं कुर्यात् । द्रौपदी का कहना है कि उसे पाण्डवों की पूरी सम्पत्ति और आय व्यय का ज्ञान है (३।२३३ )।

४२. मिलाइये, विष्णु धर्म सूत्र २५।१-६, महाभारत १३।१२३।१० शंख (स्मृच २५१)

४३. याज्ञ० १।८७ पर मिताक्षरा में उद्धृत—नानुक्ता निर्गच्छेत्, नानुत्तरीया। न त्वरितं व्रजेत् । न परपुरुषमभिभाषेतान्यत्र वणिक्प्रव्रजितवृद्धवैद्येभ्यः। न नाभिं दर्शयेत् । आगुल्फाद्वासः परिदध्यात् । न स्तनौ विवृतौ कुर्यात् । न हसेदनपावृता । भर्त्तारं तद्बन्धून्वा न द्विष्यात् । न गणिकाधूर्ताभिसारिणीप्रव्रजिताप्रेक्षणिकामायामूलकुहककारिकादुःशीलादिभिः सहैकत्र तिष्ठेत् । संसर्गेण हि कुलस्त्रीणां चारित्र्यं दुष्यति । मूलकारिका का अर्थ संभवतः वशीकरण के लिये जड़ी बूटियां देने वाली है। मिलाइये महा० ३।२३३।७-१४ मूलप्रचारैर्हि विषं प्रयच्छन्ति जिघांसवः, काणे हि० खण्ड २, भाग १, पृ० ५६४

४४. ९।१३, पानं दुर्जनसंसर्गः पत्या च विरहोऽटनम् । स्वप्नोऽन्यगेहवासश्च नारीसंदूषणानि षट् ॥

भी करते हैं। वृहस्पति ने संक्षेप में पत्नी के ये धर्म बताये हैं—पति आदि बड़े व्यक्तियों से पहले उठना, भोजन आदि उन के बाद लेना तथा उन से नीचे आसन पर बैठना[४५]। व्यास स्मृति ( २।३०-३२ ) में पत्नी के सबेरे उठने से रात के सोने तक सब कर्तव्यों का विस्तृत उल्लेख है। महाभारत (१।७४।१२) तथा कालिदास के मत में पत्नी को पितृगृह में चिरकाल तक नहीं रहना चाहिये; क्योंकि इससे कीर्त्ति, चरित्र और धर्म की हानि होती है[४६]। मध्ययुग में स्कन्दपुराण ( ब्रह्म खण्ड धर्मारण्य अध्याय ७ ) में पतिव्रता के धर्मों का विस्तार से उल्लेख करते हुए कहा गया है कि उसे पति का नाम नहीं लेना चाहिये, क्योंकि ऐसा करने से उसकी आयु में वृद्धि होती है ( श्लोक १८ ), पत्नी द्वारा भर्त्सित होने पर जोर से नहीं बोलना चाहिये और पिटने पर हंसमुख रहना चाहिये[४७]। पद्मपुराण के अनुसार वही पत्नी पतिव्रता है, जो कार्य में दासी, काम सुख में वेश्या, खिलाने में माता और विपत्ति में उत्तम परामर्शदाता होती है[४८]।

**प्रोषित पतिका के धर्म**—पति के विदेशयात्रा में घर से बाहर होने पर भार्या के आचरण का संक्षेप से उल्लेख करते हुए याज्ञ० (१।८४) ने उस के लिये निम्न बातों का निषेध किया है—खेल, शरीर का सजाना, समाजों और उत्सवों में जाना, हंसना, परपुरुष के घर में जाना। महाभारत में शरीर को सजाने में निषिद्ध वस्तुओं का निम्न उल्लेख है—काजल तथा रोचना ( पीला रंग ) लगाना, ( विशेष) स्नान, मालायें, अनुलेपन और आभूषणादि से अपने को सजाना (१३।१२३।२७)। स्मृति चन्द्रिका (पृ० २५३) ने शंख लिखित को उद्धृत करते हुए पत्नी के लिये निषिद्ध वस्तुओं का विस्तार से उल्लेख किया

---

४५. स्मृच व्यव० पृ० २५७, पूर्वोत्थानं गुरुष्वर्वाक् भोजनं व्यंजनक्रिया। जघन्यासनशायित्वं कर्म स्त्रीणामुदाहृतम् ॥

४ . १।७४।१२ नारीणां चिरवासो हि बान्धवेषु न रोचते । कीर्त्तिचारित्रधर्मघ्नस्तस्मान्नयत मा चिरम् ॥ शाकुन्तल ५।१७, सतीमपि ज्ञातिकुलैकसंश्रयां जनोऽन्यथा भर्तृमतीं विशंकते। मिलाइये मार्कण्डेय पुराण ७७।१९

४७. स्कन्दपुराण ब्रह्मखण्ड धर्मारण्य ७।१८-१९ भर्तुर्नाम न गृह्णाति ह्यायुषोऽस्य वृद्धये ।..... आक्रुष्टापि नाक्रोशेत्ताडितापि प्रसीदति ।

४८. पद्मपुराण सृष्टि खण्ड ४७।५६ कार्ये दासी रतौ वेश्या भोजने जननीसमा । विपत्सु मंत्रिणी भर्तुः सा च भार्या पतिव्रता ॥

है। व्यास के मत में ऐसी स्त्री को अपना चेहरा पीला दिखाना चाहिये, शरीर का शृंगार न करते हुए और निराहार रहते हुए शरीर को कृश करना उचित है। मनु० ( ९।७४-७५ ) तथा विष्णु धर्म सूत्र ( २५।९-१० ) यह कहते हैं कि विदेश यात्रा से पहले पति को पत्नी के भरण पोषण का प्रबन्ध करना चाहिये, क्योंकि ऐसा न होने पर साध्वी स्त्रियों के भी बिगड़ने का भय रहता है।

**पतिसेवा**——धर्मशास्त्रों में स्त्री का प्रधान कर्त्तव्य पतिसेवा और पातिव्रत्य का पालन बताये गये हैं। शंख के मत में स्त्री को व्रत, उपवास यज्ञ दानादि से वैसा फल नहीं मिल सकता जैसा पतिसेवा से। सीता की सम्मति में पत्नी के लिये पतिसेवा से अतिरिक्त कोई तपस्या नहीं है। ब्रह्मवैवर्त्तपुराण के अनुसार स्त्रियों का सब से बड़ा व्रत, तप, धर्म और देवपूजन पतिसेवा है[४९]। भागवत पुराण ने इसका अनुमोदन करते हुए स्त्रियों का परम धर्म पति की शुश्रूषा को ही बताया है (मि० महाभारत० ५।३४।७५)। मनु ने इस पर बल देते हुए कहा है कि साध्वी पत्नी दुःशील, स्वच्छन्दगामी और गुणशून्य पति की भी देवता की तरह सेवा करे, इसी से स्त्रियां स्वर्ग में पूजित होती हैं; क्योंकि स्त्रियों के लिये पृथक् रूप से कोई यज्ञ व्रत या उपवास नहीं है ( ५।१५४-५५ )।

महाभारत के कई उपाख्यानों में पतिसेवा के धर्म की विस्तृत व्याख्या की गयी है। १३।१२३ में केकय देशवासिनी एक स्त्री सुमना, शाण्डिली से उस के स्वर्ग आने का रहस्य पूछती है और यह उत्तर पाती है कि वह गेरुए वस्त्रों, वल्कलों या जटाओं से स्वर्ग नहीं पहुँची; किन्तु पति के लौटने पर उसे आसन पर बिठाकर उस की पूजा से, उसके पसन्द किये पदार्थों को ग्रहण तथा नापसन्द की वस्तुओं के त्याग से, उस की नींद में बाधा न डालने से वह स्वर्ग पहुँची है। सत्यभामा को द्रौपदी ने पांच पाण्डवों को अपने वश में रखने का सब से बड़ा मंत्र, पतिसेवा ही बताया है। 'मैं उन की आज्ञापालक, अहंकार

---

४९. शंख व्यक० १३५ न च व्रतोपवासनियमेज्यादानधर्मो वाऽनुग्रहकरः स्त्रीणामन्यत्र पतिशुश्रूषायाः। वा० रा० २।११८।९-१० पतिशुश्रूषणान्नार्या स्तपो नान्यद्विधीयते। भागवत पुराण १०।२९।२४ भर्त्तुः शुश्रूषणं स्त्रीणां परो धर्मो........मि० ७।११।२५, ब्रह्मवैवर्त्त पु० कृष्ण खंड उ० ५७।१८ पतिसेवा व्रतं स्त्रीणां पतिसेवा परं तपः। पतिसेवा परो धर्मः पतिसेवा सुरार्चनम्॥ वहीं ८३।११२ व्रतं तपस्यां देवार्चां परित्यज्य प्रयत्नतः। कुर्याच्चरणसेवां च स्तवनं च परितोषणम्॥

शून्य, उनके विचारों का सदा ध्यान रखने वाली हूँ, उन्हें बुरा लगने वाले कथन, स्थान, दृष्टि, बैठने, बुरा चलने तथा बुरे इशारों से सदा बचती रहती हूँ। उन के स्नान, भोजन और आसन ग्रहण करने से पहले मैं ये कार्य नहीं करती। उनके अपेय और अभक्ष्य का वर्जन करती हूँ। पाण्डवों की आराधना करते हुए मेरे लिये दिन रात बराबर हैं। मैं प्रातःकाल उनसे पहले उठती हूँ और रात को सब से पीछे सोती हूँ' (३।१२३।४ अनु०)।

हिन्दू परिवार में संभवतः पति सेवा का सर्वोच्च आदर्श सीता ने रखा है। चौदह वर्ष के वनवास की आज्ञा होने पर श्रीराम की यह इच्छा है कि कोमलांगी सीता वन्य जीवन के भयंकर कष्टों से बची रहे, किन्तु वह पतिसेवा के लिये भीषणतम कष्ट सहने को तय्यार है ( वा० रा० २।२६ )। "हे राघव, यदि आप आज दुर्गम वन को जाते हो, तो मैं आप के आगे आगे कांटों और कुशा घास को कुचलती हुई चलूंगी। उच्च अट्टालिकाओं तथा विमानों में बैठकर आकाश में विहार करने की अपेक्षा, सब अवस्थाओं में पति के चरणों की सेवा ही श्रेष्ठ है। यदि स्वर्ग में भी वास करना मिले, तो मैं उसे आप के विना पसन्द नहीं करूँगी"। श्रीराम ने जब उसे पहाड़ी कन्दराओं में गरजने वाले सिंहों, नदियों के सर्वभक्षी ग्राहों, वनों के हाथियों और काले सांपों का डर दिखाया तो सीता ने उत्तर दिया —'जब आप मेरे साथ होंगे तो मुझे इन हिंस्र जन्तुओं का क्या भय है?.... मार्ग में आने वाले सरकण्डे और कांटेदार पेड़ मुझे रुई और मृगचर्म के समान मृदुस्पर्श वाले प्रतीत होंगे। आपके साथ जो वस्तु है, वह मेरे लिये स्वर्ग है; आप के बिना जो कुछ है; वह नरक है'( २।३०। ३-१९ )। अन्धेरे में छाया व्यक्ति का साथ छोड़ देती है; किन्तु विपत्ति में सीता ने राम का साथ नहीं छोड़ा। उस की यह पतिनिष्ठा हिन्दू नारियों के लिये हजारों वर्षों के प्रबल झंझावात में भी अमन्द आभा रखने वाला ज्योतिःस्तम्भ रहा है।

इस आदर्श का पालन करते हुए हिन्दू पत्नियों ने वृद्ध एवं कठोर पतियों की बड़े भक्तिभाव से सेवा की है। महाभारत में ऐसी पतिपरायण स्त्रियों की सूची दी गयी है, जो पति के बूढ़ा होने पर भी उस की सेवा से विरत नहीं हुईं। (४।८१।१० )। च्यवन ऋषि तप करते हुए बिल्कुल मिट्टी हो गये, राजा शर्याति के उपद्रवी बच्चों ने उन्हें पत्थर मारे, ऋषि के शाप से बचने के लिये राजा ने उन्हें अपनी पुत्री सुकन्या प्रदान की और वह बड़े प्रेम से बूढ़े पति की सेवा करती रही ( श० ब्रा० ४।१।५।१-१२, महाभारत ३।१२२-२३, ४।२१।१०-१४, भागवत पुराण ९।३।१ अनु )। महारूपवती नारायणी

इन्द्रसेना ने हजार वर्ष के वृद्धपति की सेवा की। द्युमत्सेन की पुत्री सावित्री सत्यवान् के साथ यम लोक तक गई। सृञ्जय की पुत्री के साथ नारद के विवाह के समय,उनके भांजे पर्वत के शाप के कारण उनका चेहरा बन्दर जैसा हो गया, किन्तु उसने वानरमुख नारद की सेवा तन्मयता से की, 'अपने पति से अनुराग रखने वाली उस कन्या ने देवता मुनि, यक्ष आदि अन्य किसी पुरुष को मन से भी पतिभाव से नहीं देखा ( १२।३०।३२-३४ )। इन आख्यानों के ऐतिहासिक होने में संदेह संभव है; किन्तु इन्हें निरन्तर श्रवण करने वाले हिन्दू परिवार पर इनके अमित प्रभाव में रत्ती भर संशय नहीं हो सकता।

महाभारत में ऐसे उदाहरणों की भी कमी नहीं है, जिनमें स्त्रियां अपनी सेवा द्वारा कठोर पतियों को भी सन्तुष्ट करने का यत्न करती रही हैं। जरत्कारु ने पितरों के उद्धार के लिये नागराज वासुकि की बहन से इस शर्त्त पर शादी की कि यदि वह उन्हें अप्रिय लगने वाला कोई कार्य करेगी या कोई ऐसी बात कहेगी तो वे उसे छोड़ देंगे। एक बार पत्नी की गोद में सिर रख कर सोते हुए सायंकाल हो जाने पर भी जब ऋषि की नींद नहीं खुली तो पत्नी धर्म संकट में पड़ गयी। यदि वह उसे जगाती है तो नींद में बाधा डालती है; नहीं जगाती तो सायंतन धर्मकृत्य का समय समाप्त होने की संभावना थी। जगाने में पति के कोप का भय था; न जगाने में धर्मलोप की आशंका। धर्म रक्षा की दृष्टि से उस ने जब पति को जगाया तो उनके होंठ क्रोध से फड़कने लगे, पत्नी के आंसुओं की उपेक्षा कर वे उसे छोड़ कर चले गये (महाभारत १।४५-४८ अ० )। रेणुका को जमदग्नि ने कड़ी धूप और तपी बालू में बाण लाने के लिये दौड़ाया था ( महाभारत १३।९५-९६ अ० )।

**पति के बचन का पालन**—याज्ञवल्क्य की सम्मति में पत्नी का परम धर्म यह है कि वह पति के वचन का पालन करे [५०]। महाभारत में ऐसे अनेक उपाख्यान हैं, जिनमें पत्नियों द्वारा पतियों की अनुचित इच्छाओं को भी पूरा करने का वर्णन है। पाण्डु कुन्ती को नियोग के लिये प्रेरित करता हुआ कहता है कि मदयन्ती ने पति को प्रसन्न करने की इच्छा से वसिष्ठ का अभिगमन किया था [५१]। 'वेदवेत्ता यह जानते हैं कि पति पत्नी को धर्मानुकूल या धर्मविरुद्ध

५०. याज्ञ० १।७७ स्त्रीभिर्भर्त्तृवचः कार्यमेष धर्मः परः स्त्रियाः।

५१. महाभारत १।१२२।२३ एवं कृतवती सापि भर्त्तुः प्रियचिकीर्षया १।१६०।४ में पति के लिये प्राण तक देने का वर्णन है। एतद्धि परमं नार्याः कार्यं लोके सनातनम्। प्राणानपि परित्यज्य यद्भर्तृहितमाचरेत्॥

जो बात कहे, उस के अनुसार कार्य करना चाहिए[५२]। मार्कण्डेय पुराण (१६ अ० ) में इसका सब से सुन्दर उदाहरण कौशिक ब्राह्मण की ऐसी पतिव्रता स्त्री की कथा है, जो अपने कोढी और लंगड़े पति को उस की इच्छा पूरी करने के लिये वेश्या के घर ले जाती है और अपने पातिव्रत्य के प्रभाव से अगले दिन सूर्योदय को रोक देती है। ऐसी कथाओं का अभिप्राय केवल पातिव्रत्य की महिमा का बखान करना ही है।

**पातिव्रत्य**––कौशिक ब्राह्मण की पत्नी में पातिव्रत्य का उपर्युक्त आदर्श पराकाष्ठा तक पहुँच गया है। पत्नी से ऐसा कार्य कराने का उद्देश्य संभवतः यह है, कि उस में इस बात से कभी कोई ईर्ष्या ही उत्पन्न न हो, कि उस का पति किसी दूसरी स्त्री से प्रेम करता है। पातिव्रत्य की मूल भावना यही है, पति जो चाहे करे, पत्नी को अपने पति के प्रति साध्वी रहना चाहिये। मनु ने 'मन वचन और देह से भी पर पुरुष के साथ व्यभिचार न करने वाली स्त्री को पति के साथ स्वर्ग में निवास करने वाली साध्वी स्त्री बताया है और परपुरुष के साथ व्यभिचार से स्त्री की निन्दा, पाप रोगों से पीड़ित होने तथा सियार की योनि पाने का उल्लेख किया है ( मनु० ९।२९-३० मि० याज्ञ० १।८७, वसिष्ठ २१।१४ )। हिन्दू परिवार में नारियों ने अत्यन्त विषम परिस्थितियों में प्राणों को संकट में डालना पसन्द किया है, किन्तु पातिव्रत्य की मर्यादा का परित्याग नहीं किया।

**आदर्श पतिव्रतायें**––प्राचीन साहित्य में संभवतः आदर्श पतिव्रता का सबसे सुन्दर उदाहरण सीता है। पंचवटी में रावण ने सीता की कुटिया में परिव्राजक के रूप में प्रवेश किया और उसे अपनी पटरानी बनाना स्वीकार करने पर त्रिलोकी के ऐश्वर्य का प्रलोभन दिया (वा०रा०अर० ४७।२५-३१); परन्तु पातिव्रता सीता ने रावण को धिक्कारते हुए यह सिंहगर्जना की––'मैं पुरुषसिंह रामचन्द्र के अनुकूल रहने वाली स्त्री हूँ। तू गीदड़ होकर मुझ शेरनी को पाना चाहता है। जैसे सूर्य की प्रभा को नहीं छुआ जासकता, उसी तरह तू भी मुझे नहीं छू सकता' (४७।३४-४७ )। राक्षसराज द्वारा लंकापुरी में अपहृत होने पर भी सीता में यही दृढ़ता, धीरता और गम्भीरता बनी रही। अशोक-

---

**५२. महाभा० १।१२२।२७-२८ धर्ममेवं जनाः सन्तःपुराणं परिचक्षते। भर्त्ता भार्यां राजपुत्रि धर्म्यं वाऽधर्म्यमेव वा। यद् ब्रूयात्तथा कार्यमिति वेदविदो विदुः॥**

वाटिका में एक वर्ष तक रखकर रावण ने उसे नाना प्रकार की विभीषिकाओं द्वारा भयभीत करना चाहा—'यदि १२ महीने के अन्दर तुम मेरे पास नहीं आओगी तो रसोइये तुम्हारे शरीर को खण्डखण्ड कर डालेंगे'। १० मास बाद राक्षसियों ने विकराल रूपों द्वारा उसे अनेक प्रकार के भय दिखाये किन्तु सीता अपने पातिव्रत्य पर अटल रही। "दीन हो या राज्यहीन, पति ही मेरा गुरु है। मैं उसमें उसी तरह अनुरक्त हूँ जैसे सुवर्चला सूर्य के, शची इन्द्र के, अरुन्धती वसिष्ठ के, लोपामुद्रा अगस्त्य के, सुकन्या च्यवन के और सावित्री सत्यवान् के साथ थीं; जैसे सौदास, सगर और नल के साथ क्रमशः मदयन्ती, केशिनी और दमयन्ती अनुरक्त थीं। चन्द्रमा का उष्ण होना, अग्नि का शीतल होना और समुद्र के पानी का मीठा होना संभव था; किन्तु सीता का सतीत्व के पथ से विचलित होना अशक्य था'। रावण का अनन्त वैभव उसे न लुभा सका; उसके दण्ड का भीषण भय भी उसे अपने संकल्प से न डिगा सका। पातिव्रत्य की सर्वोच्च मर्यादा स्थापित कर उसने भगवती का पवित्र पद पाया, उसका अनुपम धैर्य, अद्वितीय साहस, अतुलनीय पतिभक्ति और अलौकिक सतीत्व हिन्दू परिवार में नारियों को सत्पथ पर दृढ़ रहने और सतीत्व की परम्परा अक्षुण्ण रखने की प्रेरणा का अजस्र स्रोत रहा है।

पातिव्रत्य का आदर्श यह है कि एक वार किसी पुरुष से विवाह होने के बाद उस में न्यूनतायें होने पर भी दूसरे पुरुष का विचार न किया जाय। सत्यवान् सब प्रकार से गुणवान् होते हुए भी एक वर्ष में मर जाने वाले थे। सावित्री ने सत्यवान् को जब पति रूप से वरण किया तो उसे यह दोष ज्ञात नहीं था। बाद में नारद द्वारा इस का पता लगने पर जब उस के पिता ने उसे दूसरा पति चुनने को कहा तो सावित्री का उत्तर था कि लम्बी आयु वाला हो या छोटी आयु वाला, गुणवान् हो या गुण शून्य; मैंने एक वार पति चुन लिया है, दूसरा पति नहीं चुनूंगी[५३]। पिता को कन्या का आग्रह स्वीकार

---

५३. महाभारत ३।२९४।२७ दीर्घायुरथवाल्पायुः सगुणो निर्गुणोऽपि वा। सकृद्वृतो मया भर्त्ता न द्वितीयं वृणोम्यहम् ॥ सावित्री की पतिभक्ति के लिये देखिये ३।२९७।५२-५३ ; वरं वृणे जीवतु सत्यवानयम्। न कामये भर्तृविना कृता सुखं न कामये भर्तृविनाकृता दिवम्। न कामये भर्तृविनाकृता श्रियं न भर्तृहीना व्यवसामि जीवितुम् ॥

करना पड़ा। सत्यवान से सावित्री का विवाह हुआ, एक वर्ष तक उसने पति की सेवा की ( ३।२९ ६।१९ )। जब सत्यवान की मृत्यु होनी थी, उस दिन सत्यवान के वन में लकड़ी लाने के लिये जाने पर, सावित्री भी उसके साथ गई। उस ने वन में यमराज को प्रसन्न कर अपने पति के प्राणों को तथा सास ससुर के खोये राज्य तथा दृष्टि शक्ति को प्राप्त किया। ( ३।२९६।१९ ) यह कथा गुणहीन पति की प्राणपण से सेवा तथा अपने पातिव्रत्य के प्रभाव से उसके दोषों को दूर करने का सुन्दर उदाहरण है।

गान्धारी को जब यह पता लगा कि उस का विवाह प्रज्ञाचक्षु धृतराष्ट्र के साथ होना है तो उस ने अपनी आंखों पर कई तहों वाली पट्टी बांध ली ताकि उसके चित्त में पति के प्रति किसी प्रकार का दुर्भाव न उत्पन्न हो (महाभा० १। ११०।१४)। द्रौपदी ने वन में पतियों के साथ घोर कष्ट सहे, किन्तु पातिव्रत्य की मर्यादा नहीं छोड़ी। हरिश्चन्द्र की पत्नी तारामती ने अपने पति द्वारा बेचे जाने में भी संकोच नहीं किया (ब्रह्म० अ० १०४, मार्क० अ० ७, ८, देवीभागवत ७।१८)।

मनु ने यह कहा है कि पति के दुःशील होने पर भी पत्नी साध्वी रहे। इस का सर्वोत्तम उदाहरण शची है। इन्द्र हमारे साहित्य में लम्पटता के लिये प्रसिद्ध है किन्तु उस की पत्नी शची ने सतीत्व का उज्ज्वल आदर्श स्थापित किया है। वृत्र का वध करने के बाद इन्द्र ब्रह्महत्या के पाप के कारण जल में छिपा और नहुष उस के स्थान पर देवराज बना, उस ने इन्द्र पद पाने के बाद इन्द्राणी को प्राप्त करने की लालसा की; किन्तु पतिव्रता शची ने अपने पति इन्द्र को ढूंढ़ कर उस की बताई हुई चालाकी तथा बृहस्पति द्वारा दी गयी सहायता से अपने सतीत्व की रक्षा की (महाभा० ५।१० अनु०, १२।३४२।२८-५३ )। दक्षपुत्री सती ने अपना पातिव्रत्य कई जन्मों में निबाहा। दक्षयज्ञ में देह त्याग करने के बाद वह अगले जन्म में हिमालय और मैना की कन्या बनी और उसने तपस्या द्वारा महादेव को प्राप्त किया।

**सतीत्व की महिमा**––हिन्दू धर्मशास्त्रों में पातिव्रत्य की गरिमा के बहुत गीत गाये गये हैं। मनुस्मृति (५।१६५-६ ) याज्ञवल्क्य स्मृति (१।८७ ) और महाभारत (१४।२०।४) इसे सब से ऊँचे उस स्वर्ग लोक में पहुँचाने वाला मानते हैं, जिसे केवल ब्रह्मा, पवित्र ऋषि और पवित्रात्मा ब्राह्मण ही प्राप्त करते हैं ( महाभारत १३।७३।२ अनु० मि० ९।५।४१-४७)। 'पृथिवी के सब तीर्थ पतियों के चरणों में हैं, सब देवताओं और मुनियों का तेज सतियों में हैं,

उनके चरणों की धूल से पृथिवी शीघ्र ही पवित्र हो जाती है[५४]। उनके आंसुओं में रावण जैसे बलवान् राक्षस को नष्ट करने की शक्ति है नेत्र (६।१११।६५)। कृष्ण के मतानुसार गान्धारी पातिव्रत्य के कारण अपने क्रोध दीप्त से सारी पृथिवी भस्म कर सकती थी (९।६३।२१)। स्कन्द पुराण (ब्र० खं० धर्मारण्य ७।५४-५६) का कथन है कि जैसे सपेरा बिल से सांप को निकाल लेता है, वैसे ही पतिव्रता अपने पति के जीवन को यमदूतों से छीन लेती है, उसे देखकर वे भाग खड़े होते हैं[५५]। सावित्री ने इसी प्रभाव से अपने पति को यमराज के चंगुल से बचाया था (दे० पृ० १५४) सीता ने इसी कारण हनुमान की पूंछ को आग लगने पर भी उसकी जलने से रक्षा की थी (वा० रा० ५। ५३।२५ अनु०)। सतियों के तेज के सम्मुख तपस्वी ब्राह्मणों की शापशक्ति को नतमस्तक होना पड़ता था, यह कौशिक ब्राह्मण के आख्यान से स्पष्ट है (महाभारत ३।२०६ अ०)। उस ने अपने पर बीठ करने वाले सारस को दृष्टिमात्र से दग्ध कर दिया; किन्तु पति सेवा में संलग्न स्त्री के घर पर भिक्षा पाने में विलम्ब होने से वह उस का कुछ नहीं बिगाड़ सका, उस ने अपने पातिव्रत्य के प्रभाव से, ब्राह्मण द्वारा सारस को कोप दृष्टि से जलाने की बात जान ली (महाभा० ३।२०६।२३-३२)।

अपने सतीत्व के कारण अनेक असंभव, अद्भुत एवं चमत्कारपूर्ण कार्य करने वाली स्त्रियों के अनेक उदाहरणों की चर्चा प्राचीन साहित्य में बहुत पायी जाती है और इनका उद्देश्य सतीत्व के गौरव को बढ़ाना ही प्रतीत होता है। पतिव्रता स्त्री परपुरुष के लिये अदृश्य हो सकती है। अशुचि अवस्था में उत्तंक राजा पौष्य के अन्तःपुर में उस की पत्नी को नहीं देख पाया (महाभारत २।३। १०७)। स्कन्द० (६।१३५) तथा मार्कण्डेय० (१६।२७) पुराणों के अनुसार अपने कोढ़ी पति को उसकी इच्छा पूरी करने के लिये वेश्या के पास ले जाने वाली पतिव्रता शंडिली अथवा दीर्धिका अपने सतीत्व के सामर्थ्य से सूर्योदय रोक देती है। भोजप्रबन्ध की एक कथा के अनुसार अपनी गोद

---

५४. ब्रह्म वै० पु० ३५।१,१९, १२७ पृथिव्यां यानि तीर्थानि सतीपादेषु तान्यपि। तेजश्च सर्वदेवानां मुनीनां च सतीषु वै॥

५५. स्कन्द पुराण ७।५४-५५ व्यालग्राही यथा व्यालं बलादुद्धरते बिलात्। एवमुत्क्रम्य दूतेभ्यः पतिं स्वर्गं व्रजेत्सती। यमदूताः पलायन्ते तामालोक्य पतिव्रताम्॥

में सोये पति की नींद न खराब करने वाली पतिव्रता के उस समय आग में गिर पड़ने वाले बालक को आग ने नहीं जलाया, वह उसके लिये चन्दन की तरह शीतल हो गयी[५६]। कथासरित्सागर में राजा रत्नाधिप का हाथी मरने पर वह अस्सी हजार रानियों के स्पर्श से जीवित नहीं होता; किन्तु हर्षगुप्त की पतिव्रता पत्नी शीलवती द्वारा छूते ही जी उठता है (३६ वीं तरंग मि० दशकुमार चरित)। राजतरंगिणी के अनुसार मिहिरकुल ने चन्द्रकुल्या नदी के प्रवाह को बदलने के लिये तप किया और इसमें बाधक चट्टान में रहने वाले यक्ष से यह वर प्राप्त किया कि पतिव्रता स्त्री द्वारा चट्टान को छू लेने से यह बाधा दूर हो जायगी। हजारों कुलीन स्त्रियों के स्पर्श से यह चट्टान नहीं हिली; किन्तु एक कुम्हार की पतिव्रता पत्नी के छूने से वह चट्टान हट गयी (१।३१८-२१)। मयूर की साध्वी स्त्री के शाप से बाण कोढ़ी हो गया था (प्रबन्ध चिन्तामणि पृ० ६४-६९)।

**सतीत्व का ऐतिहासिक विकास**—हिन्दू परिवार में चिरकाल से सतीत्व का यह आदर्श रहा है कि पत्नी अपनी सत्ता को पति में पूर्ण रूप से विलीन कर दे। बृहस्पति के शब्दों में वही स्त्री पतिव्रता है, जो पति के दुःखी होने पर आर्त्त, उसके प्रसन्न होने पर हृष्ट, विदेश जाने पर मलिन और दुर्बल तथा पति के मरने पर मर जाती है[५७]। पति के दुःशील होने पर उसे पति की देवता की भांति पूजा करनी चाहिये, एक बार विवाह होने पर उसे पुनर्विवाह का अधिकार नहीं है (मनु ५।१५४,१५८)।

प्रायः यह कहा जाता है कि हिन्दूसमाज में सतीत्व का यह आदर्श अनादिकाल से चला आ रहा है। किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से यह सत्य नहीं प्रतीत होता। स्त्री पर यह दायित्व डालने तथा पुरुष को पुनर्विवाह का अधिकार प्रदान करने वाले इस एकांकी आदर्श का बीजारोपण नारियों की स्थिति गिरने के साथ साथ ब्राह्मण ग्रन्थों के समय हुआ। २०० ई० पू० में मनु द्वारा प्रबल समर्थन के बाद यह शनैः शनैः सर्वमान्य होने लगा और गुप्तयुग

---

५६. भोज प्रबन्ध श्लोक २९२ सुतं पतन्तं प्रसमीक्ष्य पावके न बोधयामास पतिं पतिव्रता। तदाभवत्तत्पतिभक्तिगौरवाद्धुताशनःश्चन्दनपंकशीतलः ॥

५७. आर्त्तार्त्ते मुदिते हृष्टा प्रोषिते मलिना कृशा। मृते म्रियेत या पत्यौ सा स्त्री ज्ञेया पतिव्रता ॥ वृहस्पति अपरार्क (पृ० १९०) तथा मिताक्षरा (या० १।८६) द्वारा उद्धृत।

के बाद हिन्दू समाज ने इस को पूर्ण रूप से अपना लिया । क्योंकि सतीत्व के सिद्धान्त में स्त्रियों के पुनर्विवाह का कोई स्थान नहीं, किन्तु गुप्तयुग तक हमें स्त्रियों के पुनर्विवाह का उल्लेख मिलता है । कौटिलीय अर्थ शास्त्र ४ थी श० ई० पू० में परस्पर द्वेष के कारण तलाक की व्यवस्था करता है, ( ३।३ ) गुप्तयुग तक पति के नष्ट होने ( पता न लगने ), मरने, संन्यासी, नपुंसक या पतित होने पर पत्नी को पुनर्विवाह का अधिकार था ( नारद स्त्रीपुंस ५।९७, पराशर ४।३०, अग्नि पुराण १५४।५-६ )। पुनर्विवाह करने वाली सात प्रकार की पुनर्भू स्त्रियों का नारद ने बड़े विस्तार से उल्लेख किया है (स्त्रीपुंस ४।४५ अनु०)। रामगुप्त की पत्नी ध्रुवदेवी की अपने देवर चन्द्रगुप्त से दूसरे विवाह की कहानी[५८] भी यह स्पष्ट करती है कि गुप्तयुग तक सतीत्व का आदर्श स्त्रियों के पुनर्विवाह में बाधक नहीं था ।

**जातक साहित्य की साक्षी**—ईसा की पहली शतियों के लोक जीवन को प्रतिबिम्बित करने वाले जातक साहित्य से भी यह पुष्ट होता है कि उस समय तक सतीत्व का आदर्श सर्वमान्य नहीं हुआ था। अनभिरत जातक (सं० ६५) में अपनी भार्या के दोष से दुःखी शिष्य जब कई दिन अनुपस्थित रह कर, आचार्य के पास जाता है तो आचार्य उसे सान्त्वना देता हुआ कहता है कि नदियों, महामार्गों, शराबखानों, सभाओं तथा प्याऊओं की भांति स्त्रियां लोक में सब के लिये साधारण होती हैं, पण्डित लोग इन के विषय में क्रोध नहीं करते[५९] । एक अन्य जातक ( सं० १९५ ) में, बनारस के राजा ब्रह्मदत्त की पत्नी के साथ, जब उस का एक अत्यधिक उपयोगी और प्रिय अमात्य अनुचित संबन्ध स्थापित करता है तो राजा बोधिसत्व को कहता है कि रम्य पर्वत के अंचल में सिंह द्वारा सुरक्षित पुष्करिणी ( तालाब ) का जल शृगाल ने पिया है । बोधिसत्व राजा के अभिप्राय को समझते हुए यह उत्तर देता है 'महाराज नदी पर सभी प्राणी जल पीते हैं, उस से नदी अनदी नहीं होती, यदि वह प्रिया है तो उसे क्षमा करें[६०] । इस से यह स्पष्ट है कि उस समय तक सतीत्व

---

**५८. हर्षचरित छठा उच्छ्वास, इंडियन कल्चर सं० ४ पृ० २१६**

**५९. यथा नदी च पन्थो च पणागारं सभा प्रपा । एवं लोकस्त्रियो नाम नासं कुज्झन्ति पण्डिता ।।**

**६०. पब्बतू पत्थरे रम्मे जाता पोक्खरिणी सिवा । तं सिगालो..... जातं सीहेन रक्खितं । पिबन्ति वे महाराज । सापदानि महानदिं । न तेन अनदि**

का आदर्श सर्वमान्य न होने से पत्नी पति की सुरक्षित पुष्करिणी नहीं बनी थी। पातिव्रत्य की महिमा बढ़ने पर यह समझा जाने लगा कि पति ही पत्नी का प्राण है और उस के लिये महत्तम त्याग भार्या का परम धर्म है। किन्तु उच्छंग जातक ( सं० ६७ ) में हम देखते हैं कि एक स्त्री पति से भी अधिक महत्व अपने भाई को देती है। उस का पति, पुत्र और भाई राजकर्मचारियों द्वारा बन्दी बनाये जाते हैं। राजा उस के बहुत विलाप तथा प्रार्थना करने पर कहता है—'मैं तुझे इन तीनों में से एक को देता हूँ, तू किसे चाहती है?' उस का उत्तर है—"मुझे भाई दीजिये, क्योंकिपुत्र और पति सुलभ हैं; किन्तु भाई सुलभ नहीं है। देव, पुत्र तो गोद में और पति रास्ते चलती को मिल सकता है; किन्तु वह देश नहीं दिखाई देता, जहां से भाई लाया जा सके[६१]। परवर्त्ती युगों में पाणिग्रहण द्वारा आजीवन सतीत्व के बन्धन में रहने वाली नारी को महाजनपदयुग में रास्ता चलते हुए पुरुष मिल सकता था।

किन्तु उपर्युक्त जातक कथाओं से यह परिणाम निकालना ठीक नहीं कि उस समय प्रत्येक स्त्री नदी और तालाब की भांति जन साधारण के उपभोग की वस्तु थी; क्योंकि जातकों की अनेक कथाओं में नारियां अपने सतीत्व की रक्षा पूरी तरह करती हैं। जातक ( सं० ५५ ) में एक राजा विद्रोहियों का दमन करने के लिये जाते हुए अपनी पत्नी मृदुलक्षणा को एक परिव्राजक के संरक्षण में छोड़ जाता है, परिव्राजक उस पर काममोहित होकर अपनी कुटिया में निराहार पड़ा रहता है, सात दिन बाद वापिस लौटने पर और यह समाचार ज्ञात होने पर राजा मृदुलक्षणा को अलंकृत कर तपस्वी को देता है और साथ ही पत्नी को अपने बल से सदाचार की रक्षा के लिये कहता है। पत्नी पहले तो परिव्राजक से सार्वजनिक शौच गृह साफ करवा के वहां बिस्तर बिछवाती

---

होति खमस्सु यदि ते पिया। अट्ठ कथा में इस का निम्न स्पष्टीकरण है—जिस प्रकार नदी किसी के पानी पीने से दूषित नहीं होती, उसी प्रकार स्त्री भी कामुकता के वशीभूत हो अपने पति के अतिरिक्त किसी दूसरे के साथ सहवास करने से दूषित नहीं होती। क्यों? सब के लिये साधारण होने से। न ही स्त्री जूठी है। क्यों? जल स्नान से शुद्ध हो सकने के कारण।

६१. उच्छंगे देव मे पुत्रो पथे धावन्तिया पति। तञ्च देसं न पस्सामि- यतो सोदरियमानये॥

है और फिर परिव्राजक के पास आने पर उसकी दाढ़ी पकड़ कर कहती है 'क्या तुझे अपने श्रमण होने का विचार नहीं ।' इस प्रकार उस का मोहभंग कर अपने सतीत्व की रक्षा करती है । अवदान कल्पलता में जयप्रभा ने अपने पातिव्रत्य का इसी प्रकार संरक्षण किया है । जातक सं० ५४६ में एक वधू वर द्वारा सतीत्व की परीक्षा में खरी उतरती है, सम्पत्ति द्वारा पथभ्रष्ट करने वालों को वह कहती है—'यह धन मेरे पति के चरणों की धूल के भी बराबर नहीं है ।' अन्यत्र वन से पति के लिये कन्दमूल लाने वाली पत्नी का मार्ग रोकते हुए एक यक्ष जब उसे अपनी इच्छा पूरी करने अथवा मृत्यु स्वीकार करने को कहता है तो पत्नी का उत्तर है कि मुझे तुम्हारा शिकार बनना पसन्द है, किन्तु मैं अपने पति के प्रति सच्चे प्रेम का परित्याग नहीं कर सकती ( फासबाल—जातक ५।६८२ ) । जातक संख्या २६७ में एक पति के संकट ग्रस्त होने पर पत्नी के अतिरिक्त उस के सब साथी भाग जाते हैं, परन्तु पत्नी कहती है—'मैं तुम्हें छोड़ कर नहीं जाऊँगी । पृथिवी के चारों कोनों पर तुम जितना प्रिय कोई नहीं मिल सकता' । इसी जातक की निदानकथा में यह वर्णन है कि अपनी भार्या के साथ यात्रा करने वाले श्रावस्ती के एक भूमिपति पर डाकुओं ने हमला किया, उन का सरदार पत्नी के रूप पर मुग्ध हो गया और उस ने पति को मार कर उसे प्राप्त करना चाहा । साध्वी पत्नी ने सरदार के चरणों पर गिरते हुए कहा कि यदि तुम मेरे पति का वध करोगे तो मैं विष खाकर आत्महत्या कर लूंगी, किन्तु तुम्हारे साथ नहीं जाऊँगी । इन सतीत्व समर्थक कथाओं से तथा ऊपर दी गयी इसे असाधारण महत्व न देने वाली कथाओं से यह स्पष्ट है कि उस समय न तो हिन्दू समाज में यौन अराजकता थी और न सतीत्व का प्रचलित वर्त्तमान एकांगी आदर्श, जिसमें पति पत्नी पर इस विषय में समान बन्धन नहीं थे । पत्नी पति की भांति पुर्नविवाह कर सकती थी । इद्धिदासी के इस प्रकार दो विवाह हुए थे ( थेरी गाथा टीका पृ० २६० ) । अतः उस समय तक वर्त्तमान काल का सतीत्व का विचार हिन्दू परिवार में एक सर्वमान्य रूढि के रूप में प्रचलित नहीं हुआ था ।

**भारतीय नारी का संघर्ष**—उपर्युक्त तथ्य न केवल पालिसाहित्य से अपितु महाभारत तथा काव्यादि संस्कृत साहित्य के सूक्ष्म एवं तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट होने वाले भारतीय नारी के संघर्ष से भी पुष्ट होता है । कालिदास ने यद्यपि कण्व के मुख से वधू को यह उपदेश दिया है कि पति द्वारा निरादृत होने पर भी पत्नी को क्रोध में पति के विरुद्ध कोई काम नहीं करना

चाहिये[६२]। किन्तु महाभारत में हमें अनेक ऐसी ओजस्वी स्त्रियों के दर्शन होते हैं, जो पति के अनुचित कार्य करने पर उसे शिक्षा देने और ठीक रास्ता दिखाने का यत्न करती है। यह तेजस्विता और स्वाधीन वृत्ति क्षत्रिय कन्याओं में विशेष रूप से पायी जाती है। मूलतः क्षत्रियों के शौर्य का यशोगान करने वाले महा-भारत पर बाद में ब्राह्मणवाद का मुलम्मा चढ़ाया गया, किन्तु कई जगह यह पूरी तरह नहीं चढ़ पाया। हमें उसके नीचे गर्व से मस्तक उठाये स्वाधीन तथा शक्ति सम्पन्न नारी के दर्शन होते हैं। यद्यपि प्राचीन हिन्दू स्त्री पर सतीत्व की कलई अच्छी तरह चढ़ाने का प्रयत्न हुआ है; किन्तु कुछ स्थानों पर यह खुल गयी है। इस प्रकार की मनस्वी नारियों के सर्वोत्तम उदाहरण शकुन्तला और द्रौपदी हैं।

मध्यकाल में सतीत्व का यह आदर्श लगभग सर्वमान्य था कि भले ही पति पत्नी को पैरों से ठुकराये; किन्तु पत्नी को उन चरणों की पूजा करनी चाहिये। कालिदास ने शकुन्तला को ऐसा ही उपदेश दिया था। किन्तु उस की सती साध्वी शकुन्तला में तथा महाभारत में वर्णित उस के ओजस्वी रूप में आकाश पाताल का अन्तर है और यह सूचित करता है कि कालिदास के समय तक उसका कितना रूपान्तर हो चुका था। दुष्यन्त द्वारा निरादृत और तिरस्कृत शकुन्तला अपने पति को पंचम अंक में इतना ही कहती है 'अनार्य, तू सब को अपने जैसा ही समझता है, मैं मुंह में मधु और हृदय में विष रखने वाले पुरुष के हाथ में पड़ गयी हूँ, किन्तु बाद में शकुन्तला को यह दुःख होता है कि उस ने ये शब्द क्यों कहे। कण्व का शिष्य शार्ङ्गरव उसे यह परामर्श देता है कि यदि तू अपना आ-चरण शुद्ध मानती है तो पति कुल में तेरा दासी रूप में भी रहना उचित है। (५।२७)। किन्तु महाभारत की शकुन्तला दुष्यन्त द्वारा प्रत्याख्यान किये जाने पर पति का कोई लिहाज़ न कर उसे खरी बातें सुनाती है (१।७४।३९०), अपने तथा राजा में मेरु पर्वत और सरसों का अन्तर मानती है। राजा को अनेक परुष वचन कहती है और इन के लिये उसे तनिक भी दुःख नहीं है। पति द्वारा ठोकर खाने पर उसके चरण चूमने के विपरीत, उस ने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया है कि अत्यन्त क्रोधाविष्ट होने पर भी पति को पत्नी के लिये कोई अप्रिय कार्य नहीं करना चाहिये[६३], क्योंकि मनुष्य का काम सुख, प्रेम और (पुत्रादि

६२. अभिज्ञान शाकुन्तल ४।१७; भर्त्तुः विप्रकृतापि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः।

६३. महाभा० १।७४।४२; सुसंरब्धोऽपि रामाणां न कुर्यादप्रियं नरः।

द्वारा ) धर्म का पालन पत्नी से ही हो सकता है। कालिदास की शकुन्तला पति से अपमानित होकर चुपचाप चली जाती है; किन्तु महाभारत की शकुन्तला दुष्यन्त को उस के कर्तव्यों का स्मरण कराती है, पत्नी के महत्व तथा अधिकारों का प्रतिपादन करती है।

द्रौपदी को यद्यपि महाभारतकार ने आदर्श पतिव्रता के रूप में चित्रित करने का यत्न किया है, किन्तु अग्निस्वरूपा इस नारी का वास्तविक स्वरूप अनेक स्थानों पर प्रकट हो गया है। द्यूत सभा में विवसना एवं लांछिता कृष्णा ने अपनी मनस्विता न खोते हुए, पति द्वारा अपने को दांव पर रखने के अधिकार में संदेह प्रकट किया और उसकी कृपा से पाण्डव दासता के बन्धन से मुक्त हुए (२।६५)। वनपर्व में वह बार बार युधिष्ठिर एवं अन्य पाण्डवों की उनकी नपुंसकता के लिये लताड़ती है (३।१२।६९, ७३, ८०; ३।३०।१, १९-२१; ३।३२); धर्मराज की इच्छा के विरुद्ध वह भीम और अर्जुन को कुलकलंक जयद्रथ को मारने की प्रेरणा करती है ( ३।२७१।४५ )। कीचक की घटना ने धर्मराज के प्रति उस की भक्ति के बांध को बिल्कुल तोड़ डाला है (४।१८।१०-११, १४; ४।२२।४५)६४। इसी प्रकार की एक अन्य मनस्विनी स्त्री दीर्घतमा की भार्या प्रद्वेषी थी। उस के पति द्वारा कामान्ध होकर सब यौन मर्यादायें भंग करने के कारण ही शायद उसे दीर्घतमा कहा गया है। प्रद्वेषी जब इस लम्पट पति और उस के पुत्रों के भरण पोषण से ऊब गयी तो उसने पति को कहा कि अब मैं देर तक तुम्हारा पालन नहीं कर सकती। इस पर दीर्घतमा ने इस नियम की स्थापना की कि पत्नी का एक ही पति हो सकता है, वह उस के जीवित रहने या मर जाने पर भी किसी दूसरे पुरुष को नहीं प्राप्त कर सकती। किन्तु प्रद्वेषी ने पतिव्रता नारी की भांति इस नियम का पालन करने के बजाय अपने अन्धे पति को पुत्रों द्वारा गंगा में प्रवाहित कर दिया (१।१०४।२९-४०)। प्रद्वेषी की भांति शायद अत्रि की पत्नी को भी दाम्पत्य जीवन में बड़ा कष्ट उठाना पड़ा था, उस 'ब्रह्मवादिनी भार्या' ने पति को त्यागते हुए कहा था[६५], मैं अब उस मुनि

---

६४. द्रौपदी के तेजस्वी रूप के अन्य उदाहरणों के लिये देखिये महाभा० ५।८२, १०।१०।२४ अनु०; १२।१४। द्रौपदी ने कई वार युधिष्ठिर की प्रशंसा भी की है ३।२७०। ६-८, ३।२७।१० अनु०, ४।१८।१५-३३,

६५. महाभा० १३।१४।९५। अत्रेर्भार्यापि भर्त्तारं संत्यज्य ब्रह्मवादिनी। नाहं तस्य मुनेर्भूयो वशगा स्यां कथंचन ॥

की आधीनता में नहीं जाऊँगी (१३।१४।९५)। विदेह राज जनक के संन्यासी होने पर उन की पत्नी ने पति की तीव्र भर्त्सना की है ( १२।१८।१२-१५ मि० १४।२०।१ अनु० )

इन सब उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि हिन्दू नारी आरम्भ से रेणुका और जरत्कारु की पत्नी की भांति पति की दासी बन कर नहीं रही, सैव्या की तरह उस ने अपने पातिव्रत्य के लिये पति की अनुचित इच्छाओं को पूरा करना अपना कर्तव्य नहीं समझा, अनुसूया का दुःशील पति की सेवा का आदर्श उसे नापसन्द था। हिन्दू समाज में पतियों को पाठ पढ़ाने वाली शकुन्तला और द्रौपदी जैसी मनस्विनी तथा पति का परित्याग करने वाली प्रद्वेषी और अत्रिमुनि की पत्नी जैसी स्त्रियां भी होती थीं; किन्तु शनैः शनैः हिन्दू परिवार में सतीत्व का वर्त्तमान आदर्श सर्वमान्य हुआ। इस प्रकार सतीत्व के विकास में निम्न अवस्थायें प्रतीत होती हैं—

(१) पति पत्नी की समान स्थिति—इस दशा में दोनों के अधिकार समान थे; दोनों में समान रूप में एक दूसरे के प्रति सच्चा रहने की आशा रखी जाती थी।

(२) सतीत्व का उषाकाल—इस समय पत्नी पति को देवता स्वीकार करने लगी, उस की स्वाधीनता और अधिकार मर्यादित होने लगे। शकुन्तला जैसी स्त्रियां अपने अधिकारों का प्रबल समर्थन कर उन की रक्षा का यत्न करने लगीं। द्रौपदी जैसी पत्नियां पति को देवता स्वीकार करती हुई भी उन की तीव्र आलोचना करने से घबराती नहीं थी।

(३) सतीत्व का मध्यान्हकाल—इस अवस्था में यह विचार पराकाष्ठा तक पहुँचा कि पत्नी पति के जीवन काल में और उस की मृत्यु के बाद भी किसी दूसरे पुरुष के साथ संबन्ध नहीं रख सकती। पति द्वारा अपमानित और लांछित होने पर अथवा उसके दुःशील होने पर भी पति को देवता समझ कर उस की पूजा करनी चाहिये। पुराणों में सैव्या जैसी पतिव्रताओं का गुणगान किया गया, जो अपने कोढ़ी पति को उस की सन्तुष्टि के लिये वेश्या के पास ले गयीं। मध्ययुग में इस आदर्श के सर्वमान्य होने पर लाखों हिन्दू पत्नियों ने चिता पर आरूढ़ हो कर तथा आजन्म वैधव्य का पालन कर के अपनी अपूर्व पतिभक्ति का परिचय दिया।

**सतीत्व का एकांगी आदर्श**—दाम्पत्यजीवन में अन्योन्य अव्यभिचार से ऊँचा कोई आदर्श नहीं है और उपर्युक्त एकांगी सतीत्व से बढ़ कर कोई विड-

म्बना संभव नहीं। अथर्ववेद में इन्द्र से यह प्रार्थना है कि वह पति पत्नी को एक दूसरे के प्रति चक्रवाक दम्पति की भांति सच्चा रहने की प्रेरणा करे[६६]। मनु ने संक्षेप में स्त्रीपुरुष का यह परम धर्म बताया है कि वे मृत्यु पर्यन्त एक दूसरे के प्रति सत्यसन्ध रहे[६७], पर यह बड़े दुःख की बात है कि अन्यत्र (५।१६८) उसने पत्नी के मरने पर पुरुष को पुनर्विवाह का आदेश दिया[६८], और पति के मरने पर भी पत्नी के पुनर्विवाह का निषेध किया (५।१५७-६१)। पत्नी को पति, अप्रिय वादिनी होने पर छोड़ सकता था (मनु० ९।८१, मि० बौधा० धर्म सूत्र २।२।६५, याज्ञ० १।६३, नारद १५।९३); किन्तु पत्नी, पति को कभी नहीं छोड़ सकती थी। वही स्त्री आदर्श सती थी, जो पति के दोषों की परवाह न करती हुई जीवन पर्यन्त उस की आराधना करे। इस प्रकार का सतीत्व स्त्री पुरुष के लिये नैतिकता का दोहरा मानदण्ड स्थापित करता है। स्त्रियों से आदर्श पातिव्रत्य की अपेक्षा रखी जाती है; किन्तु पुरुषों के लिये पत्नी व्रत होना आवश्यक नहीं। सतीत्व का यह आदर्श केवल स्त्रियों के लिये अनिवार्य होने से एकांगी है।

---

६६. अथर्व० १४।२।६४ इहेमाविन्द्र संनुद चक्रवाकेव दम्पती।

६७. मनु० ९।१०१ अन्योन्यस्याव्यभीचारो भवेदामरणान्तिकः। एष धर्मः समासेन ज्ञेयः स्त्रीपुंसयोः परः॥

६८. मि० याज्ञ० १।८९ वह पति को अविलम्ब दूसरे विवाह का आदेश देता है। मनु और याज्ञ० द्वारा विधुरों को यह अधिकार यज्ञ कार्य करने की दृष्टि से दिया गया था, क्योंकि यज्ञ के लिये पत्नी आवश्यक थी। किन्तु ऐतरेय ब्राह्मण (७।९-१०) ने अपत्नीक को भी सौत्रामणि यज्ञ करने की छूट प्रदान की थी और श्रद्धा को उसकी आलंकारिक पत्नी बताया था। बह्वृच ब्राह्मण (अपरार्क पृ० ११४) पत्नी के बिना अग्न्याधान की व्यवस्था करता है। विष्णु ने पत्नी के मृत होने पर अन्य वस्तु से यज्ञ पूरा करने का विधान किया था (अप० पृ० ११४)। रामचन्द्र ने अश्वमेध यज्ञ सीता की प्रतिमा बना कर पूरा किया था (वा० रा० ७।९१।२५ मि० गोभिल स्मृति ३।१०)। ऐसा लगता है कि मनु का इन प्राचीन वचनों और उदाहरणों की उपेक्षा कर पुरुषों को पुनर्विवाह का अधिकार देना उचित न था। बाद के टीकाकारों ने इस विषय में मनु का समर्थन करते हुए कहा कि पत्नी का प्रतिनिधित्व मूर्त्ति इसलिये नहीं कर सकती कि पत्नी द्वारा किये जाने वाले यज्ञ कार्य मूर्त्ति द्वारा नहीं हो सकते (अपरार्क पृ० ११४)।

इस प्रकार का एकांगी आदर्श हिन्दू समाज के अतिरिक्त, अन्य समाजों में भी प्राय: जाता है [६९]। स्त्रियों के लिये सतीत्व आवश्यक बनाने तथा पुरुषों पर इस बन्धन को कठोरता पूर्वक लागू न करने के निम्न प्रधान कारण हैं —(१) नारी

---

६९. श्राडर के मत में आरम्भिक आर्य जातियों में विवाहित पुरुष के व्यभिचार को आपत्तिजनक नहीं माना जाता था; किन्तु पत्नी का व्यभिचार भयंकर अपराध था ( प्रिहिस्टारिक एण्टीक्विटीज़ पृ० ३८८ )। जापान में पुरुष को स्वेच्छाचरण की अनुमति थी किन्तु स्त्री से न केवल उसके निष्कलंक आचरण की आशा रखी जाती थी, लेकिन यह भी उम्मीद रखी जाती थी कि उस का पति चाहे जितना स्वच्छन्द घूमे, चाहे जितनी रखैलें रखे, पत्नी इस विषय में किसी प्रकार की ईर्ष्या का प्रदर्शन नहीं करेगी ( ग्रिफिस- रिलीजन्स आफ जापान पृ० ३२० ) कोरिया के पति स्वेच्छाचार को अपना विशेषाधिकार समझते हैं। कुलीन तरुण वर तीन चार दिन अपनी पत्नी के साथ बिताता है और फिर काफी समय गायब रहता है । इससे वह यह सिद्ध करना चाहता है कि वह पत्नी का बहुत अधिक सम्मान नहीं करता; किन्तु स्त्रियों के लिये लिये दाम्पत्य अव्यभिचार आवश्यक है ( ग्रिफिस-कोरिया पृ० २५१ अनु० )। चीन में स्त्री का व्यभिचारिणी होना एक जघन्य अपराध था; किन्तु पतियों को रखैल रखने का अधिकार प्राप्त था ( ग्रिफिस-पूर्वोक्त पुस्तक पृ० १४९ )। मेक्सिकोवासी किसी स्वतन्त्र या अविवाहित स्त्री के साथ पुरुष के सम्बन्ध को न तो व्यभिचार मानते थे और न दण्डनीय अपराध; किन्तु पत्नी के व्यभिचारिणी होने पर उसे मृत्यु दण्ड देते थे। ट्यूटन जातियों में ईसाइयत का प्रचार शुरु होने के कुछ समय बाद तक भी उनके स्मृतिग्रन्थों में पति के व्यभिचार का कोई उल्लेख नहीं मिलता, क्योंकि उनमें इसका रिवाज होने से यह जायज़ था। रोमन लोगों में विवाहित पुरुष का अविवाहित स्त्री के साथ सम्बन्ध व्यभिचार नहीं माना जाता था। इस विषय में यूनानियों का रुख डिमास्थनीज की इस वक्तृता से स्पष्ट है कि हम अपने आनन्द के लिये प्रेमिकायें, निरन्तर शुश्रूषा के लिये रखैलें और वैध पुत्र पाने तथा साध्वी गृहिणियों के लिये पत्नियां रखते हैं ( वैस्टरमार्क—ओडेमा २।४५३-५४ ) यद्यपि कुछ समाजों में पति का पत्नीव्रत और सत्यसंध रहना आवश्यक है ( वैस्टरमार्क—वहीं २।४५२ ); किन्तु सामान्य नियम यही है कि पुरुष के लिये पत्नी व्रत होना उतना आवश्यक नहीं, जितना स्त्री के लिये पतिव्रता होना है ।

को सम्पत्ति समझना (२) मनोवैज्ञानिक कारण (३) स्त्रियों के असतीत्व के भीषण दुष्परिणाम (४) स्त्रियों का चंचल स्वभाव (५) अन्तर्जातीय विवाह।

(१) **नारी को सम्पत्ति समझना**--हिन्दू शास्त्रकारों ने पत्नी को क्षेत्र और पति को क्षेत्री या क्षेत्र का स्वामी कहा है[६९]। क्षेत्र की रक्षा क्षेत्रपति का कर्त्तव्य है। यदि कोई अन्य व्यक्ति बिना अनुमति के उस क्षेत्र पर अधिकार करना चाहता है तो यह चोरी है और प्रायः अधिकांश प्राचीन समाजों में चोर के लिये अंगभंग आदि कठोर दण्डों की व्यवस्था थी[७०]। व्यभिचार एक प्रकार की चोरी है; अतः अनेक जातियों में चोरी के अपराध की तरह व्यभिचार के दोष में भी हाथ काटने की व्यवस्था पायी जाती है[७१]। एक ब्राह्मण वचन में पतियों को सावधान रहते हुए अपने क्षेत्र की रक्षा का आदेश दिया गया है[७२]। यह स्पष्ट है कि सम्पत्ति होने से स्त्रियों पर सतीत्व का बन्धन लगाया गया।

(२) **मनोवैज्ञानिक कारण**--पुरुष की नैसर्गिक ईर्ष्या, अहंभाव और अभिमान की भावनायें पत्नी के सतीत्व का एक प्रबल कारण रही हैं। प्रेम स्वभावतः ईर्ष्यालु होता है, अतः पुरुष अपने प्रेममात्र पर एकाधिकार चाहता है। पहले उद्धृत किये जातक के शब्दों में (पृ० १५७) वह इस सरोवर को अपने लिये सुरक्षित रखना चाहता है। पर पुरुष के साथ पत्नी के सम्बन्ध में मनुष्य की ईर्ष्या कुछ अन्य कारणों से भी उग्र होती है। पत्नी के सती न रहने पर मनुष्य को केवल यही दुःख नहीं होता कि उस के अधिकारक्षेत्र पर दूसरे का स्वत्व स्थापित हो गया है, किन्तु इसके रक्षण में असमर्थ होने से उस में आत्मग्लानि का भाव उत्पन्न होता है, उसकी अहंभावना को ठेस पहुँचती है और ये भावनायें उसमें क्रोध ( अमर्ष ) और प्रतिशोध के भाव उत्पन्न करती हैं। द्यूतसभा में द्रौपदी का अपमान और उसकी रक्षा में असमर्थ होने पर दुर्योधन द्वारा पाण्डवों को नपुंसक कहा जाना महाभारत के युद्ध का एक प्रधान कारण था। रामचन्द्र ने रावण के

---

६९ क. मनु० ९।३३ क्षेत्रभूता स्मृता नारी मि० गौध० सू० १८।११ आप० ध० सू० २।६।१३।६ ; नास्मृ. १५।१९ । पति के क्षेत्र का स्वामी होने के लिये देखिये मनु० ९।३२,५३ ; पराशर स्मृति ४।१७ वसिष्ठ ध० सू० १७।६, शंख० (व्य० १५८, ५९ )

७०. पोमराय--मैरिज पास्ट प्रेजेण्ट, फ्यूचर पृ० १४२

७१. वैस्टर मार्क--हिस्टरी आफ ह्यूमन मैरिज पृ० १३०

७२. व्यक० १२९ अप्रमत्तो रक्ष तन्तुमेनं मा वः क्षेत्रे परबीजान्यवाप्सुः।

द्वारा सीता के अपमान का प्रतिशोध लेने के लिये ही लंका पर चढ़ाई की थी। ईर्ष्या का भाव पत्नी में भी होता है, उस का प्रेमभाव भी अपने प्रेमपात्र पर एकमात्र अधिकार चाहता है। ऐसा न रहने पर उसे जो रोष होता है, उस का एक सुन्दर उदाहरण द्रौपदी है। वनवास के बाद अर्जुन जब सुभद्रा से विवाह करके इन्द्रप्रस्थ लौटता है और द्रौपदी के पास जाता है तो वह उसे रोषपूर्वक कहती है—तुम यहां क्यों चले आये, सुभद्रा के पास जाओ। पहले प्रेम का बन्धन कितनी दृढ़ता से बंधा हो, नये बन्धन से शिथिल हो जाता है; रस्सी से कस कर बांधी वस्तु पर जब दूसरी मजबूत गांठ लगाई जाती है तो पहली गांठ ढीली पड़ जाती है[७३]। द्रौपदी का रोष उस समय तक शान्त नहीं हुआ जब तक सुभद्रा ग्वालिन का वेष धर और लालरंग की ओढ़नी पहन कर उसके चरणों में नहीं गिर पड़ी और उसे यह नहीं कहा कि मैं आप की दासी हूँ[७४] किन्तु पत्नी को पति पर अवलम्बित होने से अपनी ईर्ष्या का दमन करना पड़ता है। पुरुष पत्नी पर एकाधिकार स्थापित करने की दृष्टि से उस पर सतीत्व का बन्धन लगाता। है

(३) **असतीत्व के भीषण दुष्परिणाम**—स्त्रियों के सतीत्व की व्यवस्था का तीसरा कारण यह था कि पुरुषों की अपेक्षा उन के असतीत्व के दुष्परिणाम अधिक भयंकर होते हैं। पुरुष के दुःशील होने पर केवल वही बदनाम होता है; किन्तु स्त्री के दुर्वृत्ता होने पर उसकी अपकीर्ति के अतिरिक्त उस का पति और पिता दोनों कलंकित होते हैं। मनु के मत में स्त्रियों की रक्षा न करने पर वे दोनों कुलों को सन्ताप देने वाली होती हैं[७५]। वर्त्तमान समय में फान क्राफ्ट एबिंग ने मनु के शब्दों को दोहराते हुए पत्नी के असतीत्व को अधिक गर्हणीय बताया है[७६]। सामान्यतः छिप सकने वाले पाप को लोग पाप नहीं समझते। पुरुष का व्यभिचार छिप सकता है; किन्तु पत्नी का असतीत्व गर्भ के रूप में प्रकट हो जाता है। इसे छिपाने के लिये पत्नी इस गर्भ को वैध बता सकती है; पर इस प्रकार

---

७३. महाभारत १।२२३।१७ तत्रैव गच्छ कौन्तेय यत्र सा सात्वतात्मजा। सुबद्धस्यापि भारस्य पूर्वबन्धः श्लथायते।

७४. वही १।२२३।१८-२४ प्रष्याहमिति चाब्रवीत्।

७५. मनु ९।५ द्वयोर्हि कुलयोः शोकमावहेयुररक्षिताः मि० ५।१४९

७६. क्राफ्ट एबिंग—साइकोपेथिया सैक्षुएलिस ( लंडन १९०३ ) पृ० १४।

वह पति पर अवैध सन्तान के पालन का भार डाल कर, उसे एक बार ठगने के बाद दूसरी बार ठगती है। मिचेल्स के कथनानुसार असाध्वी पत्नी निर्विवाद रूप से अपने व्यभिचारी पति की अपेक्षा अधिक अविवेकपूर्ण और निन्दा योग्य कार्य करती है, वह दूसरे पुरुष के पुत्र को अपने पति का पुत्र बना कर दोहरा धोखा देती है। यदि पति पत्नी के कथन पर विश्वास नहीं करता तो परिवार में कलह और अशान्ति का वातावरण उत्पन्न होता है[७७]। किश के शब्दों में पुरुष वैवाहिक नियम का भंग कर सकता है; यह आवश्यक नहीं कि इसके परिणाम अत्यधिक महत्वपूर्ण हो, पर पत्नी का असतीत्व आत्मा को सदा के लिये विषमय बना देता है, प्रेम की नींव हिला देता है, बच्चों की वैधता के संबंध में संदेह उत्पन्न कर देता है और पारिवारिक जीवन में ऐसी खाई खोद देता है जो कभी नहीं पाटी जा सकती[७८]।

(४) **वंशशुद्धि की चिन्ता**--पति के असतीत्व से वंश की शुद्धता बिगड़ने का कोई भय नहीं; परन्तु पत्नी के कुलटा होने पर इसकी पूरी सम्भावना है। पति की यह इच्छा सर्वथा स्वाभाविक है कि औरस पुत्रों को ही उसकी सम्पत्ति प्राप्त हो, उन में उसकी ममत्व बुद्धि है; किन्तु जारज पुत्रों के साथ ऐसा व्यवहार सम्भव नहीं। रोमन कानून में केवल पत्नी के असतीत्व को अपराध माना गया; क्योंकि इससे परिवार में अवैध शिशुओं के बढ़ने की सम्भावना थी ७९। भारत में पत्नी के सतीत्व को महत्व दिये जाने का यह एक प्रबल कारण था। कीचक की कुदृष्टि पड़ने पर द्रौपदी ने भीमसेन को कहा था कि भार्या (की शुद्धता) की रक्षा करने से वंश (की शुद्धता) की रक्षा होती है[८०]। हारीत के मत में एक ही पति के नियम से विचलित होने से स्त्रियां कुल में संकर उत्पन्न करती हैं। पति के जीवित रहने पर, जारज सन्तान को कुण्ड और मरने पर गोलक कहते हैं। (संकर से बचने के लिये) पुरुष अपनी पत्नी की रक्षा करे क्योंकि "पत्नी (के सतीत्व) के नष्ट होने पर कुल नाश होता है,

---

७७. मिचेल्स--सैक्षुअल ईथिक्स (लन्डन १९१४) पृ० १३६

७८. वैस्टरमार्क द्वारा फ्यूचर आफ मैरिज में उद्धृत पृ० ७१।

७९. हण्टर--ए सिस्टैमैटिकल एण्ड हिस्टारिकल एक्सपोजीशन आफ रोमन ला (लंडन १८८५) पृ० १०७१

८०. महाभारत ४।२१।४० भार्यायां रक्ष्यमाणायां प्रजा भवति रक्षिता मि० वन पर्व ३।१२।७१।

इस से पुत्र पौत्रादि वंश परम्परा ( तन्तु) नष्ट हो जाती है। इस के नाश होने पर देवताओं और पितरों के यज्ञों का लोप हो जाता है। यज्ञ नष्ट होने से धर्मनाश और धर्मनाश से आत्मनाश और सर्वनाश हो जाता है"[८१]। पैठीनसि ने भी इन्हीं कारणों से पत्नी के सतीत्व की रक्षा पर बल दिया है[८२]। मनु ने महाभारत के वचन को दोहराते हुए सन्तति की शुद्धता की रक्षा के लिये पत्नी के रक्षण का विधान किया है[८३]

(५) **स्त्रियों का चंचल स्वभाव**—पहले यह बताया जा चुका है, कि हिन्दू शास्त्रकार स्त्रियों का स्वभाव बहुत चंचल समझते थे (पृ० ९८); अतः उन्होंने स्त्रियों पर सतीत्व का बन्धन लगाना अधिक आवश्यक समझा। मनु० (९।१४-१५) नारी स्वभाव की चपलता का तथा सृष्टि के प्रारम्भ से इसके ऐसा होने का उल्लेख करने के बाद यह कहता है कि पुरुष को परम प्रयत्न से इन की चौकसी करनी चाहिये ( ९।१६ )।

(६) **अन्तर्जातीय विवाह**—हिन्दू परिवार में, स्त्रियों को पतिव्रता बनाने का एक यह भी कारण प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में निर्धन ब्राह्मण अनेक क्षत्रिय कन्याओं से विवाह करते थे, इन के उग्रस्वभाव और दरिद्रता से ये कन्यायें बहुत कष्ट पाती थीं और उन्हें छोड़ना चाहती थी। परन्तु सतीत्व के बन्धन द्वारा, इन की इस इच्छा पर प्रतिबन्ध लग गया, धीरे धीरे इन्हें यह मर्यादा स्वीकार करनी पड़ी।

दान की गौरवगाथा का गान करने वाले महाभारत के अनेक स्थलों में बहुत वार क्षत्रिय राजाओं द्वारा ब्राह्मणों को स्त्रियों तथा कन्याओं के देने का उल्लेख है[८४]। इन के अतिरिक्त निम्न उदाहरणों में क्षत्रिय कन्याओं का ब्राह्मणों के

---

८१. हारीत विर० ४१० पृ०...... तस्माद्व्रतोपघाताज्जायां रक्षेत्, जायानाशे कुलनाशः कुलनाशे तन्तुनाशः, तन्तुनाशे देवपितृयज्ञनाशः यज्ञनाशे धर्मनाशः, धर्मनाशे आत्मनाशः, आत्मनाशे सर्वनाशः।

८२. पैठीनसि—तस्माद्रक्षेद् भार्यां सर्वतः। मा स्म संकरो भवत्वित्याह। अप्रमत्तो रक्ष तन्तुमेनं मा वः क्षेत्रे परबीजान्यवाप्सुः। भार्यां रक्षत कौमारीं बिभ्यन्तः पररेतसः। अप्रमत्तो रक्ष का वचन आप० ध० सू० २।१३।६, हि० ध० सू० २।७ बौधायन २।२।४०-४१ में भी मिलता है।

८३. मनु० ९।७,९ तस्मात्प्रजाविशुद्ध्यर्थं स्त्रियं रक्षेत्प्रयत्नतः।

८४. वृषादर्भि युवनाश्व द्वारा अपनी स्त्रियों के दान का उल्लेख १२।२३४।१५ में है; राजा मित्रसह द्वारा अपनी पत्नी मदयन्ती का दान

साथ विवाह निर्विवाद है। राजा शर्याति ने अपनी पुत्री सुकन्या का दान बूढ़े च्यवन ऋषि को किया ( महाभारत ३।१३ )। ययाति ने अपनी अनिन्द्य सुन्दरी कन्या माधवी गालव को गुरु दक्षिणा उतारने के लिये दी ( ५।११५-२० )। जमदग्नि के साथ परिणीत होने वाली रेणुका भी क्षत्रिय कन्या थी। महर्षि जरत्कारु ने नागराज वासुकि की बहन को उस के भाई से भेंट के रूप में प्राप्त किया (महाभा० १।४७।१-३ )। सृष्टि के सब प्राणियों के सर्वोत्तम अंगों से विनिर्मित लोपामुद्रा विदर्भराज की पुत्री थी और महर्षि अगस्त्य ने पितरों के उद्धार के लिये उसे विदर्भराज से मांगा था ( ३।९६ )।

राजघरानों में बड़े आराम से पली, क्षत्रिय कन्यायें जब उञ्छवृत्ति को आदर्श मानने वाले ब्राह्मणों के घरों में आती थी, तो उन की निर्धनता और उग्र स्वभाव से बहुत दुःख झेलती थी। जरत्कारु जैसे कुछ ब्राह्मण अपने श्वसुर से पहले ही शर्त्त कर लेते थे, कि मैं तुम्हारी कन्या का भरण पोषण नहीं करूँगा। लोपामुद्रा ने अगस्त्य से जब अपने पिता के घर जैसा सुख, उत्तम-स्थान और शय्या मांगी तो अगस्त्य ने धन प्राप्त करने के लिये पहले व्रध्रश्व और त्रसदस्यु नामक राजाओं से याचना की और अन्त में इल्वल राक्षस से प्रभूत धन प्राप्त किया ( महाभा० ३।९८, ९९ अ० )। धनाभाव के अतिरिक्त ब्राह्मणों का कठोर तपस्यामय जीवन और उग्रस्वभाव भी क्षत्रिय कन्याओं को बहुत व्यथित करता था। विवाह के बाद अगस्त्य ने सुहागिन लोपामुद्रा को जोगन का वेष धारण करने का आदेश दिया; उस ने बहुमूल्य आभूषण तथा वस्त्र उतार कर चीर और वल्कल पहने; मृगचर्म ओढ़ा[८५]। सुकन्या भी ऐसी

१३।१३७।१८, १२।२३४। ३०; राजर्षि लोमपाद द्वारा ऋष्यश्रृंग को अपनी कन्या शान्ता का दान १३।१३७।२५, १२।२३४।३४; १३।१३७ में मदिराश्व द्वारा हिरण्यहस्त को ( श्लोक २४) निमि द्वारा अगस्त्य को (श्लोक ११ ), मरुत्त द्वारा अंगिरा को (१६), भगीरथ द्वारा कौत्स को (२६)कन्यादान का उल्लेख है। इसके अतिरिक्त राजाओं द्वारा ब्राह्मणों को सैंकड़ों दासियों के दानों का वर्णन ३।१८५।३४, १२।२९।१३३, १२।२९।६५, ७।६०।२ १२।२९।३२, ७।५७।५, में तथा कन्यादान के विधान का २।३३।५४, १५।१४।४, १५।३९।२०, १७।१।१४, १८। ६।१२-१३, ३।३१५।२-६, ३।२३३ ३।१४३,४।१८।२१ १०२।११, १३।१०३।१०-१२ में स्पष्ट प्रतिपादन है।

८५. महाभारत ३।९७।८ महार्हाण्युत्सृजैतानि वासांस्याभरणानि च। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिये लोपामुद्रा ने इस अवस्था में सन्तानोत्पादन स्वीकार

ही अभागिनी क्षत्रिय कन्या थी, उसे जोगन बन कर बूढ़े च्यवन ऋषि की सेवा करनी पड़ी। इन कन्याओं के साथ कठोर व्यवहार का एक सुन्दर उदाहरण रेणुका है। जमदग्नि के मनोविनोद के लिये उसे जेठ की कड़ी धूप और तपी बालू पर नंगे पैर दौड़ना पड़ा (१३।९५।९६)। सरोवर पर स्नान के लिये जाने पर वहां राजा भगीरथ की अपनी पत्नी के साथ जलकेलि देखने पर विलम्ब होने पर, क्रुद्ध जमदग्नि ने परशुराम द्वारा उस का वध करवा दिया था (महाभा० ३।११६, भागवत पु० ९।१६)।

ब्राह्मणों के इन व्यवहारों से क्षत्रिय कन्याओं का ऊबना तथा विद्रोह करना स्वाभाविक था। अत्रि की पत्नी अपने पति के घर से यह कहती हुई चली गयी कि मैं अब अधिक देर तक इस ऋषि के पास नहीं रह सकती (महाभा० १३। ९४।९५)। प्रद्वेषी ने अपने पति के विरुद्ध विद्रोह किया (महाभा० १।१०४। ३०) उसे दबाने के लिये दीर्घतमा ने कहा—मैं आज से लोक में ऐसी मर्यादा स्थापित करता हूँ कि जीवन भर, नारी एक ही पति पर निर्भर रहेगी। पति के जीवन काल में या उसके मरने पर वह किसी दूसरे पुरुष के पास नहीं जायगी, यदि ऐसा करेगी तो इस में कोई सन्देह नहीं कि वह पतित होगी[८६]। दीर्घतमा ने सतीत्व की यह व्यवस्था अपनी पत्नी को नियन्त्रण में रखने के लिये स्वार्थ भाव से की थी।

यद्यपि दीर्घतमा की पत्नी ने इसे स्वीकार नहीं किया (१।१०४। ३८-४०); किन्तु परवर्त्ती शास्त्रकारों ने इसका प्रबल समर्थन किया (मनु० ५।५६ अनु०, याज्ञ० १।८७, पराशर० ४।२९), विद्रोही स्त्रियों के लिये कठोर व्यवस्थायें कीं, पुरुष को पत्नी त्याग के बहुत अधिक अधिकार प्रदान किये तथा पातिव्रत्य की महिमा के गीत गाकर स्त्रियों को सतीत्व का आदर्श पालन करने की की प्रबल प्रेरणा प्रदान की। शास्त्रकारों ने एक ओर तो पत्नी के आमरण साध्वी रहने का विधान किया; किन्तु दूसरी ओर उसके जीवित रहते हुए कुछ दशाओं में पति को दूसरा विवाह करने (अधिवेदन) की अनुमति (मनु० ९।

---

नहीं किया (अन्यथा नोपतिष्ठेयं चीरकाषायवासिनी ३।८७।१९), अगस्त्य को दान मांग कर अलंकृत और भूषित होना पड़ा।

८६. महाभारत १।१०४।३४ अनु० ; दीर्घतमा की पत्नी यद्यपि ब्राह्मणी थी, किन्तु उस का ब्राह्मण पति भरण में असमर्थ होकर शास्त्रीय मर्यादा द्वारा उसे जबर्दस्ती अपने पास रखना चाहता था।

८१, याज्ञ० १।७३, नारद० १२।९४, बौधा० २।४।५।६ ) । मनु भार्या के अप्रियवादिनी होने पर (दे०ऊं० पृ०"११४) तथा शंख अनुकूल न होने पर पुरुष को दूसरे विवाह की अनुमति देता है ८७ । शास्त्रकार पुरुषों को अधिवेदन का अधिकार देकर ही सन्तुष्ट नहीं हुए; किन्तु उन्होंने अधिवेदन से असन्तुष्ट होकर विद्रोह करने वाली नारियों के लिये कठोर व्यवस्था की । मनु के मतानुसार जो नारी पति के दूसरे विवाह से रुष्ट होकर घर से बाहर निकले, उसे फौरन (रस्सी आदि से बांध कर ) घर में रोक रखना चाहिये अथवा पितृकुल में छोड़ देना चाहिये ८८ ।

**सतीत्व का भविष्य**––––पातिव्रत्य का एकांगी आदर्श उपर्युक्त कारणों से पिछले दो हजार वर्ष से हिन्दू परिवार में सर्वमान्य रहा है। हिन्दू समाज सीता सावित्री का अनुकरण करने वाली लाखों पतिव्रताओं की चरण रज से पवित्र होता रहा है; किन्तु यह बड़े परिताप का विषय है कि पतिव्रता स्त्रियों की तुलना में हमें पत्नीव्रत पतियों के बहुत कम दर्शन होते हैं । सात ऋषियों के बीच में रहती हुई भी अरुन्धती अपनी दृष्टि पति के चरणों में ही रखती थी ( कुमारसंभव २।१० ); परन्तु वसिष्ठ की कृपा शूद्रा (अधम योनिजा) अक्षमाला पर भी हुई ( मनु० ९।२३ ) । पांच पाण्डवों ने कुलधर्म की दुहाई देकर द्रौपदी को अपनी पतिव्रता पत्नी बनाया; किन्तु स्वयं अन्य स्त्रियों से विवाह करते हुए एक पत्नीव्रत का पालन नहीं किया। शची इन्द्र के प्रति साध्वी रही, नहुष की कामेच्छा का शिकार होने से यत्नपूर्वक बची रही; लेकिन उसका पति इन्द्र अप्सराओं से भी सन्तुष्ट न था , उसे अहल्यादि परस्त्रियों के पास जाने में संकोच नहीं हुआ । रामायण के कथनानुसार मनुष्यों में परस्त्रीगमन की परिपाटी का प्रवर्त्तक इन्द्र था ( ७।३०।३३ ) । सत्यभामा ने श्रीकृष्ण के साथ पातिव्रत्य धर्म का पालन किया, किन्तु श्रीकृष्ण को एकपत्नीव्रत नहीं कहा जा सकता । मर्यादा पुरुषोत्तम राम ही एक पत्नीव्रत निभाने वाले पति थे, परन्तु लोकापवाद के भय से अग्नि द्वारा परीक्षित सती साध्वी सीता का परित्याग करने से उन्हें आदर्श पति नहीं कहा जा सकता । हिन्दू समाज में एकपत्नीव्रत पतियों का अत्यन्ताभाव तो नहीं; लेकिन पतिव्रताओं की तुलना में उनकी संख्या बहुत कम है ।

---

८७. स्मृच २४४, अननुकूलां चाधिविन्देत ।

८८. मनु ९।८३ अधिविन्ना तु या नारी निर्गच्छेद्रुषिता गृहात् । सा सद्यः संनिरोद्धव्या त्याज्या वा कुलसंनिधौ।

पातिव्रत्य का उपर्युक्त आदर्श समानता के वर्त्तमान युग में देर तक नहीं टिक सकता। प्रस्तावित हिन्दू विधान में स्त्री पुरुषों पर समान रूप से एक विवाह का बन्धन लगा कर, पुरुषों से यथेच्छ विवाह का अधिकार छीन लेने की व्यवस्था की गयी थी। नये हिन्दू विवाह विधेयक में भी यही विधान है। जिस प्रकार अब तक स्त्री पति के रहते हुए कुछ दशाओं को छोड़ कर पुनर्विवाह नहीं कर सकती थी; उसी प्रकार अब पति भी एक पत्नी के होते हुए दूसरी शादी नहीं कर सकेगा। इस विधेयक के पास होने से पहले ही, भारत सरकार सरकारी अफ़सरों द्वारा अनेक स्त्रियों के साथ बहुविवाह पर प्रतिबन्ध लगाने का विचार कर रही है।

**पत्नी के अधिकार**––इस विषय में हिन्दू शास्त्रकार बहुत उदार हैं। पातिव्रत्य पर बल देकर तथा पुरुष को पुनर्विवाह का अधिकार देकर, यदि उन्होंने पति के साथ कुछ रियायतें की हैं; तो व्यभिचारिणी होने तक की दशा में पत्नी के भरण पोषण पाने का तथा स्त्रीधन पर पूर्ण स्वामित्व का अधिकार देकर उस के साथ कम पक्षपात नहीं किया ८९।

पिछले अध्याय में यह बताया जा चुका है कि भरण किये जाने के कारण ही पत्नी भार्या कहलाती है; पति का प्रधान कर्त्तव्य उस का पालन पोषण करना है। पत्नी के व्यभिचार से भी पति का यह दायित्व समाप्त नहीं होता; क्योंकि शास्त्रकारों का यह विचार था कि पति का कर्त्तव्य है कि वह अपनी पत्नी की रक्षा करे ऐसा न होने पर उसके दोष का

---

८९. प्रायः सभी देशों के कानूनों में व्यभिचारिणी पत्नी के लिये कठोर दंड की व्यवस्था है। अंग्रेजी कानून के अनुसार पत्नी के ऐसा होने पर वह पति द्वारा भरण पोषण के अधिकार से वंचित हो जाती है (हेल्सबरी––लाज आफ इंगलैण्ड खं० १६, पृ० ६०९-१०)। अधिकांश वन्य समाजों में व्यभिचारिणी के वध के लिये देखिये इंसा-रिली० ई० खं० १२३ पृ०। यूनान में सोलन ने पति को व्यभिचारिणी पत्नी मारने का अधिकार दिया था, रोम में भी यही व्यवस्था थी। जर्मनी में तथा कैन्यूट से पूर्व के इंगलैण्ड में स्त्री को सिर मुंडवा कर, कटि तक नग्न करके, सड़कों पर कोड़ों से पीटते हुए जान से मार डाला जाता था। पुराने सैक्सन ऐसी स्त्री को चिता पर जला देते थे। योरोप में मध्ययुग में ही इस अपराध के लिये वध के स्थान पर अर्थदण्ड की व्यवस्था हुई (पोमराय–– मैरिज पृ० १४३-४५)

उत्तरदायी पति है (मनु० ८।३१७, महाभा० १२।२६७।३८, वसिष्ठ १९।४४), पत्नी की रक्षा पति में अनुरक्त रहने से ही हो सकती है,[९०] न कि पीटने से[९१] अतः शास्त्रकारों ने व्यभिचारिणी पत्नी के साथ बहुत मृदुता का व्यवहार किया है। अत्रि ( ३।१९३-१९४ ) के मत में जो स्त्री स्वयं खीझ कर या पीटने के कारण कहीं जा रही हो, और उसे कोई बलात्कार या चोरी से दूषित करें तो वह त्याग योग्य नहीं है, ऋतुकाल में उस का सेवन करना चाहिये, क्योंकि रजस्वला होने के बाद वह शुद्ध हो जाती है (मि० वसिष्ठ २८।२-३)। याज्ञवल्क्य ( १।७१-७२ ) स्त्रियों को पवित्र मानता हुआ यह कहता है कि व्यभिचारिणी दशा में वे ऋतुकाल आने पर शुद्ध हो जाती हैं[९२]। इस सिद्धान्त के कारण अधिकांश शास्त्रकारों ने पत्नी के दुर्वृत्ता होने पर हल्के दण्डों की व्यवस्था की

---

९०. याज्ञ० (१।८१ ) इसी दृष्टि से पति के स्वदारनिरत होने पर बल देता है मि० याज्ञ० १।७८। मनु० ४।१३३-३४, महाभारत १३।१०४।२१, मार्कण्डेय पुराण ३४।६२-६३ पुरुष के लिये व्यभिचार को बहुत बुरा समझते हैं।

९१. याज्ञ० १।८० पर विश्वरूप की टीका——रक्षा च स्त्रीणां स्वदारनिरतत्वमेव न तु ताडनादिका। मनु० (९।१०) शक्ति द्वारा स्त्रियों की रक्षा असंभव बताता हुआ घर की आय, व्यय, सफाई, रसोई, घर की सामग्री (पारिणाह्य) आदि के देख भाल में लगे रहने से उनकी रक्षा संभव मानता है।

९२. व्यभिचारादृतौ शुद्धिः याज्ञ० १।७१। मिलाइये बृहद्यम (४।३६) मनु० ५।१०८। देवल इस विषय में इतना उदार है कि अन्य वर्ण के पुरुष से गर्भ धारण करने वाली स्त्री को वह सन्तान उत्पन्न करने तक ही अशुद्ध मानता है, इसके बाद रजस्वला होने पर वह 'निर्मल सोने' के समान पवित्र होती है——असवर्णैस्तु यो गर्भः स्त्रीणां योनौ निषिच्यते। अशुद्धा सा भवेन्नारी यावद्गर्भं न मुंचति। विमुक्ते तु ततः शल्ये रजश्चापि हि दृश्यते। तदा सा शुध्यते नारी विमलं कांचनं यथा (अत्रि० १९५-९६, देवल ५०-५१; मि० अग्निपुराण १६५।६, १९, महाभा० कुं० १३।५८। १० तथा १३।५९।२१-२२)। किन्तु शास्त्रकार पुरुष के व्यभिचारी होने पर उसे अंगभंग, अंकन (दागना), वध, निर्वासन, जुर्माना आदि कठोर दण्डों की व्यवस्था करते हैं——मनु० ८।३५२, ३६४, याज्ञ० २।२९०, वसिष्ठ २१।१-४, नारद १६।८। इसे प्रायः चोर (याज्ञ० २।३०१) महापापी ( नारद १६।२, ६) और ऐसा आततायी ( विष्णु ५।१८९, महाभा० कुं० १२।१४।७९-८३ ) समझा गया है, जिसके वध में कोई दोष नहीं होता।

है। गौतम (२२।३५) ने इस दशा में उस के प्रायश्चित्त की व्यवस्था की है; पहरे में रखते हुए उस के भरण का विधान किया है। याज्ञवल्क्य (१।७०) ऐसी स्त्री को घर के सब अधिकारों से वंचित कर, मैले वस्त्र पहना कर, केवल जीवन निर्वाह योग्य भोजन देकर निरादर के साथ भूमि पर सुलाने को कहता है और ऋतु काल से उस की शुद्धि मानता है; किन्तु गर्भ धारण की स्थिति में उसके त्याग का विधान करता है (गर्भे त्यागो विधीयते)। पर विज्ञानेश्वर वसिष्ठ (३१।१२) के आधार पर याज्ञवल्क्य के इस विधान की उदार व्याख्या करता हुआ कहता है कि केवल शूद्रा के साथ सम्बन्ध होने पर ही वह त्यागयोग्य होगी और त्याग का अर्थ केवल यही है कि वह धार्मिक कार्यों तथा दाम्पत्य अधिकारों से वंचित है, उसे घर से बाहर नहीं निकाला जायगा; एक कमरे में बन्द करके खाना कपड़ा दिया जाता रहेगा (या० ३।२९७)। वसिष्ठ के मत में (३१।१०) केवल चार स्त्रियां ही परित्याज्य हैं—शिष्यगामिनी, गुरुगामिनी, पति की हत्या का यत्न करने वाली तथा शूद्रगामिनी। कुछ शास्त्रकार (मनु० ८।३७१, महाभा० १२।१६५।६४, गौतम २३।२४) शूद्र पुरुष के साथ सम्बन्ध करने वाली के लिये यह कठोर व्यवस्था करते हैं कि राजा उसे कुत्तों को खिलवा दे, किन्तु सजातीय पुरुष के साथ व्यभिचार में उनकी व्यवस्था बहुत उदार है। मनु के मतानुसार बहुत खराब (विप्रदुष्टा) स्त्री को घर में बन्द कर के उससे परस्त्रीगामी पुरुष के लिये विहित प्रायश्चित्त कराना चाहिये, यदि फिर भी वह अपनी जाति के पुरुष से व्यभिचार करे तो उसकी शुद्धि के लिये उस से चान्द्रायण व्रत करवाये (९।१७७-७८)। नारद (५।९१) ने इस दशा में उसका सिर मुंडवाने, उसे भूमि पर सुलवाने, बुरा भोजन और कपड़ा देने और उससे घर में झाड़ू लगवाने की व्यवस्था की है। व्यास (२।४९-५०) अगले ऋतुकाल तक उससे धार्मिक, दाम्पत्य और सांपत्तिक अधिकार छीनने का तथा निरादर से बरतने का विधान करता है[९३]।

श्री पाण्डुरंग वामन काणे ने उपर्युक्त शास्त्रीय प्रमाणों के आधार पर निम्न परिणाम निकाले हैं (हि० ध० खं० २ भाग १ पृ० ५७२) (१) व्यभिचार

---

९३. नास्मृ० ५।९१ व्यभिचारे स्त्रिया मौण्ड्यमधः शयनमेव च। कदन्नं वा कुवासश्च कर्म चावस्करोज्झनम्। व्यास २।४९-५० व्यभिचारेण दुष्टां तां पत्नीमादर्शनादृतोः। हृतत्रिवर्गकरणां धिक्कृतां च वसेत्पतिः। पुनस्तामार्त्तवस्नातां पूर्ववद् व्यवहारयेत्।

के कारण पत्नी को पूर्ण रूप से त्यागने का पति को कोई अधिकार नहीं है। (२) व्यभिचार सामान्य रूप से उपपातक है, प्रायश्चित्त द्वारा उस की शुद्धि हो सकती है (३) प्रायश्चित्त करने वाली स्त्री को, पत्नी के सामान्य अधिकार प्राप्त हो जाते हैं (वसिष्ठ २१।१२, याज्ञ० १।७२)। जब तक व्यभिचारिणी प्रायश्चित्त नहीं करती, उसे पत्नी के अधिकारों से वंचित कर केवल भोजनमात्र देना चाहिये (याज्ञ० १।७०; महाभा० १२।१६५।१३)। (५) शूद्रगामिनी स्त्री को प्रायश्चित्त के बाद भी कमरे में बन्द करके भोजनमात्र देना चाहिये (वसिष्ठ २१।१०) (६) गर्भपात भर्तृवधादि महापातक न करने वाली स्त्रियां प्रायश्चित्त न करने पर भी भोजनमात्र की अधिकारिणी हैं; यदि वे प्रायश्चित्त करने से इंकार करती हैं, तो उन्हें भोजन पाने का अधिकार नहीं रहता। आधुनिक न्यायालय शास्त्रों की इस व्यवस्था को स्वीकार करते हैं[९४]।

साम्पत्तिक अधिकारों में भी स्त्री के साथ उदारता का व्यवहार हुआ है (दे० नीचे० अध्याय १६)। स्त्रीधन पर पत्नी को पूर्ण अधिकार है, पति केवल दुर्भिक्ष, धर्मकार्य, रोगी अथवा बन्दी होने की अवस्था में ही इस का उपयोग कर सकता है। इंगलैण्ड में १८८२ का विवाहित स्त्रियों की सम्पत्ति का कानून बनने से पूर्व, वहाँ पति को विवाह द्वारा पत्नी की सम्पत्ति पर पूरा अधिकार प्राप्त हो जाता था[९५]।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि यद्यपि हिन्दू परिवार में नारी की स्थिति वैदिक युग के बाद बहुत उन्नत नहीं रही, शास्त्रकारों ने नारी की भर-पेट निन्दा की[९६], किन्तु इसके साथ ही उन्होंने कई विषयों में पत्नी के साथ बड़ी

---

९४. परमी बनाम महादेवी इं० ला० रि० ३४ बं० २७८

९५. हेल्जबरी--लाज आफ इंगलैण्ड खण्ड १६ पृ० ६१३-१४

९६. इसमें कोई संदेह नहीं कि भारतीय साहित्य में नारी की घोर निन्दा है। महाभारत कुं० ४।४८।१८-१९, महाभा० १।१३।९१-९४, १३।३८। ११-३० में स्त्री पर कामान्ध होने का तथा महाभा० कुं० १३।७३।२३, कुं० १३।७४।९, महाभा० १३।७५।११-१२, १३।३९।५-१४, १३।४०।३-१५, १३। ४३।१९, अश्वघोष के सौन्दरानन्द काव्य तथा क्षेमेन्द्र के कला विलास में नारियों के दोषों का विस्तृत वर्णन है। किन्तु इस सम्बन्ध में निम्न बातें स्मरण रखनी चाहिये (१) नारियों की यह बुराई इसलिये की गयी है कि पुरुष इन के माया जाल में न फंसें, बृहत्संहिता ने इसे स्पष्ट रूप से वैराग्य मार्ग में

उदारता का व्यवहार किया, कुलटा होने पर उस के लिये अन्य समाजों की अपेक्षा कम कड़े दण्ड विधान की व्यवस्था की, उसे कुछ साम्पत्तिक अधिकार भी दिये । अतः प्राचीन एवं मध्ययुगीय भारतीय पत्नी अन्य देशों की तत्कालीन स्त्रियों से कुछ अधिक ही अधिकारों का उपभोग करती रही है ।

———

प्रवृत्त कराने के लिये की जाने वाली निन्दा कहा है (७४।५ येऽप्यंगनानां प्रवदन्ति दोषान् वैराग्यमार्गेण गुणान् विहाय) । (२) इस निन्दा का यह भी उद्देश्य है कि पुरुष इन की रक्षा में सदैव जागरूक रहें । मेधा तिथि ने मनु० ९।२६ का भाष्य करते हुए लिखा है—यदेतद्दोषप्रपंचनं तन्नावज्ञानार्थं परिवर्जनार्थं वाभिशस्तपतितादिवत् । किं तर्हि ? रक्षार्थं दोषेभ्यः । (३) मीमांसाशास्त्र का यह नियम है कि निन्दा का तात्पर्य उस वस्तु की गर्हा नहीं; किन्तु उससे विपरीत वस्तु की प्रशंसा होता है (जै० २।४।२१ पर शबर भाष्य न हि निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रयुज्यते । किं तर्हि ? निन्दितादितरत्प्रशंसितुम् ) अतः स्त्रियों के चंचल स्वभाव की निन्दा का वास्तविक आशय सतीत्व की गरिमा का बखान करना है; न कि नारी की यथार्थ प्रकृति का चित्रण करना (४) स्त्रियों की निन्दा के साथ साथ उन की प्रशंसा के पुल बांधने वाले वचनों की भी हमारे साहित्य में कमी नहीं है । दे० मनु० ३।५६-६२, उस के भार्या-रूप की स्तुति ( महाभा० १।७४ । ४०-५२, १२।१४५।६-१७ ) का पहले उल्लेख हो चुका है । माता के रूप में उस की महिमा ( महाभा० १२।१०८। १६-१८ ) का वर्णन आगे होगा । शास्त्रकारों ने पतित माता के भी भरण की व्यवस्था की है ( बौधा० ध० सू० २।२।४८ पतितामपि तु मातरं बिभृयादनभिभाषमाणः मि० आप० ध० सू० १।१०।२८।९ वसिष्ठ१३।४७) । व्यभिचार में उसके साथ उदार व्यवहार का पहले उल्लेख हो चुका है (पृ०१७३-५) । स्त्रियों को अवध्य बताते हुए कहा गया है कि नैता वाच्या न वै वध्याः न क्लेश्याः शुभमिच्छता ( महाभा० कुं० १३।५८।९ ) । उनके साथ उत्तम व्यवहार करने (पृ०१२७ ) का वर्णन पिछले अध्याय में हो चुका है। इन सब बातों से यह स्पष्ट है कि स्त्री की निन्दा वास्तविक नहीं; किन्तु पुरुष को उससे सावधान रखने के लिये ही है ।

# पाँचवाँ अध्याय

## पिता

पिता के तीन मुख्य कार्य—पिता का महत्त्व तथा सम्मान—पिता का सर्वोच्च स्थान—क्या प्राचीन हिन्दू परिवार में पिता को अमर्यादित अधिकार प्राप्त थे ? पूर्ण पितृप्रभुत्त्व ( Patria potesta ) का स्वरूप—पिता के अधिकार—प्राणदण्ड तथा अन्य दण्ड देने का अधिकार—पुत्रों को बेचने और छोड़ने के उदाहरण—शुनः शेप का आख्यान—पुत्रों का दान करना—नारद द्वारा पिता के पूर्ण प्रभुत्त्व का समर्थन—पिता के पूर्ण प्रभुत्त्व को मर्यादित करने वाली व्यवस्थायें—पूर्ण प्रभुत्त्व घटने के कारण—वानप्रस्थाश्रम की व्यवस्था-वृद्धावस्था में पिता की शारीरिक अशक्ति—क्या वैदिक युग में वृद्ध पिता के परासन या उद्धिति ( Exposure ) की प्रथा थी ?—पिण्डदान की चिन्ता व अन्य कारण—पिता के विवाह सम्बन्धी अधिकार—वैदिक युग में पूर्ण पितृ प्रभुत्त्व विरोधी तथ्य —हिन्दू पिता के अधिकारों का ऐतिहासिक विकास-पिता के अन्य कानूनी अधिकार और कर्त्तव्य-सन्तान का भरण पोषण—पुत्र-गोद लेने-देने का अधिकार—सन्तान का संरक्षण।

**पिता के तीन मुख्य कार्य**—पिता परिवार का भरण पोषण तथा रक्षण करने वाला होता है। इस शब्द की व्युत्पत्ति उस के इस महत्त्वपूर्ण कार्य की ओर संकेत कर रही है; यह रक्षणार्थक पा धातु से बना है और इस का अर्थ है—सन्तान की रक्षा करने वाला[1]। पशु पक्षियों में जो परिवार पाये जाते हैं, उन में पिता के दो कार्य मुख्य होते हैं—सन्तान तथा मादा के लिये भोजन लाना तथा उन दोनों के सब प्रकार के संकटों से रक्षा करना। मनुष्य जाति की प्रारम्भिक अवस्था में भी पिता के यही दो कार्य होते हैं। किन्तु सभ्यता की उन्नति के साथ पिता का, सन्तान शिक्षण का एक तीसरा कार्य भी बढ़ जाता है। कालि-

---

१. पाति रक्षत्यपत्यं यः स पिता, शब्द कल्पद्रुम तृतीय काण्ड, पृ० १४३; किन्तु सेण्टपीटर्सबर्ग कोश में पिता और माता का मूल अनुकरणवाची पा और मा शब्द बताये गये हैं।

दास ने पिता के इन तीनों कार्यों का विनय, रक्षण और भरण के नाम से उल्लेख किया है[२]।

वेद में पिता के त्राता और खाद्य सामग्री दाता के रूप का बड़ा सुन्दर वर्णन है। इन्द्र की स्तुति करने वाला ऋषि त्राता आदि अनेक विशेषणों से उसकी प्रशंसा करता है; किन्तु उसे तब तक सन्तोष नहीं होता जब तक कि वह इन्द्र को पितृतम नहीं कह लेता[३], क्योंकि रक्षणकर्त्ताओं में पिता से श्रेष्ठ उपमा मिलना असम्भव है। अन्यत्र (१०।४८।१) पिता के पोषक रूप का उन्ल्लेख है। इन्द्र का कथन है कि मैं दानी यजमान के लिये भोजन बांटता हूँ, अतः मुझे मनुष्य उसी प्रकार बुलाते हैं जैसे अन्न देने वाले पिता को[४]।

अत्यन्त प्राचीन काल में पिता अपने पुत्रों को स्वयं पढ़ाया करता था। बृह० उप० ६।२।१।४ में इसका स्पष्ट उल्लेख है। आरुणेय श्वेतकेतु को उस के पिता ने २४ वर्ष में सम्पूर्ण वेद पढ़ाये थे। विश्वरूप ने याज्ञ० १।१५ में इसी परिपाटी का संकेत किया है। मेधातिथि (मनु० ३।३) कहता है--जिसका पिता विद्यमान है, वही उस का आचार्य है। इस प्रकार हिन्दू पिता वैदिक काल से अपनी सन्तान के पालन, रक्षण और शिक्षण का कार्य करता रहा है।

वास्तव में पिता के लिये सन्तान को जन्म देना सामाजिक दृष्टि से उतना महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं है, जितना उसका भरण, रक्षण और शिक्षण। सन्तान को जन्म देने की दृष्टि से माता का कार्य अधिक महत्त्वपूर्ण है। नौ मास तक गर्भ में रखने, अपने शरीर से उसका पोषण करने तथा जन्म के बाद अपना स्तन्य पान कराने तथा गोद में खिलाने से बालक का पिता की अपेक्षा अपनी जननी के साथ अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। यही कारण है कि हमारे साहित्य में पिता की जनिता या जनक के रूप में इतनी प्रतिष्ठा नहीं, जितनी सन्तान के पालक के रूप में है।

**पिता का महत्त्व तथा सम्मान**--अपनी असहायावस्था में पालने के कारण,

---

२. रघुवंश १।२४ प्रजानां विनयाधानाद्रक्षणाद् भरणादपि। स पिता पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः ॥

३. ऋ० ४।१७।१७ त्राता नो बोधि......र्मडिता सोम्यानाम्। सखा पिता पितृतमः ॥

४. ऋ० १०।४८।१ मां हवन्ते पितरं न जन्तवोऽहं दाशुषे विभजामि भोजनम्।

पुत्रों में पिता के प्रति कृतज्ञता, प्रतिष्ठा, और आदर का भाव उत्पन्न होना सर्वथा स्वाभाविक है। अतः पुत्रों के लिये पिता का सम्मान करना एक आवश्यक कर्त्तव्य है। युवा होने पर, स्वतन्त्रता की भावना का उदय होने के कारण यह सम्भव है कि वे इस कर्त्तव्य के पालन में प्रमाद करें। अतः प्राचीन काल में स्नातक बनते समय प्रत्येक युवक को गुरु यह आदेश देता था कि माता पिता की देवता की तरह पूजा करो[५]। गौ० ध० सू० (६।१-३) में प्रतिदिन मिलने पर पांव छू कर नमस्कार एवं सम्मान करने योग्य व्यक्तियों में माता पिता का सर्वप्रथम उल्लेख है। मनुस्मृति में पिता को प्रजापति की मूर्ति बनाया गया है (पिता मूर्त्तिः प्रजापतेः २।२२५); मनु के मत में माता पिता सन्तान उत्पन्न करने में जो क्लेश सहते हैं, उस का बदला वह १०० वर्ष में भी नहीं दे सकती (वही २२७)। "माता पिता और आचार्य का प्रिय कार्य सदा करना चाहिये, क्योंकि इन तीनों की सेवा को ही पण्डित लोग परम तपस्या कहते हैं। इनकी सम्मति के विना कोई धर्माचरण नहीं करना चाहिये। पिता गार्हपत्य अग्नि, माता दक्षिणाग्नि और गुरु आहवनीय अग्नि कहे गये हैं। यही तीनों अग्नियां पृथ्वी में श्रेष्ठ हैं। जो गृहस्थ इन तीनों के प्रति प्रमादरहित रहता है; वह तीनों लोक जीत लेता है। वह अपने शरीर से प्रकाशित होता हुआ स्वर्गलोक में देवताओं के समान प्रसन्न होता है। माता की भक्ति से भूलोक, पिता की भक्ति से अन्तरिक्ष लोक तथा गुरुशुश्रूषा से ब्रह्मलोक प्राप्त करता है। इन

---

५. तैत्ति० उप० १।११।२ मातृदेवो भव, पितृदेवो भव। सम्मान की यह भावना अन्य जातियों में भी पायी जाती है। यहूदियों में इस के महत्त्व का इसी तथ्य से अनुमान किया जा सकता है कि मूसा की प्रसिद्ध दस आज्ञाओं में ईश्वर विषयक आज्ञाओं के बाद सर्वप्रथम इसका वर्णन है, 'अपने पिता का सम्मान करो, ताकि परमात्मा से दी गयी भूमि पर तुम्हारे दिन लम्बे हो सकें (तुम दीर्घ जीवी हो, एक्सोडस २०।१२ मि० ड्यिूटरानमी ५।१६, लेवेटिकस १९।३, क्रानिकल २३।२६, २७।१६)। प्राचीन मिश्र में दीर्घ जीविता के नाम पर पुत्रों को पिता की आज्ञा पालन करने की अपील की गई थी। प्ताह होतम के उपदेशों में कहा गया है--पिता की आज्ञा मानने वाला पुत्र इस कार्य से दीर्घ जीवन प्राप्त करेगा (अध्या० ४२।४९)। मैक्सिको में बच्चों को प्रारम्भ से यह शिक्षा दी जाती है कि अपने पिता माता की विशेष रूप से प्रतिष्ठा करो। उनके प्रति सम्मान, उनकी सेवा तथा आज्ञा पालन तुम्हारा कर्त्तव्य है।

तीनों के आदर से उसके शुभ कर्म उत्तम फल देने वाले होते हैं और इनका आदर न करने से उसके ( श्रौत स्मार्त आदि ) सब कार्य निष्फल होते हैं"। "जब तक ये तीनों जीते रहें, तब तक स्वतंत्र रूप से कोई धर्म कार्य न करे, किन्तु इन के प्रिय हित में तत्पर रहता हुआ सदा इन की शुश्रूषा करे। इन की सेवा करता हुआ, परलोक की इच्छा से मन, वचन तथा कर्म द्वारा जो कुछ धर्म कार्य करे, वह इन को अर्पण कर दे। इन तीनों की यथा योग्य सेवा करने से पुरुष के सम्पूर्ण कर्त्तव्य कार्य समाप्त हो जाते हैं। इन की सेवा ही परम धर्म है ( एष धर्मः परः साक्षात् ) अन्य सब धर्म ( अग्निहोत्रादि ) उपधर्म कहे जाते हैं ( मनु० २।२२६-३७ )।

महाभारत में चिरकारी ने पिता की महिमा का बहुत सुन्दर वर्णन किया है—"पिता अपने शील चरित्र, गोत्र और कुल की रक्षा के लिये अपने आप को पत्नी में धारण करता है, उसी से सन्तान उत्पन्न होती है।—जातकर्म व उपकर्म के समय पिता जो कुछ कहता है, पिता का गौरव निश्चय करने में वह पर्याप्त पुष्ट प्रमाण है[६]। पोषण और शिक्षण देने वाला पहला गुरु (पिता) ही परम धर्म है। पिता जैसी आज्ञा दे, वही धर्म है, यह(बात)वेदों में भली प्रकार निश्चित है। पिता के लिये पुत्र प्रीति मात्र है; किन्तु पुत्र के लिये पिता सब कुछ है। शरीर आदि जो कुछ देय पदार्थ है, उन्हें केवल पिता ही पुत्र को प्रदान करता है। अतः पिता के वचन का पालन करना चाहिये। जो पिता के वचन का पालन करते हैं, उन के पाप धुल जाते हैं। पिता ही धर्म है, पिता स्वर्ग है, पिता परम तप है, पिता के प्रसन्न होने पर सब देवता प्रसन्न होते हैं[७]।

---

६. जातकर्म के समय पिता पुत्र को कहता है—तू प्रस्तर हो, (पत्थर की तरह अच्छेद्य हो ) तू परशु हो ( परशु की तरह शत्रुओं का नाशक हो ), तू पुत्र कहलाने वाला वेद है, तू सौ वर्ष तक जीवित रह। नीलकंठ के मत में यहां उपकर्म उस विधि का नाम है, जो पिता के यात्रा से वापिस लौट कर आने पर की जाती है, उस समय पिता पुत्र का मस्तक छूकर कहता था, तू मेरे अंग अंग से पैदा हुआ है, हृदय से पैदा हुआ है, पुत्र नाम वाला तू मेरा ही आत्मा है, वह आत्मा सौ वर्ष तक जीये। अन्य गृह्य सूत्रों में इस का उल्लेख है, आश्व० १।१५।९ अनु० पारस्कर० १।१८, गोभिल० २।८।२१, हिरण्यकेशी २।१।४।१६

७. महा० १२।२६६।१४-२१ गुरुरग्र्यः परो धर्मः पोषणाध्यापनान्वितः। पिता यदाह धर्मः स वेदेष्वपि सुनिश्चितः ॥१७॥ तस्मात्पितुर्वचः कार्यं न विचार्य

**पिता का सर्वोच्च स्थान**——भारतीय धर्मशास्त्रों में इस विषय पर तीव्र मतभेद है कि माता-पिता और गुरु में से किसका स्थान सर्वोच्च है। माता के प्रकरण में हम यह देखेंगे, कि अनेक स्थानों पर माता को सब से ऊँचा दर्जा दिया गया है ( मनु० २।१४५, । याज्ञ० १।३५, गौ० ध० सू० २।५६ ), अन्य स्थानों पर इन तीनों में गुरु को सब से ऊँचा स्थान दिया गया है (मनु० २।१४६-१४८ ), विष्णु० ध० सू० ३०।४४ में आचार्य को दूसरा आध्यात्मिक जन्म देने के कारण सर्वश्रेष्ठ माना गया है। महा० १२।१०८।१८-२० में भी गुरु को इसी कारण ऊँचा स्थान दिया गया है। किन्तु अन्यत्र (महा० १२।२९७।२ ) पिता को स्पष्ट रूप से सर्वोच्च स्थान दिया गया है, पराशर ने कहा है—"मनुष्यों के लिए पिता ही परम देवता है, पंडित लोग पिता को माता से भी अधिक गौरवशाली कहा करते हैं। ( पिता से पुत्रों को) ज्ञान लाभ होता है अतः उसे सर्वश्रेष्ठ कहा जाता है, क्योंकि इस ( ज्ञान ) से ही विषयों को जीत कर मनुष्य परम पद प्राप्त करते हैं"[८]।

**पूर्ण पितृप्रभुत्त्व** ( Patria potesta ) **का स्वरूप**——इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि प्राचीन हिन्दू परिवार में पिता की बहुत अधिक प्रतिष्ठा थी, उसे सर्वोच्च स्थान प्राप्त था। किन्तु उस के साथ क्या उसे अपरिच्छिन्न और अमर्यादित अधिकार भी प्राप्त थे ? यह विषय अब तक बड़ा विवादास्पद रहा है। पुराने जमाने में, अनेक समाजों में ( विशेष रूप से रोमन समाज में ) यह व्यवस्था प्रचलित थी कि परिवार के मुखिया को अपने परिवार के सदस्यों और सम्पत्ति पर पूर्ण, निरंकुश, अमर्यादित एवं अपरिच्छिन्न अधिकार प्राप्त होता था; उसे रोमन पेटर फेमलिया (Pater familia) कहते थे और उसके इस प्रकार के अमर्यादित अधिकार को पैट्रिया पोटैस्टा ( Patria potesta ), इस अधिकार का स्वरूप इन थोड़े से तथ्यों से समझा जा सकता है—गृहपति को अपने पुत्रों को प्राणदण्ड देने तथा वध करने का अधिकार था। इन का जीवन मरण पिता के हाथ में था, राज्य को इन पर कुछ भी अधिकार न था। रोमन कानून की प्रसिद्ध १२ पट्टिकाओं में से चौथी पट्टिका के दूसरे खण्ड में स्पष्ट

---

कदाचन। पातकान्यपि पूयन्ते पितुः शासनकारिणः ॥ १९॥ .....पिता धर्मः पिता स्वर्गः पिता हि परमं तपः। पितरि प्रीतिमापन्ने सर्वाः प्रीणन्ति देवताः ॥२१॥

८. महा० १२।२९७।२ पिता परं दैवतं मानवानां मातुर्विशिष्टं पितरं वदन्ति। ज्ञानस्य लाभं परमं वदन्ति जितेन्द्रियार्थाः परमाप्नुवन्ति ॥

शब्दों में यह कहा गया है 'पिता अपने पुत्रों को जेल में डाल सकता है, बेच सकता है और उन का वध कर सकता है'। बेटों को मारने का अधिकार केवल कानूनी रूप में ही रहा हो, सो बात नहीं है। पिता इस का प्रयोग करते थे और अपने बच्चों को जान से मार डाला करते थे। प्लूटार्क ने ब्रूटस के बारे में लिखा है कि उसने अपने बेटों को बगैर कानूनी कार्यवाही के पिता के अधिकार का प्रयोग करते हुए मरवा डाला था। माम्मसेन ने रोमन परिवार का वर्णन करते हुए लिखा है—घर के सब प्राणी कानूनी अधिकारों से वंचित थे; घर के पशुओं और दासों की भांति, पत्नी और बच्चों को भी कोई अधिकार नहीं थे[९]। बालिग और ज्येष्ठ पुत्र तथा उसके बेटे भी गृहपति के शासन में रहते थे। लड़के लड़कियां अपनी स्वतंत्र इच्छा से शादी नहीं कर सकतीं थीं, गृहपति की अनुमति के बिना कोई वैध विवाह संभव न था[१०]। रोमन सम्राट् जस्टीनियन को गृहपति के इस अमर्यादित प्रभुत्त्व पर गर्व था। "हमें अपनी सन्तान पर जो अधिकार प्राप्त हैं, वह रोमन नागरिकों की विशेषता है, क्योंकि कोई अन्य ऐसी जाति नहीं है, जिसे बच्चों पर इतने अधिक अधिकार प्राप्त हों, जितने हमें प्राप्त हैं" [११]।

पितृप्रधान समाज व्यवस्था (Patriarchal system society) को मानव जाति की आदिम व्यवस्था मानने वाले तथा इस सिद्धान्त के प्रबल समर्थक सर हेंनरी सुमनेर मेन ने रोमन गृहपतियों के इस अपरिच्छिन्न अधिकार को आदिम आर्य जाति में प्रचलित निरंकुश पैतृक प्रभुत्त्व का अवशेष (Survival) माना है[१२]। इस विषय में उन्हें अन्य समाजशास्त्रियों का भी समर्थन प्राप्त हुआ है। प्रसिद्ध फ्रेन्च विद्वान् फुस्तल-दी-कूलाञ्ज और हर्न ने मेन के सिद्धान्तों को पुष्टि की है[१३]। मेन ने प्राचीन कानून और रिवाज (अर्ली ला एण्ड कस्टम) के विशेष नोट (पृष्ठ १२२-२३) में प्राचीन हिन्दू परिवार में इस प्रथा की सत्ता मानी है। प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् जिमर की भी ऐसी ही मान्यता

---

९. माम्मसेन--हिस्टरी आफ् रोम खण्ड १ पृ० ६४

१०. जस्टीनियन--इंस्टीच्यूशन्स १।१०

११. वहीं १।९।२।१२

१२. मेन-एन्शेण्ट ला पृ० १३८

१३. फुस्तल-दी कूलाञ्ज-एन्शेण्ट सिटी पृ० ११५; हर्न आर्यन हौस-होल्ड, पृ० ९२

है[१४]। अतः इन विद्वानों द्वारा उपस्थित किये जाने वाले पिता की अनियन्त्रित प्रभुता के सूचक प्रमाणों की यहां विवेचना की जायगी । इसे अधिक सुबोध बनाने के लिये पिता द्वारा पुत्रों को प्राण-दण्ड व अन्य-दण्ड देने तथा उन्हें बेचने के अधिकारों का तथा पिता की अनुमति से ही विवाह करने के अधिकार पर पृथक् पृथक् विचार किया जायगा ।

**प्राण दण्ड व अन्य दण्ड देने का अधिकार**--यद्यपि अन्य जातियों में पिता को काफी अधिक अधिकार प्राप्त थे[१५]। परन्तु अपने पुत्रों को प्राण दण्ड देने का अधिकार केवल रोमन पिताओं को ही उपलब्ध था । सम्पूर्ण भारतीय वाङमय में अपने पुत्र को प्राण दण्ड देने का कहीं उल्लेख नहीं । जस्टीनियन की उपर्युक्त उक्ति इस अंश में अवश्य सत्य है कि रोम के सिवाय अन्यत्र पिताओं को अपनी सन्तान को प्राणदण्ड देने का असाधारण अधिकार नहीं था । हिन्दू परिवार में पिता को ऐसा कोई अधिकार रहा हो, अब तक इस का एक भी पुष्ट प्रमाण उपस्थित नहीं किया गया । प्राण दण्ड के अतिरिक्त अन्य दण्ड देने का पिता को अधिकार अवश्य था; परन्तु इस विषय में पिता पर काफी प्रतिबन्ध लगाये गये थे । वह अपनी सन्तान को मनमाने ढंग से न तो पीट सकता था और न दण्ड दे सकता था ।

हिन्दू समाज में पिता द्वारा दण्ड के असाधारण अधिकार को सिद्ध करने के लिये ज़िमर ने ऋज्राश्व की कथा का प्रमाण उपस्थित किया है । कहा जाता है कि इसे अपने पिता द्वारा अन्धा करने का ऋग्वेद में उल्लेख है ( ऋ० १।११६।१६, १।११७।१७-१८ ) । सायण भाष्य के

---

१४. वैदिक इंडैक्स खं० १ पृ० ५२६ पर उद्धृत ।

१५. चीनियों में यह लोकोक्ति प्रसिद्ध है--'सम्राट को अपनी प्रजा के प्रति पिता की भांति स्नेह रखना चाहिये और पिता को अपने परिवार पर सम्राट् जैसा शासन करना चाहिये, ( स्पेन्सर --समाज शास्त्र के सिद्धान्त खण्ड १ पृ० ७३९)। जापानी सन्तान को पिता की आज्ञा आंख मूंद कर माननी पड़ती है । ग्रिफिस ने लिखा है--एक ईसाई कन्याकी तरह सर्वथा निष्पाप एवं निष्कलंक जापानी कुमारी अपने पिता की आज्ञा पर चकले में चली जायगी और अपने सारे जीवन के लिये वेश्यावृत्ति स्वीकार करेगी । अपने पिता की इस आज्ञा का पालन करते हुए, उसके मुख से विरोध का एक शब्द भी नहीं निकलता (मिकाडोज़ एम्पायर पृ० १२४, १४७ ) ।

अनुसार यह घटना इस प्रकार है--वृषागिर के पुत्र राजर्षि ऋज्राश्व के समीप अश्विनों का वाहन गधा वृकी बन कर आया, उसने उस के आहार के लिये नागरिकों की सम्पत्ति बनी हुई १०० भेड़ें [१६] काट डाली, नगरवासियों की बड़ी हानि हुई, इस अपराध के कारण पिता ने उसे अन्धा कर दिया। देवों के वैद्य अश्विनी कुमारों ने पितृ शाप से अनर्वत (द्रष्टव्य पदार्थों की ओर गमन रहित अन्धे) उसके नेत्रों को विविध पदार्थ देखने योग्य बना दिया[१७]। ऋ० १।११७।१८ में ऋज्राश्व के इस कार्य के बारे में यह कहा गया है कि उस का यह कार्य तरुण व्यभिचारी की तरह (जार: कनीन इव) था।

इस कथा के वास्तविक अर्थ के सम्बन्ध में कुछ मतभेद है। श्री पाण्डु रंग वामन काले इसमें किसी अलंकार की झलक पाते हैं। उन्होंने लिखा है—इन मंत्रों में आलंकारिक रूप में किसी प्राकृतिक घटना का वर्णन है। इनसे यह परिणाम नहीं निकाला जा सकता, कि एक पिता कानूनी तौर पर अपनी इच्छा से अपने पिता को अन्धा कर सकता था[१८]। श्री काणे ने यह नहीं बताया कि इन मंत्रों में किस प्राकृतिक घटना का वर्णन है। यदि इस घटना को सत्य मान लें, तो भी इस अकेली घटना से प्राचीन काल में पिता के अपरिच्छिन्न या पूर्ण प्रभुत्व की सत्ता सिद्ध करना बड़ा कठिन है। मैकडानल और कीथ का यही मत है। "जिमर ने पिछले कथन (ऋज्राश्व की कथा) से, पूर्ण रूप से विकसित अपरिच्छिन्न पितृ प्रभुत्व की सत्ता का अनुमान किया है, किन्तु इस अकेली तथा अर्धपौराणिक घटना पर बल देना बुद्धिमत्ता पूर्ण नहीं है[१९]।

**ताड़न के नियम**--इसमें कोई सन्देह नहीं कि पुत्र के कदाचरण करने पर पिता को उसे साधारण रूप में दण्ड देने का अधिकार था। ऋग्वेद में एक उपमा में यह बताया गया है कि पिता अपने जुआरी बेटे को दण्ड देता है [२०]। एक

---

१६. सौकी संख्या पर मतभेद है। ऋ० १।११६।१६ व १।११७।१७ में सौ भेडें कहीं गई हैं, किन्तु १।११७।१८ में १०१ भेडें उल्लिखित हैं॥

१७. ऋग्० १।११६।१६। शतं मेषान्वृक्ये चक्षदानमृज्राश्वं तं पितान्धं चकार। तस्मा अक्षी नासत्या विचक्ष आधत्तं दस्रा भिषजावनर्वन् ॥मि० १।११७।१७॥

१८. काणे--हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र खण्ड २, भाग १, पृ० ५०७

१९. वै० इं० खं० १ पृ० ५२६

२०. ऋ० २।२९।५ यन्मा पितेव कितवे शशास।।

नीति के श्लोक में पिता को ६ से १६ वर्ष की आयु तक सन्तान को पीटने का हक दिया गया है[२१]।

कई वार कुछ पिता अपने पुत्रों का ताड़ना करते समय विवेक खो बैठते हैं और उन्हें बड़ी नृशंसता से पीटते हैं। अतः शास्त्रकारों ने ताड़न के सम्बन्ध में कुछ नियम बनाए हैं। महा० (१३।१००४। ३७) में कहा गया है कि पुत्र और शिष्य की शिक्षा के निमित्त ही ताड़ना करें[२१]। मनु इस ताड़ना के स्वरूप को और भी अधिक मर्यादित करता हुआ कहता है कि यह रस्सी या बांस की छड़ी से ही सकती हैं, शरीर के पीठ वाले हिस्से की ओर ही की जानी चाहिये, सिर पर कभी नहीं मारना चाहिये, इन नियमों की अवहेलना कर, ताड़न करने वाले को चोर को दिया जाने वाला दण्ड दिया जाना चाहिये[२२]। इन व्यवस्थाओं से यह स्पष्ट है कि पिता को पुत्र को दण्ड देने तथा पीटने का अधिकार मर्यादित था।

**पुत्र को बेचने व छोड़ने का अधिकार**—पुत्रों को बेचना बड़ा विचित्र प्रतीत होता है। किन्तु जिस समाज में पुत्र पिता की सम्पत्ति समझे जाते हैं, वहां उन्हें गौ, बैल और जमीन की तरह बेचा भी जा सकता है। पहले यह कहा जा चुका है कि रोम में पिताओं को अपने बच्चे बेचने का अधिकार था। इवाल्ड ने यहूदियों के सम्बन्ध में लिखा है कि इनमें पिता संकट ग्रस्त होने पर कष्ट से मुक्ति के लिये अपने पुत्र को बेच सकता था, अधमर्ण ( कर्जदार ) होने की दशा में वह उसे अपने उत्तमर्ण ( महाजन ) के पास बतौर गिरवी के रख सकता था[२३]। ट्यूटन जाति में पिता नाबालिग सन्तान को बेच सकता या जंगली जानवरों द्वारा खाया जाने के लिये जंगल में छोड़ सकता था[२४]। क्या हिन्दू परिवार में पिताओं को इस प्रकार के अधिकार प्राप्त थे ?

**शुनः शेप की कथा**—वैदिक काल में पुत्र के विक्रय का सब से प्रसिद्ध उदाहरण शुनः शेप है ( ऐ० ब्रा० ३३ अ०, शांखा०श्रौतसू० १५।२०१ प्र० )।

---

२१. लालयेत् पंचवर्षाणि दश वर्षाणि ताडयेत्। । महा० १३।१०४।३७ अन्यत्र पुत्राच्छिष्याच्च शिक्षार्थं ताड़नं स्मृतम् ।

२२. मनु० ४।२९९-३०० पृष्ठतस्तु शरीरस्य नोत्तमांगे कथंचन। अतोऽन्यथा तु प्रहरन्प्राप्तः स्याच्चौरकिल्विषम् ॥ मि० विष्णु ७१ ।८०-८१ ॥

२३. इवाल्ड-दी एण्टीक्विटीज़ आफ इस्राइल पृ० १९०

२४. वै० हि० मै० पृ० १२३

इक्ष्वाकु राजा हरिश्चन्द्र ने निःसन्तान होने पर वरुण से इस शर्त्त पर रोहित नामक पुत्र प्राप्त किया कि वह उसे यज्ञ में वरुण को देगा। अनेक बहानों से वह इस यज्ञ को काफी समय तक टालता रहा; किन्तु जलोदर रोग से पीड़ित होने पर जब उस ने अपनी शर्त्त पूरी करने का निश्चय किया तो उस के पुत्र रोहित की भेंट शुनः पुच्छ, शुनः शेप, शुनोलांगूल नाम के तीन बेटों वाले अजीगर्त नामक क्षुधार्त्त ब्राह्मण से हुई तथा उस ने सौ गौओं के लोभ में अपना मंझला बेटा शुनः शेप रोहित को बेच डाला; क्योंकि छोटा लड़का माता का और बड़ा पिता का लाड़ला था। इस के बाद, दो वार सौ सौ गौओं को लेकर उसने अपने पुत्र को यूप से बांधा और उसे मारने की तय्यारी की। वरुणादि देवताओं की स्तुति से शुनः शेप बन्धन मुक्त हुआ और महर्षि विश्वामित्र ने उसे ज्येष्ठ पुत्र बनाया। बड़ा बेटा होने के कारण उसने विशेष सम्पत्ति और स्नेह की मांग की। इस पर विश्वमित्र के कुछ पुत्रों ने इस व्यवस्था का विरोध किया। पिता के शाप से वे चाण्डालादि नीच जातियां बने। उन्हीं से अन्ध्र, पुण्ड्र, पुलिन्द आदि जातियों की उत्पत्ति हुई।

इस कथा से जहां एक ओर अर्थ लोलुप अजीगर्त्त द्वारा अपने पुत्र को बेचने का पता लगता है, वहां दूसरी ओर यह भी ज्ञात होता है कि पिता के पूर्ण-रूप से स्वच्छन्द आचरण का पुत्र प्रतिवाद भी करते थे। यद्यपि निर्धन शुनः शेप ऐसा करने में असमर्थ था; किन्तु विश्वामित्र के पुत्रों ने शुनः शेप को ज्येष्ठ पुत्र बनाने की पिता की व्यवस्था का प्रबल विरोध किया। शुनः शेप के उदाहरण की परवर्त्ती साहित्य में बहुत चर्चा है[२५]। इसे आलंकारिक कथा भी माना गया है। यास्क ने इस का उदाहरण देते हुए पुत्रों के दान और विक्रय का उल्लेख किया है[२६]।

धर्म शास्त्रों में पुत्रों का एक भेद क्रीत है (वसिष्ठ ध० सू० १७।३०-३१ मनु० ९।१७४, याज्ञव० २।१३५, बृहद्विष्णु० स्मृ० १५।२० २१, बौधा० २।२। ३०)। माता पिता को मूल्य देकर खरीदे हुए पुत्र को क्रीत कहते है[२७]। वसिष्ठ

२५. महाभा० १३।३०।१२, वाल्मीकि रामा० १।६१-६२, हरिवंश-पुराण १।२७, विष्णु पु० ४।७, देवी भागवत ७।१४-१७

२६. निरुक्त ३।४ स्त्रीणां दानाविक्रयातिसर्गा विद्यन्ते न पुंसः। पुंसोऽपीत्येके। शौनः शेपे दर्शनात्।

२७. मनु० ९।१७४ क्रीणीयाद्यस्त्वपत्यार्थं मातापित्रोर्यमन्तिकात्। स क्रीतकः सुतस्तस्य सदृशोऽसदृशोऽपि वा॥

इसके उदाहरण के लिये शुनः शेप का ही उल्लेख करता है। पुत्रों के भेदों में एक अपविद्ध भी है ( वसिष्ठ १७।३४ बौधा० २।२।२७, मनु ९।१७१, याज्ञ० २।१३६, वृहद्विष्णु, १५।१३-१४ )। मनु के अनुसार जब माता पिता दोनों अथवा उन में से एक बालक को त्याग देता है और अन्य पुरुष उसे ग्रहण कर अपना पुत्र बनाता है, तब वह पुत्र अपविद्ध कहलाता है[२८]। अपविद्ध की सत्ता से भी यह सिद्ध होता है कि मां बाप को अपना पुत्र त्याग देने का अधिकार प्राप्त था।

कई धर्म शास्त्रियों ने पुत्र के विक्रय का जबर्दस्त समर्थन किया है। वे केवल क्रीत पुत्र का उल्लेख करके ही सन्तुष्ट नहीं हुए; किन्तु उन्होंने यह भी बताया है कि विक्रय का अधिकार माता पिता को किस कारण से प्राप्त है। वसिष्ठ के अनुसार सन्तान पर माता-पिता का पूर्ण अधिकार है "पुरुष माता पिता के शोणित-शुक्र से उत्पन्न होता है, माता पिता उस के जन्म का कारण हैं, अतः उन को पुत्र के दान विक्रय और त्याग का अधिकार है। किन्तु इकलौते बेटे का दान और प्रतिग्रह नहीं करना चाहिये"[२९]।

**पुत्र की परतन्त्रता**—मनु ने यह व्यवस्था की है 'भार्या, पुत्र और दास तीनों परम्परा से अधन माने जाते हैं; क्योंकि वे लोग जो कुछ कमाते हैं, वह उन के स्वामी का होता है'[३०]।

मनु की इस उक्ति का आशय यह है कि भार्या, पुत्र और दास कभी स्वतन्त्र नहीं होते। शवर ने ( जै० ६।११२) इस उक्ति को इन का पारतन्त्र्य सिद्ध करने के लिये पूर्व पक्ष द्वारा प्रमाण रूप में उपस्थित किया है;

किन्तु नारद ने पिता के प्रभाव और पुत्र की पराधीनता का जितना स्पष्ट उल्लेख किया है, उतना शायद अन्य किसी धर्म शास्त्री ने नहीं

---

२८. मनु० ९।१७१ मातापितृभ्यामुत्सृष्टं तयोरन्यतरेण वा। तं पुत्रं परिगृह्णीयादपविद्धः स उच्यते ॥

२९. वसिष्ठ ध० सू० १५।१-३ शोणितशुक्रसम्भवः पुरुषो भवति मातापितृनिमित्तकः। तस्य प्रदानविक्रयत्यागेषु मातापितरौ प्रभवतः, न त्वेकं पुत्रं दद्यात् प्रतिगृह्णीयाद्वा।

३०. मनु० ८।४१६ भार्या पुत्रश्च दासश्च त्रय एवाधनाः स्मृताः। यत्ते समधिगच्छन्ति यस्य ते तस्य तद्धनम् ॥ मि० नारद० टि० ३२, महाभा० ५।३३।६४,२।७१।१

किया। मेन ने भी नारद के प्रमाण पर बहुत बल दिया है (एंशेण्ट ला पृष्ठ १२५))। नारद कहता है—"स्वतन्त्रता बड़े में रहती है, बड़प्पन गुण और आयु के कारण होता है। इस लोक में तीन ही स्वतन्त्र हैं—राजा, आचार्य और सब वर्णों में अपने अपने घर का मालिक (गृही), ..........स्त्रियां, पुत्र, दास और अनुचर वर्ग (परिग्रह) परतन्त्र हैं, घर में गृही स्वतन्त्र है। उसके न रहने पर जो उनमें उस के बाद का हो (वह-गृही बनता है) कानून (व्यवहार) की दृष्टि से (१६ वर्ष का बालिग लड़का या पौगण्ड) माता पिता के न जीवित रहने पर ही स्वतन्त्र होता है। इनके जीवित रहने पर वृद्ध हो जाने पर भी पुत्र स्वतन्त्र नहीं होता[३१]। माता पिता में भी पिता स्वतन्त्र समझा जाता है, क्योंकि बीज प्रधान है, पिता के न रहने पर माता और माता के न रहने पर बड़ा भाई स्वतन्त्र परिवार का पूरा स्वामी होता है" [३२]।

---

३१. अनेक जातियों में पिता के जीवित रहते हुए लड़का बूढ़ा होने पर भी किसी विषय में स्वतन्त्र नहीं होता। निकेलिस ने मूसा के नियमों पर टीकाओं (कमेंटरीज आन दी लाज आफ़ मोजेज खण्ड १, पृ० ४७४) में लिखा है कि मूसा के समूचे कानून में इस बात का कहीं हल्का भी संकेत नहीं है कि किसी निश्चित आयु में पितृ प्रभुत्व घटेगा और पुत्रों को स्वतन्त्रता प्राप्त होगी। रोम में प्रौढ़ आयु के बेटे और उन के बच्चे गृहपति की इच्छा के ही आधीन रहते थे। (जस्टीनियन वहीं १।९।३) मैडर्स्ट ने लिखा है कि चीन में यह सिद्धान्त सर्व-मान्य है कि कोई व्यक्ति, भले ही उस की आयु कितनी अधिक क्यों न हो—अपने मां-बाप या बड़े सम्बन्धियों के जीवित रहते हुए, अपनी इच्छा से विवाह नहीं कर सकता (रायल एशि० सोसा० की चीनी शाखा की पत्रिका खण्ड ४ पृ० ११) कुछ अन्य जातियों में प्राचीन काल में असाधारण पितृप्रभाव के रहते हुए भी एक निश्चित आयु में पहुँच कर सन्तान को स्वतन्त्रता मिल जाती थी। एथेन्स में पुत्र २० वर्ष तक ही पिता को शासन सत्ता में में रहता था, उसके बाद वह विवाह करने में स्वतन्त्र होता था। पेरु के इन्का लोगों में लड़का २५ साल की अवस्था में माता पिता से स्वतन्त्र हो जाता था।

३२. नारद ऋणादान २७-३३ स्वातन्त्र्यं हि स्मृतं ज्येष्ठे, ज्यैष्ठ्यं गुण-वयः कृतम्। त्रयः स्वतन्त्राः लोकेऽस्मिन् राजाचार्यस्तथैव च। प्रति प्रति च सर्वेषां वर्णानां स्वगृहे गृही।..........अस्वतन्त्राः स्त्रियः पुत्रा दासाश्च स

नारद के इस कथन का सीधा सादा मतलब यह है कि परिवार में पिता की प्रभुता सर्वोच्च है। पुत्र चाहे बूढ़ा भी हो, किन्तु बाप के रहते हुए स्वतन्त्र रूप से कोई काम नहीं कर सकता। उस की यह व्यवस्था जस्टीनियन (१।९।३) से पूरा मेल खाती है। पिता के प्रभुत्व का इससे अधिक प्रबल अन्य प्रमाण नहीं है। किन्तु ऐसा जान पड़ता है कि नारद यहां आदर्श स्थिति का वर्णन करता है, वास्तविक स्थिति का नहीं; क्योंकि अन्यत्र व्यवहार में वह पिता से कुछ अधिकार छीनता है। हम ऊपर देख चुके है कि वसिष्ठ माता पिता को अपने पुत्रों को दान करने का अधिकार मानता है। (१५।१-२); किन्तु नारद अपने पुत्र और पत्नी के दान का निषेध करता है [३३] और इस प्रकार गृही की स्वतंत्रता को बहुत कुछ मर्यादित करता है।

**पिता के प्रभुत्व को मर्यादित करने वाली व्यवस्थायें**—यह सम्भव है कि नारद द्वारा प्रतिपादित स्थिति हिन्दू परिवार में रही हो; किन्तु वह बहुत अधिक समय तक नहीं रही। ४ थी शती ई० पू० से हम पिता के अधिकार को मर्यादित करने वाली व्यवस्थाओं का स्पष्ट उल्लेख पाते हैं। कौटिल्य ने कहा (३।१३) कि बच्चों को बेचने व गिरवी रखने से म्लेच्छों को कोई पाप नहीं लगता, किन्तु आर्य कभी दास नहीं हो सकता (आर्य की सन्तान को कभी नहीं बेचा जा सकता) [३३] क हम ऊपर मनु की इस व्यवस्था का उल्लेख कर चुके हैं कि पुत्र के कमाए हुए धन पर पिता का पूरा अधिकार होता है (८।४१६)। किन्तु याज्ञ० (२।११८-१९) ने इस सिद्धान्त को परिवर्तित कर के पिता के प्रभुत्व को एक जबर्दस्त चोट पहुँचायी है, वह पुत्रों द्वारा स्वोपार्जित धन पर दायादों का अधिकार नहीं समझता (मि० मनु० ९।२०८)। मनु ने अपविद्ध पुत्र का अवश्य वर्णन किया है (९।१७१), किन्तु उसे इस प्रकार माता पिता द्वारा पुत्र का त्याग अभिमत नहीं था। उसने निरपराध पुत्र को छोड़ने वाले पिता के लिये ६०० पण के दण्ड की व्यवस्था की है (८।३८९)। कात्यायन के मत

---

परिग्रहः। जीवतोरस्वतन्त्रः स्याज्जरयापि समन्वितः। तयोरपि पिता श्रीमान् बीजप्राधान्यदर्शनात्। अभावे बीजिनो दाता तदभावे च पूर्वजः।

३३. नारद दत्ताप्रदानिका ४ निक्षेपः पुत्रदारं च सर्वस्वं चान्वये सति। आपत्स्वपि हि कष्टासु वर्त्तमानेन देहिना। यच्चान्यस्मै प्रतिश्रुतम्। मि० याज्ञ० २।१७५ स्वं कुटुम्बाविरोधेन देयं दारसुतादृते।

३३. क म्लेंच्छानामदोषःप्रजां विक्रेतुंमाधातुं वा। न त्वेवार्यस्य दासभावः।

में पिता को पुत्र तथा स्त्री के अनुशासन का अधिकार है, किन्तु उस के विक्रय और दान का अधिकार नहीं है (दे०ऊ०पृ० १०८)। इन व्यवस्थाओं से स्पष्ट है कि यदि किसी समय पितृप्रभुत्त्व कुछ काल के लिये निरंकुश रूप में था तो बाद में उसे बहुत मर्यादित कर दिया गया।

**प्रभुत्व घटने के कारण (क) वानप्रस्थ की व्यवस्था**––प्राचीन हिन्दू परिवार में पिता का प्रभुत्व घटने के कई कारण थे। पहला कारण वानप्रस्थ की व्यवस्था थी। मनु ने कहा––'गृहस्थ जब यह देखे कि शरीर पर झुर्रियां पड़ गयी हैं, बाल सफेद हो चले हैं और पुत्र का पुत्र उत्पन्न हो गया है तो वह वन में चला जाय [३४]। यह समझा जाता था कि ५० वर्ष की आयु के बाद, मनुष्य को अपनी सांसारिक सम्पत्ति, प्रभुत्त्व और शक्ति लड़कों को देकर अपना शेष जीवन आध्यात्मिक उन्नति में लगाना चाहिये। अन्य धर्मशास्त्रों ने इस विषय में अनेक नियम बनाये हैं[३५]। वास्तव में यह एक अत्यन्त दूरदर्शितापूर्ण व्यवस्था थी। आज हमारे परिवारों की अशान्ति का एक प्रधान कारण यह भी है कि व्यक्ति वृद्ध होने पर भी अपने अधिकारों से चिपटा रहना चाहते हैं, उनकी अधिकार लोलुपता से नवयुवकों को कार्य का अवसर नहीं मिलता, अतः स्वाभाविक रूप से उन का वृद्धों से संघर्ष होता है। वानप्रस्थ की व्यवस्था से यह कलह दूर हो जाती है। इससे नारद की यह उक्ति व्यर्थ हो जाती है कि पुत्र के बूढ़ा होने पर भी वह अपने जीवित पिता के आधीन ही रहे। हमारे पास यह जानने का कोई साधन नहीं है कि सब पुरुष आवश्यक रूप से वानप्रस्थ होते थे या नहीं। धर्मशास्त्रों में इस आश्रम का सर्वत्र ठीक वैसे ही विधि रूप में वर्णन है, जैसा गृहस्थाश्रम का, अतः यह सम्भावना की जा सकती है कि इस का पालन होता होगा। इस से पितृप्रभुत्त्व की मात्रा में पर्याप्त कमी हुई होगी। मेन को हिन्दू पिता का पूर्ण प्रभुत्त्व मानने में मुख्य बाधा वानप्रस्थ व्यवस्था थीं, उन्होंने इस बाधा को यह कह कर टाल दिया है––"इन वानप्रस्थपरक वचनों का कुछ भी अर्थ क्यों न हो, मैं यह नहीं मान

---

३४. मनु० ६।२ गृहस्थस्तु यदा पश्येद्वलीपलितमात्मनः। अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत्।

३५. गौ० ध० सू० ३।२५-३४, आप० ध० सू० २।९।२१।१८-२१, बौधा० ध० सू० ३।३, वसिष्ठ ध० सू० ९, याज्ञ० १।४५-५५, महाभा० १२। २४५।१-२४

सकता कि इन वचनों से इस सम्मति को कुछ समर्थन प्राप्त होता है कि पुत्र पिता की इच्छा के विरुद्ध पारिवारिक सम्पत्ति का किसी भी समय बंटवारा कर सकते थे[३६]। बंटवारे के प्रश्न पर १३ वें अध्याय में विचार होगा। किन्तु यहां इतना कहना पर्याप्त है कि वानप्रस्थ की व्यवस्था से पिता स्वेच्छापूर्वक अपने अधिकारों को छोड़ देता था। वानप्रस्थ की व्यवस्था भले ही बहुत अधिक न चली हो; किन्तु इस से पिता के अधिकारों में काफी कमी आयी होगी।

**(ख) शारीरिक अशक्ति**——यह प्रश्न हो सकता है कि वानप्रस्थ द्वारा पिताओं ने अपने अधिकारों का छोड़ना क्यों स्वीकार किया? शक्ति एक प्रकार का मद है और विवशता से ही इसका त्याग हो सकता है। यह लाचारी वृद्धों की अन्तिम समय की कमजोरी है। पिता के प्रभुत्त्व का एक बड़ा कारण शारीरिक शक्ति भी है। इसके भय से बचपन में निर्बल सन्तान शक्तिशाली पिता के प्रभुत्त्व को स्वीकार करती है। किन्तु वृद्धावस्था आने पर पिता का बल क्षीण हो जाता है। पुत्रों को अब उसका कोई भय नहीं रहता। इसके साथ ही पिता इस समय जीवन निर्वाह के लिये पुत्रों पर अवलम्बित होता है। कभी उसने सन्तान का भरण-पोषण किया था; किन्तु अब उसे अपने भरण-पोषण के लिये उन का मुंह ताकना पड़ता है। इस दशा में उसका रोब घटना स्वाभाविक है। वृद्धावस्था में पिता के प्रभाव का भौतिक आधार लुप्त हो जाता है और उसे नैतिक कर्त्तव्यों के आधार पर अक्षुण्ण रख जाता है[३७]। यह कहा जाता है कि वृद्धावस्था में उनका अनुभव बढ़ जाता है, वृद्धों का अभिवादन और सेवा करनी चाहिये। इस से आयु, विद्या और बल बढ़ते हैं[३८]। किन्तु इन सब विश्वासों के बावजूद, इस वास्तविक स्थिति का अपलाप नहीं

---

३६. मेन० वहीं, पृ० १२२, मेन का यह कथन ठीक नहीं कि वैदिक युग में बंटवारा नहीं होता था, दे० ऊ० पृ० ४५–४६ तथा अध्याय १३

३७. कई जंगली जातियों में वृद्ध कुछ धार्मिक विश्वासों के कारण अपनी सर्वोच्च स्थिति बनाये रखते हैं। अफ्रीका में कहा जाता है कि बुढ़ापा और बुद्धि दोनों साथ साथ चलते हैं। मूर लोग कहते हैं——व्यक्ति बूढ़ा हो कर पीर (सन्त) हो जाता है। सर्ब लोगों की एक कहावत है कि बूढ़े आदमियों के सत्कार के विना मुक्ति नहीं है ( वै० शा० हि० मै० पृ० १४६-४७ )

३८. मनु० २।१२१ ; अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः। चत्वा रि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम्॥

हो सकता कि पिता शारीरिक दृष्टि से असहाय होने पर अपनी सन्तान की दया पर जीता है। इस अवस्था में उसकी पूर्ण प्रभुता रहना असम्भव है।

**परासन की पद्धति**--प्राचीन हिन्दू परिवार में इस शक्ति को कम करवाने के लिये पुत्रों ने बल का कहां तक प्रयोग किया था, यह जानने के लिये हमारे पास कुछ निश्चित साधन नहीं है। दूसरी जातियों के उदाहरण से यह ज्ञात होता है कि कुछ समाजों में पुत्रों ने जहां पिता को वृद्धावस्था में अपने परिवार पर भार समझ कर मारना शुरू किया, वहां पिता के अधिकार का बड़ी शीघ्रता से लोप हुआ। उदाहरणार्थ, ट्यूटन लोगों में जहां एक ओर पिता को नाबालिग बच्चों को बेचने या जंगल में जानवरों का भक्ष्य बना देने का अधिकार था, वहां दूसरी ओर बालिग लड़के भी अपने कमजोर और बूढ़े मां बाप का वध कर डालते थे, अतः वहां पिता का अधिकार पुत्र पर उसी समय तक रहता था, जब तक कि वह युवा नहीं हो जाता था[३९]। ज़िमर का यह मत है कि वैदिक युग में बेटे बूढ़े माता पिता को मार देते थे या जंगली जानवरों के खाने के लिये उन्हें जंगल में छोड़ देते थे[४०]। किन्तु उस ने अपनी स्थापना की पुष्टि में बहुत निर्बल प्रमाण ( ऋ० ८।५१।२, अथर्व १८।२।३४ ) उपस्थित किये हैं। इन प्रमाणों में उसका आधार 'उद्धित्' शब्द है। इसका अर्थ है उठाकर अलग रखा हुआ। अथर्ववेद वाले प्रकरण में यह शब्द पितृमेध सूक्त में शवों के प्रसंग में आया है। उस समय शवों को जलाने और गाड़ने की दोनों विधिया बरती जाती थी। पहले प्रकार के शव को अग्निदग्ध ( ऋ० १०।१५। १४, अथर्व० १८।२।३४ ) कहते थे और दूसरे को अनग्निदग्ध ( ऋ० वहीं अथर्व० वहीं)। अनग्नि दग्ध शव या तो गाड़े जाते थे (निखात), या फेंक दिये जाते थे या उन्हें जंगल में खुला (उद्धित) छोड़ दिया जाता था। १८। २।३४ में मृत शरीर के ही उद्धित करने का वर्णन है, जीवित शरीर का नहीं। ऋग्वेद वाले मन्त्र में कहा गया है कि पार्षद्वाण ने अपने बूढ़े सोते हुए पिता को उद्धित अर्थात् जंगल में खुला छोड़ दिया[४१]। किन्तु इस एक प्रमाण के आधार पर इस प्रथा का प्रचलन सिद्ध करना बहुत कठिन है। मैक-डानल और कीथ ने लिखा है--'यह सन्दर्भ केवल बाहर फेंके गए किसी एक

---

३९. वै० हि० ह्यूमें पृष्ठ २३३।

४०. वै० इं० खं० १ पृ० ५२७ पर उद्धृत।

४१. ऋ० ८।५१।२ पार्षद्वाणः प्रस्कण्वं समसादयच्छयानं जिव्रिमुद्धितम्।

व्यक्ति के उदाहरण को सूचित करता है और इस प्रथा के प्रचलित या स्वीकृत होने के सम्बन्ध में कुछ भी सिद्ध नहीं कर सकता"[४२]।

अपने बूढ़े पिताओं को इस प्रकार उद्धित करके मारना तो दूर रहा, हम इसके सर्वथा प्रतिकूल वैदिक युग में पुत्रों को वृद्ध मातापिता की पूजा करते हुए पाते हैं। ऋ० १।७०।५ में कहा गया है मनुष्य अनेक यज्ञों द्वारा अग्नि की विविध प्रकार से पूजा करके उससे वैसे ही धन प्राप्त करते हैं, जैसे पुत्र (वृद्ध पिता की पूजा द्वारा) उससे धन पाते हैं[४३]। अतः वैदिक युग में परासन या उद्धिति (Exposure) द्वारा मां बाप को मारने की परिपाटी नहीं थी और इस प्रथा ने हिन्दू परिवार में पिता के प्रभुत्व को घटाने में कोई हिस्सा नहीं लिया।

(ग) **पिण्डदान**—पिता का प्रभुत्व घटने का तीसरा बड़ा कारण पिण्डदान की चिन्ता थी। पिण्डदान के लिए पुत्र आवश्यक ही नहीं, किन्तु अनिवार्य माना जाता था। श्राद्ध के समय पुत्र द्वारा दिए जाने वाले अन्न से ही पितर जीवित रहा करते थे। पितरों को अविच्छिन्न रूप से स्वधापहुँचाते रहना पुत्रों पर ही अवलम्बित था। अतः पिता के लिये यह आवश्यक था कि वह पुत्र को प्रसन्न रखे। पुत्रों पर अनुकम्पा के भाव ने ही मनोवैज्ञानिक रूप से, पिता पर यह प्रभाव डाला होगा कि वह पुत्रों के साथ कुछ उदारता का व्यवहार करे।

**पिता के विवाह विषयक अधिकार**—पूर्ण पितृप्रभुत्त्व वाले समाजों में पिता ही अपनी सन्तान का विवाह करता है, सन्तान को अपनी इच्छा से जीवन-संगी चुनने की स्वतन्त्रता नहीं होती[४४]। इस दृष्टि से देखा जाय तो वैदिक

---

४२. वै० इं० खण्ड १ पृ० ३९५ व ५२७

४३. ऋ० १।७०।१० वि त्वा नरः पुरुत्रा सपर्यन् पितु र्न जिव्रेर्वि वेदो भरन्त।

४४. मैक्सिको में माता पिता की आज्ञा से बिना पूछे शादी करवाने वाले को प्रायश्चित्त करना पड़ता है। चीनियों में व्यक्ति चाहे कितनी बड़ी आयु का हो जाय, मां बाप या अन्य बड़े सम्बन्धी के जीवित रहते हुए वह स्वतन्त्रता पूर्वक विवाह नहीं कर सकता, उन में अभिभावकों की शक्ति इतनी अधिक है कि वे अपनी सन्तान के विदेश में होने पर भी उसका सम्बन्ध निश्चित कर देते है और लौटने पर उसे माता पिता द्वारा निश्चित व्यक्ति से ही शादी करनी पड़ती है। इस पद्धति का परिणाम यह हुआ है कि विवाह के समय ही पति अपनी पत्नी के चेहरे को पहली बार देखता है (ग्रे चाइना-खं० १ पृ० २०५, १९८)

युग में पिता का अधिकार बिल्कुल नगण्य था। वैदिक युग में स्त्री और पुरुष दोनों को अपना साथी चुनने की स्वाधीनता थी। ज़िमर ने (पू० नि० पु० पृष्ठ ३०९) यह माना है कि विवाह में माता पिता या भाई की स्वीकृति लेना आवश्यक था, किन्तु उसने अपनी स्थापना के समर्थन में कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं दिया। माता पिता अपने युवा पुत्र या पुत्री की शादी का नियन्त्रण करते थे, इस की कोई साक्षी नहीं है, यद्यपि इस में कोई संदेह नहीं कि वे अपनी सन्तान के लिये उपयुक्त वर अवश्य ढूंढ़ते थे (वै० इं० १।४८२ व ५२७)। गान्धर्व विवाह का वैदिक युग से प्रचलन था और स्मृतियों में भी इसे स्वीकार किया गया है ( मनु० ३। ३२ )। यह वर वधू की इच्छा से होता था। वात्स्यायन ने इस विवाह का बड़ा विस्तृत और मनोरंजक वर्णन किया है। कन्याओं को स्वयंवर में वरण स्वातन्त्र्य प्राप्त था। ६ठी शती ईस्वी पूर्व में बाल विवाह के प्रचलित होने से पहले कन्याओं का वरण-स्वातन्त्र्य छिना और फिर पुत्रों का। संभवतः यही एक एक ऐसा अधिकार है, जिसका हिन्दू पिताओं ने पिछली कई शताब्दियों में पूर्ण शक्ति के साथ प्रयोग किया है।

**वैदिक युग में पिता के पूर्ण प्रभुत्त्व विरोधी तथ्य**—वैदिक युग में पिता के पूर्ण प्रभुत्व पर विचार करते हुए हमें कुछ अन्य महत्त्व पूर्ण तथ्यों की ओर ध्यान देना चाहिये। ये इस बात को सूचित करते हैं कि वैदिक युग में पिता को अपने परिवार पर पूरी प्रभुता नहीं थी। ऋ० १०।८५।४६ में नवोढ़ा वधू को यह आशीर्वाद दिया गया है कि तू अपने श्वशुर, अपनी सास, अपनी ननद और देवरों पर शासन करने वाली (सम्राज्ञी) हो[४५]। यदि पुत्र का घर में

---

रोमन सन्तान की विवाह विषयक पराधीनता का पहले उल्लेख हो चुका है। टयूटनों में भी अभिभावक की स्वीकृति आवश्यक थी। पिता अपनी इच्छानुसार लड़की को दे सकता था। मध्यकाल में माता पिता के न रहने पर अपनी इच्छा नुसार सम्बन्धियों से विना पूछे विवाह करने वाली कन्या निन्दा का पात्र बनती थी ( वीन होल्ड० वै० हि० हृय० मै० में उद्धृत पृ० २३७ )

४५. ऋ० १०।८५।४६ सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव। ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधि देवृषु॥ मेयर ने इस पर बड़ी मनोरंजक आपत्ति की है ( सै० ला० पृ० ४०३ ) महा० में अनेक स्थानों (१।८२।१६,८। ६९। ३३, ६२; १२।३४।२५, १६५।३० ) में कहा गया है कि विवाह के समय झूठ बोलना जायज है, किन्तु उन्होंने स्वयं यह भी माना है कि महा० के आधार पर वैदिक युग के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा जा सकता।

कोई प्रभाव न हो और पिता का ही वहां पूर्ण साम्राज्य हो तो वधू को यह आशीर्वाद देना व्यर्थ है। पत्नी रानी की तरह वहीं शासन कर सकती है, जहां उसका पति राजा हो। इस मन्त्र से यह स्पष्ट है कि विवाह के बाद घर में पत्नी का शासन चलता था। मैकडानल व कीथ ने यह कल्पना की है कि कि श्वशुर बूढ़ा होने पर पुत्रवधू द्वारा शासित होता था ( वै० इं० १। ५२७ )। किन्तु इस मन्त्र के अगले पिछले सारे प्रकरण में वृद्धावस्था का कोई संकेत नहीं है।

पूर्ण प्रभुत्व वाले समाजों में पुत्र बड़ा होने तथा विवाह करने पर भी पिता के परिवार का ही सदस्य बना रहता है, किन्तु वैदिक समाज के सम्बन्ध में ऐसी बात नहीं कही जा सकती। इस बात को सिद्ध करने के लिये हमारे पास कोई प्रमाण नहीं है कि पुत्र बड़ा होने तथा विवाह करने पर पिता के साथ रहता था या अपना घर अलग बसाता था। शायद इस विषय में विभिन्न रिवाज थे ( वै० इं० वहीं )। किन्तु यह स्पष्ट है कि युवा होने पर पिता का अपने पुत्र पर अधिकार बहुत कम हो जाता था। पूर्ण पितृप्रभुत्व वाले समाजों में पुत्र का सम्पत्ति पर स्वत्त्व पिता के मरने पर ही होता है, किन्तु वैदिक युग में पुत्र पिता की सम्पत्ति को उसके जीवन काल में ही बांट लिया करते थे। मनु के पुत्र नाभानेदिष्ठ की कथा से यह बात स्पष्ट हो जाती है (ऐ० ब्रा० २२।९ )। उसके वेदाभ्यास के समय में ही, उसके भाइयों ने पिता का सारा धन आपस में बांट लिया और उसके लिये कोई हिस्सा शेष नहीं रखा। अध्ययन की समाप्ति पर घर लौटने पर उसने भाइयों से अपना हिस्सा मांगा। भाइयों ने उसे पिता के पास भेज दिया। उसने पिता से अपना हिस्सा मांगा, पुत्र पिता का सारा धन ले चुके थे। अब पिता ने उसे अंगिरा ऋषि की यज्ञ में सहायता कर उससे धन प्राप्त करने की सलाह दी। इस से स्पष्ट है कि उस समय पुत्र पिता की सम्पत्ति का स्वयमेव बँटवारा कर लेते थे, पिता को उस में कोई हिस्सा नहीं मिलता था। पूर्ण पितृप्रभुत्व वाले समाज में यह सर्वथा अचिन्तनीय और अकल्पनीय स्थिति है।

कीथ और मैकडानल का यह मन्तव्य है 'फिर भी ( ऋज्राश्व के उदाहरण के पुष्ट प्रमाण न होने पर भी )प्रारम्भ में (अन्य आर्य जातियों में) पिता का अपरिच्छिन्न प्रभुत्व इस बात का प्रमाण है कि वैदिक आर्यों में भी यह स्थिति रही होगी ( वै० इं० १।५२ ६) । हम यह देख चुके हैं कि हर्न और फुस्तल दी कूलांज को भी रोमन समाज के अमर्यादित पितृ प्रभुत्त्व ने यह कल्पना करने

को प्रेरित किया था कि अन्य आर्यजातियों में भी पिता का इस प्रकार का अपरिच्छिन्न अधिकार था। वास्तव में यह कोई युक्ति नहीं है कि रोमन आर्यों में इस प्रकार की व्यवस्था थी, अतः वह व्यवस्था अन्य आर्य जातियों में भी होनी चाहिये। सर हेनरी मेन ने स्वयं यह स्वीकार किया है ( एं० ला० पृ० १३६ ) कि यूनानियों में पिता का अधिकार पुत्र की नाबालिगी तक ही था। एथेन्स में २० वर्ष तक ही पुत्र पिता के प्रभुत्व में रहता था। ओडिसी में वर्णित उलीसस और उस के बेटे की कथा से सूचित होता है कि कुछ अवस्थाओं में बूढ़े पिता को परिवार के स्वामी पद से हटाया भी जा सकता था। जब रोम अपने समीपस्थ यूनान की समाजव्यवस्था को प्रभावित नहीं कर सका तो उसने सुदूरस्थ वैदिक आर्यों की परिवार व्यवस्था को प्रभावित किया हो, इसकी संभावना बहुत कम प्रतीत होती है। अतः अन्य प्रमाणों के अभाव में तथा पितृसत्ता विरोधी स्पष्ट प्रमाणों के होते हुए कीथ का यह कथन युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता कि वैदिक युग में पिता को अपने परिवार पर पूर्ण प्रभुत्व था; यद्यपि पिता को कुछ स्थानों पर अपने पुत्रों के विक्रय का अधिकार अवश्य प्राप्त था।

**हिन्दू पिता के अधिकारों का ऐतिहासिक विकास**––वैदिक युग के बाद सम्भवतः पिता के पुत्र विक्रय के अधिकार में वृद्धि हुई। धर्मसूत्रों के समय वसिष्ठ इस अधिकार का प्रबल समर्थन करता है। किन्तु यह व्यवस्था देर तक नहीं चली। ६ठी शती ईस्वी पूर्व से इस विषय में पिता के अधिकार को नियन्त्रित किया जाने लगा। संभवतः वानप्रस्थ इस का मुख्य साधन था। लगभग इसी समय से बाल विवाह का प्रचलन होने से पिता का अपनी सन्तानों के विवाह को नियन्त्रण करने का अधिकार बढ़ गया। गुप्तयुग तक पिता के सन्तान को पीटने व बेचने के अधिकार को नियन्त्रित कर दिया गया। किन्तु बाल विवाह की वृद्धि के साथ सन्तान पर उसका प्रभाव अधिक बढ़ता गया। मध्ययुग में वह प्रभाव बहुत अधिक हो गया[४६]। इस युग में पिता के पुत्र के साथ सम्पत्ति

---

४६. यूरोप में भी इस समय परिवार पर पिता का पूर्ण प्रभुत्व माना जाता था। प्रसिद्ध फ्रेंच कानून शास्त्री बोदिन ने १६ वीं शती के अन्त में यह लिखा था, यद्यपि राजा का अपनी प्रजा पर, गुरु का शिष्य पर, सेनापति का सैनिकों पर शासन है किन्तु प्रकृति ने पिता के अतिरिक्त किसी को शासन सत्ता नहीं प्रदान की। पिता महान् सम्राट् ईश्वर की सच्ची प्रतिमा है ( डिरिपब्लिका

में तुल्य स्वामित्व के सिद्धान्त ने पैतृक प्रभुत्त्व को कुछ नियन्त्रित करने का यत्न किया। इस युग के अन्त में नेल्सन ने मद्रास के हिन्दू परिवार की चर्चा करते हुए लिखा है—"यह एक असंदिग्ध तथ्य है कि मद्रास प्रान्त के हिन्दुओं में आज कल पिता को राजा समझा जाता है। उस पर आश्रित परिवार के लिये वह निरंकुश सम्राट है। उसका वचन कानून है। वह वास्तव में अपने परिवार पत्नी, पुत्र, दास और सम्पत्ति का स्वामी है[४७]।

१९ वीं शती के अन्त तक वास्तविक रूप से भले ही पिता परिवार का राजा हो, किन्तु कानूनी दृष्टि से उस पर पर्याप्त नियन्त्रण था, यह स्मरण रखना चाहिये कि हिन्दू परिवार में पिता का सम्राट का सा प्रभुत्व नैतिक दृष्टि

---

१४ पृ० ३१) सली के, ड्यूक ने अपने संस्मरणों (मेमायर्स खं० ५ पृ० १०) में लिखा है—उस समय फ्रांस में बच्चे माता पिता की आज्ञा न होने पर उनके पास नहीं बैठ सकते थे। हेनरी तृतीय (१५६६) लुई १३वें (१६३९) लुई १४ वें (१६९७) ने इस आशय की आज्ञायें प्रचारित की थी कि माता पिता की अनुमति के विना ३० वर्ष की आयु से पहले कोई लड़का शादी नहीं कर सकता और लड़कियां २५ वर्ष की आयु से पहले विवाह नहीं कर सकती। यदि कोई इस आज्ञा की अवहेलना करता था तो उसे उत्तराधिकार से वंचित कर दिया जाता था। यह बड़े आश्चर्य की बात है कि समानता, स्वतंत्रता और भ्रातृत्व की उद्घोषण करने वाली फ्रेंच राज्य क्रान्ति के बाद, नेपोलियन के समय जो नया दीवानी कोड बना, उसमें पिता को बहुत अधिक अधिकार दिये गये हैं। २१ वर्ष से पहले लड़का पिता की अनुमति के विना पितृगृह नहीं छोड़ सकता था। केवल फौज में भरती होने के लिए उसे अनुमति की आवश्यकता नहीं थी (धारा ३७४), बालक के बड़ा अपराध करने पर पिता के पास उसे दण्ड देने के जबर्दस्त साधन थे (धारा ३७५-८३), पुत्र और पुत्री २५ और २१ वर्ष तक माता पिता की अनुमति के बिना विवाह नहीं कर सकते थे धारा (१४८) इन्हीं बातों को देखते हुए पिछली शती में श्री गुरुदास बैनर्जी ने लिखा था (हिन्दू ला आफ मैरिज एण्ड स्त्रीधन पृ० १७९) वर्त्तमान समय की किसी भी उन्नत कानून पद्धति में पिता को जितने अधिकार दिये गये हैं, हमारे कानून में उसे उतने ही अधिकार प्राप्त है। वस्तुतः ये अधिकार इतने अधिक नहीं हैं, जितने नेपोलियन के कोड में (३७१-३८७) पिता को दिये गये हैं।

४७. नेल्सन—हिन्दू व्यू आफ लाइफ, पृ० ३८

से ही था। पिता बच्चे से सेवा तथा आज्ञा-पालन की आशा रखते थे, पर वे उन्हें बाध्य नहीं कर सकते थे। धर्मशास्त्रों ने उनके कानूनी अधिकार बहुत कम कर दिये थे। मनु ने पीटने के अधिकार को मर्यादित किया था। नीति के एक पुराने श्लोक के अनुसार १६वें वर्ष से पुत्र के साथ मित्र का व्यवहार करना उचित है (प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्र मित्रवदाचरेत्)।

**पिता के अन्य कानूनी अधिकार और कर्त्तव्य--सन्तान का भरण पोषण--** पहले यह बताया जा चुका है कि पिता का मुख्य कार्य सन्तान का भरण पोषण है। पिता शब्द से यह सूचित होता है कि वह बच्चों की रक्षा तथा पालन पोषण करता है। अतः धर्मशास्त्रों में स्वाभाविक रूप से पिता का यह मुख्य कार्य बताया गया है। मनु के अनुसार न करने योग्य सैकड़ों काम करने पड़ें तो उन्हें भी करके सन्तान का पालन अवश्य करना चाहिये[४८]। बच्चों के पालन पोषण में वैध और अवैध शिशुओं का भेद करना बहुत अन्याय पूर्ण है। यदि अवैध सम्बन्ध बुरा है तो उसका दण्ड माता पिता को मिलना चाहिये। निर्दोष शिशु को इस कारण पिता के संरक्षण से वंचित करना क्रूरता है। विज्ञानेश्वर (१।१२३) जीमूतवाहन (दाय भाग ९।२८) नील कण्ठ (व्यवहार मयूख ४।४।३०) ने विवाहित शूद्रा से उत्पन्न सन्तान के भरण पाने का अधिकार स्वीकार किया था। वर्तमान अदालतों ने भी प्राचीन शास्त्रों का अनुकरण करते हुए जारज पुत्रों के अधिकार को माना है[४९]। उनका भरण का अधिकार इसलिए खण्डित नहीं हो जाता कि वे अवैध समागम का परिणाम हैं। शूद्रों में तो ऐसा पुत्र दाय का अधिकारी होता है। यह नियम हिन्दू स्त्रियों से उत्पन्न बच्चों पर ही लागू होता है। यदि किसी हिन्दू पुरुष के साथ किसी मुसलमान या ईसाई स्त्री के अवैध समागम से कोई सन्तान उत्पन्न हो तो वह जन्म से हिन्दू न होने के कारण, हिन्दू कानून की भरण पोषण सम्बन्धी व्यवस्था का लाभ नहीं उठा सकती[५०]।

---

४८. मनु० ९।११ वृद्धौ च माता पितरौ साध्वी भार्या शिशुः सुतः। अप्यकर्मशतं कृत्वा भर्त्तव्याः मनुरब्रवीत्। वर्त्तमान काल में क्रिमिनल ला प्रोसीजर कोड की धारा ४८८ के अनुसार पिता वैध तथा अवैध दोनों प्रकार के पुत्रों के पालन के लिये बाधित है।

४९. पन्डचा बनाम पाली १ म० हाई० रि० ४७८

५०. अद्दो पन्त बनाम वजन ४ कल० ला० रि० १५४

पुत्र को अपनी नाबालिगी तक ही पिता से भरण का अधिकार प्राप्त है। बालिग होने पर पुत्र पिता की स्वार्जित सम्पत्ति में से अपने पोषण के लिए हिस्सा नहीं मांग सकता। कलकत्ता हाईकोर्ट के एक स्पष्ट निर्णय के अनुसार पिता अपने युवा पुत्र के भरण पोषण के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता, भले ही वह लड़का किसी अस्थायी मानसिक पागलपन से या अन्य किसी रोग से पीड़ित भी हो[५१]।

यह प्रश्न विचारणीय है कि किस आयु में बालक को युवा समझा जाये। सामान्य रूप से बालिग होने पर उसे युवा समझा जाता है। यह स्मरण रखना चाहिये कि अँग्रेजी कानून के अनुसार पुत्र के युवा तथा बालिग होने पर भी निम्न अवस्थाओं में पिता को पुत्र पालना पड़ता है। (१) बीमारी या किसी दुर्घटना से पुत्र का आजीविका कमाने में असमर्थ होना (२) पुत्र का निर्धन होना[५२]। किन्तु भारतीय क्रिमिनल प्रोसीजर कोड (४८८) में सिर्फ यही कहा गया है कि बच्चे यदि अपना गुजारा करने में असमर्थ हैं तो वे पिता से भरण के अधिकारी है। इस में असमर्थता के कारणों की व्याख्या नहीं की गयी।

पुत्र यदि पिता की आज्ञा का पालन नहीं करता या पिता के साथ रहने से इंकार करता है तो इस कारण से उसका भरण पाने का अधिकार नष्ट नहीं होता, किन्तु भरण की मात्रा अवश्य कम की जा सकती है[५३]।

विज्ञानेश्वर ने पैतृक सम्पत्ति में पिता व पुत्रों का संयुक्त स्वत्व माना है। कई बार यह सम्पत्ति अविभाज्य होती है, इस अवस्था में बालिग होने पर तथा अत्यन्त आवश्यकता न होने पर भी पुत्र पिता से भरण पाने का अधिकार रखता है[५४]।

पिता से भरण पाने के लिये पुत्र को यह सिद्ध करना आवश्यक है कि पिता के पास भरण करने के लिए पर्याप्त धन है[५५]।

**गोद-लेने देने का अधिकार**—माता के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध होने पर भी सन्तान दूसरे को देने का पूर्ण अधिकार पिता को है। शायद यह पिता के

---

५१. अप्पा कानून बनाम अप्पू ११ म० ९१
५२. स्टीफन की टीकायें ( कमैंटरीज ) बुक खं० २, पृ० ३०२
५३. शार्दूल सिंह बनाम प्रताप सिंह (१८७७) पं० रिकार्डस् ४६
५४. हिम्मत सिंह गेचर सिंह बनाम गणपति सिंह १२ बं० ९४
५५. मुसम्मात नारायण कौर बनाम रोशन लाल ४नार्थ वैस्टर्न प्रा० १२३

पुत्रदान के पुराने अधिकार ( वसिष्ठ० १५।१-२ ) का ही परिष्कृत एवं विकसित रूप है। पिता के इस अधिकार में माता कोई बाधा नहीं डाल सकती। यदि माता अपना पुत्र देने में आपत्ति करे तो भी पिता को अपना पुत्र देने का अधिकार है; क्योंकि हिन्दू कानून की दृष्टि में जब एक व्यक्ति अपना पुत्र दत्तक बनाने के लिए देता है, उस समय वह संरक्षक की बजाय पूर्ण स्वामी के रूप में अपने अधिकार का प्रयोग कर रहा होता है[५६]।

**सन्तान का संरक्षण**—पिता बच्चों का स्वाभाविक संरक्षक है और बालिग होने तक बच्चे उसके संरक्षण में ही रहते हैं, किन्तु विवाह होने पर कन्या पति के संरक्षण में समझी जाती है। पिता के बाद संरक्षण का अधिकार माता का होता है, किन्तु कई बार पिता के होते हुए बच्चों का संरक्षण माता को दिया जाता है। मनु ने सन्तानपालन स्त्री का कार्य माना है ( ९।२७ )। प्रकृति ने स्वाभाविक रूप से उसे यह कार्य सौंपा है, अतः बच्चों की आयु बहुत छोटी होने तथा पिता के अनाचारी और दुर्व्यवहार करने वाला होने पर बच्चे माता के ही संरक्षण में रहते है[५७]। धर्म परिवर्तन करने पर भी पिता का बच्चों पर संरक्षण का उसका अधिकार बना रहता है।

**पुत्र द्वारा पिता का पालन**—पिता का यह कर्त्तव्य है कि वह अपनी सन्तान का पालन करे। इसी तरह सन्तान का भी यह दायित्व है कि वे अपने वृद्ध माता पिता का पालन करें। जाति के संरक्षण, कल्याण तथा पारिवारिक सुख के लिये दोनों व्यवस्थाओं का होना आवश्यक है। मनु ने (९।१०-११) में भरण योग्य व्यक्तियों में वृद्ध माता पिता का सब से पहले निर्देश किया है। अन्यत्र उसने माता पिता को छोड़ने वाले के लिये ६०० पण के दण्ड की व्यवस्था की है (८।३८९)। वर्त्तमान अदालतों ने इस अधिकार का समर्थन किया है[५८]।

**पिता का सन्तान से प्रेम**—पिता के अधिकारों की नीरस कानूनी चर्चा के बाद पितृ प्रेम के सरस विषय का प्रतिपादन उचित है। वैदिक काल से हिन्दू पिता अपने पुत्रों से बहुत स्नेह करते रहे हैं। ऋग्वेद में पिता पुत्र को हाथों पर उठाता है (१।४०।१), पुत्र स्नेह से पिता के आंचल को पकड़ता है (३।५३।२)

---

५६. चित को बनाम जानकी ११ बं० हा० रि० १९९

५७. हिन्दू ला आफ मैरिज एण्ड स्त्री धन पृ० १७६

५८. सावित्री बाई बनाम लक्ष्मी बाई २ बम्बई ५७३

पिता के घर आने पर दूर से प्रसन्नता पूर्वक शोर मचाता हुआ पिता के पास आता है। पिता का अपनी सन्तान पर बड़ा स्नेह है। वह अपनी सन्तान की जितनी सेवा करता है, उसका बदला कभी नहीं चुकाया जा सकता। रामचन्द्र ने (रामा० २।१११।९-१० ) महर्षि वसिष्ठ को कहा है कि—"माता पिता अपनी सन्तान के साथ व्यवहार करते हुए जो काम करते हैं, उसका प्रतिफल देना बड़ा कठिन है"। रामचन्द्र अपने पिता से जितना स्नेह करते थे, उससे अधिक उनके पिता उनसे करते थे। उन के वन जाने पर, दशरथ उनके अभाव में अधिक देर जीवित नहीं रह सके। अपनी सन्तान से अधिक प्रेम करने वाले हिन्दू पिताओं में सम्भवतः प्रथम स्थान शुक्राचार्य का है। अपनी लाड़ली बेटी देवयानी के आग्रह से उन्होंने अपने प्राणों को संकट में डाल कर कच को पुनरुज्जीवित किया, वृषपर्वा से झगड़ा किया, उसकी पुत्री शर्मिष्ठा को देवयानी की दासी बनाया, अपनी पुत्री के कहने पर उन्होंने उसका विवाह राजा ययाति से किया। पिता को पुत्र की मृत्यु से असह्य दुःख होता था। धृतराष्ट्र ने अपने पुत्रों की मृत्यु पर बड़ा हृदय विदारक विलाप किया (महाभारत ९।२।३)। 'निश्चय ही मेरा हृदय वज्र से बना हुआ और बड़ा कठोर है, क्योंकि पुत्रों की मृत्यु पर सहस्रधा विदीर्ण नहीं होता।' जब अन्धे हिन्दू पिताओं के पुत्रप्रेम की यह दशा है तो नेत्रवान् पिताओं के प्रेम की सहज में कल्पना की जा सकती है। वर्तमान काल के विदेशी प्रेक्षकों ने इस बात को अनुभव किया है कि हिन्दू पिता अपनी सन्तान से बहुत अधिक स्नेह करते हैं[५९]।

क्या माता पिता अपनी औरस सन्तानों के स्नेह में कोई भेद रखता था? महाभारत में चन्द्रा नगरी के एक ब्राह्मण का कथन है कि कुछ लोगों के मत में पिता पुत्र से अधिक स्नेह करता है, दूसरों का यह विचार है कि वह कन्या से अधिक प्रेम करता है; किन्तु मेरे लिये दोनों समान हैं[६०]। रामायण में कुछ भिन्न मत प्रकट किया गया है, इस के अनुसार पिता बड़े पुत्र को प्यार करता है और मां सबसे छोटे लड़के को[६१]। शुनःशेप की कथा में हम

५९. फुलर स्टडीज आफ इण्डियन लाइफ पृ० १६२ डुबोइस-हिन्दू मैनर्स एण्ड कस्टाज्ञ पृ० ३०७ डुबोइस के मत में कि यह यह प्यार बेवकूफी की हद तक पहुंचा हुआ है।

६०. महा० १।१५९।३७

६१. रामा० १।६१।१९ प्रायेण हि नरश्रेष्ठ ज्येष्ठाः पितृषु वल्लभाः। मातॄणां च कनीयांसस्तस्माद्रक्ष्ये कनीयसम्।

देख चुके हैं कि उसका यह दुर्भाग्य था कि वह उसका मंझला बेटा था और इस कारण उसे बिकना पड़ा। वास्तव में इस विषय में कोई एक नियम बताना बड़ा कठिन है। 'भिन्न रुचिर्हि लोकः' के अनुसार माता पिता के सन्तान के प्रति प्रेम में विविध स्थितियां दृष्टिगोचर होती हैं। यहां यह बताना अप्रासंगिक न होगा कि प्राचीन भारत में पिता अपने स्नेह का प्रदर्शन पुत्र का सिर सूंघ कर किया करते थे, काव्यों तथा नाटकों में 'शिरसि समाघ्राय, का बहुत प्रयोग हुआ है। रामायण के अनुसार (७।७१।७२ ) यह स्नेह की पराकाष्ठा है (स्नेहस्य परागतिः)।

----

# छठा अध्याय

## माता

माता का महत्व—वैदिक युग में माता—धर्मशास्त्रों में माता की उच्च स्थिति—महाभारत में माता की महिमा —माता की अपेक्षा पिता की आज्ञा का पालन धर्मानुकूल है—स्मृतियों व काव्यों में माता विदुला—शंकर की माता के प्रति श्रद्धाञ्जलि ।

**माता का महत्त्व**—विवाह और परिवार द्वारा मानवीय जीवन की धारा को अविच्छिन्न बनाये रखने के लिये यद्यपि पिता और माता दोनों का सहयोग आवश्यक है, किन्तु सन्तान को नौ मास तक गर्भ में धारण करने तथा प्रारम्भिक वर्षों में उसका पालन पोषण करने से माता का सन्तान के साथ पिता की अपेक्षा अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध होता है । माता देहदात्री होने के साथ ज्ञानदात्री भी है। सन्तान पर बचपन में माता के अच्छे या बुरे प्रभाव अमिट रूप से अंकित हो जाते हैं । वह बच्चों का पहला और सब से बड़ा गुरु है । माता का काम निर्माण करना है[1] । पहले बच्चा उसके रुधिर, हाड़, मांस से गर्भ में निर्मित होता है और जन्म लेने के बाद वह पालन पोषण से तथा उत्तम शिक्षा द्वारा उसका निर्माण करती है । नैपोलियन के शब्दों में बालक का भावी रूप माता की योग्यता पर ही अवलम्बित है ।

**वैदिक युग में माता**—ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर माता का वर्णन है ( १।२४।१,७।१०१।३ ) । इसे सबसे अधिक घनिष्ठ और प्रिय सम्बन्धी माना गया है । भक्त परमात्मा के पालक पिता के रूप से सन्तुष्ट नहीं, वह उसे माता भी बताता है[2] । अथर्व वेद में पुत्र को यह हिदायत दी गई है कि वह माता के अनुकूल मन वाला होकर रहे[3] । माता की उच्च-

---

१. माता शब्द की व्युत्पत्ति के बारे में कोई निश्चित मत नहीं है । सैण्टपीटर्सवर्ग कोश में इसे अनुकरणमूलक मा शब्द से बना हुआ माना गया है, किन्तु वाचस्पत्य शब्दकल्पद्रुम आदि कोशों में निर्माण वाची मा धातु से इसकी व्युत्पत्ति की गई है ।

२. ऋ० ८।९८।११ । त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ ।

३. अथर्व ३।३०।२ मात्रा भवतु सम्मनाः ।

स्थिति व प्रतिष्ठा इस बात से भी सूचित होती है, पिता के साथ उसका समास बनाते हुए उसे पहले स्थान दिया गया है (ऋ० ४।६।७)। तैत्तिरीय उपनिषद् के अनुसार आचार्य शिक्षा समाप्त कर लेने पर ब्रह्मचारी को उपदेश देता था कि माता की देवता की तरह पूजा करो। (मातृदेवो भव)। वैदिक युग में माताएँ अपनी लड़कियों को विवाह आदि के लिए अलंकारों से सजाया करती थीं (ऋ० १०।१८।११)। माताएँ अपनी कन्याओं के विवाह के बारे में पर्याप्त अधिकार रखती थीं। श्यावाश्व की इच्छा दार्भ की कन्या के साथ पाणिग्रहण करने की थी। किन्तु कन्या की माता ने श्यावाश्व को दरिद्र ब्राह्मण समझकर उससे अपनी लड़की का विवाह पसन्द नहीं किया। बाद में कठोर तपस्या से ऋषि तथा धनी बनने पर ही श्यावाश्व का विवाह दार्भ की कन्या के साथ हुआ[४]।

**धर्मसूत्रों में माता**—धर्मसूत्रों में माता सम्बन्धी कर्त्तव्यों की विवेचना कुछ अधिक विस्तार से है। ऊपर यह बताया गया है कि माता शिक्षक है। पुराने सूत्र-कारों में इस प्रश्न पर मतभेद था कि माता सर्वोत्तम गुरु है या आचार्य। गौतम धर्म सूत्र (२।५६) ने इस मतभेद का उल्लेख करते हुए कहा कि गुरुओं में आचार्य श्रेष्ठ है, किन्तु कुछ लोगों के मत में माता श्रेष्ठ गुरु है[५]।" माता के श्रेष्ठ गुरु होने में भले ही मतभेद हो; किन्तु गौरव की दृष्टि से सूत्रकारों ने उसे बड़ा ऊँचा स्थान दिया है। वसिष्ठ धर्म सूत्र (१३।४८) में कहा गया है कि आचार्य का गौरव दस उपाध्यायों से अधिक है, पिता सौ आचार्यों से अधिक महत्त्व सम्पन्न है और माता का गौरव एक हजार पिताओं से भी अधिक है[६]।

माता का इतना महत्त्व पूर्ण स्थान होने के कारण धर्म सूत्रों ने यह व्यवस्था की है कि माता की सेवा शुश्रूषा और भरण पोषण पुत्र का आवश्यक कर्तव्य है। कई बार ऐसी अवस्था उत्पन्न हो जाती है कि माता व्यभिचार आदि दोष से कलंकित अथवा अन्य कारणों से जातिभ्रष्ट या पतित हो; उस अवस्था में भी माता का भरण पोषण पुत्र का कर्त्तव्य है। पिता के पतित होने पर भले ही उस का भरण पोषण न किया जाए; किन्तु माता के पतित होने पर

४. बृहद्देवता ५।४१ अनु०।

५. आचार्यः श्रेष्ठः गुरूणां मातेत्येके।

६. वसिष्ठ ध० सू० (१३।४८) उपाध्यायाद्दशाचार्याः, आचार्याणां शतं पिता। पितुर्दशशतं माता गौरवेणातिरिच्यते। यह मनु० २।१४५, महा० भा० १३।१०५।१४, १२।१०८।१७ में भी पाया जाता है।

उसका भरण पोषण अवश्य किया जाना चाहिये। आप० ध० सू० (१।१०।२९।९) यह विधान करता है—माता ही पुत्र के लिए अधिकांश कार्य करती है। अतः उसकी सदा सेवा होनी चाहिये। उसके पतित होने पर भी उसका पालन उचित है। बौधा० धर्मसूत्र (२।२।४८) ने इस व्यवस्था में नाम मात्र का परिवर्तन किया है। वह कहता है कि पुत्र पतित माता का भरण पोषण करे, परन्तु उससे किसी प्रकार का भाषण या संलाप न करे। वसिष्ठ धर्मसूत्र (१३।४७) यह व्यवस्था करता है कि पतित पिता छोड़ा जा सकता है; किन्तु माता नहीं छोड़ी जा सकती[७]।

**महाभारत में माता की महिमा**—माता के विषय में महाभारत में जितने विस्तार से चर्चा है, उतनी शायद ही किसी अन्य ग्रन्थ में हो। गौतम आचार्य को श्रेष्ठ गुरु मानता था। किन्तु महाभारतकार के मत में माता सब से श्रेष्ठ गुरु है (१।१९६।१६), उस जैसा कोई गुरु नहीं है (१२।१०८।१८)[८]। भीष्म के कथनानुसार माता पिता और गुरु की पूजा करना ही सर्वोत्तम धर्म है, इनका सम्मान करने वाले सब लोकों में आदर पाते हैं, अपमान करने वालों के कार्य निष्फल तथा इहलोक और परलोक बिगड़ जाते हैं। माता पिता अपकारी होने पर भी अवध्य हैं (१२।१०६ अ०)। गौतम ऋषि के पुत्र चिरकारी ने उसके पिता का वेष धारण कर आनेवाले इन्द्र को आत्मदान करने वाली अपनी माता अहल्या के वध[९] के लिये पिता से आदेश पाने पर मातृ महिमा का सुन्दर चित्र उपस्थित किया है—'माता जैसी (शीतल) छाया, आश्रय-स्थान, रक्षा स्थान या प्रिय वस्तु नहीं है। वह सन्तान को जन्म देने से जननी, उसके अंगों के पुष्टि वर्धन से अम्बा और वीर सन्तानों को पैदा करने से वीरसू है। माता ही सब पीड़ितों का सुख है। उस के रहने पर सब सनाथ और न रहने पर अनाथ हो जाते हैं। माता से विमुक्त होने पर पुरुष वृद्ध और दुःखी होता है और उसके लिये जगत् शून्य हो जाता है[१०]।

---

७. आप० ध० सू० १।१०।२८।९ माता पुत्रत्वस्य भूयांसि कर्माण्यारभते। तस्यां शुश्रूषा नित्या पतितायामपि। बौ० ध० सू० २।२।४८ पतितामपि तु मातरं बिभृयादनभिभाषमाणः। वसिष्ठ ध० सू० पतितः पिता परित्याज्यः माता तु पुत्रे न पतति।

८. माता परमको गुरुः, नास्ति मातृसमो गुरु।

९ मातृवध महापाप है, मातृघाती सप्तम नरक में प्रविष्ट होता है (काशिका० ३।२।८८), भारतीय साहित्य में इसका केवल एक दृष्टान्त परशु

माता का इतना गौरवपूर्ण स्थान होने से उस की आज्ञा का पालन हिन्दू परिवार में पुत्र का परम धर्म है, किन्तु यदि माता और पिता के विरोधी आदेश हों तो धर्म संकट उत्पन्न हो जाता है। इस अवस्था में राम ने पिता की आज्ञा मानने पर ही बल दिया, कण्डू, सगर और परशुराम के उदाहरणों से पिता का वचन पालन करने की पुष्टि की, इसी लिये वे स्वयं कौशल्या के कथन की अवहेलना करके वन गये ( २।२१।२९-३७ )। किन्तु शंख लिखित ने माता पिता में विरोध होने पर माता के पक्ष का समर्थन किया है—"(किसी विवाद में ) पुत्र माता पिता के बीच में न पड़े, ( यदि पड़े तो ) तो वह माता की ओर से ही बोले। क्योंकि माता ने ही उसे गर्भ में धारण किया था, वही उस का धारण और पोषण करने वाली है[१०]।

महाभारत की अनेक कथाओं में पुत्रों का माता के प्रति अगाध स्नेह का तथा उसके दुःख दूर करने का वर्णन है। गरुड़ की माता विनता को अपनी सौत कद्रू के पुत्रों की धूर्त्तता से उस की दासी बनना पड़ा था। मातृभक्त गरुड़ भीषण कष्ट उठा कर अपनी माता की मुक्ति के लिये अमृत का घड़ा छीन कर लाये थे ( १।२६-३४ अ० ) पाण्डव अपनी माता कुन्ती के धृतराष्ट्र और गान्धारी के साथ अरण्य में चले जाने से इतने दुःखी हुए कि राज्य कार्य में असमर्थ हो गय ( १५।२२।१ अनु० )।

---

राम द्वारा रेणुका का वध है। (महाभा० वनपर्व ११६ अ०) इस कथा को अनेक विद्वानों ने आलंकारिक मानते हुए बड़ी मनोरंजक कल्पनायें की हैं। रसेल ने यह माना है कि रेणुका बौद्ध धर्म मानने वाला भारत है, उसे मारने से इंकार करने वाले चार बड़े भाई बौद्ध धर्मावलम्बी भारतीय राजा हैं, जमदग्नि ब्राह्मण पुरोहितों का प्रतीक है, जिस ने हूण जाति रूप परशुराम से बौद्ध धर्म का अन्त कराया है। यह वस्तुतः बौद्ध धर्म के विनाश की कहानी है (रसेल-दी ट्राइब्स एण्ड कस्टम्स् आफ दी सेण्ट्रल प्राविन्सिज खण्ड ४, पृ० ३३० ), एहरेनफेल्स ने रेणुका को मातृसत्ताक प्राचीन समाज का प्रतीक माना है और इस कथा में इसके जमदग्नि रूपी पितृसत्ताक समाज से संघर्ष की कल्पना की है (मदर राइट इन इंडिया पृ० १३७ )

१०. महाभा० १२।२६६।३१. नास्ति मातृसमा छाया नास्ति मातृसमा गतिः। नास्ति मातृसमं त्राणं नास्ति मातृसमा प्रिया।। मि० १२।१०८।१६-१८, १३।१०५।११६

**मातृस्नेह**—महाभारत में कई स्थानों पर मातृस्नेह का उज्ज्वल चित्र खींचा गया है। इन में पुत्र से मिलने पर माता के नेत्रों में आनन्दाश्रुओं का पूर उमड़ आता है और उस की छाती दूध से आर्द्र हो जाती है। अर्जुन के धनुर्विद्या के कौशल की प्रशंसा पर कुन्ती की नेत्र और छाती क्रमशः आंसुओं तथा दूध से क्लिन्न हो गये (१।१।३७।१३)। अपने कानीन पुत्र कृष्ण द्वैपायन को बर से देखने पर सत्यवती ने उनका बाहुओं से आलिंगन किया, उस समय उसका दुग्ध इतना अधिक प्रसृत हुआ कि वह उससे नहा गई, उसकी आंखों से आनन्दाश्रुबहाने लगे [११]। क्रोधभरी सुभद्रा अभिमन्यु की मृत्यु पर विलाप करते हुए मातृत्व की मधुर अनुभूति में उसके के शैशब का स्मरण करती हुई कहती है—हे वत्स! इधर आवो, इधर आओ। मैं तुम्हारे दर्शन से अतृप्त और हतभागिनी हूँ। तुम भूखे हो। मेरी गोद में चढ़ो और जल्दी से मेरे (दूध से) भरे हुए स्तनों का पान करो (७।७८।१६)

**स्मृतियों में माता**—स्मृति ग्रन्थों में माता को सर्वोच्च स्थान दिया गया है। मनु० (२।१४५), याज्ञवल्क्य (१।३५) माता को गुरु और पिता से ऊँचा स्थान देते हैं। अत्रि ने (१५१) कहा है कि माता से बढकर कोई गुरु नहीं है (नास्ति मातुः परो गुरुः)।

कालिदास ने नारी जीवन की सार्थकता मातृत्व में मानी है। कण्व शकुन्तला को विदा करते समय कहते हैं—तू पवित्र पुत्र को उत्पन्न करके मेरे विरह से उत्पन्न दुःख को भूल जाएगी (४।१८)। शकुन्तला नाटक की परिणति मातृत्व के साथ ही होती है। रघुवंश में (३।१-९) मातृत्व का बड़ा सुन्दर वर्णन है। पुराणों तथा तन्त्रों में माता को ही आद्यशक्ति मानकर जगदम्बा, जगज्जननी आदि अनेक नामों से उसकी पूजा की गई है। हर्ष चरित में प्रभाकर वर्धन की पत्नी देवी यशोवती चिता पर चढ़ने का निश्चय करती हुई कहती है 'मैं वीर-माता की सन्तान हूँ वीर पुरुष की पत्नी हूँ और मैंने वीर सन्तान उत्पन्न की हैं (वीरजा, वीराजाया, वीर जननी च), तुम जैसे पुत्रों ने मेरे स्तनों का दूध पिया है'। वास्तव में यशोवती को अपने वीरसू पुत्रों पर सच्चा अभिमान था।

---

११. संस्कारप्रकाश में उद्धृत पृ० ४७९ न मातापित्रोरन्तरं गच्छेत्पुत्रः। मातुरेवानुब्रूयात्। सा हि धारिणी पोषिणी च।

१२. महा० १।१०५।२६ परिष्वज्य च बाहुभ्यां प्रस्रवैरभ्यसिञ्चत। मुमोच बाष्पं दाशेयी पुत्रं दृष्ट्वा चिरस्य तु॥

**विदुला**—प्राचीन साहित्य में अपने पुत्रों को वीरता का पाठ पढ़ाने का सर्वोत्तम उदाहरण संभवतः विदुला है। श्रीकृष्ण द्वारा संधिचर्चा का प्रयत्न निष्फल होने पर कुन्ती ने उन के हाथ पाण्डवों को पुराने इतिहास का ओजस्वी संदेश भिजवाया है ( महाभा० ५।१३३-३६ ) सिन्धु देश के राजा से परास्त होकर जब सौवीर देश का राजा संजय सर्वथा निराश हो गया तो उसकी माता विदुला ने उसे वीर बनने तथा शत्रुओं का नाश करने के लिये प्रेरित किया। माता के रोमांचकारी, शक्तिसंचारक वीरतापूर्ण वचनों से उत्साहित होकर संजय ने विरोधियों पर विजय पाई। महाभारतकार के शब्दों में जीत चाहने वाले को यह इतिहास अवश्य सुनना चाहिये; पौरुष का संचार करने वाले, कायर को भी वीर बनाने वाले इस इतिहास के श्रवण से माता वीर पुत्रों का जनन करती है।

**शंकर की श्रद्धांजलि**—प्राचीन शास्त्रकारों ने नारी की घोर निन्दा है (दे०ऊ० पृ० )। किन्तु कई बार उसके साथ ही उन्होंने नारी के पावनतम मातृरूप की बहुत स्तुति भी की है। 'द्वारं किमेकं नरकस्य, नारी' जैसा वाक्य लिखने वाले श्री शंकराचार्य अपनी माता की मृत्यु के समय, उनके पास उपस्थित हुए। संन्यासी द्वारा निषिद्ध होने पर भी उन्होंने माता का अन्तिम संस्कार अपने हाथ से किया (शंकर दिग्विजय १५।२९-५५) । उस समय अपनी माता को श्रद्धाञ्जलि अर्पण करते हुए श्री शंकराचार्य ने जो शब्द कहे हैं, वे बहुत ही सुन्दर हैं[१३]— प्रसूति समय की असह्य वेदना को जाने दीजिए। (खाने पीने की वस्तुओं में अरूचि, शरीर का सूखना, साल भर तक मलमूत्र से भरी खाट पर सोने आदि के कष्ट माता को सहने पड़ते हैं। गर्भ के तथा पालन के इन कष्टों में से एक कष्ट का भी बदला देने में भी जिसका उन्नत पुत्र समर्थ नहीं है, उस माता के लिए मेरा नमस्कार हो।' हिन्दू परिवार में माता सदैव ऐसी श्रद्धा का पात्र रही है।'

---

१२· महा० १३।२०।१४, १९। ६-७, ३८।१२-१९। मनु० ९।१८। बौद्ध ध० सू० २।२।२५-५३, मनु० ९।१४, रामा० अरण्य० काण्ड ४५।२९-३०, महा० १३।३८।५-६।

१३. आस्तां तावदियं प्रसूतिसमये दुर्वारशूलव्यथा, नैरुच्ये तनुशोषणं मलमयी शय्या च सांवत्सरी। एकस्यापि न गर्भभारभरण क्लेशस्य यस्याः क्षमो दातुं निष्कृतिमुन्नतोऽपि तनयस्तस्यै जनन्यै नमः॥

# सातवाँ अध्याय

## पुत्र

पुत्र की कामना---पुत्र की अधिक आकांक्षा रखने के कारण---पितृऋण का विचार---पुत्र की महिमा---अपुत्रता का दुःख---पुत्रप्राप्ति के उपाय---देवपूजन---नरबलि---औषधोपचार---यज्ञ से पुत्र की प्राप्ति---अन्य उपाय---पुत्र की तीव्र आकांक्षा के कारण---अमृतत्व की प्राप्ति---मनोवैज्ञानिक कारण---पुत्र के सुख---धार्मिक कारण---पुत्र के कर्त्तव्य---माता पिता की प्रतिष्ठा---इनकी सेवा---इनका भरणपोषण---आज्ञा पालन---वश्यता के कारण---कृतज्ञता का भाव---धार्मिक विश्वास---वर और शाप की शक्ति---आर्थिक कारण---वर्त्तमान युग में पुत्रों की वश्यता का ह्रास ।

परिवार का आरम्भ विवाह से होता है और पूर्णता सन्तति से। विवाह का एक मुख्य प्रयोजन सन्तानोत्पादन है, इसके विना मनुष्य अपूर्ण है[१] और सच्चे अर्थों में परिवार का निर्माण नहीं करता। निःसन्तान पति पत्नी साथ रहने वाला दम्पति मात्र है, सन्तति होने पर ही वे परिवार बनाते हैं। परिवार का अर्थ है---जिससे व्यक्ति घेरा जाय[२]। यद्यपि एक गृहस्थ घर की स्थावर सम्पत्ति, नौकर चाकरों से घिरा रह सकता है; किन्तु उसे वास्तविक रूप से घेरने वाली उसकी सन्तान ही होती है।

वैदिक युग से हिन्दू दम्पति सन्तति के लिये आतुर रहा है, । विवाह संस्कार के समय उनकी यह कामना होती है---'प्रजापति देवता हमारी सन्तान उत्पन्न करें[३]; यह अनेक संहिताओं, श्रौतसूत्रों और गृह्य सूत्रों में दोहरायी गयी है[४]। ऋ० १०।८५।३८ में पाणिग्रहण के समय अग्नि से यह याचना है---'हमें सन्तान के साथ पत्नी प्रदान कीजिये। अन्यत्र सोम देवता से

---

१. शतपथ ब्राह्मण ५।२।१।१० दे० ऊ० पृ० १८

२. परिव्रियतेऽनेनेति शब्दकल्पद्रुम द्वितीय काण्ड पृष्ठ ६३-६४

३. ऋ० १०।८५।४३ आ नः प्रजां जनयतु प्रजापतिः ।

४. अथर्व १४।२।४०; काठक सं० १३।१५,४०।१; मैत्रायणी सं० २।१३।२३ आयश्रौ० १४।२८।४, आपगृ० ३।८।१०

पत्नी के लिये उत्तम सन्तान पाने की कामना है[५]। सोम के अतिरिक्त इन्द्र, अग्नि, बृहस्पति आदि देवताओं से भी यही प्रार्थना की गई है कि वे पत्नी को प्रजा से समृद्ध करें (अथर्व० १४।१।५४)। वैदिक साहित्य में अन्य द्रव्यों के साथ सन्तान की याचना बार बार की गयी है[६]। गर्भ को सुरूप और उत्कृष्ट बनाने तथा उसके विविध दोषों के निवारण के लिये अनेक प्रार्थनायें पायी जाती हैं[७]। कुछ गृह्यसूत्रों में गर्भरक्षण एक पृथक् संस्कार माना गया है (आश्वलायन गृ० १।१३।५-७)।

**पुत्र की कामना**—सन्तान की प्रबल अभिलाषा होते हुए भी, वैदिक एवं परवर्त्ती साहित्य में पुत्र के लिये तीव्रतम कामना अभिव्यक्त की गयी है। वैवाहिक आशीर्वाद में पुरोहित नवदम्पति को जीवन भर पुत्र पौत्रों के सा खेलते रहने के लिये कहता है[८]। उस समय पत्नी के लिये यह शुभ कामना प्रकट की जाती थी कि वह उत्तम पुत्रों वाली (सुपुत्रा ऋ०१।८५।२५) तथा वीरों को जन्म देने वाली हो[९]। पति से कहा जाता था कि वह दस पुत्र उत्पन्न करे (ऋ० १०।८५।४५)। अथर्व वेद (३।२३) में वीर प्रसूति के लिये प्रार्थना है और नारी को कहा गया है कि (पहले) पुरुष सन्तान पैदा करो, उसके बाद भी पुरुष सन्तान ही हो[१०]। ऋग्वेद में सोम (१।९१।२०) तथा त्वष्टा से (३।४।९) पुत्र मांगा गया है। अथर्व (६।८१।२) में मर्यादा (संभवतः पुरुष सन्तान देने वाली—मर्यान् ददाति) देवी से पुत्र का गर्भ धारण कराने की कामना है। ह्विटनी के भाष्यानुसार अन्यत्र (अथर्व० ६।८१।३) पुत्र प्राप्ति के लिये हाथ में बांधे जाने वाले परिहस्त (तावीज़) का संकेत है।

पुत्रप्राप्ति के लिये आशीर्वाद और प्रार्थनायें ही पर्याप्त नहीं थीं; किन्तु अनेक विधियों का भी अवलम्बन होता था। तै० ब्रा० के मत में गर्भाधान का उद्देश्य

---

५. अथर्व० १४।१।४९, सोमो राजा सुप्रजसं कृणोतु।

६. अथर्व० ७।३३।१, ७।८१।५, १८।३।१७, १९।७१।१, १३।१।१९

७. अथर्व० ८।६, ६।७, ५।२५, २।२५।३, २०।९६।११-१६।

८. ऋ० १०।८५।४२ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वेगृहे। मि० अथर्व० १४।१।२२, आप० गृ० २।६।१०, शांखा० गृ० १।१६।१२।

९. ऋ० १०।८५।४४ वीरसूर्देवृकामा स्योना शंनो भव द्विपदे शं चतुष्पदे। मि० अथर्व० १४।२।१७, साम ब्रा० १।२।१७

१०. अथर्व० ३।२३।३-५ पुमांसं पुत्रं जनय तं पुमाननु जायताम्।

पुत्र की प्राप्ति (पुंसे पुत्राय वेत्तवै) के लिये था (३।७।१)। आश्व० गृ० सू० ने इसके लिये एक मनोरंजक विधि बतायी है (१।७।३-५); विवाह संस्कार में 'गृभ्णामि ते सौभगत्वाय' मंत्र के साथ वधू का पाणिग्रहण करते हुए, वर पुत्रप्राप्ति के लिये उसका अंगूठा पकड़े। विवाह के बाद चौथे दिन होने वाले चतुर्थी कर्म अथवा गर्भाधान संस्कार में वीरपुत्र की प्राप्ति के लिये अथर्व वेद का एक मन्त्र पढ़ा जाता था[11]। निश्चित रूप से पुत्र पाने के लिये पुंसवन संस्कार किया जाता था। अथर्व ६।११ में इसका स्पष्ट उल्लेख है, गृह्यसूत्रों में इसके सम्बन्ध में विस्तृत व्यवस्थायें हैं[12]। इनसे यह स्पष्ट है कि वैदिक परिवार में पुत्र प्राप्ति की अभिलाषा बहुत अधिक थी।

**पुत्री की अपेक्षा पुत्र की अधिक आकांक्षा के कारण**—सन्तान की सामान्य कामना होते हुए भी वैदिक युग में पुत्र की इतनी आकांक्षा क्यों रखी जाती थी? उसके लिए विशेष विधियों का अलवम्बन क्यों किया जाता था? इसके सामान्य कारणों पर आगे विशेष विचार होगा (पृ० २२६); यहां केवल पुत्री की तुलना में पुत्र के अधिक चाहे जाने के कारणों की विवेचना उचित प्रतीत होती है। आर्य जाति में पुत्र पुत्रियों की अपेक्षा अधिक चाहे जाते थे[13], क्योंकि कन्यायें युद्ध में योद्धा के रूप में तथा भोजन सामग्री के अन्वेषण और संग्रह में पुत्रों की अपेक्षा कम उपयोगी होती थीं। आर्य योद्धा थे। वेदों में शत्रुओं के नाश की बहुत प्रार्थनायें है[14]। विरोधियों का दलन पुत्रियों की अपेक्षा वीर पुत्रों

११. वही ३।२३।२ आ ते योनिं गर्भ एतु पुमान्बाण इवेषुधिम्। आ वीरोऽत्र जायतां पुत्रस्ते दशमास्यः। चतुर्थी कर्म के लिये दे० गोभिल गृ० २।५, आप० गृ० ८।१०-११।

१२. आश्व गृ० १।१३, शांखा० गृ० १।२०, पार० गृ० १।१४, गोभिल गृ० २।६।

१३. कुछ जातियों में कन्याओं के कम उपयोगी होने के कारण उनका पालन भार समझा जाता है और उनके वध की दारुण प्रथा भी प्रचलित होती है। चीन की इक्टा नमक मंगोल जाति कन्याओं का बड़ी क्रूरता से वध करती है। उनका वध इस उद्देश्य से किया जाता है कि अगले जन्म में उनकी आत्मा लड़के का रूप धारण करे (वै० ओडेमा १।४०१) कन्यावध के विवेचन देखिये आठवां अध्याय।

१४ अथर्व० ४।३१।३; ५।२०।१; ३।१९।७; ११।९।५; ११।१०।१, १८; १९।२८।३, १९।४६।५।

से सुचारु रूप में पूर्ण हो सकता था। अतः वैदिक आर्य अपनी प्रार्थनाओं में शत्रुओं के नाशक और विजेता पुत्रों की मांग करते थे। ऋ० १०।१५९।३ में भक्त की प्रार्थना है कि मेरे पुत्र शत्रुओं का वध करने वाले हों (मम पुत्राः शत्रुहनः)। ऋ० ५।२५।५-६ में कहा गया है कि अग्नि भक्त को शत्रुओं से हिंसित न होने वाला (अतूर्त) तथा ऐसा पुत्र प्रदान करता है, जो युद्ध में शत्रुओं का पराभव करता है[१५]। वैदिक साहित्य में पुत्र के अर्थ में वीर शब्द का प्रयोग यह सूचित करता है कि प्राचीन समय में पुत्र का वीरता के साथ साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था। यजुर्वेद (४।२३) में कहा गया है—'पुत्र ही वीर है (पुत्रो वै वीरः, मि० श० ब्रा० (३।३।१।१२)। वैदिक मंत्रों में बार बार यह कामना प्रकट की गई है कि पत्नी वीरों को जन्म देने वाली हो (ऋ० १० ८५।४४)। इन्द्राणी अपने को बड़े अभिमान से वीरिणी (ऋ० १०।८६।९ अथर्व २०।१२६।९ मि० ६।३१) कहती है। वीरिणी होने से ही उसकी प्रतिष्ठा है (ऋ० १०।८६।१०)।

योद्धा जातियां अपनी संख्या बढ़ाने का बहुत यत्न करती हैं, क्योंकि यह विजय पाने में सहायक होती है। यह तथ्य हिटलर के जर्मनी, मुसोलिनी के इटली तथा वर्त्तमान रूस के इतिहास से स्पष्ट है, इन देशों में अविवाहितों पर विशेष कर लगाने की तथा अधिक सन्तानों को जन्म देने वाले माता पिता को कर मुक्त तथा सम्मानित करने तथा अनेक प्रकार की सुविधायें देने व्यवस्थायें हैं। वैदिक युग में इस प्रकार की सुविधायें तो न थीं; किन्तु पुत्रों के अधिक उत्पादन पर बल दिया जाता था। उस समय विवाहसंस्कार के समय पति से यह आशा रखी जाती थी कि वह दस पुत्रों को उत्पन्न करेगा (ऋ० १०।८५।४५)। वैदिक युग में इस पर बल देने को यह भी कारण था कि उस समय भाड़े के सैनिकों (Mercenary soldiers) अथवा वर्तमान काल की उग्र राष्ट्रीयता के भाव का जन्म न होने से पारस्परिक संघर्ष में केवल अपने पुत्रों पर भरोसा रखा जा सकता था। अतः आर्य न केवल पुत्रियों की अपेक्षा पुत्रों की अधिक आकांक्षा रखते थे; अपितु वे पुत्रों को अधिक संख्या में भी चाहते थे।

पुत्रों के अधिक चाहे जाने का एक कारण यह भी था कि कि बुढापे में पिता का पालन करने वाला, पिता की मृत्यु के बाद उसके वंश को चलाने वाला, उसके

---

१५. ऋ० ५।२५।५-६ अग्निस्तुविश्रवस्तमं तुविब्रह्माणमुत्तमम्। अतूर्तं श्रावयत्पतिम् पुत्रं ददाति दाशुषे ॥

कुटुम्ब की रक्षा करने वाला और उसके धार्मिक कार्यों का उत्तराधिकारी उसका पुत्र ही होता था, क्योंकि कन्यायें विवाह के बाद दूसरे कुल में चली जाती थीं[१६] अतः वे पिता को वृद्धावस्था में सहायता नहीं दे सकती थीं। पिता की मृत्यु के बाद उसका वंश चलाने का कार्य नहीं कर सकती थी। पिता को अपने बुढ़ापे और उत्तराधिकार की उचित व्यवस्था के लिये पुत्र आवश्यक जान पड़ता था। कन्या के विना उसका कार्य चल सकता था; किन्तु पुत्र उसके लिए अनिवार्य था। अतः वह पुत्र के लिए अधिक आकांक्षा रखता था। उसकी प्राप्ति के लिए उपर्युक्त उपायों का अवलम्बन करता था।

**पितृऋण का विचार**—वैदिक युग के अन्त में शनैः शनैः पुत्रप्राप्ति पितृ ऋण की कल्पना अनिवार्य धार्मिक कर्त्तव्य बन गया। शुक्ल यजुर्वेद १९।११ में इसका संकेत है और ब्राह्मण ग्रन्थों में विस्तार से प्रतिपादन है। शतपथ ब्राह्मण (१।७।२।११) का मत है कि उत्पन्न होते ही ब्राह्मण देवताओं, ऋषियों, पितरों और मनुष्यों का ऋणी होता है। तैत्तिरीय संहिता (६।३।१०।५) ब्राह्मण के लिए केवल तीन ही ऋणों का उल्लेख करती है और कहती है कि ब्रह्मचर्य, यज्ञ और प्रजा द्वारा पुरुष क्रमशः ऋषि, देव और पितृऋणों से मुक्त होता है, जो पुत्रवान् यज्ञ करने वाला और ब्रह्मचर्य का पालक है, वह ऋण निर्मुक्त होता है। ऐतरेय ब्रा० (३३।१) पुत्र की महिमा का वर्णन करते हुए इसका पहला लाभ यह बताता है कि इससे वह अपने ऋण को उतारता है। वसिष्ठ० (१७।१) विष्णु (१५।४४) ने सम्भवतः ऐतरेय ब्राह्मण के ही श्लोक को उद्धृत किया है। शंख (दाय० १६१) ने पुत्र द्वारा ऋणमुक्ति का निर्देश किया है। महाभारत शतपथ ब्राह्मण की तरह चार ऋणों का उल्लेख करता है और इनसे

---

१६. ऋ० १०।८५।२५ प्रेतो मुंचामि नामुतः सुबद्धाममुतस्करम्। अथर्व सं० १४।१।१८।

१७. तै० सं० ६।३।१०।५ जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवा जायते ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः एष वा अनृणो यः पुत्री यज्वा ब्रह्मचारिवासी। शत० १।७।२।११ ऋणं ह वै जायते योऽस्ति। स जायमान एव देवेभ्यः ऋषिभ्यः पितृभ्यो मनुष्येभ्यः। मि० ऐ० ब्रा० ३३।१। शबर (जै० सू० ६।२।३१) ने लिखा है—तैत्तिरीय संहिता के वचन में ब्राह्मण का अर्थ ब्राह्मण वर्ण तक सीमित नहीं रखना चाहिए, इसे द्विजाति मात्र (ब्राह्मण के अतिरिक्त क्षत्रिय वैश्य) का भी वाचक समझना चाहिए।

मुक्त होने का विस्तार से वर्णन करता है ( १।१२०।१५ अनु० )। मनु ( ९।१०६ ) यह मानता है कि ज्येष्ठ पुत्र के पैदा हो जाने से ही पिता अनृणी हो जाता है।

प्रत्येक व्यक्ति के लिए इन ऋणों का उतारना आवश्यक था। जैमिनि ने इन ऋणों पर विचार करते हुए यह परिणाम निकाला था कि इनका उतारना ऐच्छिक नहीं अपितु अनिवार्य कर्त्तव्य है ( ६।२।३१ )। मनु कहता है कि तीनों ऋणों को उतार कर ही मनुष्य अपना मन मोक्ष ( संन्यास आश्रम ) में लगाए यदि वह ऋणों को बिना उतारे मोक्ष ( संन्यास) की आराधना करता है नरक गामी होता है (६।३।५, अप० पृ० ९६)। अगले दोनों श्लोकों में भी यही बात दोहरायी गई है। संन्यास अन्तिम आश्रम है, इसमें प्रविष्ट होने से पहले सब कर्त्तव्य पूरे कर लेने चाहिएं। शास्त्रकार स्पष्ट रूप से यह विधान करते हैं कि तीनों ऋणों से विमुक्त होकर तथा पुत्र पैदा करके ही संन्यास ग्रहण किया जाय (बौधा २।११।३४, आपस्तम्ब २।२४।८ )। इन ऋणों को इतना अधिक महत्व देने के मूल में संभवतः यह विचारधारा थी कि अपने माता पिता गुरु तथा समाज से लाभ उठाने वाले व्यक्ति का, सामाजिक हित की दृष्टि से यह नैतिक कर्त्तव्य है कि वह उसका प्रतिफल समाज को अवश्य देवे। ऐसा न करनेवाला समाज को हानि पहुंचाने वाला था। पुत्रोत्पादन समाज के लिये उपयोगी एवं आवश्यक था, अतः इसे ऋण का रूप दिया गया।

**पुत्र की महिमा**—पितृऋण को अनिवार्य बनाने के अतिरिक्त शास्त्रकारों ने पुत्र के गौरव का खूब गान किया है। उनके प्रिय तथा बार बार दोहराये जाने वाले एक श्लोक में कहा गया है—( पुरुष ) पुत्र से ( स्वर्ग के ) विविध लोकों की विजय करता है, पौत्र से उन लोकों का अनन्तकाल तक उपभोग करता है और पुत्र के पौत्र से ( सब से ऊंचे ) आदित्य लोक को प्राप्त करता है[१८]। वसिष्ठ ने दो पुराने वचनों को उद्धृत किया है—पुत्रवालों के अनन्त

---

१८. पुत्रेण लोकाम् जयति पौत्रेणानन्त्यमश्नुते। अथ पुत्रस्य पौत्रेण ब्रध्नस्याप्नोति विष्टपम्॥ वसिष्ठ धर्म सूत्र १७।५, विष्णु १५।४६ मनु० ९।१३७ शंख उ० दाय १३१, व्यक० १५९, विर० ५८५। बौधायन २।९।६ में कुछ भिन्न पाठ है—पुत्रेण लोकान् जयति पौत्रेणामृतमश्नुते, अथ पुत्रस्य पौत्रेण नाकमेवाधिरोहति॥ महाभा० १।७४।४० में पहले दो चरण वसिष्ठ सूत्र की भांति हैं किन्तु अन्तिम दो चरण इस प्रकार हैं—अथ पौत्रस्य पुत्रेण मोदन्ते प्रपितामहाः॥

(स्वर्ग) लोक हैं, पुत्रहीन के लिए कोई लोक नहीं है, ऐसा श्रुति में कहा गया है[१९]। शंख कहता है—जिसे अपने जीवन काल में पुत्र और पौत्र प्राप्त हो गये हैं, जिसका वेद (का स्वाध्याय) और यज्ञ अक्षुण्ण रूप से चल रहा है, स्वर्ग उसके हाथ में ही है[२०]। इसी सूत्रकार ने यह भी लिखा है कि पुत्र का मुख देखकर पिता स्वर्ग प्राप्त कर लेता है ( दा० १६१ )। याज्ञवल्क्य पुत्र, पौत्र और प्रपौत्र को क्रमशः (स्वर्गादि) लोक, अमरता और द्युलोक प्राप्त कराने वाला मानता है (१।७८)

पुत्र की महिमा को इतना अधिक बढ़ाया गया कि उस के अभाव में यज्ञ, दान, तप आदि को व्यर्थ माना गया। शंख इस विषय में, अर्थवाद की चरम सीमा तक पहुँच गया है—अग्निहोत्र, तीन वेद और सैकड़ों दक्षिणाओं वाले यज्ञ, ज्येष्ठ पुत्र के जन्म की सोलहवीं कला के भी बराबर नहीं हैं[२१]। दूसरे शब्दों में पुत्र की तुलना में यज्ञादि बिल्कुल नगण्य है।

दो धार्मिक विश्वासों के आधार पर भी पुत्रप्राप्ति को आवश्यक माना गया। पहला विश्वास तो यह था कि पुत्र पिता का नरक से उद्धार करता है। गोपथ ब्राह्मण के समय से हिन्दूसमाज में यह धारणा प्रचलित है कि पुन् नामक नरक से पुत्र पिता की रक्षा करता है, अतः वह पुत्र कहाता है[२२]। यास्क ने पुत्र की इस व्युत्पत्ति को स्वीकार किया है[२३]। अनेक धर्मग्रन्थों में तथा रामायण और महाभारत में इसी व्युत्पत्ति का समर्थन किया गया है[२४] पर पुत्

---

१९. वसिष्ठ धर्म सूत्र १७।१२ अनन्ताः पुत्रिणःलोकाः, नापुत्रस्य लोकोऽस्तीति श्रूयते। मि० महाभा० १।१२०।१९ एतानि तु यथाकालं यो न बुध्यति मानवः। न तस्य लोकाः सन्तीति धर्मविद्भिः प्रतिष्ठितम् ॥

२०. शंख दा० १६१, विर० ५८४ पुत्रपौत्रप्रतिष्ठस्य बहुपुत्रस्य जीवतः। अक्षुण्णवेदयज्ञस्य हस्तप्राप्तं त्रिविष्टपम् ॥

२१. शंख दा० १६१ अग्निहोत्रं त्रयो वेदाः यज्ञश्च शतदक्षिणः। ज्येष्ठपुत्रप्रसूतस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥

२२. गोपथ ब्रा० १११।१२ यच्च पुत्रः पुन्नामनरकमनेकशततारं तस्मात्पाति तत्पुत्रस्य पुत्रत्वम् ॥

२३. निरुक्त २।११ पुत्रः पुरू त्रायते निपरणाद्वा पुन्नरकं ततस्त्रायते इति वा ॥

२४. विष्णु धर्म सूत्र १५।४४, मनु० ९।१३८, रामा० २।१०७। १३;

नामक नरक का स्वरूप क्या है, इस पर अधिकांश शास्त्रकार मौन हैं। मेधातिथि (९।१३८) ने इसे पृथिवी पर चतुर्विध भूतोत्पत्ति बताया है। यह 'मघवा मूल बिडौजा टीका' का सुन्दर उदाहरण है, इसमें पुत् की समस्या नहीं सुलझती। केवल नन्द की व्याख्या इस पर प्रकाश डालती है। उसने नरक का अर्थ दुःख किया है। पुत् एक विशेष प्रकार का दुःख है। इससे रक्षा करने के कारण तनय को पुत्र कहते हैं[२५]। पर नन्द इस दुःख का स्वरूप नहीं बताता। इस के पारलौकिक होने की अपेक्षा हमें ऐहिक होने की संभावना अधिक प्रतीत होती है। शायद पिता के वृद्धावस्था के कष्टों को पुत् नाम दिया गया है, इसे दूर करने के लिए पुत्र का होना अनिवार्य है।

पुत्र को अनिवार्य बनाने वाला दूसरा धार्मिक विश्वास यह था कि पितरों की आत्मायें पुत्रों से पिण्ड और जल का तर्पण पाकर सुखी और सन्तुष्ट रहती हैं। पिण्डदान के लिए पुत्रों का होना आवश्यक है। श्री रामचन्द्र ने भरत को कहा था—मनुष्य को बहुत से गुणवान्, बहुश्रुत पुत्रों की इच्छा इस आशा से रखनी चाहिए कि उनमें से कोई एक (पिण्डदान के लिए) गया जायगा[२६]। आगे यह बताया जायगा कि निःसन्तान पिताओं को पितरों के पिण्डोदक दान की चिन्ता कितना व्यथित करती थी।

हिन्दू समाज में उपर्युक्त विश्वास प्रचलित होने से जब पुत्र को इतनी अधिक महत्ता मिली तो यह सर्वथा स्वाभाविक था कि अपत्यहीनता बहुत बड़ा दुःख समझा जाय; उसे दूर करने के लिए नाना उपायों का अवलम्बन किया जाय। वैदिक युग में इसे बहुत बुरा समझा जाता था। निर्धनता और निरपत्यता दोनों एक जैसे हेय और अवाञ्छनीय दुःख माने जाते थे; ऋ० ३।१६।५

---

महाभा० १।७४।३९, बृहस्पति (विर० ५८४) में निम्न श्लोक पाया जाता है—पुन्नाम्नो नरकाद्यस्मात्त्रायते पितरं सुतः। तस्मात् पुत्र इति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयंभुवा। हारीत (दा० १६१) में कुछ भिन्न पाठ हैं। पुन्नामा निरयः प्रोक्तश्छिन्नतन्तुश्च नैरयः। तत्र वै त्रायते यस्मात् तस्मात् पुत्र इति स्मृतः॥

२५. नन्द, नरको दुःखं तस्य पुदिति नाम्नः तस्मात् पितरं त्रायते इति पुत्र इति।

२६. रामायण २।१०७।१३ एष्टव्या बहवः पुत्राः गुणवन्तो बहुश्रुताः। तेषां वै समवेतानामपि कश्चित् गयां व्रजेत्। विष्णु० ध० सू० ८५।७० महाभा० ३।८४।९७, मत्स्य पुराण २०७। ३९ में भी लगभग यही श्लोक है।

में अग्नि से प्रार्थना है कि हम इन दोनों दुःखों से पीड़ित न हों[२७]। अथर्ववेद ( ८।६।२५ ) में निरपत्यता के सम्बन्ध में कहा गया है यह दुःख हमारे शत्रुओं को ही पीड़ित करे । उस समय यह अभिशाप होता था कि तुम्हारी सन्तानें पुत्रों वाली न हों[२८] । स्त्री का एक मुख्य प्रयोजन सन्तानोत्पादन है [२९]। अतः वन्ध्या को समाज में हेय दृष्टि से देखा जाता था। शतपथ ब्रा० के मत में अपुत्रा स्त्री निर्ऋति (नाश या महादुःख ) से जकड़ी हुई होती है[३०] । महाभारत अपुत्रा को निरर्थक मानता है । इतना ही नहीं; वह जिस पदार्थ को देख लेती है, देवता उस पदार्थ की हवि नहीं स्वीकार करते; क्योंकि वह उस की दृष्टि से दूषित है । ऐसी हवि वाले पुरुष के पितर तेरह वर्ष तक असन्तुष्ट रहते है[३१] । वन्ध्या स्त्री का अन्न इतना बुरा माना जाता था कि इसे स्वीकार करने वाला इससे अपनी आयु क्षीण करता था [३२] ।

**अपुत्रता का दुःख**—पुत्र न होने पर पिता माता अत्यन्त दुःखी रहते थे । प्राचीन साहित्य में पुत्राभाव के सन्ताप से पीड़ित पुरुषों के उदाहरणों की कमी नहीं है । मान्धाता के पिता युवनाश्व ने निरपत्य होने के कारण राजपाट छोड़ दिया और जंगल में जा बसे [३३]। दिलीप ने महर्षि वसिष्ठ के आगे अपना

२७. ऋ० ३।१६।५ मानोग्नेऽमतये मा वीरतायै रीरधः ॥

२८. वसिष्ठ ध० १७।३ प्रजाः सन्त्वपुत्रिणः इत्यभिशाप; ॥

२९. नारी जीवन के तीन मुख्य उद्देश्य थे---सन्तानोत्पादन धर्म का पालन तथा रति फल । कुछ शास्त्रकार पहले दो उद्देश्य ही मानते थे, उदा० आप ध० सू० (२।५।११) कहता है कि धर्म और प्रजा ही पत्नी ग्रहण के प्रयोजन हैं। विज्ञानेश्वर ( १।७८) इस पर टिप्पणी करता हुआ कहता है कि रति फल लौकिक प्रयोजन है । मनु ने कहा हैं स्त्रियां बच्चे पैदा करने के लिए बनायी गई हैं (९। ९६, ९।२६ ) मि० नारद १२।१९–महाभारत में स्पष्ट रूप से रति और पुत्र दो प्रयोजन माने गये हैं ( २।५।११२; ५।३९।६७ ) ।

३०. शत ब्रा० ५।३।१।१३ या वाऽपुत्रा पत्नी सा निर्ऋतिगृहीता ॥

३१. महाभा० १३।१२७।१३-१४ रजस्वला च या नारी श्वित्रिकाऽपुत्रिका च या । एताभिश्चक्षुषा दृष्टम् हविर्नाश्नन्ति देवताः । पितरश्च न तुष्यन्ति वर्षाण्यपि त्रयोदश ।

३२. वही १२।३६।२८ राजान्नं तेज आदत्ते शूद्रान्नं ब्रह्मवर्चसम् । आयुः सुवर्णकारान्नमवीरायाश्च योषितः ॥

३३. वही ३।१२७ ।

दुःखड़ा रोते कहा था—मेरे बाद पिण्डदान के विच्छेद को देखने वाले मेरे पूर्वज स्वधा ( पितृभोजन ) के संग्रह में संलग्न हैं और पर्याप्त भोजन नहीं करते। वे यह बात सोचते हैं कि मेरे बाद उन्हें जल देने वाला कोई नहीं होगा, अतः वह मेरे दिये हुए जल को ( दुःख के कारण ) अपनी गरम सांसों से कोसा बना कर पी रहे हैं[३४]। दशरथ ने पुत्र न होने पर अपने पुरोहित तथा अन्य ब्राह्मणों को कहा था—'मैं पुत्र के लिए विलाप कर रहा हूँ। मुझे कोई सुख नहीं है'[३५]। उज्जयिनी के राजा तारापीड़ की पत्नी विलासवती ने जब एक कथा में यह सुना कि अपुत्रों के लिए उत्तम लोक नहीं है तो वह गहरे शोक में डूब गई, घर आकर स्नान, भोजन आभूषण आदि का परित्याग कर शय्या पर आंसू बहाने लगी[३६]। कथासरित्सागर में पुत्र की चिन्ता से दुःखी रहने वाले शतानीक (२।१) आदि अनेक राजाओं का वर्णन है। पुत्र के न होने पर आज भी हिन्दू समाज में पिता माता दुःखी रहते हैं।

**पुत्रप्राप्ति के उपाय**—किन्तु केवल दुःखी रहने से अपुत्रता का निवारण नहीं होता। इसे दूर करने के लिए कठोर प्रयत्न करने पड़ते हैं। हिन्दू परिवार में इसके लिए उग्र तपस्या से लेकर जादू टोने तक के सभी उपाय बरते जाते रहे हैं। यहां केवल इनका संक्षिप्त उल्लेख किया जायगा।

**देव पूजन**—पहला उपाय देवताओं की आराधना है। हिन्दू समाज में ऐसे विश्वासों की कभी कमी नहीं रही कि सब प्रकार का सुख देवताओं की कृपा से प्राप्त होता है, उनके अप्रसन्न तथा असन्तुष्ट होने पर हमें नाना दुःख भोगने पड़ते हैं। यदि हम निरपत्यता के दुःख से पीड़ित होते हैं तो इसका कारण इनमें से किसी की अप्रसन्नता है, हमें उसे प्रसन्न करना चाहिए। विलासवती के दुःखी होने पर राजा ने उसे सान्त्वना देते हुए कहा—देवि, जो बात दैव के आधीन हो, उसके लिए यहां क्या किया जाय? अधिक रोने से क्या लाभ? हम देवताओं के अनुग्रह के भाजन नहीं हैं। हमारा हृदय पुत्र के आलिंगन रूपी अमृत के उपभोग के सुख का पात्र नहीं है। देवि, गुरुओं

३४. रघुवंश १।६६,६७,७१। किन्तु वध्वां तवैतस्यामदृष्टसदृशप्रजम्। न मामवति सद्वीपा रत्नसूरपि मेदिनी॥ नूनं मत्तः परं वंश्याः पिण्डविच्छेददर्शिनः। न प्रकामभुजः श्राद्धे स्वधा संग्रहतत्पराः॥ मत्परं दुर्लभं मत्वा नूनमावर्जितं मया। पयः पूर्वैः स्वनिश्वासैः कवोष्णमुपभुज्यते।

३५. १।८।८ मम लालप्यमानस्य सुतार्थं नास्ति वै सुखम्।

३६. कादम्बरी निर्णय सागर का अष्टम संस्करण पृ० १३८ अनु०

में भक्ति बढ़ाओ। देवताओं की पूजा दुगनी कर दो। ऋषि जनों की पूजा में उत्साह प्रदर्शित करो। ऋषि श्रेष्ठ देवता हैं। यत्न पूर्वक सेवा किये जाने पर अभीष्ट फलों और दुर्लभ वरों के भी दाता होते हैं। दूसरे ग्रन्थों से ऐसी बातें सुनी जाती हैं कि पूर्व काल में मगध में बृहद्रथ राजा ने चण्ड-कौशिक नामक मुनि के प्रभाव से श्रीकृष्ण के विजेता, अतुल भुजबल वाले, अप्रतिरथ जरासन्ध नामक पुत्र को प्राप्त किया। वृद्ध दशरथ राजा ने महामुनि विभाण्डक के पुत्र ऋष्यशृंग की कृपा से, विष्णु की बाहुओं के समान अप-राजित, समुद्रों के समान अक्षोभ्य चारपुत्रों को प्राप्त किया। दूसरे राजर्षियों ने भी तपोधन मुनियों की आराधना करके पुत्र दर्शन के अमृतस्वादन ।का सुख प्राप्त किया। महान् मुनियों की सेवा निश्चित फल देने वाली होती है'। विलासवती ने राजा के वचनों का पालन किया और उस समय से देवताराधन, ब्राह्मण पूजा और गुरुजनों की सेवा तथा अनेक प्रकार के उपचार करने लगी और अन्त में उसे पुत्र की प्राप्ति हुई[३७]। दिलीप की कथा यह बताती है कि गर्भस्तम्भ का कारण देवताओं द्वारा दिये गये शाप होते हैं। महर्षि वसिष्ठ ने अपनी दिव्य दृष्टि से दिलीप के अपुत्र होने का कारण जाना और राजा को कहा कि एक बार आप इन्द्रपुरी से लौट रहे थे, आपके मार्ग में कल्पतरु की छाया में सुरभि खड़ी हुई थी, उस समय आप ऋतुस्नात रानी के पास पहुँचने की जल्दी में थे, आपने प्रदक्षिणा योग्य सुरभि की प्रदक्षिणा नहीं की। उसने आपको शाप दिया—आप मेरा अपमान कर रहे हैं; मेरी सन्तान की आराधना किये विना आपके सन्तान नहीं होगी। हे राजन् वह शाप न आपने और न ही आपके सारथि ने सुना; क्योंकि उस समय आकाश गंगा का प्रवाह उद्दाम दिग्गजों के कारण कोलाहल परिपूर्ण था। सुरभि की अवज्ञा से अपने अभीष्ट को रुका हुआ समझो। पूज्य व्यक्तियों की पूजा का व्यतिक्रम कल्याण का प्रतिबन्धक होता है। अब सुरभि की बेटी की सेवा करो, प्रसन्न होने पर वह तुम्हारी कामना पूरी करेगी। दिलीप ने नन्दिनी की आराधना से अभीष्ट फल पाया[३८]।

३७. कादम्बरी पृ० १३९ अनु०, ऋषि की सेवा से तथा उनके वर से पुत्रप्राप्ति के लिए दे० महाभा० ३।५३ ,निःसन्तान विदर्भ राज भीम ने दमन ऋषि को सेवा से प्रसन्न कर उनके वर से तीन पुत्र और एक पुत्री दमयन्ती प्राप्त की।

३८. रघुवंश ।१।७५-८१ तथा दूसरा सर्ग। पद्म पु० पाताल खण्ड अ० २८ के अनुसार राजर्षि ऋतंभर ने गो सेवा से सत्यवान् नामक पुत्र प्राप्त किया।

**नरबलि**—सभी निःसन्तान व्यक्ति विलासवती या दिलीप की तरह अभीष्ट फल सुगमता पूर्वक नहीं प्राप्त कर सकते। वे असन्तुष्ट देवताओं का कोप दूर करने के लिए नरबलि तक की शरण ग्रहण करते हैं। उनके चित्त में यह धारणा होती है कि देवता ने बालक का मार्ग रोक रखा है, इस बाधा को दूर करने के लिए बलि दी जाय तो देवता बलि से प्रसन्न होकर रास्ते से हट जायगा। बालक प्राप्त करने के लिए बालक की ही बलि उत्तम समझी जाती है। अधिक सन्तान उत्पन्न करने के लिए अपने पुत्र की बलि बड़ी प्रभावजनक मानी जाती है। प्राचीन काल में इस का सर्वोत्तम उदाहरण सोमक है। (महाभा० ३।१२७)। इस धार्मिक राजा की सौ स्त्रियां होने पर भी बुढ़ापे में जन्तु नामक पुत्र हुआ। इस इकलौते बेटे को सब मातायें बड़े प्रेम से पालती थीं। एक बार जन्तु को जब एक चींटी ने काटा और वह दर्द से चीखा तो सारी स्त्रियां अन्तःपुर में विलाप करने लगी। इस पर राजा ने दुःखी होकर कहा—एकपुत्रता को धिक्कार है, इससे अपुत्रता श्रेष्ठ है। प्राणियों के सदा दुःखपीड़ित होने से राजा ने इसे दूर कर सौ पुत्र पाने के लिये ऋत्विक् से सलाह की, उसने कहा कहा कि यदि जन्तु की वपा से आहुतियां दी जायँ तो मातायें उसके धूएँ को सूंघकर आपके लिए महाबलशाली पुत्र उत्पन्न करेंगी। आपका जन्तु उसी (अपनी पहली माता) में दुबारा उत्पन्न होगा[४०]। राजा के वैसा करने पर उसे सौ पुत्र प्राप्त हुए[४१]।

अपने पुत्र का बलिदान बड़ा क्रूर कार्य है; किन्तु पुत्रों की आकांक्षा इस अचिन्तनीय कार्य को भी सम्भव बना देती है। ऐसी घटनाएँ अतीतकाल में हुई हों, सो बात नहीं। निरपत्यता या अधिक पुत्रों की आकांक्षा वर्त्तमान समय

---

३९. महाभा० ३।१२०।१२ धिगस्त्विहैकपुत्रत्वमपुत्रत्वं वरं भवेत्। नित्यातुरत्वाद्भूतानां शोक एवैकपुत्रता॥

४०. यह विश्वास बहुत जातियों में पाया जाता है कि मरा हुआ बच्चा अपनी पहली माता द्वारा दूसरा जन्म ग्रहण करता है—हार्टलैण्ड-प्रिमिटिव पैटर्निटी १।२०९ अनु०, २१८, २२१, २२६ अनु०, २३० अनु०, २४२ अनु०।

४१. यह कथा कुछ परिवर्तित रूप में कथा सरित्सागर में भी पाई जाती है, दूसरा लम्बक, तीसरी तरंग ताम्रलिप्ति के धन दत्त की कथा। एक पुत्र की बलिकर अनेक पुत्र पाने के लिए दे० हापकिन्स-फाउन्टेन आफ यूथ जर्नल आफ् अमे० ओरि० सो० २६।६

में भी हिन्दू समाज में औरस पुत्रों की बलि का कारण बनी रही है। पिछली शती तक इस प्रकार की बलियों के दृष्टान्त मिलते हैं। ब्रिटिश सरकार द्वारा नरबलि तथा आत्मघात गैर कानूनी बना दिये जाने के बाद, सार्वजनिक रूप से इस प्रथा का अन्त हुआ।

चेवर्स ने पिछली शती में लिखा था कि हिन्दूसमाज में यह विश्वास प्रचलित है कि नरबलि देने वाले को प्रचुर संख्या में सन्तान की उपलब्धि होती है[४२]। मैकनाटन ने सिलहट के पूर्व जयन्तियापुर में सन्तान के लिये कालीमाता को नरबलियां प्रदान करने का उल्लेख किया है[४३]। वर्त्तमान युग में हिन्दू समाज में औरसपुत्र की बलि का अत्यधिक कारुणिक वर्णन स्लीमैन ने किया है--"जब कोई स्त्री निःसन्तान होती है तो उसकी समझ में जिन देवताओं से सहायता मिल सकती है, वह उन सब की पूजा करती है, उन्हें भेंटें चढ़ाती हैं। इस बात की प्रतिज्ञा करती है कि यदि उसकी इच्छा पूरी हुई तो वह अन्य वस्तुओं की भेंट चढायेगी। जब छोटी छोटी मनौतियों से कोई फल नहीं निकलता तो वह संकल्प करती है कि वह अपनी प्रथम सन्तान महादेव को समर्पित करेगी। जब उसे पुत्र मिल जाता है तो वह उसके तरुण होने तक अपने संकल्प को उससे छिपाये रखती है। युवा होने पर वह उसे यह संकल्प बताती है तथा इसे पूरा करने की प्रेरणा करती है। पुत्र उस समय से अपने को महादेव का भक्त समझता है। महादेव पहाड़ियों ( मध्यभारत ) के वार्षिक मेले पर वह ४००,५०० फीट ऊँची पहाड़ी के शिखर से अपने को गिरा देता है और पत्थरों पर गिरकर चकनाचूर हो जाता है[४४]।

---

४२. चेवर्स--ए मैनुअल आफ मैडिकल ज्यूरिस्प्रूडेन्स फार इंडिया पृ० ३९९।

४३. चेवर्स ने ( पू० नि० पु० पृ० ३९७ ) बताया है कि पुत्र प्राप्ति के लिये नरबलि की प्रथा मैक्सिको में भी प्रचलित थी। टेज़ कूकन (Tez cucan) जाति के राजकुमार नेज़ाहुअल कुयोत (Nezahualcoyott) को विवाह किये अनेक वर्ष बीत गये, उसकी कोई सन्तान नहीं हुई। पुरोहितों ने कहा--यह देश के देवताओं की उपेक्षा का परिणाम है। इसका एकमात्र उपाय नरबलि द्वारा देवताओं को प्रसन्न करना है (प्रेसकॉट-हिस्ट्री आफ दी कान्क्वैस्ट आफ मैक्सिको, पृ० ९१ )

४४. स्लीमैन--रैम्बल्स एण्ड रिकलेक्शन्स १।१३२

**औषधोपचार**——नरबलि पुत्रप्राप्ति का कठिनतम व क्रूरतम उपाय है। इसका अवलम्बन बहुत कम होता था। प्रायः अपुत्र माता पिता इस के लिये अन्य उपायों की शरण लेते थे। इन में औषधोपचार, मंत्र (जादू टोना) तथा पुत्रेष्टि यज्ञ उल्लेखनीय थे।

निरपत्यता स्त्री और पुरुष दोनों के दोषों से उत्पन्न होती है। पुरुष की नपुंसकता तथा नारी का वन्ध्यात्व सन्तान में प्रतिबन्धक होता है। वर्तमान समय के स्त्री रोग विशारदों ने नपुंसकता तथा विन्ध्यात्व के स्वरूप, प्रकार कारण और चिकित्सा के सम्बन्ध में गम्भीर अनुसन्धान किया है[४५]। प्राचीन काल में भी इनके सम्बन्ध में पर्याप्त विवेचन हुआ था। अथर्ववेद में इन दोनों रोगों की चिकित्सा का निरूपण है। नपुंसकता दूर करने के लिये कुष्ठ[४६], अपामार्ग[४७] औषधियों का प्रयोग बताया गया है। वाजीकरण का ४।४ तथा ६।१०१ में वर्णन है। ऋषभ तथा कुछ अन्य औषधियों को वन्ध्यात्व निवारण के लिये उपयोगी माना गया। (वही ३।२३)। अथर्व० ६।११ में शमी वृक्ष पर उगा हुआ पीपल पुत्रदाता माना गया है।। पारस्कर गृह्य सूत्र (१।१३) वन्ध्या होने की अवस्था में सिंही श्वेतपुष्पी का रस पत्नी की नासिका में डालने का संकेत करता है। बाद के चिकित्सा ग्रन्थों में इन रोगों के निवारण के लिये बीसियों योग और औषधियां बतायी गयी हैं।

ओषधियों के अतिरिक्त पुत्र प्राप्ति के लिये मंत्र (जादू टोने) पर भी गहरा विश्वास था। बौधा० (२।९।१२) स्पष्ट रूप से यह सलाह देता है—औषध और मन्त्र की सहायता से प्रजा उत्पन्न करे। प्राचीन काल से इस कार्य के लिये मन्त्र का आश्रय लिया जाता रहा है। शतवार (अथर्व० १९।३६) तथा औदुम्बर (वही १९।३१) मणियों का बांधना वीर पुत्रों को देने वाला होता है। महाभारत तथा पुराणों की अनेक कथाओं में जादू से पुत्रों की प्राप्ति बतायी गयी है। कुछ वृक्षों के फल खाने या इन के साथ आलिंगन मात्र से ही स्त्रियां पुत्रों का प्रसव करती है। उर्वशी द्वारा उत्पन्न पुरूरवा के ज्येष्ठ पुत्र आयु ने तपस्या

---

४५. वान डिवैल्ड—फर्टिलिटी एण्ड स्टैरिलिटी इन मैरिज। इस विषय के संक्षिप्त वर्णन के लिए दे० नार्मन हेयर—इंसाइक्लोपीडिया आफ सैक्सुअल नॉलिज, पृ० २५१ से २६५ तथा पृ० २८६-२९५

४६. अथर्व ५।४।१० कुष्ठस्तत्सर्वं निष्करद् दैवं समह वृष्ण्यम्।

४७. वही ४।१७।७

द्वारा दत्तात्रेय को प्रसन्न कर एक फल प्राप्त किया। इस के भक्षण से उसकी रानी इन्दुमती का नहुष नामक पुत्र हुआ (पद्म भू खण्ड १०३)। निःसंतान बृहद्रथ ने चण्डकौशिक द्वारा अभिमन्त्रित आधे फल के दो भाग कर, उन्हें अपनी दोनों रानियों को दिया और इन से जरासन्ध का जन्म हुआ (महाभा० २।१७। २२-५१ मत्स्य० ५०)। फल भक्षण द्वारा सन्तान प्राप्ति का विश्वास आज तक हिन्दू समाज में प्रचलित है [४८]। वृक्ष के आलिंगन से पुत्रोत्पत्ति के उदाहरण जमदग्नि तथा विश्वामित्र हैं। भृगु ने सत्यवती तथा उस की माता को पीपल (अश्वत्थ) और गूलर (उदुम्बर) के आलिंगन तथा चरुओं से पुत्र प्राप्ति का वर दिया [४९]। सत्यवती की माता द्वारा पेड़ों तथा चरुओं की हेराफेरी से उस का पुत्र विश्वामित्र क्षत्रिय होता हुआ भी ब्राह्मण बना और सत्यवती का पुत्र जमदग्नि यद्यपि ब्राह्मण था, किन्तु पोता परशुराम क्षत्रिय स्वभाव वाला हुआ (महाभा० ३।११५। ३१ अनु०) [५०]। आजकल भी हिन्दू समाज की अनेक जातियों में यह विश्वास पाया जाता है [५१]।

**यज्ञ से पुत्र प्राप्ति**—यह विचार बहुत प्राचीन है। शत० ब्रा० (४।४।२।९)

---

४८. क्रुक—पापुलर रिलीजन एण्ड फाक लोर आफ नार्थर्न इंडिया १। २२५ अनु०। अन्य जातियों में इस विश्वास के लिये देखिये-हार्टलैण्ड-प्रिमिटिव पैटर्निटी १।४ अनु०।

४९. महाभा० ३।११५।३५ ऋतौ त्वं चैव माता च स्नाते पुंसवनाय वै। आलिंगेतां पृथग्वृक्षौ साऽश्वत्थं त्वमुदुम्बरम्॥ अथर्व वेद में शमी पर आरूढ़ पीपल का सेवन पुत्रोत्पादक माना गया है। आयुर्वेदिक ग्रन्थों में पीपल पुत्र-दाता कामवृक्ष है (अथर्ववेदीय चिकित्सा शास्त्र पृ० २१७) सम्भवतः बहुत जल्दी सब स्थानों पर बहुत शीघ्र उग आने तथा खूब बढ़ने के कारण यह उर्वरता का प्रतीक समझा गया, इसीलिये इसके रस का सेवन पुत्र देने वाला माना गया है (काम शास्त्र जन्म वन्ध्या चिकित्सा २४)। हिन्दू समाज में पीपल की प्रतिष्ठा का शायद एक कारण यह भी हो।

५०. मि० वही ३।४।२१ अनु०, महाभा० १२।४८ में केवल मन्त्र सम्पन्न चरु का उल्लेख है। मि० वायु० २।४, हरिवंश १।२७, ब्रह्म० १०, विष्णु० ४।७, भागवत ९।१५, आरण्यक जातियों में वृक्ष के आलिंगन से पुत्रोत्पत्ति के लिये देखिये हार्टलैण्ड पूर्व नि० पु० १।१२७

५१. क्रुक—पू० नि० पु० २।९९, १०२, १२२।

के अनुसार यज्ञ से सन्तानें अवश्य पैदा होती हैं (यज्ञाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते)। ब्राह्मण ग्रन्थों में अनेक ऐसे प्राचीन राजाओं का उल्लेख है, जिन्होंने यज्ञ द्वारा पुत्र पाये थे। तैं सं० (५।६।५।३) में वर्णन है कि पर आट्णार, कक्षीवान् औशिज, वीतहव्य श्रायस, त्रसदस्यु पौराकुत्स्य ने अभिजित् यज्ञ की अग्नि का आह्वान किया और प्रत्येक ने सहस्त्रों पुत्र प्राप्त किये। का० सं० (२२।३) पंचविंश ब्रा० (२५।१६।३) जैमिनीय उप० ब्रा० २।६।११ में यज्ञ द्वारा पुत्र पाने वाले राजाओं का उल्लेख है। दशरथ ने यज्ञ द्वारा चार पुत्र प्राप्त किये थे (रामा० १।१६)। स्कन्द पु० (३।१।१५) के अनुसार केकय वंशी धर्म सख को भी इसी प्रकार पुत्र मिले थे। द्रौपदी और धृष्टद्युम्न यज्ञीय अग्नि से प्रादुर्भूत हुए थे (महाभा० १।१६९।३९-५६)

पुत्र प्राप्ति के लिये क्या कोई विशेष यज्ञ होता था या सामान्य होम में पुत्र निमित्तिक कुछ आहुतियां डाली जाती थी? प्रायः यह समझा जाता है कि पुत्रेष्टि नामक कोई विशेष यज्ञ होता था। किन्तु यदि वास्तव में कोई ऐसा विशेष यज्ञ था तो हमें उसकी कोई विस्तृत सूचना प्राचीन ग्रन्थों से नहीं मिलती। केवल आश्वलायन श्रौत सूत्र (२।१०।८-१८) में उसका अत्यन्त संक्षिप्त और अस्पष्ट उल्लेख है। दशरथ की पुत्रेष्टि इस विषय का सब से उदाहरण प्रसिद्ध है; किन्तु इसे ध्यान से देखने पर यह ज्ञात होता है कि दशरथ ने पुत्र प्राप्ति के लिये अश्वमेध यज्ञ किया था[५२]। ऋष्य शृंग को अश्वमेध के लिये बुलाया गया। पहले अश्वमेध यज्ञ किया गया (१।१४), उसके बाद राजा के कहने से ऋषि ने अथर्ववेद के मन्त्रों से इष्टि की[५३]। यज्ञीय अग्नि में से एक पुरुष दिव्य पायस (खीर) का प्याला लेकर निकला। दशरथ की रानियां इस पायस के भक्षण से गर्भवती हुईं (१।१६)[५४]।

---

५२. रामा० १।८।८ मम लालप्यमानस्य सुतार्थं नास्ति वै सुखम्। १।१२।८९ तदर्थं हय मेधेन यक्ष्यामीति मतिर्मम।

५३. रामा० १।१५।२-३ अथर्वशिरसि प्रोक्तैर्मन्त्रैः सिद्धां विधानतः। ततः प्राक्रमदिष्टिं तां पुत्रीयां पुत्रकारणात्॥ यहां यद्यपि विधानतः शब्द का प्रयोग है, किन्तु ऊपर बताया जा चुका है कि आश्व० श्रौतसूत्र के अतिरिक्त इसकी विधि का कहीं उल्लेख नहीं है।

५४. यह पायस सामान्य खीर नहीं होगी। संभवतः इसमें अनेक ऐसी वनस्पतियों का रस भी होगा, जो योनि सम्बन्धी दोषों को दूर करने वाला हो।

**अन्य उपाय**--निरपत्यता दूर करने के उपायों का अन्त नहीं है। इस सम्बन्ध में विभिन्न प्रकार के अन्ध विश्वास प्रचलित है। इन के अनुसार पुत्र की कामना से बीसियों विचित्र अनुष्ठान किये जाते हैं। बाण ने इनका बड़ा सुन्दर चित्रण किया है। "विलासवती ने (पुत्रप्राप्ति के सम्बन्ध में) जो कुछ भी कहीं से सुना, वह सब गर्भ की इच्छा से किया। उसने महान् क्लेश की भी परवाह न की। वह पवित्र वस्त्र धारण कर तथा व्रत रखते हुए, चण्डिका के मन्दिर में हरी कुशाओं से ढकी हुई, नुकीले कीलों वाली शय्याओं पर सोती थी, पवित्र जल से भरे हुए सोने के घड़ों से गौओं के नीचे नहाती थी। ये घड़े नाना प्रकार के (मांगलिक) कुसुमों और फलों से युक्त और (वट आदि) क्षीरस्रावी वृक्षों के पत्तों से चिह्नित और रत्न युक्त होते थे, इन गौओं को बूढ़ी ग्वालिनों द्वारा मांगलिक (तिलक आदि) और उत्तम चिह्नों से अंकित करवा लेती थी। रानी प्रति दिन उठ कर सब रत्नों से युक्त, सोने से बने तिलों से भरे पात्र ब्राह्मणों को दान करती थी। महातान्त्रिक द्वारा खींचे हुए मण्डल के भीतर बैठकर, नाना बलिदानों से दिग्देवताओं को प्रसन्न कर, कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी की रात्रियों में चौराहे पर पुण्यस्नान की विधि करती थी। सिद्धों के मन्दिरों में देवताओं के लिए विचित्र मनौतियां की जाती थीं, उसने इन मन्दिरों का भी सेवन किया। वह पास के ब्राह्मी आदि माताओं के देवालयों में भी गई। उसने नागकुलों के प्रसिद्ध सरोवर में स्नान किया[५५]। पीपल आदि की पूजा और प्रदक्षिणा करके उनकी वन्दना की, अखण्डित चावल और दही को चांदी के बर्तन में रख स्नान कर, उसने कम्पमान कंकण वाले अपने दोनों हाथों से कौओं को बलि प्रदान की। प्रतिदिन असंख्य फूलों, धूप, विलेपन, अपूप (मालपुए), और पीसे तिल से बनाये अन्न (पलल) तथा खीर से और बलि की खीलों से वह दुर्गा की पूजा करती थी; सिद्ध कहलाने वाले दिगम्बर

---

इन दोषों के दूर होने पर रानियां गर्भवती हुई। दे० बालकाण्ड (स्वाध्याय मंडल का संस्करण पृ० ४३६-३७)

५५. मि० महाभा० ३।८३।५८ अम्बुमती के मातृतीर्थ में स्नान करने से प्रजा और महाधन की प्राप्ति होती है। मातृतीर्थं च तत्रैव यत्र स्नातस्य भारत। प्रजा विवर्धते राजन्नतन्वीं श्रियमश्नुते। ३।८३।१९० के अनुसार नियमपालक ब्रह्मचारी यदि कन्याश्रम में तीन दिन का उपवास करता है तो उसे १०० दिव्य कन्यायें और स्वर्ग का फल मिलता है।

साधुओं को भक्ति युक्त मन से स्वयं जाकर भिक्षा निवेदन करती हुई प्रश्न पूछती थी; ज्योतिषियों के आदेशों का बहुत मान करती थी; निमित्त जानने वालों के पास जाती थी; शकुन जानने वालों के प्रति सम्मान दिखाती थी। अनेक वृद्धों की परिपाटी में चले आ रहे मंत्रशास्त्र के रहस्यों को ग्रहण करती थी। पुत्र देखने के लिए उत्सुक (रानी) के दर्शन के लिए आए ब्राह्मणों से वेदपाठ करवाती थी। निरन्तर कही जाने वाली पुण्य कथायें सुनती थी। जादू (मंत्र) वाली ऐसी टोकरियां उठाती थी, जिनके अन्दर गोरोचना से लिखा हुआ भोजपत्र होता था। रक्षा कंकण (तावीज़) के रूप में ओषधियों के सूत्र बांधती थी। इसके नौकर देवताओं की बात (उपश्रुति)[५६] सुनने के लिए निकलते थे, रानी उन द्वारा कहे लक्षणों को ग्रहण करती थी। आचार्यों को स्वप्न में देखी अद्‌भुत बातें सुनाती थी। आंगनों में प्रति दिन रात के समय गीदड़ियों को बलि देती थी[५७]।

किन्तु जब देवताओं की आराधना, ऋषियों और गुरुजनों की पूजा सब प्रकार का मंत्र तंत्र, जादू टोना, दवा दारू तथा यज्ञादि के अनुष्ठान विफल हो जायें तो क्या किया जाय? इस अवस्था में शास्त्र पुरुषों को दूसरे विवाह का अधिकार प्रदान करते हैं[५७क] तथा औरस पुत्र के अभाव में दत्तक आदि गौण पुत्रों से काम चलाने की सलाह देते हैं। उनकी यह सम्मति थी कि अपुत्र पुरुष को जिस किसी तरह हो प्रयत्न पूर्वक पुत्र बनाना चाहिए[५८]।

**पुत्र की तीव्र आकांक्षा के कारण**—पुत्र बनाने की इस आतुरता के प्रधान कारण अमृतत्त्व की प्राप्ति, मनोवैज्ञानिक भावनायें, पुत्र द्वारा मिलने वाले सुख और धार्मिक विश्वास हैं।

---

५६. रात को बाहर निकल कर सुना जाने वाला शुभाशुभ वचन उपश्रुति या देवप्रश्न कहलाता है। देवता मनुष्यों द्वारा बहुत सी बातें कहलाते हैं, इनसे जटिल प्रश्नों का निर्णय किया जाता है। यूनान में यह प्रथा Oracle के रूप में प्रचलित थी।

५७. काद० पृ० १४४-४६

५७क. गौतम ध० सू० १८।४-१४ बौधा० २।४।९-१०, वसिष्ठ १७।५६ मनु० ९।५९, याज्ञ० १।६८-६९ दे० ऊ० पृ० ११२

५८. अपुत्रेण सुतः कार्यो यादृक् तादृक् प्रयत्नतः। पिण्डदान क्रियाहेतो र्नामसंकीर्तनाय च। दमी० ५, बालम्भट्टी २१३५ में यह श्लोक मनु, यम बृहस्पति और व्यास के नाम से उद्धृत है।

**(क) अमृतत्त्व की प्राप्ति**--पहले यह बताया जा चुका है कि मनुष्य मरण धर्मा है; किन्तु विवाह परिवार और सन्तान द्वारा उसने अपने को अमर बना लिया है। आत्म संरक्षण की सहज भावना से प्रेरित होकर वह प्रजा की आकांक्षा रखता है, पुत्रों द्वारा अपने वंश का विस्तार करता है और अमर बनता है। तै० ब्रा० के शब्दों में सन्तान का उत्पादन ही अमरता है[५९]। अतः वैदिक युग में प्रार्थना की गई थी कि हे अग्ने, मैं सन्तान द्वारा अमृतत्त्व का उपभोग करूँ[६०]।

यद्यपि कुल का विस्तार कन्याओं से भी होता है किन्तु ऊपर बताया जा चुका है कि वंशवर्धन आदि उद्देश्य पुत्र पुत्री की अपेक्षा अधिक अच्छी तरह पूर्ण करता है। पिता मर जाता है किन्तु पुत्र द्वारा उसका वंश चलता रहता है, वही उसका नामलेवा और पानीदेवा होता है। दिलीप ने नन्दिनी से अनन्त कीर्त्ति वाले वंशकर्त्ता पुत्र की मांग की थी[६१]। आत्म संरक्षण की सहज बुद्धि उनमें वंशरक्षा के भाव को जागृत रखती है और पुत्र की प्राप्ति को अनिवार्य बनाती है।

**मनोवैज्ञानिक कारण**--आत्म संरक्षण की भावना से माता पिता के चित्त में पुत्र प्राप्ति के लिए प्रबल अभिलाषा उत्पन्न होती है। प्रकृति ने स्त्री की शारीरिक रचना मातृत्व की दृष्टि से की है, नारी का उच्चतम विकास माता बनने में है। पिता भले ही अपने नाम को बनाये रखने के लिए पुत्र की इच्छा करे, किन्तु नारी के लिए तो यह प्रकृति सिद्ध अभिलाषा है कि वह सन्तान चाहे। विलासवती के उदाहरण से पुत्र के लिये माता की उत्कट इच्छा पहले स्पष्ट की जा चुकी है। पुरुष में आत्म संरक्षण आदि पूर्वोक्त भावनाओं के कारण पुत्र की आकांक्षा स्वाभाविक है। वह यह नहीं चाहता कि उसके परिश्रम से उपार्जित सम्पत्ति, जमीन जायदाद आदि का मृत्यु के बाद कोई दूसरा उपभोग करे। पुत्र आत्मरूप है, पिता उसे देह का अपना अंश मानता है। पुत्र के उपभोग में वह यह समझता है कि इस सम्पत्ति का मैं ही उपभोग कर रहा हूँ

---

५९. तै० ब्रा० १।५।५।६ प्रजामनु प्रजायसे तदु ते मर्त्यामृतम्।

६०. ऋ० सं० ५।४।१० प्रजाभिरग्ने अमृतत्वमश्याम्। मि० तै० सं० १।४।४६।१ वसि० स्मृ० ध० सू० १७।४ बौधा० २।६।११।३३।

६१. रघु० २।६४ वंशस्य कर्त्तारमनन्तकीर्त्ति सुदक्षिणायां तनयं ययाचे॥

पुत्र के अभाव में उसे अवश्य चिन्ता होती है और वह चाहता है कि उसका पुत्र अवश्य होना चाहिए ।

**पुत्र द्वारा मिलने वाले सुख**——कालिदास ने कहा है कि शुद्ध वंश में उत्पन्न हुई सन्तति इस लोक में और परलोक में सुख देने वाली होती है[६२]। ऐहिक सुखों में माता पिता को बच्चों से मिलने वाले सुख का दर्जा बहुत ऊँचा है । बच्चे सुख का मूल हैं । भवभूति ने इन्हें आनन्द की ग्रन्थि कहा है[६३]। वे अपनी मनोरञ्जक क्रीडाओं से माता पिता के चित्त को आह्लादित करते हैं, अपने स्पर्श-सुख से उन्हें अद्‌भुत आनन्द प्रदान करते हैं । अपुत्र दम्पति इन सुखों को पाने के लिए उत्कंठित रहते हैं । नि:सन्तान राजा तारापीड़ को बड़ी उत्सुकता थी कि कब उसका बच्चा पृथ्वी की धूल से धूसरित इधर उधर घूमता हुआ घर के आंगन को अलंकृत करेगा, कब वह घर के राजहंसों को पकड़ने के लिये आता हुआ उसे पकड़ने के लिए दौड़ती हुई नौकरानी ( दाई ) को दौड़वा दौड़वा कर थका देगा, कब वह माता के पैरों को रंगने से बची हुई मेंहदी से बूढ़े नौकरों के मुंह रंगेगा, कब वह खेलता हुआ दरबार में प्रवेश करेगा, हजारों राजा उसके लिए हाथ फैलायेंगे किन्तु वह मेरे पास ही दौड़ा आयेगा । इन्हीं मनोरथों को सोचते हुए और चित्त में संतप्त रहते हुए राजा की रात्रियां बड़े कष्ट से बीतती थीं । निरपत्यता से उत्पन्न शोकाग्नि उसे दिन रात जलाती थी[६४]। चपल बालकों की क्रीड़ाओं से कौन मुग्ध नहीं होता ? दुष्यन्त ने सर्वदमन (भरत)की बालक्रीडाओं को देख कर कहा—मैं दुलार से बिगड़े इस बच्चे को बहुत चाहता हूँ और फिर ठंडी आह भर कर बोला——वे व्यक्ति सौभाग्यशाली हैं, जो मुसकरा कर अपने छोटे छोटे दांतों को दिखाते हुए, तोतली बोली से मनोहारी वचनों वाले, गोद में बैठने के शौकीन पुत्रों को उठाते हैं और उनके शरीर की धूल से मलिन होते हैं[६५] ।

---

६२. रघुवंश १।६९ संततिः शुद्धवंश्या हि परत्रेह च शर्मणे ।

६३. उत्तर राम चरित ३।१७ अन्तःकरणतत्त्वस्य दम्पत्योः स्नेह-संश्रयात् । आनन्दग्रन्थिरेकोऽयमपत्यमिति बध्यते ॥

६४. कादम्बरी पृ० १४२-४३

६५. अभिज्ञान शाकुन्तल ७।१७ आलक्ष्यदन्तमुकुलाननिमित्तहासैरव्यक्त-वर्णरमणीयवचःप्रवृत्तीन् । अंकाश्रयप्रणयिनस्तनयान्वहन्तो धन्यास्तदंगरजसा मलिनीभवन्ति ॥

बालक के स्पर्श से माता पिता को अत्यधिक सुख मिलता है। शकुन्तला ने दुष्यन्त को कहा था—छोटे पुत्र के आलिंगन से जैसा सुख मिलता है, वैसा आनन्द (कोमल) वस्त्रों, स्त्रियों और जलों के स्पर्श से नहीं मिलता। जिस प्रकार दोपायों में ब्राह्मण श्रेष्ठ है, चौपायों में गौ वरिष्ठ है, बड़े लोगों में गुरु उत्तम है, इसी प्रकार स्पर्शवालों में (अर्थात् अपने स्पर्श से सुखदाताओं में) पुत्र श्रेष्ठ है। इस लोक में कोई स्पर्श पुत्रस्पर्श से अधिक सुख दायक नहीं है[६६]। चारुदत्त ने प्राणदण्ड के लिए वध्यस्थल पर जाते हुए अपने पुत्र का आलिंगन करते हुए कहा था—धनी और निर्धन दोनों के लिए समान रूप से यह स्नेह का सर्वस्व है। यह हृदय को चन्दन और उशीर (खसखस) के विना ही ठंडक और शान्ति पहुँचाने वाला है[६७]। संक्षेप में इतना कहना पर्याप्त है कि बालक अक्षय आनन्द का स्रोत है[६८]।

बालक के उपर्युक्त सुख पुत्र पुत्री दोनों से समान रूप से प्राप्त होते हैं। किन्तु युवा होने पर पुत्र माता पिता के लिए अधिक सुख का कारण होता है और कन्या चिन्ता तथा दुःख का हेतु बनती है (दे० अगला अध्याय)।

युवा पुत्र आर्थिक उत्पादन में पिता को सहायता प्रदान करता है और माता पिता की वृद्धावस्था में उनका पोषण करता है। आगे पिता पुत्रों के अधिकारों की विवेचना के प्रकरण में बताया जायेगा कि प्राचीन काल में एक ऐसा भी युग रहा है, जब पुत्र की कमाई पर पिता का पूरा स्वत्व था (मनु० ८।४१६) संयुक्त परिवार के आर्थिक पहलू के प्रसंग में यह कहा जा चुका है कि समाज की आरम्भिक अवस्था में परिवार आर्थिक दृष्टि से एक इकाई होता है। परि-

---

६६. महाभा० १।७४।५७-५९ न वाससां न रामाणां नापां स्पर्शस्तथाविधः। शिशोरालिंग्यमानस्य स्पर्शः सूनोर्यथा सुखः। ब्राह्मणो द्विपदां श्रेष्ठो गौर्वरिष्ठा चतुष्पदाम्। गुरु गरीयसां श्रेष्ठः पुत्रः स्पर्शवतां वरः। पुत्रस्पर्शात् सुखतरः स्पर्शो लोके न विद्यते ॥

६७. मृच्छकटिक १०।२३ इदं तत्स्नेहसर्वस्वं सममाढ्यदरिद्रयोः। अचन्दनमनौशीरं हृदयस्यानुलेपनम् ॥

६८. सुभाषितरत्नभाण्डागार पृ० ८४ आनन्दस्रुतिरात्मनो नयनयोरन्तः सुधाभ्यञ्जनम्, प्रस्तारः प्रणयस्य मन्मथतरोः पुष्पं प्रसादो रतेः। आलानं हृदयद्विपस्य विषयारण्येषु संचारिणो, दम्पत्योरिह लभ्यते सुकृततः संसारसारः सुतः ॥

वार के सदस्य इसकी सम्पत्ति बढ़ाने का पूरा प्रयत्न करते हैं। इस में पुत्रों का सहयोग सब से अधिक होता है। उच्च वर्ग में वृद्धावस्था में माता पिता सांसारिक स्थिति और पालन पोषण के लिए पुत्र पर अवलम्बित होते हैं। प्राचीन वाङमय में पुत्र को लोककृत् संभवतः इसी दृष्टि से कहा गया है[६९]। योग्य पुत्र अपने उत्तम कार्यों से माता पिता का नाम उज्ज्वल करते हैं, उनके गर्व और गौरव का कारण बनते है।

**धार्मिक कारण**––शास्त्रकारों ने संभवतः सामाजिक हित को दृष्टि में रखकर पुत्र प्राप्ति को एक धार्मिक कर्त्तव्य बनाया। समाज जिन नियमों और व्यवस्थाओं से टिका हुआ है, वे सब धर्म हैं। सन्तानोत्पादन समाज की स्थिति और विस्तार का मुख्य हेतु है। अतः यह एक महान् धर्म है, इसका पालन न करने वाला पापी होता है। महाभारत में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि जो पुरुष सन्तान उत्पन्न नहीं करता, वह अधार्मिक होता है[७०]। अपत्योत्पत्ति इतना बड़ा धर्म है कि इसकी तुलना में अग्निहोत्र तीनों वेद बिल्कुल नगण्य हैं। सन्तान ही तीनों वेद हैं और सदा बने रहने वाले देवता हैं ( १।१००।६७-६९ )। दुस्तर संसार सागर को पुत्र की नौका से पार किया जा सकता है। स्वर्ग में बने रहने के लिए तथा नरक से बचने के लिए पुत्र आवश्यक है[७१]। शास्त्रकार पुत्र की महिमा का बखान करके सन्तुष्ट नहीं हुए, किन्तु उन्होंने समाज में इस विश्वास को प्रचलित किया कि पुत्र प्राप्ति ऋण है, इसे न चुकाने पर पुत्र के अभाव में पिता पुत् नामक नरक में जाता है और उसके पितर पिण्डदान के अभाव में भूखे प्यासे मरते हैं (दे० ऊपर पृ० २१५)। इन विश्वासों के प्रचलित होने पर मनुष्य स्वभावतः पुत्रों की कामना करते हैं।

माता पिता के प्रति पुत्र के अनेक कर्त्तव्य हैं। इनमें माता पिता की प्रतिष्ठा, सेवा, भरण पोषण तथा आज्ञा पालन मुख्य हैं। इन का स्वरूप तथा प्रेरक कारण निम्न हैं।

**माता पिता की प्रतिष्ठा**––धर्मशास्त्रों में माता पिता को देवता कहा गया

---

६९. तै० ब्रा० ३।७।७।१० पुत्रः पित्रे लोककृज्जातवेदः।

७०. महाभा० १२।३४।१४ अप्रजायन्नरव्याघ्र भवत्यधार्मिको नरः ॥

७१. महाभा० ५।११८।७-८ अनपत्योऽसि राजर्षे पुत्रौ जनय पार्थिव। पितॄन्पुत्रप्लवेन त्वमात्मानं चैव तारय। न पुत्रफलभोक्ता हि राजर्षे पात्यते दिवः। न याति नरकं घोरं यथा गच्छन्त्यनात्मजाः ॥

हैं (तैंड० १।११।२), पुत्र का यह कर्त्तव्य है कि वह इनकी पूजा करे। इनके प्रति गहरी भक्ति और श्रद्धा के भाव रखे। इस सम्बन्ध में पहले विस्तार से विवेचना हो चुकी है, यहां कुछ अन्य प्रमाण दिये जाते हैं। एक पतिव्रता पत्नी द्वारा कौशिक ऋषि के दर्पचूर्ण होने का पहले उल्लेख हो चुका है। इस ने ऋषि को धर्म ज्ञान की प्राप्ति के लिए मिथिलावासी शूद्र कुलोत्पन्न धर्म व्याध के पास जाने का परामर्श दिया (३।२०६।४३-४५)। व्याध कौशिक को धर्म के जटिल रहस्य समझाने के बाद अपने घर ले गया, वहां उसे अपने माता पिता को दिखाते हुए बोला--"ये मेरे लिए सब से बड़े देवता हैं। देवताओं के लिए जो कार्य करने चाहिए, वे मैं इनके लिए करता हूँ? जिस प्रकार सब के लिए इन्द्रादि तेंतीस देवता पूजनीय हैं, उसी प्रकार ये वृद्ध मेरे लिए पूज्य हैं। ब्राह्मण देवताओं के प्रति भेंटें चढ़ाते हुए जिस प्रकार का आचरण करते हैं, मैं अनलस होकर इनके प्रति वैसा आचरण करता हूँ। माता पिता मेरे लिए परम देवता हैं। मैं इन्हें पुष्पों से तथा रत्नों से सदा सन्तुष्ट रखता हूँ। बुद्धिमान् जिन्हें (पवित्र) अग्नियां कहते हैं, मेरे लिए मेरे माता पिता वही अग्नियां हैं। हे ब्राह्मण, मेरे लिए यज्ञ, चारों वेद आदि सभी कुछ यही दोनों हैं (महाभा० ३।२१२।१८-२२)। माता पिता को देवता समझने, उनकी पूजा, रक्षा तथा शुश्रूषा करने से ही धर्मव्याध ज्ञानी बना। अन्यत्र (३।२०५।३-४) माता पिता को प्रत्यक्ष देवता कहा गया है।

बौद्ध वाङ्मय में भी माता पिता के प्रति यही भाव उपलब्ध होता है। बोधिसत्व ने माता पिता को ब्रह्मा कहा है[७२]। अन्यत्र वे पुब्ब देवता (श्रेष्ठ देवता) कहे गये हैं[७२]। सिगालोवाद सुत्त में मातापिता पूजार्ह माने गये है (बुद्धचर्या पृ० २७८)। हिन्दू समाज में पिछली शती तक सामान्य रूप से पिता पुत्रों से वही प्रतिष्ठा पाता था, जो धर्मव्याध के माता पिता ने अपने पुत्र से पाई थी। स्लीमैन ने लिखा है--मैं विश्वास करता हूँ कि भूमण्डल में कोई ऐसा भाग नहीं है, जहां माता पिता की इतनी प्रतिष्ठा की जाती है[७३]। पिता को देवता माना जाने तथा प्रतिष्ठा देने के कारणों की विवेचना पुत्र के आज्ञा पालन के प्रसंग में होगी।

---

७२. फासबाल--जातक ५।३३१ ब्रह्मा हि मातापितरो, ६।३६४ पुब्ब देवता नाम मातापितरो।

७३. रैम्बल्स एण्ड रिफ्लैक्शन्स आफ एन इण्डियन आफिशियल १।३३० अनु०।

**माता पिता की सेवा**—माता पिता के देवता होने से उनकी सेवा को महत्त्व दिया जाना स्वाभाविक है। महाभारत (१२।१०८) में माता पिता तथा गुरु की सेवा को परम धर्म माना गया है। मनु के मत में इनकी शुश्रूषा परम तप है (२।२२९), इसमें कोई प्रमाद न करने वाला तीनों लोकों की विजय करता है, माता की भक्ति से इह लोक, पिता की भक्ति से मध्यम लोक तथा गुरु शुश्रूषा से ब्रह्म लोक का भोग करता है (२।२३२-३३)[७४]; जब तक ये जीते रहें, पुत्र उनके प्रिय तथा हितकर कार्यों में संलग्न रहता हुआ उनकी शुश्रूषा करता रहे। इनकी सेवा से ही पुरुष के लिए अनुष्ठान योग्य सभी श्रौत स्मार्त कार्य पूरे हो जाते हैं; यह सब से बड़ा धर्म है, (यज्ञादि) दूसरे धर्म गौण हैं[७५]।

माता पिता की सेवा करने वाले पुत्रों में धर्मव्याध, श्रवण, रामचन्द्र, भीष्म और पुरु का स्थान बहुत ऊँचा है। धर्मव्याध ने कहा था—"मेरे प्राण, मेरी पत्नी, मेरे पुत्र और मित्रजन माता पिता के लिए ही हैं। मैं अपने पुत्र और स्त्री के साथ सदा इनकी शुश्रूषा करता हूँ। हे द्विजश्रेष्ठ, मैं सदा इनको नहलाता हूँ, इनके पैर धोता हूँ और अपने आप इन्हें आहार प्रदान करता हूँ, इनके अनुकूल बोलता हूँ, इनके लिए अप्रिय वचन से बचता हूँ। अधर्म युक्त होने पर भी इनके प्रिय कार्य को करता हूँ। हे द्विजोत्तम, मैं इसे (सेवा को) महान् धर्म समझ कर करता हूँ" ३।२१४। २३-२६)। रामायण (२।६३-६४) में अपने अन्धे माता पिता की सेवा करने वाले एक शूद्रा पुत्र का उल्लेख है। परवर्ती साहित्य में यह श्रवण कुमार नाम से प्रसिद्ध हुआ। अपने माता पिता को कांवर पर बिठा कर इसने उन्हें सब तीर्थों की यात्रा कराई थी। राम ने पिता की प्रसन्नता के लिए १४ वर्ष तक का वनवास स्वीकार किया। देवव्रत ने इसी कारण आजीवन ब्रह्मचारी रहने की प्रतिज्ञा की (महाभा० १।१००), इसी कारण उन्हें भीष्म कहा जाने लगा। पुरु ने पिता की प्रसन्नता के लिए भीष्म की अपेक्षा महत्त्वपूर्ण त्याग किया। यौवन जीवन का सब से स्वर्णिम काल है और वृद्धावस्था सब से कष्ट दायक दशा। पुरु ने अपने पिता की वृद्धा-

---

७४. कोरियावासी यह मानते हैं कि पितृभक्त बालक को पृथ्वी पर उच्चतम सम्मान मिलता है और परलोक में भास्वरतम स्वर्ग प्राप्त होता है। (ग्रिफिस-कोरिया पृ० २३६)

७५. मनु० २।२।३५-३६ मि० महाभारत १२।१०८।८-९ अनु० विष्णु० ३१।५-६।

वस्था लेकर उसके बदले अपने तारुण्य का दान करने में संकोच नहीं किया। (भाग० पु० ९।१८, १९)

**माता पिता का भरण पोषण**––सब पुत्र अपने माता पिता की सेवा में भीष्म, राम और पुरु जैसे कठोर त्याग करने वाले नहीं हो सकते; किन्तु उनसे इतने सेवा और त्याग की अवश्य आशा रखी जा सकती है कि वे मां बाप के वृद्ध होने पर उनकी सेवा शुश्रूषा और भरण पोषण अवश्य करें। पुत्र की एक व्युत्पत्ति यह भी की जाती है कि वह माता पिता का पालन और रक्षण करता है ( पितॄन् पाति )।

पिछले अध्याय में इस विषय में मनु० (९।१०-११ व ३।३८९ ) की व्यवस्थाओं का उल्लेख हो चुका है। याज्ञ० और शंख लिखित भी पुत्रों द्वारा माता-पिता का भरण आवश्यक मानते हैं और माता पिता को छोड़ने वाले पुत्र के लिए कठोर दण्ड की व्यवस्था करते हैं। याज्ञ० ( २।२३७ ) ने इस के लिए १०० पण तथा शंख लिखित ( अप० पृ० ८२३ ) २०० पण के दण्ड का विधान करते हैं। मनु की ६०० पण की दण्ड व्यवस्था (३।३८९) इन दोनों से कठोर है। याज्ञ० और शंख पतित न होने पर ही इनका भरण आवश्यक मानते हैं, किन्तु बौधायन और ( २।२।४८ ) वसिष्ठ (१३।४०) तथा आपस्तम्ब (१।१०। २८।९ माता के पतित होने पर भी उसका भरण पुत्र का कर्त्तव्य मानते हैं[७६]।

वर्त्तमान युग में हिन्दू समाज के योरोपियन प्रेक्षकों ने हिन्दू समाज में

---

७६. इस व्यवस्था का कारण संभवतः यह था कि याज्ञ० और शंख माता पिता की सेवा से धर्म के पालन को अधिक महत्व देते थे। माता पिता की सेवा एक पवित्र कर्त्तव्य है, किन्तु धर्म का पालन उससे भी बड़ा कर्त्तव्य है। अतः पुत्र अपने पतित माता पिता को छोड़ सकता था। ईसाइयत ने भी पुत्रों को यह स्वाधीनता प्रदान की थी। ईसा ने अपने शिष्यों को विश्वास दिलाया था कि मेरे लिए और ( भगवान् के ) सन्देश के शुभ प्रचार के लिए अपने पिता माता, भाई बहिन, पत्नी, बच्चों, घर तथा भूसम्पत्ति को छोड़ने वाला व्यक्ति, सैकड़ों गुना पिता माता, भाई बहिन प्राप्त करेगा (सैन्ट मार्क १०।२९)। ईसा के इस उपदेश के कारण हजारों व्यक्ति अपने माता पिता को छोड़कर भिक्षु बने। ईसा का प्रेम माता पिता के प्रेम से बड़ा माने जाने लगा, इस कारण माता पिता को छोड़ना या उनके आदेश न मानना ईसा-इयत में अच्छा समझा गया। कई सन्तों की प्रतिष्ठा का मुख्य कारण उनका

पुत्रों द्वारा माता पिता के भरण पोषण की प्रशंसा की है। विल्किंस ने लिखा है—यदि कोई हिन्दू अपने माता पिता का भरण पोषण कर सकता है; किन्तु वह उनका भार किसी दूसरे पर डालता है, तो यह उसके लिए अत्यधिक अपमान-जनक वस्तु समझी जाती है[७७]। मोनियर विलियम्ज़ ने अविवाहित हिन्दू सिपाहियों के सम्बन्ध में लिखा है कि माता पिता को रुपया भेजने के लिये वे अपनी आवश्यकतायें इतनी कम कर देते हैं कि लगभग भूखे मरने लगते हैं[७८]। डुबोइस ने यद्यपि दक्षिणवासी हिन्दू पुत्रों के पिता के प्रति व्यवहार की अपने माता-पिता को छोड़ना था (फैटर-पैगनिज्म एण्ड क्रिश्चिएनिटी पृ० १९६)। कैथोलिक लेखकों का यह मत था कि माता पिता का यदि पुत्र के विना भरण पोषण न हो सकता हो तो भी उन्हें ईश्वर के भरोसे पर छोड़कर व्यक्ति को भिक्षु बन जाना चाहिए। थामस एक्विनास ( सम्माथिओ लाजिका २।२। १०१४, अपनी कुटिया में ईसा के ध्यान में मग्न ईसाई भिक्षु द्वारा माता पिता की सहायता के लिए अपनी कुटिया छोड़ना और सांसारिक कार्यों में फंसना उचित नहीं समझता था फिर भी माता पिता की पूरी उपेक्षा नहीं की जा सकती थी। अतः ट्रैण्ट की परिषद की ( १५४५ -६३) की प्रश्नोत्तरी (३।५।१०) में यह कहा गया कि माता पिता के निर्धन होने पर उनकी सहायता करनी चाहिए और भगवान से यह प्रार्थना करनी चाहिए कि वे सुखी और समृद्ध जीवन बिता सकें। किन्तु ईसाइयत इस विषय में अपवाद है। अन्य सभ्य जातियों तथा आरण्यक समाजों में वृद्ध माता पिता का भरण पोषण सन्तान का कर्त्तव्य माना जाता है। यूनान में कोई व्यक्ति उस समय तक मैजिस्ट्रेट नहीं बन सकता था, जब तक कि वह यह साक्षी उपस्थित न करे कि उसने अपने माता पिता के साथ उचित व्यवहार किया है। जो व्यक्ति मां बाप को भोजन तथा घर में आश्रय देने से इंकार करता था, उसे राष्ट्रिय परिषद् में भाषण देने का अधिकार नहीं होता था। आइसलैण्ड के और यहूदियों के समाज में भी यह एक आवश्यक कर्त्तव्य था (वै० ओडेमा १।५३६-३७)। इस्लामी कानून में कहा गया है —चाहे माता-पिता अपने परिश्रम से आजीविका कमा सकें; पुत्र अपने दरिद्र माता पिता का भरण पोषण करने के लिए बाध्य है ( ह्यूजेस-डिक्शनरी आफ इस्लाम पृ० ३०८) आरण्यक समाजों में बूढे मां बाप की सेवा के उदाहरणों की कमी नहीं है (वै० ओडेमा १।५३४-३६ )

७७. विल्किस—माडर्न हिन्दूइज्म पृ० ४१८

७८. मोनियर विलियम्ज़—इण्डियन विज़डम पृ० ४४०

बड़ी निन्दा की है; तथापि इस बात की अवश्य प्रशंसा की है कि सामान्यतः पुत्र बूढे मां बाप का बड़ा ध्यान रखते हैं और उन्हें किसी वस्तु का अभाव नहीं होने देते [७९]।

वृद्ध माता पिता के भरण पोषण के मूल में अनेक कारण है। उनके प्रति पुत्र की कृतज्ञता का भाव इसे आवश्यक बनाता है। भगवान बुद्ध ने सिगाल गृहपति को उपदेश देते हुए कहा था—'माता पिता का प्रत्युपस्थापन (सेवा) करना चाहिये; क्योंकि इन्होंने मेरा भरण पोषण किया है,' (बुद्धचर्या पृ० २७८)। माता पिता के प्रति पुत्रों का प्रेम तथा भक्ति भी उन्हें इस बात की प्रेरणा करती है कि वे उनको सदा सुखी रखें। श्रवण कुमार अपनी अगाध भक्ति के कारण बूढ़े मां बाप को कांवर में बिठाकर तीर्थों की यात्रा कराता रहा। माता पिता का नैसर्गिक सम्बन्ध भी उन्हें पुत्र से भरण पाने के स्वाभाविक अधिकार को उत्पन्न करता है। समाज में एक बार जब यह अधिकार मान लिया जाता है तो इसकी अवहेलना बड़ी घृणास्पद दृष्टि से देखी जाती है। लोक निन्दा से बचने के लिए भी मां बाप का पालन किया जाता है, डुबोइस दक्षिण के उच्छृङ्खल पुत्रों की पितृसेवा का यही कारण मानता है (पू० नि० पु० पृ० ३०८) आगे यह बताया जायगा कि वृद्ध पुरुषों की सेवा से उत्तम फलों की आशा रखी जाती है, यह माना जाता है कि उनके वचनों में अमोघ शक्ति होती है। अपनी उपेक्षा से कुपित होकर यदि वे कोई श्राप देंगे तो उससे भयंकर हानि हो सकती है। उस से बचने के लिए उनका भरण करना चाहिए।

हिन्दू समाज में संयुक्त परिवार की पद्धति भी माता पिता के भरण को आवश्यक कर्त्तव्य बनाने में सहायक सिद्ध हुई। संयुक्त परिवार में जब पारिवारिक सम्पत्ति के विभाग की पद्धति बढ़ी तो विभिन्न व्यक्तियों के अधिकारों का प्रश्न उठा। उस समय यह अनुभव किया गया कि सब सदस्यों की स्थिति एक जैसी नहीं है, क्योंकि कुछ व्यक्ति अपने शारीरिक दोषों या (स्त्री) जाति के कारण पारिवारिक सम्पत्ति बढ़ाने में अन्य सशक्त व्यक्तियों जितना भाग नहीं लेते। अतः सम्पत्ति का समान विभाग नहीं हो सकता। किन्तु उनके जन्मसिद्ध अधिकारों की उपेक्षा संभव नहीं थी। सम्पत्ति के इस अधिकार के बदले में उन्हें परिवार से भरण पोषण पाने का अधिकार दिया गया[८०]। पोषण

७९. डुबोइस—हिन्दू मैनर्स एण्ड कस्टम्ज पृ० ३०८

८०. गौड़—हिन्दू कोड पृ० ३१८

सम्बन्धी हिन्दू कानून के मूल में एक और सिद्धान्त भी है, इसके अनुसार पोष्यवर्ग में सर्वत्र माता पिता की सर्वप्रथम गणना की गई है। इसके मूल हेतु स्वाभाविक स्नेह, कृतज्ञता, भक्ति और सम्मान के भाव हैं। इनके कारण पुत्रों का यह नैतिक कर्त्तव्य माना जाने लगता है कि पुत्रों को माता पिता का पालन करना चाहिये।

वर्तमान समय में न्यायालयों ने वृद्ध माता पिता का भरण पोषण पुत्र का कानूनी कर्त्तव्य माना है[८१]। यह एक वैयक्तिक दायित्व है। पुत्र को पैतृक सम्पत्ति मिले या न मिले, उसके लिये माता पिता अवश्य भर्त्तव्य हैं[८२]। ऊपर यह कहा जा चुका है कि साम्पत्तिक स्वत्व इस व्यवस्था का एक कारण है। स्वार्जित सम्पत्ति पर अर्जक का पूर्ण स्वत्व माना जाता है। किन्तु विज्ञानेश्वर का यह मत है कि यदि स्वार्जित के अतिरिक्त कोई सम्पत्ति न हो, तो भी कुटुम्ब (वृद्ध माता पिता, स्त्री और नाबालिग बच्चों) का इस सम्पत्ति से अवश्य भरण करना चाहिए (याज्ञ० २।१७५)। भारतीय न्यायालयों ने भी यह सिद्धान्त स्वीकार किया है[८३]।

**आज्ञापालन**—वैदिक युग से यह आदर्श रहा है कि पुत्र माता पिता की आज्ञा का पालन करने वाला तथा उसके अनुकूल आचरण रखने वाला हो[८४]। विष्णु० (३१।३-६) के मत में पुत्र को सदा माता पिता व गुरु की आज्ञा का पालक होना चाहिए, वह इनके लिए प्रिय और हितकार्य करे, इनकी आज्ञा के विना कोई कार्य न करे (मि० मनु० २।२२९ न तैरभ्यनुज्ञातो धर्ममन्यं समाचरेत्)। "यह बात वेदों से भली भांति निश्चित है कि पिता जो कहता है वह धर्म है, अतः पिता के वचन का पालन करना चाहिए। पिता की आज्ञा पालन करने वाले के पाप धुल जाते है[८५]। रामायण पिता

---

८१. **सावित्रीबाई ब० लक्ष्मीबाई ( १८७८ ) २ बम्ब० ५७३**

८२. **नर्मदा बाई ब० महादेव ( १८८१ ) ५ बम्ब० ९९**

८३. **रामराव ब० राजा आफ पीठापुर (१९१८) ४५ इं० ए० १४८, १५४। अम्मा कन्नू ब० अप्पू (१८८०) ११ म० ९१।**

८४. **अथर्व० ३।३०।२ अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः।**

८५. **महाभा० १२।२६६। १७,१९ पिता यदाह धर्मः स वेदेष्वपि सुनिश्चितः। तस्मात्पितुर्वचः कार्यम् न विचार्यं कदाचन। पातकान्यपि पूयन्ते पितुः शासनकारिणः।**

की सेवा और आज्ञा पालन को सर्वश्रेष्ठ धर्म मानती है[८६], इसे प्रसन्नता से करना चाहिए। पिता के मुख से वचन निकलने से पहले ही जो पुत्र पिता के सोचे हुए काम को करता है, वह उत्तम पुत्र है; पिता द्वारा कहे कार्य को करने वाला मध्यम कोटि का पुत्र है, किन्तु पिता के वचन को अश्रद्धा से करने वाला अधम है उसे न करने वाला पिता का विष्ठामात्र (भाग० ९।१८।४४)।

दाशरथि राम हिन्दू समाज में पिता की आज्ञा पालन का सर्वोत्तम दृष्टान्त हैं। वे अपने पिता की आज्ञा से अग्नि में जल मरने, विष खाने और समुद्र में डूब मरने के लिए तैयार थे[८७], क्योंकि उनका मत था कि उन द्वारा माता पिता की प्रसन्नता के लिए प्राण त्याग कर भी जो कार्य किया जा सके, उसे करने के लिए उन्हें तैयार रहना चाहिए (२।१९।२१)। राजसिंहासन के अधिकारी होते हुए चौदह वर्ष तक वनों में धूल छानना उनके लिए मृत्यु तुल्य ही था, किन्तु पिता की प्रसन्नता का ध्यान रखते हुए उन्होंने इस कठोर आज्ञा का पालन किया।

**वश्यता के कारण (क) कृतज्ञता का भाव**--पुत्र अनेक कारणों से माता पिता की वश्यता में रहते हैं। यह सर्वथा स्वाभाविक है कि जन्मदाता और पालक होने से माता पिता के प्रति पुत्र इतनी कृतज्ञता का अनुभव करे कि वह उनके लिए सर्वस्व समर्पण करने को उद्यत हो। राम ने कैकेयी को कहा था—मैं राजा दशरथ के कुपित होने पर एक क्षण भी जीवित नहीं रहना चाहता। इस दुनियां में मनुष्य जिससे अपना मूल और प्रादुर्भाव देखता है, वह उस प्रत्यक्ष देवता के अनुकूल अपना आचरण क्यों न रखे? (२।१८।१५-१६)। भारतीय वाङ्मय में कई स्थलों पर यह विचार प्रकट किया गया है कि सन्तान माता पिता के उपकार का प्रतिफल नहीं दे सकती (रामा० २।१११।९-१०, मनु० २।२२७ भाग० १०।४५।५)। राम माता पिता के उपकार को भी आज्ञा पालन का कारण मानते हैं (२।१९।१५)।

---

८६. रामा० २।१९।२२ न ह्यतो धर्मचरणं किंचिदस्ति महत्तरम्। यथा पितरि शुश्रूषा तस्य वा वचनक्रिया॥

८७. रामा० २।१८।२७ अहो धिङ नार्हसे देवि वक्तुं मामीदृशं वचः। अहं हि वचनाद्राज्ञः पतेयमपि पावके। भक्षयेयं विषं तीक्ष्णं मज्जेयमपि चार्णवे। तद्ब्रूहि वचनं देवि राज्ञो यदभिकांक्षितम्। करिष्ये प्रतिजाने च रामो द्विर्नाभिभाषते॥

पुत्र माता पिता के प्रति कृतज्ञतावश अगाध प्रेम रखते हैं[८८]। इस के वशीभूत होकर वे माता पिता की कठोर से कठोर आज्ञा का पालन करने में संकोच नहीं करते। इस विषय में राम के आदर्श दृष्टान्त का ऊपर उल्लेख हो चुका है।

माता पिता के आदरास्पद होने से भी उनकी आज्ञा अनुल्लंघनीय होती है। यह पहले बताया जा चुका है कि माता पिता गुरु तुल्य और देवता सदृश हैं। गुरुओं की आज्ञा में किसी प्रकार का विचार या शंका नहीं करनी चाहिए—आज्ञा गुरूणां ह्यविचारणीया। माता पिता देवता माने जाते हैं, अतः उनकी आज्ञा का पालन होना ही चाहिए। इस प्रसंग में यह बताना अनुचित न होगा कि इन्हें देवता क्यों माना जाता है और किन कारणों से उन्हें पूजित एवं प्रतिष्ठित समझा जाता है।

माता पिता को अधिक आयु के कारण एक प्रकार की विशिष्टता प्राप्त होती है। बालक बचपन में मां बाप को अधिक शक्तिशाली पाता है, अपने अज्ञान से उन्हें सब विद्याओं का आगार समझता है। युवा होने पर वह भले ही अपने को पिता से शक्तिशाली अनुभव करे, किन्तु उसके अनुभव ज्ञान के आगे पुत्र को हार माननी पड़ती है। कई जातियों में यह विश्वास पाया जाता है—दीर्घ जीवन और बुद्धिमत्ता सदा साथ साथ चलते हैं[८९]। वृद्धत्व अपने आप में आदर योग्य होता है। पिता वृद्ध होने से इस आदर का उपभोग करते हैं। मनु (२।१२१) ने वृद्धों का अभिवादन तथा सेवा आयु, विद्या, यश और बल को बढ़ाने वाली माना है। धम्मपद में भी यही बात दोहरायी गई है। मनु केवल वृद्धों की सेवा का फल बता कर ही सन्तुष्ट नहीं हुआ, उसने यह भी कहा है, जो युवा वृद्धों को उठ कर अभिवादन नहीं करते, इनकी मृत्यु संभव है; क्योंकि वृद्ध पुरुष के आने पर युवक के प्राण ऊपर की ओर उठते

---

८८. वन्य जातियों में माता पिता के प्रति प्रेम के उदाहरणों के लिए दे० वै० ओडेमा १।६१८ टि० ७, माता पिता के प्रति प्रेम के लिए दे० वहीं टि० ६

८९. लोस्कियल—हिस्ट्री आफ दी मिशन आफ् युनाइटिड ब्रदरन एमोंग-दी इण्डियन्स इन नार्थ अमेरिका, १।१५। पश्चिमी अफ्रीका में वृद्धों को ही ज्ञानी कहा जाता है ( किंगस्ली-वैस्ट अफ्रीका स्टडीज पृ० १४२ ) वृद्धों का यह सम्मान कई बार उनके पुरानी धार्मिक परम्पराओं तथा कुछ रहस्यमयी विधियों के ज्ञाता होने से भी होता है (वै० ओडेमा १।६१८)।

हैं (देह से बाहर निकलने लगते हैं ), प्रत्युत्थान और अभिवादन से वह उन्हें पुनः प्राप्त करता है ( २।१२० ) । बूढ़ा आदमी सर्वत्र अपने सफेद बालों, अधिक अनुभव और ज्ञान के कारण पूजा जाता है। मूरों की इस उक्ति में बड़ा सत्य है कि आदमी बूढा होकर सन्त बन जाता है । अतः माता पिता वृद्धावस्था में अपनी आयु तथा पुत्रों से विशिष्ट सम्बन्ध होने के कारण अत्यधिक प्रतिष्ठा पाते हैं ।

(ख) **धार्मिक विश्वास**—धर्म इन विश्वासों को पुष्ट करता है कि माता पिता की सेवा तथा आज्ञा पालन से उत्तम फलों की प्राप्ति और अभीष्ट सिद्धि होगी। यदि इन की सेवा नहीं की जायेगी तो धर्म कर्म निष्फल होगा। पिता धर्म, स्वर्ग और परम तप है। पिता के प्रसन्न होने पर सब देवता प्रसन्न हो जाते हैं, (महाभा० १२।२६६।२१) पिता माता और गुरु की आज्ञा के अनुसार चलने वाले के लिये स्वर्ग धन धान्य, विद्या, पुत्र तथा सब प्रकार के सुख-कुछ भी दुर्लभ नहीं रहता, माता पिता तथा गुरु के आज्ञा पालक महात्मा देवलोक, गन्धर्व लोक, गोलोक तथा ब्रह्मलोक प्राप्त करते हैं ( रामा० २।३०।३६-३७ ) माता पिता की प्रसन्नता को इतना महत्त्व दिया गया था कि श्रीकृष्ण महादेव जी से यह वर मांगते हैं कि माता पिता मुझसे सदा प्रसन्न रहें (महाभा० १३।१५।६) धर्मशास्त्रों में कई बार यह दोहराया गया है कि माता पिता और गुरु के अनादर से श्रौत स्मार्त आदि सभी प्रकार के धर्म निष्फल होते हैं (मनु० २।२३४ विष्णु० ३१।९ महाभा० १२।१०८।१२) । उत्तम फलों की प्राप्ति का प्रलोभन और माता पिता के अनादर के दुष्परिणामों का भय पुत्रों को पिता की वश्यता में रखने में सहायक होता है ।

(ग) **वर और शाप की शक्ति**—पिता के आशीर्वचनों और शापों की अमोघता का विश्वास भी पुत्रों को पिता की अधीनता में रहने को प्रेरणा करता है। माता पिता प्रत्यक्ष देवता हैं । उनके वचनों में बड़ी शक्ति है, यदि वे प्रसन्न हों तो पुत्र को अपने वरदानों से कृतकृत्य कर सकते हैं, रुष्ट हों तो शापों से दण्डित कर सकते हैं । पुत्र की ऐहिक उन्नति व पारलौकिक सुख के लिए उनके आशीर्वाद और शुभ कामनायें आवश्यक हैं । पिता के प्रसन्न होने पर उसका प्रत्येक वचन पुत्र के लिए आशीर्वाद होता है, वह सब पापों से मुक्त हो जाता है (महाभा० १२।२६६।२०) । किन्तु पिता के असन्तुष्ट होने पर पुत्र उसके शापों से किसी प्रकार मुक्त नहीं हो सकता । महाभारत में स्पष्ट शब्दों में यह घोषणा की गई है सब शापों का कोई प्रतिकार है, किन्तु माता से शाप पाये व्यक्ति का

कहीं छुटकारा नहीं है[९०]। जमदग्नि के पुत्रों ने पिता की आज्ञा का पालन नहीं किया। उस ने क्रुद्ध हो कर उन्हें शाप दिया। शाप से वे चेतना शून्य हो गए। परशुराम ने पिता की आज्ञा मानकर उससे माता तथा भाइयों का पुनरुज्जीवन, विजयी होने तथा दीर्घ काल तक जीवित रहने के लिए वर प्राप्त किये। ययाति के पुत्रों ने पिता को अपना यौवन देना स्वीकार नहीं किया, परिणामतः इन सब को शाप ग्रस्त होना पड़ा (भाग० ९।१९)। आशीर्वाद की लालसा और शापों की भीति पुत्रों को माता पिता की वशवर्तिता में रखती रही है[९१]।

---

९०. महाभा० १।३७।४ सर्वेषामेव शापानाम् प्रतिघातो हि विद्यते। नतु मात्राभिशप्तानां मोक्षः क्व च न विद्यते ॥

९१. प्राचीन काल के कई सभ्य समाजों में माता पिता के वरदानों और शापों में विश्वास पाया जाता था। यूनान में इस प्रकार के विचार की प्लेटो ने विस्तार से चर्चा की है—'न तो कोई देवता और न समझदार आदमी किसी को अपने माता पिता की उपेक्षा करने का परामर्श देगा। अनुश्रुति बताती है कि जब पुत्रों ने ईडिपस ( Oedipus ) का निरादर किया तो उस ने पुत्रों को शाप दिये। प्रत्येक पुरुष ने ये शाप सुने, देवताओं ने इन शापों का समर्थन किया। एमिण्टर ( Amynter ) ने क्रोध में अपने पुत्र फिनिक्स को तथा थिसियस ने हिप्पोलाइटज़ को शाप दिये। अपने बच्चों के प्रति माता पिता के अभिशाप जितने प्रबल होते हैं; अन्य शाप इतने प्रबल नहीं होते। (लेजेस ९।९३०)।

यहूदियों में माता पिता के आशीर्वाद में अमोघ विश्वास था। एक्लिजिआस्टिस ( ३।८ मि० ३।१६ ) में कहा गया है कि माता पिता का वचन और कर्म द्वारा सम्मान करो, ताकि उनसे तुम्हें आशीर्वाद मिल सके। पिता का आशीर्वाद सन्तानों के घरानों को संस्थापित करने वाला होता है, माता का शाप इनकी नींवों का उन्मूलन करने वाला होता है। वन्य जातियों में भी यह भावना पाई जाती है। विलसन ने म्पोंगवी जाति के सम्बन्ध में लिखा है कि इनमें युवा व्यक्ति वृद्ध पुरुष या पूज्य पिता के शाप के निवारण के लिए जितनी प्रार्थना करते हैं, उतनी किसी अन्य बुराई के निवारण के लिए नहीं करते (वैस्टर्न अफ्रीका पृ० ३९३)। उत्तरी अफ्रीका के मूरों की एक कहावत है कि यदि सन्त शाप दें तो माता पिता उसका प्रतिकार कर सकते हैं; पर यदि माता पिता शाप दें तो सन्त उसका प्रतिकार नहीं कर सकते (वै० ओडेमा १।६२२), पिता माता

**आर्थिक कारण**--पुत्र की वश्यता का एक हेतु यह भी है कि वह आर्थिक दृष्टि से पिता पर अवलम्बित रहता है। बचपन में वह पूर्ण रूप से पिता पर निर्भर होता है। व्यावसायिक क्रान्ति होने से पूर्व तक, युवा होने पर उसके लिए स्वतंत्र आजीविका के साधन बहुत कम थे। घर उसका प्रधान आश्रय स्थान था। इस में पिता की प्रभुता सर्वोच्च होती थी। पुत्र पिता की प्रभुता में रहता हुआ परिवार की सुख सामग्री का उपभोग कर सकता था। यदि पिता रुष्ट हो तो वह पुत्र को परिवार से पृथक् कर सकता था। उन दिनों परिवार से पृथक होने का अर्थ भूखों मरना था। अतः परिवार में रहते हुए पुत्र को पिता का अनुशासन स्वीकार करना पड़ता था।

**अन्य कारण**-----प्राचीन काल का पितृप्रधान (Patriarchal) सामाजिक संघटन भी पुत्र को पिता का वशवर्त्ती बनाता था। इस में परिवार के सभी व्यक्ति पिता की प्रभुता में रहते थे। पुत्र भी परिवार का अंग होने से पिता के आधीन था। इस युग में उत्पादक होने से भी, पिता का पुत्र पर स्वाम्य समझा जाता था। धर्मशास्त्रों में पत्नी को क्षेत्र कहा गया है, उसमें बीज डालकर जो सन्तान होती थी, वह क्षेत्रपति की समझी जाती थी[९२]। श्रीराम जैसे पुत्र स्वयं यह स्वीकार करते थे कि उत्पादक होने से माता पिता का हम पर विशेष अधिकार है; हमें उनके अनुकूल आचरण रखना चाहिए (रामा० २।१८।१५-१६)।

इस प्रकार प्राचीन काल में पुत्र स्वयं पिता के प्रति प्रेम, कृतज्ञता और सम्मान के भावों से पिता के वश में रहता था। उस समय के धार्मिक विश्वास, आर्थिक परिस्थितियां और सामाजिक अवस्थायें उसे माता पिता का आज्ञापालक और वंशवद बनाये रखने में सहायक थीं।

**वर्तमान युग में पुत्रों की वश्यता का ह्रास**--किन्तु आजकल परिस्थितियों के परिवर्तन से पुत्र की वश्यता में शिथिलता आ रही है। पिता की भक्ति तथा वर और शाप की शक्ति के विचार संदेहवाद और नास्तिकता की बाढ़ से आप्लावित हो चुके हैं। घर से बाहर आजीविका कमाने के साधनों का विकास होने से पुत्र आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी होने लगे हैं। समानता और

---

के वृद्ध होने तथा देवता समझा जाने से ही उनके वर और शाप में यह विलक्षण शक्ति मानी जाती है।

९२. नारद० १२।१९

स्वतन्त्रता की नवीन भावनाओं ने पितृप्रधान परिवार का अन्त कर दिया है, राजनैतिक क्षेत्र में स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष करने वाला युवक पिता की पराधीनता से भी मुक्ति चाहता है। वह अपने को माता पिता के सुखोपभोग का आनुषंगिक फल समझता है, अतः उसके मां बाप के प्रति कृतज्ञता के भावों में कमी आ रही है। महाकवि अकबर ने आधुनिक युवकों के विद्रोह का उत्तरदायित्व पश्चिमी ढंग की शिक्षा पर डालते हुए कहा था—'हम ऐसी कुल किताबों को काबिले ज़ब्ती समझते हैं; जिनको पढ़कर लड़के बाप को खब्ती समझते हैं'। यह केवल शिक्षा का ही परिणाम नहीं; किन्तु व्यावसायिक क्रान्ति द्वारा हमारे आर्थिक और सामाजिक जीवन में हुए मौलिक परिवर्त्तनों का फल है और युगधर्म है। कैन्यूट के आदेशों से समुद्र की लहरें नहीं रुकी थीं, पश्चिमी शिक्षा की निन्दा से पुत्रों की वश्यता में ह्रास की प्रवृत्ति नहीं रुक सकती।

---

# आठवां अध्याय

## पुत्री

वैदिक काल में कन्या की उपेक्षा—क्या वैदिक युग में कन्यावध प्रचलित था ?--कन्या की उपेक्षा के कारण--मध्ययुग में कन्यावध--कन्या के प्रति स्नेह—कन्या का दर्शन मांगलिक है ।

वंशविस्तार की दृष्टि से पुत्र की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण होते हुए भी, हिन्दू परिवार में कन्या प्रायः उपेक्षा का पात्र और विषाद का कारण समझी जाती रही है । वैदिक काल से हिन्दूसमाज में लगभग ऐसी स्थिति रही है, बीच में ऐसे भी समय रहे हैं, जब कन्यावध की दारुण प्रथा कुछ जातियों में विशेष रूप से प्रचलित थी । कन्या के प्रति हिन्दू समाज की सामान्य धारणा सायण द्वारा उद्धृत इस श्लोक से स्पष्ट है--'वह जन्म के समय अपने संबन्धियों को दुःख देती है, विवाह के समय (दहेज के रूप में) बहुत सा धन ले जाती है, यौवन में (असतीत्वादि) अनेक दोषों से ( कुल को) कलंकित कर सकती है, (इस प्रकार) लड़की माता पिता का हृदय विदीर्ण करने वाली होती है'[1] ।

**वैदिक काल में कन्या की उपेक्षा**--वैदिक युग के परिवार में हमें पुत्रों के प्रति पिता का पक्षपात स्पष्टरूप से दृष्टिगोचर होता है । धार्मिक दृष्टि से वंश चलाने के लिये तथा योद्धाओं की आवश्यकता होने के कारण उस समय पुत्र की अपेक्षा पुत्री की अधिक कामना की जाती थी । ऋग्वेद में बार बार वीर पुत्रों की प्रार्थना की गयी है [2] किन्तु पुत्री की याचना कहीं नहीं है । अथर्व-

---

१. संभवे स्वजनदुःखकारिका, सम्प्रदानसमयेऽर्थहारिका । यौवनेऽपि बहुदोषकारिका, दारिका हृदयदारिका पितुः ॥ ऐतरेय ब्राह्मण ३३।१ के भाष्य में उद्धृत ।

२. ऋ० १।९१।२०, १।९२।१३, ३।१।२३, १०।८५, ४१, ४२, ४५; किन्तु महाभारत में गान्धारी द्वारा कन्या की कामना की गयी है, १।१६८।८ ममेयं परमा तुष्टिर्दुहिता मे भवेद्यदि । मि० बृहदारण्यक उपनिषद् ६।४।१८

वेद के पुंसवन सूक्त में कहा गया है कि पुरुष सन्तान ही उत्पन्न हो (६।११। ३ ); अन्यत्र पुरुष गर्भ के स्त्री गर्भ न होने की कामना है ( अथर्व० ८।६।२५ ) । विवाह का उद्देश्य स्पष्ट रूप से पुरुष सन्तान प्राप्त करना ( पुंसे पुत्राय वेत्तवै) बताया गया है ( आश्व० गृ० सू० १।७ ) । ऐतरेय ब्राह्मण ( ३३।१) के मत में लड़की निश्चित रूप से दुःख है (कृपणं[3] हि दुहिता) । अतः यह स्पष्ट है कि वैदिक युग में कन्या हर्ष का हेतु नहीं थी ।

**वैदिक युग में कन्यावध**--किन्तु क्या उस समय परवर्ती युगों की भांति कन्यावध की प्रथा प्रचलित थी ? इस सम्बन्ध में वैस्टरमार्क, ज़िमर, डेलब्रुइक वैबर और राजवाड़े का यह मत है कि उस समय बालिका वध प्रचलित था[4]। किन्तु इन विद्वानों द्वारा इस के समर्थन में उपस्थित किये गये प्रमाणों का अर्थ असंदिग्ध और निश्चित नहीं है । वैस्टरमार्क का इस विषय में ऋ० २। २९।१ का प्रमाण बालिकावध के लिये पुष्ट साक्षी नहीं प्रतीत होता । इसमें पाप को वैसे ही दूर फेंकने की प्रार्थना है, जैसे गुप्त रूप से प्रसव करने वाली स्त्री अपने बच्चों को फेंकती है । वास्तव में इस मंत्र का सम्बन्ध नाजायज बच्चों से है, विवाह द्वारा उत्पन्न सन्तान से नहीं । ज़िमर और डेलब्रुइक का मुख्य आधार एक याज्ञिक प्रक्रिया के सम्बन्ध में कहे गये तैं० सं० ६।५।१०।३, मैत्रा० ४।६।४; ४।६।९ और का० सं० २७।८ के कुछ वचन हैं । इन में यज्ञ की समाप्ति पर स्नान ( अवभृथ ) के लिये जाते हुए सोमरस वाले मिट्टी के पात्र ( स्थाली ) को वेदी में उसी तरह छोड़ने तथा सोमरस की आहुति वाले चमस को उसी प्रकार अपने साथ ले जाने का वर्णन है जैसे "स्त्री को पैदा होने पर छोड़ देते हैं, किन्तु पुरुष को नहीं छोड़ते[5]"। यह अर्थ उपर्युक्त आधुनिक विद्वानों के अनुसार है । यहां मूल शब्द 'परास्यन्ति' है । इसका अर्थ ज़िमर और डेलब्रुइक के मत

---

३· सायण भाष्य--कृपणं केवलं दुःखकारित्वात् दैन्यहेतुः । कृपण शब्द का दूसरा अर्थ कृपा या स्नेह का पात्र भी है । कुल्लूक ने मनु० ४।१८५ में दुहिता कृपणं परम् में इस का यही अर्थ किया है । ऐतरेय ब्राह्मण के आधुनिक अनुवादकों में कीथ सायण का तथा हाग कुल्लूक का अनुयायी है ।

४. वैस्टरमार्क--ओरिजिन एण्ड डेवलपमैण्ट आफ मारल आइडियाज़ पृ० ३९३-४१३, जिमर डेलब्रुइक तथा वैबर प्रमाणों के लिये देखिये वैदिक इंडेक्स खण्ड १, पृष्ठ ४८७ ।

५ का० सं० २७।९ तस्मात्स्त्रियं जातां परास्यन्ति न पुमांसम् ।

में लड़कियों का ऐसे घने जंगलों में छोड़ आना है, जहां उन्हें वन्य हिंस्र जन्तु अपना भक्ष्य बना लें। राजवाड़े ने इस अर्थ का समर्थन करते हुए लिखा है कि यह उन दुर्दिनों का चित्र उपस्थित करता है, जब बालिका वध ने भारतीय इतिहास के पृष्ठों को काला किया था[६]।

किन्तु किसी भी प्राचीन टीकाकार ने ऐसा अर्थ नहीं किया। सायण के के मत में इस का अभिप्राय लड़की को वरकुल में छोड़ना (तै० सं० १।४।२८) है, दुर्गाचार्य (निरुक्त ३।४) इसका समर्थन करते हुए कहता है कि वे लड़की दूसरों को देते हैं (परास्यन्ति परस्मै यच्छन्ति)[७]। राजवाड़े ने सायण के अर्थ को क्लिष्ट मानते हुए क्षत्रियों के उदाहरण से इसकी पुष्टि करने का यत्न किया है; किन्तु वैदिक साहित्य की कोई निर्विवाद साक्षी नहीं दी। उपर्युक्त प्रमाणों में 'परास्यन्ति' का अर्थ यदि यह किया जाय कि पैदा होने पर लड़की को तो (पुरुष शय्या पर ही) छोड़ देते हैं तथा लड़के को नहीं छोड़ते (उसे प्यार से उठा लेते हैं) तो यह अर्थ याज्ञिक प्रक्रिया के अधिक अनुकूल तथा कन्या विषयक अन्य संकेतों के साथ अधिक संगत बैठता है। इससे यही परिणाम निकलता है कि वैदिक आर्य कन्या के जन्म पर प्रसन्न नहीं होते थे, पहले उद्धृत किया ऐत० ब्रा० (३३।१) का वचन भी इस का समर्थक है। अतः इस से कन्या वध की पुष्टि करना उचित नहीं प्रतीत होता। वैबर द्वारा दिया गया पंचविंश ब्राह्मण के आंगिरस युक्ताश्व का प्रमाण (११।८।८) कन्यावध का पोषक नहीं है; क्योंकि वहां युक्ताश्व द्वारा शिशुओं को केवल विपरिहार (बाधा या कष्ट) देने का वर्णन है, वध का उल्लेख नहीं है। पुष्ट साक्षियों के अभाव में वैदिक युग में कन्यावध की परिपाटी का प्रचलन अमान्य प्रतीत होता है।

वैदिक युग की भांति परवर्त्ती काल में भी हिन्दू परिवार में कन्या उपेक्षा का पात्र रही। वाल्मीकि रामायण के मतानुसार मानाकांक्षी के लिये कन्या का पिता होना दुःख का कारण है, क्योंकि यह नहीं पता होता कि कन्या किस का वरण करेगी, वह माता पिता और श्वशुर—तीनों के कुलों को (दुश्चरित्रता के कारण) संशय में रखती है। (७।९।१०-११, ७।१२।११-१२)। महाभा० में कन्या कष्ट (कृच्छ्रन्तु दुहिता किल १।१५९।११) और शत्रु मानी गमी (१२।२४३।२०) है। कौरव पाण्डवों के भीषण युद्ध का एक अपशकुन कई

---

६. निरुक्त, भांडारकर रिसर्च इंस्टीट्यूट द्वारा प्रकाशित पृ० ४२१

७. निरुक्त आनन्दाश्रम संस्करण प्रथम भाग प० ८०

स्त्रियों का चार पांच लड़कियां उत्पन्न करना था (महाभारत ६।३।७)। बाण के मतानुसार कन्या युवती होने पर पिता को चिन्ता के भंवर में डाल देती है[८]।

**उपेक्षा के कारण**—हिन्दू परिवार में कन्या की उपेक्षा और दुर्दशा के प्रधान कारण उस से उत्पन्न होने वाली अनेक प्रकार की चिन्तायें हैं। पहली चिन्ता उसके लिये उपयुक्त वर ढूंढ़ने की है, दूसरी उसके लिये दहेज जुटाने की, तीसरी उसकी तनिक असावधानी से अपने कुल की अपकीर्ति की, चौथी श्वशुर कुल में उस के सुखी रहने की[९]। प्रभाकरवर्धन जैसे सहृदय व्यक्ति के शब्दों में माता पिता को सबसे अधिक दुःख इस बात का होता है[१०]—'उनके अपने शरीर से उत्पन्न, अपनी गोद में पाले पोसे और कभी न छोड़े जाने वाले बच्चों को अकस्मात् दूसरे अपरिचित व्यक्ति ले जाते हैं। इसीलिये सज्जन सन्तान रूप से तुल्य होने पर भी कन्या के पैदा होने पर दुःखी होते हैं। इसी भय से मुनि विवाह नहीं करते, घर छोड़ कर सुनसान जंगलों में रहते हैं।"

**मध्ययुग में कन्यावध**—मध्य एवं मुगलयुग में राजपूतों तथा हिन्दुओं के अनेक वर्गों में दहेज की कुप्रथा का विकास होने से बालिका वध की दारुण परिपाटी को बड़ा प्रोत्साहन मिला। वैदिक युग में इस के प्रचलन में पूरा संदेह है, किन्तु मध्य तथा ब्रिटिशयुग इस का व्यापक प्रचार निर्विवाद है। राजपूतों में पृथ्वीराज चौहान जैसे राजाओं के लिये दहेज में जब खज़ाने खाली होने लगे[११], बड़ी गरीबी के समय जब उदयपुर के राणा ने अपनी कन्याओं के विवाह के समय मुख्य भाटों को केवल एक लाख रुपया देना शुरू किया[१२] और बसोली के राजकुमार जैसे कदापि न प्रसन्न होने वाले जामाता हिन्दू समाज में उत्पन्न

---

८. हर्षचरित ४ र्थ उच्छ्वास पृ० १४०-४१ उद्वेगमहावर्त्ते पातयति पयोधरोन्नमन काले। सरिदिव तटमनुवर्षं विवर्धमाना सुता पितरम् ॥

९. मिलाओ पंचतन्त्र मित्रभेद ( जीवानन्द संस्करण ) श्लोक २२-२४ पुत्रीति जाता महतीह चिन्ता, कस्मै प्रदेयेति महान्वितर्कः। दत्ता सुखं प्राप्स्यति वा न वेति, कन्यापितृत्वं खलु नाम कष्टम् ॥

१०. हर्षचरित वहीं मदंगसंभूतान्यंकलालितान्यपरित्याज्यान्यपत्यकान्यकाण्डएवागत्यासंस्तुतैर्नीयन्ते।

११. टाड-एनल्स एण्ड एण्टीक्विटीज़ आफ़ राजस्थान पृ० ६६२

१२. टाड—वहीं।

हुए[१३] तो कन्याओं का विवाह बहुत कठिन हो गया। उस के लिये उपयुक्त वर ढूंढ़ने की चिन्ता तथा विवाह के समय परेशानियों और अपमानों का घूंट पीने की अपेक्षा कन्याओं को पैदा होते ही मारना अधिक अच्छा समझा जाने लगा। महाराजा जयसिंह ने इस का मूल कारण दहेज समझते हुए सामन्तों की एक परिषद् बुला कर शादी के खर्च की राशि नियत कर इस बुराई को मिटाना चाहा, किन्तु सलूम्बरा के सरदार चन्दावत के विरोध के कारण यह योजना सफल नहीं हुई।

१९ वीं शती में पंजाब और राजपूताने में इस कुप्रथा का प्रचार था। पंजाब के खत्री, बेदी, जाट, राजपूत और मुहियालों में इस का प्रसार था। गुरु गोविन्दसिंह द्वारा कुड़ीमारों (कन्यावध करने वालों) की निन्दा इसे नहीं बन्द कर सकी। पंजाब पर अंग्रेजों का अधिकार होते ही सर जान लारेन्स द्वारा प्रचालित तीन आज्ञाओं में एक थी--बेटी मत मारो। १८५२ में मेजर एडवर्डस् ने जयसिंह की भांति पंजाब के खत्रियों में वैवाहिक व्यय नियन्त्रित कर इस कुप्रथा का अन्त करने का निष्फल प्रयत्न किया[१४]। पंजाब की १९११ की जनगणना रिपोर्ट में यह बताया गया है कि बालिकाओं के वध के लिये मुख्य रूप से पांच नृशंस उपाय बरते जाते थे (१) गला घोंटना (२) आक का रस देना (३) पहली घुट्टी में अफीम की बहुत अधिक मात्रा मिला देना (४) माघ पूस की ठंड में शीतल जल डाल कर मारना (५) कुछ भी खाने को न देकर भूखा मारना। १८७० में बालिका वध को रोकने के लिये एक कानून बनाया गया, किन्तु फिर भी इस कुप्रथा का पूरी तरह से अन्त नहीं हुआ। १९३० की जनगणना रिपोर्ट के अनुसार ग्वालियर के भादुरिया और तंवर राजपूतों में एक हजार पुरुषों के पीछे स्त्रियों की संख्या क्रमश: ६३४ और ६२२

---

१३. पंजाब की १९११ की जनगणना रिपोर्ट ( खंड १ पृ० २५० ) में यह लोककथा दी गयी है कि बसोली का राजकुमार कांगड़े की राज कन्या को धूम धाम से व्याह कर और खूब दहेज पाकर जब घर लौटने लगा तो तम्बू गाड़ने वालों को हथौड़ों की कमी महसूस हुई। इस पर वे कांगड़ा के राजा को गालियां देने लगे। राजा ने वह अपमान तो किसी प्रकार सह लिया, किन्तु भविष्य में इस की पुनरावृत्ति रोकने के लिए बालिका वध प्रचलित किया॥

१४. पंजाब की उपर्युक्त रिपोर्ट पृ० २४३

१५. वही पृ० २५८

थी। जयपुर राज्य की शेखावत शाखा के कछवाहों में प्रति सहस्त्र पुरुषों के पीछे स्त्रियां केवल ५३० थीं। इस कमी का एक प्रधान कारण गुप्त रूप से कन्या वध का प्रचलन था[१६]। यह स्मरण रखना चाहिये कि कन्या के आर्थिक रूप से भार होने के कारण प्राचीन काल में भारत की भांति चीन, अरब यूनान आदि देशों में बालिकावध की परिपाटी प्रचलित थी[१७] और कन्या का जन्म दुःख का हेतु समझा जाता था।

इसमें कोई संदेह नहीं कि हिन्दू परिवार में अब बालिकावध की परिपाटी विलुप्त प्राय है; किन्तु कन्याओं की उपेक्षा तथा उनके जन्म को दुःख का कारण समझना अब तक प्रचलित है। इस स्थिति का अन्त दहेज प्रथा के उन्मूलन के साथ ही होगा। जब तक माता पिता को कन्या का वर ढूंढ़ने और उसे सन्तुष्ट करने की आवश्यकता बनी रहेगी, तब तक हिन्दू परिवार में कन्या का जन्म चिन्ता का विषय बना रहेगा।

**कन्याओं का अक्षतयोनित्व**--धर्मशास्त्रों में विवाह से पूर्व कन्या के कौमार्य को सुरक्षित रखने पर बहुत बल दिया गया है। गौतम (४।१)

---

१६. भारत की जनगणना रिपोर्ट १९३१ खण्ड १, पृ० १९५-९६।

१७. चीनियों का मन्तव्य है कि लड़की ने चाहे रानी बनना हो, उसे मारा जा सकता है, लड़के ने भिखारी बनना हो, तो भी उसे नहीं मारना चाहिये (इंसा० रिली० ई० खण्ड ५ पृ० ७३२) अरबों में यह कहावत थी कि लड़कियों का दामाद कब्र होता है, उनमें लड़कियों को जिन्दा कब्र में गाड़ने की परिपाटी थी। हजरत उस्मान की आंखों से पहली वार आंसू तब ढलके, जब उन्होंने अपनी भोली लड़की को इस प्रकार गाड़ा। हजरत मुहम्मद ने कन्यावध की घोर निन्दा की। प्राचीन यूनानियों में परासन (Exposure) अर्थात् अपनी सन्तानों, विशेषरूप से कन्याओं को जंगल में फैंक देने की परिपाटी थी। प्राचीन ट्यूटन लोगों में कन्या का जन्म बड़ी मुसीबत समझा जाता था। आज भी एक लिथुआनी अपनी सन्तान की संख्या पूछे जाने पर, लड़कियों के दुःख का हेतु होने से उनकी संख्या को, अपने उत्तर में सम्मिलित नहीं करता (इंसा० रिली० खं० ५ पृ० ७५३)। जहां कन्या की बजाय लड़के आर्थिक दृष्टि से बोझ होते हैं, वहां उनके वध की प्रथा पायी जाती है। पैरागुए के अबीपोज लोगों में पत्नी को दाम देकर खरीदने की प्रथा है, लड़कों के लिये पैसे खर्च करने पड़ते हैं; अतः इनमें लड़कों को मारने की पद्धति प्रचलित है ( फिंक--प्रिमिटिव लव पृ० ५८७ )।

अनन्यपूर्वा, वसिष्ठ ( ८।१ ) अस्पृष्टमैथुना, याज्ञ० (१।५२) अनन्यपूर्विका कन्या को पाणिग्रहणयोग्य समझता है। मनु (९।१७६ ) के मत में विवाह संस्कार अक्षतयोनि का ही हो सकता है। कौमार्य नष्ट करनेवालों के लिये कठोर दण्डों का विधान है। आपस्तम्ब (२।१०।२६।२१) ऐसे व्यक्ति के लिये सर्वस्व छीनने की तथा देश निर्वासन की सजा बताता है। मनु किसी कन्या के सम्बन्ध में झूठा प्रवाद उड़ानेवाले को १०० पण के दण्ड का विधान करता है ( ८।२२५)। विष्णु इससे सन्तुष्ट न होकर कठोरतम जुर्माने का समर्थक है ( ५।४७)। महाभारत में कन्याओं के कौमार्य का लोप राज्य के पतन का चिह्न माना गया है (१०।९०।३०)। कलियुग का एक यह भी लक्षण है कि उस समय कुमारियां मातायें होने लगेंगी ( नारद १।३१ )। महर्षि वेद-व्यास के मत में कौमार्यनाश से कन्या न केवल अपनी प्रतिष्ठा खोती है (महाभा० १३।३६।१७) किन्तु इससे ब्रह्महत्या का एक तिहाई पाप भी प्राप्त करती है[१८]।

हिन्दू कन्याओं ने अपने कौमार्य को अखण्डित रखने के लिये प्राणों का बलिदान करने में संकोच नहीं किया। इसका सर्वोत्तम उदाहरण वेदवती ( रामा० ७।१७ ) है। बृहस्पति के पुत्र ब्रह्मर्षि कुशध्वज की इस वाङमयी ( वचनों से प्रादुर्भूत ) कन्या ने विष्णु को पतिरूप से प्राप्त करने के लिये उग्र तप किया। उसके रूप से मुग्ध हो, रावण ने उसे त्रिलोकी के ऐश्वर्य का प्रलो-भन दिया और ज़बरदस्ती बालों से पकड़ा। वेदवती इससे क्रुद्ध होकर चिता जलाकर उसमें यह कहती हुई भस्म हो गयी कि स्त्री के लिये पापी को मारना शक्य नहीं, किन्तु अपने तप के कारण मैं अगले जन्म में तेरे वध का कारण बनूंगी। सीता के रूप में उत्पन्न हो, वह रावण के वध का हेतु बनी। हिन्दू परिवार में वेदवती जैसी सैकड़ों कन्याओं ने संकट आने पर अपने प्राणों की अपेक्षा कौमार्य को अधिक महत्त्व दिया है।

कौमार्य अक्षुण्ण रखने की भावना, महाभारत में कई स्थलों पर बड़े विचित्र रूप में दृष्टिगोचर होती है। कुछ कारणों से कौमार्य खण्डित होने पर भी कन्यायें अक्षतयोनि बनी रहती हैं। कुन्ती, सत्यवती, द्रौपदी और माधवी इसके प्रधान उदाहरण हैं। देवों के आह्वान के लिये दिये एक मंत्र की कौतुकवश परीक्षा के

---

१८. महाभा० १२।१६५।१२ त्रिभागं ब्रह्महत्यायाः कन्या प्राप्नोति दुष्यती।

लिये कुन्ती ने सूर्य को बुलाया और उसके बड़े आग्रह तथा पुनः कन्या हो जाने के आश्वासन पर ही लाचारी में सूर्य से कर्ण को प्राप्त किया (३।१०३-१०६ अ०)। आश्रमवासिक पर्व में इस घटना पर दुःखी कुन्ती को व्यास ने यह सान्त्वना दी है कि इसमें तुम्हारा कोई दोष नहीं, क्योंकि तुम पुनः कन्या हो गयी थी[१९]। पराशर ने इसी शर्त्त पर सत्यवती से कृष्णद्वैपायन को जन्म दिया था[२०]। इन दोनों उदाहरणों में कन्यात्व एक बार ही दूषित हुआ था किन्तु माधवी और द्रौपदी अनेक समागमों के बाद भी कन्या ही बनी रहीं[२१]। अपने गुरु महर्षि

---

१९. वही १५।३०।२१ अपराधश्च ते नास्ति कन्याभावं गता ह्यसि।

२०. वही १।६३।७८—उवाच मत्प्रियं कृत्वा कन्यैव त्वं भविष्यसि।

२१. महाभारत में कन्या का समागम के बाद भी, अक्षत योनि बना रहना प्रायः वरदान का प्रभाव बताया गया है, यह असंभव नहीं है; क्योंकि वर्त्तमान काल के शरीरशास्त्री कौमार्य का अक्षतयोनित्व के साथ अविनाभाव सम्बन्ध नहीं समझते। यह प्रधान रूप से योनिमार्ग के द्वार को ढांपने वाली एक झिल्ली (कुमारीच्छद) की बनावट पर आश्रित है। यदि इसके छिद्र में अधिक लचक हो, तो ३०-४० वर्ष तक अपना यौन जीवन बिताने के बाद भी स्त्री अक्षतयोनि बनी रहती है। फिलिप ने (दी क्राइसिस आफ मैरिज भारतीय संस्करण बम्बई १९४४ पृ० २१) लिखा है कि वर्षों तक पेशा करने वाली अनेक गणिकायें योरोप में अक्षत योनि बनी रहती हैं। जब झिल्ली के छिद्र में लचक कम हो तभी स्त्री क्षतयोनि होती है और यह क्षत समागम के अतिरिक्त सड़क पर गिर पड़ने, कूदने, धक्का लगने आदि से भी हो सकता है। मध्यकालीन और आधुनिक योरोप में कृत्रिम रूप से अक्षत योनि की स्थिति उत्पन्न करने के अनेक उदाहरण मिलते हैं। डा० बोअर ने एक मध्यकालीन कविता के आधार पर एक ऐसी कुट्टनी का वर्णन किया है, जो पशुओं के ब्लैडर सीकर, टांके लगाकर तथा कई पेड़ों की जड़ों से यह कार्य करती थी। १८८०-९० के बीच में लंडन में पालमाल गज़ट द्वारा ऐसी घटनायें प्रकाश में आयीं, जिन से यह ज्ञात हुआ कि अक्षतयोनि कन्याओं की बढ़ती हुई मांग स्त्रियों को तीन, चार या पांच वार नये सिरे से कुमारी बना कर पूरी की जा सकती थी। (मेहता-साइण्टाफिक क्यूरिआसिटीज़ आफ सैक्स लाइफ पृ० २६९)। योरोप के प्रायः प्रत्येक महत्वपूर्ण शहर और कस्बे में कम से कम एक ऐसा डाक्टर अवश्य होता है; जो स्त्रियों में कुमारी बनानेवाले डाक्टर (र्वाजन डाक्टर) के नाम से प्रसिद्ध होता है। गलत कदम उठाने

विश्वामित्र से शिक्षा पूरी करने के बाद जब गालव ने गुरुदक्षिणा देने के लिये बहुत आग्रह किया तो गुरु ने एक ओर से श्यामकर्ण आठ सौ घोड़ों की मांग की। गालव इसे पूरा करने के लिये अपने मित्र गरुड़ की प्रेरणा से राजा ययाति के पास पहुँचा; उसने गालव को अपनी रूपवती कन्या माधवी का दान कर उस द्वारा उसे ८०० घोड़े प्राप्त करने का परामर्श दिया। इक्ष्वाकुवंशी राजा हर्यश्व माधवी को चाहते थे, किन्तु उनके पास २०० ही घोड़े थे। माधवी ने गालव को बताया कि किसी ब्रह्मवादी के वर से वह प्रसूति के बाद कन्या हो जायगी[२२], अतः उसे चार राजाओं को दान कर वह उनसे ८०० घोड़े प्राप्त करे। गालवने हर्यश्व, दिवोदास, उशीनर और विश्वामित्र को बारी बारी से माधवी देकर अपनी गुरु दक्षिणा प्राप्त की ( ५।११५-२० अ० )। द्रौपदी का पांच पाण्डवों से परिणय हुआ था और वह प्रतिदिन की समाप्ति पर कन्या हो जाती थी[२३]।

**कौमार्य के प्रेरक कारण**—कन्याओं को अक्षतयोनि रखने की चिन्ता प्रायः अनेक जातियों में पायी जाती है[२४]। पुरुष अक्षत योनि कन्या ही चाहता है।

---

वाली स्त्रियां इससे लाभ उठाती हैं और अक्षत योनि की चाह रखनेवाले पुरुषों की अभिलाषा पूर्ण करने के लिये वार वनितायें भी इससे आपरेशन द्वारा कृत्रिम योनिच्छद लगवाकर कुमारी बनती हैं ( क्राइसिस इन मैरिज, पृ० १८-२३ )। महाभारत के उदाहरणों का आशय यह भी हो सकता है कि प्रसूति के बाद कुन्ती आदि का शरीर पुनः कन्याओं जैसा हो गया ( अत्रिदेव-स्त्रियों का स्वास्थ्य और रोग पृ० १०५–८)यह भी संभव है कि उनके कुमारीच्छद की लचकीली रचना उन्हें कुमारी बनाये रखने का मुख्य कारण हो।

२२. महाभा० ५।११५।२१ मम दत्तो वरः कश्चित्केनचिद् ब्रह्मवादिना। प्रसूत्यन्ते प्रसूत्यन्ते कन्यैव त्वं भविष्यसि ॥

२३. महाभा० १।१९८।१४ महानुभावा किल सा सुमध्यमा, बभूव कन्यैव गते गतेऽहनि ॥

२४. यहूदियों में यदि कोई कन्या क्षतयोनि सिद्ध होती थी तो उसके पिता के घर के सामने शहर के लोग उसे पत्थरों से मार देते थे (डिट्रानमी २२।१३-२१ )। यहूदियों में कन्या के कौमार्य के प्रमाण माता पिता को सौंप दिये जाते थे और बाद में यदि पति पत्नी में इस सम्बन्ध में विवाद हो तो ये प्रस्तुत किये जाते थे। डिट्रानमी से इन प्रमाणों का स्वरूप स्पष्ट नहीं होता। किन्तु अनेक जातियों में, इसकी साक्षी प्रायः रक्त रंजित वस्त्र होता है। कुछ अरब

इसके दो मनोवैज्ञानिक कारण तथा एक आर्थिक हेतु है । पहला कारण यह है कि पुरुष दुष्यन्त की भांति 'अनाघ्रात पुष्प, अलून पल्लव, अविद्ध रत्न' की तरह ( शाकु० २।१० ) अक्षतयोनि कन्या का उपभोग चाहता है । महाभारत में अन्य-पूर्वा के तिरस्कार और निन्दा के अनेक उदाहरण हैं । काशिराज की कन्या अम्बा को भीष्म यद्यपि हर लाया था, किन्तु उसने अम्बा की प्रार्थना पर उसे शाल्वराज के पास जाने दिया, क्योंकि वह पति रूप से उसका वरण कर चुकी थी । पर शाल्व ने उसे इसलिये नहीं स्वीकार किया कि वह अन्य-

---

**जातियों में, वैवाहिक प्रीतिभोज के बाद, वर वधू के शयनकक्ष में जाने पर, सम्बन्धी बाहर प्रतीक्षा करते हैं; वर के बाहर आने पर सम्बन्धी अन्दर जाकर शय्या की चादर का निरीक्षण करते हैं; यदि उस पर खून के धब्बे हों, तो वर को बधाई देते हैं; न हों तो क्रुद्ध होकर वधू पर टूट पड़ते हैं, बुरी तरह पीट कर उसे घर से बाहर निकाल देते हैं । पिता या पति के घर में उसका कोई स्थान नहीं रहता, उसे गणिका होने के लिये बाधित किया जाता है । उत्तरी अफ्रीका के चकलों में इस प्रकार विवशतापूर्वक यह पेशा अपनाने वालों की संख्या काफी होती है । ( क्राइसिस आफ मैरिज, पृ० २० ) । दक्षिणी स्लावों में कन्यात्व की परीक्षा के लिये बिस्तर की चादर तथा वधू के अधोवसन की जांच होती है । रूसियों तथा बल्गेरिया के तुर्कों में यही रिवाज है । दक्षिण अमरीका की युरकरा जाति में वधू के सुहागरात वाले अधोवसन का जलूस निकाला जाता है । ब्रान्तोम ने स्पेन के सम्बन्ध में लिखा है कि प्रथम समागम के बाद वधू का रक्तरंजित वस्त्र खिड़की से बाहर दिखाया जाता था और उच्च स्वर से वधू के कन्या होने की घोषणा की जाती थी । (मेयर—सैं० ला० पृ० ४३) । प्राचीन भारत में ऐसी प्रथा की सत्ता हाल की गाथा सप्तशती में वर्णित ( गाथा सं० ४५७) कृत्रिम आनन्द पट से सूचित होती है । मध्यकालीन योरोप में चादर पर कबूतर का खून छिड़क कर तथा योनि की दीवारों पर जोंक आदि से घाव बनवा कर तथा ईरान में पहले से ही रक्तरंजित कपड़ा रख कर क्षतयोनि कन्यायें अपना कौमार्य सिद्ध करती थीं (मेहता—साइण्टिफिक क्यूरिआसिटीज़ आफ सैक्स लाइफ पृ० २६९)। धोखा धड़ी से बचने के लिये सूडान व अफ्रीका में कन्याओं के यौन अंगों के साथ इस ढंग से एक मुद्रिका बांधी जाती थी कि वे समागम कर ही न सकें। जिन कन्याओं का मुद्रिकाबन्ध ( Infibulation ) नहीं होता था, उनका विवाह नहीं हो सकता था (वैस्टरमार्क-हिस्ट्री आफ ह्यूमन मैरिज, पृ० १२४) ।**

पूर्वा थी। अम्बा के बहुत सफाई पेश करने पर भी केंचुली छोड़ने वाले सांप की तरह, शाल्व ने उसका त्याग किया ( ५।१७५।१९ )। अर्जुन ने भुक्तपूर्वा स्त्री को प्राप्त करने वालों की गणना ब्रह्महत्या तथा गोहत्या करनेवाले पापियों के साथ की है ( ७।७३।४ अनु० )। डा० बोअर के मत में अक्षतयोनि कन्या के आग्रह का प्रधान कारण पुरुषों की अहंभावना और गर्व है। उसकी ईर्ष्या जैसे विवाह के बाद पत्नी के सतीत्व की आकांक्षा रखती है, वैसे ही विवाह से पूर्व उसकी शुद्धता चाहती है। दूसरा मनोवैज्ञानिक कारण हैवलाक एलिस का यह मत है कि कन्या लज्जालु और संकोचशील होने से अधिक चाही जाती है[२५]। तीसरा कारण आर्थिक है। पहले कन्या पिता की संपत्ति थी और विशाखा के शब्दों में बिकाऊ बर्त्तन[२६]। व्यवहार से कोरे कपड़े की कीमत घट जाती है। डा० ग्रेड ने टोगो लैण्ड के हब्शियों के सम्बन्ध में लिखा है कि वहां अन्य स्त्रियों की अपेक्षा कुमारी का मूल्य अधिक है[२७]। प्रायः सर्वत्र कन्यादूषण साम्पत्तिक अपराध है[२८]। आजकल पश्चिमी जगत् में नवीन परिवर्त्तनों के कारण कौमार्य की मांग घट रही है[२९]। किन्तु हिन्दू परिवार में अभी इसके भविष्य के संबन्ध में कुछ कहना कठिन है।

**कन्या के प्रति स्नेह**--विषाद का हेतु होने पर भी, हिन्दू परिवार में, कन्या माता पिता के अगाध प्रेम का पात्र रही है। शुक्राचार्य जैसे पिताओं को, अपनी लाड़ली लड़कियों की तनिक भी नाराजगी सह्य नहीं थी, महाभारत के वर्णना-

---

२५. स्टडीज इन सैक्स साइकालोजी खं० १, माडेस्टी का प्रकरण। हमारे यहां रीतिकारों ने इसीलिये मुग्धा नायिका की महिमा का वर्णन किया है।

२६. बुद्धचर्या पृ० २२६

२७. वैस्टरमार्क--हि० ह्यू० मै० पृ० १२४

२८. वही--ओरिजिन एण्ड डेवेलपमेंट आफ मारल आइडियाज खण्ड २, अध्याय ४२

२९. संयुक्त राज्य अमरीका में छः हजार के लगभग स्त्री पुरुषों से पूछे गये प्रश्नों के आधार पर, डा० किन्ज़ी ने गतवर्ष एक महत्वपूर्ण रिपोर्ट (सैक्षुअल बिहेवियर इन फीमेल ) प्रकाशित की है। इसमें यह परिणाम निकाला गया है कि ये प्रश्न जिन पुरुषों से पूछे गये थे, उनमें केवल ४० प्रतिशत ही कुमारिकाओं से विवाह की इच्छा रखते थे, स्त्रियों में यह संख्या २५ प्रतिशत ही थी।

नुसार देवयानी अपने पिता का प्राण थी[३०]। शुक्राचार्य ने उसके आग्रह से तीन वार दैत्यों द्वारा मारे गये कच का पुनरुज्जीवन किया और अन्तिम बार कच को जिलाने के लिये उन्हें अपने प्राणों को संकट में डालना पड़ा था; क्योंकि दैत्यों ने कच के टुकड़े कर, उन्हें मदिरा में घोलकर शुक्राचार्य को पिला दिया था, और कच उनका पेट फाड़े बिना बाहर नहीं आ सकता था (महाभा० १।७६ अ०)। देवयानी जैसा लाड़ प्यार प्रायः पुत्रियों को हिन्दू परिवार में अपने माता पिता से मिलता रहा है। द्रौपदी ने पिता की गोद में बैठे हुए नीति का उपदेश सुना था ( महाभा० ३।३२।६५ )। ऋग्वेद में अपने माता पिता की गोद में पड़ी हुई दो बहनों का उल्लेख है (१।१८५।५ )।

शास्त्रकारों ने कन्या को पुत्रतुल्य माना है। मनु के अनुसार जैसे पुत्र अपना ही दूसरा रूप होता है, उसी तरह लड़की पुत्र के बराबर होती है। आत्म रूप कन्या के होते हुए (किसी व्यक्ति के अपुत्र मरने पर भी) दूसरा व्यक्ति उसकी सम्पत्ति में कैसे हिस्सा ले सकता है। (मि० महा० १३।४५।११)[३१]। वह यह भी व्यवस्था करता है कि पिता अपनी कन्या से कोई झगड़ा न करे (४। १८०)। नारद और बृहस्पति पुत्र के अभाव में कन्या को, पुत्र की तरह पिता की सन्तान होने से सम्पत्ति का उत्तराधिकारी बताते हैं[३२]।

हिन्दू परिवार में कन्या ने पिता के अगाध स्नेह को पाते हुए उसका दुःख दूर करने के लिये महत्तम आत्मत्याग में कभी संकोच नहीं किया। राम ने पिता का वचन पूरा करने के लिये १४ वर्ष का वनवास स्वीकार किया था; किन्तु असुरराज वृषपर्वा की पुत्री शर्मिष्ठा ने पिता के कहने से कुल के कल्याण के लिये आजीवन देवयानी की दासता स्वीकार की (महाभा० १।८०।२३)। एकचक्रा नगरी में जब एक ब्राह्मण परिवार में से एक व्यक्ति को बक राक्षस के भोजन के लिये भेजने की बारी आती है तो उस ब्राह्मण की कन्या पिता से आग्रह करती है कि वह उसे भेज कर संकट दूर करे, 'अपत्य इसलिये चाहा जाता है

---

३०. महाभारत १।८०।९-१० दुहितुर्नाप्रियं सोढुं शक्तोऽहं दयिता हि मे। प्रसाद्यतां देवयानी जीवितं यत्र मे स्थितम् ॥

३१. मनु० ९।१३० यथैवात्मा तथा पुत्रः पुत्रेण दुहिता समा। तस्यामात्मनि तिष्ठन्त्यां कथमन्यो धनं हरेत् ॥

३२. नारद दायभाग ५० पुत्राभावे तु दुहिता तुल्यसन्तानदर्शनात् बृह० अपरार्क द्वारा उद्धृत पृ० ७४३

कि यह हमें (संसार सागर से) पार करायेगा, अब (संकट) काल उपस्थित है, नाव की तरह आप मुझ से ( वर्त्तमान विपत्ति के सागर को ) पार करें[३३]। मध्ययुग में कृष्ण कुमारी का कुल की रक्षा के लिये गरलपान द्वारा प्राणत्याग सुप्रसिद्ध है। वर्तमान काल में अनेक कन्याओं ने दहेज की चिन्ता से ग्रस्त माता पिता को इस प्रकार निश्चिन्त किया है।

**कन्या का दर्शन मांगलिक है**--कन्या का पितृत्व दुःखपूर्ण होने पर भी, हिन्दू समाज में उसका दर्शन सदा शुभ माना गया है, मंगल अवसरों पर उसकी उपस्थिति आवश्यक बतायी गयी है। जयद्रथवध वाले दिन महाराज युधिष्ठिर राजसिंहासन पर बैठने से पहले जिन मांगलिक द्रव्यों का दर्शन करते हैं, उनमें अलंकृत कन्यायें भी हैं ( महाभा० ७।८२।२१-२२ )। इसी दिन, जब सात्यकि अर्जुन के साथ युद्ध के लिये जाने को तय्यार होता है, तो कन्यायें उसका खीलों तथा सुगन्धित मालाओं से अभिनन्दन करती हैं ( ७।११२।६५ )। रामचन्द्रादि के राज्याभिषेक के समय मांगलिक द्रव्यों में बार-बार कन्याओं का वर्णन है[३४]। शौनककारिका ने आठ शुभ वस्तुओं में इनकी गणना की है[३५]।

----

३३. महाभा० १।१६१।४ इत्यर्थमिष्यतेऽपत्यं तारयिष्यति मामयम्। अस्मिन्नुपस्थिते काले तरध्वं प्लववन्मया ॥

३४. वा० रा० २।१४।३६ अष्टौ च कन्याः रुचिराः; वा० रा० ६।१२८। ३८; ६२। महाभारत ५।१४०।१४; कन्याओं द्वारा खीलों से स्वागत के लिये देखिये रघुवंश २।१२

३५. दर्पणः पूर्णकलशः कन्या सुमनसोऽक्षताः। दीपमाला ध्वजाः लाजाः संप्रोक्तं चाष्टमंगलम् ॥ काणे की हि० ध० खंड २, भाग १, पृ० ५११ पर उद्धृत। मि० वामन पुराण १४।३५-३६

# नवां अध्याय

## भाई बहिन तथा अन्य सम्बन्धी

भाई का महत्व--बड़े भाई के कर्त्तव्य--भ्रातृप्रेम--बहिन--भैयादूज--भाई बहिन का प्रेम--ननद--देवर--बहू--वधू के कर्त्तव्य बौद्ध साहित्य में सास बहू का संघर्ष--बहुओं का उत्पीड़न--मामा।

हिन्दू परिवार में भाई का स्थान बहुत महत्वपूर्ण है। छान्दोग्योपनिषद् (७।१५।२) में इस का दर्जा माता पिता के बाद माना गया है। कई बार इसे पत्नी पुत्र और पति की अपेक्षा अधिक गौरव दिया गया है। राम ने शक्ति से मूर्च्छित लक्ष्मण के लिये विलाप करते हुए कहा था--'सब स्थानों में पत्नी पाई जा सकती है, (विवाह द्वारा) सम्बन्धी मिल सकते हैं, किन्तु ऐसा कोई स्थान नहीं, जहां अपना भाई उपलब्ध हो सके[1]'। बौद्ध साहित्य में भी ऐसा विचार प्रकट किया गया है। जातक सं० ६७ एक स्त्री के पति, पुत्र और भाई को मृत्यु दण्ड दिया जाता है, पत्नी की प्रार्थना पर, राजा उसे उन तीनों में से किसी एक को मुक्त करवाने के लिये चुनने को कहता है, वह यद्यपि यह मानती है कि दस भाई होने पर भी पतिहीन स्त्री वैसे ही है, जैसे जलशून्य नदी या राजा रहित राज्य; तथापि वह मुक्ति के लिये अपने भाई को ही चुनती है, क्योंकि उसके मत में पुत्र और पति उसे पुनः प्राप्त हो सकते थे, किन्तु भाई दुबारा कहीं नहीं मिल सकते[2]।

---

१. वा० रा० ६।१०१।१४ देशे देशे कलत्राणि देशे देशे च बान्धवाः। तं तु देशं न पश्यामि यत्र भ्राता सहोदरः॥

२. भाई की महत्ता के सम्बन्ध में अन्य देशों के उदाहरणों के लिये देखिये--मेयर--सेक्सुअल लाइफ इन एंशेण्ट इंडिया, पृ० ५३१; एक लोकगीत में उपर्युक्त जातक कथा की भांति एक लड़की के आगे उसके मृत्युदण्ड प्राप्त भाई और प्रेमी में से किसी एक को मुक्त कराने के लिये चुनने का विकल्प रखा जाता है, इस पर वह भाई को ही चुनती है, क्योंकि 'प्रेमी

भ्राता ( भाई ) शब्द का धात्वर्थ भी परिवार में उसके महत्त्व पर सुन्दर प्रकाश डालता है। यह पालन पोषण का अर्थ देनेवाली भृ धातु से बना है। वैदिक युग से भ्राता बहिनों के रक्षक और पोषक रहे हैं। भ्रातृहीन बहनों की दुर्दशा का उल्लेख आगे होगा।

**बड़े भाई के कर्त्तव्य**--पिता के अभाव में बड़ा भाई सारे परिवार का पालन पोषण करता है, अतः धर्मशास्त्रों में उसे पिता तुल्य मानते हुए उसके विशेष कर्त्तव्य और अधिकार बताये गये हैं। "बड़ा भाई छोटे भाइयों को वैसे ही पाले, जैसे पिता पुत्रों का पोषण करता है" ( मनु० ९।१०८ मि० नारद० १३।५ )। वह संसार में पूज्यतम है, जो बड़ा भाई छोटे भाइयों के साथ पिता जैसा व्यवहार करता है, वह पिता माता की भांति पूज्य होता है (मनु ९।१०९, ११० )। मनु के मतानुसार ज्येष्ठ पुत्र के जन्ममात्र से ही मनुष्य पुत्रवान् होता है; अतः सारी पैतृक सम्पत्ति उसी को दी जानी चाहिये। 'पिता के सम्पूर्ण धन को बड़ा भाई ले ले, शेष छोटे भाई उस पर वैसे ही अवलम्बित रहें, जैसे पुत्र पिता पर (मनु ९।१०५-६)। बड़े भाई को सारी सम्पत्ति दिये जाने के विशेषाधिकार का उल्लेख गौतम (२८।३-४ ) बौधायन ( २।३।१३ ) आपस्तम्ब (२।१४।६ ) ने भी किया है।

**भ्रातृप्रेम**--हिन्दू परिवार में भाइयों के पारस्परिक प्रेम के सब से सुन्दर उदाहरण रामायण में मिलते हैं। राम, लक्ष्मण और भरत जैसे स्नेही भाइयों के दृष्टान्त दुर्लभ हैं और ये हजारों वर्षों से हिन्दू समाज में आदर्श समझे जाते रहे हैं। लक्ष्मण रामचन्द्र के दूसरे प्राण (प्राण इवापरः) थे, वे बचपन से मृत्युपर्यन्त राम की सेवा करते हुए छाया के समान उनके अनुवर्ती रहे। सीता कुछ समय के लिये राम से अलग रहीं, उन्होंने रामचन्द्र की उतनी सेवा नहीं की, जितनी लक्ष्मण ने। बचपन में, लक्ष्मण को रामचन्द्र के पास सोये विना नींद नहीं आती थी; वे उनके विना भोजन नहीं करते थे। राम जब घोड़े पर शिकार करने निकलते तो लक्ष्मण उनकी रक्षा के लिए धनुष लेकर उनके पीछे जाते थे। राम जब वन जाने को उद्यत हुए, तो लक्ष्मण ने उनके चरणों पर लोटकर रोते हुए कहा "तुम्हारे विना मुझे अमरता या त्रिलोकी के ऐश्वर्य की भी इच्छा नहीं है (वा०रा० २।३१।५)"। जब राम ने उन्हें अपने साथ वन ले चलने

---

तो गांव में एक बार गुजरने मात्र से मिल सकता है, किन्तु भाई फिर कभी नहीं प्राप्त हो सकता, मेयर पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ५३१

से इंकार किया तो उन्होंने अपने दृढ़ संकल्प को इन शब्दों में प्रकट किया--'आपने बचपन में हम से प्रतिज्ञा की है कि हम जन्म भर तुम्हारे सहचर रहेंगे; क्या आज आप उसे तोड़ना चाहते हैं, राम पिता की आज्ञा पालने के लिए वन गए; किन्तु लक्ष्मण अपने भाई की सेवा के लिए। वनवास काल में उन्होंने बड़े भाई की मूक भाव से जो सेवा की है, वह अद्वितीय है--"जब राम पुष्पित तरुओं से फूल तोड़, सीता के केशों में पहिनाते थे, गेरू घिसकर उसके ललाट पर तिलक लगाते थे, कमल तोड़ते हुए उसके साथ मन्दाकिनी में स्नान करते थे, गोदावरी तट के वेतस कुञ्जों में उस की गोद में अपना सिर रखकर आनन्द से सोते थे; उस समय लक्ष्मण कुदाल से मिट्टी खोदकर उनके रहने के लिए पर्णशाला बनाते, गोबर और ईंधन इकट्ठा कर आग जलाते, नदी से उनके लिए पानी का कलसा भर कर लाते, रास्ते की पहचान के लिए कुटिया से सरोवर तक पेड़ों पर चीथड़े बाँधते, रामचन्द्र के लिये दूब और पत्तों की शय्या तय्यार करते थे[३]"। उन्हें इसी में बड़ा आनन्द आता था। वन आते समय ही उन्होंने बड़े भाई को कहा था--'आप वैदेही के साथ पर्वतश्रृंगों पर रमण करेंगे और मैं आपके सोते, जागते आपका सब कार्य करूँगा; हाथ में धनुष, कुदाल और पिटारी लेकर आपके साथ चलूंगा (वा० रा० २।३१।२५-३७)। एक बार घने जंगल में रास्ता भटकने पर काले सांपों बीच में विचरते हुये, जब राम जंगल के कष्टों से घबरा गये, तो उन्होंने लक्ष्मण को अयोध्या लौटकर माता-पिता को सान्त्वना देने के लिये प्रेरणा की। उस समय लक्ष्मण का उत्तर था--"मैं माता पिता और शत्रुघ्न को तो क्या, स्वर्ग को भी आपके विना नहीं देखना चाहता।" बड़े भाई के लिये लक्ष्मण का यह असीम प्रेम और अनुपम आत्मत्याग कबन्ध राक्षस द्वारा उनके पकड़े जाने पर अत्युज्वल रूप में प्रकट हुआ है। उस समय उन्होंने कहा—"मैं राक्षस के पंजे में फंस गया हूँ, आप उसे मेरी बलि देकर भाग जाइये, सीता को खोजकर, पैतृक राज्य पुनः प्राप्त कर, हमें स्मरण रखियेगा (अरण्यकाण्ड ६९।३८-४०)। यही कारण है, भाइयों के प्रेम का लक्ष्मण से अधिक प्रशंसनीय उदाहरण दुर्लभ है।

राम का भी लक्ष्मण के प्रति अगाध स्नेह था। राज्याभिषेक की प्रसन्नता के समय उन्होंने लक्ष्मण को कहा था कि मैं जीवन और राज्य की तुम्हारे लिये कामना करता हूँ (जीवितञ्चापि राज्यञ्च त्वदर्थमभिकामये वा० रा० २।४।

३. रामायणी कथा, पृ० १९

४४)। लंका में शक्ति लगने पर जब लक्ष्मण मूर्च्छित हो गये, उस समय राम रावण के बाणों द्वारा अपनी पीठ छलनी होने पर भी लक्ष्मण की रक्षा करते रहे। अपने सजल नेत्रों से लक्ष्मण को छाती से लगा कर बैठे हुए दुःख और शोक की विह्वलता में उन्होंने कहा था—"तुम वन में जैसे हमारे साथ आये हो; हम भी आज उसी प्रकार तुम्हारे संग यमराज के यहां चलेंगे" (६।१०१।१२)।

**भरत का भ्रातृप्रेम**—लक्ष्मण की भांति भरत का भ्रातृस्नेह भी अपूर्व है; इसी से उन्होंने प्राप्त राज्य का स्वेच्छापूर्वक त्याग किया। अयोध्या लौटने पर जब वसिष्ठ आदि ने उन्हें राज्य ग्रहण करने का अनुरोध किया तो उन्होंने कहा—"रामचन्द्र ही राजा बनेंगे, पैरों पर पड़कर हम उन्हें मना लावेंगे; यदि वे न लौटे तो हम भी चौदह वर्ष वन में ही रहेंगे।" भरत ने चित्रकूट जाकर राम से अयोध्या की राजगद्दी स्वीकार करने का आग्रह किया। वह दृश्य वस्तुतः अद्वितीय था, जब दोनों भाई राजसिंहासन फुटबाल की तरह एक दूसरे की ओर फेंक रहे थे। अन्त में राम द्वारा भरत की प्रार्थना के स्वीकार न होने पर, वे उनकी पदरज से पवित्र पादुकायें लेकर अयोध्या वापिस लौटे, इन्हें राजगद्दी पर स्थापित किया गया और भरत राम की भांति चौदह वर्ष वनवासी और वल्कलधारी रहे। स्वेच्छा पूर्वक इस प्रकार भाई के लिए राज्यत्याग करने वाले विरले होते हैं। राम ने सुग्रीव को ठीक ही कहा था—'भरत के समान भाई इस संसार में कहां मिलेगा'।

हिन्दू परिवार में लक्ष्मण और भरत का सदैव अनुसरण हुआ हो, सो बात नहीं। महाभारत में दुर्योधन अपने भाई पाण्डवों को युद्ध के विना सूई की नोक के बराबर भी जमीन देने को उद्यत नहीं था। ऐसे उदाहरणों की भी कमी नहीं कि जब 'राम' को अन्न न मिलता हो और 'लक्ष्मण' सोने के थाल में स्वादिष्ट भोजन का आनन्द ले रहा हो, जब 'राम' वनवास के लिये जा रहा हो और 'लक्ष्मण' महल में खड़ा मौज से तमाशा देख रहा हो। किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि रामयण के लक्ष्मण और भरत हिन्दू समाज में भ्रातृप्रेम के आदर्श माने जाते रहे हैं।

**बहिन**—भाई के बाद बहिन का वर्णन स्वाभाविक है। वैदिक युग से हिन्दू परिवार में बहिन भाई का अमित स्नेह और संरक्षण पाती रही है। भाई के कारण सौभाग्यशालिनी होने से ही वह भगिनी कहलाती है और इसी से हिन्दी का बहिन शब्द बना है।

वैदिक साहित्य में अनेक स्थलों पर पिता के मृत एवं असमर्थ होने पर कन्याओं के भाई पर अवलम्बन का उल्लेख है ( ऋ० १०।८५।४६, ऐ० ब्रा० ३।३७।५ )। कुछ वैदिक मंत्रों के आधार पर कीथ और मैकडानल ने यह मत प्रकट किया है कि अभ्रातृका कन्याओं का विवाह दुष्कर होने से वे गणिका की अधोदशा प्राप्त किया करती थीं ( वैदिक इंडेक्स २।४९६ )[४]। इस दुरवस्था के मूल कारण के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। जिमर की कल्पना है कि भाइयों के अभाव में अनाथ लड़कियों का विवाह कठिन होता था। गैल्डनर का मत है कि इसका कारण पिण्डदान की चिन्ता है; क्योंकि अपुत्र पिता लड़कियों को पुत्रिका बना लेते थे[५], इस कारण जामाता को उनके घर में रहना पड़ता था। इस से न केवल लड़के का पिता उसे पिण्ड-दान करनेवाले पुत्र से वंचित हो जाता था, अपितु मध्यकालीन समाज में ऐसा घरजंवाई अत्यंत निन्दनीय समझा जाता था; नीति के एक श्लोक में श्वशुर के कारण प्रसिद्धि प्राप्त करनेवाले को नीचतम व्यक्ति कहा गया है[६]।

**राखी**—हिन्दू परिवार में भाई बहिनों का निःस्वार्थ प्रेम राखी तथा भैया दूज के त्यौहारों से प्रतिवर्ष पुष्ट होता है। राखी के ऐतिहासिक उदाहरण मुगल युग से मिलते हैं। उस संकटपूर्ण काल में हिन्दू बहिनों ने न केवल अपने सोदर और समानधर्मा भाइयों से रक्षण पाया; किन्तु विधर्मी भाइयों से भी सहायता प्राप्त की थी। इसका सब से प्रसिद्ध उदाहरण १५३२-३३ ई० में हुमायूं

---

४. ऋ० ४।५।५ अभ्रातरो न योषणो व्यन्तः; अथर्व० १।१७।१ अभ्रातरः इव जामयस्तिष्ठन्तु हतवर्चसः, ऋ० १।१२४।७; निरुक्त० ३।५

५. मनु० (३।११) इसी दृष्टि से अभ्रातृमती कन्या से विवाह का निषेध करता है—'यस्यास्तु न भवेद्भ्राता न विज्ञायेत वा पिता। नोपयच्छेत तां प्राज्ञः पुत्रिकाधर्मशंकया। दे० कुल्लूक की टीका—यस्याः पुनर्भ्राता नास्ति तां पुत्रिका-शंकया नोद्वहेत्। 'यदपत्यं भवेदस्यास्तन्मम स्वधाकरम्' इत्यभिसन्धानमात्रा-त्पुत्रिकेत्येके' इत्यभिसंधानमात्रादपि पुत्रिका भवति। मनु की उपर्युक्त व्यवस्था का गौतम ( पराशर माधवीय, पृ० ४७४ ), याज्ञवल्क्य (१।५३), लघुशातातप (३६) लिखित (५१) तथा आश्वलायन ( वी० मि० संस्कार प्रकाश पृ० ५३४) ने समर्थन किया है।

६. उत्तमा आत्मना ख्याताः पित्रा ख्याताश्च मध्यमाः। मातुलेनाधमाः ख्याताः श्वशुरेणाधमाधमाः॥

द्वारा महाराणा सांगा की पत्नी कर्णावती को दिया गया संरक्षण है। बहादुर-शाह ने जब चित्तौड़ पर आक्रमण कर उसे जीत लिया, तो कर्णावती ने इसके उद्धार के लिये हुमायूं को राखी भेजी। इससे हुमायूं बहुत प्रसन्न हुआ, अपनी बंगालविजय को अधूरा छोड़, वह अपनी धर्मबहिन और भांजे को विपत्ति से छुड़ाने के लिये फौरन चित्तौड़ आया और उसने वहां से बहादुर शाह को निकाल भगाया[७]। इस घटना से हिन्दू समाज में राखी के त्यौहार को बड़ी लोकप्रियता मिली।

मुगल काल में प्रायः राजपूत बालायें राखीबन्द भाई बनाती थीं और संकटापन्न होने पर उनसे रक्षण पातीं थीं। राखी पाते ही भाई अपनी बहिन के मंगल साधन के लिये प्राण तक देने में संकोच नहीं करते थे। भाई बहिन के इस प्रकार के निःस्वार्थ प्रेम के उदाहरण अन्य समाजों में दुर्लभ हैं। टाड ने यह सत्य ही लिखा है कि धर्मबहिन के लिये अपने प्राण तक का दाँव लगाने वाले अनक भाई एक बार भी उसके लावण्यमय मुख की प्रसन्न मुसकान नहीं देख पाते थे, उस राजपूत बाला से कभी उनका साक्षात्कार भी नहीं होता था, किन्तु इस पवित्र स्नेहबन्धन में ऐसा आकर्षण था कि राजपूत इसे चाहा करते थे। न केवल हिन्दू अपितु मुगल बादशाह राखी पाकर अपने को कृतार्थ समझते थे। हुमायूं के बाद अकबर और शाहजहां ने भी उदयपुर की राज माताओं द्वारा भेजी हुई राखियां स्वीकार कीं। प्रसिद्ध हिन्दू द्वेषी मुगल बादशाह औरंगजेब ने राखी स्वीकार करते हुए अपने पत्रों में उदयपुर की राज-माता को प्रिय और पवित्र बहिन के नाम से सम्बोधन किया है[८]। मध्ययुग में राजपूताने में राखी का त्यौहार वसन्त काल में मनाया जाता था[९], किन्तु आजकल उत्तर भारत में यह श्रावण पूर्णिमा को होता है। इस अवसर पर बहिनें भाइयों को राखी बांधती हुई, उन्हें अपने कर्तव्य का बोध कराती हैं और भाई उनके प्रति अगाध स्नेह प्रकट करते हुए, उन्हें अपने दायित्व के प्रति सदा जागरूक रहने का आश्वासन देते हैं।

---

७. टाड--एनल्स एण्ड एण्टीक्विटीज आफ राजस्थान कलकत्ता १८९८ भाग १, पृ० ३२६-२८

८. टाड--एनल्स एण्ड एण्टीक्विटीज़ आफ राजस्थान ३२७-२८ तथा पाद टिप्पणी

९. वही पृ० ३२६

**भैयादूज**--भाई बहिन के प्रेम का परिचायक दूसरा त्यौहार भैया दूज दीवाली के बाद कार्तिक शुक्ला द्वितीया को मनाया जाता है। इस दिन प्रतिवर्ष बहिनें, भाइयों को अपने घर में निमन्त्रित करती हैं, पूजा और कथा के बाद भाई का टीका करती हैं। भाई बहिन के चरण छूकर जो कुछ देना चाहता है, देता है और फिर भोजन करता है। पुराणों में यह कहा गया है कि प्राचीन काल में इस दिन यम को उसकी बहिन यमुना ने अपने घर में भोजन कराया था, जो भाई इस दिन अपनी बहिनों को वस्त्रालंकार से सन्तुष्ट रखता है, वह अकाल मृत्यु के भय से मुक्त हो जाता है। इस त्यौहार के सम्बन्ध में अनेक मनोरंजक लोककथायें प्रचलित हैं, इनमें प्रायः इस बात पर बल दिया है कि बहिनें किस प्रकार जोखिम उठाकर भी अपने भाई का हित साधन करती हैं। हिन्दू समाज में प्रतिवर्ष मनाया जानेवाला यह पर्व भाइयों के प्रति बहिनों के प्रगाढ़ प्रेम में वृद्धि करनेवाला है।

**भाई बहिन का प्रेम**--बहिनों के प्रति भाइयों ने जो प्रेम प्रदर्शित किया है, उसका एक सुन्दर उदाहरण श्रीकृष्ण हैं। सुभद्रा के प्रति उनके अगाध स्नेह का महाभारत में कई स्थानों पर वर्णन हुआ है। जब पाण्डव वन जाने लगे तो श्रीकृष्ण अपनी बहिन और भांजे को तेरह वर्ष के लिए द्वारका ले गए। जब खाण्डवप्रस्थ में श्रीकृष्ण अपनी बहिन से मिले तो 'प्रीति से उनके अश्रु बह रहे थे', भद्रभाषिणी सुभद्रा ने माता आदि के लिए उन्हें सन्देश दिए और बार बार उनकी पूजा की (२।२।४-६)।

भाई बहिन के अगाध प्रेम का लोककथाओं एवं ग्रामगीतों में बड़ा सुन्दर चित्रण हुआ है। भैय्या दूज की लोककथाओं से स्पष्ट है कि बहिनें भाई का पूर्ण सत्कार करती हैं, बड़े यत्न से उसके लिये भोजन सामग्री प्रस्तुत करती हैं, उसकी रक्षा के लिये बड़े से बड़े खतरे को उठाने को तय्यार रहती हैं। सुसराल जाने पर भाई के प्रति उनका अनुराग और भी दृढ़ हो जाता है। वे उसके लिये तरसती हैं, लोकगीतों और प्रचलित परम्परा में वही उसे नैहर से लाने वाला है। उसके आने पर सास भले ही उसे 'खराब कोदों का भात और घटिया अरहर की दाल और फूटी हुई हंडिया में गड़िया का पानी, पीपल के पत्ते में चिड़िया की बीट, और टूटा पलंग देने, को कहे, किन्तु बहिन भाई को बारीक चावल, मूंग की दाल, सुराही का गंगाजल, लौंग इलायची का बीड़ा और लाल पलंग देती है[१०]। संसार में वही एकमात्र ऐसा व्यक्ति है,

१०. राम नरेश त्रिपाठी--कविता कौमुदी, पांचवां भाग, पृ० ४२६-२७

जिसके आगे वह निर्मुक्त भाव से सुसराल का दुखड़ा रोकर अपना जी हलका कर सकती हैं। भाई भी बहिनों से अगाध प्रेम रखते हैं, वह जो मांगती है, उसे देते हैं और उससे बढ़कर देते हैं। एक गीत में जब बहिन मोतियों के हार की एक लड़ के लिये आग्रह करती है तो भाई कहता है कि इसे तोड़ने में हजारों मोती गिर जायेंगे, तुम पूरी की पूरी माला ले लो[११]। भाई बहिन के लिये अपनी पत्नी तक को नैहर भेजने या छोड़ने के लिये उद्यत रहता है[१२]।

**ननद**—ऋग्वेद में इसका एक ही बार उल्लेख हुआ है (१०।८५।४६) और वहां नववधू को इस पर शासन करने का आशीर्वाद दिया गया है (ननान्दरि भव सम्राज्ञी)। किन्तु ऐसी वस्तुस्थिति सम्भवतः बहुत अधिक नहीं रही। इस शब्द की व्युत्पत्ति से तथा लोकगीतों से यह ज्ञात होता है कि बहू उसकी शासिका के स्थान पर उससे शासिता ही अधिक रही है। ननद शब्द के मूल संस्कृत ननन्द का अर्थ है, जो सेवा की जाने पर भी न प्रसन्न हो[१३]। यद्यपि सभी ननदें ऐसी नहीं होती हैं, किन्तु अधिकांश का व्यवहार बहू से सन्तुष्ट न होने तथा कलह कराने वाला होता है, हमारे समाज के सच्चे प्रतिबिम्ब लोकगीतों में इनका इसी प्रकार का चित्रण किया गया है।

व्रज, अवध तथा बुन्देलखण्ड में अत्यधिक प्रचलित एक गीत में यह बताया गया है कि ननद किस प्रकार राम और सीता में कलह कराती है और सीता को वन भिजवाती है[१४]। ननद भौजाई पानी भरने के लिए जाती हैं, भौजाई ननद से उसको हर ले जाने वाले रावण का चित्र बनाकर दिखाने को कहती है, सीता को यह डर है कि यदि इस प्रकार चित्र बनाने की बात राम को पता लगी तो वे उसे घर से निकाल देंगे। जब ननद ने दशरथ और लक्ष्मण की लाख शपथें खा कर, भाई को यह समाचार न कहने का वचन दिया तो सीता वह चित्र बनाने लगी, इतने में राम आ गये और सीता ने वह चित्र आंचल से ढंक लिया, किन्तु लाख कसमें खाने वाली ननद से चुगली खाये विना न रहा गया। राम ने इस अपराध पर गर्भिणी सीता को वन भिजवा दिया। वाल्मीकि,

---

११. वही-वही पृ० ४११

१२. कविता कौमुदी पृ० ४२०-२१, सत्येन्द्र-व्रज लोकसाहित्य का अध्ययन, पृ० ५६०

१३. वाचस्पत्य कोश, पृ० ३९५८ न नन्दति कृतायामपि सेवायां न तुष्यति।

१४. रामनरेश त्रिपाठी—वहीं, पृ० ८६-८७, सत्येन्द्र—वही, पृ० १३६

भवभूति और तुलसी भले ही राम द्वारा सीता के परित्याग का कारण लोकापवाद और प्रजानुरंजन कहें, किन्तु लोकगीतों में इसका हेतु ननद ही बताया गया है। एक अन्य गीत में बारह वर्ष बाद पति प्रवास से लौटता है। उसकी पत्नी ने उसके पीछे पतिव्रता का धर्म पूरी तरह निभाया। ननद इस बात को जानती है, फिर भी भाई के पांव धुलाते हुये चुगली खाती है और भाई को उसके सतीत्व की परीक्षा लेने के लिये उद्यत करती है, जलते हुये तेल में हाथ डालने पर पत्नी जब निष्कलंक सिद्ध होती है तो पति को बहुत दुःख होता है[१५]।

हिन्दू परिवार में ननदें किस प्रकार बहुओं से, घर के सभी कार्य, धान कूटना, गेहूँ पीसना, रसोई, कपड़े धोना, घर की सफाई, आदि कराती हैं, इसका मार्मिक चित्रण एक अवधी ग्रामगीत में हुआ है। भाई बहिन को मिलने आया है, चूल्हे की राख घूर पर फेंकने जाते हुए, वह पेड़ के नीचे भैया को खड़े देखती है, उससे मिलने के लिये सास, जेठानी और ननद के पैरों में पड़कर जब छुट्टी मांगती है तो ननद कहती है 'हे भौजाई, मैं क्या जानूं। बखार में जितना धान है, उतना कूटकर तब भाई से भेंट करने जाओ। जितना कोठिला में गेहूँ है, उतना पीसकर, भेंट करने जाओ। पीपल में जितने पत्ते हैं, उतनी रोटियां पोकर तब भाई से मिलने जाओ[१६]।

इस दुर्व्यवहार के कारण बहू का ननद को वैरी समझना और यह कामना करना सर्वथा स्वाभाविक है कि वह शीघ्र ही अपनी सुसराल चली जाये। एक लोकगीत में भौजाई कहती है—'आओ ननदोई जी पलंग पर बैठो, महोबे का पान कूचो'। अपनी कामिनी के लिए पालकी सजाओ और मेरी इस बैरिन को ले जाओ।' जब ननद भौजाई से पूछती है, तुम मुझे बैरिन क्यों कहती हो तो भौजाई का उत्तर है—तुम्हारे कटु वचनों के कारण। कटुवचन का एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा। एक लोकगीत में जच्चा रानी गोबर हाथ में लिए सास से पूछती है—मुझे कौन सा घर दोगी; बता दो तो मैं उसे लीप लूं"। सास बोलने भी न पाई कि ननद ने कहा—'मां, इस किसान की बेटी को भूसे का घर दे दो'। पुत्र जन्म होने, बधाई बजने तथा सोहर होने पर जब ननद खुशी से नाचती हुई भौजाई से कंगन के लिये झगड़ती है तो वह उत्तर देती है—तुम

१५. रामनरेश त्रिपाठी—वही भूमिका, पृ० १२१-२२
१६. वही-वहीं, पृ० ११९-२०

कितना नाचो, मेरा मन प्रसन्न नहीं है। तुम अपनी बोली याद करो--'इसे भूसे का घर दे दो[१७]।

लोकगीतों में प्रायः ननद भौजाई के पुत्र होने की कामना करती है और उसके होने पर अपना नेग मांगती है, इसके न मिलने पर रूठ जाती है और कई बार शाप तक दे डालती है और अभीष्ट वस्तु के मिलने पर प्रसन्न होकर आशीर्वाद देती है। भाभी के पुत्रजन्म की सूचना न मिलने पर भी ननद उस के घर आ धमकती है। भाभी को लोकगीतों में प्रायः अनुदार चित्रित किया गया है। ननद के कुछ मांगने की आशंका से, वह उससे पुत्रजन्म का समाचार छिपाती है और उसे निमंत्रित नहीं करती, उसके आ जाने पर भी यह कहने में संकोच नहीं करती कि तुम बिना बुलाये क्यों आगयी[१८]।

**देवर**---ऋग्वेद में वधू को देवर पर भी शासन करने का आशीर्वाद दिया गया है ( ऋ० १०।८५।४६ )। यास्क ने देवर शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए उसे दूसरा वर बताया है ( निरुक्त ३।१५ )। महाभारत में पति के अभाव में देवर से विवाह का उल्लेख है[१९]। अधिकांश शास्त्रकार सन्तान प्राप्त करने के लिए देवर से ही नियोग की व्यवस्था करते हैं ( मनु० ९।५९, गौतम १८।४-७, बौधा० २।४।१-९, याज्ञ० १।६८-६९, नारद १२।८०-८१ )। किन्तु इस प्रथा का दुरुपयोग न हो, इस दृष्टि से उन्होंने इसके बहुत कठोर नियम बनाये हैं और बार बार यह निर्देश किया है कि यह सम्बन्ध कामभाव से नहीं होना चाहिये ( मनु० ९।६०-६८, नारद १२।८२-८८ )। जब ये कठोर नियम भी अनैतिकता रोकने में असमर्थ रहे तो उन्होंने कलिकाल में इस प्रथा को निषिद्ध ठहराया (ब्रह्मपुराण अपरार्क, पृ० ९७, बृहस्पति कुल्लूक की टीका मनु ९।६८ में उद्धृत)। शास्त्रकारों द्वारा निषिद्ध ठहराने के बावजूद उत्तर भारत की अनेक जातियों में पति के न रहने पर देवर से शादी की प्रथा पायी जाती है[२०]।

---

१७. वहीं--पृ० १४५

१८. व्रजलोक साहित्य का अध्ययन पृ० १३५-३६, ५५९-६०, कविता कौमुदी ६०-६१

१९. १३।८।२२ नारी तु पत्यभावे वै देवरं कुरुते पतिम्।

२०. क्रुक--दी नार्थ वेस्टर्न प्रोविन्सज, पृ० २२९, मिलाओ यूल--मार्को पोलो २।३७६

देवर भाभी के आदर्श सम्बन्ध का चित्रण रामायण में लक्ष्मण और सीता के उदाहरण में हुआ है। वनवास में लक्ष्मण ने अपने बड़े भाई और भाभी की घोर कष्ट उठाकर जो सेवा की, उसका पहले उल्लेख हो चुका है। यह सेवा विशुद्ध निष्काम भाव से थी, इसका परिचय उस समय होता है, जब सुग्रीव सीता द्वारा गिराये हुए गहनों को पहचानने के लिए, उन्हें राम और लक्ष्मण के सम्मुख प्रस्तुत करता है। उस समय लक्ष्मण कहते हैं कि मैं सीता के केयूर और कुण्डल नहीं जानता, किन्तु प्रतिदिन चरणों में अभिवादन करने के कारण केवल पाँव के आभूषण (नूपुर) ही पहचानता हूँ[२०क]। ऐसा सच्चरित्र देवर भी लांछन से नहीं बच सका। सुवर्णमृगरूपधारी मारीच राक्षस ने मरते समय राम की सी बोली में चिल्लाकर कहा कि 'लक्ष्मण कहाँ हैं', तब सीता ने व्याकुल होकर अपने देवर को राम के पास जाने की आज्ञा दी। लक्ष्मण राम की आज्ञा का उल्लंघन कर, कुटिया से बाहर जाने को उद्यत नहीं थे। उन्होंने सीता को बहुत कुछ समझाने की चेष्टा की; किन्तु वह उस समय राम पर विपत्ति की आशंका से क्रोधावेश में लक्ष्मण से बोलीं—'तुम मेरे कारण राम के साथ आये हो या भरत के दूत हो'[२१]। हे लक्ष्मण, तुम्हारा और भरत का उद्देश्य सिद्ध नहीं होगा, राम जैसे पुरुष को छोड़कर मैं नीच व्यक्ति की कामना नहीं करूँगी (३।२१।२७)। सीता को इस तीखे और कटु वचन का फल शीघ्र ही भोगना पड़ा।

मध्यकाल में ओड़छा के महाराज जुझारसिंह के छोटे भाई दीवान हरदेव-सिंह ने लक्ष्मण के समान न केवल देवर भाभी के सम्बन्ध की पवित्रता की रक्षा की; किन्तु उसके लिये प्रसन्नतापूर्वक अपने प्राणों का भी उत्सर्ग किया। बड़े भाई प्रायः मुगल दरबार में रहा करते थे, हरदौल (हरदेवसिंह) ओड़छा में रहते हुए अपनी भाभी का माता के समान आदर करते थे। किन्तु दुर्जन पुरुषों ने बड़े भाई से देवर भाभी के कलुषित प्रेम की चुगली की। सन्देह में भरे महाराज ओड़छा लौटे और महारानी को आज्ञा हुई, 'यदि सती हो तो हरदौल को विषमिला भोजन अपने हाथ से परोसो'। धर्मसंकट में पड़कर

---

२०.क वा० रा० ४।६।२२-२३ नाहं जानामि केयूरे नाहं जानामि कुंडले। नूपुरे त्वभिजानामि नित्यं पादाभिवन्दनात् ॥

२१. वहीं ३।४५।२४-२५ सुदुष्टस्त्वं वने राममेकमेकोऽनुगच्छसि। मम हेतोः प्रतिच्छन्नः प्रयुक्तो भरतेन वा ॥

रानी को यह स्वीकार करना पड़ा। प्रतिदिन के समान, मातृस्वरूपा भाभी के हाथ से भोजन करते समय हरदौल ने जब उसकी आंखें आंसूभरी देखीं तो इसका कारण पूछा। रानी ने रोकर अपनी विवशता प्रकट की। हरदौल ने सहर्ष यह कहा--'मां, तेरे हाथ का यह भोजन मेरे लिए अमृत है। तेरे लिए मृत्यु का आलिंगन करके भी मैं अमर हो जाऊँगा'। यह कह उसने वह विषैला भोजन पा लिया। विष ने हरदौल को सचमुच अमर कर दिया। बुन्देलखण्ड का बच्चा बच्चा आज तक हरदौल की पूजा करता है, हर गांव में उसका चबूतरा बना हुआ है, जहां प्रत्येक शुभ अवसर पर आबालवृद्धवनिता हरदौल के चरणों में नत मस्तक हो देवर भाभी के पवित्र प्रेम के आदर्श के संरक्षण के लिए प्रबल प्रेरणा प्राप्त करते हैं।

**बहू**--वैदिक युग में यह कामना की जाती थी कि नववधू सास ससुर के लिए सुखकारिणी हो[२२]। इनके प्रति बहू के सम्मान के भाव का उल्लेख अनेक स्थानों पर है[२३]। बहुओं का सास के प्रति व्यवहार बहुत नम्र होता था ( का० सं० ३१।१ )। सास के वृद्ध होने पर बहू घर की रानी बनती थी। उसे विवाह के समय यह आशीर्वाद दिया जाता था कि वह पति के घर में सास, ससुर, ननद, देवर पर शासन करे ( ऋ० १०।८५।४६ )।

**वधू के कर्तव्य**--बौद्ध साहित्य में इनका विस्तृत वर्णन है। धनंजय सेठ ने अपनी कन्या विशाखा को विवाह के समय श्वशुरालय में दस बातों के पालन करने का उपदेश दिया था--(१) भीतर की आग बाहर नहीं ले जानी चाहिए अर्थात् सास आदि स्त्रियों की जो गुप्त बात होती है, वह दास दासियों को नहीं कहनी चाहिए। ऐसी बात बढ़कर कलह कराती है। (२) बाहर से आग भीतर नहीं लानी चाहिए ( जो बुराइयाँ दास तथा नौकर घर के सम्बन्ध में कहते हैं, उन्हें भीतर के आदमियों को नहीं कहना चाहिये )। (३) देते हुए को देना चाहिये ( मांगी हुई वस्तुओं को लौटानेवालों को ही इन्हें देना उचित है )। (४) न देते हुए को न दे (मांगी वस्तुएं न लौटानेवालों को वस्तुयें नहीं देनी चाहियें)। (५) देते हुए और न देते हुए को भी देना

---

२२. अथर्व० १४।२।२६ श्वशुराय शंभूः स्योना श्वश्र्वै।

२३. अथर्व० ८।६।२४ ये सूर्यात्परिसर्पन्ति स्नुषेव श्वशुरादधि। ऐ० ब्रा० १२।११ ; स्नुषा श्वशुराल्लज्जमाना निलीयामानैति, मि० तै० ब्रा० २।४।६।१२

चाहिये ( अपनी जाति के निर्धन, धनी मित्रों को—चाहे वे प्रतिदान कर सकें या न कर सकें—देना ही चाहिये ।) (६) सुख से खाना चाहिये (सास ससुर के भोजन से पहले न खाकर, उनको परोसकर, सबको भोजन मिलने की बात जानकर स्वयं भोजन करना चाहिये ।) (७) सुख से बैठना चाहिये अर्थात् सास ससुर के स्थान पर बैठना उचित नहीं है । (८) सुख से लेटना चाहिये ( सास, ससुर, स्वामी से पहले बिस्तर पर नहीं लेटना चाहिये; उनके लिये करने योग्य सेवा कर के तब स्वयं सोना उचित है) ।(९) अग्निपरिचरण करना चाहिये अर्थात् सास ससुर, स्वामी को अग्निपुंज की भांति देखना उचित है । (१०) भीतर के देवताओं को नमस्कार करना चाहिये अर्थात् गृहद्वार पर आये भिक्षुओं को घर में विद्यमान भोज्य पदार्थ देकर स्वयं खाना उचित है[२४] । बौद्ध साहित्य में वर्णित अनेक उदाहरणों में बहू द्वारा सास के सम्मान का उल्लेख है । ऋषिदासी नामक थेरी कहती है 'अपने घर में पायी हुई शिक्षा के अनुसार मैं प्रतिदिन प्रातः सायं सास ससुर को प्रणाम करती थी, नतमस्तक हो, उनकी चरण धूलि अपने सिर पर लेती थी (थेरी गाथा सं० ४०७ ) ।

महाभारत में सर्वत्र सास बहू के मधुर सम्बन्ध दृष्टिगोचर होते हैं, इसमें सास ससुर के प्रति विनम्र और सम्मानपूर्ण व्यवहार पर बल दिया गया है । नकुलाख्यान ( १४।९० ) में बहू अपने श्वशुर से कहती है—'आप मेरे गुरु अर्थात् पतिदेव के गुरु हैं अतः आप देवता के भी देवता हैं; मेरी देह, प्राण और धर्म आपकी सेवा के लिये हैं[२५]' । उस समय बहुओं से श्वशुरों के प्रति कल्याणी और सौम्य (अनृशंस) वृत्ति रखने की आशा रखी जाती थी (५।३०।३५) । शांडिली जिन गुणों के कारण देवलोक पहुँची थी, उनमें एक सास ससुर के प्रति उत्तम व्यवहार था ( १३।१२३।१० ) । श्वशुर तथा बहू के पारस्परिक व्यवहार में गम्भीरता एवं मानमर्यादा का पूरा विचार रखा जाता था; ऐसा

---

२४. अंगुत्तर निकाय अट्ठकथा १।७।२, अन्तो अग्गि बहि न नीहरितब्बो, बहि अग्गि अन्तो न पवेसेतब्बो, ददन्तस्स दातब्बम्, अददन्तस्स न दातब्बम्, ददन्तस्सापि अददन्तस्सापि दातब्बम् , सुखं निसीदितब्बम्, सुखं भुंजितब्बम्, सुखं निपज्जितब्बम्, अग्गि परिचरितब्बो अन्तो देवतापि नमस्सितब्बा ।

२५. महाभा० १४।९०।७६-७७ गुरोर्मम गुरुस्त्वं वै यतो दैवतदैवतम् । देहः प्राणश्च धर्मश्च शुश्रूषार्थमिदं गुरोः ॥

न रखनेवाले विदुर के मतानुसार नरकगामी होते हैं ( ५।३७।५ )। सास का अपमान (१३।९४।१३१ ) तथा बुराई करना ( १३।९५।३८ ) महापाप है। सास के सामने बहू उस समय उपयुक्त वेष में आती थी (११।१०।९४)। सास ससुर के सम्मुख इतनी विनम्र होती थी कि नौकरों तक को आदेश नहीं दे सकती थी। श्री के मत में दैत्यों में अन्य बुराइयों के साथ एक यह भी दुर्गुण था कि वहां बहुयें सासों के सामने नौकरों पर हुक्म चलाती थीं[२६]। इसी कारण श्री ने असुरों को छोड़ दिया।

बौद्ध साहित्य अथवा परवर्त्ती काल में दृष्टिगोचर होनेवाले सास बहू के संघर्ष का महाभारत में कोई उदाहरण नहीं मिलता; यहां बहुयें सास के असीम प्रेम का भाजन हैं। द्रौपदी कुन्ती को उसके सब पुत्रों से अधिक प्यारी है[२७], उसे द्रौपदी के अपमानित होने तथा कष्ट भोगने का असह्य दुःख है, वह यह भी घोषणा करती है कि उसे अपनी बहू के चीरहरण की दुर्दशा चुपचाप देखनेवाले पांडवों से कोई स्नेह नहीं (५।९०।४९)। द्रौपदी के वन जाने पर दुःखार्त्ता कुन्ती की शोकविह्वलता अपनी वधू के प्रति उस के अगाध स्नेह का परिचायक है ( २।७९ )। गान्धारी को अपने पुत्रों के मरने का इतना दुःख नहीं, जितना अपनी बहुओं के विधवा होने का है[२८]।

महाकवि कालिदास ने महर्षि कण्व द्वारा शकुन्तला को गुरुजनों की शुश्रूषा का उपदेश किया है ( शाकु० ४।८ ) सभी धर्मशास्त्रों में सास ससुर की पूजा करना बधुओं का कर्त्तव्य बताया गया है[२९]।

बहू द्वारा सास ससुर की सेवा के आदर्श का वर्णन अनेक ग्रामगीतों में बड़े सुन्दर ढंग से हुआ है और ये गीत हिन्दू परिवार में बहुओं को इस प्रकार का आचरण करने की प्रेरणा देने के अजस्र स्रोत रहे हैं। एक लोकगीत में पति अपनी प्रियतमा को कहता है कि आजीविका कमाने के लिये मैं आषाढ़

---

२६. वही १२।२२८।७६ श्वश्रूश्वशुरयोरग्रे प्रेष्यानशासत।

२७. वही ५।९०।४३ सर्वैः पुत्रैः प्रियतरा द्रौपदी मे जनार्दन।

२८. महाभारत ११।१७।२४ अनु० इदं कष्टतरं पश्य पुत्रस्यापि वधान्मम। इदं दुःखतरं मेऽद्य यदिमा मुक्तमूर्धजाः। हतपुत्रा रणे बालाः परिधावन्ति मे स्नुषाः। मिलाओ महाभा० ११।१८।२,२२।१५,२४।६

२९. विष्णु स्मृ० २५।१-८ श्वश्रूश्वशुरगुरुदेवतातिथिपूजनम्। शंख-(स्मृच० २५१ ) श्वश्रूश्वशुराद्यभिवादनानन्तरंगृहावश्यकानि कुर्यात्।

लगते ही दक्खिन चला जाऊँगा, तुम मैके से भाई को बुलाकर नैहर चली जाना। पत्नी उत्तर देती है 'भाई को क्यों बुलाऊँ ? नैहर क्यों जाऊँ ? मैं सास की सेवा करके अपनी आयु बिताऊँगी'[३०]। एक अन्य गीत में पति द्वारा नैहर जाने की प्रेरणा करने पर भी पत्नी ने अपना यही निश्चय प्रकट किया है —'मैं सास के पैर धोऊँगी, ननद को प्यार करूँगी, देवर की धोती धोऊँगी और यहीं (सुसराल में ही) रहूँगी'[३१]। एक अन्य गीत में यह आदर्श बड़े प्रभावोत्पादक ढंग से प्रतिपादित किया गया है। कौन स्त्री सुन्दर सन्तान नहीं चाहती ? उसका उपाय सास ससुर की सेवा है। सोहर के एक गीत में ससुर बहू से पूछते हैं—हे बहू, तुमने कौन सा तप किया है, जो तुम्हारा बच्चा बड़ा सुन्दर है। बहू का उत्तर है। "मैंने सास की बात कभी नहीं टाली, ननद का तिरस्कार नहीं किया, न कभी इधर की बात उधर लगायी, शायद इसीलिये बच्चा इतना सुन्दर हुआ है[३२]"। वस्तुतः इस गीत में बताये व्यवहार से ही बहुयें हिन्दू परिवार को स्वर्ग धाम बनाती चली आई हैं।

**बौद्ध साहित्य में सास बहू संघर्ष**—सास के प्रति सामान्यतः सेवा और सम्मान की भावना होते हुए भी दोनों में सदैव मधुर सम्बन्ध नहीं रहे। इनके पारस्परिक कलह और संघर्ष की चर्चा बौद्ध साहित्य में काफी मिलती है। सास पर शासन करनेवाली वैदिक युग की बहू इस समय कभी कभी सास के अत्याचारों से इतना अधिक परेशान हो जाती थी कि वह उससे बचने के लिए बौद्ध मठों में शरण ढूंढ़ती थी। कई बार सासें अपनी बहुओं को मूसलों से पीटती हुई उन्हें जान से मार डालती थीं[३३]। किन्तु इसके विपरीत कई घरों में बहुओं से परेशान होकर सासों को भिक्षुणी बनना पड़ता था। सोणा ऐसी ही अभागिनी थेरी थी ( थेरी गाथा सं० ४५ की अट्ठकथा; धम्मपद सं० ११५ की अट्ठकथा ) चार बहुएँ जब अपने ससुर से बहुत तंग आगईं तो उन्होंने उसे अपने घर से निकाल दिया ( ध० प० ३२४ की अट्ठकथा )। जातक सं० ३२४ में सास बहू के झगड़े की एक मनोरंजक लोमहर्षक कथा है, जिसमें बहू

---

३०. रामनरेश त्रिपाठी—पूर्व निर्दिष्ट पुस्तक, पृ० ५६

३१. वही-वहीं पृ० ६७ सास क चरन पखरबै ननद क दुलरबइ। साहब देवरा के धोतिया पछरबइ यहीं हम रइबै।

३२. वहीं पृष्ठ ६५।

३३. अल्तेकर—पोजीशन आफ वुमैन इन हिन्दू सिविलिजेशन, पृ० १०७

सास को मारने के प्रयत्न में अपनी माता के तथा अपने प्राण गंवा बैठती है। अंगुत्तर निकाय की अट्ठकथा ( १।७।२ ) में विशाखा के अपने श्वशुर के साथ झगड़े का उल्लेख है। इसके निर्णय के लिए पंच इकट्ठे होते हैं, वे विशाखा को निर्दोष मानते हैं और अन्त में श्वशुर विशाखा से क्षमा मांगता है।

**बहुओं का उत्पीड़न**--किन्तु प्रायः बहुयें विशाखा जैसी सौभाग्यशालिनी नहीं होतीं, उन्हें कई बार सासों तथा ननदों के हाथ अकथनीय कष्ट भोगने पड़ते हैं। हिन्दू परिवार में बाल विवाह की प्रथा बद्धमूल होने पर अबोध बहुओं का उत्पीड़न अधिक उग्रता से आरम्भ हुआ, सतायी बहुओं ने सास बनने पर अपनी वधुओं के साथ वैसा बर्ताव किया। । यद्यपि प्रत्येक सास कभी बहू रह चुकी होती है, किन्तु सम्भवतः वह अपने साथ हुए दुर्व्यवहार का बदला अपनी बहू पर अत्याचार करके चुकाती है। मूर्ख, गंवार और कर्कशा सासें बहू को गालियां ही नहीं देतीं; अपितु राक्षसी बनकर मारती पीटती भी हैं। बहू अपनी व्यथा किससे कहे; पति से, वह तो सास का बेटा है, बहू का पक्ष लेने से कपूत कहलायेगा; ससुर से, वह सास का पति है। कर्कशा सास से भीषण यन्त्रणा भोगती हुई बहुयें केवल भाइयों से ही अपना दुःखड़ा रोकर जी हलका कर सकती हैं। एक बहू अपनी दुर्दशा का चित्रण करती हुई भाई को कहती है--'मेरी पीठ देखो, वह धोबी के पाट जैसी है। मेरे कपड़े देखो, वे सावन की घटा जैसे मैले हैं। नौ मन कूटती हूँ, नौ मन पीसती हूँ, नौ मन रसोई करती हूँ। सब के खा चुकने के बाद जो टिकरी बचती है, वही मेरा आहार है। उसमें से भी कुत्ते बिल्ली को हिस्सा देना पड़ता है[३४]"। किन्तु बहू में इतनी शालीनता है कि वह यह नहीं चाहती कि यह दुःख किसी और को बताया जाय; क्योंकि पिता इसके सुनने पर मूर्च्छित हो जायेंगे, मां यह जानकर रोते रोते मर जायगी, भाभी इस पर ठट्ठा मारेगी। अतः वह भाई को कहती है कि यह दुःख अपनी गठरी में बांध रखना, जहां खोलना, वहां रो देना। बहू के दुःख का इससे मर्मभेदी चित्रण और क्या हो सकता है[३५]। दूसरे अध्याय में यह बताया जा चुका है कि बहुओं के साथ यह दुर्व्यवहार वर्तमान समय में संयुक्त परिवार के विघटन का एक प्रधान कारण है (पृ० ७९)।

३४. रामनरेश त्रिपाठी --पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ४२६

३५. मि० श्वश्रूः पश्यति नैव पश्यति यदि भ्रूभंगवक्रेक्षणा, मर्मच्छेदपटु प्रतिक्षणमसौ ब्रूते ननान्दा वचः अन्यासामपि किं ब्रवीमि चरितं स्मृत्वा मनो वेपते कान्तः स्निग्धदृशा विलोकयति मामेतावदागः सखि ॥

**मामा**--वैदिक परिवार पितृप्रधान था, अतः उसमें माता के भाई का कोई विशेष महत्व न था। उसका मातुभ्र ाता के नाम से समूचे वैदिक साहित्य में केवल एक बार (मैत्रायणी संहिता १।६।१२ ) उल्लेख हुआ है; किन्तु महाकाव्यों तथा स्मृतियों के समय मातुल की महत्ता बढ़ गयी। रामायण में रावण अपनी बहिन का बदला लेने के लिये मामा मारीच से परामर्श करता है और उसके सहयोग से सीता का हरण करता है। महाभारत में दुर्योधन अपने मामा शकुनि की सलाह तथा कौशल से पाण्डवों को द्यूत में हराकर वन भिजवाता है। शल्य पाण्डवों का मामा होने पर भी दुर्योधन का मित्र था; ( ८।७।९) किन्तु कर्ण को आड़े समय में निरुत्साहित कर, शल्य ने अर्जुन को कर्ण पर विजय पाने में बड़ी सहायता दी। मामा अत्यन्त प्रिय संबन्धी समझा जाता था, श्रीकृष्ण ने युधिष्ठिर को यह चेतावनी दी है कि शल्य के साथ युद्ध करते हुए, तुम उसे अपना मामा समझते हुए उस पर दया न करना[३३]। महाभारत में अनेक स्थलों पर मामा को प्रिय संबन्धियों में गिना गया है ( ९।४।९, ९।९।४६, ६।४६ ।२); किन्तु इससे यह परिणाम नहीं निकाला जा सकता कि प्राचीन भारत में मातृसत्ता का प्रचलन था[३४], क्योंकि महाभारत में ऐसे स्थलों की भी कमी नहीं, जहां संबन्धियों में मातुल का कोई उल्लेख नहीं है (१०।८।९८, १२१; ११।१२।७; १६।१९।५५; १६।२७।२)।

सूत्र साहित्य में अभिवादन तथा मधुपर्क द्वारा सम्मानित किये जानेवाले व्यक्तियों में मामा का स्थान प्रायः चाचा ( पितृव्य) के बाद बताया गया है[३५]; किन्तु मनुस्मृति में मामा (मातुल ) तथा मासी (मातृष्वसा) को प्रधानता दी गयी है। मनु० ४।१७९-८० में ऐसे व्यक्तियों की सूची है, जिन के साथ झगड़ा नहीं करना चाहिये, इनमें मामे का चाचे से पहले उल्लेख है ( मि० महाभा० १२।२४९।१४-१७ )। याज्ञवल्क्य ने भी मामे से विवाद का निषेध किया है ( १।१५७-५८ )। मनु० ३।११९ में मधुपर्क द्वारा पूजित होनेवाले व्यक्तियों में मामा की गणना है; किन्तु चाचा की नहीं, अन्यत्र ( ३।१३१ ) गुरु-

---

३३. महाभा० ९।७।३९ न चैवात्र दया कार्या मातुलोऽयं ममेति वै।

३४. मेयर--सेक्सुअल लाइफ इन एंशेण्ट इंडिया पृ० १२९।

३५. मधुपर्क के लिये दे० गौतम ५।२८-३०, वसिष्ठ ११।१, आश्वलायन गृह्यसूत्र १।२४।१-४ अभिवादन के लिये दे० गौतम ६।९, बौधा० २।४६, आपस्तम्ब १।१४।११, वसिष्ठ, १३।१३, विष्णु० ३२।४

पत्नी के तुल्य आदरयोग्य स्त्रियों में उसने मौसी और मामी का बुआ से पहले उल्लेख किया है। बृहन्नारदीय पुराण ( ९।९२ ) में चाचा को नहीं, पर मामा को पूज्य माना गया है। विष्णु ( ३२।३ ) ने यद्यपि एक ओर चाचा को मामा से पहला दर्जा दिया है, तथापि दूसरी ओर बुआ से मासी को अधिक प्रतिष्ठित बताया है। इससे यह स्पष्ट है कि कि यद्यपि वैदिक एवं सूत्र साहित्य में मामा को परिवार में प्रतिष्ठा नहीं मिली थी, किन्तु मनुस्मृति, महाभारत और पुराणों में उसे सम्मानित स्थान दिया जाने लगा था।

स्त्रीपक्ष के अन्य संबन्धियों में साला उल्लेखनीय है। इस का सर्वप्रथम वर्णन ऋग्वेद में है[३६], इसमें इन्द्र और अग्नि को विजामाता तथा श्याल से भी अधिक देनेवाला बताया गया है। यास्काचार्य ने इसकी व्याख्या (निरुक्त ६।२) में यह बताया है कि दाक्षिणात्य रुपया देकर कन्या खरीदनेवाले (क्रीतापति) को विजामाता कहते हैं, यह अपनी पत्नी को तथा साला बहनोई को कुछ देता रहता है। निरुक्तकार के मत में स्याल शब्द की दो व्युत्पत्तियां हैं —(१) यह सम्बन्ध की दृष्टि से पास वाला होता है (२) यह स्य अर्थात् छाज से विवाह के समय बहिन के हाथ में खीलें डालता है[३७]।

---

३६. १।१०९।२ अश्रवं हि भूरिदावत्तरा वां विजामातुरुत वा घा स्यालात्।

३७. निरुक्त ६।२ स्याल आसन्न: संयोगेनेति नैदाना: स्याल्लाजानावपतीति वा।

# दसवां अध्याय

## गृहस्थ के कर्तव्य

पंच महायज्ञ--इनका मूल उद्देश्य--देवयज्ञ--भूतयज्ञ--पितृयज्ञ--नृयज्ञ--अतिथि कौन हो सकता है--अतिथि यज्ञ के मूल करण--गृहस्थ का पोष्य वर्ग--गृहस्थ की आजीविका--अन्य कर्तव्य--उपसंहार।

धर्मशास्त्रों में हिन्दू परिवार में गृहस्थ द्वारा पालन किये जाने वाले धर्मों तथा ब्राह्म मुहूर्त्त में जागरण से रात्रि में शयन पर्यन्त, दन्त धावन, स्नान, पूजा, भोजन आदि सभी छोटे बड़े कार्यों का बहुत सूक्ष्मता तथा विशदता से प्रतिपादन है[1]। यहां केवल पंचमहायज्ञादि महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्यों का संक्षिप्त वर्णन किया जायेगा।

**पंचमहायज्ञ**--वैदिक युग में पंचमहायज्ञ करना गृहस्थ का प्रधान एवं आवश्यक कर्त्तव्य समझा जाता था। शतपथ ब्राह्मण (११।५।६।१) तथा तैत्तिरीय आरण्यक (२।१०) में इनका विधान किया गया है। आपस्तम्ब धर्म सूत्र (१।४।१२।१३) बौधायन धर्मसूत्र (२।६।१-८), गोभिल स्मृति (२। २६) तथा बाद के सभी धर्म ग्रन्थों में इनका वर्णन है[2]। सामान्य रूप से गृहस्थ द्वारा निम्न क्रम से इनके अनुष्ठान की व्यवस्था की गई है--ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ, पितृयज्ञ और मनुष्ययज्ञ। वेद का अध्ययन अध्यापन ब्रह्मयज्ञ, अग्नि में देवताओं के लिये आहुति देना देवयज्ञ, पितरों का तर्पण पितृयज्ञ, विभिन्न भूतों और प्राणियों को बलि देना भूतयज्ञ और अतिथियों की पूजा मनुष्ययज्ञ है।

---

१. आप० धर्म सूत्र २।१।१।११; गौतम धर्मसूत्र अ० ५ व ९; वसिष्ठ धर्मसूत्र ८।१-१७, ११।१-४८; मनु० ३।६७-११८, अ० ४;; याज्ञ० १।९६-१२७; विष्णु धर्मसूत्र ६०-७१, दक्ष अ० २, मार्कण्डेय पुराण अ० २९-३०, ३४; महाभा० ३।१२३।४ अनु० १३।१२३ आश्वमेधिक पर्व ४५।१६।२५, तथा १३।९७

२. आश्व० गृ० ३।१।१-४; आप० धर्मसूत्र १।४।१२।१३-१५ तथा १।४।१३।१७; वसिष्ठ धर्मसूत्र ५।८, ८।१७; बौधायन धर्मसूत्र २।६।१-८; गोभिल स्मृति २।२६; मनु० ३।६७ महाभारत १२।२४१।१५; याज्ञ० स्मृत १।१०२

मनुष्य ब्रह्मयज्ञ ( स्वाध्याय) से ऋषियों की, होम से देवों की, श्राद्ध से पितरों की, बलि से भूतों की और अन्न से मनुष्यों की अर्चना करता है[3] (मनु० ३। ७०,८१ ) ।

**पंच महायज्ञों का मूल उद्देश्य**--इनका वास्तविक प्रयोजन प्रतिदिन भगवान् के प्रति भक्ति और स्वाध्याय, वैदिक साहित्य का सृजन करने वाले ऋषियों के प्रति श्रद्धा, पितरों का स्मरण, समूची सृष्टि के लिए तथा मनुष्य मात्र के प्रति उदारता, दया और अनुकम्पा के भाव प्रदर्शित करना है। अग्निष्टोम आदि वैदिक यज्ञ बहुत व्ययसाध्य और आडम्बरपूर्ण थे, वे पुरोहितों द्वारा कराये जाते थे, उनका उद्देश्य स्वर्ग प्राप्ति था। किन्तु पंच महायज्ञ बहुत सरल और संक्षिप्त थे। इन्हें प्रत्येक गृहस्थ स्वयं करता था और इसका प्रयोजन ईश्वर, ऋषियों, पितरों तथा सभी सांसारिक प्राणियों के प्रति अपने कर्त्तव्यों से उऋण होना था। हिन्दू शास्त्रकारों ने उपर्युक्त सामाजिक दायित्वों को बहुत महत्ता दी और यह कहा कि पांच महायज्ञों से मानव शरीर स्वार्थादि मलिनताओं से मुक्त होकर ब्राह्म कार्यों के उपयुक्त हो जाता है ( मनु० २।२८ ) ।

कुछ धर्म शास्त्रों में पंच महायज्ञों का उद्देश्य नाना प्रकार की हिंसा से मुक्त होना बताया गया है। मनु के मत में गृहस्थ के घर में—चूल्हा, चक्की, झाड़ू, ऊखल-मूसल और जल का घड़ा—ये पांचों वस्तुएँ कसाईखाने की भांति हिंसा के स्थान हैं; इन पांचों से होने वाले पापों के नाश के लिये ऋषियों ने प्रतिदिन पंच महायज्ञों की व्यवस्था की है[4]। अन्य शास्त्रकारों ने भी इसका समर्थन किया है[5]। इन यज्ञों का संक्षिप्त स्वरूप निम्न है।

**ब्रह्मयज्ञ**--इसका प्राचीनतम उल्लेख संभवतः शतपथ ब्रा० (११।५।६।३-८) में है। यहां ब्रह्मयज्ञ को प्रति दिन किया जानेवाला वेद का स्वाध्याय बताया

---

३. इनके साथ महा शब्द इनकी महिमा बढ़ाने के लिए जोड़ा गया है--तेषां महासत्राणीति च संस्तुति आप० धर्मसूत्र १।४।१२।१३, १।४।१३।१ मि० बौधा० धर्मसूत्र २।६।१-८

४. मनु० ३।६८-६९ पंच सूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः। कण्डनी चोदकुम्भश्च बध्यते यास्तु वारयन् ॥ तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थं महर्षिभिः। पंच क्लृप्ता महायज्ञाः प्रत्यहं गृहमेधिनाम् ॥

५. विष्णु० ५९।१९-२०, शंख० ५।१-२, मत्स्यपुराण ५२।१५-१६।

गया है[६] और इसका फल 'स्वर्णपूर्णा समूची पृथिवी के दान से प्राप्त होनेवाले लोक से तीन गुना अक्षय लोक' बताया गया है। यह स्वाध्याय की महिमा का सूचक अर्थवाद मात्र है। इसका उद्देश्य सबको इतिहास, पुराण और वेदाध्ययन में प्रवृत्त कराना था। ब्रह्मयज्ञ में वेद के अतिरिक्त वेदांग, गाथा नाराशंसी (वीरों की स्तुतियाँ) तथा अन्य विद्याओं का अध्ययन भी सम्मिलित था। इसका प्रधान प्रयोजन वैदिक ज्ञान की प्राचीन परम्परा को सुरक्षित रखना तथा आगे बढ़ाना था। इसी दैनिक स्वाध्याय से वैदिक साहित्य कंठस्थ होकर हजारों वर्षों तक सुरक्षित रहा। बाद में यह यज्ञ वेदाध्ययन का प्रतीक बन गया ( मनु० ३।७० )।

**देवयज्ञ**--अग्नि में विभिन्न देवताओं के प्रति स्वाहा के साथ कुछ आहुतियां देना देवयज्ञ था[७]। ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रतिपादित सप्ताहों, महीनों, और वर्षों चलनेवाले यज्ञ धनाढय एवं सम्पन्न व्यक्तियों के लिए ही शक्य थे। किन्तु देवताओं तक हवि का वहन करने वाली अग्नि में कुछ समिधाएं डालना दरिद्रतम व्यक्ति के लिए भी संभव था; और वह इस प्रकार देवताओं के प्रति अपनी भक्ति प्रदर्शित कर सकता था। ये आहुतियाँ सूर्य, अग्नि, प्रजापति आदि देवों के लिये दी जाती हैं ( गौ० ५।८-९ )। मनु ने अग्निहोत्र की महिमा गाते हुए कहा है —'अग्नि में दी हुई आहुति सूर्य को सम्यक् प्रकार से प्राप्त होती है, इसका रस सूर्य से वर्षा होकर बरसता है; वृष्टि से अन्न तथा उससे प्रजा होती है। अतः देवकर्म या अग्निहोत्र में लगा गृहस्थ इस चराचर जगत को धारण करता है' (३।७५-७६ )। मध्ययुग में अग्निहोत्र की प्रथा बहुत कम हो गयी; इसका स्थान मूर्तिपूजा ने ले लिया।

**भूतयज्ञ**--घर में प्रतिदिन पकाये जाने वाले अन्न में से भूतों के लिए जो बलि निकाली जाती है, वह भूतयज्ञ कहलाता है[८]। भारतीय विचार धारा के अनुसार समूचे चराचर जगत में एक ही शक्ति ओतप्रोत है; अतः सबके प्रति उदारता और सहिष्णुता होनी चाहिए, इसका प्रतीक यह यज्ञ है। इसके नाम

---

६. मि० तै० आ० २।१० यत्स्वाध्यायमधीयते कामप्यृचं यजुः साम वा तद् ब्रह्मयज्ञः संतिष्ठते।

७. तै० आ० २।१० यदग्नौ जुहोत्यपि समिधं तद्देवयज्ञः संतिष्ठते।

८. वही-वहीं यद्भूतेभ्यो बलिं हरति तद्भूतयज्ञः।

और स्वरूप के सम्बन्ध में प्राचीन और मध्ययुगीन धर्मशास्त्रों में पर्याप्त अन्तर है। पराशर माधवीय ( १।३८९ ) तथा स्मृत्यर्थसार आदि पिछले धर्मशास्त्री देव पितृ और भूत --इन तीनों को वैश्वदेव यज्ञ का नाम देते हैं; क्योंकि इनमें सभी देवताओं की पूजा की जाती है। भूत यज्ञ में दी जाने वाली बलि अग्नि में न डालकर, हाथ से साफ़ की हुई तथा पानी छिड़क कर पवित्र की भूमि पर रखी जाती है, इन्द्र, यम, वरुण आदि देवताओं के अतिरिक्त दिवाचर और नक्तंचारी भूतों और पितरों को बलि देने के बाद, अन्त में कुत्तों, पतितों, चाण्डालों, कोढ़ी आदि पाप रोग वालों, कौओं और कीड़ों के लिए बलि जमीन पर रखी जाती है ( मनु० ३।९२; याज्ञ० १।१०३ )

इन बलियों का उद्देश्य सब के साथ मिलकर और सबको खिलाकर खाने की भावना है। ऋग्वेद के समय से भारतीय विचार धारा में स्वार्थपूर्वक अकेले भक्षण करना पाप समझा गया है[९]। गीता में अपने लिए अन्न पकाने वालों को पाप खानेवाला बताया गया है[१०]। भूतयज्ञ त्यागपूर्वक भोग के आदर्श का प्रतीक है। गृहस्थ ने स्वयमेव या अपने परिवार को ही नहीं खिलाना; किन्तु अपने भोजन में से सब प्राणियों तथा चाण्डालादि पतित और कोढ़ आदि भयंकर रोगों से पीड़ित व्यक्तियों के लिए भी कुछ हिस्सा निकाल कर ही खाना है।

**पितृयज्ञ**--इसमें पितरों का प्रतिदिन तीन प्रकार से सम्मान किया जाता है- जल दान अथवा तर्पण द्वारा ( मनु० ३।७० ), बलि प्रदान करके ( मनु० ३।९१ ) अथवा प्रतिदिन कम से कम एक ब्राह्मण को खाना खिलाकर ( मनु० ३।८२-८३, कात्यायन अपरार्क पृ०१४५)

**नृयज्ञ**--पंच महायज्ञों में अन्तिम किन्तु सामाजिक दृष्टि से सब से अधिक महत्वपूर्ण नृ या अतिथि यज्ञ है। भारतवर्ष अत्यन्त प्राचीन काल से अपने आतिथ्य के लिए प्रसिद्ध है। हिन्दू परिवार में आदिकाल से अतिथि का सम्मान, स्वागत और सेवा प्रत्येक गृहस्थ का अनिवार्य दैनिक कर्तव्य माना जाता रहा है।

---

९. ऋ० १०।११७।४ मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य। नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी ॥

१०. गीता ३।१३ भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्। मि० मनु० ३।११८ याज्ञ० १।१०४

वैदिक युग में प्रत्येक स्नातक को समावर्तन के समय यह उपदेश दिया जाता था—'अतिथिदेवो भव' (तै० उप० २।११।२।२)। अथर्ववेद (नवम् कांण्ड, छठा सूत्र) में अतिथि सेवा की महिमा के गीत गाते हुए यह कहा गया है कि अतिथि गृहस्थ का अन्न नहीं खाता, किन्तु उसके पापों का भक्षण कर लेता है (९।६।२५-२६)। घर में अतिथि के पहली रात रहने से पृथ्वी के पुण्य लोक, दूसरी रात रहने से अन्तरिक्ष के पुण्य लोक, तीसरी रात के वास से द्युलोक और चौथी रात रहने से गृहस्थ अत्यन्त पुण्यवान् लोक प्राप्त करता है, अपरिमित रात्रियों के वास से अपरिमित पुण्य वाले लोक मिलते हैं (अथर्व० १५।१३।१-१०)। अतिथि सेवा इतनी महत्वपूर्ण है कि यदि अग्निहोत्र के समय अतिथि उपस्थित हो तो उसकी आज्ञा लेकर ही यज्ञ करना चाहिये। (अथर्व० १५।१२)। परवर्ती युगों में भी आतिथ्य की यह भावना बनी रही। मनु ने अतिथि सेवा को धन, आयु और स्वर्ग देनेवाला कहा है (मनु० ३।१०६)। विष्णु धर्म सूत्र के अनुसार अतिथि जिस घर से निराश वापिस लौटता है, वह उसे अपने सब पाप दे देता है; और उसके सब पुण्य ले लेता है (६७।३२)। पराशर० (१।४०) के मत में मित्र हो या शत्रु, मूर्ख हो या पण्डित, वैश्वदेव के समय आनेवाला अतिथि स्वर्ग को लानेवाला होता है (मि० शातातप स्मृच० में उद्धृत १।२१७)।

महाभारत में घर आये अतिथि के सत्कार के लिए अपने प्राणदान तथा पत्नीदान के अनेक आख्यान कहे गए हैं। शान्ति पर्व (अ० १४३-४६) में अपनी पत्नी को पकड़नेवाले शिकारी के आतिथ्य के लिए एक कबूतर द्वारा स्वयं हंसते हंसते अग्नि में जलकर प्राण देने का उल्लेख है। एक अन्य उपाख्यान में अतिथि सत्कार के लिए राजा सुदर्शन की पत्नी ओघवती के आत्मसमर्पण का वर्णन है (१३।२।३६-९४)। सुदर्शन मृत्यु को जीतना चाहते थे, यम उनकी परीक्षा लेने के लिए उनकी अनुपस्थिति में उनके घर अतिथि हुए और आतिथ्य में उनकी पत्नी से आत्मदान की याचना की; पत्नी ने बड़े संकोच से यह प्रार्थना स्वीकार की[११]।

---

११. यद्यपि यहां महाभारतकार ने अतिथिसेवा के माहात्म्य को अर्थवाद की दृष्टि से वर्णन करने के लिये ही इस आख्यान को लिखा है, किन्तु कुछ अन्य स्थलों से यह ज्ञात होता है कि अतिथि सेवा के लिये स्त्रियों का प्रयोग होता था। युधिष्ठिर ने अपने राज्य में एक लाख युवती दासियां इस कार्य के लिये

**अतिथि कौन हो सकता है**——शास्त्रों में यद्यपि अतिथि प्रधान रूप से ब्राह्मण माना गया है ( वसिष्ठ ध० सू० ८।७ अतिथिर्ब्राह्मणः स्मृतः ) किन्तु साधारण रूप से भोजन के समय आनेवाले चाण्डाल तक को अतिथि समझा जाता था। आपस्तम्ब ने कुछ ऐसे आचार्यों के मत का उल्लेख किया है, जो वैश्वदेव के समय आनेवाले अनधिकारियों का विरोध करते थे; किन्तु उसकी अपनी सम्मति यह है कि उसमें कुत्तों और चाण्डाल तक को भागीदार बनाना चाहिए[१२]। वृद्ध हारीत के मत में यात्रा से थका हुआ, भूखा, शूद्र या प्रतिलोम ( चाण्डालादि ) घर आये, तो उसे भी अपने घर पर यत्नपूर्वक खिलाना चाहिए[१३]।

शूद्रों को अन्न से सत्कृत करने का सबसे प्रसिद्ध उदाहरण रन्तिदेव का है।

---

रखी हुई थीं (२।६१।९ अनु०), दुर्योधन श्रीकृष्ण को हस्तिनापुर आने पर अन्य वस्तुओं के साथ स्त्रियां भेजता है ( ५।८५।१४, मि० ५।८६।८)। अपनी स्त्री को अतिथिसेवा के लिये देने का रिवाज अफ्रीका के काफिरों, मध्य अफ्रीका की अनेक जातियों एस्किमो लोगों, कैलीफोर्निया, ब्राजील, सुरीनाम, आस्ट्रेलिया के आदि निवासियों तथा प्रशान्त महासागर के द्वीपवासियों में पाया जाता है(वै० हि० ह्यू० मै०, १८९१ पृ० ७४-७५)।इस प्रकार के रिवाज का मुख्य कारण अतिथि सेवा की भावना है। एस्किमो ऐसी भेंट को उदारतापूर्ण आतिथ्य का कार्य समझते हैं, जब हब्शी अपने मेहमानों का स्वागत करना चाहता है तो इसी ढंग से करता है। वस्तुतः इन जातियों में पति अतिथियों के प्रति सम्मान प्रदर्शित करने के लिये अपनी स्त्री को उसे वैसे ही दे, देता है जैसे पूजनीय व्यक्ति के प्रति आदर प्रकट करने के लिये वह अपना स्थान छोड़ देता है। मित्रता का एक लक्षण पुत्र और कलत्र का दान भी है। चीन और पूर्वी तिब्बत में इस प्रथा के लिये देखिये मार्कोपोलो——यूल द्वारा संपादित १।२१०, २।५४। अधिक उदाहरणों के लिये देखिये हार्टलैन्ड प्रिमिटिव पैटर्निटी, अध्याय ७, फ़िन्क–प्रिमिटिव लव, पृ० ७८, ४७८, ३२८, ४२९।

१२. आप० ध० सू० २।४।९।५-६ सर्वान्वैश्वदेवे भागिनः कुर्वीताश्वचाण्डालेभ्यः नानर्हद्भ्यो दद्यादित्ये के मि० बौधा० गृ० २।९।२१, वृद्ध गौतम अध्याय ६, पृ० ५३५

१३. वृद्ध हारीत ८।२३९-४० शूद्रो वा प्रतिलोमो वा पथिश्रान्तः क्षुधातुरः। भोजयत्तं प्रयत्नेन गृहमभ्यागतो यदि॥

(भागपु० ९।२१)। रन्तिदेव बड़ी निर्धन दशा में थे; ४८ दिन से उन्होंने कुछ खाया पिया न था। ४९वें दिन उन्हें प्रातःकाल कुछ हलवा और पानी मिला। सारा परिवार भूख से तड़प रहा था; उसी समय एकएक ब्राह्मण अतिथि आया। उसके साथ भोज्य सामग्री बांटने के बाद एक शूद्र आया। उसे भी हिस्सा दिया गया। बाद में कुत्तों से घिरा अतिथि आया; उसे तथा उसके कुत्तों को भोजन देकर रन्तिदेव के पास केवल जल ही बचा। प्यास से उसका गला सूखा जा रहा था; वह पानी पीना ही चाहता था, किन्तु उसी समय वहां एक तृषित पुल्कस ( हीन जाति का चाण्डाल ) आ गया; स्वयं प्यास से मरते हुए भी रन्तिदेव ने वह पानी उस चाण्डाल को दे दिया। चाण्डालों की अतिथि सेवा के उपर्युक्त शास्त्रीय आदेशों तथा उदाहरणों के होते हुए गैडन का यह कथन सत्य नहीं प्रतीत होता कि जाति भेद के बन्धन के कारण भारत में वैसा आतिथ्य नहीं पाया जाता जैसा अंग्रेजी के हास्पिटैलिटी शब्द से सूचित होता है ( इंसा० रिलि० ई० खं० ६, पृ० ८१२ )।

स्मृतियों में इस बात पर बल दिया गया है कि अतिथि का नाम और गोत्र नहीं पूछना चाहिए। आतिथ्य की सच्ची भावना तो यही है कि घर पर जो भी कोई भूखा प्यासा आये; उसकी पूछ होनी चाहिए। मानवीय दृष्टि से विद्वान् और मूर्ख, निर्धन और धनी सब तुल्य हैं; नाम पूछने से माथा देख कर तिलक लगाने वाली बात हो जाती है। पराशर ने स्पष्ट रूप से कहा है—'अतिथि से गोत्र, चरण श्रुत और स्वाध्याय को न पूछे' ( १।४८ )। मनु ने भोजन प्राप्त करने के लिए अपने कुल और गोत्र का निवेदन करने वाले ब्राह्मण को वमन चाटने वाला कहकर ( वान्ताशी ) उसकी निन्दा की है ( मनु० ३।१९८ )।

अतिथि बहुधा परदेसी यात्री होता था, अतः याज्ञवल्क्य ने उसे अध्वनीन (१।१११) कहा है। धर्मसूत्रों और स्मृतियों में उसके सायंकाल पहुँचने और एक रात निवास का वर्णन है ( देखिये गौतम धर्म सूत्र )। मनु (३।१०२) और याज्ञ० (१।१०७) उसे सायंकाल के समय लौटाने से इंकार करते हैं। परदेसी यात्री के अतिरिक्त आचार्य के लिए भिक्षा संग्रह करनेवाला ब्रह्मचारी, और वेदाध्येता श्रोत्रिय ब्राह्मण भी अतिथि सत्कार पाता था। पराशर(१।५१) ने ब्रह्मचारी और संन्यासी के लिये पक्व अन्न की भिक्षा का विधान किया है। वृद्धहारीत ( ८।८९ ) और दक्ष ( ८।४३ ) ने संन्यासियों को खिलाने का फल बहुत बढ़ा चढ़ा कर लिखा है। पहले के मत में ( ८।८९ ) संन्यासी जहां भोजन

करता है, वहाँ भगवान स्वयं खाना खाते हैं और दूसरे की सम्मति में यति के एक रात आतिथ्य ग्रहण करने से गृहस्थ अपने मरण पर्यन्त के पापों से मुक्त हो जाता है।

**अतिथि यज्ञ के मूल कारण**--भारत में इस भावना के तीन प्रधान कारण प्रतीत होते हैं। (१) भूतदया का भाव, (२) यह विश्वास कि अतिथि के रूप में पूज्य योगी, सिद्ध आदि अनेक उत्कृष्ट कोटि के प्राणी घर पर पधारते हैं, उनका निरादर नहीं करना चाहिये। (३) समाज के लिए उपयोगी कार्य करने वालों का भरण पोषण।

**(१) भूतदया का भाव**--प्राणिमात्र के प्रति दया और अनुकम्पा की भावना अतिथि सत्कार का प्रधान कारण था। पहले यह बताया जा चुका है कि अतिथि प्रायः यात्री होता था। यास्क ने अतिथि की व्युत्पत्ति गमनार्थक अत और इण धातु से की है [१४]। प्राचीन काल में यात्रा आधुनिक समय की भांति सुगम और निरापद नहीं थी; उस समय होटलों की व्यवस्था भी नहीं थी; जहां यात्री ठहर सके। वह अपरिचित स्थानों में असहाय होता था; अन्य मनुष्य दया से द्रवित हो, उस परदेसी यात्री की सहायता करते थे [१५]। इसीको धार्मिक दृष्टि से अतिथि यज्ञ का रूप दिया गया। भारतीय वाङमय में अतिथि को सायंकाल न लौटने देने और अतिथि के लिये पाँव धोने का जल (पाद्य) आदि देकर उसका स्वागत करना यह सूचित करता है कि अन्य समाजों की भांति भारत में भी यात्री अतिथि के प्रति सेवा की भावना ही इस प्रथा का मूल रही होगी। गौतम (५।३९-४२) और मनु० (३।११२) ब्राह्मण के घर पर निम्न वर्णों के अतिथि आने पर स्पष्ट रूप से यह कहते हैं कि उन्हें

---

१४. निरुक्त ४।५ अतिथिरभ्यतितो गृहान् भवति अभ्येति तिथिषु परकुलानि वा।

१५. यूनानी व अंग्रेजी में अतिथि के लिए प्रयुक्त होनेवाले Guest शब्द का मूल अर्थ परदेसी है और पश्चिम में Hospitality का प्रेरक भाव यही था; परदेसी यात्रियों और बीमारों को शरण देने के लिए हास्पिटल ३७० ई० से स्थापित होने शुरू हुए। हास्पिटल का धात्वर्थ अतिथिशाला था। ईसाइयत में इसका प्रधान आधार ईसा का यह वाक्य है--मैं परदेसी था, तुमने मुझे अन्दर ले लिया (मैथ्यू २५।३५) इनका अधिक प्रचार चौथी शती ईस्वी के उत्तरार्ध से हुआ (इंसा० रिली० ई० खण्ड ६, पृ० ८०८-१०)

खिलाने का उद्देश्य दया या अनृशंसता का भाव है। गौतम ने आनृशंस्यार्थम् पद की द्विरुक्ति कर इस उद्देश्य को भली भांति व्यक्त किया है।

(२) सृष्टि की प्रत्येक वस्तु में भगवान का रूप देखने वाले हिन्दू समाज के लिए यह सर्वथा स्वाभाविक था कि वह अतिथि को भगवान या ऊँची कोटि के प्राणियों के रूप में देखे। वायु पुराण (७१।७४) में कहा गया है कि सिद्ध लोग इस पृथिवी पर विप्र रूप से विचरण करते हैं; अतः आते हुए अतिथि के पास हाथ जोड़ कर जाय। इसी प्रकार बृहत्पराशर (जीवा० भाग २, पृ० ९९) का भी यह मत है, "योगी विविध वेषों में, मनुष्यों के उपकार के लिए, अज्ञात रूप में, इस पृथ्वी पर विचरण करते हैं; अतः द्विज को उचित है कि श्राद्ध काल में आए अतिथि की पूजा करे।" अन्य जातियों में भी अतिथि सेवा के मूल में यह भाव पाया जाता है [१६]।

(३) ब्रह्मचारी, वेद के विद्वान् ब्राह्मण और संन्यासी हिन्दू समाज के लिए अत्यन्त उपयोगी वर्ग थे। पिछले दो समाज के नेता और पथप्रदर्शक थे और पहला वर्ग गुरु के पास विद्याध्ययन करता था। गृहस्थ का यह कर्तव्य समझा जाता था कि वह इन सब का भरण पोषण करे; क्योंकि ये वर्ग वैयक्तिक स्वार्थ के लिए कुछ भी न कमाते हुए, समाज के उपकार के लिए जीवन यापन करते थे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस व्यवस्था का बहुत दुरुपयोग हुआ है; किन्तु वह तो प्रत्येक अच्छी संस्था और प्रथा का होता है। वर्तमान युग में यातायात की सुविधाओं के बढ़ने, होटलों की स्थापना, जीवन संघर्ष की जटिलता, व्यष्टिवाद तथा भौतिकता की वृद्धि से हिन्दू परिवार में इस प्रथा का ह्रास हो रहा है।

---

१६. प्राचीन यूनान में होमर के ग्रन्थों में यह विचार कई स्थानों पर पाया जाता है। नौसिका ओडिसस को भिक्षा देते हुए कहती है कि सब परदेसी और गरीब ज्यूस (यूनानी महादेव) की ओर से आते हैं। ओडिसी में एण्टिनस जब एक भिक्षुक को स्टूल से पीटता है तो उसके साथी उसे भर्त्सना करते हुए कहते हैं, तू ने अभागे यात्री के साथ अच्छा वर्ताव नहीं किया; शायद यह स्वर्ग का देवता हो। देवता सब तरह के रूप धारण कर हमारे शहरों में परदेसी की तरह घूमते हैं। बाइबल में भी यह विचार पाया जाता है--हिब्रूज़ (१३।२) में हिदायत की गई है "आगन्तुकों का आतिथ्य करना न भूलो, क्योंकि इस प्रकार कई व्यक्तियों ने अनजाने में देवताओं का आतिथ्य किया है।"

**गृहस्थ का शेषभोजी होना**--अथर्ववेद में कहा गया है कि अतिथि के भोजन कर चुकने पर ही स्वयं भोजन करे[१७]। शतपथ ब्रा० (२।१।४।२) के समय से गृहस्थ का यह धर्म रहा है कि वह अतिथियों के खाने के बाद ही भोजन करे। आप० धर्मसूत्र (२।२।४।११) अतिथि से पहले खानेवाले को अपने घर की समृद्धि, सन्तान, पशु और यज्ञ के तथा वापी कूप तडागादि बनवाने का फल खानेवाला बताता है। आप० धर्मसूत्र (२।४।८।२) तथा वसिष्ठ० (११।१७) दम्पति के शेषभोजी होने का विधान करते हैं। आपस्तम्ब यह व्यवस्था भी करता है कि गृहस्थ घर में दूध आदि रसवान् पदार्थों का पूरा उपभोग न करे, ताकि कहीं ऐसा न हो कि बाद में आने वाले अतिथियों को भोजन में किसी पदार्थ की न्यूनता से कठिनाई हो, उसे अपने लिए अभिरूप (स्वादिष्ट) पदार्थ भी नहीं पकवाने चाहिए (नात्मार्थमभिरूपमत्र पाचयेत्)। स्मृतियों में इसका समर्थन किया गया है (याज्ञ० १।१०५)। मनु के मतानुसार अतिथि से पहले खाने वाले के शरीर को कुत्ते और गिद्ध खाते हैं (३।११५)।

इस व्यवस्था के मूल में त्याग पूर्वक भोग का आदर्श है, जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। केवल अपने लिए पकाना और खाना हिन्दू शास्त्रकारों की दृष्टि में पाप था। मनु के मत में जो मनुष्य अपने ही भोजन के लिए अन्न पकाता है, वह केवल पाप का भोजन करता है; यज्ञ से बचा हुआ अन्न सज्जनों के लिये खाना उचित है[१८]। आज संसार में साम्यवाद आदि विचार धाराएँ इसलिए प्रबल हो रही हैं कि पूंजीवादी केवल स्वयं खाना चाहता है, दूसरों को नहीं देना चाहता। उसकी स्वार्थलिप्सा ही भयंकर अशान्ति का कारण बनी हुई है। हिन्दू परिवार के इस आदर्श के अनुसार यह स्थिति उत्पन्न ही नहीं हो सकती; क्योंकि इसमें स्वार्थपूर्वक उपभोग नहीं, किन्तु त्यागपूर्वक भोग है।

**गृहस्थ का पोष्यवर्ग**--गृहस्थ केवल दूसरों को खिलाने वाला नहीं; किन्तु उनका पालन पोषण करनेवाला भी है। दक्ष० (२।३६) तथा लघु आश्वलायन (१।७४) के अनुसार दरिद्र होने पर भी गृहस्थ को इन व्यक्तियों का पालन पोषण करना चाहिए--माता, पिता, गुरु, पत्नी, सन्तान, शरण में

---

१७. अथर्व ९।६।३८ अशितावत्यतिथावश्नीयात्

१८. मनु० ३।११८ अघं स केवलं भुंक्ते यः पचत्यात्मकारणात्। यज्ञशिष्टाशनं ह्येतत्सतामन्नं विधीयते।

आया असहाय व्यक्ति, अतिथि और अग्नि[१९]। यदि व्यक्ति धनी हो तो उसे अपने कुल के तथा मातृकुल के निर्धन प्राणियों, असहायों और शरणागतों का भी पालन करना उचित है। पोष्य वर्ग के पालन से स्वर्ग मिलता है, उनके दुखी होने से नरक में जाना पड़ता है. अतः यत्नपूर्वक उनका पालन करना चाहिये। जिस मनुष्य के आश्रय से बहुत लोगों का निर्वाह होता है; वास्तव में वही जीवित है, केवल अपना पेट भरनेवाला जीवित दशा में भी मृतक के समान है[१९], व्यास स्मृति में ( ४।१६-२२ ) भी केवल अपना पेट भरने वालों की तुलना पशुओं के साथ करते हुए इस प्रकार के भाव व्यक्त किए गये हैं।

**गृहस्थ की आजीविका**--पोष्य वर्ग का पालन धनापेक्ष है। इसके उपार्जन के लिए किन वृत्तियों का अवलम्बन किया जाय, इसका भी शास्त्रकारों ने सुन्दर प्रतिपादन किया है। मनु के मत में जीविकोपार्जन की वृत्तियाँ सात प्रकारों में बाँटी जा सकती हैं, ऋत, अमृत, मृत, प्रमृत, सत्य. अनृत और श्ववृत्ति। खेत कटजाने पर खेत में पड़े दाने बीनना ( उञ्छ) तथा अन्न की बाल बटोरना ( शिल) ऋत, विना मांगे प्राप्त भिक्षा अमृत, मांगकर लाई हुई भिक्षा मृत, कृषि कर्म प्रमृत, वाणिज्य सत्यानृत और नौकरी श्ववृत्ति है। नौकरी कभी नहीं करनी चाहिये। गृहस्थ की वृत्ति प्राणियों को कष्ट न पहुँचाने वाली या बहुत कम कष्ट पहुँचाने वाली तथा निन्दनीय कर्मों से रहित होनी चाहिये। (मनु० ४।२-६ )। ब्राह्मण गृहस्थ के लिए कम से कम द्रव्य संग्रह करना आदर्श समझा गया है। मनु० के कथनानुसार गृहस्थ को उचित है कि वह कुसूल ( कोठा) भर अन्न, कुम्भी भर अन्न, तीन दिन खाने योग्य या एक दिन खाने योग्य अन्न का संचय करे[२०] (मनु० ४।७ )।

नारद (३।४६-५२) ने धन प्राप्ति के लिये धर्म को महत्वपूर्ण ठहराते हुए धन के शुद्ध, शबल और कृष्ण नामक तीन भेद कर. इनमें से प्रत्येक के सात प्रकार

---

१९. दक्ष २।३२-३५ माता पिता गुरुर्भार्या प्रजा दीनः समाश्रितः। अभ्यागतोऽतिथिश्चाग्निः पोष्यवर्ग उदाहृतः॥ स जीवति य एकैको बहुभिश्चोपजीव्यते। जीवन्तो मृतकास्त्वन्ये पुरुषाः स्वोदरम्भराः॥

२०. टीकाकारों ने--कुसूल और कुम्भी की टीकाकारों ने विभिन्न व्याख्यायें की हैं। कुल्लूक के मत में जिसके पास तीन वर्ष के निर्वाह के लिए अन्न हो, वह कुसूल धान्यक है और एक वर्ष वाला कुम्भी धान्यक; गोविन्द राज इन्हें क्रमशः १२ और ६ दिन का अन्न रखने वाला बताता है।

बताये हैं। वेद विद्या, शौर्य, तप, कन्या, शिष्य यज्ञ और वंश परम्परा से मिला धन शुद्ध, सूद, कृषि, वाणिज्य, शुल्क शिल्प, अनुवृत्ति तथा किये उपकार के बदले में प्राप्त शबल और घूस ( उत्कोच ) जुआ, चोरी, दुख देने, ठगी ( प्रति रूपक) डकैती ( साहस) से प्राप्त धन कृष्ण होता है। मनुष्य जिस प्रकार के धन से जो कार्य करता है, उसे इस लोक तथा परलोक में वैसा ही फल मिलता है। पराशर स्मृति में भी न्यायोपार्जित वित्त से आत्मरक्षण पर बल दिया है ( १२।४३ )।

**गृहस्थ के अन्य कर्त्तव्य**--उपर्युक्त कर्तव्यों के अतिरिक्त गृहस्थ के प्रधान कर्तव्य माता, पिता और गुरु की सेवा (मनु० २।२२५-२३६ मि० बृहद्विष्णु स्मृति ३१।१-१०, उशना० १।३०-३५ ) ऋतुकालाभिगामी होना (मनु० ३।४५-५०, परा० स्मृ० ४।१४-१५, व्यास० २।४५) स्वदारनिरत रहना, घर में प्रेम पूर्वक रहना ( ४।१८१) श्रद्धा से यज्ञ कर्म करना. तालाब कुंआँ खुदवाना (४ २२६ ) तीनों ऋणों से उऋण होना (४।२५७ ) है। अनुशासन पर्व में अहिंसा सत्य, सब भूतों के प्रति दया, शम, सामर्थ्यानुसार दान गृहस्थ के उत्तम धर्म कहे गये हैं। दूसरों की स्त्रियों से सम्पर्क न रखना, अपनी पत्नी तथा धरोहर की रक्षा,न दी हुई वस्तु न लेना, मधु, मांस का वर्जन यह पांच प्रकार का धर्म सुख बढ़ाने वाला है (महाभा० १३।१४१।२५-२६ )।

**उपसंहार**--शास्त्रकारों की दृष्टि में हिन्दू परिवार में गृहस्थ का लक्ष्य पंच महायज्ञ तथा अन्य आवश्यक कार्य करते हुए शनैः शनैः धर्मसंग्रह करना है। मनु के कथनानुसार "परलोक में सहायता के लिए माता, पिता, पुत्र भार्या और सम्बन्धी नहीं होते, प्राणी अकेला ही जन्म लेता है, अकेला ही मरता है, अकेला ही अपने पाप पुण्य का फल भोगता है। काठ और मिट्टी के ढेले के समान मृत शरीर को सम्बन्धी भूमि पर छोड़ कर चले जाते हैं, केवल धर्म ही उसके साथ जाता है। धर्म की सहायता से ही दुस्तर नरक से निस्तार होता है, अतः परलोक में सहायता के लिए धर्म का सदैव धीरे धीरे संचय करना चाहिए"। ( मनु० ४।२३९-४२ )। गृहस्थाश्रम सुखोपभोग के लिये नहीं किन्तु धर्म पालन के लिये है। इसमें मनुष्य स्वाध्याय से ऋषियों को, होम से देवताओं को, तर्पण से पितरों को, बलि से भूतों को तथा अन्न से मनुष्यों को तृप्त करता है। वेदाध्ययन से ऋषि ऋण, पुत्रों द्वारा पितृऋण तथा यज्ञों द्वारा देवऋण से मुक्त होकर पुत्र को सब कुछ देकर गृहस्थ संसार में अलिप्त भाव से रहता है (मनु० ४।२५७ )। पारिवारिक जीवन में तीनों ऋण उतार कर ही मनुष्य को

मोक्ष मिल सकता है, इन्हें उतारे बिना मोक्ष के लिए संन्यासी होने वाला व्यक्ति नरकगामी होता है[२१]। गृहस्थाश्रम सामाजिक कर्त्तव्य होने से एक पवित्र धार्मिक बन्धन है; अतः उसकी उपेक्षा करनेवाला हिन्दू समाज में मुक्ति का अधिकारी नहीं माना जाता।

——

२१. मनु० ६।३५ ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्। अनपाकृत्य मोक्षं तु सेवमानो व्रजत्यधः ॥

# ग्यारहवां अध्याय

## संयुक्त परिवार तथा उत्तराधिकार के सामान्य सिद्धान्त

संयुक्त परिवार का कानूनी स्वरूप—मिताक्षरा और दाय भाग सम्प्रदाय—दाय शब्द की दो व्याख्यायें—उपरमस्वत्ववाद—जन्मस्वत्ववाद—मिताक्षरा संयुक्त परिवार की विशेषतायें—मतभेद के कारण—संयुक्त सम्पत्ति—शरीक (समांशी)—कर्त्ता—रिक्थहरण के सामान्य नियम—मिताक्षरा का दायाद क्रम—दायभाग का क्रम—मिताक्षरा परिवार के दायाद—पुत्र—विधवा—कन्या-दोहता-मातापिता-भाई-गोत्रज—समानोदक-बन्धु—विज्ञानेश्वर की सपिण्ड शब्द की व्याख्या—दायभाग की व्याख्या—पिण्डदान से दायादों का क्रम निश्चित होना—इसके नियम—दायभाग और मिताक्षरा के दायादों में अन्तर—सकुल्य-समानोदक—दाय के अनधिकारी—शारीरिक और मानसिक अयोग्यतायें—दूषित आचरण—दायानर्हता के कारण—स्त्रियों का दाय से वंचित होना—इसके कारण—मातृक परिवार—प्राचीन भारत में इनकी सत्ता—मलाबार का मरुमक्कत्तायम् और तरवाड़ ।

१९वीं शती के अन्त तक हिन्दू समाज में संयुक्त परिवार पद्धति की प्रधानता रही है । इसके ऐतिहासिक विकास की विवेचना दूसरे अध्याय में की जा चुकी है; यहां इसके कानूनी स्वरूप, इसके सदस्यों के साम्पत्तिक अधिकारों तथा रिक्थहरण (Inheritance) के सामान्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जायगा ।

**स्वरूप**—संयुक्त परिवार न केवल निवास, भोजन और धार्मिक कृत्य की दृष्टि से इकट्ठा रहनेवाले व्यक्तियों का समूह है; अपितु इसके सब सदस्य परिवार की सम्पत्ति का संयुक्त रूप से उपभोग करते हैं[1] । पहले यह बताया जा चुका है कि इस संस्था के विकसित तथा सुदृढ़ होने का एक बड़ा कारण यह था कि यह आर्थिक दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी थी । इसमें रहनेवाले सभी व्यक्तियों का कुटुम्ब की साझी सम्पत्ति से पालन-पोषण होता है । किन्तु ये सब संयुक्त

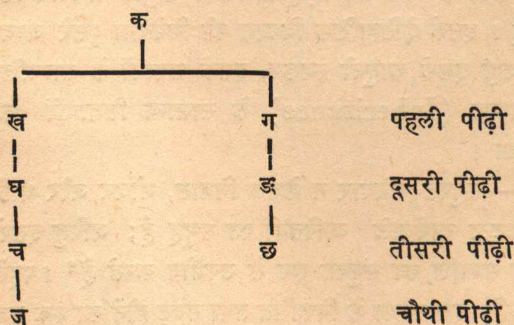
---

१. अप्पू वियर बनाम रामसुब्बा ११ म्यू० इं० ए० ७५,८९-९०

सम्पत्ति पर अपना स्वत्व रखते हों, सो बात नहीं । न तो सब व्यक्तियों का सम्पत्ति पर अधिकार होता है और न ही सबके स्वत्व समान होते हैं ।

**परिवार की कानूनी मर्यादा**—हिन्दू परिवार में एक मूल पुरुष की तीसरी पीढ़ी तक के वंशज अपनी स्त्रियों तथा अविवाहित कन्याओं के साथ इसके सदस्य समझे जाते हैं; किन्तु इनमें से केवल पुरुष संयुक्त सम्पत्ति में स्वत्व रखने के कारण इसके साझीदार या समांशी (Coparceners) माने जाते हैं[२] । तीन पीढ़ी की मर्यादा पिण्डदान के आधार पर की गई है । मनु के कथनानुसार तीन पितरों को उदक और पिण्ड दान दिया जाता है, चौथा देनेवाला होता है, पांचवें का कोई सम्बन्ध नहीं होता[३] । सामान्यतः पिण्डदाता ही उत्तराधिकारी होने से पैतृक सम्पत्ति पर स्वत्व रखता है, वह चूंकि परदादा तक पिण्डदान करता है, अतः उसका इसी पूर्वज तक की सम्पत्ति पर स्वामित्व माना जाना स्वाभाविक है । इस प्रकार हिन्दू परिवार की कानूनी मर्यादा एक मूल पुरुष की तीसरी पीढ़ी तक ही है और साझेदारी की भी यही सीमा है । इससे अधिक पीढ़ीवाले वाले व्यक्ति संयुक्त संपत्ति में हिस्सेदार नहीं समझे जा सकते ।

न्यायमूर्ति नानाभाई हरिदास के प्रसिद्ध निर्णय (मोरो बनाम गणेश १० बं० हा० रि०, पृ० ४४४) में दिये गये उदाहरणों में संयुक्त हिन्दू परिवार की सीमा अच्छी तरह सुस्पष्ट की गयी है । निम्न चित्र में क मूल पुरुष है, ख ग उसके पुत्र हैं, इन के पुत्र और पौत्र क्रमशः घ ङ और च छ हैं, च का पुत्र ज है—




२. सुदर्शनम् बनाम नरसिंहुलु २५ म० १४९ ( १५४ )

३. मनु० ९।१८६ त्रयाणामुदकं कार्यं त्रिषु पिण्डः प्रवर्तते । चतुर्थः सम्प्रदातैषां पंचमो नोपपद्यते ॥।

क के जीवन-काल में उसके पुत्र ख, ग, पौत्र घ ङ तथा प्रपौत्र च छ तो क की सम्पत्ति के साझीदार हैं, किन्तु यदि क के जीवित रहते हुए च का पुत्र ज उत्पन्न होता है तो वह क का प्रपौत्र होने से क की सम्पत्ति में अंशहर नहीं हो सकता, क्योंकि वह क से चौथी पीढ़ी में है, परिवार की मर्यादा तीसरी पीढ़ी तक है। किन्तु यदि ज क की मृत्यु के बाद उत्पन्न होता है तो वह ख, घ और च के साथ तीसरी पीढ़ी में होने के कारण अंशहर होगा। क के जीवित रहते हुए यदि ख मर जाय तो भी क से चौथी पीढ़ी में होने के कारण ज हिस्सेदार नहीं बन सकता। यदि ख ग, घ ङ, च छ सभी क के जीवन काल में मृत हो जायं तो भी सम्पत्ति पर क का ही स्वामित्व रहेगा, उस के मरने पर ही, उत्तराधिकारी होने के नाते ज को सम्पत्ति मिलेगी।

**मिताक्षरा और दायभाग सम्प्रदाय**--पैतृक सम्पत्ति में अधिकारों की दृष्टि से हिन्दू परिवार पिछले एक हज़ार वर्ष से दो प्रधान सम्प्रदायों में बंटा हुआ है। इन दोनों में मौलिक मतभेद होने के कारण दोनों प्रकार के हिन्दू परिवार के साझीदारों के स्वत्वों में भी पर्याप्त अन्तर है। पहले सम्प्रदाय का प्रधान आधार याज्ञवल्क्य स्मृति पर विज्ञानेश्वर द्वारा १०७०-११०० ई० के बीच में लिखी हुई मिताक्षरा नामक टीका है और दूसरे का मूल १०९०-११३० ई० के बीच में जीमूतवाहन द्वारा प्रणीत दायभाग नामक ग्रन्थ। पहला सम्प्रदाय मिताक्षरा कहलाता है, बंगाल, आसाम के अतिरिक्त समूचे भारत में प्रामाणिक समझा जाता है, किन्तु उसके साथ विशेष प्रदेशों में अन्य ग्रन्थों का प्रामाण्य भी स्वीकार किया जाता है[४]। दूसरा सम्प्रदाय दायभाग कहलाता है। बंगाल

४. मिताक्षरा सम्प्रदाय पांच शाखाओं में विभक्त किया जाता है--द्रविड़, महाराष्ट्र, मिथिला, बनारस और पंजाब। इनमें मिताक्षरा के अतिरिक्त कुछ बातों में अन्य ग्रन्थ भी प्रामाणिक माने जाते हैं। यह निम्न तालिका से स्पष्ट है। कोष्ठों में इनके काल का निर्देश है।

| सम्प्रदाय का नाम व क्षेत्र | प्रामाणिक ग्रंथ |
|---|---|
| (१) द्रविड़ अथवा मद्रास | स्मृति चन्द्रिका (१३वीं शती) |
| | सरस्वती विलास (१६वीं शती) |
| | व्यवहार निर्णय, पराशर माधव तथा वीर मित्रोदय (१६वीं श०)। |

और आसाम में रघुनन्दन ( १५१०-६५ ) के दाय-तत्त्व के साथ परम प्रमाण माना जाता है।

इन दोनों सम्प्रदायों का मौलिक मतभेद इस प्रश्न पर है कि पैतृक सम्पत्ति (दाय) पर पुत्र का स्वत्व किस प्रकार उत्पन्न होता है। मिताक्षरा के मतानुसार जन्म लेते ही पुत्र का पैतृकसंपत्ति में स्वत्व उत्पन्न हो जाता है, अतः यह मत जन्मस्वत्ववाद कहलाता है। दायभाग इससे सर्वथा प्रतिकूल यह मानता है कि पिता की मृत्यु (उपरम) से ही पुत्रों को यह अधिकार मिलता है, अतः यह उपरमस्वत्ववाद कहलाता है। विज्ञानेश्वर और जीमूतवाहन से पहले भी ये दो विरोधी विचार धारायें चली आ रही थीं, किन्तु इन्होंने सर्व प्रथम सुस्पष्ट प्रतिपादन द्वारा इन्हें अपने प्रदेशों में सर्वमान्य सिद्धान्त बनाया।

**दाय शब्द का दोहरा अर्थ**——इन परस्पर विरोधी सिद्धान्तों का मूल कारण सम्पत्तिवाची दाय शब्द की दोहरी व्याख्या है। विज्ञानेश्वर के मतानुसार दाय वह सम्पत्ति है, जिसपर उसके स्वामी के साथ सम्बन्ध मात्र के कारण ही दूसरे

---

| | |
|---|---|
| (२) महाराष्ट्र या बम्बई | इसमें दो उपभेद हैं— |
| (क) महाराष्ट्र-उत्तरी कनारा, रत्न गिरि जिले तथा बरार | मिताक्षरा तथा व्यवहार मयूख (१७वीं श०) इनमें मिताक्षरा अधिक प्रामाणिक है। |
| (ख) गुजरात, बम्बई का टापू उत्तरी कोंकण | व्यवहार मयूख मिताक्षरा से अधिक प्रामाणिक है। |
| (३) बनारस (अजमेर, उत्तर प्रदेश मध्य-प्रदेश, उड़ीसा ) | मिताक्षरा वीर मित्रोदय (१६वीं श०) |
| (४) मिथिला (तिर्हुत, या उत्तरी बिहार) | विवाद चिन्तामणि (१५वीं श०), व्यवहार चिन्तामणि, विवाद रत्नाकर मिताक्षरा और वीरमित्रोदय। |
| (५) पंजाब | यहां देशाचार मिताक्षरा, वीमि० से अधिक प्रामाणिक है। काश्मीर में अपरार्क अधिक प्रामाणिक है। दे० गोलापचन्द्र सरकार——हिन्दू ला (अष्टम संस्करण, पृ० ४२-४४ ) |

व्यक्ति का स्वामित्व स्थापित हो जाता है[५]। पिता की सम्पत्ति पर पुत्र का अधिकार उसके पिता के साथ सम्बद्ध होने के कारण है और यह सम्बन्ध जन्म से उत्पन्न होता है, अतः सम्पत्ति पर जन्म से ही स्वत्व समझना चाहिए। दूसरी ओर जीमूतवाहन दाय शब्द की व्युत्पत्ति दानार्थक दा धातु से करते हुए कहता है "जो दिया जाय, वह दाय है"; दान में देने वाला व्यक्ति अपने अधिकार का त्याग करता है, इस प्रकार उसकी स्वत्व-निवृत्ति से नये व्यक्ति के अधिकार की उत्पत्ति होती है[६]। सम्पत्ति में अधिकार पाने के लिए यह आवश्यक है कि उसपर जिस व्यक्ति का अधिकार है, उसके स्वत्व की समाप्ति हो; क्योंकि इसके विना नया स्वत्व पैदा नहीं हो सकता; अतः जब पिता की मृत्यु से सम्पत्ति पर उसका स्वाम्य निवृत्त होता है, उसी समय पुत्र का उस पर अधिकार पैदा होता है, उससे पहले या जन्म से नहीं। दोनों पक्षों ने अपने सिद्धान्तों की पुष्टि निम्न शास्त्रीय प्रमाणों तथा युक्तियों के आधार पर की है।

**उपरमस्वत्ववाद**--इसका पहला प्रबल और स्पष्ट प्रमाण मनु० (९। १०४) और नारद ( दाय भाग २ ) की यह व्यवस्था है कि पुत्र सम्पत्ति का बंटवारा पिता के मरने पर ही करें; क्योंकि वह पिता के जीवित रहते हुए सम्पत्ति के स्वामी नहीं हैं। देवल ने भी ऐसी व्यवस्था की है[७]। दूसरा प्रमाण 'बाल सफेद होने से पहले यज्ञ करने का विधान करने वाले' 'कृष्णकेशोऽग्नीनादधीत' आदि श्रुति वाक्य हैं। यदि जन्म से ही पुत्र का पैतृक सम्पत्ति पर स्वत्व उत्पन्न होता हो तो पिता पुत्र की अनुमति के विना पैतृक सम्पत्ति लगाकर यज्ञ नहीं कर सकता। इस अवस्था में यज्ञ विषयक उपर्युक्त वचन निरर्थक हो जायेंगे।

**जन्मस्वत्ववाद**--विज्ञानेश्वर ने उपर्युक्त मत का खण्डन तीन प्रकार से किया है। (१) विष्णु धर्म सूत्र (१७।२), याज्ञवल्क्य (२।१२१), बृहस्पति

---

५. याज्ञ० २।११४ की अवतरणिका--तत्र दायशब्देन यद्धनं स्वामिसंबन्धादेव निमित्तादन्यस्य स्वं भवति तदुच्यते।

६. दायभाग १।४-५-दीयते इति व्युत्पत्त्या दायशब्दो ददाति प्रयोगश्च गौणः, मृतप्रव्रजितादिस्वत्वनिवृत्तिपूर्वकपरस्वत्वोत्पत्तिफलसाम्यात्, न तु तत्र मृतादीनां त्यागोऽस्ति। ततश्च पूर्वस्वामिसंबन्धाधीनं तत्स्वाम्योपरमे यत्र द्रव्ये स्वाम्यं तत्र निरूढो दायशब्दः।

७. देवल दायभाग १।१८ द्वारा उद्धृत--पितर्युपरते पुत्रा विभजेयुर्धनं पितुः। अस्वाम्यं भवेदेषां निर्दोषे पितरि स्थिते ।।

(दायभाग २।५०), कात्यायन और व्यास (अपरार्क पृ० ७२५) के मतानुसार दादा की सम्पत्ति में पुत्र और पिता का एक जैसा स्वामित्व है[८]। इसलिए पुत्र का अधिकार जन्म से ही है। (२) उपरमस्वत्ववादियों की यह युक्ति भी ठीक नहीं है कि जन्म से स्वत्व मानने के कारण पुत्र से अनुमति लिये बिना यज्ञ न करने से श्रुति वचन का विरोध होगा। वस्तुतः पिता को परिवार का अध्यक्ष होने के नाते उसके पालन तथा उसपर आई विपत्तियों के निवारण के लिये आवश्यक यज्ञ तथा श्राद्धादि धर्मकार्य करने का अधिकार है। आपत्काल में कुटुम्ब के हित तथा धर्म-कर्म के लिए वह स्थावर सम्पत्ति का दान, गिरवी या विक्रय कर सकता है[९]। अतः वैदिक यज्ञों के व्यय के लिए उसे पुत्र से पूछना आवश्यक नहीं है। (३) विज्ञानेश्वर ने जन्म स्वत्ववाद की पुष्टि में गौतम का भी एक प्रमाण दिया है[१०]। यद्यपि यह वर्तमान गौतम धर्मसूत्र में नहीं मिलता; किन्तु डा० जाली द्वारा इसे जाली ठहराया जाना तथा विज्ञानेश्वर द्वारा गढ़ा हुआ मानना (हिन्दू ला, पृ० ११०) ठीक नहीं प्रतीत होता क्योंकि मेधातिथि ने विज्ञानेश्वर से २०० वर्ष पूर्व अपनी टीका (मनु० ९।१५६) में इससे मिलता-जुलता वचन उद्धृत किया है। जीमूतवाहन (दाय १।२०) स्वयं स्वीकार करता है कि स्वत्व की उत्पत्ति कहीं कहीं जन्म से मानी गई है।

**मिताक्षरा संयुक्त परिवार की विशेषतायें**—पैतृक सम्पत्ति में जन्म द्वारा स्वत्व का सिद्धान्त मानने से मिताक्षरा संयुक्त परिवार दायभाग के संयुक्त परिवार से कई विशेषतायें रखता है। इसके अनुसार अविभक्त परिवार में पैतृक

---

८. विष्णु धर्म सूत्र १७।२—पैतामहेऽर्थे पितृपुत्रयोस्तुल्यं स्वामित्वं। याज्ञ० २।१२१—भूर्या पितामहोपात्ता निबन्धो द्रव्यमेव वा। तत्र स्यात्सदृशं स्वाम्यं पितुः पुत्रस्य चैव हि॥ बृहस्पति० (दाय भाग २।५०)।

९. मिता० याज्ञ० २।११४ पर—तस्मात् पैतृके पैतामहे द्रव्ये जन्मनैव स्वत्वं तथापि पितुरावश्यकेषु धर्मकृत्येषु वाचनिकेषु प्रसाददानकुटुम्बभरणापद्विमोक्षादिषु च स्थावरव्यतिरिक्तद्रव्यविनियोगे स्वातन्त्र्यमिति स्थितम् स्थावरे तु स्वार्जिते पित्रादिप्राप्ते च पुत्रादिपारतन्त्र्यमेव। अस्यापवादः। एकोऽपि स्थावरे कुर्याद्दानाधमनविक्रयम्। आपत्काले कुटुम्बार्थे धर्मार्थे च विशेषतः॥

१०. वहीं—तथोत्पत्त्यैवार्थस्वामित्वं लभेतेत्याचार्याः इति गौतम वचनाच्च।

सम्पत्ति पर सभी साझीदारों का संयुक्त स्वामित्व होता है। स्वत्व की उत्पत्ति जन्म से होने के कारण नये उत्तराधिकारियों के आगमन तथा पुराने दायादों के निधन से सम्पत्ति पर स्वत्व रखने वालों की संख्या बढ़ती घटती रहती है। अतः इसमें साझीदारों का हिस्सा कभी निश्चित नहीं रहता, उनकी संख्या के अनुसार बदलता रहता है। इसकी **दूसरी विशेषता** अतिजीविता (Surviuorship) द्वारा सम्पत्ति का संक्रमण है। एक हिस्सेदार के मरने पर उसका हिस्सा उसके बाद जीवित रहनेवाले (अतिजीवी) अन्य शरीकों या समांशियों को मिल जाता है, बशर्ते कि मृत सम्बन्धी का कोई पुत्र, पौत्र या प्रपौत्र न हो। नारद (१३।२५) ने स्पष्ट रूप से यह कहा है कि यदि कई भाइयों में से एक अपुत्र ही मर जाय अथवा संन्यासी हो जाय तो स्त्री धन के अतिरिक्त उसकी सम्पत्ति उसके भाई बांट लेवें। मिताक्षरा ने इस व्यवस्था का अनुमोदन किया। अतिजीविता के इस सिद्धान्त के अनुसार मृत समांशी की विधवाओं तथा अन्य उत्तराधिकारियों को पैतृक सम्पत्ति में उसका स्वत्व प्राप्त नहीं हो सकता। इसकी **तीसरी विशेषता** यह है कि इसमें स्त्रियां पुरुष शरीकों के साथ समांशी नहीं हो सकतीं, भले ही वह मृत व्यक्ति की माता या स्त्री क्यों न हो। मिताक्षरा के अनुसार एक पुरुष के तीसरी पीढ़ी तक के पुरुष वंशज ही सम्पत्ति में स्वत्व रखते हैं। १९३७ के 'हिन्दू स्त्रियों के सम्पत्ति के स्वत्व कानून' से इसमें यह परिवर्तन हो गया है कि अतिजीविता के सिद्धान्त के अनुसार मृत पुरुष की सम्पत्ति का अधिकार उसके अन्य शरीकों को न मिल कर उत्तराधिकारिणी के रूप में उसकी पत्नी को सीमित स्वत्व के रूप में प्राप्त होता है। इसकी **चौथी विशेषता** शरीकों या समांशियों द्वारा सम्पत्ति का बंटवारा करवाने का अधिकार है। पुत्रों का जन्म से ही पैतृक सम्पत्ति पर स्वत्व है, वे उसकी मांग कर सकते हैं। **पांचवीं विशेषता** सम्पत्ति के विनियोग पर पिता का सीमित अधिकार है वह धार्मिक कार्यों के लिए गये विशेष ऋणों के चुकाने के लिए ही संयुक्त संपत्ति का विक्रय कर सकता है[१२]। किन्तु अन्य शरीक संयुक्त सम्पत्ति में अपने स्वत्व का दूसरे हिस्सेदारों से विना पूछे यथेच्छ विनियोग नहीं कर सकते।

दायभाग परिवार में उपरमस्वत्ववाद के कारण पिता के मरने पर ही

---

१२. रामलिंग बनाम शिव चिदम्बर ४२ म० ४४०

पुत्र को संयुक्त सम्पत्ति पर अधिकार प्राप्त होता है, अतः पिता के जीवनकाल में पुत्रों का कोई स्वत्व नहीं होता, वे मिताक्षरा परिवार के पुत्रों की भांति पैतृक सम्पत्ति के बंटवारे की मांग नहीं कर सकते[१३]। पिता का उस सम्पत्ति पर पूर्ण अधिकार है [१४], लड़कों का भरण पोषण के अतिरिक्त उस पर कोई अधिकार नहीं है, पिता पैतृक और स्वार्जित दोनों प्रकार की सम्पत्ति का यथेच्छ विनियोग दान विक्रय आदि द्वारा कर सकता है। इसमें पिता के मरने पर सब समांशी भाइयों का हिस्सा निश्चित होता है और उनके न रहने पर ही, अतिजीविता के सिद्धान्त के अनुसार यह दूसरे शरीकों को न मिलकर मृत व्यक्ति के उत्तराधिकारियों को ही मिलता है। पुत्र न होने पर विधवा स्त्री को हिस्सा मिलता है। मिताक्षरा में केवल पुरुष ही सम्पत्ति में समांशी होते हैं; किन्तु दायभाग में स्त्रियां भी उत्तराधिकारिणी होती हैं।

उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि दोनों संयुक्त परिवारों में निम्न अन्तर हैं—

| मिताक्षरा | दायभाग |
|---|---|
| (१) पैतृक सम्पत्ति में स्वत्व जन्म से होता है। | (१) स्वत्व जन्म से नहीं, किन्तु पिता की मृत्यु से उत्पन्न होता है। |
| (२) किसी समांशी (शरीक) की मृत्यु होने पर उसका हिस्सा अतिजीवी शरीकों को मिलता है। | (२) समांशी (Coparcener) की मृत्यु होने पर पुरुष का हिस्सा पत्नी आदि मृत व्यक्ति के उत्तराधिकारियों को मिलता है। |
| (३) केवल पुरुष समांशी हो सकते हैं। | |

---

१३. मिताक्षरा २।११४ यत्तु बृहस्पतिवचनमविभक्ता विभक्ता वा सपिण्डाः स्थावरे समाः। एको ह्यनीशः सर्वत्र दानाधमनविक्रये ॥ इति तदपि अविभक्तेषु द्रव्येषु मध्यस्थत्वादेवास्यानीश्वरत्वात्सर्वाभ्यनुज्ञावश्यं कार्या।

१४. दायभाग (२।२८-३०) पिछले नोट के बृहस्पति के वचन को व्यास के नाम से उद्धृत करता हुआ कहता है—व्यासवचनं तु स्वामित्वेन दुर्वृत्तपुरुषगोचरविक्रयदानादिना कुटुम्बविरोधादधर्मभागिताज्ञापनार्थं निषेधरूपं न तु विक्रयाद्यनिष्पत्त्यर्थम्।

| | |
|---|---|
| (४) कोई समांशी अपने हिस्से का दान विक्रयादि द्वारा अपहार (Alienation) नहीं कर सकता। | (३) समांशियों की विधवायें भी समांशी हो सकती हैं। |
| | (४) समांशी अपहार या इन्तकाल कर सकते हैं। |
| (५) पिता कानूनी आवश्यकता या पूर्ववर्ती ऋण के लिए ही संयुक्त सम्पत्ति का अपहार कर सकता है। | (५) पिता का सम्पत्ति पर पूर्ण अधिकार है, वह इसका यथेच्छ विनियोग कर सकता है। |

आगे यह बताया जायेगा कि मिताक्षरा और दायभाग में उत्तराधिकार की कसौटी के सम्बन्ध में भी मौलिक मतभेद है। पहला रुधिर सम्बन्ध की समीपता या प्रत्यासत्ति (Propinquity ) को तथा दूसरा पिण्ड दान को इसका आधार मानता है; अतः दोनों सम्प्रदायों के अनुसार मृत व्यक्ति के उत्तराधिकारियों की परम्परा में भी बहुत भेद है। यह स्पष्ट है कि दायभाग की व्यवस्था मिताक्षरा की अपेक्षा अधिक व्यष्टिवादी तथा स्त्रियों के प्रति उदार और आधुनिक है।

**मतभेद के कारण**—मिताक्षरा और दायभाग के उपर्युक्त मतभेदों के मूल कारण के सम्बन्ध में बहुत ऊहापोह हुआ है, किन्तु अभी तक निश्चित रूप से इसपर प्रकाश नहीं डाला जा सका। घोष का यह मत है (गौड़-हिन्दू कोड, पृ० ३७-३८ ) कि जीमूतवाहन, हिन्दू से मुसलमान बने, बंगाल के राजा जलालुद्दीन मुहम्मद शाह ( लगभग १४१४ ई० ) के दरबार में था, इस राजा ने मुसलमान होने पर भी हिन्दू पण्डितों को संरक्षण देना जारी रखा; दायभाग द्वारा संयुक्त सम्पत्ति में वैयक्तिक अधिकारों पर बल देना तथा कुछ स्त्रियों और बहिन के लड़के को उत्तराधिकारियों में सम्मिलित करना मुस्लिम प्रभाव के कारण है। घोष की इस कल्पना में जीमूतवाहन का काल १५वीं शताब्दी माना गया है। किन्तु श्री काणे ने जीमूतवाहन के दायभाग का रचना काल निर्विवाद रूप से १०९०-११३० के बीच में सिद्ध किया है (हिस्टरी ऑफ धर्मशास्त्र प्रथम खण्ड, पृ० ३२६)। यदि यह ठीक हो तो जीमूतवाहन पर मुस्लिम प्रभाव मानने का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि बंगाल में मुसलमानों का प्रवेश जीमूतवाहन के १०० वर्ष बाद हुआ। सर्वप्रथम मुहम्मद बिन बख्त्यार खिलजी ने ११९३-१२०६ के बीच में बंगाल जीता और यहां मुस्लिम सत्ता स्थापित की। अतः इससे एक शती पहले होने वाले जीमूतवाहन पर मुस्लिम

प्रभाव की कल्पना निस्सार है। दूसरा मत जस्टिस शारदा चरण मित्र (ला क्वार्टर्ली रिव्यू, भाग २१९ पृ० ३८०-९२ तथा भाग २२ पृ० ५०-६३) का है। वे दायभाग की विशिष्टता का कारण समुद्र पार के देशों के साथ बंगाल के समृद्ध समुद्री व्यापार को तथा इस प्रदेश में बौद्ध प्रभाव को समझते हैं। किन्तु मिताक्षरा की जन्मभूमि पश्चिमी भारत का भी समुद्री व्यापार कम समृद्ध नहीं था। यूनानी यात्रियों ने भड़ोंच तथा कल्याण के समृद्ध बन्दरगाहों का उल्लेख किया है। बौद्ध धर्म भी पश्चिमी भारत में बंगाल से कम नहीं फैला था। कार्ले, भाजा, नासिक की बौद्ध गुहायें इसका सुन्दर उदाहरण हैं, फिर बौद्ध धर्म में दायभाग की कोई अपनी विशिष्ट व्यवस्था नहीं थी। बर्मा आदि बौद्ध देशों ने उत्तराधिकार के नियम मनुस्मृति से ग्रहण किये।[१५] अतः यह संभव नहीं प्रतीत होता कि बौद्ध प्रभाव के कारण जीमूतवाहन की व्यवस्थायें मिताक्षरा से भिन्न हों। ये भेद शायद बंगाल तथा पश्चिमी भारत में प्रचलित विभिन्न रीति रिवाजों को शास्त्रीय दृष्टि से समर्थित करने का परिणाम हैं।

उपर्युक्त मौलिक भेदों के अतिरिक्त मिताक्षरा व दायभाग के परिवारों में संयुक्त सम्पत्ति के स्वरूप, इसका स्वत्व रखने वाले शरीकों के अधिकारों तथा संयुक्त परिवार के व्यवस्थापक या कर्त्ता के अधिकारों में अधिक अन्तर नहीं है। यहां क्रमशः इन तीनों का संक्षिप्त प्रतिपादन किया जायगा।

**संयुक्त सम्पत्ति**—संयुक्त परिवार में दो प्रकार की सम्पत्ति होती है (१) समांशी सम्पत्ति ( Coparcenary property ) (२) पृथक् सम्पत्ति। पहली सम्पत्ति में समांशी जन्म द्वारा स्वत्व पाते हैं, उनका इस पर पृथक् वैयक्तिक स्वामित्व नहीं होता, यह सम्पत्ति उनके मरने पर अति जीविता के सिद्धान्त के अनुसार अन्य शरीकों को प्राप्त होती है, इसके यथेच्छ विनियोग का उन्हें अधिकार नहीं होता। दूसरे प्रकार की सम्पत्ति में उन्हें विनियोग का अधिकार होता है। समांशी सम्पत्ति प्रधान रूप से पिता, दादा, परदादा से प्राप्त पैतृक सम्पत्ति होती है, इस पर पिता तथा पुत्रों का तुल्य अधिकार होता है[१६]। इसे मिताक्षरा ( या० २।११४) मदनरत्न आदि ने अप्रति

---

१५. **काणे—हिस्टरी आफ़ धर्मशास्त्र, खं० ३, पृ० ५५९-६०।**

१६. **याज्ञ२।१२१—भूर्या पितामहोपात्ता निबन्धो द्रव्यमेव वा। तत्र स्यात्सदृशं स्वाम्यं पितुः पुत्रस्य चैव हि॥**

बन्ध दाय का नाम दिया है[१७]। यह स्मरण रखना चाहिए कि यही सम्पत्ति समांशी समझी जाती है । यदि किसी साझीदार को चाचे, भाई, भतीजे, मामे, नाने आदि की सम्पत्ति मिलती है तो वह साझी न होकर वैयक्तिक बन जाती है । भतीजे या पिता को चाचा और पुत्र की सम्पत्ति में तब तक अधिकार नहीं, जब तक वे जीवित हैं या जब तक चाचा और पुत्र, पुत्र का लड़का और पोता विद्यमान हैं । इनकी सत्ता उनके दायाद होने में प्रतिबन्ध है; अतः यह सप्रतिबन्ध सम्पत्ति है । उस पर अन्य शरीकों का कोई अधिकार नहीं माना जाता [१८]। पैतृक सम्पत्ति की आय से कमाई सम्पत्ति भी पैतृक मानी जाती है और इस पर शरीकों का अधिकार होता है । परन्तु निम्न प्रकार की सम्पत्ति स्वार्जित कहलाती है, इस पर पाने वाले का पूरा अधिकार होता है, यह अविभाज्य होती है, इस पर अन्य शरीकों का कोई स्वत्व नहीं होता । (१) तीन पीढ़ी से दूर के सम्बन्धी से अथवा चाचे, पुत्र, मामा, नाना आदि से प्राप्त सप्रतिबन्ध सम्पत्ति (२) दान या वसीयत से प्राप्त धन । (३) पैतृक सम्पत्ति को हानि पहुंचाये बिना कमाया धन (४) विद्याधन[१९] । अगले अध्याय में इसकी विस्तृत विवेचना की जायेगी ।

**शरीक या समांशी**——तीन पीढ़ी तक संयुक्त परिवार की पतृक सम्पत्ति में

---

१७. इसे अप्रतिबन्ध कहने का यह कारण है कि पिता या दादा के होने से पुत्र या पौत्र के अंशहर होने में कोई बाधा नहीं होती; किन्तु जहां पुत्रादि के अभाव में भतीजे को चाचा की संपत्ति मिलती है या पुत्र के निस्सन्तान मरने पर उसकी सम्पत्ति पिता को प्राप्त होती है तो यह सप्रतिबन्ध कहलाती है, क्योंकि इसमें भतीजे या पिता को चाचा की और पुत्र की सम्पत्ति में तब तक अधिकर नहीं, जब तक वे जीवित हैं या जब तक चाचा और पुत्र का लड़का विद्यमान है, इनकी सत्ता उसके दायाद होने में प्रतिबन्ध है, अतः यह सप्रतिबन्ध सम्पत्ति है । मदनरत्न——यद् द्रव्यं स्वामिनस्तत्पुत्रादेरप्यभावे स्वं भवति स सप्रतिबन्धो दायः यथा पित्रादीनां पुत्रादिधनम् । यत्पुत्रयौ त्रयोः पितृपितामहधनम् जन्मनः आरभ्य स्वं भवति सोऽप्रतिबन्धो दायः । तत्र स्वामितत्पुत्रसद्भावस्याप्रतिबन्धत्वात् ।

१८. मुहम्मद हुसेन खां बनाम किश्वा इं० ला० रि० अला० ६५५; जमना प्रसाद बनाम रामप्रताप २९ अला० ६६७ (६६९ )

१९. मनु० ९।२०६, २०२; याज्ञ० २।११८-१९ तथा मिताक्षरा ।

स्वत्व रखने वाले व्यक्ति समांशी ( Coparceners ) कहलाते हैं। इनके सामान्य अधिकार ये हैं—प्रत्येक शरीक को साझी सम्पत्ति के संयुक्त उपभोग और स्वामित्व का अधिकार है। वह अपनी स्त्री तथा बच्चों के साथ एक ही घर में रहने, भोजन तथा पूजा करने का अधिकारी है। उसे संयुक्त सम्पत्ति से अपने, अपनी पत्नी तथा बच्चों के पालन पोषण का अधिकार है। पालन पोषण का अधिकार समांशिता के साथ शुरू होता है और उसकी समाप्ति के साथ उसका अन्त हो जाता है[२०]। समांशी संयुक्त परिवार की सम्पत्ति में से अपने अविभक्त भाग का अपहार बम्बई, मद्रास और बरार में ही कर सकता है[२१]; बंगाल, यू० पी०, बिहार उड़ीसा, पंजाब, में यह अधिकार केवल पिता या दादा को ही है। यह पहले बताया जा चुका है कि बंगाल में प्रत्येक शरीक का हिस्सा निश्चित है, परन्तु अन्यत्र शरीकों की संख्या बढ़ने घटने के साथ घटता बढ़ता रहा है।

**कर्त्ता**—संयुक्त परिवार का संचालक और अविभक्त सम्पत्ति का व्यवस्थापक प्रायः पिता होता है। उसके अभाव में बड़ा भाई अथवा परिवार का सब से बड़ा पुरुष यह कार्य करता है। आजकल इसे कर्त्ता कहा जाता है, किन्तु प्राचीन साहित्य में यह नाम नहीं मिलता, वहां कुटुम्बी, गृही, गृहपति, प्रभु ( कात्या० ५४३ ) आदि शब्दों का व्यवहार हुआ है। मनु० (९।१०४-१०८) गौतम (२८।१-३ ), नारद (१३।५ ) पिता की मृत्यु के बाद बड़े भाई का यह कर्त्तव्य बताते हैं कि वह छोटे भाइयों का पितृवत् पालन करे। परिवार का पोषण करने वाले कर्त्ता के अधिकार परिवार के अन्य सदस्यों के स्वत्वों की अपेक्षा अधिक होते हैं। वह न केवल संयुक्त सम्पत्ति का स्वामी होता है, किन्तु इसके प्रबन्ध सम्बन्धी सभी कार्य करता है,[२२] इस सम्पत्ति से उत्पन्न आय का अपने विवेक के अनुसार उपयोग करता है[२३]। शरीकों के प्रति अपने प्रबन्ध के लिए वह उस समय तक उत्तरदायी नहीं है[२४], जब तक

---

२०. गंगाधर बनाम राजा आफ पीठापुर ४१ म० ७७८ ( प्रि० कौ० )

२१. पाण्डु बनाम गोमा ४३ बं० ४७२

२२. बलदेव बनाम शामलाल १ अला० ७७। धर्मदास ब० अमूल्यधन ३२ कल० ११११ ( ११३१, ११३२ )

२३. दामोदरदास बनाम उत्तमराम १७ बं० २७१

२४. शुकमण ब० मनोहरी ११ कल० ६८४ ( ६९४ )

परिवार की सम्पत्ति का धोखे से गबन या दुरुपयोग नहीं करता [२५]। कानूनी आवश्यकता पड़ने पर या परिवार के लाभ के लिए वह ऋण ले सकता है और संयुक्त सम्पत्ति की गिरवी अथवा विक्रय कर सकता है [२६]। कानूनी आवश्यकता परिवार की ऐसी स्थिति है, जिसमें कानून ऋण लेना अथवा संयुक्त सम्पत्ति का अपहार करना उचित समझता है। हिन्दू परिवार में उपनयन और विवाह आदि संस्कार, श्राद्ध आदि धार्मिक कर्त्तव्य, बच्चों की शिक्षा, पैतृक ऋण की अदायगी आवश्यक कर्त्तव्य समझे जाते हैं। कानून भी इन्हें महत्त्वपूर्ण समझता है और निम्न स्थितियों में कर्त्ता द्वारा ऋण लेना कानूनी आवश्यकता समझा जाता है। (१) ऐसा सरकारी लगान या टैक्स देना, जिसकी अदायगी न होने से संयुक्त सम्पत्ति बेची जा सकती हो [२७]। (२) पारिवारिक सम्पत्ति पर अपने स्वत्व की रक्षा के लिए किया जाने वाला व्यय [२८]। (३) शरीकों की तथा उनकी पत्नियों और बच्चों की रक्षा का तथा भरण पोषण का व्यय [२९] (४) शरीकों तथा उनकी लड़कियों के विवाह का खर्चा [३०]। (५) आवश्यक धार्मिक कर्त्तव्य पूरा करने का व्यय (६) पिता के ऐसे ऋण जो अनैतिक और कानून विरुद्ध न हों [३१]।

**रिक्थहरण के सामान्य नियम**—प्राचीन धर्मसूत्रों में रिक्थहरंण ( Inheritance ) के बहुत कम नियम पाये जाते हैं। संभवतः इसका कारण यह है कि उस समय संयुक्त परिवार की पद्धति अधिक प्रचलित होने से पृथक् सम्पत्ति बहुत कम होती थी, अतः इसके लिए अधिक व्यवस्थाओं की आवश्यकता नहीं थी। सम्पत्ति पर स्वभावतः पहला अधिकार पुत्र का था। अनपत्य दशा में मृत व्यक्ति का धन किसे प्राप्त हो, इस विषय में गौतम (२८।२१) आपस्तम्ब (२।६।१४।२-५) बौधायन (१।५।१-१३) वसिष्ठ (१७।८१-८४) क्रम से

---

२५. परमेश्वर ब० गोविन्द ४३ कल० ४९९

२६. द्वारकानाथ ब० बंगशी ९ कल० वी० नो० ८७९

२७. हनुमान प्रशाद ब० मुसम्मात बबुई ६ म्यू० इं० ए० ३९३ (४२१)

२८. गरीबुल्ला ब० खलकसिंह २५ अला० ४०७ (४१५) प्रि० कौ०।

२९. मिल्लर ब० रंगनाथ १२ कल० ३८९

३०. गणपत ब० तुलसीराम १३ बं० ला० रि० ८६०, भागीरथी ब० जोखूराम, ३२ अला० ५७५

३१. आशुतोष बनाम चिदम्, ३४ कल० वी० नो० १५३ (१९३०)

सपिण्ड, गुरु, शिष्य राजा को यह सम्पत्ति मिलने की व्यवस्था करते हैं। आगे यह बताया जायगा कि सपिण्ड शब्द की व्याख्या के सम्बन्ध में टीकाकारों में मौलिक मतभेद है। प्राचीन धर्मसूत्र इसके स्वरूप का स्पष्ट प्रतिपादन नहीं करते हैं; **वे रिक्थहरण को सगोत्रों तक ही मर्यादित रखते हैं,** एक मूल पुरुष से प्रादुर्भूत सभी वंशजों का एक ही गोत्र समझा जाता था, सम्भवतः उस समय सम्पत्ति के सभी उत्तराधिकारी सगोत्र (Agnate) ही होते थे, गौतम ने इनके अभाव में उस गोत्र के ऋषि को सम्पत्ति देने का विधान किया है।

मनु ने सर्वप्रथम अनपत्य व्यक्तियों के दायादों का कुछ विस्तार व स्पष्टता से प्रतिपादन किया है। ये इस प्रकार हैं—(१) पुत्री, (२) दौहित्र, (३) पिता, (४) भाई, (५) माता, (६) दादी, (७) अन्य सपिण्ड (तीन पीढ़ी तक के गोत्रज) (८) सकुल्य (तीन पीढी से ऊपर के गोत्रज), (९) गुरु, शिष्य, (१०) ब्राह्मण और (११) राजा (९।१८७, १३०, १३६, १८५, २१७, १८८-८९)। मनु इन दायादों में पत्नी का कोई उल्लेख नहीं करता। याज्ञ० ने इसका सर्व प्रथम उल्लेख करते हुए अपनी जो व्यवस्था की, वह आज तक हिन्दू समाज के अधिकांश भाग में उत्तराधिकार क्रम का मूलाधार बनी हुई है। 'स्वर्ग गये हुए (मृत) तथा अपुत्र पुरुष की सम्पत्ति पर निम्न क्रम से पहले पहले का अभाव होने पर अगले अगले का अधिकार होता है—(१) पत्नी, (२) कन्यायें, (३) दौहित्र, (४) माता, (५) पिता, (६) भाई, (७) भाइयों के लड़के, (८) गोत्रज (Agnates) (९) बन्धु, (Cognates) (१०) शिष्य (११) और सहपाठी[३२]। याज्ञवल्क्य की इस व्यवस्था में बन्धुओं का पहली बार स्पष्ट उल्लेख हुआ है। मिताक्षरा के अनुसार बहिन, बुआ, मौसी आदि के लड़के बन्धु ( Cognate ) हैं; ये स्त्रीपरम्परा द्वारा

---

३२. याज्ञ० १।१३५-३६; पत्नी दुहितरश्चैव पितरौ भ्रातरस्तथा। तत्सुता गोत्रजा बन्धुशिष्यसब्रह्मचारिणः ॥ एषामभावे पूर्वस्य धनभागुत्तरोत्तरः। स्वर्यातस्य ह्यपुत्रस्य सर्ववर्णेष्वयं विधिः ॥ यहां अनपत्य का अर्थ केवल पुत्र का ही नहीं, किन्तु पौत्र पर्यन्त सन्तान का अभाव समझना चाहिये। मि० वि० चि०, पृ० १५१ अनपत्यस्य पुत्रपौत्रप्रपौत्रहीनस्य पुत्रः पौत्रः प्रपौत्रो वा इत्यादिना अमीषां पाठक्रमेणैव स्वधाधिकारे सिद्धे तत्समानशीलस्य रिक्थग्रहणस्यापि तथैवाधिकारसिद्धेः।

संबद्ध व्यक्ति हैं, विवाह के बाद दूसरे कुल में जाने पर पत्नी द्वारा पति का गोत्र ग्रहण करने से भांजे का तथा फुफेरे, ममेरे भाइयों का गोत्र भिन्न हो जाता है दूसरे कुल तथा गोत्र का होने के कारण प्रारम्भिक धर्मशास्त्रकारों ने बन्धुओं का दायादों में उल्लेख नहीं किया था; किन्तु निकट सम्बन्धी होने के कारण इनका महत्त्व शनैः शनैः स्वीकार किया जाने लगा। याज्ञवल्क्य तथा मिताक्षरा ने बन्धुओं ( Cognate ) को गोत्रजों ( Agnates ) अर्थात् अपने कुल की छः पीढी ऊपर के पूर्वजों तथा छः पीढी नीचे के वंशजों के बाद ही स्थान दिया; किन्तु आगे चलकर यह बताया जायगा कि दायभाग ने सपिण्ड शब्द की नई व्याख्या कर बन्धुओं को दायादों में बहुत ऊँचा स्थान दिया। यह दाय भाग और मिताक्षरा का एक प्रधान अन्तर है।

याज्ञवल्क्य के बाद उल्लेखनीय स्मृतिकार नारद, बृहस्पति, कात्यायन और देवल हैं। नारद की विशेषता यह है कि वह लड़के के अभाव में लड़की के अधिकार का बलपूर्वक समर्थन करता है; क्योंकि 'पुत्र और पुत्री दोनों पिता की सन्तान बढ़ाने वाले होते हैं[३३]'। परन्तु याज्ञवल्क्य द्वारा समर्थित पत्नी के अधिकार के सम्बन्ध में वह मौन है। उसके अनुसार अपुत्र व्यक्ति के दायादों का यह क्रम है—पुत्री, सकुल्य, बान्धव, सजाति और राजा (१४।४८, ४९ )।

बृहस्पति ने पत्नी के अधिकार का प्रबल समर्थन करते हुए[३४] याज्ञवल्क्य की भांति उसे दायादों में प्रथम स्थान दिया। उसकी तथा कात्यायन की जबर्दस्त वकालत के कारण ही मध्ययुग तथा आधुनिक काल में विधवाओं को पति की सम्पत्ति में अधिकार मिला है। नारद की भांति बृहस्पति भी कन्या के अधिकार का प्रबल पक्षपाती है[३५]। उसके अनुसार दायादक्रम निम्न है—पत्नी, पुत्री, दौहित्र, पिता, माता भाई, भतीजा, ज्ञाति ( सपिण्ड ), सकुल्य ( समानोदक), बान्धव, शिष्य और आचार्य ( दा० १८२ )।

**मिताक्षरा का दायादक्रम**—टीकाकारों ने प्रधान रूप से याज्ञवल्क्य स्मृति

---

३३. ना० सं० १४।१७—**पुत्राभावे तु दुहिता तुल्यसन्तानदर्शनात्। पुत्रश्च दुहिता चोभौ पितुः सन्तानकारकौ ॥**

३४. दा० १४९ में उ० **यस्य नोपरता भार्या देहार्धं तस्य जीवति। जीवत्यर्धशरीरेऽर्थं कथमन्यः समाप्नुयात् ॥**

३५. मिता० १।१३५ में उद्धृत—**अंगादंगात्संभवति पुत्रवद्दुहिता नृणाम्। तस्मात् पितृधनं त्वन्यः कथं गृह्णीत मानवः ॥**

के ऊपर उद्धृत श्लोकों को आधार मानकर दायादों का क्रम निश्चित किया। इनमें मिताक्षरा और दायभाग के दो सम्प्रदाय उल्लेखनीय हैं। मिताक्षरा के अनुसार विभक्त सम्पत्ति वाले मृत व्यक्ति के दायादों का क्रम निम्न है—(१) पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र (२) विधवा (३) कन्या (४) दोहता (५) माता (६) पिता (७) भाई (८) भतीजा (९) भतीजे का लड़का—यहां तक दायादों का क्रम निश्चित होने से यह बद्धक्रम ( Compact series ) कहलाता है। इनके अभाव में निम्न उत्तराधिकारी होते हैं—(१०) गोत्रज सपिण्ड (११) समानोदक (१२) बन्धु (१३) शिष्य (१४) सहपाठी (१५) राजा।

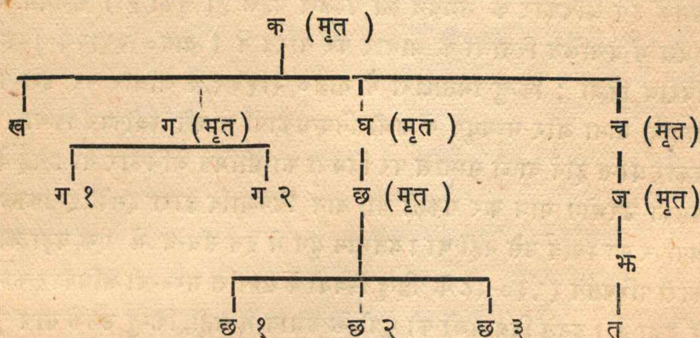
**दायभाग का क्रम**—यह अनेक अंशों में मिताक्षरा के क्रम से मिलता है। किन्तु बद्धक्रम दायादों में निम्न अन्तर हैं—(१) पिता का अधिकार माता से पहले माना जाता है, (२) विवाहित कन्याओं में पुत्रवती अथवा जिसके पुत्र होने की सम्भावना हो, उसे तरजीह दी जाती है। (३) उत्तराधिकारिणी बनने के लिए कन्या का रिक्थहरण के समय साध्वी होना आवश्यक है। बद्ध-क्रम के सम्बन्धियों के बाद पूर्व के अभाव में निम्न क्रम से उत्तराधिकारी, होते हैं—(१) सपिण्ड (२) सकुल्य (३) समानोदक (४) सपिण्डों से भिन्न बन्धु (५) गुरु (६) शिष्य (७) सहपाठी (८) राजा।

उपर्युक्त दायादों में से पुत्र, विधवा, कन्या, पिता आदि के अधि-कारों की अगले अध्यायों में विस्तार से विवेचना की गई है, अतः यहां मिता-क्षरा परिवार के दायाद क्रम से इनके सम्बन्ध में कुछ मुख्य बातों का ही उल्लेख करते हुए अन्य दायादों पर संक्षिप्त प्रकाश डाला जायगा; वर्तमान काल में अदालतों, कानूनों तथा हिन्दू कोड आदि प्रस्तावित विधानों से इनमें जो अन्तर पड़ रहा है, उसे स्पष्ट किया जायगा।

## *मिताक्षरा परिवार के दायाद*

(१) **पुत्र**—पिता की सम्पत्ति पर सबसे पहले पुत्र का अधिकार समझा जाना सर्वथा स्वाभाविक है। यदि कई पुत्र हों तो उन्हें तुल्य अंश प्राप्त होते हैं और बंटवारा मुण्डशः ( Per capita ) होता है। धर्म-शास्त्रों के अनुसार पुत्र शब्द से तीसरी पीढ़ी अर्थात् परपोते तक की सन्तान समझी जाती है; क्योंकि पिण्ड दान तीन पीढी तक के पूर्वजों को किया जाता है। अतः सम्पत्ति के बंटवारे के समय, पैतृक द्रव्य को न केवल उसके जीवित पुत्र प्राप्त करते हैं; अपितु यदि पुत्रों में से कोई मर चुका हो तो उसके पुत्र अथवा उसके भी गुजर जाने पर, उसके पुत्र अर्थात् मृत व्यक्ति के प्रपौत्र को भी

सम्पत्ति का अंश मिलता है। मृत व्यक्ति का अधिकार उसके पुत्र को प्राप्त होता है, बंटवारे के समय पिता के न होने पर भी वह उसका प्रतिनिधित्व करता है। किन्तु यह हिस्सा उसे उतना ही मिलेगा जितना उसके पिता को जीवित रहते हुए मिलता, यह निम्न तालिका से स्पष्ट हो जायगा। क इस संयुक्त परिवार का मुखिया है, इसके चार बेटे ख, ग, घ, च हैं। जब क मरता है, तो अपने पीछे एक लड़का ख, अपने दूसरे मृत पुत्र ग के दो पोते ग १, ग २, अपने तीसरे मृत पुत्र घ के तीन परपोते छ१, छ २, छ ३, तथा च का एक परपोता त छोड़ता है। निम्न तालिका से यह स्थिति स्पष्ट है—




क की सम्पत्ति पर चौथी पीढ़ी का होने से त का कोई अधिकार नहीं है। अतः यह सम्पत्ति शेष उत्तराधिकारियों में बांटी जायेगी। इनकी संख्या छः (एक पुत्र, दो पोते, तीन परपोते) हैं। पर यह छः अंशों में न विभक्त होकर, तीन हिस्सों में बंटेगी, क्योंकि पोते तथा परपोते अपने पिता और दादा के प्रतिनिधि होने तथा उनके न रहने के कारण सम्पत्ति ले रहे हैं। वे पैतृक सम्पत्ति का उतना अंश ले सकेंगे, जितना उनके पिता और दादा को मिलता, अतः सम्पत्ति के तीन भाग करके एक हिस्सा ख को, दूसरा हिस्सा ग के दो पोतों तथा तीसरा घ के तीन परपोतों को मिलेगा। इस प्रकार पिता के आधार पर किया जाने वाला यह बंटवारा पितृतो विभाग (Per stirpes) कहलाता है। कौटिल्य (३।५) तथा याज्ञवल्क्यादि शास्त्रकारों[३६] ने इसका

---

३६. अर्थशास्त्र ३।५—अपितृका बहवोऽपि च भ्रातरो भ्रातृपुत्राश्च पितुरेकमंशं हरेयुः सोदर्याणामनेकपितृकाणां पितृतो दायविभागः। याज्ञ० २।१२०-अनेकपितृकाणां तु पितृतो भागकल्पना।

विधान किया है और वर्तमान न्यायालयों ने इसे सामान्य रूप से स्वीकार किया है[३७]।

**विधवा**—विधवा को पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र के अभाव में पति की सम्पत्ति में स्वत्व बड़े संघर्ष के बाद मिला है। आपस्तम्ब और बौधायन ने इसे दायादों में नहीं गिना, मनु ने अपुत्र व्यक्ति की सम्पत्ति पर पिता (९।१८५) तथा माता (९। २१७) का अधिकार बता कर पत्नी की उपेक्षा की है। गौतम ने उसे दायादों में बहुत पीछे स्थान दिया, याज्ञ० तथा विष्णु संभवतः पहले स्मृतिकार थे, जिन्होंने उसे अपुत्र पुरुष का सर्वप्रथम रिक्थहर बताया, बृहस्पति तथा कात्यायन द्वारा उसके इस अधिकार के समर्थन का उल्लेख पहले हो चुका है। संभवतः अपने प्रदेश में प्रचलित रिवाजों के आधार पर नारद ने ( दाय० २५।२६ ) इसका विरोध किया ; किन्तु मिताक्षरा ने याज्ञ० २।१३५ के आधार पर इसे पहला दायाद माना और मध्ययुग में सभी निबन्धकारों ने इसे स्वीकार किया। इस प्रकार प्राप्त होने वाली सम्पत्ति पर विधवा को सीमित अधिकार था। वह केवल उसका उपभोग मात्र कर सकती थी, दान विक्रयादि द्वारा इसके इन्तकाल या अपहार का स्वत्व उसे नहीं था। वर्तमान युग में इस संबन्ध में एक बड़ा क्रान्तिकारी परिवर्तन १९३७-३८ के 'हिन्दू स्त्रियों के सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार कानूनों' से हुआ है। इनसे विधवाओं को पुत्रों के अभाव में नहीं, किन्तु उनके साथ पृथक् सम्पत्ति का अंशहर बना दिया गया है। एक अन्य महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हिन्दू कोड में प्रस्तावित किया गया था कि विधवा के सीमित अधिकार को पूर्ण बना दिया जाय, यह अभी तक कानून का रूप धारण नहीं कर सका।

**कन्या**—विधवा के अभाव में कन्या उत्तराधिकारिणी होती है, संभवतः चौथी श० ई० पू० में कौटिल्य ने सर्व प्रथम इसे स्पष्ट रूप से दायाद माना था (३।५); क्योंकि गौतम बौधायन तथा वसिष्ठ के धर्मसूत्रों में इसका दायादों में उल्लेख नहीं है। मनु (९।१३०) की पुत्र और दुहिता के अधिकारों को तुल्य बनाने वाली व्यवस्था संभवतः पुत्र बनाई हुई कन्या के लिए है, इस प्रथा के अप्रचलित होने पर, विधवा के बाद यही अधिकारिणी समझी जाने लगी। याज्ञ०, विष्णु, नारद, बृहस्पति ने कन्या के अधिकार का समर्थन किया। विश्वरूप (या० २।१३५ में उद्धृत ) धारेश्वर, देवस्वामी देवरात आदि टीकाकार

---

**३७. प्राण जीवन दास ब० इच्छाराम ३९ बं०, ७३४; अपवाद के लिए दे० मंजनाथ ब० नारायण ५ म० ३६२, नारायण ब शंकर ५३ म० १।**

(स्मृच २।२९५) याज्ञ० द्वारा कन्या को दिये गये अधिकार को पुत्रिका तक ही सीमित करना चाहते थे, किन्तु मिताक्षरा ने इस का खण्डन करते हुए कन्यामात्र को उत्तराधिकारिणी स्वीकार किया। कन्याओं में दाय ग्रहण के लिये तारतम्य का विचार सर्वप्रथम कात्यायन ( मिता० २।१३५)ने शुरू करते हुए अविवाहित कन्या को तरजीह दी। विज्ञानेश्वर ने विवाहित कन्याओं में भी गौतम के एक वचन के आधार पर निर्धन (अप्रतिष्ठित) को धनी (प्रतिष्ठित) से पहले स्थान दिया। बंगाल में दायभाग के अनुसार पिण्डदान द्वारा पितरों को लाभ पहुँचाना ही उत्तराधिकार की प्रधान कसौटी है, अतः विवाहित कन्याओं में पुत्र वाली या संभावित पुत्रा को वन्ध्या, विधवा या लड़कियां पैदा करने वाली कन्या की अपेक्षा तरजीह दी जाती है[३८]। बम्बई के अतिरिक्त शेष भारत में कन्याओं का अधिकार सीमित है, किन्तु बम्बई में कन्याओं को पिता की सम्पत्ति में पूर्ण स्वत्व प्राप्त होता है[३९]।

**दौहित्र**--कन्याओं के अभाव में दोहता ( लड़की का लड़का) उत्तराधिकारी होता है। यद्यपि यह भांजे आदि के समान भिन्न कुल (गोत्र) का होता है, किन्तु प्राचीन काल से पुत्र के अभाव में पितरों का पिण्डदाता होने से इसे पर्याप्त महत्त्व तथा दायादों में बहुत ऊँची स्थिति मिली है। गौतम, वसिष्ठ, आपस्तम्ब ने दायादों में इसका उल्लेख नहीं किया, याज्ञवल्क्य और विष्णु इस सम्बन्ध में मौन हैं। किन्तु मनु ने ९।१३१-३२ तथा ९।१३६ में दौहित्र द्वारा अपुत्र पिता को पिण्ड देने तथा सम्पत्ति ग्रहण करने का उल्लेख किया। मेधातिथि और कुल्लूक प्रकरण देखते हुए यहां दौहित्र का अर्थ सामान्य दोहता नहीं करते; किन्तु पुत्र बनायी लड़की ( पुत्रिका) का लड़का समझते हैं। संभवतः इसके अधिकार का स्पष्ट रूप से प्रतिपादन करने वाला पहला शास्त्रकार बृहस्पति है। उसके मत में जैसे कन्या पितृपक्ष के बन्धुओं के होते हुए भी दायाद

---

३८. दा० ११।२।१-३ दुहितुरधिकारे संतानदर्शनं हेतुतया निगदितं सन्तानश्च पिण्डदोऽभिमतः, अपिण्डदस्यानुपकारकत्वेन अन्यसन्तानादसन्तानाच्चाविशेषात् दौहित्रश्च तत्पिण्डदाता--अतः पुत्रवती संभावितपुत्रा चाधिकारिणी वन्ध्यात्वविधवात्वदुहितृप्रसूतत्वादिना विपर्यस्तपुत्रा पुनरनधिकारिण्येवेति दीक्षितमतमादरणीयम्।

३९. बिठप्पा ब० सावित्री ३४ बं० ५१०, भागीरथी बम्बई ब० कहनुजीराव ११ बं० २८५ ( फु० बै० )

होती है, वैसे ही उसका लड़का भी अपनी माता व नाना की सम्पत्ति का स्वामी होता है[४०]।

याज्ञवल्क्य द्वारा स्पष्ट उल्लेख न होने पर भी विज्ञानेश्वर ने 'दुहितरश्च' (या० २।१३५) के 'च' शब्द से दौहित्र के अधिकार की पुष्टि की है। दोहता अपने नाना की जायदाद पर पूरा अधिकार पाता है, अर्थात् वह जायदाद दोहते के मरने पर उसके वारिसों को मिलती है, नाना के वारिसों को नहीं। दोहतों में सम्पत्ति का विभाग मुण्डशः (Per capita) होता है; पितृतः (Per stirpes) नहीं। उदाहरणार्थ—अ की दो लड़कियां क ख हैं, क के दो तथा ख के तीन लड़के हैं। यहां यह सम्पत्ति दोहतों में पितृतः तो दो हिस्सों में बंटनी चाहिए, परन्तु मुण्डशः यह पांच हिस्सों में विभक्त की जाती है। दोहते के साथ मृत व्यक्ति के निचली तीन पीढ़ियों के वंशज दायाद समाप्त हो जाते हैं।

पितरौ—दोहते के अभाव में माता पिता उत्तराधिकारी होते हैं। इनमें से कौन पहले हो, इसकी प्राचीन स्मृतिकारों ने स्पष्ट व्यवस्था नहीं की। मनु ९।२१७ में माता को तथा ९।१८५ में पिता को अपुत्र व्यक्ति की सम्पत्ति का अधिकारी बताता है; किन्तु वह इन के पौर्वापर्य के सम्बन्ध में मौन है। कात्यायन (मिता० २।१३५) पिता को तथा बृहस्पति (अपरार्क०, पृ० ७४४) माता को पहला स्थान देता है[४१]। मिताक्षरा प्रधान रूप से व्याकरण और प्रत्यासत्ति के दो हेतुओं से, माता का स्थान पिता से पहले मानता है। व्याकरण के अनुसार पितरौ शब्द एकशेष द्वन्द्व समास है और इसका विग्रह है— माता च पिता च पितरौ; इसमें माता का उल्लेख पहले है। दूसरा कारण प्रत्यासत्ति है। एक पति की अनेक स्त्रियां हो सकती हैं, इनसे उत्पन्न पुत्रों का वह सामान्य पिता होता; किन्तु माता पुत्रों के लिए इस प्रकार साधारण नहीं हो सकती, उसका पुत्र से पिता की अपेक्षा घनिष्ठ सम्बन्ध होगा (मि० स्मृच० २।२९७)। मदन पारिजात, विवाद चिन्तामणि, व्यवहार प्रकाश (पृ० २२५) माता को पहले मानते हैं, किन्तु व्यवहार मयूख (पृ० २४२-५४) और

---

४०. दा० पृ० १८० पर उद्धृत—यथा पितृधने स्वाम्यं तस्या सत्स्वपि बन्धुषु। तथैव तत्सुतोऽपीष्टे मातृमातामहे धने॥

४१. श्रीकर ने उक्त दोनों मतों का समाहार करते हुए माता पिता दोनों को एक साथ उत्तराधिकारी माना है, दे० स्मृच० २।२९७।

दायभाग इस पक्ष को स्वीकार नहीं करते, कात्यायन के आधार पर वे पिता को पहला स्थान देते हैं। अतः बंगाल में तथा मयूख द्वारा शासित प्रदेश गुजरात, बम्बई द्वीप तथा उत्तरी कोंकण में पिता का अधिकार पहले समझा जाता है, उसके अभाव में माता दायाद होती है। शेष भारत में माता का स्थान पहले माना जाता है। उसका साम्पत्तिक स्वत्व भी अन्य स्त्रियों की भांति सीमित होता है।

**भाई**—माता पिता के अभाव में भाई दायाद समझे जाते हैं। मध्यस्थ या प्रधान पुरुष (Propositus अर्थात् जिस से दायादों की गणना की जाती है) से भाई पिता की अपेक्षा अधिक निकट है, क्योंकि उसने अपने भाई के साथ पिता के शरीर के अंशों के अतिरिक्त, माता के अंश भी पाये हैं, ये पिता में नहीं हैं, अतः प्रत्यासत्ति (Propinquity) के आधार पर भाई का स्थान पिता से पहले होना चाहिये। शंख लिखित, पैठिनसि तथा देवल (गौध सू० की २८।२५ की टीका पर हरदत्त द्वारा उद्धृत) ने यही क्रम स्वीकार किया है, पहले संभवतः यही परिपाटी रही होगी। किन्तु याज्ञ० ने २।१३५ में भाई का का माता पिता के बाद उल्लेख किया है। विज्ञानेश्वर संभवतः माता के शरीर से आनेवाले अंशों को अधिक महत्त्व नहीं देता, यह उसके आगे बताये जाने वाले सौतेले भाई को भतीजे पर तरजीह देने के कारण से स्पष्ट है, अतः मिताक्षरा में भाई को मातापिता के बाद स्थान दिया गया और उस समय से यह व्यवस्था हिन्दू परिवार में सर्वमान्य है।

मिताक्षरा तथा दायभाग दोनों ने भाइयों में सौतेले या भिन्नोदर (भिन्न माताओं वाले भाई) का अधिकार सोदर (सगे भाई) के बाद माना है। इस भेद का कारण स्पष्ट है। विज्ञानेश्वर के मतानुसार सोदर भाई में माता पिता दोनों के शरीर का अंश आता है और अन्योदर में केवल पिता का। अतः रक्त संबन्ध की दृष्टि से अधिक निकट (प्रत्यासन्न) होने से सोदर पहले अधिकार रखता है[४२]। दायभाग के अनुसार भी उसी का हक पहले है; क्योंकि वह मृत व्यक्ति के पितृपक्ष के तीन पूर्वजों तथा मातृपक्ष के तीन पूर्वजों को, कुल मिलाकर छः पिण्ड देगा; जब कि अन्योदर मृत व्यक्ति के पितृपक्ष के तीन पूर्वजों को केवल तीन पिण्ड देगा[४३]।

४२. याज्ञ० २।१३५-३६, पर मिता० भ्रातृष्वपि सोदराः प्रथमं गृह्णीयुः, भिन्नोदराणां भ्रात्रा विप्रकर्षात्।

४३. दा० ११।५।१२ सापत्नस्य च सोदरान्मृतदेयषाट्-पौरुषिक-पिण्डदातुर्मृतभोग्यमात्रपित्रादिपिण्डत्रयदातृतया जघन्यत्वात्।

किन्तु नीलकण्ठ इससे सहमत नहीं, वह भाई (भ्रातरः) शब्द से केवल सोदर भाई ही समझता है। अतः वह मिताक्षरा के सोदर के बाद अन्योदर के क्रम को न स्वीकार कर निम्न क्रम रखता है--सोदर भाई, सोदर भाइयों के लड़के, दादी, बहिन, एक ही साथ दादा तथा अन्योदर भाई और फिर इकट्ठे ही परदादा, चाचा तथा अन्योदर्य का लड़का। इस प्रकार तीन पीढ़ियों का संयुक्त रूप से रिक्थहरण मयूख की विशेषता है, इसे बम्बई हाइकोर्ट ने सर्वथा अमान्य ठहराया है, अतः इसकी व्यावहारिक उपयोगिता कुछ भी नहीं है[४४]। भाइयों के अभाव में उनके पुत्र (भतीजे) तथा इनके अभाव में भतीजे के लड़के उत्तराधिकारी होते हैं[४५]। इन तक बद्ध क्रम या निश्चित व्यवस्था समझी जाती है (मिता० २।१३५)।

**गोत्रज**--बद्धक्रम की समाप्ति के बाद गोत्रज दायाद होते हैं। गोत्र में उत्पन्न होने वाले पिता, भाई आदि सभी गोत्रज होते हैं, किन्तु इनका निर्देश पहले हो चुका है। अतः इनके अतिरिक्त अन्य सम्बन्धी निम्न क्रम से दायाद बनते हैं[४६]--(१२) दादी (१३) दादा। व्यवहार मयूख ने इन दोनों के बीच में बहिन का स्थान माना है। बम्बई के अतिरिक्त अन्य कहीं भी बहिन की दायादों में गणना नहीं है। मद्रास में उसे बहुत दूर के बन्धुओं (Cognates) में गिना जाता था। १९२९ के हिन्दू उत्तराधिकार कानून द्वारा काफी नजदीकी रिश्तेदार होने के कारण भिन्नगोत्र (Cognate) होने पर भी ऊपर नीचे की छठी पीढी तक के सब गोत्रजों की समाप्ति के बाद दायाद बनने वाले कुछ सम्बन्धियों को दादा के बाद निम्न क्रम से रिक्थहर माना है--(१४) लड़के की लड़की (१५) लड़की की लड़की (१६) बहिन (१७) भांजा। इनमें पहले दो तो स्त्री होने के कारण तथा शास्त्रों में निर्दिष्ट न होने के से, पंजाब तथा इलाहाबाद के न्यायालयों द्वारा दायाद नहीं माने जाते थे। बहिन को केवल बम्बई में ही अधिकार प्राप्त था; और भांजे को बंगाल में। कानून द्वारा इन

---

४४. सखाराम ब० सीताबाई ३ बं० ३५३

४५. बुधसिंह बनाम ललतू सिंह ४५३. ए०।

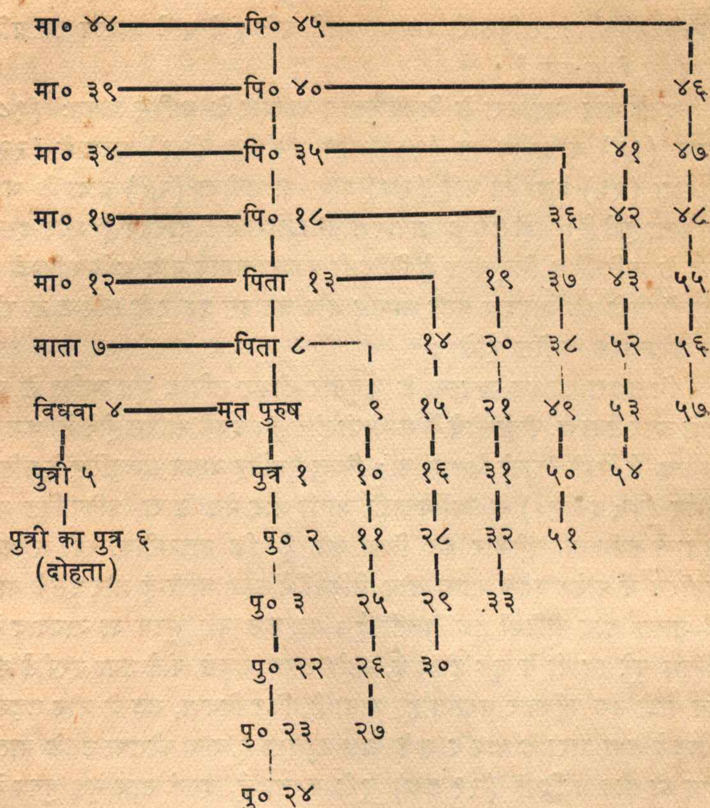
४६. मिता० २।१३५ भ्रातृपुत्राणामप्यभावे गोत्रजा धनभाजः। गोत्रजाः पितामही सपिण्डाः समानोदकाश्च। तत्र पितामही प्रथमं धनभाक्। पितामह्याश्चाभावे समानगोत्रजाः सपिण्डाः। पितामहादयो धनभाजः इत्येवमासप्तमात्समानगोत्राणां सपिण्डानां धनग्रहणं वेदितव्यम्।

सम्बन्धियों को उत्तराधिकारी बनाकर इनके प्रति होने वाले अन्याय का प्रतिशोध कर दिया गया है।

इनके बाद मिताक्षरा के नियमानुसार जायदाद के वारिस क्रमशः (१८) चाचा (१९) चाचा का पुत्र (२०) चाचा का पोता (२१) परदादी (२२) परदादा (२३) दादा का भाई (२४) दादा का भतीजा (२५) दादा के भाई का पोता होते हैं। यहां तक के दायाद तो मिताक्षरा ने गिना दिये हैं और इसके बाद के वारिसों के लिए कहा है कि इसी प्रकार समान गोत्र वाले सपिण्डों में सातवीं पीढ़ी तक जायदाद चली जायगी और जब इस प्रकार के सपिण्ड न रहें, तो समानोदक वारिस होंगे ।

मिताक्षरा की इस व्यवस्था के अनुसार गोत्रज सपिण्ड मृत व्यक्ति से छः पीढ़ी ऊपर तथा छः पीढ़ी नीचे के सम्बन्धी होते हैं। इनके वारिस होने के क्रम के सम्बन्ध में पहले काफी विवाद था; किन्तु बुधसिंह बनाम ललतूसिंह के प्रसिद्ध निर्णय (४५ इं० ए०) से सर्वाधिकारी, जाली और मेन द्वारा प्रतिपादित यह सिद्धान्त सर्वमान्य स्वीकार कर लिया गया है कि उत्तराधिकारियों के क्रम निर्धारण में प्रत्येक पृथक् शाखा तीन पीढ़ियों में ठहर जाती है और इसके बाद नई शाखा तीन पीढियों तक चलती है। यह क्रम मृत पुरुष या जायदाद के अन्तिम पूरे स्वामी से शुरू होता है, पहले उसके लड़के, पोते तथा परपोते की तीन पीढी तक पहुँचकर समाप्त हो जाता है, फिर विधवा, लड़की और लड़की के लड़के तथा दादी के बाद दादा के पास पहुँचता है, दादा की तथा उसके माता पिता की तीन पीढियां (२१ तक) पूरी करता है, इसके साथ मृत पुरुष के ऊपर की तीन पीढियां समाप्त हो जाती हैं। इसके बाद नीचे की ओर मृत पुरुष की पहली तथा अन्य तीन उपरली शाखाओं की चौथी, पांचवीं; छठी पीढ़ी तक २२ से ३३ तक दायादों का क्रम चलेगा, इन के समाप्त होने पर पुनः पहले ऊपर की ओर चौथी से छठी पीढ़ी के परपोते तक के वंशज (४९-५७) दायाद होंगे । इस प्रकार मिताक्षरा के अनुसार कुल सत्तावन गोत्रज सपिण्ड दायाद होते हैं ।

इनका क्रम निम्न तालिका से स्पष्ट है । इसमें मृत पुरुष को मध्यस्थ (Propositus) मान कर उस से दायादों की गणना की गयी है, प्रत्येक दायाद की क्रमसंख्या उसके साथ दी गयी है। पु०, पि०, मा० क्रमशः पुत्र, पिता, माता के संकेत हैं। इन गोत्रज सपिण्डों में मृत पुरुष के ऊपर और नीचे की छः पीढ़ियां आ जाती हैं।




१९२९ के हिन्दू उत्तराधिकार कानून द्वारा दादा (सं० १३) के बाद मिताक्षरा परिवार में ये चार दायाद इस क्रम से बढ़ाये गये हैं—लड़के की लड़की (पोती), लड़की की लड़की ( दोहती), बहिन, बहिन का लड़का (भांजा )।

**समानोदक**—गोत्रज सपिण्डों के अभाव में समानोदक दायाद होते हैं[४७]। ये सातवीं से १४वीं पीढ़ी तक के संबन्धी होते हैं। इनकी कुल संख्या निम्न प्रकार से १४७ होती है—(१) मृत पुरुष की सातवीं से १४वीं पीढ़ी तक के सात वंशज (२) मृत पुरुष की ७वीं से १४वीं पीढी तक के सात पूर्वज (३)

---

४७. याज्ञ० २।१३५-३६ पर मिता० तेषामभावे समानोदकानां धन संबन्धस्ते च सपिण्डानामुपरि सप्त वेदितव्याः ।

मृत पुरुष की छः पीढ़ी तक की चचेरे भाइयों की शाखाओं (Collateral lines) में ७ वीं से १४ वीं पीढ़ी तक के वंशज जो कुल मिला कर ४२ होते हैं। (४) सातवीं से १४ वीं पीढ़ी तक के पूर्वजों की ७ शाखाओं (Collateral-lines) में प्रत्येक के १३ वंशज। इनमें पौर्वापर्य का निर्णय प्रत्यासत्ति के आधार पर करते हुए निकटवर्त्ती शाखा को दूरवर्त्ती शाखा पर और एक ही शाखा में समीपस्थ को दूरवर्त्ती सम्बन्धी पर तर्जीह दी जाती है। समानोदकों तक सभी सम्बन्धी एक ही गोत्रोत्पन्न (Agnates) होते हैं। अपने गोत्र वालों को पहले स्थान देना सर्वथा स्वाभाविक है। गौतम आदि प्राचीन सूत्रकारों ने भिन्न गोत्र वालों को सम्पत्ति में अधिकारी नहीं माना था; याज्ञवल्क्य ने सर्व प्रथम समानोदकों के अभाव में इन्हें बन्धु के रूप में दायाद माना।

बन्धु—(Cognates) बन्धु का धात्वर्थ है-प्रेम सम्बन्ध से बंधा हुआ; किन्तु मिताक्षरा के अनुसार इसका पारिभाषिक अर्थ है—भिन्नगोत्र सपिण्ड जैसे मामा, मौसी या बुआ के लड़के। ये सब एक या अधिक स्त्रियों द्वारा संबद्ध होते हैं। उदाहरणार्थ मामा माता का भाई होने से बन्धु होता है, यह दूसरे अर्थात् नाना के कुल का होने से भिन्नगोत्र है; किन्तु इसके साथ ही सपिण्ड अर्थात् समान देह के अंश रखने वाला है, क्योंकि माता अपने भाई के साथ नाना नानी के शरीर के अंशों को ग्रहण करती है और अपने पुत्र को वे अंश प्रदान करती है। पुत्र के शरीर में माता द्वारा प्राप्त नाना के शरीर के अंश हैं; ये नाना के बेटे में भी हैं, अतः समान अंश होने से भिन्नगोत्र होने पर भी मामा भांजा सपिण्ड होते हैं। गोत्रज सपिण्ड सात पीढ़ी तक माने जाते हैं किन्तु भिन्नगोत्रजों की सपिण्डता ५वीं पीढ़ी के बाद समाप्त हो जाती है[४८]।

मिताक्षरा में एक प्राचीन वचन के आधार पर निम्न तीन प्रकार के बन्धु गिनाये गये हैं—

| आत्मबन्धु | पितृबन्धु | मातृबन्धु |
| --- | --- | --- |
| (१) बाप की बहन (बुआ) के लड़के | (१) पिता के पिता (पितामह) की बहिन के लड़के | (१) मां के बाप (नाना) की बहिन के लड़के |
| (२) मां की बहिन (मौसी) के लड़के | (२) पिता की मां की बहिन (मौसी) के के लड़के | (२) नानी की बहिन के पुत्र |

४८. याज्ञ० १।५३ पंचमात्सप्तमदूर्ध्वं मातृतः पितृतस्तथा।

(३) मां के भाई (मामा) के लड़के (३) पिता की मां के भाई के लड़के (३) मां की मां के भाई (मामा) के पुत्र

इनमें अन्तरंग होने से पहले आत्मबन्धु, इनके अभाव में पितृबन्धु तथा इनके अभाव में मातृबन्धु दायाद होते हैं। मिताक्षरा की यह गणना वीर मित्रोदय ने उपलक्षण मात्र समझी थी ( व्य० प्र० ५३०-३१), क्योंकि यदि केवल इन्हें बन्धु माना जाय तो मामा जैसे निकट सम्बन्धी को उपर्युक्त सूची में न होने के कारण बन्धु नहीं माना जायगा। प्रिवी कौंसिल ने इनकी कुल संख्या १२३ बताई है[४९]।

प्राचीन धर्मशास्त्रों में इनका विस्तृत प्रतिपादन न होने के कारण वर्तमान समय में अदालतों में इनका पौर्वापर्य क्रम काफी विवादग्रस्त रहा है[५०], उसका प्रतिपादन अप्रासंगिक प्रतीत होता है।

बन्धुओं के अभाव में क्रमशः आचार्य, सहपाठी और इन सब के अभाव में राजा सम्पत्ति का स्वामी होता है।

**दायभाग का क्रम**--उपर्युक्त दायादक्रम मिताक्षरा के अनुसार है। अब दायभाग के क्रम पर विचार किया जायगा। पहले सोलह दायादों तक यह लगभग मिताक्षरा के क्रम जैसा है। इसके बाद सपिण्ड शब्द की व्याख्या के कारण दोनों में अन्तर पड़ जाता है। मिताक्षरा के अनुसार पिण्ड का अर्थ है--शरीर, निकट सम्बन्ध या प्रत्यासत्ति द्वारा समान शरीरावयव रखने वाला व्यक्ति सपिण्ड होता है, दायभाग पिण्ड का तात्पर्य श्राद्ध में पितरों को दिया जाने वाला चावल का गोला समझता है, उसके मत में इस प्रकार के पिण्डदान द्वारा पूर्वजों तथा वंशजों से संबद्ध होने वाला व्यक्ति सपिण्ड होता है।

इस प्रकार सपिण्ड शब्द की विभिन्न व्याख्याओं से हिन्दू परिवार के उत्तराधिकारी दायादों की दृष्टि से दो प्रधान सम्प्रदायों में विभक्त है--मिताक्षरा और दायभाग। दोनों ने सपिण्ड शब्द की अपनी व्याख्या को निम्न प्रकार से पुष्ट किया है।

**विज्ञानेश्वर की व्याख्या**--मिताक्षराकार के मत में सपिण्ड का अर्थ है--एक ही पिण्ड अर्थात् देह रखने वाला, एक ही शरीर के अवयव रखने के कारण सपिण्डता का सम्बन्ध होता है। पिता और पुत्र सपिण्ड हैं, क्योंकि पिता के देह

---

४९. **गौड़--हिन्दू कोड पृ० ९७०-९७९**

५०. **मेन--हिन्दू ला पृ० ६७२-७९**

के अवयव पुत्र में आते हैं। इसी प्रकार दादा आदि के शरीरावयव पिता द्वारा पोते में आने से वे सपिण्ड हैं; माता के शरीर का अंश आने से पुत्र की माता के साथ सपिण्डता होती है। इस प्रकार जहां जहां सपिण्ड शब्द का प्रयोग हो, वहां एक शरीर के अवयवों का सम्बन्ध समझना चाहिए[51]। सपिण्ड शब्द की इस व्याख्या के अनुसार मिताक्षराकार प्रत्यासत्ति को ही दायादों का क्रम निर्धारण करने की कसौटी समझता है[52]। यह सर्वथा स्वाभाविक है कि मृत व्यक्ति की सम्पत्ति लेने का अधिकार उसी को हो, जो उससे सबसे अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध रखता हो। प्रायः सभी जातियों की उत्तराधिकार प्रणालियां इस सिद्धान्त के आधार पर बनी हुई हैं।

परन्तु इस प्रकार सम्पत्ति प्राप्त करने वाले दायाद के मृत व्यक्ति के प्रति कुछ कर्त्तव्य उत्पन्न हो जाते हैं, हिन्दू धर्मशास्त्रों के अनुसार उसका सब से पहला और बड़ा कर्त्तव्य पिण्डदान है, जिससे मृत व्यक्ति को शान्ति मिलती है। दायग्रहण और पिण्डदान में घनिष्ठ सम्बन्ध है। मनु के मत में पिण्ड, गोत्र तथा रिक्थ का अनुगामी होता है ( गोत्ररिक्थानुगः पिण्डः ९।१४३ ); विष्णु धर्मसूत्र ने स्पष्ट रूप से यह विधान किया है कि जो सम्पत्ति ग्रहण करे, वही पिण्ड दान करे ( यश्चार्थहरः स पिण्डदायी स्मृतः)। ब्रह्मपुराण ( २२०।७९) में तो यहां तक कहा गया है कि यदि सम्पत्ति दायादों के अभाव में राजा को मिलती है, तो वह उसकी दाहादि क्रियायें करवाये। मिताक्षरा द्वारा उद्धृत विष्णुधर्मसूत्र के एक वचन में पुत्र पौत्र के अभाव में दोहते को दायाद बताया गया है; क्योंकि पिण्डदान की दृष्टि से दोहते पोतों जैसे समझे जाते हैं। मनु ने ९।१३६ में ऐसा भाव प्रकट किया है। यद्यपि प्राचीन धर्मशास्त्रों में पिण्डदाता को स्पष्ट रूप से रिक्थहर नहीं बताया गया, किन्तु विष्णु तथा मनु के उपर्युक्त वचनों में अस्पष्ट रूप से दायभाग के सिद्धान्त का बीज अवश्य

---

५१. याज्ञ० १।५२ समानः एकः पिण्डो देहो यस्याः सा सपिण्डा....सपिपिण्डता च एकशरीरावयवान्वयेन भवति। तथाहि पुत्रस्य पितृशरीरान्वयेन पित्रा सह, एवं पितामहादिभिरपि पितृद्वारेण तच्छरीरावयवान्वयात्।....एवं यत्र यत्र सपिण्डशब्दस्तत्र तत्र साक्षात् परम्परया वा एकशरीरावयवान्वयो वेदितव्यः।

५२. याज्ञ० २।१३६ न च सपिण्डेष्वेव प्रत्यासत्तिनिर्यामिका अपितु समानोदकादिष्वप्यविशेषेण धनग्रहणे प्राप्ते प्रत्यासत्तिरेव नियामिका।

विद्यमान है। मनु ने पुत्र पौत्रों द्वारा पिण्डदान की महिमा के जो गीत गाये हैं (९।१३७-३९); उनसे भी दायभाग के सिद्धान्त को बल मिलता है।

**जीमूतवाहन की व्याख्या**—इसके मतानुसार एक पुरुष जीवन काल में अपने तीन पुरुष पूर्वजों (पिता, दादा, परदादा) को पिण्डदान करता है; किन्तु उसकी मृत्यु पर जब उसका पुत्र उसका सपिण्डकरण करता है अर्थात् मृत पिता तथा उसके तीन पूर्वजों के पिण्ड बना कर, उन्हें मिलाकर एक पिण्ड बना कर, (मृत पिता को प्रेत से पितर) बनाता है; तब वह मध्यस्थित मृत पुरुष के पुत्र द्वारा दिये गये तीन पूर्वजों के पिण्डों का अपने पिता और दादा के साथ भोग करता है। इस प्रकार जिन्हें वह पिण्ड देता है और जो उसे पिण्ड देते हैं वे अविभक्त दायाद सपिण्ड कहलाते हैं[५३]। सपिण्ड की यह व्याख्या उसने बौधा० ध० सू० (१।५।११३-१५) के वचनों की व्याख्या करते हुए की है, जो सर्वथा उसकी अपनी है। वस्तुतः मूल वचन में दाय को पिण्डवाची मानने का कोई कारण नहीं, उसे स्वयमेव यह निश्चय नहीं था कि उसकी यह व्याख्या ठीक है और इससे विद्वानों को सन्तोष होगा। अतः उसने पिण्डदान संबन्धी मनु के वचनों (९।१८६-८७) द्वारा अपने अर्थ का समर्थन किया है[५४]।

सपिण्ड शब्द की उपर्युक्त व्याख्या के साथ वह अपने सिद्धान्त की पुष्टि निम्न प्रकार के तर्क से करता है। धनोपार्जन के दो प्रयोजन हैं—भोग तथा यज्ञ दानादि धर्म कार्यों द्वारा अदृष्ट पुण्यफलों का उपार्जन। किसी पुरुष की मृत्यु हो जाने पर भोग का प्रयोजन तो पूरा नहीं हो सकता, केवल दूसरा प्रयोजन रह जाता है। अतएव बृहस्पति ने कहा है कि दाय से प्राप्त धन का आधा हिस्सा मृत व्यक्ति के मासिक, षाण्मासिक और वार्षिक श्राद्ध के लिए रखना चाहिए[५५]। मनु ने

५३. जीमूतवाहन का दायभाग ११।१।३८ पित्रादिपिण्डत्रये सपिण्डनेन भोक्तृत्वात् पुत्रादिभिश्च त्रिभिः तत्पिण्डस्यैवदानात् यश्च जीवन् यत्पिण्डदाता स मृतः सन् सपिण्डनात् तत्पिण्डभोक्ता एवं च सति मध्यस्थितः पुरुषः पूर्वेषां जीवन् पिण्डदाता स मृतः तत्पिण्डभोक्ता च परेषां जीवतां पिण्डसम्प्रदानभूत आसीत्, मृतैश्च तैः सह दौहित्रादिदेयपिण्डभोक्ता अतो येषामयं पिण्डदाता ये वास्य पिण्डदातारः ते अविभक्तपिण्डरूपं दायमदन्तीत्यविभक्तदायादाः सपिण्डाः।

५४. वहीं—अत्रापरितोषो विदुषां वाचनिक एवायमर्थः तथापि यथोक्त एव वचनयोरर्थो ग्राह्य इत्यस्तु किं विस्तरेण।

५५. दाय भाग ११।६।१३ धनार्जनस्य हि प्रयोजनद्वयं भोगार्हत्वं

पुत्रों तथा रिक्थहरों द्वारा पितरों को पिण्डदान की व्यवस्था करते हुए अंधे बहरे आदि विकलेन्द्रिय पुरुषों को पैतृक धन का अनधिकारी बताया है (९।१२०)। सम्भवतः इसका कारण यह है कि ये विकलांग होने से पिण्डदान द्वारा पितरों को लाभ नहीं पहुँचा सकते । अतः दायाद होने की सब से बड़ी कसौटी यह है कि कोई व्यक्ति पिण्डदान से पितरों के लिए कितना उपकारक हो सकता है; जो जितना अधिक उपकारक होगा, वह सम्पत्ति का उतना ही अधिक अधिकारी होगा, क्योंकि उपकारकत्व (Spiritual benefit) ही धनप्राप्ति का निर्णायक है[५६] । दायादों का अधिकार क्रम इसी प्रकार निश्चित करना चाहिए[५७] । यह मत जीमूतवाहन से पहले उद्योत ने स्थपित किया था ।

दायभाग के दायाद क्रम को समझने के लिए श्राद्ध का कुछ सामान्य ज्ञान होना आवश्यक है । उत्तराधिकार के सम्बन्ध में दो प्रकार के श्राद्ध उल्लेखनीय हैं—एकोद्दिष्ट तथा पार्वण । जब एक ही मृत पुरुष के लाभ के लिए श्राद्ध किया जाता है तो वह एकोद्दिष्ट होता है । मृत्यु के बाद पहले वर्ष ऐसे ११ श्राद्ध किये जाते हैं और इसके बाद प्रतिवर्ष निधन तिथि पर यह श्राद्ध होता है । कन्या और विधवा एकोद्दिष्ट श्राद्ध ही कर सकती है। अमावस्यादि पर्वों पर किये जाने वाले श्राद्ध पार्वण कहलाते हैं। इनमें प्रधान रूप से पितृकुल के तीन तथा गौण रूप से मातृकुल के तीन पूर्वजों को बुलाकर पिण्डदान किया जाता है, अतः इसे त्रैपुरुषिक श्राद्ध भी कहा जाता है[५८] । यह एकोद्दिष्ट से अधिक महत्त्वपूर्ण है, इसे करने वाले पुत्र, पौत्र पितरों को अधिक लाभ पहुँचाते हैं ।

दायभाग के मतानुसार दायादों के तारतम्य की निर्णायक कसौटी श्राद्ध

---

दानाद्यदृष्टार्थत्वं च । तत्रार्जकस्य तु मृतत्वाद्धने भोग्यत्वाभावेनादृष्टार्थत्वमेवावशिष्टम् । अत एव बृहस्पतिः—समुत्पन्नाद् धनादर्धं तदर्थे स्थापयेत् पृथक् । मासे षाण्मासिके श्राद्धे वार्षिके च प्रयत्नतः ॥

५६. वहीं ११।६ । ३१-३२ उपकारकत्वेनैव धनसंबन्धो न्यायप्राप्तो मन्वादीनामाभिमत इति मन्यते इति निरवद्यविद्योद्योतेन द्योतितो ऽयमर्थो विद्वद्भिरादरणीयः ।

५७. दायभाग ११।६।२८, तस्माद् यथायथामृतधनस्य तदुपयुक्तत्वं भवति तथा तथाधिकारक्रमोऽनुसरणीयः ।

५८. याज्ञ० १।२५१ परमिता०-एकः उद्दिष्टः यस्मिन् श्राद्धे तदेकोद्दिष्टं तत्र त्रिपुरुषोद्देशेन यत्क्रियते तत्पार्वणम् ।

द्वारा पितरों को अधिक लाभ पहुँचाना है। अधिक लाभ पहुँचाने के सम्बन्ध में अनेक जटिल नियम हैं। इनमें से कुछ ये हैं—(१) मृत व्यक्ति के पिण्डदाता को उसके पूर्वजों के पिण्डदाता से तरजीह दी जाती है[५९]। इसके अनुसार निकट सम्बन्धियों का अधिकार पहले समझा जाता है। मृत पुरुष के पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र विधवा लड़की और दोहता उसे पिण्ड देते हैं, अतः पिता आदि से उनका अधिकार पहले समझा जाता है; क्योंकि पिता का पिण्ड पुत्र को न पहुँचकर उसके पूर्वजों को मिलता है। (२) मृत व्यक्ति को पिण्ड देने वालों को उससे पिण्ड ग्रहण करने वालों पर तरजीह दी जाती है[६०]। इसी आधार पर दायादों में पुत्र, पौत्र प्रपौत्र को पिता, दादा, परदादा से पहले स्थान दिया जाता है। (३) पितृ एवं मातृ दोनों पक्षों के पूर्वजों को पिण्ड देने वाला केवल पितृ पक्ष के पूर्वजों को पिण्डदान करने वाले से पहले दायाद माना जाता है, अतः सोदर (सगे) को अन्योदर(Half blood) भाई पर तरजीह दी जाती है; क्योंकि सहोदर पिता तथा माता दोनों की तीन पीढ़ियों के पूर्वजों को पिण्डदान करता है, सौतेला केवल पितृपक्ष के पूर्वजों को पिण्डदान करता है। (४)पिण्डदान में जहां स्वकुलीय ( Agnate ) तथा भिन्न कुलीय ( Cognate ) सपिण्ड पिण्डदान द्वारा लाभ पहुँचाते हों; वहां स्वकुलीय गोत्रज को तरजीह दी जायगी। उदाहरणार्थ मृत व्यक्ति के पिता के भाई का लड़का (भतीजा) तीन पिण्ड देता है—एक अपने पिता को तथा दो मृत व्यक्तियों अर्थात् दादा और परदादा को, इस प्रकार मृत व्यक्ति उसके दो पिण्डों के साथ सपिण्ड होता है। भांजा ( पिता की लड़की का लड़का ) मृत व्यक्ति के पिता दादा, परदादा को पिण्डदान करता है। भांजे के तीन पिण्ड होने पर भी उसका हक भतीजे के बाद है; क्योंकि भांजे के पिण्ड मातृपक्ष के पूर्वजों के हैं और भतीजे के पितृपक्ष के पूर्वजों के[६१] (५) उपर्युक्त नियमों का पालन करते हुए जो व्यक्ति पिण्डों की अधिक संख्या देने वाले होते हैं, उनका हक पिण्डों की कम संख्या देने वालों से पहले होता है। मृत व्यक्ति का भाई उसके समान पिता दादा परदादा को तीन पिण्ड देने वाला होता है; किन्तु उसका चाचा मृत व्यक्ति के दादा परदादा को दो पिण्ड देता है; अतः भाई का हक चाचा से पहले माना जाता है[६२]। यह नियम

---

५९. गुरु गोविन्द बनाम आनन्दलाल १३ वी० रि० ४९ (५९)

६०. गोविन्द ब० महेश २३ वी० रि० १२७

६१. हरिदास ब० बामाचरण १५ कल० ७८० ( ७९०)

६२. गुरु गोविन्द बनाम आनन्दलाल १३ वीकली रिपोर्ट–४९(५९)

प्रत्यासत्ति का पोषक है ।(६)पार्वण और एकोद्दिष्ट श्राद्ध में से पहले को करने वाले को तरजीह दी जाती है, अतः मृत की विधवा या लड़की से पहले पुत्र, पौत्र तथा प्रपौत्र का हक समझा जाता है (काणे-हि० धा० ३।७४०-४१) ।

दायभाग पिण्डदान के सिद्धान्त को स्वयमेव पूरी तरह लागू नहीं करता; क्योंकि उसके दायादों और श्राद्धाधिकारियों का क्रम एक सा नहीं है । श्राद्ध की दृष्टि से भाई का स्थान पिता से बहुत पहले माना जाता है, किन्तु दाय भाग के दायादों में उसकी गणना पिता माता के बाद की गई है । वर्तमान न्यायालयों ने भी यह स्वीकार किया है कि जीमूतवाहन का सिद्धान्त सब दशाओं में पूरी तरह से लागू नहीं हो सकता[६३] । संभवतः दायभाग का उद्देश्य नये सिद्धान्त का प्रतिपादन न होकर भांजे मामे आदि कुछ सम्बन्धियों के अधिकार को पुष्ट करना था[६४] ।

**मिताक्षरा के दायाद क्रम से अन्तर**—दायभाग के उपर्युक्त सिद्धान्त का परिणाम यह हुआ है कि इसका दायाद क्रम मिताक्षरा के क्रम से कुछ भिन्न हो गया है । मिताक्षराकार सपिण्ड का अर्थ अपने ही गोत्र के ऊपर से नीचे तक की छः पीढियों के सम्बन्धी समझता है और दायभाग केवल तीन पीढ़ियों तक ही इन्हें सीमित कर, इनमें भिन्न कुल के स्त्री परम्परा द्वारा संबद्ध व्यक्तियों (Cognates) को भी सम्मिलित करता है। भतीजे के लड़के के बाद वह पिता के दोहते ( या मृत व्यक्ति के भांजे ) को भी उत्तराधिकारी मानता है, क्योंकि बहिन का लड़का अपने नाना ( मृत व्यक्ति के पिता) को पिण्डदान करने से अपने मामा ( मृत व्यक्ति ) का सपिण्ड है। पिता की बहिन (बुआ) का लड़का भी इसी प्रकार परचाचा ( मृत व्यक्ति के दादा ) को पिण्ड देता है, मामा अपने पिता को ( जो मृत व्यक्ति का नाना है ) पिण्ड दान करता है, उसका पुत्र और पोता भी मृत व्यक्ति के नाना को पिण्ड देते हैं, इस प्रकार ये सब मृत व्यक्ति के सपिण्ड हो जाते हैं । मौसी का लड़का भी अपनी माता के पिता को पिण्ड दान करने से मृत व्यक्ति का सपिण्ड हो जाता है । इस

---

(५९) फु० बै० । धार्मिक लाभ की कसौटी की विस्तृत व्याख्या के लिए दे० सरकार हिन्दू ला ।

६३. अक्षयचन्द्र बनाम हरिदास ३५ कल० ७२१

६४. इस सिद्धान्त की विस्तृत आलोचना के लिए देखिये सरकार-हिन्दू ला पृ० ४७८–५०१

प्रकार पिता का दोहता ( भांजा) दादा का दोहता, नाना, मामा, मामे के लड़का, मामे का पोता और मौसी का लड़का–भिन्न कुल के ऐसे आठ व्यक्ति ऐसेहैं, जो याज्ञ० के शब्दों में बन्धु (Cognate) है, गोत्रजों (Agnates) के बाद दायाद बनते हैं, किन्तु दायभाग में इन का स्थान बहुत पहले है।

**सकुल्य**––सपिण्डों के अभाव में दायभाग परिवार की सम्पत्ति सकुल्यों को मिलती है[६५]। अपने तीन पूर्वजों को पिण्डदान करने के बाद कुशा घास द्वारा हाथ साफ करने से उसका जो अंश या लेप बचता है, वह परदादा से ऊपर की तीन पीढ़ियों के पितरों को दिया जाता है (मनु० ३।२१६)। ऐसे ही परपोते के बाद की तीन पीढ़ियां पिण्डलेप प्रदान करती हैं। इस प्रकार चौथी से छठी पीढ़ी के पूर्वज और चौथी से छठी पीढ़ी के वंशज सकुल्य कहे जाते हैं। यह वर्गीकरण दायभाग के मतानुसार है। मिताक्षरा में सकुल्य गोत्रज सपिण्डों में ही आ जाते हैं, क्योंकि इनकी मर्यादा मध्यस्थित पुरुष से ऊपर की तथा नीचे की छः पीढियों तक होती है।

**समानोदक**––सकुल्यों तथा गोत्रजों के अभाव में समानोदक दायाद होते हैं। इसका अर्थ है–एक व्यक्ति को जल देने वाले या उससे जल लेने वाले। यह ऊपर तथा नीचे की ७ वीं से १४वीं पीढी तक के व्यक्ति हैं। मनु ने कहा है ( ५।६० ) कि सपिण्डता तो सातवें पुरुष में समाप्त हो जाती है, फिर केवल समानोदक भाव रहता है और जब परिवार में जन्म और नाम का ज्ञान न रहे, तो यह संबन्ध समाप्त हो जाता है। किन्तु उसने इसकी समाप्ति की सीमा नहीं बताई है। मिताक्षरा में बृहन्मनु के वचन के आधार पर १४वीं पीढ़ी तक समानोदक सम्बन्ध माना है। ये कुल १४७ सम्बन्धी होते हैं, इनके अभाव में दायभाग की व्यवस्था मिताक्षरा जैसी ही है। समानोदकों के न होने पर आचार्य, उसके अभाव में सहपाठी और इनके भी न होने की दशा में ब्राह्मणों के अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों का धन राजा को मिलता है।

अधिकांश शास्त्रकार ( नारद दा० ५१।५२, विष्णु १७।१३-१४ बौधा० धम सूत्र १।५।१२०-२२ ) एक स्वर से यह कहते हैं कि ब्राह्मण की सम्पत्ति

---

**६५. बौधा० धर्म सूत्र १।५।११४-१६ सपिण्डाभावे सकुल्यः दा० भा० ११।१।३८ एतेन वृद्धप्रपितामहप्रभृतयस्त्रयःपूर्वपुरुषाः प्रतिप्रणप्तुश्च प्रभृत्यधस्तनास्त्रयः पुरुषाः एकपिण्डभोक्तृत्वाभावाद् विभक्तदायादाः सकुल्या इत्याचक्षते।**

राजा को नहीं मिलनी चाहिए। किन्तु वर्त्तमान न्यायालयों ने इस व्यवस्था को स्वीकार नहीं किया। प्रिवी कौन्सिल ने मछलीपट्टम के कलेक्टर बनाम केवली वेंकट (८ म्यू० इ० ए०पृ० ५२६-२७) में इस विषय पर के सब शास्त्रीय वचनों की समीक्षा के बाद यह परिणाम निकाला कि राजा ब्राह्मण की सम्पत्ति ले सकता है। किन्तु इस अवस्था में राजा के लिये सिद्ध करना आवश्यक है कि मृत व्यक्ति का कोई दायाद नहीं है।

कात्यायन के अनुसार क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की सम्पत्ति उनके सहपाठी तक दायाद के अभाव में राजगामी होती थी; किन्तु इसे लेने पर राजा का यह कर्त्तव्य होता था कि वह उस सम्पत्ति से मृत व्यक्ति की और्ध्वदेहिक क्रियायें तथा श्राद्ध करे, उसकी रखैल स्त्रियों तथा सेवकों का पालन पोषण करे[६६]। कौटिल्य (३।५) तथा नारद (दायभाग ५२) ने भी इसका अनुमोदन किया है। आधुनिक युग में रखैलों को पति की सम्पत्ति से भरण पोषण पाने के अधिकार का आधार कात्यायन के यही वचन हैं (१२ बं० २६, २ बं० ५७३)।

**दाय के अनधिकारी**—पारिवारिक सम्पत्ति में स्वत्व रखने पर भी कुछ दायाद शारीरिक और मानसिक अयोग्यताओं के कारण, आचरण दूषित होने से तथा अन्य हेतुओं से दाय में अपना अंश ग्रहण करने से वंचित कर दिये जाते थे[६६क]। ये अनंश (वसिष्ठ १७।४६, ४८) या दायानर्ह कहलाते थे। अंधापन-बहिरापन, गूंगापन, कोढ़ आदि बीमारियां, मूर्ख, पागल, पतित एवं जाति बहिष्कृत होना, संन्यासाश्रम में प्रवेश दायानर्हता के प्रधान कारण थे। कुछ शास्त्रकारों ने स्त्रियों को भी दायानर्ह बताया था; किन्तु दायाधिकार न होने पर भी इन सब को परिवार की सम्पत्ति से पालन पोषण पाने का पूरा अधिकार है[६७]। यहां पहले विविध प्रकार के दायानर्हों का वर्णन कर बाद में उन्हें दाय से

---

६६. याज्ञ० २।१३५ पर मिता० में उ०—अदायिकं राजगामि योषिद्भृत्यौर्ध्वदैहिकम्। अपास्य श्रोत्रियद्रव्यं श्रोत्रियेभ्यस्तदर्पयेत् ॥ मिताक्षरा ने यह कहा है कि यहां योषिद् का अर्थ अवरुद्ध स्त्री (रखैल) लेना चाहिये—तदप्यवरुद्ध स्त्रीविषयं योषिद्ग्रहणात्।

६६क. गौ० ध० २८।४१, आप० ध० सू० २।१४।१, बौधा० ध० २।२।४३-४६, वसिष्ठ ध० १७।४६-४८, विष्णु० १५।३२-३४ कौटिल्य ३।५।

६७. गौ० ध० २८।४१ जडक्लीबौ भर्त्तव्यौ। वि० स्मृ० १५।३२-३४ पतितक्लीबाचिकित्स्यरोगविकलास्त्वभागहारिणः, ऋक्थग्राहिभिस्ते भर्त्तव्याः।

वंचित करने के कारणों पर प्रकाश डाला जायेगा और अन्त में स्त्रियों के अदायाद होने पर विचार किया जायगा।

**शारीरिक अयोग्यतायें**—शारीरिक दोषों के कारण दाय से वंचित करने की परिपाटी भारत में बहुत प्राचीन काल से चली आ रही है। बृहद्देवता ( ८।१५६ ) के अनुसार बड़ा भाई देवापि कोढ़ी होने से राज्य का अधिकारी नहीं रहा[६८]; गद्दी उसके भाई शन्तनु को मिली। धृतराष्ट्र अन्धे होने के कारण सिंहासन पर नहीं बैठे थे (म० भा० १।१०६।१०-११)[६९]। शारीरिक अयोग्यताओं के कारण प्रायः निम्न व्यक्ति दायानर्ह समझे जाते थे[७०]-जन्मांध, बधिर, गूंगे, पंगु आदि विकलांग, नपुंसक और कोढ़ी। १९२८ ई० के हिन्दू उत्तराधिकार ( अयोग्यता निवारक) कानून द्वारा इसमें मौलिक परिवर्तन हो गया है। यह दायभाग द्वारा शासित प्रदेश के अतिरिक्त समूचे भारत में लागू है। इसके अनुसार शासित प्रदेश में किसी प्रकार की शारीरिक अयोग्यता, कद्रूपता या बीमारी के कारण कोई व्यक्ति दाय से वंचित नहीं किया जा सकता, केवल पागलपन व जड़ता ही के कारण वह दायानर्ह होगा, किन्तु बंगाल में अभी तक पुरानी व्यवस्था प्रचलित है। वर्तमान न्यायालयों के निर्णयों के अनुसार यदि कोई व्यक्ति जन्म से ही अन्धा गूंगा या बहरा हो तथा विकलांग हो[७१] तो वह सम्पत्ति में हिस्सा नहीं पा सकेगा। अन्धापन मामूली नहीं, किन्तु दृष्टि-

---

६८. ८।१५६ न राज्यमर्हामि त्वग्दोषोपहतेन्द्रियः।

६९. मि० उद्योग पर्व १४७।३९ अन्धः करणहीनत्वान्न वै राजा पिता तव।

७०. मनु० ९।२०१ अनंशौ पतितौ क्लीबौ जात्यन्धबधिरौ तथा। उन्मत्तजडमूकाश्च ये च केचिन्निरिन्द्रियाः। याज्ञ० २।१४० क्लीबोऽथ पतितस्तज्जः पंगुरुन्मत्तको जडः। अन्धोऽचिकित्स्य रोगाद्याः भर्त्तव्याः स्युः निरंशकाः। नारद १४।२०-२१ पितृद्विट् पतितः षण्ढो यश्च स्यादौपपातिकः। औरसाऽपि नैतेंशं लभेरन् क्षेत्रजाः कुतः। दीर्घतीव्रामयग्रस्ता जडोन्मत्ताश्च पंगवः। भर्त्तव्याः स्युः कुलस्यैते तत्पुत्रास्त्वंशभाजिनः।। देवल ( स्मृच २७० ) मृते पितरि न क्लीबकुष्ठ्युन्मत्त जडान्धकाः। पतितः पतितापत्यं लिंगी दायांश भागिनः।।

७१. गंगेश्वर ब० दुर्गा ११५ कल० १७ प्रि० कौ०; बाकूबाई ब० मंछाबाई २ बं० हा० रि० ५

शक्ति का सर्वथा अभाव होना चाहिए। लंगड़ापन आदि विकलांगता ऐसी होनी चाहिए जो उसे शारीरिक दृष्टि से असमर्थ बना दे और यह भी पैदायशी होनी चाहिए[७२]। यह अनर्हता स्त्री पुरुष दोनों पर समान रूप से लागू होती[७३]।

प्राचीन शास्त्रकारों ने अचिकित्स्य (लाइलाज) रोगियों (विष्णु० १५।३२) तथा कोढ़ियों को भी दायानर्ह माना था। मिताक्षरा के कथनानुसार क्षय का रोगी सम्पत्ति का हक़दार नहीं रहता था[७४]। किन्तु वर्तमान न्यायालय केवल उसी दशा में कोढ़ या बीमारियों को दायानर्हता का कारण समझते हैं, जब कि वे इतनी उग्र, भयंकर या घिनौनी हों कि व्यक्ति सामाजिक संपर्क तथा सम्बन्ध में बिल्कुल असमर्थ हो जाय[७५]। पिण्डदाता होने तथा अनेक धार्मिक कार्य करने के कारण हिन्दू समाज में पुत्र की असाधारण महत्ता है; अतः नपुंसक भी अनंश माना गया था। वर्त्तमान अदालतें भी इसे स्वीकार करती थीं[७६]।

**मानसिक अयोग्यतायें**—पागल, उन्मत्त और जन्मजात जड़ (Idiot) को प्रायः सभी शास्त्रकारों ने दायानर्ह बतलाया है। पहले यह उल्लेख किया जा चुका है कि १९२८ के हिन्दू उत्तराधिकार (अयोग्यता निवारक) कानून में जन्म से ही इन दोषों वाले व्यक्ति दाय से वंचित किये गये हैं। पागलपन और मूर्खता के अनेक प्रकार हो सकते हैं; किन्तु न्यायालय केवल उन्हीं व्यक्तियों को दाय से वंचित करने योग्य समझेंगे, जिनकी जड़ता और पागलपन इस हद तक बढ़ा हुआ हो कि वे दायाद के रूप में अपने कर्त्तव्यों को समझ न सकें और उनका पालन न कर सकें। यह स्मरण रखना चाहिए कि उन्मत्त और जड़ के पुत्र यदि इन दोषों से दूषित नहीं होंगे, तो वे सम्पत्ति में अपना स्वत्व रखेंगे[७७]।

---

७२. वेंकट ब० पुरुषोत्तम २६ म० १३३ मि० फटिक ब० जगत २२ वी० रि० ३४८।

७३. मिता० २।१४० पतितादिषु पुंल्लिगत्वमविवक्षितम्। अतश्च पत्नी दुहितृमात्रादीनामप्युक्तदोषदुष्टानामनंशित्वं वेदितव्यम्।

७४. मिता० २।१४० अचिकित्स्यरोगोऽप्रतिसमाधययक्ष्मादिरोगग्रस्तः।

७५. कयारोहन ब० सुमरया ३८ म० २५० (२५५) जनार्दन ब० गोपाल ५ बं० हा० रि० (१४५)

७६. ईश्वरचन्द्र बनाम रानी २ वी० रि० १२५ (१२६)

७७. उन्मत्त के लिए दे० आप० ध० सू० २।६।१४।१, वसि० १५।५२-५३, अर्थशास्त्र ३।५; जड़ के लिए दे० गौ० २८।४१, अर्थशा० ३।५

**दूषित आचरण और पतित होना**--पिता से द्वेष[७८], समुद्रयात्रा[७९] आदि दूषित आचरण और पातकों से पतित होने के कारण भी व्यक्ति दाय से वंचित हो जाता था। विवाद रत्नाकर (पृ० ४८९) के अनुसार जीवित पिता को मारने वाला तथा मृत पिता को पिण्ड न देने वाला पितृद्वेषी होता है। वर्तमान कानून न केवल हत्यारे को दाय से वंचित करता है; किन्तु उस द्वारा उत्तराधिकार पाने वाले व्यक्तियों का हक भी समाप्त कर देता है[८०]। दायभाग (५।३।१००) में उद्धृत शंख लिखित सूत्र में अपपात्रित और अपयात्रित को भी अनंश बताया गया है। व्यवहार मयूख के अनुसार इसका अर्थ व्यवसाय के लिए समुद्र द्वारा दूसरे देश को जाने वाला है[८१]। समुद्र यात्रा कलिकाल में वर्जित होने से ही ऐसी व्यवस्था की गई है, परन्तु वर्तमान न्यायालय इस कारण को स्वीकार नहीं करते।

असतीत्व मिताक्षरा के अनुसार विधवा को तथा दायभाग के अनुसार सभी स्त्री रिक्थहरों को उत्तराधिकार से वंचित कर देता है। असतीत्व के प्रति मनु की दृष्टि कुछ उदार है (९।२९-३०), किन्तु याज्ञ० (१।७०-७२) उसके लिए कठोर दण्ड की व्यवस्था करता है। कात्यायन (दा० पृ० १७१) ने भी स्त्री के साध्वी होने पर बहुत बल दिया है। बंगाल में रघुनन्दन के आधार पर विधवा कन्या आदि सभी स्त्री दायादों के लिए साध्वी होना आवश्यक समझा जाता है[८२], किन्तु अन्यत्र यह विधवा के लिए ही आवश्यक है। १९३७ के हिन्दू नारियों के साम्पत्तिक अधिकार कानून से स्त्रियों के दायाद होने के लिए सतीत्व का बन्धन आवश्यक नहीं रहा।

---

७८. नारद १४।२० पितृद्विट् पतितो षण्ढः

७९. व्यवहारमयूख पृ० १६३ (अपयात्रित)

८०. कैंचव ब० गिरिमलप्पा (१९२४) ५१ इं० ए० ३६८, ३७४; गंगू ब० चन्द्रभामा बाई (१९०७) ३२ बं० २७५

८१. व्य० म० १६३ व्यवसायार्थं नावादिना समुद्रमध्ये द्वीपान्तरं गत इति तु युक्तम्, दे० काणे–हिध० ३।६१०

८२. दा० ११।२।३१ पर रघुनन्दन की टीका—पत्नीत्युपलक्षणमिति। अपुत्रा शयनं भर्तुः पालयन्ती–दायादा ऊर्ध्वमाप्नुयुः–इत्यादिकात्यायनवचनपर-वचन पूर्वार्ध भर्तुर्धनहरी पत्नी या स्यादव्यभिचारिणी—इति पत्नीपदमुपलक्षणं पूर्वत्र पक्षे तु एकत्र दृष्टः शास्त्रार्थ इति न्यायेन पत्न्यधिकारः, इह तु पत्नीपदेन लक्षणया दुहितृपत्न्योरपि ग्रहणमिति भेदः। मि० त्रैलोकनाथ ब० राधा (३० कल० ला० ज० २३५)।

अनेक प्रकार के उपपातकों तथा महापातकों द्वारा व्यक्ति वर्ण से पतित समझा जाता था। मनु ११।५९-६६ में गोहत्या, माता पिता गुरु की सेवा न करना, परस्त्रीगमन, स्वाध्याय तथा अग्निहोत्र का त्याग, ठीक समय पर उपनयन न करना, तालाब, बगीचे, अपना और पुत्र का बेचना, गीले पेड़ काटना, लहसुन आदि निन्दित अन्न खाना उपपातक गिनाये गये हैं। ब्रह्महत्या, मद्यपान, चोरी, गुरुभार्या गमन और ऐसे पापियों के साथ सहवास महापातक हैं, इन्हें करने वाला पतित होता है और यदि वह प्रायश्चित्त नहीं करता तो घटस्फोट द्वारा जाति बहिष्कृत कर दिया जाता है[८४]। सभी शास्त्रकार ऐसे पतित पुरुष को दाय से वंचित करते हैं, उसके पुत्र को भी ऐसा ही समझते हैं[८५], किन्तु उसकी पुत्री के साथ बड़ी मृदुता का व्यवहार करते हैं, प्रायश्चित द्वारा शुद्धि के बाद उसके विवाह की व्यवस्था करते हैं[८६]।

हिन्दू धर्म छोड़कर इस्लाम, ईसाइयत आदि अन्य मत ग्रहण करने वाला व्यक्ति भी पतित समझा जाता है। जाति बहिष्कृत तथा धर्मान्तर स्वीकार करने वाले १८५० से पहले हिन्दू परिवार की सम्पत्ति में अपना स्वत्व खो बैठते थे; किन्तु १८५० ई० के जाति अयोग्यता निवारक कानून से यह प्राचीन व्यवस्था रद्द कर दी गयी है[८७]। इस कानून के अनुसार अपनी जात बिरादरी से बाहर

---

८३. वेदभमल ब० वेदनभग ३१ म० १०० (११०)

८४. हि० ध० २।३८८ मि० गौ० २०१२-७, मनु० ९।१८२-८४, याज्ञ० ३।२९४।

८५. बौधा० २।२।४६ पतिततज्जातवर्जम्; याज्ञ० २।१४० विष्णु० ३।५

८६. वसि० १३।५१-५३ पतितेनोत्पन्नः पतितोभवतीत्याहुरन्यत्र स्त्रियाः। सा हि परगामिनी। तां रिक्थामुपेयात्। मि० या० ३।२६१

८७. सर्व प्रथम १८३२ ई० में बंगाल में यह कानून बनाया गया था। यद्यपि धर्मनिरपेक्ष राज्य की तथा धार्मिक स्वतंत्रता की दृष्टि से यह कानून वाञ्छनीय है, किन्तु इसे बनाने का उद्देश्य कुछ लोगों की दृष्टि में भारत में ईसाइयत के प्रसार को सुविधाजनक बनाना था; क्योंकि इससे पहले ईसाई होने वाले हिन्दू या मुसलमान विधर्मी और पतित होने के कारण संयुक्त सम्पत्ति में अपना अंश खो बैठते थे। सर सय्यद अहमद ने १८५७ के भारतीय विद्रोह का एक कारण इस कानून का पास होना बताया था। आज से १०० वर्ष पूर्व के समाज में हिन्दुओं और मुसलमानों को किसी व्यक्ति के ईसाई हो जाने पर

निकाला हुआ अथवा धर्म त्याग द्वारा मुसलमान या ईसाई बनने पर भी हिन्दू संयुक्त परिवार की सम्पत्ति पर अपने अंश का अधिकार नहीं खोता । संन्यास ग्रहण करने से भी व्यक्ति दायाधिकारी नहीं रहता । (वसिष्ठ १७।४६ ) ।

**दायानर्हता के कारण**—उपर्युक्त व्यक्तियों को साम्पत्तिक अधिकार से वंचित करने के दो कारण थे (१) इन द्वारा दायादों के कार्यों तथा कर्त्तव्यों को पूरा करने की असमर्थता (२) इनकी धार्मिक कार्य करने की अयोग्यता । जन्म से अन्धे अपनी शारीरिक असमर्थता के कारण व्यापार या कोई अन्य कार्य करने में असमर्थ थे । उनसे सम्पत्ति की ठीक देखभाल और तत्सम्बन्धी कानूनी कार्यवाही करना संभव न था । इसलिए बौधायन ( २।२।४३-४६ ) ने अतीत-व्यवहार अर्थात् कानूनी कार्य करने में असमर्थ नाबालिगों के साथ अन्धे, जड़ आदि व्यक्तियों की गणना की है । बाद में सामाजिक हित की दृष्टि से भयंकर व्यक्तियों, परस्त्रीगमन आदि उपपातक और हत्या आदि महापातक करने वालों को पतित ठहराकर उन्हें साम्पत्तिक स्वत्व से वंचित किया गया । (२) धार्मिक कार्य करने की असमर्थता—दाय से वंचित करने का मूल कारण तो लौकिक था; परन्तु बाद में इसमें कुछ धार्मिक कारण भी जुड़ गये । मीमांसकों तथा अनेक शास्त्रकारों का यह मत था कि सम्पत्ति का मुख्य उद्देश्य यज्ञादि कर्म संपन्न करना है, जो व्यक्ति यज्ञादि का अधिकार नहीं रखते, उन्हें सम्पत्ति में भी अधिकार नहीं मिलना चाहिए । मिताक्षरा (२।१३५ ) में उद्धृत एक प्राचीन वचन में कहा गया है—सब प्रकार की सम्पत्ति यज्ञार्थ उत्पन्न की गई है, अतः जो व्यक्ति यज्ञ के अधिकारी नहीं, वे पैतृक सम्पत्ति पर भी अधिकार नहीं रखते, उन्हें केवल भोजन वस्त्र लेने का अधिकार है[८९] । जैमिनि ने ६।१।४१-४२ में असाध्य शारीरिक विकलता वाले व्यक्ति को वैदिक यज्ञों का अनधिकारी बताया है, शबर इनमें अंधे, बहरे और लंगड़े की गणना करता है । इन्हें यज्ञ का अधिकार न होने से सम्पत्ति का अधिकारी भी नहीं समझा गया ।

---

भी संयुक्त सम्पत्ति में उसके अंशहर होने से स्वभावतः रोष होता था । इंगलैण्ड में १६९८ का ब्लैसफेमी कानून अब तक प्रचलित है ।

८९. याज्ञ० २।१३५पर मिता०—यज्ञार्थद्रव्यमुत्पन्नं तत्रानधिकृतास्तु ये । अरिक्थभाजस्ते सर्वे ग्रासाच्छादनभाजनाः ।। मि० शान्तिपर्व २६।२५; कात्यायन स्मृच० द्वारा उद्धृत ( २।२६५ ) यथा यथा विभागाप्तं धनं यागार्थतामियात् । तथा तथा विधातव्यम् विद्वद्भिर्भागगौरवम् ।।

किन्तु प्राचीन काल में मीमांसकों का मत सर्वमान्य नहीं था। विज्ञानेश्वर (२।१३५) तथा अपरार्क (पृ०७४३) ने इसका विरोध किया। पहले के मत में यदि यह पक्ष मान लिया जाय तो मनुष्य अर्थ और काम के पुरुषार्थ पूरा नहीं कर सकेगा, यज्ञ की दक्षिणा के अतिरिक्त दान नहीं दिया जा सकेगा। अतः उपर्युक्त वचन का अभिप्राय केवल इतना ही है कि यज्ञ के उद्देश्य से एकत्र सम्पत्ति इसी कार्य में व्यय करनी चाहिए। वर्त्तमान न्यायालयों ने भी विज्ञानेश्वर का समर्थन करते हुए कहा है कि श्रौत यज्ञ करने की असमर्थता दायानर्हता का गौण कारण है[९०]; प्रधान कारण शारीरिक और मानसिक अयोग्यतायें हैं।

**स्त्रियां**—तै० सं० में कहा गया है कि स्त्रियां शक्ति (इन्द्रिय) रहित होने के कारण (सोमपान) में कोई भाग (दाय) नहीं लेतीं। इस वचन के आधार पर बौधायन धर्मसूत्र ( २।२।५३ ) तथा मनु ने स्त्रियों को दाय का अनधिकारी ठहराया है[९१]। मध्ययुग के स्मृतिकारों में इस वचन की व्याख्या के सम्बन्ध में बहुत मतभेद है। पराशर माधवीय ( खं० ३ पृ० ५३६ ) के अनुसार इसका अभिप्राय केवल इतना ही है कि यज्ञकर्त्ता की पत्नी को पात्नीवत नामक पात्र में डाले गये सोम रस का अंश लेने का अधिकार नहीं है; इन्द्रिय का अर्थ यहां सोमरस है[९२]। वस्तुतः इसका यही अर्थ ठीक प्रतीत होता है। इस वचन का दाय के साथ कोई सम्बन्ध नहीं। विज्ञानेश्वर और नीलकंठ ने संभवतः ऐसा ही समझते हुए स्त्रियों के रिक्थहरण के सम्बन्ध में इसका कोई उल्लेख नहीं किया[९३]। परन्तु हरदत्त ( गौतम धर्म सूत्र २८।१९, आप० ध० सू० २।६।

---

९०. सुरय्या ब० सुब्बम्मा (१९२०) ४३ म० ४१४

९१. तै० सं० ६।५।८।२, तस्मात्स्त्रियो निरिन्द्रियाः अदायादीः बौधा० २।२।५३ न दायं, निरिन्द्रियाः ह्यदायाश्च स्त्रियो मता इति श्रुतिः, मनु० ९।१८ निरिन्द्रिया ह्यमंत्राश्च स्त्रियोऽनृतमिति स्थितिः।

९२. परा० मा खं० ३ पृ० ५३६ या च श्रुतिः—तस्मात्स्त्रियो.... अदायादाः इति सा पात्नीवत ग्रहे तत्पत्न्या अंशोनास्तीत्येवं परा। इन्द्रियशब्दस्य 'इन्द्रियं वै सोमपीथः इति सोमे प्रयोग दर्शनात्। किन्तु अन्यत्र सायण ने तैत्ति० सं० (१।४।२७।१) के भाष्य में इस वचन की व्याख्या यह की है कि पुत्रों के रहते हुए स्त्रियों का दाय में हिस्सा नहीं होता (तस्माल्लोके स्त्रियः सामर्थ्य रहिता अपत्येषु दायभाजो न भवन्ति )

९३. लल्लूबाई ब० मन कुंवा वाई २ बं० ३८४-४२८; जाली (हिन्दू ला

१४।१) तथा अन्य मध्यकालीन टीकाकार उपर्युक्त श्रुति वचन के कारण, स्त्रियों को सामान्य रूप से दाय का अनधिकारी समझते थे। किन्तु पत्नी आदि जिन स्त्रियों के दायाद होने की शास्त्रकारों ने स्पष्ट रूप से व्यवस्था की थी; उन पर यह श्रुति वचन लागू नहीं समझा जाता था। दायभाग ( ११।६।११ ) ने बौधायन के उपर्युक्त वचन को पत्नी के लिए प्रामाणिक नहीं माना; क्योंकि याज्ञवल्क्य आदि स्मृतिकारों के विशेष वचनों से उसके दायाद होने का विधान किया गया है[९४]। देवण्ण भट्ट (स्मृच० खं० २ पृ० २९४) तथा मित्रमिश्र (व्यप्र० ५१७ ) भी इस वचन को अर्थवाद मात्र समझते हुए इसे उन स्त्रियों पर लागू नहीं करते, जिन्हें धर्मसूत्रों और स्मृतियों में स्पष्ट रूप से दायाद माना गया है। इस सिद्धान्त को मानने का यह परिणाम हुआ है कि मद्रास और बम्बई के अतिरिक्त अन्य प्रान्तों में केवल पांच स्त्रियां--विधवा, पुत्री, माता, दादी, परदादी ही शास्त्रों के विशेष वचनों के आधार पर दायाद मानी जाती थीं[९५]। १९२९ के रिक्थहरण के हिन्दू कानून के अनुसार तीन और स्त्रियों—पोती, ( लड़के की लड़की), दोहती ( लड़की की लड़की ) तथा बहिन को १९३७ के हिन्दू स्त्रियों के साम्पत्तिक अधिकार कानून द्वारा दो अन्य स्त्रियों, मृत व्यक्ति से पहले मरे पुत्र की वधू तथा मृत व्यक्ति से पूर्व मृत पुत्र के पूर्वमृत पुत्र की वधू को भी दायाद बना दिया गया है। इस प्रकार इस समय १० स्त्रियां दायाद हो सकती हैं।

**स्त्रियों के दायानर्ह होने के कारण**—प्राचीन सूत्रकारों तथा स्मृतिकारों ने स्त्रियों के साम्पत्तिक अधिकारों की जानबूझ कर उपेक्षा की हो, ऐसी बात नहीं है। इसके दो कारण प्रतीत होते हैं—(१) तत्कालीन परिस्थिति (२) स्त्रीधन

---

पृ० २१९) और काणे; (हि० ध० ३।७१२) ने इसी अर्थ का समर्थन किया है।

९४. पत्न्यादीनां त्वधिकारो विशेषवचनादविरुद्धः।

९५. इन पांचों के अधिकार का विकास शनैः २ हुआ। लड़की ( मनु० ९।१३०) कौटिल्य (३।५); माता (मनु० २।१३५, याज्ञ० २।१३५ ) और दादी ( मनु० ९।२१७ ) के अधिकार पहले माने गये। जब तक पत्नी को पुनर्विवाह का अधिकार था; तब तक उसे दायाद बनाने की आवश्यकता नहीं थी; किन्तु जब उसे यह अधिकार न रहा तो स्वाभाविक रूप से उसे दायाद मान लिया गया।

की व्यवस्था। संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली का प्रचलन होने से स्त्रियों के अधिकारों का प्रश्न बहुत कम उठता था। अतः शास्त्रकारों को दायादों में इनका उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं प्रतीत हुई। दूसरा कारण स्त्रीधन की व्यवस्था थी। सोलहवें अध्याय में इसका विस्तार से प्रतिपादन होगा। यहां इतना ही कहना पर्याप्त है कि स्त्री को विवाह के समय तथा उसके बाद माता, पिता, भाई, पति आदि संबन्धियों से मिले उपहार और आभूषण उसका स्त्रीधन समझे जाते हैं। इस पर उसका पूर्ण स्वत्व माना जाता है। वह इसका यथेच्छ विनियोग कर सकती है। स्त्रीधन के उत्तराधिकारी पुरुषों की बजाय स्त्रियां होती हैं। संभवतः रिक्थहरण के नियम दो प्रकार के थे--(१) पुरुषों की सम्पत्ति का--इसमें स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों को तरजीह दी जाती थी (२) स्त्रियों की सम्पत्ति का--इसमें स्त्रियों को पुरुषों की अपेक्षा प्रधानता थी। इस प्रकार की व्यवस्था होने पर स्त्रियों को पुरुषों की सम्पत्ति में दायाद बनाने की विशेष आवश्यकता न थी।

यद्यपि मनु (८।४१६) और नारद (६।३९) ने यह कहा है कि पत्नी का सम्पत्ति पर कोई अधिकार नहीं होता; किन्तु ये इसी श्लोक में पत्नी के साथ पुत्र का भी साम्पत्तिक स्वत्व स्वीकार नहीं करते। कुल्लूक तथा मेधातिथि के मतानुसार इन वचनों का केवल इतना ही अभिप्राय है कि वे इसके विनियोग में स्वन्त्र नहीं[९६]। यदि मनु को स्त्रियों का साम्पत्तिक स्वत्व अभीष्ट न होता तो वह ९।१९४ में छः प्रकार के स्त्रीधन की क्यों व्यवस्था करता? विज्ञानेश्वर स्त्रियों के दायाधिकार का प्रबल समर्थक था। वह केवल उन्हीं स्त्रियों को दायाद नहीं मानता, जिनका शास्त्रों में विशेष वचनों द्वारा उल्लेख हुआ है। परदादी का कहीं विधान न होने पर भी वह उसे दायाद बनाता है और परदादा से पहले स्थान देता है[९७]। गोत्रज सपिण्डों में आनुवंशिक पूर्वजों की पत्नियां भी सम्मिलित करता है, माता को पिता और दादी से पहले स्थान देता है। यह स्मरण रखना चाहिए कि हिन्दू परिवार में विज्ञानेश्वर की व्यवस्था के कारण स्त्रियों को साम्पत्तिक अधिकार आज से हजार वर्ष पहले प्राप्त हो गये थे, किन्तु इंगलैण्ड में स्त्रियों को साम्पात्तिक अधिकार पहली बार १८७० ई० में मिले।

---

९६. मनु० ८।४१६ भार्या पुत्रश्च दासश्च त्रय एवाधनाः स्मृताः। कुल्लूक एतच्च भार्यादीनां पारतन्त्र्यप्रदर्शनार्थम्।

९७. याज्ञ० २।१३६ परमिता०पितामहसन्तानाभावे प्रपितामही प्रपितामहः।

यद्यपि अधिकांश हिन्दू समाज में प्राचीन तथा मध्य काल में स्त्रियां दायाधिकार से वंचित थीं, किन्तु मलाबार का हिन्दू समाज इस दृष्टि से निराला था कि वहां के संयुक्त परिवार (मरुमक्कत्तायम तरवाड़) में उत्तराधिकार तथा रिक्थहरण के लिये दायादों का क्रम स्त्रियों के सम्बन्ध से निश्चित होता था। इस विशिष्ट प्रथा को समझने के लिये मातृक परिवारों का कुछ परिचय आवश्यक प्रतीत होता है, अतः पहले इनका प्रतिपादन करने के बाद, मलाबार के तरवाड़ की विवेचना की जायगी।

## *मातृक परिवार*

हिन्दू परिवार प्रधान रूप से पितृक ( Paternal ) अथवा पितृ मूलक है, अर्थात् उसका केन्द्र पिता है, उसकी वंश परम्परा पुरुष सन्तान द्वारा चलती है, पुत्र पौत्र उसके वंशज, कुल का अंग तथा पैतृक सम्पत्ति के उत्तराधिकारी होते हैं। किन्तु यह व्यवस्था सार्वभौम नहीं है, मद्रास के पूर्वी तट पर जन्म लेने वाला पुत्र तो पिता की सम्पत्ति प्राप्त करता है, पर पश्चिमी तट पर उसे इस प्रकार का कोई अधिकार नहीं; क्योंकि वहां मातृक[९८] परिवार ( Maternal family ) की व्यवस्था प्रचलित है। यहां पहले इन के सामान्य स्वरूप का उल्लेख होगा और बाद में हिन्दूसमाज में पाये जाने वाले रूपों का।

मातृक समाजों में माता कुटुम्ब का केन्द्र होती है, परिवार का मूल पूर्वज एक पुरुष नहीं, किन्तु स्त्री होती है, वंश परम्परा और उत्तराधिकार का आधार नारी मानी जाती है, परिवार का निर्माण एक सामान्य पूर्वज की पुत्र, पौत्रादि पुरुष सन्तान द्वारा नहीं, पर एक नारी की पुत्री आदि स्त्री सन्तति द्वारा होता है। इस प्रकार के समाज में प्रत्येक व्यक्ति के अधिकार, माता के साथ उसके सम्बन्ध पर निर्भर होते हैं, अतः इसे मातृकाधिकार (Mother right) भी कहा जाता है। यह एक बड़ी जटिल रचना है, किन्तु इसके निम्न प्रधान तत्व उल्लेखनीय हैं—

(१) वंश परम्परा ( Descent )—इसका निर्धारण माता द्वारा

---

९८. पहले इसके लिये मातृ सत्ता अथवा मातृतन्त्र (Matriarchy) शब्द का प्रयोग होता था; अब इसके स्थान पर मातृक के प्रयोग के लिये दे० अगली टिप्पणी।

होता है अर्थात् सन्तान पिता के कुल की नहीं, किन्तु माता के गोत्र की समझी जाती है। माता के वंश का होने से, इसे मातृवंशी (Matrilineal) तथा मातृकुल का नाम ग्रहण करने से इसे मातृनामी (Metronymic) समाज कहा जाता है।

(२) विवाह—ऐसे समाजों में शादी के बाद, पत्नी सुसराल न जाकर अपने पितृगृह में रहती है, पति उसे अपने घर न लाकर, स्वयं उसके घर पर जाकर निवास करता है। इस प्रकार की व्यवस्था मातृस्थानीय विवाह(Matrilocal marriage) कहलाती है।

(३) रिक्थहरण ( Inheritance )—मातृक परिवार में पुत्र को पिता से कोई सम्पत्ति नहीं मिलती, उसके सभी साम्पत्तिक अधिकार माता के सम्बन्ध से ही निश्चित होते हैं। इस से यह नहीं समझना चाहिये कि ये अधिकार, प्रधान अथवा पूर्णरूप से स्त्रियों को प्राप्त हैं; क्योंकि नारियां अधिकांश मातृक समाजों में साम्पत्तिक अधिकारों से वंचित हैं (इंसा० रि० ई० १२।८५१) प्रायः ऐसे परिवारों में भाई अथवा इनके अभाव में भांजा रिक्थहर होता है। यह सर्वथा स्वाभाविक है, क्योंकि इसमें पिता की सन्तान अपनी माता के साथ ननिहाल में रहती है, वहां नाना के बाद माता के भाई और भांजे ही दायाद हो सकते हैं। मामा की अपनी औरस सन्तान तो अपनी माता के साथ दूसरे कुटुंब में रहती है, उसके अपने परिवार में उसकी सम्पत्ति ग्रहण करने वाला उसकी बहिन का लड़का ही है। उत्तर भारत में जो सम्बन्ध पिता पुत्र में है, मलाबार में वह मामा और भांजे में है।

(४) उत्तराधिकार ( Succession )—राज्य और पौरोहित्य आदि पद, सामाजिक सम्मान की विभिन्न उपाधियां, एक व्यक्ति के मृत होने पर दूसरे को प्राप्त होना उत्तराधिकार है। मातृक समाजों में रिक्थहरण के समान युवराज आदि पद पुत्र के स्थान पर भाई और भांजेको मिलते हैं। ट्रावन्कोर, कोचीन राज्यों में उत्तराधिकारी राजा का लड़का नहीं, किन्तु उसका भागिनेय (बहिन का लड़का) होता है।

(५) सत्ता—प्रायः यह समझा जाता है कि मातृक परिवार में शासन सत्ता माता के हाथ में होती है, अतः पिछली शती में समाजशास्त्रियों ने इसे मातृतन्त्र अथवा मातृसत्ता ( Matriarchy ) का नाम दिया था। इसमें कोई संदेह नहीं कि ऐसे कुछ समाजों में स्त्रियों की दशा बहुत उन्नत है, परन्तु

अधिकांश समाजों में शासनसत्ता निश्चित रूप से पिता अथवा परिवार के वृद्धतम पुरुष में निहित रहती है[९९]। कुछ समाजों में यह सत्ता माता के भाई (मामा) के पास होती है, ऐसे समाज मातुल प्रधान (Avunculate) कहलाते हैं। (इंसा रिली० ई० खं० पृ० १२।८५१)

पिछली शताब्दी में पश्चिमी समाजशास्त्रियों ने मातृक परिवार के उपर्युक्त तत्वों अथवा इनके अवशेषों को अनेक प्राचीन एवं आधुनिक जातियों में देखते हुए यह कल्पना की थी कि पहले सर्वत्र मातृतन्त्र की व्यवस्था प्रचलित थी। उस समय यह सर्वमान्य सिद्धान्त था कि मानव परिवार की आदिम दशा कामचार (Promiscuity) थी, उसके बाद क्रमशः मातृ-तन्त्र (Matriarchy) और पितृतन्त्र (Patriarchy) की अवस्थायें आईं (इंसा ब्रिटा० १५।९३) पहले अध्याय में कामचार को मानव समाज की आदिम अवस्था मानने का खंडन किया जा चुका है (पृ०१०-१२); इस सम्बन्ध में डार्विन का यही कथन पर्याप्त है कि मनुष्य जाति के सामाजिक इतिहास में कामचार को एक सार्वभौम दशा स्वीकार करने वाली कल्पना समाज शास्त्रीय विचार के सम्पूर्ण क्षेत्र में अब तक की गयी सब से बड़ी अवैज्ञानिक धारणा है (इंसा० ब्रिटा० १५।९३)। मेन आदि विचारकों ने उस समय यह भी माना कि कामचार के पश्चात् मानव समाज में दूसरी दशा मातृतन्त्र की थी और इसके बाद उससे पितृतन्त्र अथवा पितृसत्ताक परिवार का उद्भव हुआ। इस कल्पना के दो बड़े आधार थे—पहला तो यह कि सन्तान के मातृत्व का निर्णय प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा होता है; किन्तु पितृत्व अनुमान का विषय है; अतः कामचार के बाद मातृमूलक परिवार ही संभव थे। दूसरा आधार मातृसत्ता को

---

९९. रिवर्स ने लिखा है कि केवल बहुत विरले उदाहरणों में परिवार की शासन सत्ता माता या सब से बूढ़ी स्त्री के हाथ में होती है (इंसा० रि० ई० १२।८५१)। मैसाइवर (सोसायटी पृ० २४७-४८) के मतानुसार स्त्री के शासक होने पर मातृसत्ता की कल्पना करना ठीक नहीं है, १६ वीं शती में इंगलैंड में एलिजाबेथ प्रथम का शासन था, किन्तु वहां शासन सत्ता स्त्रियों के हाथ में नहीं थी, अतः मातृतन्त्र या मातृसत्ता (Matriarchy) शब्द का प्रयोग भ्रामक है, वर्तमान मानवशास्त्री अतीत काल में मातृसत्ता को निर्विवाद रूप से पुष्ट नहीं कर सके, इसलिए यहां मातृसत्ता के स्थान पर मातृक (Maternal) परिवार के शब्द का प्रयोग किया गया है।

सूचित करने वाले प्राचीन एवं आधुनिक मानव समाजों के प्रचुर उदाहरण थे[१००]।

किन्तु मानवशास्त्र के अधिक अनुसन्धान से दोनों आधार भ्रान्त सिद्ध हुए और यह कल्पना खण्डित हुई कि मातृसत्ताक परिवार कामचार के बाद मानव समाज का सार्वभौम नियम थे। मातृवंशी परिवार के समर्थकों की सबसे प्रबल युक्ति यह थी कि आरम्भ में बच्चों के पिता का ज्ञान न होने से यह व्यवस्था चली। किन्तु डा० हार्टलैण्ड ने ऐसी बहुत सी जातियों के उदाहरण उपस्थित किये, जहां पितृत्व निश्चित होने पर भी मातृकाधिकार (Mother right) है। आदिम समाजों में पितृत्व का विचार वर्त्तमान सभ्य जगत् के इस विषय के विचार से भिन्न है, वस्तुतः उनमें सन्तानोत्पादक को जानने की आकांक्षा बहुत कम होती है, दक्षिण अफ्रीका में वधू खरीदने वाला उसकी वैध, अवैध सभी सन्तानों का स्वामी होता है ( इंसा० आफ सो० सा० खं० १०,पृ० १४५ )। मातृसत्ता के पितृसत्ता से पूर्व होने की एक युक्ति यह भी थी कि इस प्रकार का संगठन रखने वाले समाजों की सभ्यता का स्तर बहुत गिरा हुआ है, अतः वह आदिम दशा होनी चाहिये; किन्तु उत्तरी अमरीका की जातियों का अध्ययन करने वाले मानव-शास्त्रियों ने मातृवंशी इरोकुओई तथा प्युबलो इंडियनों को इस महाद्वीप की सभ्यतम जाति ठहराते हुए उपर्युक्त सिद्धान्त पर कुठाराघात किया। मातृसत्ता के प्रचुर उदाहरण भी उसके सार्वभौम प्रसार को सिद्ध करने के लिये पर्याप्त नहीं; क्योंकि मैलिनोवस्की के मतानुसार आधुनिक मानवशास्त्रीय अनुसन्धान से यह स्पष्ट है कि 'भूमण्डल के सब भागों में मातृकाधिकार के साथ साथ पितृसत्ता की संस्थायें दृष्टिगोचर होती है, ( इंसा० ब्रिटा० खं० १५, पृ० ९३ )।

---

१००. किसी समाज में निम्नतत्व होने से उसे मातृवंशी कहा जाता है—स्त्री द्वारा वंश परम्परा चलना, परिवार में मामा की महत्त्वपूर्ण स्थिति, बहु-भर्तृता, विवाह से पहले स्त्रियों को यौन स्वतन्त्रता प्राप्त होना, रजोदर्शन होने पर स्त्रियों के विशेष संस्कार, मातृशक्ति की उपासना, देवदासियों तथा स्त्री पुरोहितों की व्यवस्था। मातृसत्ता के विस्तृत प्रतिपादन के लिये देखिये——बेखोफन का जर्मन ग्रन्थ ( स्टटगार्ड १८६१), मैकलीनान——स्टडीज इन एंशेण्ट हिस्ट्री ( लंडन १८७६ ), मोर्गन-एशेण्ट सोसायटी ( लंडन १८७७), हार्टलैण्ड-प्रिमिटिव पैटर्निटी ( लंडन १९०९ ), ब्रिफाल्ट-मदर्स तीन खण्ड ( न्यूयार्क १९२७ )

उपर्युक्त प्रमाणों के अतिरिक्त सामाजिक संस्थाओं के इतिहास के अध्ययन की दृष्टि में हुए एक मौलिक परिवर्तन ने भी मातृसत्ता के सार्वभौम प्रसार की कल्पना को खण्डित किया। पिछली शताब्दी में यह माना जाता था कि मानव समाज का विकास सर्वत्र, समान रूप से और समान दशाओं में से गुजरते हुए, विकास की एक सरल प्रक्रिया के अनुसार हुआ है; किन्तु बाद में यह ज्ञात हुआ कि सामाजिक विकास एक बड़ी जटिल प्रक्रिया है, इसमें विभिन्न संस्कृतियों के सम्मिश्रण से नाना रूप उत्पन्न होते रहे हैं, कोई ऐसे सार्वभौम सामान्य नियम नहीं, जिन के अनुसार सर्वत्र एक जैसा विकास होता रहा हो ( इंसा० रि० ई० खं० १२, पृ० ८५८ )। इतिहास में न केवल मातृसत्ता के पितृसत्ता में परिणत होने के दृष्टान्त मिलते हैं, जैसे अफ्रीका तथा मैलेनीशिया में; अपितु पितृसत्ता के मातृकाधिकार में परिणत होने के उदाहरण पाये जाते हैं, जैसे उत्तरी अमरीका की अनेक जातियों में (इंसा० रि० ई० १२।८५८)। इन सब कारणों से अब मातृवंशी परिवार को प्राचीन काल में पितृसत्ता से पूर्ववर्त्ती सार्वभौम प्रथा नहीं माना जाता।

मातृवंशी परिवार के उद्भव के सम्बन्ध में तीन कल्पनायें की गयी हैं—(१) यह आदिम कामचार का स्वाभाविक परिणाम था (२) यह स्त्रियों की प्रभुता का परिणाम है, उन्हें यह सत्ता प्रारम्भिक काल में कृषि के आविष्कार तथा इससे संबद्ध विभिन्न कार्य करने से मिली। (३) यह मातृस्थानीय विवाह अर्थात् शादी के बाद पत्नी के अपने पितृगृह में ही रहने और सुसराल न जाने की प्रथा से प्रादुर्भूत हुई, क्योंकि इस दशा में बच्चों का पैतृक सम्पत्ति पर स्वत्व रखना कठिन था, उनके लिये मामा की सम्पत्ति पाना सर्वथा स्वाभाविक था।

**प्राचीन भारत में मातृक परिवार**—श्री सुविमल चन्द्र सरकार[१०१] तथा अन्य कई विद्वानों ने निम्न प्रमाणों के आधार पर प्राचीन भारत में मातृसत्ता की कल्पना की है (१) मातृनामों का प्रयोग—ब्राह्मण ग्रन्थों, उपनिषदों तथा अन्य प्राचीन साहित्य में माता के नाम पर पुत्र का नाम रखने की परिपाटी दृष्टिगोचर होती है। बृहदारण्यक उपनिषद् के अन्त में बतायी गयी वंशब्राह्मण तालिका के सब नाम इसी प्रकार के हैं, जैसे, गौतमीपुत्र, कात्यायनीपुत्र। रामायण महाभारत

---

१०१. सम एस्पैक्टस् आफ दी आर्लियस्ट सोशल हिस्टरी आफ इंडिया पृ० ७६-७८, सरकार के अनुसार यमी की यम से प्रणय याचना, मातापितरौ में माता शब्द का पहले प्रयोग, बहिन की वैदिक परिवार में उच्चस्थिति भी प्रारम्भ में मातृतन्त्र की सत्ता के प्रमाण हैं।

में इसके ये उदाहरण ह—सौमित्रि (सुमित्रा का पुत्र), पार्थ, कौन्तेय (पृथा या कुन्ती का लड़का), काद्रवेय, वैनतेय। पाणिनि के गोत्रापत्य प्रकरण के गण-पाठों में अनेक स्त्रियों के नाम है और एक सूत्र (स्त्रीभ्यो ढक् ४।१।१२०) द्वारा वह स्त्री शब्दो वैनतेय से (विनता का पुत्र) आदि रूप बनाता है। (२) अर्जुन का चित्रांगदा के साथ विवाह इस शर्त्त पर हुआ था (महाभा० १।२१७।२४-२५) कि उसका पुत्र माता के साथ, नाना के पास ही रहेगा। (३) मनुस्मृति तथा धर्मसूत्रों में मामा को ऊंचा स्थान दिया गया है (दे० ऊ० पृ० २७२) पितृत्व अनिश्चित होने से मातृमूलक नाम का सब से सुन्दर उदाहरण सत्यकाम जाबाल है (छान्दोग्य उपनिषद् ४।४)।

किन्तु ये सब प्रमाण मातृसत्ता के व्यापक एवं सार्वभौम प्रसार को सिद्ध नहीं कर सकते; क्योंकि वैदिक परिवार स्पष्ट रूप से पितृमूलक था (दे० ऊ० पृ० ३९)। मातृवंशी परिवार में बहुत महत्त्व रखने वाले नाना (मातामह) का उल्लेख वैदिक साहित्य में एक वार भी नहीं है और मामा का मातुभ्राता के नाम से केवल एकवार वर्णन है (मैत्रा० सं० १।६।१२)। मातृनामों का प्राचीन भारत में अवश्य प्रयोग था, किन्तु उससे कहीं अधिक पितृनामों का व्यवहार होता था। पाणिनि के गोत्रापत्य प्रकरण में अधिकांश नाम पुरुषों के ही हैं। मातृनामों का प्रयोग मातृवंशी व्यवस्था का ही नहीं, किन्तु बहुभार्यता का भी परिणाम होता है। सौमित्रि राजा दशरथ की सुमित्रा नामक पत्नी से उत्पन्न सन्तान का बोधक था। कुन्ती के पुत्र कौन्तेय कहलाने के साथ पाण्डव (पाण्डु के पुत्र) भी कहलाते थे। अतः उपर्युक्त उदाहरण मातृसत्ता की प्रथा का व्यापक प्रसार नहीं सिद्ध कर सकते। इनसे यही सूचित होता है कि वर्त्तमान काल की भांति कुछ स्थानों पर इस का अवश्य प्रचलन था।

**वर्त्तमान भारत के मातृवंशी परिवार**—आजकल भारत में मातृकाधिकार के दो केन्द्र हैं[१०२]—आसाम और केरल। आसाम में खासी, सिनतेंग, गारो आदि जातियों में इसकी अनेक विशेषतायें पायी जाती हैं। दूसरा केन्द्र भारत के पश्चिमी तट पर प्राचीन केरल अर्थात् मलाबार, ट्रावनकोर कोचीन राज्य तथा दक्षिण कनारा के जिला हैं। यहां यह प्रथा नायर और थिया जातियों में विशेष रूप से पायी जाती है। इस प्रदेश के पारिवारिक संघटन और साम्पत्तिक उत्तरा-

---

**१०२. एहरैन फैल्स के मदर राइट इन इंडिया (हैदराबाद १९४१) में भारत के वर्त्तमान मातृवंशी समाजों का विशद विवेचन है।**

धिकार के नियम दो बातों में शेष हिन्दू समाज से सर्वथा भिन्न हैं–(१) परिवार और वंश परम्परा का आधार नारी होती है, विवाह के बाद पत्नी सुसराल न जाकर अपने पितृगृह में रहती है। (२) पिता की सम्पत्ति को उत्तराधिकार में प्राप्त करने वाला उसका पुत्र नहीं, किन्तु भांजा होता है, अतः मलाबार में रिक्थहरण की व्यवस्था को मरुमक्कत्तायम् कहते हैं, इसका अर्थ है मरुमक्क अर्थात् भगिनीसुत का ताय या दाय; दक्षिण कनारा के कन्नड़ प्रदेश में यद्यपि इसका नाम आलियसन्तान है, किन्तु इस का शब्दार्थ वही है।

**तरवाड़**—मलाबार में एक मूल स्त्री से प्रादुर्भूत हुआ, उसके नर नारी वंशजों का संयुक्त कुटुम्ब तरवाड़ कहलाता है। इसमें अनेक स्त्रियों के वंशज सम्मिलित होते हैं, इनमें से प्रत्येक स्त्री तथा उसके वंशजों का छोटा परिवार तायवड़ी कहलाता है। प्रायः एक बड़े तरवाड़ में अनेक तायवड़ी सम्मिलित होते हैं। तरवाड़ एक पारिवारिक निकाय (कारपोरेशन) है, इसकी सम्पत्ति में सब के तुल्य अधिकार हैं और ये उसे मिताक्षरा परिवार की भांति कुटुम्ब में जन्म लेने से ही प्राप्त हो जाते हैं। प्राचीन परम्परा के अनुसार तरवाड़ की सम्पत्ति अविभाज्य समझी जाती थी और उसके सदस्यों को इससे भरण पोषण पाने का अधिकार होता है। मरुमक्कत्तायम् तरवाड़ का सबसे बूढ़ा पुरुष अथवा उसके अभाव में वृद्धतमा स्त्री इसका प्रबन्ध तथा संचालन करती है, इन्हें क्रमशः कारणवन और कारणवती कहते हैं, आलियसन्तान परिवार में ये एजमान और एजमन्ती कहलाते हैं, पहले इस परिवार में मुखिया को पारिवारिक सम्पत्ति का यथेच्छ प्रबन्ध करने के काफी विस्तृत अधिकार थे।

१९३२ के मरुमक्कत्तायम् कानन द्वारा तरवाड़ के स्वरूप में अनेक महत्व-पूर्ण परिवर्तन हुए हैं। पहले यह परिवार संयुक्त होता था, अब इसके बालिग सदस्यों के बहुमत द्वारा बंटवारा चाहे जाने पर इसकी व्यवस्था स्वीकार की गयी है, किसी सदस्य के दूसरा धर्म ग्रहण करने की दशा में तरवाड़ का विभाग अनि-वार्य हो जाता है। कारणवन के अधिकारों को भी इस कानून से मर्यादित कर दिया गया है, अब वह बालिग सदस्यों का लिखित बहुमत प्राप्त करके ही तरवाड़ की स्थावर सम्पत्ति का विक्रय या रेहन कर सकता है। परिवार के संचालन के लिये कारणवन तथा बालिग सदस्यों की बहुसंख्या के बीच में हुआ समझौता करार कहलाता है और कारणवन के लिये इसका पालन आवश्यक है। जब वह इसे पूरा नहीं करता या उसका नेतृत्व तरवाड़ के लिये हानिकर होता है तो उसे पद-च्युत किया जा सकता है। मरुमक्कत्तायम् तरवाड़ के अन्य सदस्य इसकी सम्पत्ति

के साझीदार और सहस्वामी होते हैं। उन्हें कारणवन से भरण पोषण पाने, तरवाड़ की सम्पत्ति के अनधिकृत अपहार (Unauthorised Alienations) को रोकने, ज्येष्ठ पुरुष की मृत्यु पर कारणवन बनने, विभाग में अपना अंश ग्रहण करने तथा दत्तक पुत्र के सम्बन्ध में आक्षेप उठाने के अधिकार होते हैं।

पश्चिमी तट पर यह व्यवस्था पहले इतनी बद्धमूल थी कि मलाबार में बसे हुए मोपले मुसलमान धार्मिक, सामाजिक तथा वैवाहिक विषयों में इस्लाम का अनुसरण करते हुए भी साम्पत्तिक उत्तराधिकार में मरुमक्कत्तायम् के अनुयायी थे। इससे अनेक कानूनी उलझनें पैदा हो गयी थीं, अतः १९१८ के प्रथम मद्रास कानून द्वारा मोपलों की दाय व्यवस्था शरीअत के अनुसार कर दी गयी।

हिन्दू समाज के संयुक्त परिवार की भांति मलाबार का तरवाड़ भी विनाशोन्मुख है। इसका प्रधान कारण व्यष्टिवादी प्रवृत्तियां और औद्योगिक क्रान्ति द्वारा उत्पन्न नवीन परिस्थितियां हैं। १९३२ के मरुमक्कत्तायम् कानून से सदस्यों को बंटवारे का अधिकार मिल गया है कारणवन के अधिकार नियन्त्रित हो गये हैं। वर्तमान युग में समूचे हिन्दू समाज के कानून को हिन्दू कोड द्वारा एक रूप बनाने का प्रयत्न हो रहा है। यह कहना कठिन है कि मलाबार इस युग में अपना यह निरालापन कब तक बनाये रख सकेगा।

मलाबार के हिन्दू समाज की इस विशिष्ट व्यवस्था के उत्पादक कारणों के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है। अनुश्रुति के अनुसार इसका उद्भव १२५० ई० के एक राजा भूतल पाण्ड्य की मनमानी व्यवस्था है, वह देवताओं को अपने पुत्र की बलि देना चाहता था, उस की पत्नी ने अपत्य स्नेह वश ऐसा नहीं होने दिया, किन्तु बहिन ने अपना लड़का देकर उसका यज्ञ पूरा किया। उसके प्रति कृतज्ञता तथा पुत्र के प्रति रोषवश उसने यह व्यवस्था की कि भविष्य में पुत्र का अधिकार भांजे को मिलेगा। वस्तुतः यह व्यवस्था पश्चिमी तट पर इतनी प्राचीन और बद्धमूल है कि उसे किसी मध्यकालीन राजा के कोप का परिणाम नहीं माना जा सकता। स्टर्राक ने डिस्ट्रिक्ट मैनुअल् आफ् कनारा में यह कल्पना की है कि इसका प्रधान कारण इन जातियों का लड़ाकू होना, अपने नेता के साथ युद्ध यात्राओं पर बाहर रहना और तथा एक स्त्री के अनेक पति होने की प्रथा थी। यहां भूमि पर और सम्पत्ति में स्त्रियों को स्वत्व इसलिये दिया गया ताकि घर पर रहने वाले पुरुष युद्ध पर बाहर गये व्यक्तियों की अनुप-

स्थिति का लाभ उठा कर उनकी सम्पत्ति न हड़प सकें। नायर मध्यकाल की एक प्रसिद्ध योद्धा जाति थी; अतः उसमें भी उक्त कारण से स्त्रियों को सम्पत्ति में उपर्युक्त का अधिकार मिला[१०३]।

---

१०३. मरुमक्कत्तायम् कानून के विशद विवेचन के लिये देखिये मेन-हिन्दू ला दशम संस्करण पृ० ९६७-६९। इस विषय की सामान्य जानकारी के लिये दे० गज़ेटियर आफ मलाबार (१९०८), फाकेट-नायर्स आफ मलाबार, लोगन-मैनुअल आफ मलाबार।

# बारहवां अध्याय

## विभाग (बँटवारा)

विभाग के लक्षण—विभाग का विकास—इसकी तीन अवस्थायें और प्रक्रिया—विभाग की प्राचीनता—प्रशंसा—विभाग के तीन काल—विभाज्य द्रव्य—दाय की निरुक्ति और लक्षण—बंटवारे की सम्पत्ति—पृथक् सम्पत्ति—अविभाज्य द्रव्य—स्वार्जित सम्पत्ति तथा विद्याधन का विकास—सूत्रकारों और टीकाकारों की व्यवस्थायें—वर्त्तमान दशा—हिन्दू विद्याधन कानून—विभाग की विधि—विषम विभाग—पुर्नविभाग—विभाग के प्रमाण—बंटवारे के अधिकारी और अंशहर—पुत्र का अधिकार—पितृतो विभाग—विभाग के अनन्तर उत्पन्न, अनुलोमज, दासीपुत्र और नाबालिग पुत्रों के स्वत्व—विभाग के स्त्री अंशहर—पत्नीभाग—माता—दादी—कन्यायें—अनर्ह अंशहर—संसृष्टि-इसका स्वरूप—अधिकारी—प्रमाण और प्रभाव।

संयुक्त हिन्दू परिवार के सब सदस्य इस की सम्पत्ति का सम्मिलित रूप से उपभोग करते हैं। उन का इसके किसी अंश पर वैयक्तिक स्वत्व नहीं होता; इसकी उत्पत्ति विभाग या बंटवारे से होती है। विभाग का धात्वर्थ है—विशेष रूप से उपभोग। यह बंटवारे के बाद ही संभव है; क्योंकि संयुक्त सम्पत्ति का सब की सहमति के विना यथेच्छ विनियोग नहीं किया जा सकता। दो संयुक्त भाई दो हज़ार बीघे की भूमि का मिलकर उपभोग कर सकते हैं, इस पर उन का अविभक्त स्वत्व है; किन्तु वे स्वतन्त्र रूप से इसके किसी अंश का दान या विक्रय नहीं कर सकते। विभाग से उनमें से प्रत्येक को अपने हज़ार बीघे पर यह अधिकार प्राप्त हो जाता है। वह अब इसका विशेष रूप से उपभोग करने में समर्थ हैं। विभाग दोहरी प्रक्रिया है, इसमें एक ओर प्रत्येक भाई का २००० बीघे के संयुक्त उपभोग का अधिकार जाता रहा, दूसरी ओर १००० बीघे पर उसे पूर्ण अधिकार मिला, इससे उसने अपने अंश से भाई के अधिकार का व्युदास ( Exclusion ) किया। इस प्रकार संयुक्त सम्पत्ति के विभिन्न अंशों पर वैयक्तिक स्वामित्व स्थापित होना ही विभाग है।

**विभाग के लक्षण**––प्राचीन शास्त्रकारों में इसके लक्षण के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद है। विज्ञानेश्वर ने बंटवारे के उपर्युक्त स्वरूप को दृष्टि में रखते हुए इसकी यह व्याख्या की है––'जिस द्रव्य समुदाय (सम्पत्ति) पर अनेक व्यक्तियों का स्वामित्व हो, उसे निश्चित स्थानों में व्यवस्थापित करना विभाग है[1]'। उदाहरणार्थ, चार भाइयों की अविभक्त सम्पत्ति पर उन का सम्मिलित स्वाम्य है, इसके चार भाग कर उन्हें प्रत्येक भाई को देना ही बंटवारा है। विज्ञानेश्वर का यह लक्षण उससे बहुत प्राचीन है, इस पर भारुचि और जीमूतवाहन ने आक्षेप किये हैं। भारुचि इसे इस कारण ठीक नहीं मानता कि यह धर्म विभाग पर लागू नहीं होता। विष्णु के मतानुसार सम्पत्ति दो प्रकार की है—भोक्तव्य (जमीन, जायदाद), और अनुष्ठातव्य ( अग्निहोत्रादि ), विभाग भी दो प्रकार का है—दायमूलक और कर्ममूलक[2]। भारुचि अग्निहोत्रादि कर्म को सम्पत्ति मानता है, ऐसी सम्पत्ति में अधिकार और स्वामित्व की कल्पना नहीं हो सकती, अतः उसे मिताक्षराकार का लक्षण ठीक नहीं प्रतीत होता। भारुचि का ग्रन्थ उपलब्ध न होने से हमें उसके द्वारा किये गये विभाग के लक्षण का ज्ञान नहीं है।

जीमूतवाहन को उक्त लक्षण में यह दोष प्रतीत होता था कि इस में पहले समूची सम्पत्ति में अनेक व्यक्तियों के संयुक्त स्वामित्व की तथा बाद में उसके समाप्त होने की क्लिष्ट कल्पना की गयी है। 'दाय के विभाग का क्या आशय है ? क्या यह दाय का अवयवों में विभक्त होना है अथवा इसका किसी दायाद से पृथक् होना है ? पहला अर्थ इसलिये ठीक नहीं कि उसके अनुसार दाय नष्ट हो जायगा और दूसरा अर्थ भी अयुक्त है, क्योंकि (विभक्त) शब्द का प्रयोग संयुक्त सम्पत्ति के लिये भी देखा जाता है—जैसे युक्त, यह विभक्त सम्पत्ति मेरी नहीं, मेरे भाई की है। भाई यद्यपि अपने अंश से संयुक्त है, किन्तु उस के हिस्से को भाई का विभक्त भाग कहा जाता है। अतः जीमूतवाहन विभाग का अर्थ स्वत्वों के पृथक्करण की व्यवस्था नहीं मानता ; किन्तु उसे विशेष रूप से विभिन्न व्यक्तियों के स्वत्वों का प्रकटीकरण समझता है। 'जहां विशेष रूप से स्वत्वों की व्यवस्था न हो, वहां गुटिकापात ( लाटरी डालना ) द्वारा स्वत्वों की अभि-

---

१. याज्ञ० २।११४ पर मिता०––विभागो नाम द्रव्यसमुदायविषयाणामनेकस्वाम्यानां तदेकदेशेषु व्यवस्थापनम्।

२. सरस्वती विलास पृ० ३४५ पर उद्धृत विष्णु का वचन––पैतृकं धनं द्विविधं भोक्तव्यमनुष्ठातव्यं, पृ० ३४८ द्विविधो विभागः कर्ममूलोदायमूलश्च।

व्यक्ति विभाग है[३]'। इस प्रकार दायभाग के मत में संयुक्त सम्पत्ति के प्रत्येक अंश में दायादों का विभाग से पहले संयुक्त स्वामित्व नहीं होता, प्रत्येक व्यक्ति का हिस्सा बाद में लाटरी से निश्चित होता है। रघुनन्दन ने दायतत्व (पृ० १६३) में इस लक्षण पर यह आपत्ति ठीक ही की है कि यदि विभाग से पूर्व समांशियों का संयुक्त सम्पत्ति के किसी एक हिस्से पर अधिकार था तो इसका क्या भरोसा है कि लाटरी उसे वही हिस्सा देगी, जो उसके पास पहले था।

विभाग के इन दो लक्षणों से मिताक्षरा एवं दायभाग के परिवारों में मौलिक अन्तर आ गया है। मिताक्षरा के संयुक्त परिवार में पारिवारिक सम्पत्ति पर सब समांशियों ( Coparceners ) का साझा स्वामित्व है । कुटुम्ब सम्मिलित रहने की दशा में किसी दायाद का इस सम्पत्ति के किसी विशेष भाग पर स्वत्व नहीं होता, परिवार के नये सदस्यों के जन्म तथा पुराने सदस्यों की मृत्यु से प्रत्येक शरीक का हिस्सा घटता बढ़ता रहता है, बंटवारा होने से पहले तक उनका कोई अंश निश्चित नहीं होता। किन्तु दायभाग परिवार में विभाग से पहले व्यक्तियों का समूची संयुक्त सम्पत्ति पर सामूहिक स्वामित्व नहीं, अतः उसमें कोई साझेदारी या समांशिता ( Coparcenary ) नहीं हो सकती, वहां पिता के मरने पर ही, पुत्र अपना निश्चित हिस्सा ले सकते हैं, उस समय इकठ्ठा रहने पर भी उन सब को उस पर संयुक्त अधिकार है, किन्तु संयुक्त स्वामित्व नहीं है। मिताक्षरा में पारिवारिक सम्पत्ति में समांशिता का स्वत्व जन्म से उत्पन्न होता है, दायभाग में मृत्यु द्वारा।

विभाग दो प्रकार से होता है--सम्पत्ति का निश्चित भागों में बंटवारा करके अथवा संकल्प मात्र से। वस्तुतः बंटवारा अलग होने की मनोवृत्ति का व्यक्त रूप है, अतः नीलकण्ठ के मत में साझी (साधारण) सम्पत्ति न होने पर भी जब कोई यह कहता है कि मैं तुझ से अलग हूँ तो उसे बंटवारा ही

---

३. दायभाग पृ० ८ ननु किं दायस्य विभागो विभक्तावयवत्वं, यद्वा दायेन सह विभागोऽसंयुक्तत्वं, न तावत्पूर्वः, दायविनाशापत्तेः। नापि द्वितीयः, संयुक्तेऽपि न ममेदं विभक्तं स्वं भ्रातुरिदमिति प्रयोगात्।...एकदेशोपात्तस्यैव भूहिरण्यादावुत्पन्नस्य स्वत्वस्य विनिगमनाप्रमाणाभावेन वैशेषिकव्यवहारानर्हतया अव्यवस्थितस्य गुटिकापातादिना व्यंजनं विभागः। विशेषेण भजनं स्वत्वज्ञापनं वा विभागः।

समझना चाहिये। वर्त्तमान न्यायालयों ने इस सिद्धान्त को स्वीकार किया है[४]। बंटवारे का यह प्रकार केवल मिताक्षरा परिवार में ही संभव है, क्योंकि दायभाग में बंटवारा पिता की मृत्यु से ही होता है। संयुक्त परिवार से पृथक् होने का एक तीसरा प्रकार भी है। इस में अपनी आजीविका कमाने में समर्थ (शक्त) तथा परिवार की सम्पत्ति की इच्छा न रखने वाले (अनीहमान) को कुछ देकर परिवार से पृथक किया जाता है (मनु० ९।२०७)। विज्ञानेश्वर ने इसका यह कारण बताया है कि इस से भविष्य में होने वाले बंटवारे में उसे अपना हिस्सा लेने का अधिकार नहीं रहता है[५]।

**विभाग का विकास**—विभाग वैयक्तिक अधिकारों की स्वीकृति है। व्यक्ति को ये अधिकार एक लम्बे संघर्ष के बाद प्राप्त हुए हैं। गत शताब्दी के अन्त में हेनरी मेन ने इसके ऐतिहासिक विकास की तीन अवस्थाओं की कल्पना की थी[६]। **पहिली अवस्था** में समूची सम्पत्ति पर जन ( Tribe ) या जाति का सामुदायिक ( Communal ) अथवा जातीय स्वत्व होता था, व्यक्ति को विभाग द्वारा सम्पत्ति के स्वच्छन्द उपभोग का अधिकार नहीं था। व्यास ( दा० १२७, विर० ५०४, मपा० ६८७ ) और उशना ( मिता० २।११९, स्मृच० २७७, मपा० ५६४ ) के नाम से अनेक ग्रन्थों में यह व्यवस्था पायी जाती है कि यज्ञस्थान, क्षेत्र ( खेत), सवारी (पत्र), बनाये हुए भोजन, कुंये और स्त्रियों का हजारवीं पीढ़ी तक भी विभाग नहीं होता[७]।

**दूसरी अवस्था** में समुदाय (जन या जाति) का सामूहिक अधिकार ग्राम

---

४. व्यम० पृ० ९४, द्रव्यसामान्याभावेऽपि त्वत्तोहं विभक्त इति व्यवस्थामात्रेणापि भवत्येव विभागः। बुद्धिविशेषमात्रमेव हि विभागः तस्यैवाभिव्यंजिकेयं व्यवस्था। सवि० पृ० ३४७, अनेन ज्ञायते परिभाषां विना संकल्पमात्रेणापि विभागसिद्धिः। मि० बालकृष्ण व रामकृष्ण (१९३१) ५८ इं० ए० २२०, ५३ अला० ३००

५. या० २।११६ शक्तस्यानीहमानस्य किंचिद् दत्वा पृथक् क्रिया। मिता० तत्पुत्रादीनां दायजिघृक्षा मा भूदिति।

६. मेन—एंशेण्ट ला ( एवरीमैन लाइब्रेरी संस्करण ) पृ० १५८-५९

७. अविभाज्यं सगोत्राणामासहस्रकुलादपि। याज्यं क्षेत्रं च पत्रं च कृतान्नमुदकं स्त्रियः॥

के संबन्धियों, सामन्तों और दायादों के सामूहिक अधिकार तक सीमित हो गया, इन की अनुमति से ही भूमि का दान और विभाग किया जा सकता था[८]। पहली अवस्था में भूमि पर समूची जाति का स्वत्व था, अब ग्राम का और उसके बाद एक परिवार के दायादों या सम्बन्धियों का सामूहिक स्वत्व बना रहा। ग्राम का सामुदायिक अधिकार उठ जाने के बाद भी कई स्थानों पर इसके अवशेष अब तक पाये जाते हैं। पूर्व क्रयाधिकार (Right of preemption) या हक़शफा इसी प्रकार की व्यवस्था है। इसके अनुसार किसी स्थान पर भूमि या जायदाद खरीदने में पहला हक़ उसके आस पास बसे व्यक्तियों का होता है, इन के बाद अन्य स्थान वासी इसे क्रय कर सकते हैं। दूसरी अवस्था में दायादों की अनुमति के विना व्यक्ति स्थावर सम्पत्ति का दान और विक्रय नहीं कर सकता। मिताक्षरा (२।११३) के अनुसार यदि दायादों में से एक भी सहमत नहीं है, तो स्थावर सम्पत्ति के सम्बन्ध में किया हुआ दान और विक्रय का कार्य मान्य नहीं होता[९]। वैयक्तिक परिश्रम से कमायी स्थावर सम्पत्ति पर भी परिवार का स्वत्व था। इसके विक्रयादि के लिये सब दायादों की स्वीकृति प्राप्त करने का यह कारण बताया जाता था कि जो पुत्र पैदा हुए हैं और जो पैदा नहीं हुए, गर्भ में हैं, वे सब भरण (वृत्ति) की आकांक्षा रखते हैं, अतः (उनकी सहमति के विना) दान और विक्रय नहीं हो सकता[१०]।

**तीसरी अवस्था**—दायादों से अनुमति प्राप्त करने की व्यवस्था बहुत जटिल थी। अनेक अवस्थाओं में पुत्र और पौत्र इतने छोटे होते थे कि उनमें अनुमति देने की क्षमता ही नहीं होती थी। इस अवस्था में परिवार पर कोई संकट उपस्थित होने पर दान और विक्रय का अधिकार न होने से अत्यन्त असुविधा होती थी। अतः यह सिद्धान्त समाज में मान्य हुआ कि आपत्ति के समय, कुटुम्ब के पालन और धर्म कार्य के लिये एक व्यक्ति भी स्थावर सम्पत्ति का दान, गिरवी या विक्रय कर सकता है, उसे इस विषय में अन्य दायादों से अनुमति लेने की

---

८. मिताक्षरा याज्ञ० २।११३ पर—स्वग्रामज्ञातिसामन्तदायादानुमतेन च। हिरण्योदकदानेन षड्भिर्गच्छति मेदिनी॥

९. वहीं—स्थावरे द्विपदे चैव यद्यपि स्वयमर्जितम्। असंभूय सुतान्सर्वान्न दानं न विक्रयः॥

१०. वहीं—ये जाता येऽप्यजाताश्च ये च गर्भे व्यवस्थिताः। वृत्तिं च तेऽभिकांक्षन्ति न दानं न च विक्रयः॥

आवश्यकता नहीं है[११]। धीरे धीरे यह नियम व्यापक होने लगा, अन्य अवस्थाओं में भी विभाग द्वारा व्यक्ति को सम्पत्ति पर वैयक्तिक स्वत्व प्राप्त होने लगा। कई स्थानों पर वर्त्तमान समय में भी दायादों को पारिवारिक सम्पत्ति के विभाग का अधिकार नहीं है। १९३२ ई० तक मलाबार का मरुमक्कतायम् तरवाड़ (संयुक्त परिवार) अविभाज्य था, इसका सदस्य अपने जीवनकाल में स्वार्जित सम्पत्ति का पृथक् रूप से उपभोग कर सकता था, किन्तु उस के मरने पर यह सम्पत्ति भी उसके परिवार को प्राप्त होती थी[१२]।

मेन आदि विचारकों के मत में उक्त क्रम से वैयक्तिक अधिकारों का विकास हुआ है, पहले व्यक्ति के अधिकार जाति के तथा बाद में परिवार के स्वत्वों में संश्लिष्ट थे, अन्त में परिवार के संश्लिष्ट अधिकारों में से व्यक्ति के पृथक् अधिकार विश्लिष्ट हुए, वैयक्तिक सम्पत्ति का निर्माण हुआ, उस पर सम्बन्धियों के संयुक्त स्वामित्व का लोप होने लगा, व्यक्ति के पृथक् स्वत्व की उत्पत्ति हुई। बंटवारे द्वारा व्यक्ति को ये अधिकार उपलब्ध होने लगे।

पिछले अध्याय में यह बताया जा चुका है कि आधुनिक समाजशास्त्री गत शताब्दी के समाजविज्ञानियों की भांति किसी सामाजिक संस्था के विकास के सम्बन्ध में यह नहीं मानते कि उसका सर्वत्र, सार्वभौम रूप से एक जैसी सरल अवस्थाओं में गुजरते हुए उसका विकास होता है। यही बात वैयक्तिक स्वामित्व के अधिकारों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। ऊपर जान बूझकर भारतीय प्रमाण दिये गये हैं, किन्तु इनसे यह नहीं समझना चाहिये कि हिन्दू समाज में सर्वत्र यह विकास इन तीनों अवस्थाओं में होकर गुजरा है। प्रागैतिहासिक युग में जाति के पंचायती अधिकार की व्यवस्था संभव है, किन्तु वैदिक युग से हमें स्थावर सम्पत्ति पर वैयक्तिक स्वामित्व के प्रचुर प्रमाण मिलते हैं (ऊ० पृ० ४२-४४) इसके साथ विभिन्न स्थानों पर पंचायती प्रभुत्व भी रहा होगा, जिसका संकेत ऊपर उद्धृत किये व्यास और उशना के वचनों में मिलता है। इसी प्रकार यद्यपि मलाबार में २०-२५ वर्ष पूर्व तक पारिवारिक सम्पत्ति अविभाज्य थी, तथापि वैदिक युग से हमें विभाग के प्रमाण उपलब्ध होते हैं (दे० ऊ० पृ० ४५), अतः विभाग के विकास के सम्बन्ध में सार्वभौम नियम बताना संभव नहीं, यहां

---

११. मिता०याज्ञ० २।११४ पर--एकोऽपिस्थावरे कुर्याद्दानाधमनविक्रयम्। आपत्काले कुटुम्बार्थे धर्मार्थे च विशेषतः॥

१२. गोविन्दन बनाम शंकरन ३२ म० २५२ फु० बें०।

केवल उस प्रक्रिया का संक्षिप्त निर्देश किया जायगा, जिससे विभाग का क्षेत्र शनैः शनैः विस्तीर्ण हुआ है ।

**विभाग की प्रक्रिया**—इसके तीन प्रधानतत्व स्वार्जित सम्पत्ति पर वैयक्तिक अधिकार, विभाज्य द्रव्यों में वृद्धि और विभाग में पुत्रों का समान अंश ग्रहण करने का अधिकार था । आगे इन की विशद विवेचना की जायगी, यहां कुछ स्थूल तथ्यों का निर्देश पर्याप्त है ।

अपने परिश्रम से उपार्जित सम्पत्ति पर कमाने वाले को पूर्ण स्वामित्व न देना, न केवल उसके साथ घोर अन्याय था; अपितु समाज की प्रगति में प्रबल बाधा थी, क्योंकि ऐसी सम्पत्ति पर निजी अधिकार न होने से वैयक्तिक उपक्रम (Individual initiative) की प्रवृत्ति कुंठित होने की पूरी सम्भावना थी । जब अपने परिश्रम का फल दूसरों को मिलना है, तो इसके लिये प्रयत्न क्यों किया जाय ? स्वार्जित सम्पत्ति पर अधिकार देने में सामूहिक अधिकार की पुरानी परम्परा का भंग होता था और न देने में कमाने वाले के प्रति अन्याय और सामाजिक प्रगति के अवरुद्ध होने का भय था । इस विषम परिस्थिति का यह हल निकाला गया कि स्वार्जित सम्पत्ति के कुछ अंश पर व्यक्ति को स्वत्व दिया जाय और शेष भाग पर पूर्ववत् परिवार का स्वामित्व हो । वसिष्ठ ने स्वयमुत्पादित सम्पत्ति में से दो अंश कमाने वाले को देने का विधान किया[१३] । यह व्यवस्था यद्यपि उपार्जनकर्त्ता के साथ पूरा न्याय नहीं करती थी, किन्तु उसे कुछ अंश भी न देने वाले पुराने विधान की अपेक्षा उदार थी । बाद में मनु० (९।२०८) आदि स्मृतिकारों ने स्वार्जित सम्पत्ति को अविभाज्य बना दिया[१४] ।

**विभाज्य द्रव्यों में वृद्धि**—स्वार्जित सम्पत्ति पर अधिकार स्वीकार करने पर भी बहुत समय तक सम्पत्ति की बहुत सी वस्तुओं, वस्त्र, वाहन, अलंकार कुआं, स्त्रियां, गोचर भूमि, (विष्णु० १८।४४, मनु० ९।२१९) घर (शंख दा० १२७) क्षेत्र आदि अविभाज्य माने जाते थे[१४क] । किन्तु बृहस्पति के समय तक वैय-

---

१३. वसिष्ठ० १७।४५ येन चैषां स्वयमुत्पादितं स्यात् स द्व्यंशमेव हरेत् ।

१४. मनु ९।२०५ अनुपघ्नन्पितृद्रव्यं श्रमेण यदुपार्जयेत् । स्वयमीहितलब्धं तन्नाकामो दातुमर्हति ।।

१४क. विष्णु स्मृ० १८।४४ वस्त्रं पत्रमलंकारंकृतान्नमुदकं स्त्रियः । योगक्षेमप्रचारं च न विभाज्यं प्रचक्षते ।। इसके उत्तरार्द्ध का दा० १२६, विर० ५०४ में यह पाठ है—योग क्षेमं प्रचारश्च न विभाज्यं च पुस्तकम् । इसके अनुसार

क्तिक अधिकारों का इतना विकास हो चुका था कि उसने इन का भी युक्तिपूर्वक विभाग करने की व्यवस्था की (अप० २।११९, स्मृच० २७७)। इस विषय की आगे विस्तार से विवेचना की जायगी। यहां इतना कहना पर्याप्त है कि छठीं सातवीं शती तक पुराने काल में अविभाज्य एवं सामूहिक रूप से उपभोगयोग्य समझी जाने वाली वस्तुओं पर भी वैयक्तिक अधिकार स्वीकृत किया जा चुका था।

**विभाग में पुत्रों का समान अधिकार**--विभाग की व्यवस्था प्रारम्भ होने पर सब पुत्रों के अधिकार तुल्य नहीं थे। पहले कुछ स्थानों में तथा कुछ आचार्यों के मत में ज्येष्ठ पुत्र को ही दायाद माना जाता था (आप० २।१४।६) यह स्पष्ट है कि दूसरे पुत्रों को यह व्यवस्था स्वीकरणीय नहीं रही होगी। दूसरी अवस्था में ज्येष्ठ पुत्र को बंटवारे के समय अन्य पुत्रों की अपेक्षा अधिक भाग दिया गया (मनु ९।११२)। मनु के समय तक ज्येष्ठ पुत्र तथा दूसरे पुत्रों में विभाग के समय समान भाग लेने का संघर्ष चल रहा था। अतः उस ने इस विषय में विरोधी व्यवस्थाएं की। (९।१०५-६ व ९।१५६)। १४ वें अध्याय में इस विषय की विस्तार से विवेचना होगी, यहां इतना कहना पर्याप्त है कि विज्ञानेश्वर ने ११वीं शती ई० में सब पुत्रों में समान रूप से विभाग की व्यवस्था को हिन्दू परिवार में सर्वमान्य सिद्धान्त बनाया।

**विभाग की प्राचीनता**--उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि मध्ययुग तक हिन्दू समाज में विभाग की विस्तृत व्यवस्थाएँ व सिद्धान्त स्वीकृत हो चुके थे। किन्तु यह समझना भारी भ्रम होगा कि इस से पहले विभाग का नियम प्रचलित नहीं था, पैतृक सम्पत्ति का बंटवारा नहीं होता था। वैदिक काल में हमें पिता द्वारा विभाग के स्पष्ट संकेत उपलब्ध होते हैं (ऋ० १।७०।५, २।१३।४, १०।५।७, अथर्व० १८।३।४३)। तैत्तिरीय संहिता (६।१५।१०।१-२) में यह कहा गया है कि मनु ने अपने पुत्रों में दाय का विभाग किया। ऊपर हमने दायविभाग के क्रमिक विकास की जिन अवस्थाओं का उल्लेख किया है, उनमें पहली दो अवस्थाएं अत्यन्त प्राचीन एवं प्रागैतिहासिक युग की दशायें हैं। वैदिक काल से हमें विभाग के संकेत मिलते हैं, धर्मसूत्रों में हमें इस विषय की व्यवस्थायें स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती हैं।

**विभाग की प्रशंसा**--विभाग की व्यवस्था न केवल प्राचीन है, अपितु शास्त्र-

---

पुस्तक भी अविभाज्य है। वैजयन्ती ने इसके युक्तिपूर्वक विभाग का उल्लेख किया है--पुस्तकमपि समं विभाज्यम्। विषमं पर्यायेणाध्येतव्यम्। न तु द्वेधा कार्यं स्वरूपनाशापत्तेः (धर्मकोश २।१२०६)

कारों द्वारा बहुत प्रशंसित है। वे इसे धर्म को बढ़ाने वाला मानते हैं। गौतम सब से पुराना धर्मसूत्र लेखक है, उसने स्पष्ट शब्दों में यह घोषणा की है कि विभाग में धर्म की वृद्धि होती है (विभागे तु धर्मवृद्धिः० २८।४)। उस ने यह नहीं बताया कि विभाग द्वारा धर्मवृद्धि किस प्रकार होती है; किन्तु बाद के शास्त्रकार और और टीकाकार इस पर भी प्रकाश डालते हैं।

मनु ने लिखा है—'भाई इकट्ठे होकर रहें अथवा धर्माचरण की कामना से पृथक् होकर रहें, पृथक् रहते हुए धर्म क्रियाओं की वृद्धि होती है; अतः पृथक् होना या बंटवारा करना धर्मानुकूल (धर्म्य) है[१५]। मेधातिथि ने इस श्लोक की टीका करते हुए धर्मवृद्धि का अभिप्राय इस तरह स्पष्ट किया है—'संयुक्त परिवार में किसी व्यक्ति को स्वेच्छापूर्वक धन के व्यय का अधिकार नहीं होता, ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ अपने धन से ही किए जाते हैं; अतः अविभाग या संयुक्तावस्था में इन यज्ञों के न किये जाने से धर्म की वृद्धि नहीं होती। किन्तु यदि विभाग हो जाय और सब का अपनी सम्पत्ति पर पूर्ण स्वत्व हो, तो जहां पहले एक परिवार में एक यज्ञ होता था, वहां पांच भाइयों के अलग होने पर पांच घरों में यज्ञ होंगे। एक यज्ञ के स्थान पर पांच यज्ञ किये जायंगे और इस प्रकार धर्म की वृद्धि होगी'। कुल्लूक के समय (११५०-१३००) तक हिन्दू समाज से अग्निष्टोम आदि बड़े बड़े कर्मकाण्डप्रधान यज्ञों की प्रथा उठ चुकी थी, इनके स्थान पर पञ्च महायज्ञ प्रचलित थे। अतः वह कहता है कि पहले यदि एक घर में देवयज्ञ, ब्रह्मयज्ञ, बलिवैश्वदेवयज्ञ और अतिथियज्ञ होते थे तो विभाग से वे अधिक घरों में होने लगते हैं, इसलिए विभाग धर्मवृद्धि के लिए होता है[१६]।

मेधातिथि ने पूर्वोक्त श्लोक की व्याख्या में एक बड़ा मनोरञ्जक प्रश्न उठाया है। यदि बंटवारे द्वारा धर्म की वृद्धि होती है तो क्या अविभाग या संयुक्त परिवार प्रथा धर्म वृद्धि में बाधक है? ऐसा होने से अविभाग क्या अधर्म है? यदि विभाग धर्म हो तो अविभाग अधर्म होना चाहिए। किन्तु मेधातिथि संयुक्त परिवार की परिपाटी को अधर्म मानने के लिए तय्यार न था। समाज में चिरकाल से प्रचलित व्यवस्था को नवीन तथा क्रान्तिकारी विचारों के समर्थक भले ही अधर्म कहें, किन्तु टीकाकार उसे अधर्म नहीं मान सकते। अतः मेधातिथि ने

---

१५. मनु० ९।१११ एवं सह वसेयुर्वा पृथग्वा धर्मकाम्यया। पृथग्विवर्धते धर्मस्तस्माद्धर्म्या पृथक्क्रिया॥ कुल्लूक की टीका—यस्मात्पृथगवस्थाने सति पृथक् पृथक् पञ्चमहायज्ञाद्यनुष्ठानधर्मस्तेषां वर्धते तस्माद्विभागक्रिया धर्मार्था।

विभाग को धर्म मानते हुए, अविभाग को अधर्म न मानने के लिए लम्बी चौड़ी युक्ति परम्परा का आश्रय लिया है[१६]। संक्षेप में उस की युक्तियों का अभिप्राय यह है–'यह ठीक है कि अविभाग में ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ नहीं होते, किन्तु उनके न करने से कोई अधर्म या दोष उत्पन्न नहीं होता; क्योंकि दोष वहीं पैदा होता है, जहां अधिकारी एवं समर्थ होते हुए भी ( यज्ञों का ) अनुष्ठान न किया जाय। अविभाग में परिवार की सामूहिक अग्नियों पर व्यक्ति का कोई पृथक् अधिकार नहीं है, अतः वे यज्ञ करने के अधिकारी नहीं हैं। अधिकारी न होने से यज्ञ न करने में कोई दोष नहीं है, अतः अविभाग अधर्म नहीं है'। बृहस्पति ने भी मनु का अनुमोदन करते हुए कहा एक पाक से ( एक स्थान पर भोजन पकने के कारण संयुक्त परिवार में ) रहते हुए भाइयों की पितृपूजा, देवपूजा, व ब्राह्मणों की पूजा एक ही स्थान पर होती है; किन्तु विभक्त होने पर वह पूजा घर घर होने लगती है[१७]। व्यवहारार्थ समुच्चय ( पृ० १४५ ) में यही श्लोक देवल के नाम से उद्धृत हैं। गौतम, मनु, बृहस्पति, और देवल का समर्थन करते हुए व्यास कहता है कि भाईयों के विभक्त होने पर उन के धर्म की वृद्धि होती है[१८]।

धर्मशास्त्रों द्वारा प्रशंसित विभाग के सम्बन्ध में यहां सामान्य सिद्धान्तों की विवेचना होगी। इसमें विभिन्न विषयों का क्रम विज्ञानेश्वर के अनुसार रखा गया है; उस ने दाय भाग की अवतरणिका में लिखा है[१९] कि यहां इस विषय का निरूपण करना चाहिए कि किस समय, किस वस्तु का, किस प्रकार और किन व्यक्तियों द्वारा विभाग किया जाना चाहिए। यहां इसी क्रम के अनुसार क्रमशः विभाग का काल, विभाग की वस्तु, विभाग का प्रकार, तथा विभाग

---

१६. मेधा० मनु० ९।१११ स्वेच्छाविनियोज्यत्वाभावान्निरपेक्ष्य स्वद्रव्यसाध्येषु ज्योतिष्टोमादिष्वसम्भवात्तत्सिद्धयर्थोऽयं न्यायप्राप्तो विभाग उच्यते।

१७. बृह० ( अप० २।११४, स्मृच २५९ ) एकपाकेन वसतां पितृदेव द्विजार्चनम्। ...एकं भवेद्विभक्तानां तदेव स्यात् गृहे गृहे ॥

१८. व्यास० ( अपरार्क २।११४ ) भ्रातृणां जीवतोः पित्रोः सहवासो विधीयते। तदभावे विभक्तानां धर्मस्तेषां विवर्धते ॥ मि० नारद दाय भाग ३७।

१९. मिता० २।११४ इदमिह निरूपणीयम्। कस्मिन्काले कस्य कथं कैश्च विभागः कर्त्तव्यः।

के अधिकारियों का तथा अन्त में बंटवारे के बाद पुनः संयुक्त होने अर्थात् संसृष्टता का वर्णन होगा।

**विभाग का काल**—प्राचीन सूत्र एवं स्मृतिकारों तथा टीकाकारों में बंटवारे के काल के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद था। यह विविध प्रदेशों में प्रचलित विभिन्न रिवाजों का परिणाम था, संभवतः इसीलिये एक ही शास्त्रकार अनेक प्रकार की व्यवस्थायें करता है, इन से पुत्र और पिता के बीच विभाग के अधिकार के सम्बंध में हुए संघर्ष पर भी सुन्दर प्रकाश पड़ता है। इस विषय में शास्त्र तीन प्रकार के कालों या अवस्थाओं का निर्देश करते हैं—(१) पिता की मृत्यु के बाद (२) पिता के जीवन काल में उसकी इच्छा से (३) पिता के जीवित रहते हुए उस की इच्छा के विरुद्ध। पहली अवस्था में पिता के मरने पर ही पुत्रों को विभाग का अधिकार था। दूसरी दशा में पिता की इच्छा से तथा उस के बूढ़ा होने पर विभाग को न्याय्य समझा गया और तीसरी अवस्था में पुत्रों को पिता की इच्छा के विरुद्ध भी विभाग का अधिकार प्राप्त हुआ।

**पहली अवस्था**—यद्यपि पिता द्वारा पुत्रों में संपत्ति का बंटवारा करने के संकेत हमें वैदिक काल से उपलब्ध होते हैं (ऋ० १।७०।५, तै० सं० ३।१।९।४), किन्तु इसे अच्छा नहीं समझा जाता था। सब से पुराने धर्मसूत्रकार गौतम ने यह विधान किया था कि पुत्र पिता की मृत्यु के बाद ही पैतृक द्रव्य (रिक्थ) का विभाग करें[२०]। हारीत ने स्पष्ट शब्दों में अर्थ सम्बन्धी विषयों में पुत्र की परतन्त्रता की घोषणा की[२१]। शंख ने न केवल पिता के किन्तु माता के जीवित रहते हुए भी पुत्रों को अस्वतन्त्र माना[२२]। वह कहता है कि पिता की मृत्यु के बाद ही पैतृक सम्पत्ति (रिक्थ) का विभाग होता है, पिता के जीवित रहते हुए पुत्र रिक्थ को न बांटें[२२]। कौटिल्य ने भी इसी पक्ष की प्रबल पुष्टि की है[२३]।

---

२०. गौ० ध० २८।१ उर्ध्वं पितुः पुत्राः रिक्थं विभजेरन्।

२१. हारीत० (दा० पृ० २३.....व्यक० पृ० १४०, स्मृच पृ० २५६) **जीवति पितरि पुत्राणामर्थादाननिसर्गाक्षेपेष्वस्वातन्त्र्यम्॥ आक्षेप का अर्थ अपराध करने पर नौकरों को झिड़कना है।**

२२. ( अप० २।११४ ) **अस्वतन्त्राः पितृमन्तः, मातरि अप्येवमवस्थितायाम् अतउर्ध्वं रिक्थविभागो, न जीवति पितरि पुत्रा रिक्थं विभजेरन्।**

२३. **कौ० ३।५ अनीश्वराः पितृमन्तः स्थितपितृमातृकाः पुत्राः। तेषामूर्ध्वं पितृतो दायविभागः पितृद्रव्याणाम्।**

मनु, याज्ञवल्क्य और नारद भी इस व्यवस्था का समर्थन करते हैं[२४]।

**दूसरी अवस्था**--प्राचीन सूत्रों तथा स्मृतियों द्वारा एक स्वर से अनुमोदित उपर्युक्त व्यवस्था, वैदिक काल से प्रचलित पिता के जीवित रहते हुए सम्पत्ति के विभाग की परिपाटी का अन्त नहीं कर सकी। वस्तुतः वह प्रथा इतनी बद्ध-मूल थी कि उसे कुछ अपवादों और शर्तों के साथ उपर्युक्त शास्त्रों को स्वीकार करना पड़ा। प्रायः सभी स्मृतिकार पिता के जीवनकाल में उस की इच्छा से किये गये विभाग को बुरा नहीं मानते। पिता के अशक्त होने तथा व्याधि आदि से ग्रस्त होने पर भी विभाग की अनुमति देते हैं। अनेक व्यवस्थापक यह शर्त भी रखते हैं कि माता की रजोनिवृत्ति के बाद विभाग के होने में कोई दोष नहीं है।

इसका कारण यह है कि यदि इस समय से पूर्व विभाग किया जायगा तो बाद में नए दायाद उत्पन्न होने पर सम्पत्ति के पुनर्विभाग की आवश्यकता पड़ेगी; किन्तु यदि विभाग उस अवस्था में किया जाय, जब माता की रजोनिवृत्ति से नए दायादों के जन्म की संभावना भी निवृत्त हो चुकी हो तो पुनर्विभाग की कोई आवश्यकता नहीं रहेगी। किन्तु इस अवस्था में यह विभाग पिता की इच्छा के विरुद्ध नहीं होना चाहिए।

गौतम (२८।२) पिता के जीवित रहते हुए तथा उसकी इच्छा होने पर तथा माता की रजोनिवृत्ति होने पर विभाग की अनुमति देता है[२५]। उस के समय में पुत्र पिता की इच्छा के भी विरुद्ध विभाग कर लेते थे, इसकी सूचना इस वचन से मिलती है कि जो पुत्र पिता की इच्छा के विरुद्ध विभाग करें, उन्हें श्राद्ध में निमन्त्रित न किया जाय[२६]। इस से स्पष्ट है कि किस प्रकार पिता की इच्छा के विरुद्ध भी विभाग की घटनाएं गौतम के समय अर्थात् ६०० ई० पू० में होती थी। उस ने इनकी निवृत्ति करनी चाही। यद्यपि वह पिता की मृत्यु के बाद विभाग के सामान्य नियम का समर्थक था, पर प्रचलित प्रथा के बल का अनुभव करते हुए पूर्वोक्त दशाओं में उसने पिता के जीवन काल में विभाग की अनुमति प्रदान की।

---

२४. मनु ९।१०४ ऊर्ध्वं पितुश्चमातुश्च समेत्य भ्रातरः समम्। भजेरन्पैतृकं रिक्थमनीशास्ते हि जीवतोः। याज्ञ० २।११७--विभजेरन् सुताः पित्रोरूर्ध्वं रिक्थमृणं समम्, मि० नारद १६।२।

२५. गौधर्म सूत्र २८।२ निवृत्ते रजसि मातुर्जीवति चेच्छति।

२६. वहीं १५।१६ पित्रा चाकामेन विभक्तान्।

अन्य शास्त्रकारों ने भी अपवाद रूप से कुछ विशेष अवस्थाओं में पिता के जीवन काल में विभाग की व्यवस्था को स्वीकार किया। बौधायन (२।२।८) ने कहा कि पिता के जीवित रहते हुए भी उसकी अनुमति से दाय विभाग हो सकता है[२७]। शंख लिखित इसी शर्त का स्पष्टीकरण करते हुए कहता है कि पिता की इच्छा के विरुद्ध पैतृक सम्पत्ति का विभाग नहीं होता[२८]।

नारद ने पिता के जीवित रहते हुए विभाग की शर्तों का कुछ विस्तार से उल्लेख किया है 'माता की रजोनिवृत्ति होने पर, बहिनों का विवाह हो जाने पर, पिता में रमण की इच्छा समाप्त होने तथा पिता की द्रव्य विषयक इच्छा समाप्त होने पर (उपरत स्पृह) होने पर, पिता के जीवित रहते हुए विभाग हो सकता है[२९]'। इन चार शर्तों में से पहली शर्त तो पुरानी ही थी और उसका उद्देश्य ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है। दूसरी शर्त का प्रयोजन यह था कि यदि बहिनों के विवाह से पहले विभाग हो जाय तो यह सम्भव है कि भाई उनका विवाह करना अपना कर्त्तव्य न समझें और उन्हें इस कारण कष्ट उठाना पड़े। तीसरी शर्त इस बात को सूचित करती है कि पिता वृद्ध होने पर तथा अपनी पत्नी के निवृत्त रजस्वला होने पर भी, कामेच्छा शान्त न होने पर नई स्त्री से विवाह कर के सन्तान उत्पन्न कर सकता है। अतः यदि पिता के कामेच्छा से निवृत्त होने से पहिले विभाग होता है तो यह सम्भावना है कि नई सन्तान हो जाने से पुनर्विभाग की आवश्यकता हो। संभवतः पुनर्विभाग के झंझट से बचने के लिए ही नारद ने यह शर्त लगाई। नारद की चौथी शर्त कुछ विचित्र है। विभाग के समय तक पिता की धन विषयक तृष्णा शान्त हो जानी चाहिए। इसका निश्चय करना बहुत कठिन है कि किसी की धन सम्बन्धी स्पृहा का अन्त हो गया है या नहीं। कहा जाता है कि तृष्णा व्यक्ति के जीर्ण होने पर भी तरुण ही बनी रहती है। इस अवस्था में पिता के जीवित रहते हुए विभाग की कभी सम्भावना नहीं की जा सकती। कामेच्छा तथा वित्त विषयक तृष्णा का अन्त बड़ी कठिनता

---

२७. बौधा० सू० २।२।८ पितुरनुमत्या दायविभागः सति पितरि।

२८. (अप० २।११४; व्यक १४० स्मृच २५८, धको० २।११४७) नत्वकामे पितरि रिक्थविभागः।

२९. नारद स्मृति १६।३ मातुर्निवृत्ते रजसि प्रत्तासु भगिनीषु च। निवृत्ते वाऽपि रमणे पितुर्युपरतस्पृहे ॥

से होता है, अतः इन शर्तों का आशय लगभग यही था कि विभाग पिता की मृत्यु के बाद हो। यदि पिता वानप्रस्थी हो या संन्यासी हो जाय तो पिछली दोनों शर्तें पूरी हो जाती थीं और इस अवस्था में पिता के जीवन काल में विभाग सम्भव था। बृहस्पति ने नारद की तरह जटिल शर्तें न रखते हुए केवल माता की रजोनिवृत्ति की ही शर्त रक्खी है[३०]।

**तीसरी अवस्था**—इस में पहले तो पिता की इच्छा के विरुद्ध कुछ विशेष अवस्थाओं में पुत्रों को विभाग का अधिकार दिया गया, फिर सामान्य रूप से पुत्रों को यह अधिकार मिला। कई वार पिता वृद्ध रोगी अथवा विक्षिप्त चित्त हो जाने पर भी अपने अधिकारों का परित्याग करना नहीं चाहता, इस अवस्था में परिवार में कोई बड़ा आदमी न रहने से परस्पर कलह की पूरी सम्भावना हो सकती है, इसे दूर करने का उपाय यह है कि या तो उस परिवार का कोई नया अध्यक्ष बने, जो कलहों का निवारण करे या वे सब अलग हो जांय। पहली अवस्था में शंख लिखित ने ज्येष्ठ पुत्र को कुटुम्ब पालन का गुरुतर भार सौंपा; यदि यह सम्भव न हो तो दूसरी अवस्था में वह पिता के वृद्ध, विपरीतचेता ( विक्षिप्त ) या रोगी होने की अवस्था में पैतृक सम्पत्ति के विभाग की अनुमति प्रदान करता [३१]। शंख लिखित का समय ३००-१०० ई० के बीच में है। अतः यह महत्व पूर्ण परिवर्तन इसी समय के बीच में हुआ होगा।

नारद के समय (४०० ई० ) तक संभवतः पिताओं द्वारा इस अधिकार के दुरुपयोग के उदाहरण बहुत बढ़ चुके थे। अतः नारद ने उपर्युक्त नियमों को बहुत शिथिल किया और कहा कि रोग पीड़ित , गुस्सेबाज, विषयासक्त तथा शास्त्रविरुद्ध कार्य करने वाले पिता को विभाग का कोई अधिकार नहीं [३२]। ५वीं सदी तक ऐसे पिताओं की संख्या बहुत बढ़ चुकी थी और समाज पुत्रों के अधिकार स्पष्ट रूप से स्वीकार कर चुका था। इसी समय पिछली परम्परा के के विरोध में व्यास ने यह व्यवस्था की कि पिता के विरोधी होते हुए भी पुत्रों

---

३०. बृह० ( दा० २६, व्यक० १४१) मातुर्निवृत्ते रजसि जीवतोरपि शस्यते।

३१. शंख० (अप २।११४)न त्वकामे पितरि रिक्थविभागः, वृद्धे विपरीत चेतसि दीर्घरोगिणि वा ज्येष्ठ एव पितृवदर्थान्पालयेदितरेषाम्।

३२. नारद स्मृति १३।१६ व्याधितः कुपितश्चैव विषयासक्तमानसः। अन्यथा शास्त्रकारी च न विभागे पिता प्रभुः॥

को पैतृक सम्पत्ति में विभाग का अधिकार है [33]। इस विधान द्वारा पुत्रों को को पिता के जीवन काल में निरपवाद रूप से विभाग का अधिकार प्राप्त हो गया।

टीकाकारों में विज्ञानेश्वर ने विभाग के तीन काल माने हैं और जीमूतवाहन ने दो। पहले के मतानुसार तीन काल ये हैं—(१) पिता द्वारा बंटवारे की इच्छा पर विभाग होना (२) पिता के द्रव्यनिस्पृह तथा कामेच्छा से रहित होने तथा माता के सन्तानोत्पादन की अवस्था लांघने पर पिता की इच्छा के विरुद्ध पुत्रों द्वारा बंटवारा[34] (३) पिता की मृत्यु पर बंटवारा। मिताक्षरा ने दूसरे काल की पुष्टि शंख के 'अकामे पितरि रिक्थविभागः' के वचन से की, है यह जन्म द्वारा पैतृक सम्पत्ति पर स्वत्व मानने का स्वाभाविक परिणाम था।

जीमूतवाहन विभाग के केवल दो ही काल समझता है (१) पिता के पतित, संन्यासी अथवा मृत होने के कारण सम्पत्ति पर उसका स्वत्व नष्ट होने से पुत्रों द्वारा बंटवारा (२) पिता की इच्छा से बंटवारा [35]। सामान्य रूप से देवल के वचन ( अपरार्क २।११४ ) का आधार मानते हुए वह पैतृक सम्पत्ति के बंटवारे का उपयुक्त समय पिता की मृत्यु के बाद ही समझता है। वह न केवल पिता के अपितु माता के जीवन काल में भी बंटवारे का विरोध करता है[36]।

**विभाज्य वस्तुयें**—विभाग के सम्बन्ध दूसरा विचारणीय प्रश्न यह है कि

---

३३. व्यास अपरार्क २।१२१ में उ०—पैतृकेण विभागार्हाः पुत्राः पितुरनिच्छतः। धर्मकोश २।११८०

३४. या० २।११४ पर मिता०—यदा पितुर्विभागेच्छा स तावदेकः कालः। अपरोऽपि जीवत्यपि पितरि द्रव्यनिःस्पृहे निवृत्तरमणे मातरि च, निवृत्तरजस्कायां पितुरनिच्छायामपि पुत्रेच्छयैव विभागो भवति।

३५. दा० १।४४ तस्मात्पतितत्वनिस्पृहत्वोपरमैः स्वत्वापगम इत्येकः कालोऽपरश्च सति स्वत्वे तदिच्छात इति कालद्वयमेव युक्तम्॥

३६. दा० पृ० ६० एकस्मिन्नपि जीवति विभागो न धर्म्यः किन्तु उभयोरभावे। मि० दायतत्व ( पृ० १७० ) मातरि जीवन्त्यां सोदराणां विभागो न धर्म्यः। यथा शंखलिखितौ रिक्थमूलं हि कुटुम्बमस्वतन्त्राः पितृमन्तो मातुरप्येवमवस्थितायाः।

विभाग किन वस्तुओं का होता है। शास्त्रों में विभाग योग्य (विभाज्य) तथा अविभाज्य वस्तुओं का विशद बर्णन है। यहां संक्षेप से पहले विभाग योग्य और बाद में अविभाज्य वस्तुओं का वर्णन होगा।

**दाय की निरुक्ति**—विभाज्य वस्तु को दाय कहा जाता है। निघण्टु के मतानुसार बांटी जाने वाली पैतृक सम्पत्ति दाय है, नीलकण्ठ ने भी ऐसा ही कहा है[३७]। मनु ने ९।१०३ में तथा नारद ने १६।१ में बंटवारे के प्रकरण को दायभाग का नाम दिया है। मेधातिथि और गोविन्दराज ने मनु ९।१०३ की अपनी टीका में दाय की व्याख्या करते हुए उसे अन्वयागत या वंश परम्परा से प्राप्त धन बताया है। बृहस्पति ने दाय की निरुक्ति की है—पिता पुत्रों को जो धन देता है या पिता द्वारा पुत्रों को दिया जाने वाला अपना धन[३८]। जीमूतवाहन ने इन दोनों में से दीयते वाली दूसरी व्युत्पत्ति का समर्थन किया है (दे० ऊ० पृ० २९१) और पहली व्युत्पत्ति के प्रयोग को गौण माना है। मित्रमिश्र दाय शब्द को यौगिक न मान कर रूढ़ शब्द स्वीकार करता है और जीमूतवाहन की निरुक्ति ठीक नहीं मानता (व्यप्र० ४१२)। पावटे ने इसी आधार पर दाय शब्द का मूल विस्तृत करने का अर्थ देन वाली एक द्रविड़ धातु मानी है। किन्तु दानार्थक दा धातु से दाय का इतना स्पष्ट सम्बन्ध है कि मित्रमिश्र के आधार पर उसे रूढ़ मानना तथा पावटे की कल्पना के अनुसार इसे द्रविड़ शब्द स्वीकार करना उचित नहीं प्रतीत होता।

**दाय का लक्षण**—केवल दाय शब्द की निरुक्ति के सम्बन्ध में ही मतभेद नहीं, अपितु उसके लक्षण के सम्बन्ध में भी तीन विभिन्न पक्ष पाये जाते हैं। पहला मत असहाय और विज्ञानेश्वर आदि का है। विज्ञानेश्वर कहता है कि स्वामी के साथ सम्बन्ध होने के कारण से ही जो धन किसी दूसरे की सम्पत्ति बन जाता वह दाय कहलाता है (पृ.२९१)[३९]। उदाहरणार्थ पुत्र पिता की सम्पत्ति का स्वामी इसी कारण बनता है कि पिता से उसका सम्बन्ध है, अतः पिता की सम्पत्ति दाय है। दूसरा पक्ष भारुचि और अपरार्क का है। वे पहले पक्ष पर दो आपत्तियां करते थे, यदि सम्बन्ध द्वारा प्राप्त सम्पत्ति दाय है तो क्रय द्वारा प्राप्त संपत्ति को

---

३७. निघण्टु (स्मृच २।२५५) विभक्तव्यं पितृद्रव्यं दायमाहुर्मनीषिणः; व्यम० पृ० ९३, असंसृष्टविभजनीयं धनं दायः।

३८. (सवि० ३४४) ददाति दीयते, पित्रा पुत्रेभ्यः स्वस्य यद्धनम्। तद्दा...

३९. पावटे—दायविभाग।

भी दाय कहना चाहिये, क्योंकि उस में भी क्रेता और विक्रेता का सम्बन्ध होता है। किन्तु भारुचि का यह आक्षेप इसलिये ठीक नहीं है कि इस सम्बन्ध के अतिरिक्त यहां खरीदने वाला बेचने वाले को सम्पत्ति का मूल्य भी प्रदान करता है। दाय में मूल्य नहीं दिया जाता, केवल सम्बन्ध से ही स्वामित्व माना जाता है। भारुचि का दूसरा आक्षेप यह था कि यदि सम्बन्ध से ही प्राप्त होने वाली सम्पत्ति दाय है, तो स्त्रियों को भी सम्बन्ध से स्त्रीधन प्राप्त होता है, इस धन या दाय को ग्रहण करने से स्त्रियां दायाद होंगी; किन्तु श्रुति कहती है कि स्त्रियां दायाद नहीं हैं, अतः श्रुति विरोधी होने से यह लक्षण ठीक नहीं है[४०]। भारुचि के ग्रन्थों के उपलब्ध न होने से हम यह नहीं जानते कि वह दाय का क्या लक्षण करता था। तीसरा पक्ष जीमूतवाहन का था। उसने विज्ञानेश्वर के लक्षण में कुछ अन्य शब्दों की वृद्धि की। उसका लक्षण इस प्रकार है——पहले स्वामी के साथ सम्बन्ध के कारण उसके मरने पर जिस सम्पत्ति में स्वत्व प्राप्त होता है, उस सम्पत्ति के लिए दाय शब्द रूढ़ है[४१]। जीमूतवाहन ने पहले स्वामी के मरने का निर्देश इस लिए किया कि वह पिता के मरने पर ही पुत्र का अधिकार स्वीकार करता था। यह उसका विशेष सिद्धान्त था (दे० ऊ० पृ० २९१)

**वर्तमान काल में दाय का स्वरूप**——दाय चाहे उसके स्वामी के मृत होने पर प्राप्त हो या उस के जीवन काल में हो, वह दोनों अवस्थाओं में पैतृक सम्पत्ति ही है। वर्त्तमानकाल में न्यायालयों ने पैतृक सम्पत्ति (Ancestral Property) का यह लक्षण किया है——अपने पिता, पितामह (पिता के पिता) और प्रपितामह से प्राप्त सम्पत्ति ही दाय या पूर्वज सम्पत्ति होती है[४२]।

४०. स० वि० पृ० ३४७ असहायविज्ञानयोगिप्रभृतीनान्तु यत् स्वामिसम्बन्धादेव निमित्तादन्यस्य स्वं भवति तद्दायशब्देनोच्यते इति तन्न सहन्ते भारुअपरार्कप्रभृतय :——...........स्वहेतूनां क्रयादीनां तल्लक्षणसम्भवात्। न च वाच्यमेवकारेण क्रयादयो व्युदस्यन्ते, क्रेतरि दायादो दायं गृह्णातीति लौकिकप्रयोगाभावादिति। तर्हि स्त्रीणां दायानर्हत्वात् 'तस्मात्स्त्रियो निरिन्द्रिया अदायादाः' इति श्रुतेः। स्त्रीधनं दायशब्दवाच्यं न भवतीति तदुत्तरत्र स्फोर्यते।

४१. दा० ३-४ ततश्च पूर्वस्वामिसम्बन्धाधीनं तत्स्वाम्योपरमे यत्र द्रव्ये स्वत्वं तत्र निरूढो दायशब्दः।

४२. मुहम्मद हुसैन ब० किश्वा (१९३७) इं० ए० २५०, लक्ष्मी नरसम्मा ब० रामब्राह्मण इं० ला० रि० (१९५०) म० १०८४; अतरसिंह बनाम ठाकुरसिंह ३५ कल० ११३९ प्रि० कौ०।

इन सम्बन्धियों से अतिरिक्त अन्य सम्बन्धियों से प्राप्त द्रव्य व्यक्ति की पृथक् सम्पत्ति होती है। पहली सम्पत्ति को यदि उत्तराधिकार में कोई व्यक्ति प्राप्त करता है तो उस पर उस के पुत्र, पौत्र व प्रपौत्र का संयुक्त स्वत्व पैदा हो जाता है। जब किसी व्यक्ति को अपने चाचा, भाई, भतीजों, मामा के सम्बन्धियों[४३] नाना आदि से सम्पत्ति प्राप्त हो तो उसे पैतृक सम्पत्ति या दाय नहीं कहा जायगा।

**बंटवारे की सम्पत्ति**—मिताक्षरा सम्प्रदाय में पिता, दादा और परदादा की सम्पत्ति विभाज्य होती है[४४] क्योंकि इस पर पुत्र, पौत्र और प्रपौत्र को जन्म से स्वत्व प्राप्त होता है। याज्ञवल्क्य के मतानुसार यह संयुक्त सम्पत्ति तीन प्रकार की हो सकती है—(१) भूमि, गृहादि अचल या स्थावर सम्पत्ति (२) द्रव्य ( सोना चांदी आदि चल या जंगम सम्पत्ति (३) निबन्ध अर्थात् एक व्यक्ति को किसी अन्य व्यक्ति ( राजादि) संस्था (निकाय, ग्रामादि से) नियतकाल पर मिलने वाली निश्चित राशि[४५]। संयुक्त सम्पत्ति में न केवल पैतृक सम्पत्ति का समावेश होता है, किन्तु कृषि वाणिज्यादि से सब सदस्यों द्वारा मिल कर बढ़ायी गयी सम्पत्ति भी उसका अंग समझी जाती है। (मनु ९।२१५, या० २।१२० )। इस प्रकार मिताक्षरा सम्प्रदाय में केवल दो प्रकार की सम्पत्ति विभाज्य है–(१) अपने जन्म के कारण पिता दादा से प्राप्त होने वाली (अप्रतिबन्ध दाय) (२) सब सदस्यों के संयुक्त प्रयत्न या धन के आधार से कमायी गयी सम्पत्ति। इस में मुख्य रूप से निम्न प्रकार की सम्पत्ति नहीं सम्मिलित होती (१) सप्रतिबन्ध अर्थात् भाई, चाचा आदि से प्राप्त सम्पत्ति ( ३२ म० ८८ ) (२) किसी स्त्री सम्बन्धी से या उसके माध्यम से प्राप्त

---

४३. ३२ म० ८६३, सन्तू बनाम अभय सिंह (१९३१) ला० ७०८

४४. विज्ञानेश्वर ( मिता० १।२२० ) ने पैतृक सम्पत्ति की मर्यादा दादा तक बतायी है, पर मित्रमिश्र ( व्य० प्र० ४६० ) और देवण्णभट्ट ( स्मृच० २।२७९ ) ने इसे परदादा तक माना है—अयं च पुत्राणां विभागःपुत्रपौत्र-प्रपौत्र पर्यन्तः.....पुत्रादीनां त्रयाणामेव पार्वणे पिण्डदानात्। वर्त्तमान न्यायालय पिछला मत ही मानते हैं, दे ऊ० टि० ४२।

४५. या० २।१२१–भूर्या पितामहोपात्ता निबन्धो द्रव्यमेव च। तत्र स्यात्सदृशं स्वाम्यं पितुः पुत्रस्य चैव हि॥ निबन्ध के अर्थ के लिये दे० काणे-हि-ध० ३।५७५ तथा नीचे पृ०

जायदाद, जैसे पिता को परनाना से मिला द्रव्य ( २९ अला० ६६७) । (३) ४ पीढ़ी से ऊपर के पूर्वज की जायदाद ( ३६ बं० ४२४ )। (४) स्वार्जित और वैयक्तिक सम्पत्ति [४६] ।

**पृथक् सम्पत्ति**--संयुक्त परिवार की सांझी सम्पत्ति पर स्वत्व के अतिरिक्त व्यक्ति का अपनी पृथक् सम्पत्ति पर भी स्वामित्व होता है। इस प्रकार की सम्पत्ति अविभाज्य होती है। इसके मुख्य भेद ये हैं—(१) सप्रतिबन्ध दाय—पिता, दादा या परदादा के अतिरिक्त किसी अन्य सम्बन्धी ( भाई, चाचा आदि ) से प्राप्त सम्पत्ति। (२) पैतृक प्रसाद अर्थात् पिता द्वारा प्रसन्नतापूर्वक पैतृक सम्पत्ति में से स्नेहवश पुत्र को दिया हुआ कुछ भाग [४७] (३) पिता द्वारा पुत्रों को प्रीतिपूर्वक दिया हुआ धन[४८]; वर्तमान काल में बम्बई और अलाहाबाद हाईकोर्टों ने ही पिता के ऐसे दान पर पुत्र का स्वत्व माना है ( १० बं० ५२८, ५७९ )। कलकत्ता में इसे पैतृक सम्पत्ति ही माना जाता है (१७ कल० वी० नो० २८० )। (४) मैत्र तथा औद्वाहिक—मित्रों द्वारा अथवा विवाह के समय दिये गये उपहार[४९] (५) नष्ट हुई ऐसी पैतृक सम्पत्ति जिस का उद्धार संयुक्त परिवार की सांझी सम्पत्ति से न किया गया हो। (६) संयुक्त परिवार की सम्पत्ति का लाभ न उठाते हुए कमायी गयी स्वार्जित सम्पत्ति तथा अपनी विद्या से कमाया हुआ द्रव्य—( विद्याधन )।

हिन्दू परिवार में व्यक्ति को उपर्युक्त प्रकार की सम्पत्ति पर स्वामित्व बड़े लम्बे संघर्ष के बाद मिला है। प्रारम्भ में परिवार के सब सदस्यों द्वारा कमायी सम्पत्ति पर पिता की ही प्रभुता मानी जाती थी। मनु (८।४१६) ने भार्या, पुत्र और दास को सम्पत्ति के विषय में परतन्त्र माना है और मध्यकाल में हरदत्त आदि टीकाकारों ने इसका यह अर्थ किया है कि पिता के जीवित रहते हुए पुत्र द्वारा कमाया गया धन पिता का ही होता है (अविभक्तेनार्जितं पितुरेव)[५०]। सम्भवतः इस के बाद दूसरी स्थिति यह थी कि पिता को पुत्र द्वारा

४६. कात्या० स्मृच० २।२७३ में–पैतामहं च पित्र्यं च यच्चान्यत्स्वयमर्जितम्। दायादानां विभागे तु सर्वमेतद्विभज्यते ॥

४७. नारद स्मृति १६।६–शौर्यभार्याधने चोभे यच्च विद्याधनं भवेत्। त्रीण्येतान्यविभाज्यानि प्रसादो यश्च पैतृकः ॥

४८. या० २।१२३–पितृभ्यां यस्य यद्दत्तं तत्तस्यैव धनं भवेत्।

४९. या० १।१८९ मैत्रमौद्वाहिकं चैव दायादानां न तद्भवेत्।

५०. हरदत्त की गौ ध० सू० २८।२९ की टीका।

कमायी सम्पत्ति में पूरा अधिकार तो न रहा, किन्तु उस में से कुछ अंश उसे प्राप्त होता रहा। कात्यायन के कथनानुसार पिता पुत्र की ऐसी सम्पत्ति में दो अंश अथवा आधा हिस्सा लेता है; दाय भाग के मतानुसार पैतृक द्रव्य की सहायता से कमायी सम्पत्ति में अथवा पिता के विद्वान् होने पर पुत्र को उसे स्वार्जित द्रव्य का आधा भाग देना पड़ता था, अन्यथा दो अंश[५१]। किन्तु शनैः शनैः स्वार्जित सम्पत्ति और विद्याधन के विकास से इस स्थिति का अन्त हुआ।

**अविभाज्य द्रव्य**—कुछ वस्तुयें स्वरूपतः न बंटने योग्य होती हैं; विभाग से निरुपयोगी हो जाती हैं। गाड़ी, घोड़े या वस्त्र के टुकड़े करने से वे बेकार हो जाते हैं। इस प्रकार की वस्तुओं में पहने हुए गहने, बनाया हुआ भोजन, कुंआ, वस्त्रादि को सूत्रकारों तथा स्मृतिकारों ने बड़े विस्तार से गिनाया है। इन्हें अविभाज्य बनाने का एक कारण तो यह था कि विभाग से इन की उपयोगिता नष्ट हो जाती थी; इनका खण्डशः बंटवारा संभव न था। दूसरा कारण यह प्रतीत होता है कि प्रारम्भ में यह कम दाम की वस्तुयें थीं, परिवार के विभिन्न सदस्य इन का उपभोग करते थे, यदि एक सदस्य के पास एक वस्तु थी तो दूसरे के पास लगभग उसी मूल्य की अन्य कोई वस्तु होती थी, अतः इस प्रकार विभिन्न सदस्यों के स्वामित्व में रहने वाली वस्तुओं के मूल्य में संतुलन बना रहने से विभाग की आवश्यकता नहीं अनुभव की गयी। किन्तु जब वस्तुओं का मूल्य बढ़ने लगा तो विभाज्य द्रव्यों में भी वृद्धि हुई। इस समय विभाग की प्रवृत्ति भी प्रबल हो रही थी। इन कारणों से अविभाज्य वस्तुओं के बंटवारे के उपाय सोचे गये, बारी बारी से अपने हिस्से के अनुसार इन वस्तुओं का उपभोग करने की व्यवस्था बृहस्पति के समय ( लग० ३००-५०० ई० ) में प्रबल हुई।

हिन्दू परिवार में मुख्य रूप से निम्न प्रकार की वस्तुयें अविभाज्य हैं—(१) ऊपर बताये स्वरूपतः अविभाज्य द्रव्य (२) स्वार्जित सम्पत्ति, विद्याधन और दान वसीयत आदि में प्राप्त तथा पिता, दादा, परदादा से अतिरिक्त संबन्धियों

---

५१. दा० पृ० ४९,५२ में कात्यायन-द्वयंशहरोऽर्धहरो वा पुत्रवित्तार्जनात् पिता। मातापि पितरि प्रेते पुत्रतुल्यांशभागिनी ।। तत्र पितृद्रव्योपघातेन पुत्रार्जितवित्तस्यार्धं पितुः। अनुपघाते तु पितुरंशद्वयम्। यद्वा विद्यादिगुणसम्पन्नस्य पितुरर्धहरत्वं, विद्यादिशून्यस्य जनकतामात्रेण द्वयंशित्वम्।

से मिला धन (३) कुछ विशेष अविभाज्य जमीन्दारियां, राज और वतन, ये सब से बड़े लड़के को मिलती हैं, इन का १४वें अध्याय में वर्णन होगा। शेष प्रकारों के अविभाज्य द्रव्यों का यथाक्रम प्रतिपादन निम्न है।

धर्मसूत्रकारों में सर्वप्रथम गौतम[५२] ने स्वरूपतः अविभाज्य वस्तुओं में कुंए (उदक), योगक्षेम[५३] और उत्सवादि के समय बनाये अन्न तथा स्त्रियों का उल्लेख किया है। स्त्रियों का अभिप्राय परिवार के सदस्यों द्वारा दासी (रखैल) बना कर रखी हुई स्त्रियों से है। शंख ने इसमें निम्न वस्तुओं की वृद्धि की है—घर (वास्तु), पानी भरने का लोहे का बड़ा वर्तन (उदपात्र), (शरीर पर धारण किये) आभूषण, स्त्रियों के पहने हुए कपड़े, पानी के रास्ते[५४]। मनु (९।११९) और विष्णु (१८।४४) इस में घोड़ा, गाड़ी, प्रचार अर्थात् गोचर भूमि को और बढ़ाते हैं[५५]। कात्यायन ने उपर्युक्त सूची में निम्न वस्तुयें और बढ़ायी हैं—(धर्म-

---

५२. गौतम ध०सू० २८।४७-४८——उदकयोगक्षेमकृतान्नेष्वविभागः। स्त्रीषु च संयुक्तासु। दे० गौतम की मिताक्षरा टीका——याश्च स्त्रियो दास्यो भ्रात्रादिषु केनचित्संयुक्ता उपभोगपरिगृहीतास्तास्तस्यैव।

५३. योगक्षेम शब्द (मनु० ९।२१९) विष्णु० (१८।४४) में भी आते हैं। इनके अर्थ के सम्बन्ध में टीकाकारों में निम्न मत हैं——(१) लौगाक्षि (गौमि० २८।४७) के मत में योग पूर्त्त अर्थात् वापी, कूपादि के बनवाने के लिये और क्षेम श्रौत यज्ञों के निमित्त अलग रखा गया धन है (योगः पूर्त्तं क्षेम इष्टा इत्याहुस्तत्वदर्शिनः। अविभाज्ये तु ते प्रोक्ते शयनं चान्नमेव च) (२) विज्ञानेश्वर ने (या० २।११९ की टीका में) प्रजा का कल्याण करने वाले मंत्री, पुरोहितादि को योग और छत्र, चंवर, शस्त्र, जूता आदि जीवन को सुखी बनाने के साधनों को क्षेम माना है। छत्रादि का विभाग नहीं होता (३) विवाद रत्नाकर (पृ० ५०४) ने योग पिता से उत्तराधिकार में प्राप्त धन को और राजा से मिलने वाली वृत्ति को क्षेम बताया है (४) हलायुध नदी के विभिन्न प्रदेशों को जोड़ने वाली नौका को योग और कल्याण का हेतु होने से दुर्ग को क्षेम कहता है (विर० ५०४)। (ङ) देवण्ण भट्ट नेइसे धनी व्यक्ति से निर्वाह के लिये ब्राह्मण को मिलने वाली वृत्ति बताया है (स्मृच० २।२७७)।

५४. (अप० २।११९) न वास्तुविभागो नोदकपात्रालंकारोपयुक्तस्त्रीवाससाम्। अपां प्रचाररथ्यानां विभागश्चेति प्रजापतिः॥

५५. मनु० ९।२१९——वस्त्रं पत्रमलंकारं कृतान्नमुदकं स्त्रियः। योगक्षेम-

कोश खं० २ पृ० १२२८) दस्तावेज़ में चढ़ाया हुआ धन (पत्रनिविष्ट धन), पूजादि धार्मिक कार्य के लिये अलग रखी वस्तुयें, निबन्ध ( निश्चित समय पर कहीं से मिलने वाली निर्धारित राशि)। उशना द्वारा निर्दिष्ट (दे० ऊ० पृ० ३४०) अविभाज्य वस्तुओं में याज्य और क्षेत्र ही नवीन हैं। दायभाग के मतानुसार याज्य का अर्थ यज्ञस्थान, मन्दिर अथवा मूर्त्ति है। क्षेत्र की चार व्याख्यायें की गयी है—— नीलकण्ठ के मतानुसार क्षेत्र तथा वास्तु (घर) के तीन अर्थ हो सकते हैं——(१) धार्मिक कार्य के लिये प्रयोग में आने वाली भूमि, इमारत और गोचर भूमि (२) ब्राह्मण द्वारा दान में प्राप्त की भूमि या घर, यह उसकी क्षत्रिया पत्नी के पुत्र को नहीं मिल सकता (३) भूमि अथवा घर के कम दाम वाला होने पर, उसका नहीं, किन्तु उस की कीमत का बंटवारा होता है। चौथी व्याख्या जीमूतवाहन की है—पिता के जीवित रहते हुए पुत्र द्वारा पारिवारिक भूमि पर बनवाया मकान या बगीचा भाइयों में विभाज्य न होकर, उसके निर्माता को प्राप्त होता है[५६]।

बृहस्पति ने उपर्युक्त अविभाज्य वस्तुओं का भी युक्ति पूर्वक विभाग करने का परामर्श दिया[५७]। यह संभवतः उस के समय अर्थात् ३००-५०० ई० के

---

प्रचारं च न विभाज्यं प्रचक्षते ॥ पत्र का अर्थ प्रायः सभी टीकाकारों ने गाड़ी, घोड़ा ही किया है——जैसे मेधातिथि-पत्रं वाहनं गन्त्री शकटादि, मिता० २।११९ पत्रं वाहनमश्वशिविकादि। प्रचार का अर्थ मेधा० ने गोचरभूमि किया है——प्रचारं यत्र गावश्चरन्ति, मिताक्षरा के मत में यह प्रवेश निर्गम मार्ग है। वैजयन्तीकार पत्र को कर्ज़ का दस्तावेज़ भी मानता है।

५६. व्यम० पृ० १३०——वास्तुक्षेत्रयोरविभाज्यत्वमाहुस्तद्धर्मवास्तु गोप्रचारक्षेत्रादिपरम्। प्रतिग्रहोपात्तयोस्तयोः क्षत्रियादिविभागप्रतिषेधपरं पूर्वोक्तनिषेधात्। अल्पमूल्ययोर्मूल्येन विभागो न स्वरूपतः इत्येवं परं वा। दायभाग पृ० १२३——पितरि जीवति यस्मिन्वास्तौ येन गृहोद्यानादिकं कृतं तत्तस्याविभाज्यं पितुरप्रतिषेधेनानुमतत्वात्।

५७. (अप० २।११९) वस्त्रादयोऽविभाज्या यैरुक्तं तैर्न विचारितम्। धनं भवेत्समृद्धानां वस्त्रालंकारसंश्रितम् ॥ मध्यस्थितमनाजीव्यं दातुं नैकस्य शक्यते। युक्त्या विभजनीयं तदन्यथानर्थकं भवेत् ॥ विक्रीय वस्त्राभरणमृणमुद्ग्राह्य लेखितम्। कृतान्नं चाकृतान्नेन परिवर्त्य विभज्यते ॥ उद्धृत्य कूपवाप्यम्भस्त्वनुसारेण गृह्यते। यथाभागानुसारेण सेतुः क्षेत्रं विभज्यते ॥ एकां स्त्रीं कार-

बीच में प्रबल होने वाले वैयक्तिक स्वत्व और विभाग की प्रवृत्ति को सूचित करता है। वह अपनी व्यवस्था का आरम्भ इस उक्ति के साथ करता है-- "वस्त्रादि को अविभाज्य कहने वालों (मनु, विष्णु आदि) ने ठीक विचार नहीं किया है; क्योंकि धनी व्यक्तियों की सम्पत्ति उनके बहुमूल्य वस्त्रों तथा अलंकारों में निहित होती है। यदि इन (कपड़ों और जेवरों) को संयुक्त सम्पत्ति बनाया जाय तो गुज़ारा नहीं चल सकता, एक ही व्यक्ति को ये वस्तुयें दी नहीं जा सकती, अतः इन का युक्तिपूर्वक विभाग करना चाहिये, अन्यथा वे निरर्थक हो जांयगी। वस्त्र और अलंकार को बेचकर (प्राप्त धन का विभाग करना चाहिये), कर्ज को वसूली के बाद बांटना उचित है (न कि ऋणपत्र के टुकड़े कर के), पकाये हुए भोजन का न बनाये कच्चे अन्न से विभाग उचित है। कुंए, बावड़ी, पानी की नाली (सेतु), खेत का अपने हिस्से के अनुसार उपयोग विभाग है। यदि एक काम करने वाली दासी हो तो अपने अंशानुसार बारी बारी से विभिन्न घरों में उससे काम कराया जाय, , बहुत दासियां होने पर उन का बराबर अंशों में बंटवारा उचित है। दासों के सम्बन्ध में यही विधि है। योगक्षेम से होने वाले लाभ को तुल्य रूप से और प्रचार (गोचर भूमि या रास्तों) को अपने भाग के अनुसार बांटना चाहिये।" कात्यायन ने लगभग बृहस्पति का समर्थन किया; घर, खेत, पशु, घर का सामान (ओखली आदि) भारादि वहन करने वाले बैल, घोड़ा आदि पशु (वाह्य), दुधार पशु (दोह्य) आभूषण और मजदूरों का भी बंटवारा करने को कहा[५८]।

व्यष्टिवाद की प्रवृत्ति अधिक प्रबल होने पर बृहस्पति के युक्तिपूर्वक विभाग का आधुनिक न्यायालयों ने पूरा अनुसरण किया है। बम्बई हाईकोर्ट ने पारिवारिक मूर्त्तियों तथा पूजास्थानों के बारे में यह निर्णय दिया है कि सम्पत्ति में अपने हिस्से के अनुसार, परिवार के विभिन्न सदस्य इन्हें बारी बारी से रख सकेंगे (आ० इं० रि० १९३७ बं० २०२); जहां मूर्त्ति को पूजने का सब सदस्यों को संयुक्त अधिकार था, वहां विभक्त होने पर, उन्हें बारी बारी से पूजा का अधिकार दिया गया है (१४ बंगाल ला रि० १६६)।

---

येत्कर्म यथांशेन गृहे गृहे। बह्व्यः समांशतो देया दासानामप्ययं विधिः ॥ योगक्षेमवतो लाभः समत्वेन विभज्यते। प्रचारश्च यथांशेन कर्त्तव्यः ऋक्थिभिः सदा ॥

५८. (स्मृच २७३) दृश्यमानं विभज्येत गृहं क्षेत्रं चतुष्पदम्। गृहोपस्कर-वाह्याश्च दोह्याभरणकर्मिणः ॥

शास्त्रकार विनष्ट पैतृक सम्पत्ति का अपने प्रयत्न द्वारा उद्धार करने वाले को उस सम्पत्ति पर वैयक्तिक स्वत्व प्रदान करते हैं (मनु ९।२०९, विष्णु १८।४३)। यह चल, अचल दोनों प्रकार की हो सकती है। मिताक्षरा ने शंख के एक वचन के आधार पर पिता द्वारा भूसम्पत्ति का उद्धार करने पर, उसे चौथा हिस्सा ही प्रदान किया है[५९]; किन्तु कात्यायन और बृहस्पति पिता को चल अचल सब तरह की उद्धार की हुई सारी सम्पत्ति पर पूर्ण स्वामित्व प्रदान करते हैं[६०]।

### स्वार्जित सम्पत्ति

उपर्युक्त वस्तुओं को अविभाज्य बनाने के अतिरिक्त वैयक्तिक परिश्रम और योग्यता से उपार्जित सम्पत्ति को भी अविभाज्य माना गया। इसे दो मुख्य भागों में बांटा जा सकता है—(१) विद्याधन (२) अन्य प्रकार की स्वार्जित सम्पत्ति। इन में विद्याधन का विशेष महत्व है। पहले स्वयमुपार्जित द्रव्य का यही रूप स्वीकार किया गया। बाद में इसके आधार पर वैयक्तिक श्रम से उपार्जित अन्य प्रकार की सम्पत्ति भी अविभाज्य मानी गयी। यहां पहले विद्याधन तथा बाद में अन्य प्रकार की स्वार्जित सम्पत्ति के विकास का वर्णन किया जायगा।

**विद्याधन का विकास**—गौतम ने सर्वप्रथम छठी शती ई० पू० में विद्याधन के रूप में स्वार्जित सम्पत्ति को स्वीकार किया[६१] (२८।३१-३२)। विष्णु (१८।४२-४३), कौटिल्य (३।५) मनु (९।२०६, २०८-९), याज्ञवल्क्य (२।११८-९), नारद (१६।७) बृहस्पति (स्मृच० २७६) ने विद्याधन की विविध व्याख्यायें की, कात्यायन (स्मृच० २६४) ने इसके स्वरूप का अन्य सब स्मृतिकारों की अपेक्षा अधिक विस्तार से प्रतिपादन किया। टीकाकारों में विज्ञानेश्वर ने याज्ञवल्क्य की उदार व्यवस्था को संकुचित बनाया; पर जीमूतवाहन ने इस की उदार व्याख्या की। वर्तमान काल में न्यायालयों ने प्रारम्भ में विज्ञानेश्वर की संकीर्ण व्याख्या स्वीकार की, कुछ हाईकोर्टों ने यद्यपि इसका

---

५९. याज्ञ० २।११९ में मिता० में उ०—पूर्वनष्टां तु यो भूमिमेकश्चेदुद्धरेच्छ्रमात्। यथा भागं भजन्त्यन्ये दत्वांशं तुरीयकम्॥

६०. कात्या० (अप० २।१२१)—स्वशक्त्यापहृतं नष्टं स्वयमाप्तं च यद्भवेत्। एतत्सर्वं पिता पुत्रैर्विभागे नैव दाप्यते॥

६१. गौधसू० २८।३१—स्वयमर्जितमवैद्येभ्यो वैद्यः कामं न दद्यात्।

उदार अर्थ किया, तथापि प्रिवी कौन्सिल द्वारा अन्त में संकुचित अर्थ ही ठीक ठहराया गया। इससे बहुत कठिनाई उत्पन्न हुई और इसे दूर करने के लिये १९३० का हिन्दू विद्याधन कानून ( हिन्दू गेन्ज़ आफ लर्निंग एक्ट ) बनाया गया। इस प्रकार गौतम की पहली व्यवस्था के २५०० वर्ष बाद विद्याधन पूर्ण एवं असंदिग्ध रूप से स्वार्जित सम्पत्ति बना।

विद्याधन के अतिरिक्त अन्य प्रकार की स्वार्जित सम्पत्ति के विकास में **तीन अवस्थायें** दृष्टिगोचर होती हैं। **पहली अवस्था** में कमाने वाले को अपने वैयक्तिक परिश्रम से अर्जित सम्पत्ति परिवार को देनी पड़ती थी। मनु की पहले उद्धृत की गयी पुत्र को आर्थिक विषय में परतन्त्र बनाने की व्यवस्था (८।४१६; पृ० ३२७ ) संभवतः इस अवस्था का संकेत करती है। **दूसरी अवस्था** में आंशिक रूप से स्वार्जित सम्पत्ति पर स्वत्व मिलने लगा। वसिष्ठ (१७।४५) ने स्वयमुत्पादित सम्पत्ति में से कमाने वाले को दो अंश देने का विधान किया है। **तीसरी अवस्था** में उसको पूरी स्वार्जित सम्पत्ति पर एक शर्त्त के साथ स्वामित्व दिया गया। यह शर्त्त थी—पैतृक सम्पत्ति का अनुपघात अर्थात् संयुक्त सम्पत्ति को किसी प्रकार की क्षति न पहुँचाना। सभी स्मृतिकारों ने इस शर्त्त का उल्लेख किया है और इसकी उदार अथवा संकीर्ण व्याख्या से स्वार्जित सम्पत्ति का क्षेत्र विस्तृत और संकुचित होता रहा है। १९३० के उपर्युक्त कानून द्वारा पैतृक सम्पत्ति को क्षति न पहुँचाने ( अनुपघात ) वाली शर्त्त को विद्याधन के सम्बन्ध में दूर किया गया और अब ऐसी सम्पत्ति पर कमाने वाले का निर्बाध अधिकार हो गया है। यहां विद्याधन तथा अन्य प्रकार की स्वार्जित सम्पत्ति पर शास्त्रकारों की व्यवस्थाओं का काल क्रम से निर्देश किया जायगा।

सूत्रकारों में गौतम द्वारा विद्याधन को अविभाज्य बनाने तथा वसिष्ठ द्वारा कमाने वाले को स्वार्जित सम्पत्ति में दो हिस्से देने की व्यवस्था का उल्लेख हो चुका है ( पृ० ३४३)। ४ थी शताब्दी ई० पू० में सर्व प्रथम[६२] कौटिल्य ने स्वार्जित सम्पत्ति के उस प्रतिबन्ध का उल्लेख किया, जो अगली तेईस शताब्दियों

---

**६२. इस शर्त का उल्लेख विष्णु ने १८।४२ में इस प्रकार किया है—अनुपघ्नन् पितृद्रव्यं श्रमेण यदुपार्जयेत्। विष्णु यद्यपि प्राचीन सूत्रकार है, किन्तु उसके श्लोकबद्ध अंश की रचना कौटिल्य के अर्थशास्त्र से काफी अर्वाचीन है ( काणे हि० ध० १ ला खण्ड )।**

तक इसे मर्यादित करता रहा। उसके शब्दों में 'पितृद्रव्य की सहायता से न प्राप्त किये गये साधनों से, स्वयं ( अपने श्रम से ) उपार्जित सम्पत्ति अविभाज्य होती है[६३]। शंख ने सम्भवतः इसी युग में स्वार्जित द्रव्य के एक अन्य क्षेत्र में उपार्जक का आंशिक अधिकार स्वीकार किया। 'यदि कोई अपने कुल की छीनी हुई (नष्ट) भूमि का अपनी शक्ति से उद्धार करता है तो उस का चौथाई भाग उद्धार करने वाले को मिलता है'। परवर्त्ती काल में कात्यायन और बृहस्पति ने ऐसी सम्पत्ति पर उसे पूर्ण स्वामित्व प्रदान किया ( दे० ऊ० पृ० ३६० )।

मनु ने स्वार्जित सम्पत्ति के प्रकारों का पिछले सूत्रकारों की अपेक्षा अधिक विस्तार से उल्लेख किया है। ९।२०६ में वह विद्याधन के अतिरिक्त स्वार्जित सम्पत्ति के निम्न तीन भेदों का उल्लेख करता है—(१) मित्रों से प्राप्त धन ( मैत्र)। (१) विवाह में श्वशुर आदि से मिला धन ( औद्वाहिक)। (३) मधुपर्क में ( ऋषि आदि के अतिथि होने पर दे० मनु० ३।११९-२० ) मिला हुआ धन, चारों प्रकार की सम्पत्ति अविभाज्य होती है[६४]। उस ने विद्याधन का स्वरूप नहीं स्पष्ट किया; किन्तु उसका टीकाकार मेधातिथि (९।२०६ ) कहता है कि विद्या के दो अर्थ हैं—अध्ययनादि कर्म (२) शिल्प (कारीगरी)। मनु का स्वार्जित सम्पत्ति का लक्षण पिछले सूत्रकारों की व्याख्या से मिलता है। वह अपने श्रम से और पितृ द्रव्य को क्षति न पहुँचाने हुए कमायी गयी सम्पत्ति को स्वार्जित कहता है[६५]। ९।२०५ में मनु कहता है कि अविद्या अर्थात् कृषि व्यापार गोपालन, नौकरी (मेधातिथि ) आदि से कमाई करने वाले भाइयों के धन का बंटवारा समान रूप से होना है[६६]। पैतृक सम्पत्ति

---

६३. अर्थशास्त्र ३।५—स्वयमर्जितमविभाज्यमन्यत्र पितृद्रव्यादुत्थितेभ्यः।

६४. मनु० ९।२०६—विद्याधनं तु यद्यस्य तत्तस्यैव धनं भवेत्। मैत्रमौद्वाहिकं चैव माधुपार्किकमेव च॥

६५. वही ९।२०८—अनुपघ्नन्पितृद्रव्यं श्रमेण यदुपार्जयेत्। स्वयमीहितलब्धं च तन्नाकामो दातुमर्हति॥ अपरार्क के मतानुसार श्रम का अर्थ है—युद्ध, कृषि आदि कार्य।

६६. वही ९।२०५—अविद्यानां तु सर्वेषामीहातश्चेद्धनं भवेत्। समस्तत्र विभागः स्यादपित्र्यः इति धारणा। मि० गौ० ध० सू० २८।३२, अवैद्याः समं विभजेरन्।

का उद्धार करने वाले को शंख ने चौथा भाग देने की व्यवस्था की थी, मनु ने इस पर कमाने वाले का पूरा अधिकार माना[६७]।

याज्ञवल्क्य स्मृति (२।११८-१९) में मनु से लगभग मिलती जुलती व्यवस्था का उल्लेख है। 'पिता के द्रव्य को क्षति पहुँचाये विना कमाया गया द्रव्य स्वार्जित है।' इस सामान्य लक्षण के बाद इसके भेदों को गिनाया गया है। इनमें मनु की व्यवस्था से यह अन्तर है कि याज्ञ० मधुपर्क वाले धन को अलग नहीं गिनता। यह अतिथि रूप में घर में आये यज्ञ कराने वाले ब्राह्मण और वेद के विद्वान् को मिला करता था[६८]; अतः संभवतः याज्ञवल्क्य इसे विद्या धन के अन्तर्गत समझता है। मेधातिथि ने अपनी मनु टीका (९।२०६) में मनु द्वारा माधुपार्किक के पृथक् उल्लेख की बड़ी वकालत की है। विद्याधन के अतिरिक्त स्वार्जित सम्पत्ति के मनु ने तीन प्रकार बताये थे, याज्ञवल्क्य इन में से मैत्र और औद्वाहिक को यथापूर्व रखते हुए माधुपार्किक के स्थान पर कुल की नष्ट हुई सम्पत्ति के उद्धार उद्धार का उल्लेख करता है। इसे मनु ने पृथक् रूप से बताया था। अतः यह स्पष्ट है कि मनु की तथा याज्ञ० की व्यवस्था में विशेष अन्तर नहीं है।

नारद (१६।६, ७-११) ने विद्याधन के अतिरिक्त अविभाज्य स्वार्जित सम्पत्ति के निम्नभेद बताये—शौर्यधन, भार्याधन, माता से प्रीति पूर्वक दिया गया धन। इन में भार्याधन तो मनु तथा याज्ञवल्क्य के औद्वाहिक धन से मिलता है। शौर्यधन का उल्लेख नवीन है और इस का अर्थ है—युद्ध आदि में वीरता से प्राप्त की हुई सम्पत्ति। विद्याधन के सम्बन्ध में उसने लिखा है—'यदि विद्या उपार्जन करते समय, किसी भाई के कुटम्ब का भरण पोषण दूसरा भाई करता है तो वह अविद्वान् होता हुआ भी विद्याधन में से कुछ भाग प्राप्त करता है[६९]', गौतम आदि पुराने सूत्रकारों ने विद्याधन के सम्बन्ध में विशेष रूप से ऐसे किसी प्रतिबन्ध का उल्लेख नहीं किया था, नारद इस का वर्णन करने वाला पहला स्मृतिकार है। विज्ञानेश्वर ने स्वार्जित सम्पत्ति की संकीर्ण व्याख्या में नारद के इस

६७. वही ९।२०९—पैतृकं तु पिता द्रव्यमनवाप्तं यदाप्नुयात्। न तत्पुत्रैर्भजेत्सार्धमकामः स्वयमर्जितम्॥

६८. मधुपर्क के लिये दे० गौ० ध० सू० ५।२५-२७; मनु० ३।११९-२०

६९. ना स्मृ० १६।१०—कुटुम्बं बिभृयाद् भ्रातुर्यो विद्यामधिगच्छतः। भागं विद्याधनात्तस्मात्स लभेताश्रुतोऽपि सन्॥

वचन को आधार बनाया है ( मिता० २।११८-१९ ) । नारद ने अन्य भाइयों द्वारा विद्याभ्यासी भाई के कुटुम्ब पालन की दशा में ही भाइयों का स्वत्व उसकी कमाई पर माना था; किन्तु बाद में इस नियम को संयुक्त परिवार के व्यय से पलने वाले विद्याभ्यासी भाइयों पर सामान्य रूप से लागू किया जाने लगा और स्वार्जित सम्पत्ति का क्षेत्र संकुचित हो गया ।

बृहस्पति ने पितृदत्त, विद्या, शौर्य और भार्या धनों का उल्लेख किया ( स्मृच पृ० २७६, स्मृचि ३०-३१ ) । इनमें कोई नवीनता नहीं है ।

कात्यायन ने अन्य स्मृतिकारों की अपेक्षा अधिक विशदता और स्पष्टता के साथ स्वार्जित सम्पत्ति के भेदों का प्रतिपादन किया । सर्वप्रथम उस ने विद्याधन का यह लक्षण किया[७०] —'जो विद्या (अपने माता पिता आदि संबन्धियों से भिन्न ) किसी दूसरे व्यक्ति के अन्न द्वारा पोषण पाते हुए या (माता पिता के कुल से भिन्न ) किसी दूसरे स्थान पर प्राप्त की जाती है, उससे प्राप्त द्रव्य विद्या धन होता है', (मिता० २।११९ ) । उसके मतानुसार विद्याधन के नौ मुख्य प्रकार हैं—(१) 'यदि आप मेरी यह जटिल समस्या हल कर देंगे तो मैं आपको इस के बदले इतना धन दूंगा,—इस प्रकार की शर्त्त होने पर अपनी विद्या द्वारा दूसरे की जटिल समस्या को हल करके प्राप्त किया जाने वाला धन (२) अपने शिष्य से मिला द्रव्य (३) पुरोहित बनने से प्राप्त हुई दक्षिणा (४) शर्त्त न होने पर भी किसी प्रश्न के निर्णय से प्रसन्न व्यक्ति द्वारा दी सम्पत्ति (५) शास्त्र के अर्थ में संदेह उत्पन्न होने पर, उसके निवारण से अथवा वादी-प्रतिवादी के बीच में न्याय करने से मिला धन (६) अपने विशेष शास्त्रीय ज्ञान के कारण मिली हुई विशिष्ट दक्षिणा (७) शास्त्र या विज्ञान के विवाद में जीता हुआ इनाम (८) किसी शास्त्रीय विषय की प्रतियोगिता में अनेक प्रतिद्वन्द्वियों के होते हुए भी अपने प्रकृष्ट अध्ययन से जीता हुआ धन (९) शिल्पों (चित्रकारी, सोने का काम आदि ) से प्राप्त द्रव्य[७१] । कात्यायन को इस बात का

---

७०. (मिता० २।११९ ) परभक्तोपयोगेन विद्या प्राप्ताऽन्यतस्तु यत् । तया लब्धं धनं यत्तु विद्याप्राप्तं तदुच्यते ॥

७१. (अपरार्क० २।११९, स्मृच० २७४) उपन्यस्ते तु यल्लब्धं विद्यया पणपूर्वकम् । विद्याधनं तु तद्विद्यात् विभागे न विभज्यते ॥ शिष्यादार्त्विज्यतः प्रश्नात् संदिग्धप्रश्ननिर्णयात् । स्वज्ञानशंसनाद्वादाल्लब्धं प्राध्ययनाच्च यत् ॥ विद्याधनं तु तत्प्राहुर्विभागे न विभज्यते । शिल्पेष्वपि हि धर्मोऽयं मूल्याद्यच्चाधिकं भवेत् ॥

अवश्य श्रेय है कि उसने विद्याधन के भेदों को विस्तार से बताया; किन्तु उसका विद्याधन का उपर्युक्त लक्षण इतना संकुचित था कि उस से बहुत थोड़े व्यक्ति विद्याधन पर स्वत्व पा सकते थे, क्योंकि बहुत कम व्यक्ति दूसरे के अन्न से पोषण पाते हुए विद्याभ्यास करते हैं ।

कात्यायन ने शौर्य धन का भी अधिक विस्तार से उल्लेख किया है (अप० २।११९ ) —"संशय में पड़ने पर यदि वह कोई काम हिम्मत से करता है और उस का स्वामी उसके कार्य से प्रसन्न हो जाता है तो इस प्रसन्नता तथा शौर्य से प्राप्त धन उसी का होता है । इसी धन का एक भेद ध्वजाहृत भी है"। यह संग्राम में शत्रुओं की सेना को भगा कर और स्वामी के लिये प्राणत्याग कर प्राप्त की जाने वाली सम्पत्ति है[७२] । इनके अतिरिक्त कात्यायन ने वैवाहिक धन (अप० २।११८) और स्त्री धन (स्मृच २७६ ) के अविभाग का उल्लेख किया है । स्मृति चन्द्रिका (पृ० २७५ ) में उसका विद्वान् भाइयों में शौर्य धन के बंटवारा करने का वचन भी मिलता है ।

व्यास ने (स्मृच २७४-७६, धर्म कोश खं०२, पृ०१२३१)ने विद्याधन, शौर्य-धन, स्त्रीधन, पितृदत्त धन के सम्बन्ध में पुरानी व्याख्यायें दोहरायी हैं, किन्तु शौर्यधन के विषय में उस ने एक नये प्रतिबन्ध का उल्लेख किया है। कात्यायन ने विद्याधन के सम्बन्ध में पिता की संपत्ति के उपयोग की शर्त्त लगाकर उस का क्षेत्र संकुचित किया था, व्यास ने इसी प्रकार एक अन्य प्रतिबन्ध से शौर्यधन को मर्यादित कर दिया । 'यदि ( संग्राम में परिवार की संयुक्त सम्पत्ति के) किसी वाहन (घोड़ा, रथ तथा शस्त्र आदि की सहायता लेकर ) शौर्यादि से कोई व्यक्ति कुछ धन प्राप्त करता है तो उसके भाई भी इसमें भागीदार होते हैं; कमाने वाले को दो हिस्से देने चाहियें और शेष भाई समान अंश ग्रहण करने वाले होते हैं"[७३]। इस का अर्थ यह हुआ कि अविभक्त परिवार में घर की तलवार लेकर लड़ने वाले को युद्ध में प्राप्त की सम्पत्ति का अधिकांश भाग भाइयों को सौंप देनाचाहिये,

---

७२. (अप० २।११९) आरुह्य संशयं यत्र प्रसभं कर्म कुर्वते। तस्मिन्कर्मणि तुष्टेन प्रसादः स्वामिना कृतः ॥ तत्र लब्धं तु यत्किंचित् धनं शौर्येण तद्भवेत् । ध्वजाहृतं भवेद्यत्तु विभाज्यं नैव तत्स्मृतम् ॥ संग्रामादाहृतं यत्तु विद्राव्य द्विषतां बलम् । स्वाम्यर्थे जीवितं त्यक्त्वा तद्ध्वजाहृतमुच्यते ॥

७३. वहीं २।११९—साधारणं समाश्रित्य यत्किंचिद्वाहनायुधम् । शौर्यादिनाप्नोति धनं भ्रातरस्तत्र भागिनः। तस्य भागद्वयं देयं शेषास्तु समभागिनः॥

क्योंकि उस ने अपने कुटुम्ब की तलवार का प्रयोग किया है। इस बात का कोई महत्व नहीं था कि उसने अपने प्राण संकट में डाले, अपने कौशल से शत्रु दल को परास्त किया; पर सारा महत्व इस बात का था कि तलवार उसकी अपनी थी या घर की। स्वार्जित सम्पत्ति की व्यवस्था समाज में सर्वमान्य हो चुकी थी, उस का अपलाप असंभव था, किन्तु उसे नापसन्द करने वाले शास्त्रकार ऐसे प्रतिबन्धों से उसे अन्यथासिद्ध कर रहे थे। ऊपर वसिष्ठ की स्वार्जित सम्पत्ति में कमाने वाले को दो अंश देने की व्यवस्था का उल्लेख हो चुका है (पृ० ३४३), अब व्यास ने वही विधान शौर्य धन के सम्बन्ध में किया।

ऐसी संकुचित व्यवस्थाओं का प्रधान कारण संयुक्त परिवार प्रथा को अक्षुण्ण बनाये रखने की भावना थी। पहले यह बताया जा चुका है कि नारद के समय (लग० १००-४०० ई०) तक विभाग की व्यवस्था का प्रचलन काफी बढ़ चुका था। उस समय पहले नारद ने और बाद में कात्यायन ने परिवार से भरण पोषण पाने की शर्त्त लगाकर विद्याधन का क्षेत्र नामशेष कर दिया[७४]। इसके अनुसार केवल ऐसे अनाथ बच्चे विद्याधन के अधिकारी हो सकते थे, जो स्वयं अपने व्यय की व्यवस्था करते हों। व्यास ने शौर्य धन को इसी प्रकार मर्यादित किया। स्वार्जित संपत्ति का अर्थ वैयक्तिक सम्पत्ति थी, इस के विस्तार से संयुक्त परिवार के विघटन की आशंका थी। आज कल स्वार्जित संपत्ति इस में बहुत सहायक सिद्ध हो रही है, उस समय भी संभवतः ऐसा हुआ होगा; अतः स्वार्जित सम्पत्ति के विभिन्न भेदों के सम्बन्ध में अब यह शर्त्त लगायी जाने लगी कि पारिवारिक सम्पत्ति का उन में कोई उपयोग नहीं होना चाहिये।

**टीकाकार और स्वार्जित सम्पत्ति**—मध्यकालीन टीका एवं निबन्ध लेखकों के सामने स्मृतिकारों की स्वयं कमाये धन के विषय में विभिन्न व्यवस्थायें थीं; एक ओर इसकी याज्ञवल्क्य द्वारा की गयी उदार व्याख्या थी और दूसरी ओर कात्यायन और व्यास के संकुचित लक्षण। इन्होंने अपने प्रदेश में प्रचलित रिवाजों के अनुसार जिस पक्ष को अपनी दृष्टि से समयोपयोगी और लोकानुकूल समझा,

---

७४. इस शर्त्त को लगाने का एक कारण भाइयों की ईर्ष्या भी हो सकती है। शायद इसीलिये कात्यायन ने विद्याधन का समान अथवा अधिक विद्या रखने वाले भाइयों में बंटवारा करने को कहा है—नाविद्यानां तु वैद्येन देयं विद्याधनात्क्वचित्। समविद्याधिकानां तु देयं वैद्येन तद्धनम्॥ दा० पृ० १०८ में उद्धृत।

उपर्युक्त वचनों की उस पक्ष के अनुसार व्याख्या की। यहां केवल श्रीकर, विज्ञानेश्वर और जीमूतवाहन के मतों का ही निर्देश किया जायगा।

श्रीकर (लग० ८००-१०५० ई० ) के ग्रन्थ इस समय उपलब्ध नहीं होते किन्तु जीमूतवाहन ने दायभाग में नामोल्लेख पूर्वक[७५] उसके मत का जिस प्रकार प्रबल खण्डन किया है, उससे प्रतीत होता है कि उस का पक्ष बहुत महत्व रखता था (दा० पृ० ११४-२१, १२३-२५)। दायभाग की आलोचना से यह स्पष्ट है कि श्रीकर किसी व्यक्ति के एक परिवार में पलने पाने पर, उसके विद्याधन पर उस परिवार का अधिकार मानता है। दा० पृ० १२३-२५ से यह भी ज्ञात होता है कि इसे संकुचित बनाने का एक यह भी रूप था कि विद्याधन का अर्थ विद्या के पढ़ाने से मिला धन ही किया जाय, इससे यज्ञ करने से मिली दक्षिणा आदि के ऊपर कात्यायन द्वारा बताये गये (पृ० ३६४) विद्याधन के अनेक भेद बिल्कुल निरर्थक हो जाते थे; इस से अध्यापन से प्राप्त धन के अतिरिक्त सारा धन विभाज्य हो गया। दायभाग ने इस मत की कड़ी आलोचना की।

विज्ञानेश्वर ने याज्ञवल्क्य की स्वार्जित सम्पत्ति की उदार व्यवस्था को अपने व्याख्या कौशल से संकुचित बनाया। याज्ञ० ने २।११८ में पितृद्रव्य के अविरोध (अक्षति) से कमायी सम्पत्ति को स्वार्जित कहा है। विज्ञानेश्वर इस विशेषण को स्वार्जित सम्पत्ति के आगे बताये गये मैत्रादि तीनों रूपों के साथ जोड़ता है[७६]। विश्वरूप की टीका से हमें यह ज्ञात होता है कि विज्ञानेश्वर से पहले भी इस प्रकार का विचार रखने वाले कई टीकाकार थे; किन्तु विश्व० इन की व्याख्या को सही नहीं मानता था[७७]। उसकी मुख्य युक्ति यह थी कि पिता के द्रव्य के अविरोध की शर्त को स्वार्जित सम्पत्ति के सब रूपों के साथ नहीं जोड़ा जा सकता, कुछ के साथ इस की कोई संगति नहीं बैठती,

---

७५. दायभाग ८—तदयमर्थो यया कयाचिद्विद्यया यल्लब्धमर्जकस्यैव तत् नेतरेषां, प्रदर्शनार्थं तु कात्यायनेन विस्तरेणोक्तं श्रीकरादिभ्रमनिरासार्थम्।

७६. मिताक्षरा २।११८-१९, पितृद्रव्याविरोधेन यत्किंचितस्वयमर्जितम्, इति सर्वशेषः। अतश्च पितृद्रव्याविरोधेन यन्मैत्रमर्जितम् ..... इति प्रत्येकमभिसम्बध्यते।

७७. याज्ञ० २।११८ पर विश्व०—अन्ये तु मैत्रादिकमेव पितृधनानुपघातार्जितमविभाज्यमिच्छन्ति, सामान्यविशेषोपसंहृतिन्यायात्। तत्तु सामान्यद्रव्यसाध्यत्वात् विवाहस्यायुक्तमेव।

जैसे विवाह में प्राप्त धन का किसी भी हालत में पैतृक सम्पत्ति का विरोध नहीं हो सकता, क्योंकि विवाह पर, सब भाइयों के लिये परिवार के सामान्य द्रव्य से ही व्यय किया जाता है, अतः इसे पितृद्रव्य का विरोधी कहना ठीक नहीं है। विज्ञानेश्वर ने सम्भवतः विश्वरूप आदि के आक्षेपों को ध्यान में रखते हुए स्वार्जित सम्पत्ति के सब भेदों में पितृद्रव्य का उपयोग कैसे हो सकता है, यह बड़े विस्तार से दिखाया है। 'मित्र से पाए हुए धन के बदले में प्रत्युपकार के रूप में यदि पिता की सम्पत्ति में से कोई हिस्सा दिया जाता है तो इस प्रकार का मैत्रधन विभाज्य है। आसुरादि विवाहों में कन्या के पिता को जब कुछ धन दिया जाय तो इस प्रकार के विवाहों में प्राप्त धन पर सब भाइयों का अधिकार हो जाता है। पुत्र यदि पिता के द्रव्य का उपयोग करते हुए कुल की खोई हुई सम्पत्ति का उद्धार करता है, तो वह सम्पत्ति भी सब दायादों में विभक्त होनी चाहिए। पिता की सम्पत्ति के व्यय से प्राप्त की गई विद्या से जो धन प्राप्त किया जाता है, उस पर भी प्राप्त करने वाले का वैयक्तिक स्वत्व नहीं है[७८]। विज्ञानेश्वर अपनी संकुचित व्यवस्था में इतनी दूर तक चला गया है कि वह दान तक का धन विभाज्य मानता है[७९]। वह अपनी इस व्याख्या को कात्यायन तथा नारद के पूर्वोक्त श्लोकों से पुष्ट करता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि बंगाल के धर्मशास्त्री इस विषय में उदार थे। जीमूतवाहन ने जितेन्द्रिय और बालक के स्वार्जित सम्पत्ति विषयक मत अपने पक्ष के समर्थन में उद्धृत किये हैं और स्वयं बड़े विस्तार से स्वार्जित सम्पत्ति

---

७८. वहीं--तथा च पितृद्रव्याविरोधेन प्रत्युपकारेण यन्मैत्रम्, आसुरादि विवाहेषु यल्लब्धम्, तथा पितृद्रव्यव्ययेन यत्क्रमायातमुद्धृतं तथा पितृद्रव्य-व्ययेन लब्धया विद्यया यल्लब्धं, तत्सर्वं सर्वैर्भ्रातृभिः पित्रा च विभाजनीयम्।

७९. वहीं--तथा पितृद्रव्याविरोधेनेत्यस्य सर्वशेषत्वादेव पितृद्रव्य-विरोधेन प्रतिग्रहलब्धमपि विभाजनीयम्। विज्ञानेश्वर ने पितृद्रव्य में पिता से ही नहीं, किन्तु माता से भी प्राप्त सम्पत्ति का उल्लेख किया है--मातापित्रोर्द्र-व्याविनाशेन यत्स्वयमर्जितम्। इसके अनुसार माता से प्राप्त सम्पत्ति भी उसके मतानुसार बंटवारे में आनी चाहिये, किन्तु आधुनिक न्यायालयों ने इस संकुचित व्याख्या को न मानते हुए माता और नाना आदि से प्राप्त द्रव्य को उसे पाने वाले की पृथक् सम्पत्ति माना है ( २७ म० ३०० फु० बैं०, ४५ बं० ३२३ )।

को मर्यादित करने वाली युक्तियों का खण्डन किया है। पहले उस ने श्रीकर के तर्कों की धज्जियां उड़ाई हैं—"यदि घर में भोजन द्वारा ही पैतृक सम्पत्ति का उपघात होता हो तो धन कमाने की प्रत्येक दशा में ऐसा होगा, क्योंकि शरीर भोजन के विना जीवित नहीं रह सकता और शरीर जीवित न रहने पर धन का उपार्जन नहीं हो सकता, इसलिए धन कमाने के प्रत्येक उपाय में (घर में भोजन करने से) पैतृक द्रव्य का नाश होगा। जब यह स्थिति है तो 'पितृद्रव्य के अविनाश' का विशेषण लगाना निरर्थक है (क्योंकि इस तरह पैतृक सम्पत्ति का नाश तो प्रत्येक अवस्था में होता है)। अतः इस विशेषण के अनर्थक हो जाने से यह प्रतीत होता है कि यहां खाने पीने के उपभोग में व्यय किये गये धन के अतिरिक्त अन्य धन के उपघात का ही उल्लेख है"[८०]। इसके बाद जीमूतवाहन कहता है कि घर में रहने वाला घर के भोजन का उपयोग करेगा, किन्तु यह उस के धनार्जन में पितृद्रव्य का उपघाती (विरोधी) नहीं माना जा सकता। वह विश्वरूप की पूर्वोक्त व्याख्या से अपने पक्ष का समर्थन करता है और अपने मन्तव्य को इस उदाहरण से पुष्ट करता है कि माता पिता पुत्र के उपनयन तथा विवाह पर बहुत अधिक व्यय करते हैं 'किन्तु उपनयन के समय व्रत और भिक्षा से तथा विवाह में सम्बन्धियों से प्राप्त धन (परिवार का) साधारण धन नहीं बनता, क्योंकि वहां धन प्राप्त करने की इच्छा से उस का व्यय नहीं किया गया।' तदनन्तर वह इसी उदाहरण के आधार पर स्वार्जित सम्पत्ति की यह कसौटी बनाता है—"अत एव धन प्राप्त करने के उद्देश्य से (परिवार की) साधारण सम्पत्ति के उपयोग से कमाया हुआ धन ही साधारण अर्थात् विभाज्य होता है[८१]।

---

८०. दाय भाग पृ० ११४-१२१ तदा जन्मत आरभ्य भोजनं विना शरीरावस्थितेरभावात् नार्जनं सम्भवतीति सर्व एव धनोपायः पितृद्रव्यविनाशेन स्यात्, अतोऽनुपघ्नन् पितृद्रव्यमिति विशेषणं न स्यादिति। यतो विशेषणानर्थक्यादेव भक्षणाद्युपभोगोपयुक्तधनोपघातादन्यस्यैवोपघातादिरूपस्य वचनार्थत्वात्।

८१. वहीं—अतएव पुत्रोपनयनविवाहयोः सोत्सुकसव्ययपितृकृतबहुतरधनव्ययेऽपि न व्रतभिक्षादिलब्धस्य वैवाहिकस्य वा साधारण्यं धनप्रेप्सया धनव्ययस्याकृतत्वात्। तस्माद्धनोद्देशेनैव साधारणधनोपाधातेनार्जितंसाधारणं नान्यदिति सिद्धम्।

विद्याधन के क्षेत्र को संकुचित करने वाले इस का अर्थ केवल अध्यापन से प्राप्त धन करते थे। जीमूतवाहन ने ऐसा पक्ष मानने वाले निबन्धकारों के नाम का निर्देश न करते हुए उनके मत का उल्लेख तथा खण्डन किया है। सम्भवतः श्रीकर का यही मत था। जीमूतवाहन ने विद्याधन के विस्तृत अर्थ को पुष्ट करने के लिए कई तर्क दिये हैं। पहले तो उसने कात्यायन द्वारा निर्दिष्ट विद्याधन के भेदों का विस्तार से उल्लेख किया है और इसका उपसंहार करते हुए यह कहा है–"जुये से भी दूसरे को जीत कर जो धन प्राप्त किया जाता है, उसे दूसरे व्यक्ति नहीं बांट सकते"। उस का मतलब यह है कि धन चाहे किसी विद्या से प्राप्त हो, वह कमाने वाले (अर्जक) का ही है, दूसरों का नहीं। यह बात दिखाने के लिए कात्यायन ने (विद्याधन के स्वरूप को) विस्तार से कहा है[८२]। जीमूतवाहन की इस व्याख्या से यह स्पष्ट है कि वह इसमें सब प्रकार की कलायें सम्मिलित करता है।

यह स्पष्ट है कि जीमूतवाहन का मत बहुत युक्तियुक्त है।

**वर्तमान युग में स्वार्जित सम्पत्ति**––ब्रिटिश युग के आरम्भ में न्यायालयों ने स्वार्जित सम्पत्ति के सम्बन्ध में पितृद्रव्य की व्यय विषयक जीमूतवाहन की उदार व्याख्या को छोड़ कर विज्ञानेश्वर की संकुचित व्याख्या स्वीकार की। उदाहरणार्थ एक व्यक्ति ने पेशवाओं के दीवान के रूप में ३० लाख रु० से अधिक की जागीर प्राप्त की; प्रिवी कौंसिल के निर्णय के अनुसार यह जागीर उसकी स्वार्जित सम्पत्ति नहीं; किन्तु परिवार की सम्मिलित सम्पत्ति समझी गई, क्योंकि उस व्यक्ति को बचपन में संयुक्त परिवार की सम्पत्ति से शिक्षा मिली थी, यद्यपि यह प्रारम्भिक शिक्षा से अधिक नहीं थी[८३]। वास्तव में यह एक विचित्र निर्णय था। प्रिवी कौंसिल के अध्यक्ष लार्ड ब्रूम ने यद्यपि इस में निचली अदालतों के फैसलों को पुष्ट किया; किन्तु यह भी स्वीकार किया उन्हें अपने निर्णय में कोई विश्वास नहीं है। पर विज्ञानेश्वर का 'पितृद्रव्यव्ययेन लब्धया विद्यया यल्लब्धं, तत्सर्वं सर्वैः भ्रातृभिः पित्रा च विभजनीयम्' का वाक्य प्रमाण मानते हुए कोई दूसरा फैसला कैसे हो सकता था? बम्बई हाईकोर्ट ने एक वकील की कमाई हुई

---

८२. **वही–द्यूतेनापि परं निर्जित्य यल्लब्धं तत्सर्वमविभाज्यमितरैः। तदयमर्थो यया कयाचिद् विद्यया यल्लब्धमर्जकस्यैव तत् नेतरेषां प्रदर्शनार्थं तु कात्यायनेन विस्तरेणोक्तं श्रीकरादिभ्रमनिरासार्थम्।**

८३. **लक्ष्मण बनाम मल्हार राव ५ बी० रि० ६७ प्रि० कौ०।**

सम्पत्ति को स्वार्जित न मान कर विभाज्य माना[८४]; क्योंकि उसे परिवार के व्यय से ही शिक्षा मिली थी। मद्रास हाईकोर्ट ने एक नर्त्तकी की आमदनी को विभाज्य माना, क्योंकि उसने नृत्य और गायन की शिक्षा परिवार के व्यय से प्राप्त की थी।

पर यह स्थिति देर तक नहीं रही। बाद में अदालतों ने सामान्य और विशेष शिक्षा में भेद स्वीकार किया। यदि विशेष शिक्षा परिवारिक सम्पत्ति द्वारा प्राप्त की जाती थी तो उस से प्राप्त सम्पत्ति विभाज्य थी; अन्यथा वह स्वार्जित सम्पत्ति मानी जाती थी। एक ज्योतिषी ने परिवार में रह कर सामान्य शिक्षा प्राप्त की, तदनन्तर ज्योतिष सीखी और उस से सम्पत्ति कमाई, उसका यह धन स्वार्जित माना गया[८५]। फौज को सामान देने वाले एक ठेकेदार[८६] एक सब जज[८७] व पब्लिक वर्क्स विभाग के एक ओवरसियर[८८] द्वारा प्राप्त की गई सम्पत्ति उपर्युक्त कारण से स्वार्जित मानी गई। इस सम्बन्ध में न्यायालयों के दृष्टिकोण में परिवर्तन का उल्लेख करते हुए प्रिवी कौंसिल ने अपने एक निर्णय में लिखा था कि विद्याधन के सम्बन्ध में कुछ परिवर्त्तन तो टीकाकारों द्वारा हुए हैं और कुछ न्यायालयों द्वारा; ये विभाज्य धनों की श्रेणी को सीमित करने की दिशा में हुए हैं। पहले विभाज्य सम्पत्ति का आधार शिक्षा काल में पारिवारिक द्रव्य से पोषण माना जाता था, बाद में यह उससे शिक्षा पाने के रूप में परिवर्त्तित हुआ और अन्त में शिक्षा को विशेष शिक्षा तक सीमित कर दिया गया; वर्तमान रूप में स्वार्जित सम्पत्ति के निर्णय का यही आधार है[८९]।

वर्तमान युग में कानून, डाक्टरी आदि के अनेक नए पेशे बन गये हैं। विज्ञानेश्वर ने तथा मध्यकाल के अन्य निबन्धकारों ने इतने जटिल पेशों की कल्पना नहीं की थी और उन की व्यवस्थाएँ वर्तमान युग में अपर्याप्त सिद्ध हो

---

८४. मंछा बनाम नरोत्तमदास ६ ब० हा० रि० ( अपील विभाग १ (६)) ।

८५. दुर्गा बनाम गणेश ३२ अला० ३०५

८६. लक्ष्मण बनाम देवी प्रसाद २० अला० ४३५

८७. सोम सुन्दर बनाम गंग विसान २८ म० ३८६

८८. लछमन बनाम जमना वाई ६ बं० २२५

८९. गोकुलचन्द बनाम हुक्मचन्द २ ला० ४० प्रि० कौ० ।

रही थीं। परिवार के व्यय से डाक्टरी या कानून की शिक्षा प्राप्त करने वाला व्यक्ति विशेष शिक्षा प्राप्त करता था, उपर्युक्त निर्णयों के अनुसार उसकी कमाई हुई सम्पत्ति विभाज्य होनी चाहिए। प्रिवी कौंसिल ने एक मामले में इण्डियन सिविल सर्विस के एक व्यक्ति की कमाई को विभाज्य माना, क्योंकि वह इसी उद्देश्य से विलायत भेजा गया था और वहां सात वर्ष तक वह अपने परिवार द्वारा भेजे व्यय से अपना निर्वाह करता रहा था[९०]। इस अभियोग के निर्णय में न्यायाधीशों ने इस बात पर विशेष रूप से बल दिया कि इस विषय के हिन्दू कानून में कई प्रकार के विरोधी नियम उत्पन्न हो गये हैं। सामान्य शिक्षा (ज्ञान) और विशेष शिक्षा (विज्ञान) में भेद करना बड़ा कृत्रिम और अस्वाभाविक है। वर्तमान समय में ज्ञान से प्राप्त सम्पत्ति अविभाज्य है, किन्तु विज्ञान से प्राप्त सम्पत्ति विभाज्य है। दोनों अवस्थाओं में एक संयुक्त परिवार का सदस्य कुछ सीमा तक अपने परिवार की सम्पत्ति का ऋणी है। पहली अवस्था में उसने परिवार से भरण पोषण पाया है और इस से पुष्ट होकर वह परिश्रम करने में समर्थ हुआ है; किन्तु विशेष शिक्षा में, वह इस के साथ साथ एक कला में भी कुशल हुआ है। एक मन्दबुद्धि अंशहर के विद्याभ्यास करने पर, सफल न होने पर भी उस की कमाई तो विभाज्य है; किन्तु विना शिक्षा पाए स्वाभाविक रूप से किसी किसी पेशे में निष्णात होने पर उसकी कमाई स्वार्जित सम्पत्ति है। इस भेद में व्यक्ति की नैसर्गिक बुद्धि एवं योग्यता का कोई ध्यान नहीं रखा गया। वास्तव में सम्पत्ति का उपार्जन शिक्षा के स्वरूप पर इतना निर्भर नहीं है जितना अर्जक की बुद्धि और परिश्रम पर; अतः शिक्षा और विशेष शिक्षा का भेद अस्वाभाविक है।

प्रिवी कौंसिल द्वारा इस विषय की असन्तोषजनक अवस्था प्रदर्शित होने तथा नई आर्थिक परिस्थितियों के कारण इस सम्बन्ध में कानून को परिवर्तित करने की आवश्यकता अनुभव की गई। श्री मुकुन्दराव जयकर ने केन्द्रीय व्यवस्थापिका परिषद में इस सम्बन्ध में एक प्रस्ताव उपस्थित किया। इस का उद्देश्य यह था कि चाहे किसी प्रकार की शिक्षा क्यों न हो, परिवार को उसे देने में कितनी ही हानि क्यों न उठानी पड़ी हो, इस शिक्षा द्वारा जो द्रव्य उपार्जित होगा, वह अर्जक की वैयक्तिक और अविभाज्य सम्पत्ति होगी। यह प्रस्ताव २५ जुलाई १९३० को ही हिन्दू गेन्ज़ आफ लर्निंग एक्ट (हिन्दू विद्या-

---

९०. गोकुलचन्द्र बनाम हुक्मचन्द्र २ ला० ४० प्रि० कौ०।

धन कानून ) के रूप में पास हुआ । इस की दूसरी धारा द्वारा सामान्य तथा विशेष, प्रारम्भिक या औद्योगिक सभी प्रकार की शिक्षाओं का भेद बिल्कुल समाप्त कर दिया गया; तीसरी धारा द्वारा शिक्षा से उपार्जित सम्पत्ति पर अर्जक का पूरा वैयक्तिक अधिकार मानते हुए कात्यायन और नारद के नियमों को स्पष्ट रूप से रद्द कर दिया गया ।

इस कानून के पास हो जाने से कात्यायन, विज्ञानेश्वर आदि की विद्याधन को संकुचित बनाने वाली व्यवस्था तथा प्रिवी कौन्सिल के इन्हें पुष्ट करने वाले निर्णय रद्द हो गये हैं । अब अपने विद्याधन पर प्रत्येक व्यक्ति को पूरा अधिकार है, वह उस की अविभाज्य स्वार्जित सम्पत्ति है ।

विद्याधन के अतिरिक्त वर्तमान हिन्दू परिवार में निम्न प्रकार की सम्पत्ति स्वार्जित तथा अविभाज्य समझी जाती है ( गौड़—हिन्दू कोड पृ० ३७२ )

(१) तीन पीढ़ी से दूर के किसी पूर्वज से उत्तराधिकार में प्राप्त अथवा किसी सपिण्ड या स्त्री सम्बन्धी से प्राप्त सम्पत्ति । (२) दान या संकल्पपत्र से प्राप्त सम्पत्ति, इस में मित्रों से प्राप्त भेंटें तथा विवाह के समय में सम्बन्धियों द्वारा प्राप्त सभी भेंटें[९१] आ जाती हैं । एक व्यक्ति ने अपने दामाद को एक दुकान दी, उस ने अपने भाई को उस दुकान में नौकर रखा, भाई ने इस दुकान के मुनाफे में साझीदारी चाही । किन्तु न्यायालय ने श्वशुर से प्राप्त भेंट को उस व्यक्ति की स्वार्जित सम्पत्ति मानते हुए भाई के साझीदारी के दावे को स्वीकार नहीं किया [९२] ।

(३) संयुक्त परिवार की सम्पत्ति को हानि पहुँचाये विना प्राप्त की हुई सम्पत्ति । जैसे यदि संयुक्त परिवार का कोई सदस्य अपने जीवन का बीमा कराता है और उसका प्रीमियम अपने वेतन में से देता है तो बीमे से प्राप्त धन उसकी स्वार्जित सम्पत्ति है ।

स्वार्जित सम्पत्ति की विवेचना से यह स्पष्ट है कि वर्तमान काल में हिन्दू गेन्ज़ आफ लर्निंग एक्ट द्वारा स्वार्जित सम्पत्ति का क्षेत्र पहले की अपेक्षा अधिक विस्तृत हो गया है ।

**विभाग की विधि**—अविभक्त परिवार की सम्पत्ति के बंटवारे में विभिन्न

---

९१. शिव गोविन्द बनाम शाम नारायण ७ ना० वै० प्रा० हा० को० रि० ७५

९२. बिहारी बनाम लालचन्द्र २५ वी० रि० ३०७

दायादों का भाग निश्चित करने से पूर्व निम्न बातों के व्यय की व्यवस्था करनी आवश्यक है—पारिवारिक ऋण, पिता द्वारा प्रीति पूर्वक दिये जाने वाले छोट उपहार, संयुक्त कुटुम्ब की सम्पत्ति में से अंश न ग्रहण करने वाले (दाया-नहं) पुरुष तथा स्त्री सदस्यों का भरण पोषण, भाई बहिनों के विवाह का व्यय। पारिवारिक ऋण को विभक्त व्यक्तियों द्वारा चुकाने की बड़ी स्पष्ट व्यवस्था मनु ने की है, कौटिल्य का भी ऐसा विधान है, कात्यायन ऋण के अतिरिक्त पिता द्वारा प्रसन्नता पूर्वक दिये गये दान को भी इस में सम्मिलित करता है और साथ ही लड़कियों के विवाह तथा श्राद्ध आदि आवश्यक कार्यों का व्यय भी संयुक्त सम्पत्ति में से देने की व्यवस्था करता है[९३]।

भाइयों की शादी के व्यय के सम्बन्ध में प्राचीन शास्त्रकारों का यह मत था कि अविभक्त सम्पत्ति से इस का प्रबन्ध होना चाहिये, वर्तमान न्यायालय इस से सहमत नहीं है। बृहस्पति की इस सम्बन्ध में बड़ी स्पष्ट व्यवस्था है—'जिन छोटे भाइयों के (उपनयन विवाहादि) संस्कार न हुए हों, पैतृक सम्पत्ति से उनके संस्कार कराये जाने चाहिये। उससे पहले कौटिल्य ने ऐसी व्यवस्था का उल्लेख किया था। याज्ञ० २।१२४, नारद (२।१३), विश्वरूप (या० २।१२९) भी इसका अनुमोदन करते हैं। मदन पारिजात ने यह लिखा है कि भाइयों और बहनों के विवाह पर्यन्त संस्कार करने के बाद ही बंटवारा करना चाहिये[९४]। यह अधिकार भाइयों तथा बहिनों की शादी तक ही सीमित है,

---

९३. मनु ८।१६६ ग्रहीता यदि नष्टः स्यात्कुटुम्बार्थे कृतो व्ययः। दातव्यं बान्धवैस्तत्स्यात्प्रविभक्तैरपि स्वतः॥ कौटिल्य० ३।५ ऋणरिक्थयोः समो विभागः; कात्या० स्मृच २।२७३ में उद्धृत—ऋणं प्रीतिप्रदानं च दत्त्वा शेषं विभाजयेत्। अपरार्क (पृ० ६४८) द्वारा उद्धृत—कुटुम्बार्थमशक्तेन गृहीतं व्याधितेन वा। उपप्लवनिमित्तं च विद्यादापत्कृतं तु तत्। कन्यावैवाहिकं चैव प्रेतकार्ये च यत्कृतम्। एतत्सर्वं प्रदातव्यम् कुटुम्बेन कृतं प्रभोः॥ नारदस्मृ १६।३२ यच्छिष्टं पितृदायेभ्यो दत्त्वर्णं पैतृकं च यत्। भ्रातृभिस्तद्विभक्तव्यमृणी न स्याद्यथा पिता॥

९४. बृह० स्मृच (पृ० २६९) में उद्धृत—असंस्कृता भ्रातरस्तु ये स्युस्तत्र यवीयसः। संस्कार्या भ्रातृभिश्चैव पैतृकान्मध्यगाद्धनात्। मदन पारिजात पृ० ६४८। विवाहान्त संस्कारैरसंस्कृतानां भ्रातॄणां भगिनीनां च विवाहान्तसंस्कारं कृत्वा पश्चाद्विभागः कर्त्तव्यः।

अन्य शरीकों की सन्तान वैवाहिक व्यय के लिए इस धन की नहीं मांग कर सकती।

वर्त्तमान न्यायालयों ने पहले अपने अनेक निर्णयों में उपर्युक्त सिद्धान्त को स्वीकार किया; किन्तु बाद में उन्होंने इसे नहीं माना। बम्बई हाईकोर्ट ने जयराम ब० नत्थू ( ३१ बं० ५४ ) में यह व्यवस्था की कि पिता पुत्रों की अविभक्त सम्पत्ति का बंटवारा करने से पहले नाबालिग पुत्र के उपनयन, वाग्दान और विवाह के लिये व्यय निकाल लेना चाहिये। मद्रास में भी यही सिद्धान्त माना गया ( ए० ३८ म० ५५६ )। किन्तु बाद में प्रिवी कौन्सिल ( ला० रि० ४९ इं० ए० १६८ ) के एक फैसले के आधार पर बम्बई ( २९ बं० ला० रि० १४१२ ) तथा मद्रास ( ५८ म० १२६ ) हाई कोर्टों ने इस सिद्धान्त को अस्वीकार किया। वस्तुतः प्रिवी कौन्सिल ने उक्त निर्णय में भाइयों के अतिरिक्त अन्य शरीकों की सन्तान का यह अधिकार नहीं माना था।

**विषम विभाग**––लगभग सभी धर्मसूत्र और स्मृतियां पिता को एक वर्ण की स्त्रियों से उत्पन्न पुत्रों में समान रूप से बंटवारा करने का आदेश देते हैं[९५] इस प्रकार का बंटवारा सम विभाग कहलाता है। किन्तु इस के साथ ही हमें पिता द्वारा मनमाना विभाग करने तथा बड़े पुत्र को विशेष भाग देने के प्रमाण मिलते हैं। इस में कोई संदेह नहीं कि प्राचीन काल में ऐसी प्रथा थी। तै० सं० २।५।२।७ में इस का स्पष्ट संकेत है, बौधायन , मनु आदि शास्त्रकार दोनों प्रकार की व्यवस्था का उल्लेख करते हैं[९६]। आपस्तम्ब संभवतः पहला सूत्रकार है, जिस ने दोनों प्रकार की व्यवस्था का उल्लेख करते हुए सम विभाग का प्रबल समर्थन किया और विषम विभाग का प्रतिपादन करने वाले श्रुति वचनों को

---

९५. कौ० ३।५ जीवद्विभागे पिता नैकं विशेषयेत्। न चैकमकारणान्निर्विभजेत। कात्यायन ( दा० पृ० ५६ ) जीवद्विभागे तु पिता नैकं पुत्रं विशेषयेत्। निर्भाजयेन्न चेवैकमस्मात्कारणं विना। उशना (दा० ६५) समत्वेनैकजातानां विभागस्तु विधीयते।

९६. बौधा० ध० सू० २।२।२।५––मनुः पुत्रेभ्यो दायं व्यभजदिति श्रुतिः। समशः सर्वेषामविशेषात्। वरं वा रूपमुद्धरेज्ज्येष्ठः। तस्माज्ज्येष्ठं पुत्रं धनेन निरवसाययन्तीति श्रुतिः। स्मृच २।२६० में निरवसाययन्ति का अर्थ है––तोष यन्ति प्रसन्न करते हैं। मनु० ९।१५६ में भी यह व्यवस्था है––उद्धारं ज्यायसे दत्त्वा भजेरन्नितरे समम्।

अनुवाद मात्र कहा[९७]। किन्तु उसकी उक्ति से यह स्पष्ट है कि अनेक स्थानों में बड़े लड़के को सोना, काली गौयें तथा भूमि की काली पैदावार देने की परिपाटी थी। मनु (९।११४) सब प्रकार के धनों में से श्रेष्ठ भाग, उत्कृष्ट सम्पत्ति तथा दस पशुओं में से सर्वोत्तम पशु बड़े लड़के को देने का विधान करता है[९८]। गौतम (२८।५) हारीत (विर०पृ० ४७१) आदि शास्त्रकारों ने भी इस प्रकार की व्यवस्थायें की हैं। बड़े लड़के को विशेष अंश (उद्धार) देने के अतिरिक्त, उसे सारी सम्पत्ति का एकमात्र उत्तराधिकारी बनाने का भी आपस्तम्ब (२।६।१४।६), मनु (९।१०५-७) तथा नारद (दायभाग ५) ने

---

९७. आप० धर्मसूत्र २।६।१४।१,६-७, १०-१३ एकधनेन ज्येष्ठं तोषयित्वा।...ज्येष्ठो दायाद इत्येके। देश विशेषे सुवर्णं कृष्णा गावः कृष्णं भौमं ज्येष्ठस्य।....तच्छास्त्रैर्विप्रतिषिद्धम्। मनुः पुत्रेभ्यो दायं व्यभजदित्यविशेषेण श्रूयते। अथापि तस्माज्ज्येष्ठं पुत्रं धनेन निरवसाययन्तीत्येकवच्छ्रूयते। अथापि नित्यानुवादमविधिमाहुर्न्यायविदः सर्वे हि धर्मयुक्ता भागिनः।

९८. सर्वेषां धनजातानामाददीताग्र्यमग्रजः। यच्च सातिशयं किंचिद्दशतश्चाप्नुयाद्वरम्॥ कुल्लूक के मत में यह व्यवस्था ज्येष्ठ पुत्र के गुणवान् तथा शेष पुत्रों के निर्गुण होने की दशा में है। इसके अतिरिक्त मनु ने दो और व्यवस्थायें की हैं--(१) बड़े लड़के को अविभक्त धन का बीसवां भाग और सब द्रव्यों में श्रेष्ठ वस्तु देनी चाहिये, मंझले को ४० वां हिस्सा, छोटे को ८० वां भाग, इन हिस्सों के बाद शेष धन बराबर बांटना चाहिये (९।११२)। (२) ज्येष्ठ पुत्र को दो भाग मिलें, उससे बाद वाले पुत्र को १½ अंश तथा छोटे पुत्रों को एक एक अंश। अग्रज को दो भाग देने का समर्थन वसिष्ठ (१७।४२), नारद० (दा० १३) बृहस्पति (दा० ४२ पृ० स्मृच २६६) ने किया। बृहस्पति ने दो अंश उसी अवस्था में देने को कहा जब बड़ा भाई विद्या तथा गुणों में छोटे भाइयों से बढ़ा चढ़ा हो--जन्मविद्यागुणज्ज्येष्ठो द्व्यंशं दायादवाप्नुयात्। समांशभागिनस्त्वन्ये तेषां पितृसमस्तु यः॥ बृहस्पति ने पिता के जीवन काल में होने वाले विभाग में पिता को भी अपने लिये दो अंश रखने की व्यवस्था की है--जीवद्विभागे तु पिता गृह्णीतांशद्वयं स्वयम्। (स्मृ च० २।२६१ मि० नारद दा० १३), शंख लिखित ने एक पुत्र होने की दशा में ही पिता को यह अधिकार दिया है--स यद्येकपुत्रः स्याद् द्वौ भागावात्मनः कुर्यात् (विर० पृ० ४६५)।

उल्लेख किया है। मनु के मतानुसार बड़े लड़के को यह अधिकार इस लिये दिया गया है कि इससे पिता पितृऋण से मुक्त होता है।

किन्तु मध्ययुग में पुत्रों के विषम विभाग का विरोध किया जाने लगा। हजार वर्ष पहले आपस्तम्ब ने बड़े लड़के को विशेष अंश देने का सर्वप्रथम विरोध किया था, अब कात्यायन और बृहस्पति ने उसे पुष्ट किया। कात्यायन के मत में धर्मानुकूल बंटवारा वही है, जिसमें पिता और भाई अविभक्त संपत्ति का समान रूप से बंटवारा करते हैं; बृह० पिता पुत्र को स्पष्ट रूप से पैतृक द्रव्य में बराबर के हिस्से का अधिकारी (समांशी) बताता है[९९]।

इस समय शनैः शनैः हिन्दू परिवार में विषमविभाग की परिपाटी का लोप हो रहा था, पुत्र को विशेष अंश देने के विरुद्ध भाव इतना प्रबल हो गया कि इसे नियोग के समान प्राचीन काल में प्रचलित तथा शास्त्र प्रतिपादित होने पर भी, वर्त्तमान समय में वर्जित समझा जाने लगा। मनुस्मृति का पहला टीकाकार, मेधातिथि संभवतः इस प्रथा का अन्तिम प्रबल पोषक था[१००]; किन्तु बंटवारे में पुत्र के समानाधिकार की मांग इतनी प्रबल हो चुकी थी, उसे देर तक रोकना संभव न था। विज्ञानेश्वर ने जन्म से पैतृक सम्पत्ति में पुत्रों के स्वत्व की भांति, उनके सम विभाग का निम्न रीति से प्रबल समर्थन किया—'यद्यपि शास्त्रों में विषम विभाग की व्यवस्था देखी जाती है (जैसे, मनु० ९।१०५, ११२, ११६, ११७, या० २।११४); किन्तु इस का पालन नहीं करना चाहिये, क्योंकि यह लोगों द्वारा निन्दित है और याज्ञ० (१।१५६) ने यह व्यवस्था की है

---

९९. कात्या० (स्मृच २।२६० पृ०) सकलं द्रव्यजातं यद्भागैर्गृह्णन्ति तत्समैः। पितरौ भ्रातरश्चैव विभागो धर्म्य उच्यते॥ बृह० (व्यम० द्वारा उ० पृ० ९५) क्रमागते गृहक्षेत्रे पितापुत्राः समांशिनः। पैतृके न विभागार्हाः सुताः पितुरनिच्छया॥

१००. मनु० ९।११२ की टीका में—इयमुद्धारनियोगस्मृतिरतिक्रान्तकालविषया न त्वद्यत्वे। अनुष्ठेये नियतकालत्वात्स्मृतीनामिति केचित्।... तस्मादुद्धारनियोगगोवधस्मृतय उपदिष्टा नानुष्ठेयाः। तदेतदपेशलम्। यहां नियतकाल का अर्थ यह है कि मनु० १।८५ के अनुसार विभिन्न युगों में विभिन्न धर्म होते हैं, जैसे नियोग, लम्बे यज्ञ (सत्र) प्राचीन काल के धर्म थे, वैसे उद्धार (बड़े भाई को अधिक भाग देना) भी प्राचीन युग का धर्म था, वर्त्तमान युग का नहीं। किन्तु मेधातिथि विभिन्न युगों के लिये पृथक् धर्म नहीं स्वीकार करता।

कि धर्मानुकूल होने पर भी लोकनिन्दित कार्य नहीं करना चाहिये, यह स्वर्ग प्राप्ति में सहायक नहीं होता। उदाहरणार्थ, यद्यपि याज्ञ० ने यह विधान किया है (१।१०९) कि वेद के विद्वान् ब्राह्मण के अतिथि होने पर बड़ा बैल या बकरा उसे प्रस्तुत करे; किन्तु जनता द्वारा निन्दित होने पर अब इसका पालन नहीं होता। इसी प्रकार एक अन्य वैदिक वचन में मित्र वरुण के लिए अनुवन्ध्या नामक बांझ गाय को मारने का विधान है, पर जनता द्वारा जघन्य ठहराये जाने से ऐसी गौ का वध नहीं होता। यह कहा गया है—'जैसे, नियोग और अनुवन्ध्या वध की परिपाटी आजकल प्रचलित नहीं है, वैसे ही ज्येष्ठ पुत्र को विशेष अंश (उद्धार) देने का रिवाज भी आजकल नहीं है[१०१]। देवण्णभट्ट के कथनानुसार धारेश्वर ने बड़े बेटे द्वारा बीसवां हिस्सा लेने के (मनु ९।११२) आदि के वचनों का विचार 'लोक द्वारा परित्यक्त होने से' नहीं किया (स्मृच २।२६६) मदनरत्न ने यह कहा कि 'विषम विभाग का प्रतिपादन करने वाले वचन कलियुग से अतिरिक्त काल पर लागू होते हैं, उसने आदिपुराण का एक वचन उद्धृत किया है तथा विज्ञानेश्वर द्वारा उद्धृत 'यथा नियोगधर्मः' का वचन स्मृति संग्रह नामक ग्रन्थ से उद्धृत किया है[१०२]। मित्र मिश्र (व्यवहार प्रकाश पृ० ४४२) आदि परवर्ती निबन्धकारों द्वारा यह सिद्धान्त सर्वमान्य है[१०३]।

---

१०१. या० २।११७ परमिता०—अयं विषमो विभागः शास्त्रदृष्टस्तथापि लोकविद्विष्टत्वान्नानुष्ठेयः अस्वर्ग्यं लोकविद्विष्टं धर्म्यमप्याचरेन्नतु—इति निषेधात्। यथा—महोक्षं वा महाजं वा श्रोत्रियायोपकल्पयेत्—इति विधानेऽपि लोकविद्विष्टत्वादननुष्ठानम्। यथा वा—मैत्रावरुणीं गां वशामनुबन्ध्यामालभेत इति गवालम्भनविधानेपि लोकविद्विष्टत्वादननुष्ठानम्। उक्तं च—यथा नियोगधर्मों नो नानुबन्ध्यावधोऽपि वा। तथोद्धारविभागोऽपि नैव संप्रति वर्त्तते॥ इति। तस्माद्विषमो विभागः शास्त्रदृष्टोपि लोकविरोधाच्छ्रुति विरोधाच्च नानुष्ठेयः इति सममेव भजेरन्निति नियम्यते।

१०२. काणे० हि ध० ३।६२९ पर उ०—एवमादीनि विषमविभागप्रतिपादकानि मन्वादिवचनानि कलियुगव्यतिरिक्तविषयाणि। अतएव कलौ विषमविभागनिषेध आदिपुराणे—ऊढायाः पुनरुद्वाहं ज्येष्ठांशं गोवधं तथा। कलौ पंच न कुर्वीत भ्रातृजायां कमण्डलुम्॥

१०३. कुछ टीकाकारों ने याज्ञ० के उपर्युक्त वचन (अस्वर्ग्यं लोकविद्विष्टं) में लोक का दूसरा अर्थ किया है, क्योंकि वे जनता के हाथ में श्रुति का विरोध

यह इस बात का सुन्दर उदाहरण है कि शास्त्रकार अपनी व्यवस्थाओं को किस प्रकार समयानुकूल बनाया करते थे और उनमें संशोधन किया करते थे; वैदिक विधियों और शास्त्रीय वचनों के होते हुए भी, वे जनता की इच्छा तथा लोक प्रचलित आचार के आगे नतमस्तक होते थे।

बंटवारे के समय अंशों के निर्धारण के सम्बन्ध में निम्न सामान्य नियम उपर्युक्त विवेचन से निकाले जा सकते हैं—(१) अपनी पैतृक सम्पत्ति का पुत्रों में बंटवारा करते हुए पिता और सब पुत्र समान अंश ग्रहण करते हैं, किन्तु यदि पिता अपनी स्वार्जित सम्पत्ति का बंटवारा करता है तो उसे अपने दो हिस्से रख कर, शेष भाग का पुत्रों में सम या विषम अंशों में वितरण का अधिकार है। (२) भाइयों में बंटवारा होने पर सब को समान अंश मिलते हैं। (३) जो पुरुष विभाग में अंश प्राप्त करने का अधिकारी है, उसकी मृत्यु के बाद उसके पुत्रों को अपने पिता के प्रतिनिधि होने के नाते अंश पाने का अधिकार प्राप्त होता है। (४) दो विभिन्न शाखाओं के (चाचा, भतीजा) के व्यक्तियों के दायाद बनने पर उनमें पितृतो विभाग ( Per stirpes ) होता है। (५) पिता की मृत्यु के बाद बंटवारे में पुत्र को विशेष अंश (उद्धार) पाने का सामान्यरूप से कोई अधिकार नहीं है। पिता विषम विभाग नहीं कर सकता ( लक्ष्मण ब० रामचन्द्र ७ इं० ए० १८१ )।

**पुनर्विभाग**—यदि कोई दायाद बंटवारे के समय अनुपस्थित हो तो उसका

---

करने वाली शक्ति नहीं देना चाहते थे। जैसे, विश्वरूप ने लोक का यह अर्थ किया है—लोकं कर्मसाध्यं ये जानन्ति ते लोकविदो मन्वादयः, तैर्द्विष्टं नाचरेत्'। मित्रमिश्र ने लोक का अर्थ युग किया—अत्र लोकपदेन युगमुच्यते। 'अन्यथा धर्मानुकूल तथा स्वर्ग में सहायक ( स्वर्ग्य) बातों में गड़बड़ पड़ जायगी। शास्त्रों का ज्ञान न रखने वाले नीच पुरुषों द्वारा निन्दित होने से कोई कार्य अस्वर्ग्य नहीं होता, क्योंकि वे यज्ञों में अग्नि सोम को बलि दिये जाने वाले पशुओं की हिंसा की निन्दा करते हैं ( किन्तु उन द्वारा निन्दित होने पर भी यह कार्य अस्वर्ग्य नहीं है व्य० प्र० पृ० ४४२)। वस्तुतः यह बाल की खाल उतारना है। शास्त्रकार लोकानुकूल सामाजिक संशोधन के पक्षपाती थे। मनु ने ४।१७६ में 'लोक विक्रुष्ट' धर्म के परित्याग का आदेश दिया है। विष्णुधर्म सूत्र का मत है ( ७१।८४-८५ )–लोक विद्विष्टं च धर्ममपि ( परिहरेत् )

हक मारा नहीं जाता, उसके उपस्थित होने पर पुनर्विभाग द्वारा उसको अंश दिया जाता है। इस सम्बन्ध में बृहस्पति ने सातवीं पीढ़ी तकके वंशज को उसका हिस्सा देने की व्यवस्था की है[१०४], किन्तु वर्तमान न्यायालय १९०८ के मर्यादा कानून ( Law of Limitation ) के अनुसार निश्चित अवधि तक ही उसे यह अंश दिला सकते हैं।

मनु का मत है कि बंटवारा एक बार ही होता है (सकृदंशो निपतति ९।४७ ); किन्तु निम्न अवस्थाओं में विभाग दुबारा भी होता है।

बंटवारे के समय अविभक्त कुटुम्ब की सम्पत्ति का कुछ अंश यदि कोई दायाद छिपाता है, या किसी अन्य कारण से कुछ भाग बंटने से रह जाता है तो इस का बाद में बंटवारा होता है [१०५]। प्राचीन काल में इस प्रकार धोखे से सम्पत्ति छिपाकर किसी अंशाधिकारी को उसके हिस्से से वंचित करना बुरा और राजदण्ड योग्य समझा जाता है था। ऐतरेय० ब्रा० (६।७ ) के शब्दों में हिस्से के हकदार को उसके भाग से वंचित करने वाला व्यक्ति उसे तथा उस के पुत्र और पौत्र को दण्डित या नष्ट करता है ( चयते)[१०६]। मनु (९।२१३) ने ऐसा करने वाले बड़े भाई से उसकी ज्येष्ठता का पद और विशेष अंश छीनने तथा उसे राजा द्वारा दण्डित करने का विधान किया है। टीकाकारों ने इस पर बड़ी मनोरंजक मीमांसा की है। संयुक्त सम्पत्ति को इस प्रकार छिपाने वाला क्या चोर है ? विश्वरूप, जीमूतवाहन, हलायुध और जितेन्द्रिय इस पक्ष के हैं कि वह चोर नहीं है, जो वस्तु दूसरे की हो, उसे लेने में स्तेय दोष होता है, किन्तु अविभक्त सम्पत्ति पर उस का अन्य दायादों के साथ संयुक्त स्वामित्व है, अतः वह चोर नहीं हो सकता। दूसरी ओर मिताक्षरा और मित्रमिश्र उपर्युक्त ऐतरेय ब्राह्मण के वचन तथा मनु की व्यवस्था के आधार पर उसे चोर

---

१०४. बृह० (दा० पृ० १३३) गोत्रसाधारणं त्यक्त्वा योऽन्यदेशं समाश्रितः। तद्वंश्यस्यागतस्यांशः प्रदातव्यो न संशयः ॥ तृतीयः पंचमश्चैव सप्तमो वापि यो भवेत्। जन्मनामपरिज्ञाने लभेतांशं क्रमागतम् ॥ मि० ध० को० २।१५६९

१०५. याज्ञ० २।१२६—अन्योन्यापहृतं द्रव्यं विभक्ते यत्तु दृश्यते। तत्पुनस्ते समैरंशैर्विभजेरन्निति स्थितिः।

१०६. यो वै भागिनं भागान्नुदते चयते वैनं स यदि वैनं न चयतेऽथ पुत्रमथ पौत्रं चयते त्वेवनमिति।

मानते हैं, मीमांसा के एक न्याय (जै० ६।३।२० ) द्वारा उसे अपराधी ठहराते हैं ( दे० याज्ञ० २।१२६ ) । मध्यकालीन टीकाकार कुल्लूक और जगन्नाथ मनु की उक्त व्यवस्था को ज्येष्ठ पुत्र के विशेष अंश के विषय में ही समझते हैं। कात्यायन का मत है कि इस प्रकार सम्पत्ति छिपाने वाले के साथ राजा को जबर्दस्ती नहीं करनी चाहिये, किन्तु सामादि उपायों से उससे इसे प्राप्त करना उचित है ( दा० पृ० २२२ ) ।

**विभाग के प्रमाण**——पहले यह बताया जा चुका है कि विभाग एक विशिष्ट मनोवृत्ति का स्थूल परिणाम है और संकल्पमात्र से हो सकता है। इसके लिये, लिखित कार्यवाही आवश्यक नहीं, मौखिक समझौता ही पर्याप्त है । कई वार ऐसी दशा में विभाग के सम्बन्ध में सन्देह उत्पन्न हो जाता है । प्राचीन शास्त्रकारों ने इस सम्बन्ध में अनेक नियम दिये हैं। अविभक्त परिवार में व्यक्ति की कोई पृथक् सत्ता नहीं होती, अतः वह दान, विक्रय, साक्षी देना जमानत आदि के कार्य नहीं कर सकता, पृथक् रूप से ये कार्य करने वाले को विभक्त ही समझा जाना चाहिये । अतः नारद ने कहा है——साक्षी देना, जमानत देना और दान लेना पृथक् हुए ( विभक्त ) भाई ही करते हैं; अविभक्त नहीं[१०७]। इस के अतिरिक्त धर्म कर्म, चूल्हा (पाक), आय, व्यय, पशु अन्न, घर आदि पृथक् रूप से रखना विभक्त होने का प्रमाण है। जो ये क्रियायें अपने धन से स्वतन्त्र रूप से करते हैं, उन्हें लिखित साक्षी के विना ही विभक्त समझना चाहिये । याज्ञ० ( २।१४९) के मतानुसार विभाग के ये प्रमाण हैं——अपने गोत्र के व्यक्तियों (ज्ञाति) तथा मामा आदि मातृपक्ष के सम्बन्धियों (बन्धुओं) की साक्षी, विभाग का अभिलेख, घरों तथा खेतों पर वैयक्तिक अधिकार[१०८] । इस पर टीका करते हुए मिताक्षरा ने बताया है कि नारद पृथक रूप से खेती करना तथा अलग अलग पंचमहायज्ञादि करना विभाग का प्रमाण समझता है । नारद (१६।१४) और कात्यायन (स्मृच० २।३११) के मत में दस बरस तक पृथक् रहने वाले, पृथक कार्य

---

१०७. नास्मृ० १६।३८-४० दानग्रहणपश्वन्नगृहक्षेत्रपरिग्रहाः । विभक्तानां पृथग्ज्ञेयाः पाकधर्मागमव्ययाः ।। साक्षित्वं प्रातिभाव्यं च दानं ग्रहणमेव च । विभक्ताः भ्रातरः कुर्युर्नाविभक्ताः परस्परम् ।। येषामेताः क्रियाः लोके प्रवर्त्तन्ते स्वऋक्थतः । विभक्तानवगच्छेयुर्लेख्यमप्यन्तरेण तान् ।।

१०८. विभागनिह्नवे ज्ञातिबन्धुसाक्ष्यभिलेखितैः । विभागभावना ज्ञेया गृहक्षेत्रैश्च यौतकैः ।।

करने वाले भाइयों को पैतृक सम्पत्ति की दृष्टि से पृथक समझना चाहिए[१०९] बृहस्पति ने कहा है कि लेखपत्र और साक्षी के अभाव में विभाग का निर्णय अनुमान से किया जाय[११०]।

वर्तमान काल में न्यायालय भोजन, निवास, धर्म कर्म, आय व्यय आदि की दृष्टि से अलग होने को ही विभाग का निर्णायक प्रमाण नहीं मानते, यह सिद्ध करना भी आवश्यक होता है कि ऐसे कार्य पृथक रहने की दृष्टि से ही किये जा रहे हैं[१११]।

### *विभाग के अधिकारी और अंशहर*

संयुक्त परिवार के सभी सदस्य बंटवारे में हिस्सा नहीं प्राप्त करते। यद्यपि एक अविभक्त कुटुम्ब में एक पूर्वज के सभी पुरुष वंशज अपनी स्त्रियों तथा अविवाहित कन्याओं के साथ रहते हैं, किन्तु विभाग की दृष्टि से इस में वही सदस्य अधिकारी समझे जाते हैं, जिनका पारिवारिक सम्पत्ति में स्वत्व जन्म से ही उत्पन्न हो जाता है। ऐसे व्यक्ति तीसरी पीढ़ी तक की पुरुष सन्तान अर्थात् एक व्यक्ति, उसके पुत्र, पुत्र के पुत्र और पुत्र के प्रपौत्र हो सकते हैं। इन सब को विभाग की मांग का अधिकार है। इन के अतिरिक्त परिवार के निम्न सदस्यों को विभाग कराने का अधिकार न होने पर भी, बंटवारा होने पर अपना हिस्सा पाने का हक है—(१) पत्नी (२) माता (३) दादी।

**पुत्र का अधिकार**—मिताक्षरा ने पुत्र को पिता की इच्छा के विरुद्ध भी पैतृक सम्पत्ति का बंटवारा कराने का अधिकार दिया है। उसने बड़े स्पष्ट शब्दों में यह व्यवस्था की है—यद्यपि माता ने सन्तानोत्पादन की अवस्था न लांघी हो, पिता में सम्पत्ति की अभिलाषा हो तथा वह बंटवारा न चाहे तो भी पुत्र की इच्छा से पैतृक सम्पत्ति का विभाग होता है[११२]। अपने मत की पुष्टि उसने मनु०

---

१०९. नास्मृ० १६।४१—वसेयुर्ये दशाब्दानि पृथग्धर्माः पृथक्क्रियाः। विभक्ता भ्रातरस्ते तु विज्ञेया इति निश्चयः॥

११०. स्मृच २।३१० में उ० बृह०—साहसं स्थावरं न्यासः प्राग्विभागश्च रिक्थिनाम्। अनुमानेन विज्ञेयं न स्यातां पत्रसाक्षिणौ॥

१११. जीनू भाई बनाम कृष्णाजी ६ बं० ला० रि० ३५१

११२. याज्ञ० २।१२१ मिता० पर —तथा च सरजस्कायां मातरि सस्पृहे च पितरि विभागमनिच्छत्यपि पुत्रेच्छया पैतामहद्रव्यविभागो भवति।

(९।२०९) से भी की है (या० २।१२१)। आजकल बम्बई के अतिरिक्त मिताक्षरा द्वारा शासित हिन्दू परिवार में पुत्रों को यह अधिकार प्राप्त है। बम्बई हाईकोर्ट ने आपा जी नरहर बनाम रामचन्द्र के मामले (१६ बं० २९) बहुमत से यह निर्णय किया था कि जन्म से पैतृक सम्पत्ति में स्वत्व होने पर भी, पुत्र पिता की इच्छा के विरुद्ध उसके बंटवारे के लिये या उस में हिस्सा पाने के लिये पिता के विरुद्ध दावा नहीं कर सकता। इस मामले में यद्यपि संस्कृतज्ञ न्यायाधीश श्री काशीनाथ त्र्यंबक तैलंग ने अन्य जजों के बहुमत से अपना विरोध प्रकट किया था, उन का पक्ष शास्त्रीय दृष्टि से ठीक था, किन्तु अल्पमत होने से उनकी सम्मति नहीं मानी गयी[११३]।

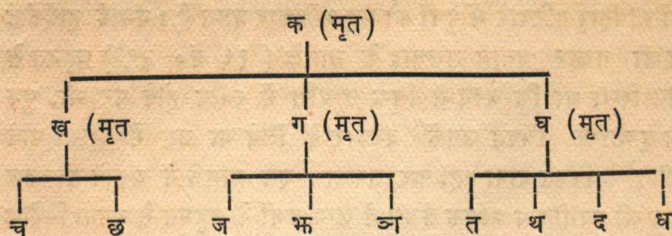
यह स्पष्ट है कि पुत्र का विभाग का अधिकार जन्म द्वारा पैतृक सम्पत्ति में उसके स्वत्व का स्वाभाविक परिणाम था। पिता की इच्छा के विरुद्ध बंटवारा करने वालों को गौतम ने ६०० ई० पू० में श्राद्ध में न बुलाने योग्य ठहराया था (दे० ऊ० पृ० ३४८)। अन्य शास्त्रकारों ने पुत्र के इस अधिकार पर नाना प्रकार के प्रतिबन्ध लगाने चाहे थे (दे० ऊ० पृ० ३४७) डेढ़ हजार वर्ष के विरोध के बाद मिताक्षरा द्वारा पहली बार असंदिग्ध और स्पष्ट रूप से पुत्र को यह अधिकार मिला। विज्ञानेश्वर के बाद मित्रमिश्र ने उसका समर्थन किया और मदन पारिजात (पृ० ६६२) ने विरोध। वर्त्तमान न्यायालयों में केवल बम्बई ही मिताक्षरा का विरोधी है।

**पितृतो विभाग**—यद्यपि पुत्रों को पैतृक सम्पत्ति में समान अंश मिलते हैं, किन्तु उन की मृत्यु हो जाने पर उनके पुत्रों (अर्थात् पौत्रों) को पिता का ही अंश मिलेगा, न कि पुत्रों की भांति समान अंश। मिताक्षरा द्वारा दिये उदाहरणों

---

११३. बहुमत का यह निर्णय पिता के अपने भाइयों तथा पिता के साथ अविभक्त होने की दशा में प्रधान रूप से याज्ञ० २।१२० के आधार पर है, क्योंकि विज्ञानेश्वर ने 'अनेक पितृकाणां तु पितृतो भाग कल्पना', की उपमा में यह कहा है कि पिता के मृत होने पर उस के पौत्रों में सम्पत्ति का बंटवारा उनके पिताओं को मिलने वाले हिस्से के आधार पर होता है। इससे यह अनुमान किया गया है कि पिता के भाइयों से विभक्त होने, पिता के भाई न होने की दशा में अपने पिता के साथ संयुक्त होने पर पोते दादा की सम्पत्ति में हिस्सा नहीं मांग सकते (विभक्ते पितर्यविद्यमानभ्रातृके वा पौत्रस्य पैतामहे द्रव्ये विभागो नास्ति) मि० काणे—हिध० ३।५७०।

को[११४] निम्न तालिका में प्रकट करने से यह बात भली भांति स्पष्ट हो जायगी।




इसमें क के पुत्र तीन अविभक्त भाइयों में से ख के दो पुत्र च छ, ग के तीन पुत्र ज, झ ञ और घ के चार पुत्र त थ द ध हैं, ख ग घ के मृत होने पर जब क की पैतृक सम्पत्ति का बंटवारा होगा तो सम्पत्ति को दायादों की कुल संख्या नौ (२ + ३ + ४) द्वारा समान भागों में नहीं बांटा जायगा, प्रत्युत उन के पिताओं की दृष्टि से तीन अंशों में ही विभक्त किया जायगा, एक अंश ख के दो बेटों में, दूसरा अंश ग के तीन बेटों में तथा तीसरा अंश घ के चार बेटों में बंटेगा। इस प्रकार च को कुल सम्पत्ति का $\frac{१}{६}$ प्राप्त होगा और त को $\frac{१}{१२}$। यह सिद्धान्त इसलिये बना है कि क की सम्पत्ति में च छ, ज झ ञ, त थ, द ध को अपने पिताओं के प्रतिनिधि रूप में हिस्सा प्राप्त हुआ है। इस प्रकार का बंटवारा पितृतो विभाग ( Per stirpes ) कहलाता है । प्रायः सभी शास्त्रकारों ने इसकी व्यवस्था की है[११५]।

विभागके अनन्तर उत्पन्न पुत्रों के अधिकार के सम्बन्ध में प्राचीन स्मृतिकारों ने विभिन्न व्यवस्थायें की थीं। विष्णु (१७।३) और याज्ञवल्क्य (२।१२२) बाद में पैदा हुए पुत्र को अपना अंश देने के लिये पुनः बंटवारा करवाने

---

११४. मिता० २।१२० यदाऽविभक्ता भ्रातरः पुत्रानुत्पाद्य दिष्टं गतास्तदैकस्य द्वौ पुत्रावन्यस्य त्रयोऽपरस्य चत्वार इति पुत्राणां वैषम्ये तत्र द्वावप्येकं स्वपित्र्यमंशं लभेते, अन्ये त्रयोऽप्येकमंशं पित्र्यं, चत्वारोऽप्येकमेवांशं पित्र्यं लभन्त इति।

११५. दे० ऊपर पृ० ३०३। बृह० अपरार्क (पृ० ७२७) द्वारा उद्धृत--समवेतैस्तु यत्प्राप्तं सर्वे तत्र समांशिनः। तत्पुत्रा विषमसमाः पितृभागहराः स्मृताः॥

के पक्षपाती हैं[११६]। गौतम (२८।२९), मनु (९।२१६) नारद (१३।४४), बृहस्पति (मिता० २।१२२) ऐसे पुत्र को केवल पिता का ही हिस्सा देते हैं[११७]; किन्तु यदि पिता अपने विभक्त पुत्रों के साथ पुनः मिल गया है तो वह उनके साथ ही अंश ग्रहण करेगा। मिताक्षरा ने इन विरोधी वचनों का इस प्रकार समन्वय किया है कि पिछले वचन एक सामान्य नियम का प्रतिपादन करते हैं और पहले वचन केवल उस पुत्र तक ही सीमित हैं, जो विभाग के समय गर्भस्थ था, क्योंकि कानून की दृष्टि से पुत्र की सत्ता गर्भ में आ जाने के बाद से ही स्वीकार की जाती है[११८]। मिताक्षरा ने इस सम्बन्ध में वसिष्ठ की पुरानी व्यवस्था का उल्लेख किया है कि गर्भलक्षण स्पष्ट होने की दशा में बंटवारे को प्रसूति पर्यन्त स्थगित रखना चाहिये, यदि इसका ज्ञान न हो तो बाद में पुनः विभाग होना चाहिये। इस बंटवारे को पहले विभाग के बाद हुए आय व्यय का पूरा ध्यान रखते हुए ही किया जायगा। पुत्रों को विभाग कराने का अधिकार मिताक्षरा परिवार में ही प्राप्त है, दायभाग में पिता के जीवित रहते हुए पैतृक सम्पत्ति पर उनका कोई हक़ नहीं है।

अनुलोम विवाहों के पुत्र--हीन वर्ण की स्त्रियों के साथ उच्च वर्ण के पुरुषों का विवाह अनुलोम कहलाता है। प्राचीन काल में इन विवाहों का काफी

---

११६. विष्णु धर्म सूत्र १७।३ पितृविभक्ता विभागानन्तरोत्पन्नस्य भागं दद्युः। या० २।१२२ दृश्याद्वा तद्विभागः स्यादायव्ययविशोधितात् ॥

११७. गौध० सू० २८।३० विभक्तजः पित्र्यमेव, बृह० मिता० द्वारा २।१२२ पर उद्धृत--पुत्रैः सह विभक्तेन पित्रा यत्स्वयमर्जितम्। विभक्तजस्य तत्सर्वमनीशाः पूर्वजाः स्मृताः॥ वर्त्तमान न्यायालय बृहस्पति के इस वचन तथा मिताक्षरा के 'विभागोत्तरकालं पित्रा यत्किंचिदर्जितं तत्सर्वं विभक्तजस्यैव' के अनुसार विभाग के बाद उत्पन्न पुत्र का पिता के विभाग द्वारा प्राप्त अंश तथा स्वर्जित सम्पत्ति दोनों पर अधिकार मानते हैं—दे० नवलसिंह ब० भगवान (१८८२) ४ अला० ४२७

११८. मिता० २।१२२ एतच्च विभागसमयेऽप्रजस्य भ्रातुर्भार्याया-मस्पष्टगर्भायां विभागादूर्ध्वमुत्पन्नस्यापि वेदितव्यम्। स्पष्टगर्भाणां तु प्रसवं प्रतीक्ष्य विभागः कर्त्तव्यः। यथाह वसिष्ठः। 'अथ भ्रातॄणां दायविभागो यश्चानपत्याः स्त्रियस्तासामापुत्रलाभात् इति'। मिताक्षरा की या० २।१२२ की उपर्युक्त व्याख्या से अपरार्क, कुल्लूक, विवाद रत्नाकर, विवाद चिन्तामणि, मदन

प्रचलन था और धर्मशास्त्रों में ऐसे विवाहों से उत्पन्न पुत्रों के अंशों का विस्तार से वर्णन है। मनु (९।१५३) तथा याज्ञ० (२।१२५) की व्यवस्था के अनुसार यदि एक ब्राह्मण की चार वर्णों की चार पत्नियां हों और उनके चार पुत्र हों तो सारी सम्पत्ति दस भागों में बांट कर उसका निम्न प्रकार से विभाग होगा—४ भाग ब्राह्मणी के पुत्र को, ३ भाग क्षत्रिया के, २ भाग वैश्या तथा १ भाग शूद्रा के पुत्र को[११९]। यदि ऊपर के तीन वर्णों की पत्नियों से सन्तान न हों, केवल शूद्रा की ही सन्तान हो तो भी उसे दसवां हिस्सा ही मिलेगा (मनु० ९।१५४ मि० महाभा० १३।४७।२१) आज कल न्यायालयों ने इस पुरानी व्यवस्था को स्वीकार किया है। यदि किसी ब्राह्मण की चारों वर्णों की पत्नियों में से केवल उच्च वर्ण की किसी पत्नी से एक सन्तान हो तो वह पिता की सारी सम्पत्ति का स्वामी बनेगी, यदि एक सन्तान केवल शूद्रा से हो तो वह १/१० सम्पत्ति ही पा सकती है, यदि एक सन्तान उच्च वर्ण की पत्नी से तथा एक शूद्रा से हो तो पहली को ९/१० तथा दूसरी को १/१० सम्पत्ति प्राप्त होगी (नाथ ब० छोटालाल ३२ बं० ला० रि० १३४८)।

**दासीपुत्र**—तीन उच्च वर्णों द्वारा रखैल स्त्री (अपरिणीता दासी) से उत्पन्न पुत्र को प्राचीन काल से पैतृक सम्पत्ति में कोई अधिकार नहीं प्राप्त है, वह केवल भरण पोषण ही पा सकता है। गौतम के शब्दों में शिष्य की भांति आज्ञाकारी होने पर उसे केवल जीवन निर्वाह की वृत्ति पाने का हक है[१२०]। किन्तु शूद्र का रखैल (दासी) से उत्पन्न पुत्र मनु के मत में पिता की अनुमति से उसकी सम्पत्ति का अंशहर हो सकता है। इस विषय की विस्तृत व्यवस्था याज्ञवल्क्य ने की है—'शूद्र द्वारा दासी में उत्पन्न पुत्र पिता की इच्छा से अंशहर होता है। यदि पिता मर जाय तो भाई उसे एक अंश का आधा प्रदान करें, भ्रातृहीन होने पर

---

पारिजात और सरस्वती विलास सहमत हैं दे० झा०—हिन्दू ला इन इट्स सोर्सेज २।१२५-२९, ३४७-५२; विश्वरूप और दीप कलिका असहमत हैं दे० काणे हि० ध० ३।५९७

११९. मनु० ९।१५३ चतुरोंऽशान् हरेद्विप्रस्त्रीनंशान् क्षत्रियासुतः। वैश्यापुत्रो हरेद् द्व्यंशमंशं शूद्रापुत्रो हरेत्॥ मि० बौधा० २।२।२।१०, वसिष्ठ १७।४४, विष्णु स्मृति १८।१-३१ कौ० ३।६, याज्ञ० २।१२५।

१२०. गौतम० २८।२७ शूद्रापुत्रोऽप्यनपत्यस्य शुश्रूषुश्चेल्लभेत वृत्तिमूलमन्तेवासिविधिना।

वह दोहते के अभाव में सारी सम्पत्ति को ले सकता है[१२१]। वर्तमान न्यायालयों ने भी शूद्र के दासी पुत्र को यह अधिकार प्रदान किया है। वह चूंकि 'पिता की इच्छा' से अंशहर है अतः उसे वैध पुत्रों की भांति पैतृक सम्पत्ति में जन्म से स्वत्व नहीं प्राप्त है, वह बंटवारे की मांग नहीं कर सकता (१८ कल० १५१), आजकल विभिन्न अदालती निर्णयों से शूद्र के दासी पुत्र के अधिकारों के सम्बन्ध में श्री काणे (हिध० ३।६०१) ने निम्न परिणाम निकाले हैं—(१) पिता अपनी इच्छा से अपने जीवन काल में उसे वैध पुत्रों के बराबर हिस्सा दे सकता है; किन्तु उसे पिता की जीवित दशा में विभाग कराने का अधिकार नहीं है (४ बं० ३७, ४४-४५, २३ मद्रास १६)। (२) पिता की मृत्यु के अनन्तर शूद्र का दासी पुत्र अन्य वैध पुत्रों के समान दायाद (Coparcener) हो जाता है, अतः उसे विभाग कराने का अधिकार है। (३) विभाग में दासी पुत्र का अंश वैध पुत्र से आधा होता है, यदि एक वैध और एक दासीपुत्र हो पहले को $\frac{3}{4}$ तथा दूसरे को $\frac{1}{4}$ सम्पत्ति मिलेगी। (४) विभाग न होने की तथा वैध पुत्रों के मृत होने की दशा में समांशिता के अन्तिम अतिजीवी (Survivor) होने के कारण उसे सारी सम्पत्ति प्राप्त होगी। (५) याज्ञ० के उपर्युक्त श्लोक में चूंकि पुत्र का ही उल्लेख है, अतः दासीपुत्री को रिक्थ तथा भरण पोषण का कोई अधिकार नहीं है।

**नाबालिग पुत्रों का अधिकार**—प्राचीन काल में सामान्य रूप से शरीकों के बालिग होने पर ही बंटवारा होता था, किन्तु कौटिल्य और बौधायन से यह स्पष्ट है कि उन की नाबालिगी बंटवारे में बाधक नहीं होती थी। अर्थशास्त्र के अनुसार नाबालिग (अप्राप्त व्यवहार) शरीकों को, उन के बालिग होने तक, पारिवारिक ऋण (देय) से रहित उनका अंश उनकी माता के संबन्धियों अथवा गांव के वृद्ध पुरुषों के पास रखना चाहिये, विदेश गये व्यक्ति के लिये भी यही नियम है[१२२]। कात्यायन ने भी ऐसी व्यवस्था की है[१२३]। इससे यह

१२१. या० २।१३३-३४—जातोऽपि दास्यां शूद्रेण कामतोंऽशहरो भवेत्। मृते पितरि कुर्युस्तं भ्रातरस्त्वर्धभागिकम्। अभ्रातृको हरेत्सर्वं दुहितॄणां सुतादृते॥

१२२. अर्थशास्त्र ३।५ प्राप्तव्यवहाराणां विभागः। अप्राप्तव्यवहाराणां देयविशुद्धं मातृबन्धुषु ग्रामवृद्धेषु वा स्थापयेयुराव्यवहारप्रापणात् प्रोषितस्य वा। मि० बौधा० ध० सू० २।२।४२।

१२३. कात्या० (अपरार्क पृ० ८४४-४५)—संप्राप्तव्यवहाराणां विभागश्च विधीयते। पुंसां च षोडशे वर्षे जायते व्यवहारिता॥ शास्त्रकारों में इस

स्पष्ट है कि नाबालिगी में भी उस समय बंटवारा होता था। मित्रमिश्र के कथन से यह स्पष्ट है कि किसी एक व्यक्ति की इच्छा से ही बंटवारा संभव है[१२४]।

वर्तमान न्यायालय भी किसी शरीक की नाबालिगी को बंटवारे में बाधक नहीं समझते, यदि उसे सब शरीकों के बालिग होने तक प्रतीक्षा करने को कहा जाय तो उसका यह अधिकार निरर्थक हो जायगा। विभाग में नाबालिगों के हितों की रक्षा उनके संरक्षकों द्वारा होती है, बंटवारे में यदि उन के साथ कोई अन्याय हुआ हो तो बालिग होने पर वे उस के प्रतिशोध के लिये दावा कर सकते हैं।

---

प्रश्न पर काफी मतभेद है कि बालिग होने की आयु १६ वें वर्ष का प्रारम्भ है या इसका अन्त। कात्यायन, अंगिरा (मिता० ३।२४३) और नारद पहले मत के पक्षपाती हैं; अंगिरा के एक वचन के अनुसार सोलह साल से कम आयु (ऊन-षोडशः) का व्यक्ति बाल है, कात्यायन ने ऊपर वाले श्लोक में सोलहवें वर्ष में व्यक्ति की व्यवहारिता बतलायी है, नारद भी १६ वें वर्ष तक व्यक्ति को बाल कहता है (बाल आ षोडशाद्वर्षात्पोगण्ड इति शस्यते ऋणादान ३५)। किन्तु हरदत्त, विवाद रत्नाकर और वीरमित्रोदय १६वां वर्ष समाप्त होने पर व्यक्तियों को प्राप्त व्यवहार मानते हैं। गौ ध० सू० १०।४८ की टीका में हरदत्त ने ने लिखा है--यावदसौ व्यवहारप्राप्तः षोडशवर्षो भवति। विवाद रत्नाकर (पृ० ५९९) का मत है--आङ अभिविधौ। तेन सप्तदश वर्षात्प्राक्। मित्रमिश्र भी १६ वर्ष पूरा होने पर ही व्यवहारज्ञता (सांसारिक विषयों को समझने की शक्ति) मानता है-षोडशवर्षस्य वार्षिकत्वमाह (व्यप्र० २६३)। आजकल सामान्यरूप से बालिग होने की आयु १८७५ के नवें कानून के अनुसार १८ वर्ष है, किन्तु विवाह, दत्तक पुत्र लेने आदि की दृष्टि से १६ वर्ष की पुरानी हिन्दू व्यवस्था प्रचलित है। बंगाल में १५ वां वर्ष समाप्त होने पर (काली चरण ब० भगवती १० बं० ला० रि० २३१) तथा बम्बई और मद्रास में १६वां वर्ष पूरा होने पर (शिवाजी ब० दातू १२ बं० हा० को० रि० २८१, रीड ब० कृष्ण ९ म० ३९१,३९७) व्यक्ति बालिग होता है।

१२४. वीर मित्रोदय व्यवहार प्रकाश पृ० ४६०-- अत्र च पुत्रेच्छया यो जीवद्विभागो यश्चाजीवद्विभागः स एकेच्छयापि भवत्यविशेषात्।.... अन्यथा तदनुमतिमन्तरेण विभागाभावे तद्धनस्य बन्धुमित्रेषु न्यासविधानमनुपपन्नं स्यात्।

## *विभाग के स्त्री अंशहर*

बंटवारे के समय परिवार के स्त्री सदस्यों के हितों की सुरक्षा के लिये शास्त्रकारों ने अनेक व्यवस्थायें की हैं; इन के अनुसार पत्नी, विधवा, माता दादी और कन्या को निम्न प्रकार के स्वत्व प्राप्त होते हैं।

**पत्नी**—यदि पुत्र पिता के जीवित रहते हुए बंटवारा कराते हैं या पिता पुत्रों से अलग होता है तो याज्ञवल्क्य के अनुसार पत्नी को इस बंटवारे में पुत्र के अंश के समान हिस्सा मिलेगा, यदि अनेक पत्नियां हों तो प्रत्येक का भाग पुत्र के अंश के तुल्य होगा; किन्तु इसमें यह शर्त्त है कि इस प्रकार हिस्सा लेने वाली स्त्रियों के पास पति अथवा श्वशुर से दिया हुआ स्त्रीधन नहीं होना चाहिये, यदि यह हो तो इसे सम्मिलित करते हुए, पुत्र के अंश से आधा ही पत्नी को मिलेगा[१२५]। विज्ञानेश्वर ने यह भी स्पष्ट किया है कि पत्नी को यह अंश पति की इच्छा से प्राप्त होता है, स्वेच्छा से नहीं[१२६]। इस का अर्थ यह है कि पत्नी विभाग के लिये मांग नहीं कर सकती।

आपस्तम्ब के मतानुसार पति पत्नी का विभाग नहीं होता[१२७], अतः हिन्दू पत्नी को विभाग में अंश पाने का उपर्युक्त अधिकार नाममात्र ही है, वास्तविक नहीं। मित्रमिश्र के शब्दों में पति की सम्पत्ति में पत्नी का स्वत्व दूध और पानी की तरह एक हो जाता है[१२८]। इस सिद्धान्त को मानने का परिणाम यह हुआ है कि पत्नी का स्वत्व पति के स्वत्व के साथ जुड़ा होने के कारण पति की मृत्यु के साथ समाप्त हो जाता है। विधवा होने पर, उसे पति की सम्पत्ति का बंटवारा होने पर, पति के जीवित रहते हुए पति को प्राप्त होने वाला अंश नहीं मिलता, केवल भरण पोषण पाने का अधिकार होता है। आगे (पृ० ३९३) यह बताया जायगा कि १९३७ तथा १९३८ के हिन्दू स्त्रियों की सम्पत्ति के

---

१२५. या० २।११५ यदि कुर्यात् समानंशान्पत्न्यः कार्याः समांशिकाः। न दत्तं स्त्रीधनं यासां भर्त्रा श्वशुरेण वा। मिता० दत्ते तु स्त्रीधने अर्धांशं वक्ष्यति —'दत्ते त्वर्धं प्रकल्पयेत् ( या० २।१४८ )

१२६. मिता० या० २।५२ पर-तस्माद्भर्तुरिच्छया भार्याया अपि द्रव्य-विभागो भवत्येव न स्वेच्छया।

१२७. आप ध० सू० २।६।१४।१६ जायापत्योर्न विभागो विद्यते।

१२८. व्यप्र० पृ० ५१० पत्न्याः पतिद्रव्ये स्वत्वं नीरक्षीरवदेकलोलीभावापन्नं सहाधिकारिककर्मोपयोगि न तु भ्रातॄणामिव परस्परम्।

कानूनों से ही उसे अंशहर होने का अधिकार मिला है। प्राचीन काल में विश्वरूप (८००-८२५ ई०) ने विधवाओं को अपने मृत पति का अंश देने का समर्थन उक्त कानून से ११०० वर्ष पूर्व किया था[१२९]।

**पत्नीभाग**—गौतम, व्यास तथा बृहस्पति ने एक पुरुष की अनेक स्त्रियां और बहुत पुत्र होने पर उन पत्नियों अथवा माताओं के आधार पर बंटवारा करने की व्यवस्था की है[१३०]। इसमें अंशहर का हिस्सा पत्नी या माता के कारण निश्चित होने से यह पत्नीभाग या मातृभाग कहलाता है। इस की यह विशेषता है कि इसमें अंश निर्धारण पुत्रों की संख्या से नहीं; किन्तु माताओं की संख्या से होता है। जैसे एक पुरुष की तीन स्त्रियां हों, पहली से एक, दूसरी से दो, तीसरी से तीन सन्तानें हों तो सामान्य नियम के अनुसार पुत्रों की संख्या के अनुसार सम्पत्ति छः भागों में बंटनी चाहिये; किन्तु मातृभाग के अनुसार वह तीन भागों में बंटेगी, पहली स्त्री के लड़के को $\frac{१}{३}$, दूसरी के पुत्रों को $\frac{१}{६}$ तथा तीसरी की प्रत्येक सन्तान को $\frac{१}{९}$ हिस्सा प्राप्त होगा।

कुछ विशेष जातियों और स्थानों में इस प्रथा के प्रचलित होने के कारण, रिवाज के आधार पर इस प्रकार के बंटवारे को वर्त्तमान अदालतें स्वीकार करती हैं। मदुरा जिले के चेट्टियों में विभाग पत्नीभाग के सिद्धान्त के अनुसार होता है (पलनियप्पा ब० अलयन ४८ इं० ए० ५३९)।

**माता**—याज्ञवल्क्य (२।१२३), विष्णु (१८।३४) तथा नारद (दा० १२) ने स्पष्ट रूप से माता को पिता की मृत्यु के बाद विभाग के समय अंशहर बताया है[१३१]। इस विषय में उस के अधिकार पत्नी के स्वत्वों जैसे ही हैं, वह पुत्रों को बंटवारे के लिये बाधित नहीं कर सकती और इस के होने पर, उसे पुत्र के समान अंश देते हुए, उसके पास विद्यमान स्त्रीधन की राशि उसके अंश में से घटा दी जाती है।

---

१२९. या० २।११९ की बालक्रीडा टीका—समांशदानपक्षे प्रमीतभर्तृकाः पुत्रपौत्रपत्न्यःस्वपत्न्यश्च भर्तृभागार्हाः कार्याः।

१३०. गौ ध० सू० २८।१५ प्रतिमातृ वा स्वस्ववर्गे भागविशेषः। दायभाग पृ० ६० पर उद्धृत व्यास—समानजातिसंख्या ये जातास्त्वेकेन सूनवः। विभिन्नमातृकास्तेषां मातृभागः प्रशस्यते॥ दायभाग में बृह० का भी इसी प्रकार का एक वचन उद्धृत है।

१३१. या० २।१२३ पितुरूर्ध्वं विभजतां माताप्यंशं समं हरेत्।

मध्यकाल में अनेक शास्त्रकार माता को यह अधिकार नहीं देना चाहते थे। उन का यह कहना था कि माता को अंश प्रदान करने वाले शास्त्रीय वचनों का अर्थ केवल इतना ही है कि वह अपने निर्वाह मात्र के लिये आवश्यक सम्पत्ति ही ग्रहण करे। श्रीकर आदि का यह मत भी था कि माता को समान अंश देने की बात वहीं लागू होती है, जहां पैतृक सम्पत्ति कम हो; अधिक होने पर माता को केवल जीवनोपयोगी धन पाने का ही अधिकार है। विज्ञानेश्वर ने इन दोनों मतों का खण्डन किया है (या० २।१३५)। "यदि माता को केवल गुज़ारा पाने का हक है तो उस को 'समान अंश' देने की व्यवस्था करने वाले शास्त्रीय वचनों की क्या आवश्यकता थी? यदि कम सम्पत्ति में उसे समान अंश देने तथा अधिक द्रव्य में भरण पोषण का अधिकार स्वीकार किया जाय, तो इसमें एक ही शब्द (समान अंश) द्वारा दो विभिन्न दशाओं में दो विभिन्न व्याख्यायें करने का दोष (विधिवैरूप्य) उत्पन्न होगा"[१३२]।

विज्ञानेश्वर के प्रबल समर्थन के बावजूद, मध्यकाल के अधिकांश निबन्धकार माता के अंशहर होने के विरोधी थे। देवण्ण भट्ट ने यद्यपि माता के अंश का समर्थन किया (स्मृति चन्द्रिका २।२६८)[१३३]; किन्तु यह नक्कारखाने में तूती की आवाज़ थी। व्यवहारसार, विवादचन्द्र आदि ग्रन्थों में यही मत प्रतिपादित किया गया[१३४] कि स्त्रीमात्र पैतृक सम्पत्ति की अंशहर नहीं हो सकती, उन्हें केवल अपने गुज़ारे के लिये आवश्यक धन पाने का ही हक है। उन का प्रधान आधार

१३२. मिता० या० २।१३५ पर—एतेनाल्पधनविषयत्वं श्रीकरादिभिरुक्तं निरस्तं वेदितव्यम्।....अथ 'पत्न्यः कार्याः समांशिकाः' इत्यत्र माताप्यंशं समं हरेत् (याज्ञ० २।१२३) इत्यत्र च जीवनोपयुक्तमेव धनं स्त्री हरतीति मतं, तदसत्। अंशशब्दस्य समशब्दस्य चानर्थक्यप्रसंगात्। स्यात्मतम्। बहुधने जीवनोपयुक्तं धनं गृह्णाति, अल्पे तु पुत्रांशसमांशं गृह्णातीति। तच्च न विधिवैषम्यप्रसंगात्।

१३३. स्मृच० २।२६८ में देवल—जनन्यस्वधना पुत्रैर्विभागेंशं समं हरेत् इति स्मरणात्। अस्वधना प्रातिस्विकस्त्रीधनशून्या जननी पुत्रैरजीवद्विभागे क्रियमाणे पुत्रांशसममेवांशं हरेदित्यर्थः। देवण्ण भट्ट का यह समर्थन ऐसी निर्धन माता के लिए है, जो अपने भरण पोषण तथा धर्मकार्य करने में असमर्थ है; सरस्वती विलास (पृ० ३५८) ने अपरार्क का भी ऐसा ही मत बताया है।

१३४. विवादचन्द्र पृ० ६७ स्त्रीणां सर्वासामनंशत्वमेव। यत्राप्यंशश्रवणं 'पितुरूर्ध्वं विभजतां माताप्यंशं समं हरे' दित्यादौ तत्रापि किंचिद्दानं विव-

तै० सं० ( ६।५।८।२ ) में सोमयज्ञ की विधि के संबन्ध में कहे गये एक वचन के आधार पर बौधायन का यह कथन है कि शक्तिहीन होने के कारण स्त्रियां दायाधिकारिणी नहीं होती। मनु ने भी ऐसी ही बात कही है (९।१८)। पिछले अध्याय में इस पर प्रकाश डाला जा चुका है ( पृ० ३२५ )। इन शास्त्रकारों के विरोध से यह स्पष्ट है पत्नी तथा माता को अंशहर होने का अधिकार बहुत संघर्ष के बाद मिला है। बीच में एक ऐसा काल रहा है, जिस में वह पूर्ण रूप से अंश न प्राप्त करती हुई, केवल एक निश्चित राशि या भरण मात्र पाने की हकदार थी। व्यास के मतानुसार पति की सम्पत्ति में से वह अधिक से अधिक दो हजार पण ही पा सकती थी (स्मृच पृ० २८१ में उद्धृत)।

जीमूतवाहन ने माता को पुत्र का समांशहर माना है, किन्तु सौतेली माता के लिये निर्वाह मात्र की व्यवस्था की है, क्योंकि माता को जननी होने के नाते ही अंशहर होने का अधिकार है, ऐसा न होने से वह सौतेले बेटों की सम्पत्ति का हिस्सेदार कैसे बन सकती है[१३५] ?

**दादी**––अपने पुत्र की मृत्यु की दशा में, पोतों के बीच में अथवा अपने बेटे और मृत पुत्र के लड़कों के मध्य में, बंटवारा होने की दशा में दादी अंशहर होती है। इसका प्रधान आधार अपरार्क ( पृ० ७३० ), दायभाग (पृ० ६७) तथा स्मृतिचन्द्रिका (पृ० २६७)द्वारा उद्धृत व्यास का एक वचन है[१३६]।

वर्तमान न्यायालयों के फैसले इस सम्बन्ध में परस्परविरोधी हैं। पहले अलाहाबाद हाईकोर्ट की फुलबैंच ने बनारस सम्प्रदाय के मिताक्षरा परिवार में दादी का हिस्सा स्वीकार नहीं किया। (शिवनारायण ब० लछमीनारायण ३४ अला० ५०५ ) किन्तु इसी न्यायालय ने बाद के दो निर्णयों में ( ४७ अला० १२।७, ५० अला० ५३२ ) दादी को अंशहर माना। बम्बई हाईकोर्ट ने पोतों

---

क्षिप्तम्। अर्हति स्त्रीत्यनुवृत्तौ 'न दायं निरिन्द्रिया अदाया हि स्त्रियो मताः' इति बौधायनवचनात्। निरिन्द्रियाः निःसत्वा इति प्रकाशः। अदाया अनंशा इत्यर्थः।

१३५. दायभाग ३।२९-३० पितरि चोपरते सोदरभ्रातृभिर्विभागे क्रियमाणे मात्रेऽपि पुत्रसमांशो दातव्यः। समांशहारिणी मातेति वचनात्। मातृपदस्य जननीपरत्वात् न सपत्नीपरत्वमपि सकृच्छ्रुतस्य मुख्यगौणत्वानुपपत्तेः।

१३६. असुतास्तु पितुः पत्न्यः समानांशाः प्रकीर्तिताः। पितामह्यश्च सर्वास्ताः मातृतुल्याः प्रकीर्त्तिताः॥

तथा सौतेली दादी के विभाग में उस का अधिकार स्वीकार किया ( ३९ बं० ३७३ ), पर पिता पुत्र के बंटवारे में इस अधिकार को अस्वीकार किया (५४ बं० ४१७) । इन निर्णयों को तीन वर्गों में बांटा जा सकता है—(१) पोतों के बंटवारे में दादी अंशहर हो सकती है, भले ही वह सौतेली हो ( ३९ बं० ३७३ ) । (२) चाचा भतीजे के बंटवारे में भी उसे यह हिस्सा मिलता है (५० अला० ५३२ ) । (३) किन्तु चाचा की जगह पिता और पुत्र हों तो उसे यह अधिकार नहीं है (३२ बं० ला० रि० ४८) । कलकत्ता तथा पटना हाईकोर्टों पिता और पुत्र के बंटवारे में भी दादी का हक़ माना है[१३७] । व्यास के उपर्युक्त वचन में दादी को माता के समान कहा गया है, अतः पुत्र सहित और पुत्र रहित सभी दादियों का अंशहर होना उचित प्रतीत होता है ।

दक्षिण भारत में स्मृतिचन्द्रिका और सरस्वती विलास का प्रामाण्य अधिक माना जाता है, पहले यह बताया जा चुका है कि माता को वे अंशहर होने का अधिकार निर्धन दशा में ही देते हैं, वे इस का उद्देश्य उस का भरण पोषण मानते हैं, अतः वहां स्त्रियों, विधवाओं माता तथा दादी को हिस्सा देने की परिपाटी लुप्त हो चुकी है (८ मद्रास १२३ ) । अन्यत्र मिताक्षरा परिवार में उपर्युक्त स्त्रियों को अंशहर होने का हक है ।

**१९३७ तथा १९३८ ई० के हिन्दू स्त्रियों के सम्पत्ति पर अधिकार के कानून**— इन कानूनों से उपर्युक्त स्त्री अंशहरों की स्थिति तथा अधिकारों में परिवर्त्तन आ गया है, पहले यह बताया जा चुका है कि सम्पत्ति पर पत्नी और पति का संयुक्त स्वत्व होने से, पति की मृत्यु के बाद पत्नी को उस का अंश नहीं प्राप्त होता था । अब ऐसा नहीं रहा । उक्त कानूनों से मृत समांशी (Coparcener) की पत्नी को अविभक्त परिवार की सम्पत्ति में वैसा ही स्वत्व प्राप्त हो गया है, जैसा उसके पति को था । उसे पुरुष समांशी की भांति बंटवारे की मांग करने तथा उस में अपना हिस्सा पाने का हक़ है । इन कानूनों में यह भी व्यवस्था की गयी है कि यदि मिताक्षरा कानून द्वारा शासित कोई व्यक्ति पृथक् सम्पत्ति छोड़कर तथा दायभाग परिवार का व्यक्ति कोई सम्पत्ति छोड़ कर मरता है तो उसकी विधवा या विधवायें उस सम्पत्ति में से पुत्र का समांश प्राप्त करने की अधिकारिणी हैं, बशर्त्ते कि वह विना वसीयत किये मरा हो । इस प्रकार की व्यवस्था पूर्वमृत

---

१३७. बदरीराम ब० भगवत ८ कल० ६४९; कृष्णलाल ब० नन्देश्वर ४ पटना ला जर्नल ३९,४२-४४ ।

पुत्र की विधवा के लिये तथा पूर्व मृत पुत्र के पूर्व मृत पुत्र की विधवा के लिये भी की गयी है। विधवा को पति का स्वत्व देने से मिताक्षरा और दायभाग कानूनों में काफी समानता हो गयी है; मृत समांशी की विधवा को पारिवारिक सम्पत्ति का समांशी बनाने से मिताक्षरा परिवार का यह मौलिक सिद्धान्त समाप्त हो गया है कि इसमें केवल पुरुष समांशी ही अतिजीविता (Survivorship) के कारण संयुक्त सम्पत्ति को ग्रहण करते हैं[१३८]।

**कन्यायें**—संयुक्त परिवार के विभक्त होते समय अविवाहित कन्याओं तथा भाइयों के वैवाहिक व्यय की व्यवस्था शास्त्रकारों ने की है। यदि विभाग पिता के जीवन काल में होता है तो कन्या विवाह तक पिता के संरक्षण में रहती है, उसको कन्या के भरण पोषण तथा विवाह का व्यय करना पड़ता है। किन्तु जब पिता की मृत्यु पर बंटवारा होता है तो मनु० (९।११८) और याज्ञवल्क्य (२।१२४) ने अविवाहित कन्याओं को भाइयों के हिस्से का चतुर्थांश देने की व्यवस्था की थी[१३९]। संभवतः इसका उद्देश्य उनके विवाह के व्यय तथा दहेज के लिये आवश्यक राशि की व्यवस्था करना था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र की व्यवस्था से यह उद्देश्य भली भांति प्रकट होता है[१४०]।

मध्ययुग से टीकाकारों में इस प्रश्न पर तीव्र मतभेद रहा है कि अविवाहित बहनें पैतृक सम्पत्ति में अपने भाइयों के साथ अंशहर होती हैं, अथवा अपने विवाह के लिये आवश्यक धनमात्र प्राप्त करती हैं। असहाय, मेधातिथि, विज्ञानेश्वर, नीलकण्ठ, मित्रमिश्र पहले मत के पक्षपाती हैं और भारुचि, अपरार्क, देवण्णभट्ट, जीमूतवाहन पराशर माधवीय, सरस्वती विलास, विवाद रत्नाकर, विवाद चिन्तामणि दूसरे मत के अनुयायी हैं। विज्ञानेश्वर

---

१३८. इंडियन ला रिपोर्टर (१९४२) मद्रास ६३०।

१३९ मनु ९।११८ स्वेभ्योंऽशेभ्यस्तु कन्याभ्यः प्रदद्युर्भ्रातरः पृथक्। स्वात्स्वादंशाच्चतुर्भागं पतिताः स्युरदित्सवः॥ या. २।१२४ असंस्कृतास्तु संस्कार्या भ्रातृभिः पूर्वसंस्कृतैः। भगिन्यश्च निजांदशाद्दत्वांशं तु तुरीयकम्।

१४०. कौ० ३।५ संनिविष्टसममसंनिविष्टेभ्यो नैवेशनिकं दद्युः। कन्याभ्यश्च प्रादानिकम्॥ श्रीमूला टीका के अनुसार संनिविष्ट—विवाहित, नैवेशनिक का अर्थ है—निवेशनं परिणयनं तत्प्रयोजनकं द्रव्यं, अर्थात् विवाहोपयोगी धन। प्रदानं विवाहः तत्पर्याप्तं द्रव्यम् प्रादानिकम्॥

ने दूसरे मत का प्रबल खण्डन करते हुए कहा है[१४० क] 'निजादंशात्, (या० २।१२४) के वचन से यह स्पष्ट है कि लड़कियां भी पिता की मृत्यु के बाद अंश लेने वाली होती हैं'। चौथे हिस्से (तुरीयक) की यह व्याख्या नहीं करनी चाहिये कि इस का अर्थ विवाह संस्कार के लियै आवश्यक धन देना है, क्योंकि ऐसी व्याख्या मनु (९।११८) वचन की विरोधी होगी, मनु ने हिस्सा न देने वालों को पतित कहा है।

बहिनों के हिस्से के सम्बन्ध में मिताक्षराकार ने बड़े विस्तार से विचार किया है—यदि कन्या ब्राह्मणी की सन्तान होगी तो उसे १ हिस्सा (ब्राह्मणी के पुत्र को मिलने वाले ४ हिस्सों का $\frac{1}{4}$) मिलेगा[१४०]; क्षत्रिया की पुत्री को क्षत्रिय पुत्र के तीन हिस्सों का एक चौथाई अर्थात् $\frac{3}{4}$ प्राप्त होगा, इस प्रकार वैश्य तथा शूद्र वर्ण की स्त्रियों की लड़कियों को $\frac{1}{2}$ तथा $\frac{1}{4}$ हिस्से मिलेंगे। कुछ उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जायगा—ब्राह्मणी का एक पुत्र और कन्या होने पर पहले सम्पत्ति को आधा आधा बांटा जायगा, फिर इस का एक चौथाई अर्थात् कुल सम्पत्ति का ($\frac{1}{8}$) लड़की को मिलेगा, और शेष सात हिस्से लड़के को। दो पुत्र तथा एक पुत्री की दशा में सम्पत्ति पहले तीन हिस्सों में बांट कर उस $\frac{1}{4}$ अर्थात् कुल सम्पत्ति का $\frac{1}{12}$ लड़की को मिलेगा और $\frac{11}{12}$ दो पुत्रों में समान रूप से बांटा जायगा। एक पुत्र और दो पुत्रियां होने पर उपरोक्त प्रकार से ($\frac{1}{3} \times \frac{1}{4}$) से एक लड़की का हिस्सा $\frac{1}{12}$ तथा दो का अंश $\frac{1}{6}$ हुआ, शेष $\frac{5}{6}$ सम्पत्ति पुत्र को मिलेगी। ब्राह्मणी की एक पुत्री तथा क्षत्रिया का एक पुत्र होने की दशा में सारी सम्पत्ति ४+३ अर्थात् सात हिस्सों में बंटेगी, इनमें एक हिस्से का एक चौथाई अर्थात् $\frac{1}{4}$ कन्या को तथा शेष $६\frac{3}{4}$ लड़के को मिलेगा। इसी प्रकार ब्राह्मणी के दो पुत्र तथा क्षत्रिया की एक कन्या होने पर सम्पत्ति पहले ४+४+३ अर्थात् ११ अंशों में बांटी जायगी। एक अंश का $\frac{1}{4}$ कन्या को देने के बाद शेष $१०\frac{3}{4}$ भाग दोनों पुत्रों में बांटा

---

१४० क. अनेन दुहितरोऽपि पितुरूर्ध्वमंशभागिन्य इति गम्यते।

१४०. पहले यह बताया जा चुका है कि मनु ९।११२-१३ तथा या० २।१२५ के अनुसार असवर्ण विवाहों में अनुलोमज सन्तान को माता के वर्ण के आधार पर क्रमशः ४ : ३ : २ : १ के अनुपात से पैतृक सम्पत्ति में हिस्से मिलेंगे दे० ऊ० पृ० ३८६

जायगा ( मिता० २।१२४ )। विज्ञानेश्वर ने विभिन्न अवस्थाओं में कन्याओं के अंश का बड़े विस्तार से संभवतः इसलिये वर्णन किया है कि किसी को इन के अंशहर होने में सन्देह न रहे।

जीमूतवाहन ने इसके विरोधी पक्ष का प्रतिपादन करते हुए कहा—(पैतृक सम्पत्ति ) के कम होने पर पुत्रों को अपने अपने भाग का चौथा अंश देना चाहिये जैसा मनु ( ९।११८ ) का मत है; अधिक धन होने पर विवाह के लिये आवश्यक धन प्रदान करना उचित है; दायतत्त्व ने भी इसका समर्थन किया[१४१]। स्मृति चन्द्रिका ( २।२६९ ) व्यवहार मयूख (पृ० १०६ ) पराशर माधव (३।५१०) और व्यवहारप्रकाश ( पृ० ४५६ ) इस मत का समर्थन विष्णु ( १५।३१ ), देवल और शंख के वचनों के आधार पर करते हैं,[१४२] इन सब में कन्या को विवाह के लिये धन देने को कहा गया है। वर्त्तमान समय में न्यायालय दूसरे पक्ष को मानते हुए अविवाहित कन्याओं को वैवाहिक व्यय ही प्रदान करते हैं, पैतृक सम्पत्ति में उन का अंशहर होना नहीं स्वीकार करते। अलाहाबाद हाईकोर्ट ने भगवती शुक्ल ब० राम जतन ( ४५ अ० २९७ ) के मामले में यह निर्णय दिया है कि शास्त्रों के 'चतुर्थांश' का अर्थ विवाह के लिये आवश्यक धन है। यह नियम विभाग चाहने या उसका दावा करने वाले व्यक्ति की अविवाहित बहन के लिये ही है, उसके भाइयों की लड़कियों के लिये नहीं ( मि० ५३ मद्रास ८४ )।

**अनर्ह अंशहर**—पिछले अध्याय में यह बताया जा चुका है अनेक प्रकार के शारीरिक और मानसिक दोषों वाले व्यक्ति ( नपुंसक, पतित, लंगड़ा, उन्मत्त, मूर्ख, अन्धा आदि ) निरंशक अर्थात् सम्पत्ति के अंशहर होने के अयोग्य समझे जाते थे ( पृ० ३२०-३२१ )। अब १९२८ के 'हिन्दू उत्तराधि-

---

१४१. दायभाग पृ० ६९-७० अल्पधने पुत्रैः स्वात्स्वादंशादाकृष्य कन्याभ्यश्चतुर्थांशो दातव्यः। यथा मनुः स्वेभ्यः (९।११८) एवं च बहुतरधने विवाहोचितं दातव्यं न चतुर्थांशनियम इति सिध्यति। दायतत्व पृ० १७१ एवं तुरीयांशप्रतिपादकमपि विवाहोचितद्रव्यदानपरम्।

१४२. विष्णु धर्म सूत्र १५।३१ अनूढानां तु कन्यानां स्ववित्तानुरूपेण संस्कारं कुर्यात्। देवल (स्मृच २।२६८) कन्याभ्यश्च पितृद्रव्यं देयं वैवाहिकं वसु। शंख ( स्मृच २।२६९)—विभज्यमाने दायाद्ये कन्यालंकारं वैवाहिकं स्त्रीधनं च कन्या लभेत्।

कार ( अनर्हता निवारण )' कानून से मिताक्षरा परिवार में जन्मजात मूर्ख और पागल के अतिरिक्त सब व्यक्ति दायाद बन सकते हैं, अतः बंटवारे में अंशहर भी हो सकते हैं। दायभाग परिवार में अभी तक ये अनर्हतायें बनी हुई हैं। इन अनर्ह पुरुषों के पुत्र दोषरहित होने पर भागहर होते हैं और इनकी लड़कियां विवाह पर्यन्त भरणीय होती हैं (याज्ञ० २।१४१)। यदि बंटवारे के समय कोई व्यक्ति किसी शारीरिक या मानसिक दोष से ग्रस्त है, किन्तु बाद में उसका दोष चिकित्सा से दूर हो जाता है तो विभाग के बाद उत्पन्न पुत्र की भांति वह अपना अंश प्राप्त करने के लिये बंटवारा दुबारा करा सकता है। बंटवारे से पहले ही दोष होने पर उपर्युक्त व्यक्ति अनंश होते हैं, विभाग के बाद दोष उत्पन्न होने पर उनसे उनका अंश नहीं छिन सकता[१४३]। दोषों के कारण उत्पन्न होने वाली अंशहरण की अयोग्यता स्त्री पुरुष दोनों के लिये समान है, अतः पतितादि दोषों से युक्त होने पर पत्नी, पुत्री और माता आदि भी अनंश होती हैं (दे० ऊ० पृ० ३२१ )।

**संसृष्टि**--विभक्त परिवार के पुनः संयुक्त होने को संसर्ग या संसृष्टि कहा जाता है। मिताक्षरा के अनुसार विभक्त धन पुनः संयुक्त किया जाने पर संसृष्ट कहलाता है, ऐसे धन वाला संसृष्टी होता है[१४४]। यह प्रथा हिन्दू परिवार में अत्यन्त प्राचीन है। ऋग्वेद ( १०।८४।७ ) तथा अथर्ववेद ( ४।३१।७) में वरुण और मन्यु से संसृष्ट धन पाने की प्रार्थना की गयी है[१४५]। प्राचीन सूत्रकारों ने इस सम्बन्ध में अनेक नियम दिये हैं। गौतम अपुत्र संसृष्टी के मरने पर, उसकी सम्पत्ति का उत्तराधिकारी उसके साथ संयुक्त होने वाले को बताता है (२८।२९)। विष्णु ( १८।४१) और मनु (९।२१० ) संसृष्टि के बाद विभाग होने पर समान अंश बांटने की व्यवस्था करते हैं, इसमें बड़े पुत्र को विशेष अंश नहीं मिलता, किन्तु कौटिल्य संसृष्टि के बाद बंटवारे में उस व्यक्ति को दो अंश देता है, जिसके प्रयत्न से सम्मिलित धन में वृद्धि हुई हो[१४६]।

---

१४३. मिता० २।१४०--एतेषां विभागात्प्रागेव दोषप्राप्तावनंशत्वमुपपन्नं न न पुनर्विभक्तस्य। विभागोत्तरकालमप्यौषधादिना दोषनिहरणे भागप्राप्तिरस्त्येव। विभक्तेषु सुतो जातः सवर्णायां विभागभाक् इत्यस्य समानन्यायत्वात्।

१४४. मिता० २।१३८--विभक्तं धनं पुनर्मिश्रीकृतं संसृष्टं तदस्यास्तीति।

१४५. संसृष्टं धनमुभयं समाकृतमस्मभ्यं दत्तां वरुणश्च मन्युः।

१४६. गौ ध०सू०२८।२९ संसृष्टिनि प्रेते संसृष्टी रिक्थभाक्। विष्णु १८।४१

पुनः सम्मिलन या संसर्ग किन व्यक्तियों में हो सकता है, इस प्रश्न पर शास्त्रकारों में मतभेद है। विज्ञानेश्वर, जीमूतवाहन और स्मृति चन्द्रिका बृहस्पति के एक वचन के आधार पर विभक्त पिता, भाई और चाचा मात्र को संसृष्टि का अधिकारी समझते हैं, फूफा के लड़के या दादा के साथ संसर्ग नहीं स्वीकार करते[१४७]। किन्तु नीलकण्ठ और मित्रमिश्र के अनुसार बृहस्पति द्वारा निर्दिष्ट सम्बन्धी उपलक्षण मात्र हैं। बंटवारे के समय के किसी भी सदस्य पत्नी, दादा, भाई के पोते, चाचा के लड़के आदि का परिवार के साथ संसर्ग संभव है[१४८]। विवाद रत्नाकर (पृ० ६०५-६) तथा विवादचिन्तामणि (पृ० २४५) भी नीलकण्ठ के अनुयायी हैं। अतः वर्त्तमान काल में नीलकण्ठ के व्यवहार मयूख को अधिक प्रमाण मानने वाले बम्बई प्रान्त में तथा विवाद रत्नाकर और चिन्तमणि द्वारा शासित मिथिला में किसी भी संबन्धी के साथ संसर्ग संभव है (३३ कल० ३७१, ३७५)। मद्रास हाईकोर्ट का भी यही मत है (२७ म० १११८)। किन्तु बंगाल, उत्तर प्रदेश तथा पंजाब में संसृष्टता केवल पिता, भाई और चाचा के साथ ही संभव है।

संसृष्टता के लिये संयुक्त होना, विभक्त होना और पुनः संयुक्त होना आवश्यक है। एक घर में निवास और भोजन तथा साझा व्यापार ही इसके पर्याप्त प्रमाण नहीं, किन्तु आपस में यह समझौता आवश्यक है कि कि मेरी सम्पत्ति तेरी है और तेरी सम्पत्ति मेरी है (७ कल० वी० रि० ३५)। मौखिक समझौता भी इसे सिद्ध करने के लिये काफी है (३० कल० ७२५)।

संसृष्ट होने के बाद परिवार के सदस्यों की स्थिति क्या विभाग से पहले

---

विभक्ताः सह जीवन्तो विभजेरन् पुनर्यदि। समस्तत्र विभागः स्याज्ज्यैष्ठ्यं तत्र न विद्यते। कौ० ३।५; अपितृद्रव्या विभक्तपितृद्रव्या वा सहजीवन्तः पुनर्विभजेरन्। यतश्चोत्तिष्ठेत स द्व्यंशं लभेत।

१४७. मिता० २।१३८ संसृष्टत्वं च न येन केनापि किन्तु पित्रा भ्रात्रापि पितृव्येण वा। यथाऽऽहबृहस्पतिः—'विभक्तो यः पुनः पित्रा भ्रात्रा वैकत्र संस्थितः। पितृव्येणाथवा प्रीत्या स तत्संसृष्ट उच्यते। दा० २२०(ध० को० २।१५५६) परिगणितव्यतिरिक्तेषु संसर्गकृतो विशेषः नादरणीयःपरिगणनानर्थक्यात्। स्मृच० ३०२ पितृभ्रातृपितृव्यव्यतिरिक्तभ्रातृपितृव्यपुत्रादिना सह संसर्गो न विद्यते

१४८. व्यवहारमयूख पृ० ६५ पित्रादिपदानि विभागकर्तृमात्रोपलक्षकाणि। तेन पत्नीपितामहभ्रातृपौत्रपितृव्यपुत्रादिभिरपि सह संसृष्टता भवति। मि० व्यप्र० पृ० ५३३

के संयुक्त परिवार के दायादों की सी होती है ? अथवा वे केवल साझीदार होते हैं ? इन प्रश्नों पर न्यायालयों ने विरोधी निर्णय दिये हैं। मद्रास हाईकोर्ट ने पहले इन्हें केवल साझीदार स्वीकार किया था (१६ म० ४४०)। किन्तु कलकत्ता ( १९ कल० ६३४ ) तथा बाद में मद्रास हाईकोर्ट ( १९ म० ला जर्नल ७२३ ) ने भी यह स्वीकार किया कि संसृष्टि के बाद इसके सदस्य संयुक्त परिवार के सदस्य हो जाते हैं, अतः परिवार की संयुक्त सम्पत्ति पर जन्म से उनका स्वत्व हो जाता है और वे अतिजीविता (Survivorship ) के सिद्धान्त के आधार पर दूसरे सदस्यों की मृत्यु पर उनकी जायदाद के हकदार होते हैं। यह व्यवस्था मिताक्षरा के इस वचन के सर्वथा अनुकूल है कि —पुत्राभावे संसृष्टचेवापहरेत् न पत्न्यादिः (या० २।१३८)।

संसृष्टि के मामले न्यायालयों में बहुत कम आते हैं। एक बार बंटवारा होने के बाद विरले ही परिवार पुनः संयुक्त होते हैं।

----

# तेरहवाँ अध्याय

## पिता के साम्पत्तिक अधिकार

पिता के साम्पत्तिक स्वत्व की तीन अवस्थायें—मध्यकालीन टीकाकार और पिता के विभाग विषयक अधिकार—विभाग में पिता का विशेष अंश ग्रहण करना—पिता का पुत्रों को विषम भाग देने का अधिकार—पैतृक सम्पत्ति पर पिता का अधिकार—पिता द्वारा सम्पत्ति के दान का अधिकार—पिता के ऋण तथा अपहार (इन्तक़ाल)—पूर्ववर्त्ती ऋण ।

कुटुम्ब का भरण, पोषण तथा संरक्षण करने से परिवार में पिता का स्थान सर्वोच्च है । पांचवें अध्याय में यह बताया जा चुका है कि रोमन साम्राज्य जैसे कई प्रदेशों में पिता को अपनी सन्तान के विक्रय तथा वध के अधिकार थे प्राप्त थे, वहां उसकी स्थिति निरंकुश सम्राट् की सी थी। किन्तु प्राचीन हिन्दू परिवार में उसके अधिकार इतने अमर्यादित नहीं थे । यहां पिता के साम्पत्तिक अधिकारों का ही प्रतिपादन किया जायगा ।

सत्ता और सम्पत्ति का चोली दामन का साथ है । जब तक परिवार में प्रधान शक्ति पिता के हाथ में रही, सम्पत्ति पर उस का स्वत्व बना रहा। यहां इसके निम्न रूपों का विवेचन होगा—(१) अपनी इच्छा से बंटवारा करने का अधिकार (२) बंटवारे में स्वयं विशेष अंश लेने का अधिकार (३) पुत्रों को यथेच्छ भाग देने का अधिकार । बहुत समय तक पिता को बंटवारे में स्वयं दुगना हिस्सा या कुल सम्पत्ति का आधा भाग लेने तथा ज्येष्ठ पुत्र को अधिक अंश देने का अधिकार प्राप्त था । किन्तु पुत्रों के अधिकारों का विकास होने पर शनैः शनैः सब दायादों का पैतृक सम्पत्ति पर तुल्य स्वत्व माना जाने लगा, इस के यथेच्छ विनियोग का अधिकार पिता से छिन गया, उसे यह अधिकार केवल स्वार्जित सम्पत्ति पर ही रह गया ।

**संयुक्त सम्पत्ति पर पिता के स्वत्व की तीन अवस्थायें**—पारिवारिक द्रव्य पर पिता अथवा पुत्र के स्वत्व के विकास को तीन प्रधान अवस्थाओं में बांटा जा सकता है—(१) पहली अवस्था में इस पर पिता का पूर्ण स्वामित्व होता था । (२) दूसरी दशा में पहले पिता की इच्छा से तथा बाद में उसकी इच्छा

के विरुद्ध विभाग द्वारा पैतृक द्रव्य पर पुत्रों का पूर्ण स्वामित्व स्थापित हुआ। (३) तीसरी दशा में यह विचार विकसित हुआ कि पैतृक सम्पत्ति में पुत्र का स्वत्व विभाग द्वारा नहीं, किन्तु जन्म से ही उत्पन्न हो जाता है; ११वीं शती में विज्ञानेश्वर के प्रबल समर्थन से पुत्रों ने इस अधिकार को पूर्ण रूप से पाया, पिता के अधिकारों का अन्त हुआ। जीमूतवाहन ने बंगाल में इस प्रवृत्ति का विरोध किया और वहां आज तक पिता के अधिकार बहुत कुछ सुरक्षित हैं। ये तीनों अवस्थायें विषय की स्पष्टता एवं सुबोधता की दृष्टि से की गयी हैं; कालक्रम के विचार से नहीं, आज भी विशाल हिन्दू समाज में कानूनों और विधि विधानों की एकरूपता नहीं है, प्राचीन काल में भी नहीं थी। अनेक विरोधी व्यवस्थायें एक ही समय में प्रचलित होती थीं। पहली दो अवस्थायें वैदिक युग में विभिन्न स्थानों पर पायी जाती हैं।

**पहली अवस्था—पिता का पैतृक सम्पत्ति पर पूर्ण प्रभुत्व होना**—इस अवस्था के अनेक संकेत हमें वैदिक संहिताओं और ब्राह्मण ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। शुनः शेप के उपाख्यान में यह वर्णन है कि विश्वामित्र ने, शुनः शेप को ज्येष्ठ पुत्र बनाने के कारण रुष्ट हुए अपने पचास पुत्रों को दायाधिकार से वंचित किया[1]। काठक संहिता के अनुसार पिता पुत्र का शासक है ( पिता पुत्रस्येशे ११।४ )। पंचविंश ब्राह्मण ( १६।४।४ ) से यह सूचित होता है कि पिता जिस पुत्र को चाहे सम्पत्ति दे सकता था, विभाग में वह अपने कुछ पुत्रों को दाय से वंचित करने में भी समर्थ था। शतपथ ब्रा० ( ५।४।२।८) से यह ज्ञात होता है कि वह सब से प्रिय पुत्र को उत्तराधिकारी बना सकता था[2]। वसिष्ठ ने माता पिता द्वारा पुत्रों के दान और विक्रय का अधिकार स्वीकार किया है; यास्काचार्य ने भी ( निरुक्त० ३।४) माता पिता द्वारा सन्तान के दान विक्रयादि की व्यवस्था का उल्लेख किया है[3]। मनु ने पुत्र द्वारा कमाये धन

१. ऐत० ब्रा० ३३।८

२. शत० ब्रा० ५।४।२।८; तद्योऽस्य पुत्रः प्रियतमो भवति तस्माएतत्पात्रं प्रयच्छतीदं मेऽयं वीर्यं पुत्रोऽनुसन्तनवदिति। यद्यपि यह राज्याभिषेक का प्रकरण है, तथापि इससे इच्छानुसार पिता द्वारा पुत्रों में पक्षपात करने की प्रथा सूचित होती है।

३. निरुक्त ३।४ स्त्रीणां दानविक्रयातिसर्गा विद्यन्ते न पुंसः। पुंसोऽपीत्येके शौनः शेपे दर्शनात्। वसिष्ठ १५।२ तस्य प्रदानविक्रयत्यागेषु मातापितरौ प्रभवतः।

पर पिता का स्वत्व माना है ( ८।४१६ )। हारीत ने पिता के जीवित रहते हुए आर्थिक मामलों में पुत्र की परतन्त्रता की घोषणा की है[४]। शंख पिता के जीवित रहते हुए पुत्र को पराधीन ( अस्वतन्त्राः पितृमन्तः दा० पृ० २३ )। मानता है, कौटिल्य की भी ऐसी ही व्यवस्था है ( अनीश्वराः पितृमन्तः ३।५)। गुप्त युग में नारद (१।३२-४२ ) का यह कथन था कि पिता परिवार के सदस्यों पर उसी प्रकार शासन करता है, जैसे राजा प्रजा पर या गुरु शिष्यों पर। पिता के जीवित रहते हुए, पुत्र बालिग होने पर भी पिता के अधीन रहते हैं, (दे० ऊ० पृ० १८८) इस अवस्था में पुत्रों का कोई साम्पत्तिक स्वत्व नहीं होता।

पिता के पूर्ण प्रभुत्व की स्थिति में पुत्र पैतृक सम्पत्ति को उसकी इच्छा और अनुग्रह से प्राप्त करते हैं। वैदिक साहित्य में पुत्रों द्वारा पिता से धन मांगने की अनेक प्रार्थनायें हैं, इन से यह स्पष्ट है कि वे पैतृक धन को अधिकार के नहीं; किन्तु कृपा के रूप में चाहते हैं। ऋ० १।२६।३ में भक्त अग्नि से याचना करता है—"आप मेरे पिता के तुल्य हैं, मैं आप का पुत्र हूँ, आप मुझे अभीष्ट धन देने की कृपा करें"। ऋ० १।७०।१० में उपासक की उक्ति है—हे अग्ने मनुष्य अनेक (पूजा) स्थानों में विविध रूप से आप की उपासना करते हैं, आपसे वे वैसे ही धन पाते हैं, जैसे पुत्र वृद्ध पिता से धन प्राप्त करते हैं[५]। अनेक देवताओं से इस प्रकार की प्रार्थनायें हैं कि वे भक्तों को वैसा ज्ञान और धन दें, जैसा पिता पुत्रों को प्रदान करता है[६]। वैदिक साहित्य में

---

४. हारीत ( दा० २३ पृ० ) जीवति पितरि पुत्राणामर्थादानाविसर्गाक्षेपेष्वास्वातन्त्र्यम्।

५. ऋ० १।७०।१० वि त्वा नरः पुरुत्रा सपर्यन्पितुर्न जिव्रेर्वि वेदो भरन्त। पिता द्वारा बालिग पुत्र को धन देने के लिये देखिये ऋ० ३।४५।४—आ नस्तुजं रयिं भरांशं न प्रतिजानते। सायण भाष्य—यथा पिता प्रतिजानते व्यवहारज्ञाय पुत्राय स्वकीयस्य धनस्य भागं ददाति तद्वत्। पिता द्वारा पुत्रों में धन के बंटवारे का संकेत तै० ब्रा० ३।७।६।२२ में भी है—उद्यन्नद्य विनो भज। पिता पुत्रेभ्यो यथा। ऋ० ७।९७।२ में बृहस्पति को पिता की भांति धन देने वाला कहा गया है। ऋ० ८।४८।७ में पैतृक धन के भोग की उपमा दी गयी—इषिरेण ते मनसा सुतस्य भक्षीमहि पित्र्यस्येव रायः।

६. ऋ० ७।३२।२६ इन्द्र क्रतुं न आभर पिता पुत्रेभ्यो यथा। मि० तै० सं० ७।५।७।४, का० सं० ३३।७, अथर्व १८।३।६७, २०।७९।१, ऐ० ब्रा० ४।

इन्द्र से ऐसी प्रार्थना बार बार की गयी है। पिता द्वारा पुत्रों को धन बांटने का उल्लेख संहिताओं में अनेक स्थानों में है[७]।

**दूसरी अवस्था-पैतृक सम्पत्ति पर पुत्रों का स्वत्व और इसका बंटवारा कराना**--वैदिक परिवार में पिता के जद्दी जायदाद पर प्रभुत्व और उसके स्वयं बंटवारा करने की व्यवस्था सर्वमान्य रही हो, ऐसा नहीं प्रतीत होता। संहिताओं में पैतृक धन पर पुत्रों के स्वत्व के अनेक संकेत हैं। नाभानेदिष्ठ की कथा के दो रूप यह सूचित करते हैं कि उस समय समाज में दोनों व्यवस्थायें प्रचलित थीं और ब्राह्मण ग्रन्थों के समय पुत्रों द्वारा बंटवारे की मांग कुछ प्रबल होने लगी थी।

पुत्र का पैतृक सम्पत्ति पर पिता के साथ समान रूप से स्वामित्व माना जाना पिता के अधिकार पर प्रबल प्रहार था, क्योंकि पुत्र का यह अधिकार स्वीकार करने से पिता के स्वत्व बहुत मर्यादित हो जाते थे। प्राचीन संहिताओं में इसके अस्पष्ट संकेत हैं[७क]। ऐतरेय आरण्यक में सर्वप्रथम पिता पुत्र के

---

१०।२, ताण्ड्य ब्रा० ४।७।२।८, आश्व० श्रौतसूत्र ६।५।१८, वैतान सूत्र २७।१२, शांखायन श्रौतसूत्र ८।२०।२४

७. ऋ० १०।१५।७ पुत्रेभ्यः पितरस्तस्य वस्वः प्र यच्छत त इहोर्जं दधात। मि० शुक्ल यजुर्वेद १९।६३, अथर्व १८।३।४३। राधा विनोदपाल ने ला आफ़ प्राइमोजेनिचर (पृ० २२५) में वैदिक युग के पुत्र की स्वोपार्जित सम्पत्ति पर भी पिता का अधिकार सिद्ध करने के लिये ऋ० १।१२६।३ का मन्त्र उपस्थित किया है। इसमें सायण के कथनानुसार कक्षीवान् ऋषि द्वारा राजा स्वनय से घोड़े, वधुओं वाले दस रथ और साठ हजार गौयें भेंट में पाने का वर्णन है और अन्त में कहा गया है 'सनत् कक्षीवां अभिपित्वे अह्नाम्' सायण ने इसके दो अर्थ किये हैं सनत्--स्वीकृतं रथवध्वादिकं स्वपित्रे समर्पयति, स्वयं वा स्वीकरोति अर्थात् वह राजा से प्राप्त रथ, वधू आदि अपने पिता को समर्पित करता है या स्वयं स्वीकार करता है। पहला अर्थ मानने पर यह सूचित होता है कि उस समय पुत्र की स्वार्जित सम्पत्ति पर भी पिता का स्वामित्व होता था, किन्तु यह अर्थ इसलिये ठीक नहीं प्रतीत होता कि इसमें 'स्वपित्रे' शब्द का अपनी ओर से अध्याहार करना पड़ता है, दूसरे अर्थ में इसकी आवश्यकता नहीं है। ग्रिफिथ ने सायण का दूसरा अर्थ ठीक समझा है।

७ क. ऋ० १।७३।१ में पिता से प्राप्त सम्पत्ति की तरह अग्नि अन्न का

संयुक्त स्वामित्व का वर्णन मिलता है "(लोक में) पुत्र की जहां कहीं कोई वस्तु होती है, वह पिता की होती है; जो वस्तु पिता की होती है, वह पुत्र की होती है"[८]। तैत्तिरीय संहिता में दो बार (२।६।१।६, ६।५।१०।१२) याज्ञिक प्रक्रिया की उपमाओं द्वारा पिता के धन पर पिता और पुत्र दोनों का अधिकार बताया गया है। 'पिता यज्ञ की मुख्य विधि (प्रयाज) है, पुत्र गौणविधि (अनुयाज); (अनुयाज के लिये लकड़ी के प्याले अथवा उपभृत में हवि रखी जाती है, पुरोडाशादि की हवि डालने की बारी आने पर काष्ठ के प्याले की सारी हवि प्रयाज या मुख्य विधि के साथ डाल दी जाती है, इसके बाद यज्ञ में प्रयाज की ही हवि शेष रहती है और उससे प्रयाज (पिता) और अनुयाज (पुत्र) दोनों की हवि समझी जाती है, इसी तरह पिता की सम्पत्ति दोनों की सम्पत्ति होती है।) प्रयाजों से यज्ञ करने के बाद वह (दोनों विधियों की सामान्य) हवियों को डालता है; (अतः) पिता पुत्र के साथ (अपने धन को) साधारण (अर्थात् दोनों का) बनाता है[९]।

तैत्तिरीय संहिता के एक दूसरे स्थल में पैतृक धन पर, पिता पुत्र के संयुक्त स्वत्व का एक अन्य याज्ञिक विधि के दृष्टान्त द्वारा वर्णन है।

---

दाता कहा गया है (रयिर्न यः पितृवित्तो वयोधाः ३। ऋ० १।७३।९ में यह प्रार्थना है कि पिता से प्राप्त धन के स्वामी होकर हमारे विद्वान् पुत्र सौ वर्ष के जीवन का उपभोग करें (ईशानासः पितृवित्तस्य रायो विसूरयः शत हिमा नो अश्युः)।

८. ऐ० आ० २।१।८ यत्र ह क्व च पुत्रस्य तत्पितुर्यत्र वा पितुस्तद्वा पुत्रस्य।

९. तै० सं० २।६।१।६ पिता वै प्रयाजाः प्रजाऽनूयाजा यत्प्रयाजानिष्ट्वा हवींष्यभिघारयति पितैव तत्पुत्रेण साधारणं कुरुते। सायण ने इस का भाष्य करते हुए लिखा है---लोकेन हि बालेन यदुपार्जितं तद् द्रव्यं स पुत्र उत्तरकाले स्वजीवनार्थमसाधारणत्वेन संगृह्य गुप्तं करोति न तु पित्रे प्रयच्छति न तु भ्रातृभ्यः। पित्रा तु यदुपार्ज्यते तत्पितुर्बालपुत्रस्य तद् भ्रातृणां च साधारणं भवति। तेन हि द्रव्येण सर्वेऽपि जीवन्ति। इस व्याख्या के अनुसार पुत्रों द्वारा कमाये धन पर तो पिता का स्वत्व नहीं है, किन्तु पिता द्वारा उपार्जित द्रव्य पर पुत्रों का अधिकार है। सायण यद्यपि मध्यकालीन टीकाकार है; किन्तु उसके उपर्युक्त संदर्भ के भाष्य के वैदिक युग की स्थिति का प्रतिपादक होने में कोई संदेह नहीं प्रतीत होता।

अग्निष्टोम यज्ञ में दी जाने वाली सोमरस की पहली आहुति आग्रयण कहलाती है, इस के लिये सोमरस निकाला जाता है; किन्तु यदि इसमें कोई कमी पड़ जाती है तो पास में रखे कलश के रस से इसे पूरा किया जाता है, यदि कलश में कुछ कमी हो तो आग्रयण के रस से उसकी पूर्त्ति होती है। इस विधि को अपनी उपमा का विषय बनाते हुए संहिताकार कहता है—"पिता आग्रयण है, पुत्र कलश; यदि आग्रयण ( में रस) समाप्त हो जाय तो कलश से ( रस) ले लो, जैसे असहाय पिता पुत्र के पास आता है। यदि कलश का ( रस) समाप्त हो तो वह आग्रयण से ले ले, जैसे पुत्र असहायावस्था में पिता के पास आता है"[१०]।

पैतृक संपत्ति पर पुत्रों को स्वत्व संभवतः पिता पुत्र की एक दूसरे पर निर्भरता विशेषतः बुढ़ापे में पिता के पुत्र पर अवलम्बित रहने से मिला होगा। शतपथ और गोपथ ब्राह्मणों में यही बात कही है। 'आरम्भिक जीवन में पुत्र पिता पर निर्भर रहते हैं और पिछले जीवन में पिता पुत्रों पर[११]'। कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद् से यह सूचित होता है कि पिता द्वारा एक बार अपने अधिकार छोड़ने पर उस सम्पत्ति पर पुत्रों का स्वत्व उत्पन्न हो जाता था। इस उप० में पिता द्वारा बीमारी में मरणासन्न होने पर, अपनी सारी भौतिक एवं मानसिक शक्तियों का पुत्र को दान करने का आलंकारिक वर्णन है; ऐसा दान होने के बाद यदि वह सौभाग्यवश नीरोग होकर काल का ग्रास नहीं बनता तो उसे या तो पुत्र की प्रभुता में रहना पड़ता है या संन्यासी होना पड़ता है[१२]।

तैत्तिरीय संहिता और ऐतरेय ब्राह्मण (२२।९) में मनु के पुत्र नाभानेदिष्ठ की कथा दो विभिन्न रूपों में मिलती है और यह सूचित करती है कि

---

१०. तै० सं० ६।५।१०।१,२ पिता वा एष यदाग्रयणः पुत्रः कलशो यदाग्रयण उपदस्येत्कलशाद् गृह्णीयाद्यथा पिता पुत्रं क्षित उपधावति तादृगेव तद्यत्कलश उपदस्येदाग्रयणाद् गृह्णीयाद्यथा पुत्रः पितरं क्षित उपधावति तादृगेव तदात्मा वा एष यज्ञस्य यदाग्रयणो यद् ग्रहो वा कलशो वोपदस्येदाग्रयणाद् गृह्णीयात्।

११. गोपथ ब्रा० ४।१७ तस्मात्पूर्वे वयसि पुत्राः पितरमुजीवन्ति। तस्मादुत्तमे वयसि पुत्रान् पितोपजीवति मि० शतपथ ब्रा० १२।२।३।४

१२. कौ० उप० २।१५ स यद्यगदः स्यात्पुत्रस्यैश्वर्ये पिता वसेत्परि वा व्रजेत्।

उस समय समाज में कोई एकरूप व्यवस्था नहीं थी, यद्यपि प्रायः पिता सम्पत्ति का बंटवारा करता था, किन्तु कई बार भाई स्वयं विभाग कर लेते थे। इस कथा का पहला रूप तै० सं० ३।१।९।४ में है। इस के अनुसार मनु ने पुत्रों में दाय (पैतृक सम्पत्ति) का बंटवारा किया, उसका छोटा पुत्र नाभानेदिष्ठ उस समय वेदाध्ययन कर रहा था, मनु ने उस का हिस्सा नहीं रखा, उसने आकर पिता से पूछा कि मुझे हिस्सा क्यों नहीं दिया गया[१३]। पिता का उत्तर था कि उसने उसे उस के हिस्से से वंचित नहीं किया। बाद में उसने पिता के परामर्श से अंगिरा ऋषि को यज्ञ में सहायता करके पशुओं के रूप में सम्पत्ति प्राप्त की। इस कथा से पिता का सम्पत्ति पर पूर्ण स्वाम्य एवं उसे मनमाने ढंग से बांटने का अधिकार सूचित होता है। बाद में वसिष्ठ, विज्ञानेश्वर आदि ने विभाग के बाद उत्पन्न पुत्रों का जन्म से स्वत्व मानते हुए, इनके लिये पुनर्विभाग की व्यवस्था की (दे० ऊ० पृ० ३८५)। किन्तु संहिता युग में मनु ने १५-१६ वर्ष के लड़के का अंश नहीं रखा; पुत्र द्वारा हिस्सा मांगने पर भी पुनर्विभाग नहीं हुआ। यह उस समय बंटवारे में पिता के पूर्ण अधिकार को सूचित करता है, किन्तु साथ ही यह भी बताता है कि पुत्र अपने हिस्से की मांग करने लगे थे।

किन्तु ऐतरेय ब्राह्मण (२२।९) में इस सम्बन्ध की दूसरे प्रकार की कथा से विभिन्न स्थिति का बोध होता है। इस में पिता की बजाय बड़े भाई स्वयमेव छोटे भाई नाभानेदिष्ठ की अनुपस्थिति में संपत्ति आपस में बांट लेते हैं। वेदाध्ययन समाप्त कर लौटने पर जब वह अपने भाइयों से हिस्सा मांगता है तो वे उसे 'धर्म रहस्यों के निर्णेता (निष्ठाव)' पिता के पास जाने को कहते हैं। पिता उसे अंगिरा ऋषि की यज्ञ में सहायता कर, उससे धनोत्पादन करने का परामर्श देता है। तैत्तिरीय संहिता की कथा से इस में यह बड़ा अन्तर है

---

१३. तै० सं० ३।१।९।४ मनुः पुत्रेभ्यो दायं व्यभजत्स नाभानेदिष्ठं ब्रह्मचर्यं वसन्तं निरभजत्स आऽगच्छत्सोऽब्रवीत्कथा मा निरभागिति न त्वा निरभाक्षमित्यब्रवीत्।

१४. ऐ० ब्रा० २२।९ नाभानेदिष्ठं वै मानवं ब्रह्मचर्यं वसन्तं भ्रातरो निरभजन्सोऽब्रवीदेत्य किं मह्यमभाक्तेत्येतमेव निष्ठावमववदितारमित्यब्रुवंस्तस्माद्धाप्येतर्हि पितरं पुत्रा निष्ठावोऽववदितेत्येवाऽऽचक्षते। स पितरमेत्याब्रवीत्त्वां ह वाव मह्यं तताभाक्षुरिति तं पिताब्रवीन्मा पुत्रक तदादृथाः।

कि यहां भाइयों ने पिता के जीवन काल में संभवतः पिता से विना पूछे आपस में पैतृक सम्पत्ति का बंटवारा कर लिया है। यह पिता की शक्ति क्षीण होने तथा पुत्रों का पक्ष प्रबल होने की सूचना देता है तथा तैत्तिरीय संहिता से एतरेय ब्राह्मण के युग तक हुए पुत्रों के अधिकार में वृद्धि का ज्ञापक है।

जैमिनीय ब्राह्मण (३।१५।६) से भी इस की पुष्टि होती है। इस में दी गयी अभिप्रतारण की कथा से ज्ञात होता है कि जब वह बूढ़ा लेटा हुआ था तो पुत्रों ने उस की सम्पत्ति बांट ली, बड़ा शोर हुआ, पिता ने पूछा—यह कैसा शोर है? उसे कहा गया—भगवन्, पुत्र आप की सम्पत्ति बांट रहे हैं। उस ने कहा—मैंने सुना था कि पिता के जीवित रहते हुए पुत्र दाय को प्राप्त कर लेंगे[१५]। ये शब्द उस की लाचारी और बेबसी स्पष्ट प्रकट कर रहे हैं। पिता के जीवित रहते हुए और उसके विरोधी होने पर भी पुत्रों द्वारा बंटवारे का यह उदाहरण ब्राह्मण युग के अन्त में पुत्रों के विभाग विषयक अधिकारों के बढ़ने का सूचक है।

किन्तु शास्त्रकारों ने पुत्र द्वारा पैतृक सम्पत्ति के विभाग विषयक इस अधिकार पर अंकुश लगाने का यत्न किया। कौटिल्य पिता के विभाग सम्बन्धी अधिकार का समर्थन करता हुआ कहता है—'उत्तम (कुलीन) तथा जीवित माता पिता वाले पुत्रों का (पैतृक धन में) स्वामित्व नहीं होता (अनीश्वराः पितृमन्तः); माता पिता के मरने के बाद ही पिता द्वारा कमाए धन का विभाग करना चाहिये[१६]। मनु (९।१०४) ने पिता के अधिकार के सम्बन्ध में कौटिल्य की व्यवस्था का अनुसरण किया और कहा कि भाई माता पिता के मरने पर ही, पैतृक सम्पत्ति को आपस में मिल कर समान रूप से बांट लें; क्योंकि माता पिता के जीवित रहते हुए उनका उस पर कोई स्वामित्व नहीं है[१७]। गौतम (२८।१) तथा शंख (दा० २९) ने पिता की मृत्यु के बाद ही बंटवारा करने को कहा[१८]।

---

१५. दे० ऊ० पृ० ४५

१६. कौ० ३।५ दायविभागः। अनीश्वराः पितृमन्तः स्थितपितृमातृकाः पुत्राः। तेषामूर्ध्वं पितृतो दायविभागः पितृद्रव्याणाम्।

१७. मनु० ९।१०४ ऊर्ध्वं पितुश्च मातुश्च समेत्य भ्रातरः समम्। भजेरन्पैतृकं रिक्थमनीशास्ते हि जीवतोः॥

१८. गौ० ध० सू० २८।१ ऊर्ध्वं पितुः पुत्राः रिक्थं भजेरन्। शंख (दा० पृ० २९ धर्मकोश २।११४८) अतऊर्ध्वं रिक्थविभागो, न जीवति पितरि पुत्रा रिक्थं भजेरन्।

**तीसरी स्थिति—पिता के ईशित्व की समाप्ति**—शास्त्रकारों की उपर्युक्त व्यवस्थायें समय के प्रवाह के विरुद्ध थीं, इसलिये ये पिता के स्वत्वों की रक्षा देर तक नहीं कर सकीं। शनैः शनैः पिता द्वारा अथवा उसकी मृत्यु के बाद बंटवारे का सिद्धान्त क्षीण होने लगा, इस विषय में पिता की प्रभुता अथवा ईशित्व समाप्त हो गया। पितृप्रभुत्व की प्रबल वकालत करने वालों को भी लाचारी में पिता के जीवित रहते हुए पुत्रों द्वारा बंटवारे का अधिकार मानना पड़ा। कौटिल्य ने यद्यपि 'अनीश्वराः पितृमन्तः' की घोषणा की, तथापि इस के साथ उसे यह मानना पड़ा कि अपने जीवनकाल में बंटवारा करने पर पिता किसी पुत्र को विशेष हिस्सा न दे और किसी को अकारण उसके भाग से वंचित न करे[१९]। गौतम ने पिता के जीवन काल में उस की इच्छा से तथा माता की रजोनिवृत्ति पर विभाग का काल माना (२८।२), बौधायन भी पिता के जीवित रहते हुए उसकी अनुमति से दाय भाग की व्यवस्था करता है (२।२।८)। नारद के समय पुत्रों का पक्ष इतना प्रबल हो गया था कि वह न केवल पिता के जीवन काल में कुछ अवस्थाओं में पुत्रों को विभाग का अधिकार देता है, अपितु रोगी, क्रोधी, विषयी, भोगपरायण, शास्त्रविरुद्ध कर्म करने वाले पिताओं से विभाग का अधिकार छीन लेता है[२०]। देवल संभवतः अन्तिम स्मृतिकार है, जो पिता के निर्दोष होने पर पुत्रों का पैतृक सम्पत्ति पर कोई स्वत्व नहीं मानता और उन्हें पिता की मृत्यु के बाद ही धन का बंटवारा करने को कहता है[२१]। पिछले अध्याय में यह बताया जा चुका है कि ११ वीं शताब्दी में पिता की अनिच्छा में भी पुत्रों को विभाग का अधिकार देकर विज्ञानेश्वर ने इस विषय में पिता के ईशित्व का समूलोन्मूलन किया था (दे० ऊ० पृ० ३५१)। इस समय बंगाल के अतिरिक्त शेष भारत में पिता और पुत्र के विभाग संबन्धी अधिकारों में कोई विषमता नहीं है। किन्तु बंगाल में जीमूतवाहन के प्रबल समर्थन से पिता के विभाग सम्बन्धी अधिकार पूर्ववत् बने हुए हैं।

---

१९. कौ० ३।५ जीवद्विभागे पिता नैकं विशेषयेत्। न चैकमकारणान्निर्भजेत्।

२०. नास्मृ० १६।१६ व्याधितः कुपितश्चैव विषयासक्तमानसः। अन्यथाशास्त्रकारी च न विभागे पिता प्रभुः॥

२१. (दा० १३, अप० २।११४) पितर्युपरते पुत्रा विभजेयुर्धनं पितुः। अस्वाम्यं भवेदेषां निर्दोषे पितरि स्थिते॥

**मध्यकालीन टीकाकार और पिता के विभाग विषयक अधिकार**--जीमूतवाहन प्राचीन शास्त्रों की सही व्याख्या करता हुआ सम्पत्ति पर पिता का ही पूर्ण स्वामित्व मानता है, विश्व रूप भी इसी मत का है; किन्तु विज्ञानेश्वर, देवण्ण भट्ट, वरदराज और मित्रमिश्र लोक प्रचलित व्यवस्था को स्वीकार करते हुए पिता के एकमात्र स्वाम्य को नहीं स्वीकार करते।

जीमूतवाहन ने मनु ( ९।२०४ ) तथा देवल के वचनों को उद्धृत करते हुए पिता के जीवित रहते हुए पुत्रों का सम्पत्ति पर अस्वामित्व माना है। मनु का वचन उद्धृत करने के बाद वह लिखता है, 'माता पिता के जीवित रहते हुए पुत्रों का धन पर कोई अधिकार नहीं है, किन्तु उसके मर जाने पर ही है। यही बात सूचित करने के लिए मनु आदि के वचन हैं[२२]। देवल के वचन पर उसने इसी प्रकार की टिप्पणी की है (दा० १३)। वह पिताके मरने के बाद ही सम्पत्ति पर पुत्रों का स्वत्व मानता है।

किन्तु विज्ञानेश्वर (या० २।११४) जन्म से ही पुत्रों का सम्पत्ति पर स्वत्व स्वीकार करता है। जब पुत्र को उत्पत्ति से ही पैतृक सम्पत्ति पर स्वत्व प्राप्त है तो पिता उस का कैसे अपहरण कर सकता है? विज्ञानेश्वर की व्यवस्था पिता के अधिकारों को मर्यादित एवं संकुचित करने वाली है। उसने ( अनीशास्ते हि जीवतोः मनु० ९।२०४ ) के सम्बन्ध में कहा कि यह वचन माता पिता द्वारा कमाए धन के विभाग में ही लागू होता है[२३], इस पर पुत्रों का कोई अधिकार नहीं। वरदराज[२४] देवण्ण भट्ट[२५] तथा-मित्रमिश्र ने (व्यप्र० पृ० ४३२) ने उपर्युक्त अस्वामित्व प्रतिपादक वचनों में अस्वाम्य का अर्थ अस्वातन्त्र्य किया। इस के अनुसार पुत्रों को पिता के जीवन

---

२२. दा० १८ जीवतोः पित्रोर्धने पुत्राणां स्वाम्यं नास्ति किन्तूपरतयोरिति ज्ञापनार्थं मन्वादिवचनम्।

२३. मिता० या० २।१२१ की टीका में--'जीवतोरस्वतन्त्रः स्याज्जरयापि समन्वितः' इत्येतदपि पारतन्त्र्यम् मातापित्रर्जितद्रव्यविषयं। तथा--'अनीशास्ते हि जीवतोः' इत्येतदपि।

२४. धर्मकोश २।११५७ एवमादीन्यस्वातन्त्र्यपराणि न स्वत्वाभावपराणि।

२५. स्मृच० २५६ अत्रास्वाम्यवचनमस्वातन्त्र्यप्रतिपादनार्थमिति मन्तव्यम्। व्यप्र० ४३२ निर्दोषे पितरि स्थिते--पितृधने पुत्राणां जन्मना स्वाम्यस्य लोकसिद्धत्वम्॥

में पिता की सम्पत्ति पर अधिकार तो था; किन्तु वे उसका यथेच्छ विनियोग नहीं कर सकते थे।

वर्तमान युग में बंगाल में पैतृक एवं स्वार्जित दोनों प्रकार की सम्पत्ति के यथेच्छ विनियोग ( दान विक्रय, त्याग ) का पिता को अधिकार प्राप्त है तथा पुत्र पिता के जीवित रहते हुए बंटवारा नहीं करा सकते। इसका मूल आधार सन् १८३१ का सदर दीवानी अदालत का यह फैसला है कि 'बंगाल प्रान्त में अवस्थित एक हिन्दू पिता अपनी स्थावर सम्पत्ति का विक्रय, दान या रेहन कर सकता है। अपने पुत्रों की अनुमति के विना वह उन्हें वसीयतनामे द्वारा इसके उत्तराधिकार से वंचित कर सकता है" ( मेन-हिन्दू ला दशम संस्करण पृ० ३५३ )। पुत्र का स्वत्व इस मामले में कितना नगण्य है, यह इससे स्पष्ट है कि एक पुत्र ने पिता द्वारा २००) रु० में खरीदी हुई ज़मीन पर स्वार्जित सम्पत्ति के २०४०) रु० लगा कर एक मकान बनाया, यह मकान पिता का ही समझा गया, क्योंकि पिता के जीवन काल में पुत्र को संयुक्त परिवार की सम्पत्ति में कोई स्वत्व नहीं था ( १३ कलकत्ता वी० नो० ३९७)।

बंगाल में पिताओं को यह अधिकार जीमूतवाहन के दायभाग के आधार पर दिया गया। वस्तुतः दायभाग पिता को यह पूर्ण अधिकार केवल स्वार्जित सम्पत्ति पर ही देता है, पैतृक सम्पत्ति पर नहीं। उसने लिखा है—'यह स्पष्ट है कि यदि पिता पुत्रों में बंटवारा करता है तो वह स्वोपार्जित धन में से अपनी इच्छा से पुत्रों को थोड़ा या बहुत हिस्सा दे सकता है; पैतृक सम्पत्ति में यह बात नहीं, क्योंकि उस पर पिता पुत्र दोनों का तुल्य स्वामित्व है, पिता का मनमानापन (स्वच्छन्द वृत्ति) नहीं[२६]। इस स्पष्ट वचन के होते हुए भी बंगाल के न्यायालयों ने स्वार्जित और पैतृक सम्पत्ति का भेद न रखते हुए जीमूतवाहन की व्यवस्था के साथ न्याय नहीं किया। इस का प्रधान कारण संभवतः कोलब्रुक द्वारा किया गया दायभाग के दूसरे अध्याय के ४६ वें पैराग्राफ का अशुद्ध अनुवाद है। इसमें पिता को दो अंश देने का समर्थन करते हुए जीमूतवाहन ने पिता के साथ विशेष व्यवहार के अनेक कारण दिये हैं। इनमें से एक यह भी है कि उसे दान विक्रय और त्याग का अधिकार है ( दान-

---

२६. दाय भाग पृ० ३२ इदं सुव्यक्तं यदि पिता पुत्रान्विभजति तदा स्वोपार्जेऽर्थे न्यूनाधिकविभागं स्वेच्छया पुत्रेभ्यो दद्यात् पैतामहे तु नैतत् यस्मात्तत्र तुल्यं स्वामित्वं न पुनः पितुः स्वच्छन्दवृत्तिता।

विक्रयपरित्यागक्षमस्य )। यहां जीमूतवाहन वस्तुतः निरुक्त ( ३।४) और वसिष्ठ ( १५।२ ) की व्यवस्था को शब्दशः दोहरा रहा है, उसका अभिप्राय पिता द्वारा पुत्रों के दान, विक्रय और परित्याग का था। किन्तु कोलब्रुक इस प्राचीन परम्परा से अनभिज्ञ होने के कारण यहां इस का अर्थ करता है—पिता को सम्पत्ति के दान, विक्रय और त्याग का अधिकार है। १८३१ ई० में सदर दीवानी अदालत के तथा परवर्त्ती निर्णय इस भ्रान्त अनुवाद के आधार पर हुए हैं।

मिताक्षरा द्वारा शासित प्रदेशों में पुत्रों का पिता की सम्पत्ति पर जन्म से स्वत्व होता है, अतः पुत्र पिता को बंटवारे के लिये बाधित कर सकता है। (५ कल० १४८ [१६५] प्रि० कौ०)।

पिता द्वारा पैतृक सम्पत्ति बंटवारे की यह व्यवस्था तीन अवस्थाओं में से गुजरी है। पहली अवस्था में (प्रारम्भ से ४ थी शती ई० ) पिता बंटवारे में अपने लिए यथेच्छ सम्पत्ति रख सकता था। दूसरी अवस्था में ( ४ थी ई० से ११ वीं शती ई०) पिता को दो अंश रखने की अनुमति दी गई। तीसरी अवस्था में यह अनुमति केवल स्वार्जित सम्पत्ति तक सीमित रखी गई, पैतृक सम्पत्ति में पिता को पुत्रों के तुल्य भाग दिया जाने लगा।

**पहली अवस्था**—इसे हारीत का धर्मसूत्र सूचित करता है। इसके अनुसार पिता सम्पत्ति में जितना भाग चाहे, उतना अपने लिए रख कर शेष धन बांट देता था। 'पिता अपने जीवन काल में ही पुत्रों में सम्पत्ति का बँटवारा कर वानप्रस्थ हो या संन्यास ग्रहण करे, अथवा थोड़ी सम्पत्ति पुत्रों में बांट दे और अधिक द्रव्य स्वयं लेकर घर में ही रहे। यदि वह निर्धन हो जाय तो ( अपने दिये भाग में से कुछ हिस्सा कुटुम्ब पालन करने के लिए पुनः ) पुत्रों से वापिस ले ले। यदि पुत्र निर्धन हों तो उनको फिर अपनी सम्पत्ति बांट दे"[२७]। हारीत ने अपने मन्तव्य के समर्थन में ऊपर उद्धृत तैत्तिरीय सं० (दे० पृ० ४०५)के वचन से मिलती हुई एक प्राचीन श्रुति का उल्लेख किया है।

**दूसरी अवस्था**—पिता को अपने लिए यथेच्छ धन ग्रहण करने का अधि-

---

**२७. हारीत (स्मृच २६२, धर्मकोश २।११६३) जीवन्नेव वा पुत्रान् प्रविभज्य वनमाश्रयेत। वृद्धाश्रमं वा गच्छेत्। स्वल्पेन वा विभज्य भूयिष्ठमादाय वसेत्। यद्युपदस्येत्पुनस्तेभ्यो गृह्णीयात्। क्षीणांश्च विभजेत्।**

कार देर तक नहीं रहा। पुत्रों का पक्ष प्रबल होने पर यह समझा जाने लगा कि पिता द्वारा इस प्रकार मनमाना भाग लेना ठीक नहीं है, उसका अंश निश्चित हो जाना चाहिये, यह निश्चित भाग पुत्रों के अंश से दुगना माना गया। अथर्व (१२।२।३५) में पिता के द्विभागहर होने का अस्पष्ट उल्लेख है; किन्तु नारद (४थी शती ई०) ने पिता के दो हिस्से लेने का स्पष्ट विधान किया है[२८]। बृह० (दा० पृ० ३६,४४; स्मृच० पृ० २६१) ने भी इसका अनुमोदन किया[२९]। कात्या० (दा० ४९, दात, १७४) ने पिता को पुत्र के कमाए धन का आधा द्रव्य या दो भाग देने की व्यवस्था की[३०]।

**तीसरी अवस्था (११ वीं शती से वर्तमान समय तक)**——विज्ञानेश्वर पुत्रों के अधिकारों का प्रबल समर्थक था। वह पैतृक सम्पत्ति में पिता का कोई विशेष अधिकार नहीं मानता था, किन्तु पिता के द्व्यंशहर होने का समर्थन करने वाले शास्त्रीय वचन इसमें बाधक थे, अतः उसने यह लिखा कि नारद का उपर्युक्त वचन स्वार्जित सम्पत्ति पर ही लागू होता है (या० २।१२१ पर-मिता०)। हरिनाथ, मदनसिंह, वरदराज, भवस्वामी, मित्रमिश्र, दिनकर भट्ट विज्ञानेश्वर की व्याख्या के समर्थक हैं।

किन्तु जीमूतवाहन ने पिता द्वारा दो अंश लेने का समर्थन किया। "जब ज्येष्ठ पुत्र को द्विभागहर बनाया गया है तो पिता को क्यों न बनाया जाय? पिता में अनेक विशेषताएँ हैं, वह (पुत्रों का) उत्पादक है, उसे पुत्रों के दान, विक्रय तथा परित्याग का अधिकार है, वह पितामह के धन पर पौत्रों के सम्बन्ध का कारण होता है, अतिपूज्य है, अतः उसे दुगना हिस्सा मिलना

---

२८. अथर्व० १२।२।३५ द्विभागधनमादाय प्र क्षिणात्यवर्त्या। अग्निः पुत्रस्य ज्येष्ठस्य यः क्रव्यादनिराहितः ॥ना० स्मृ० १६।१२ द्वावंशौ प्रतिपद्येत विभजन्नात्मनः पिता। मि० मिताक्षरा (२।१२१) इत्येतदपि स्वार्जितविषयम्। ; किन्तु दा० (पृ० ३६-३७) इसके आधार पर पैतामह धन में से पिता द्वारा दो हिस्से लेने का उल्लेख करता है।

२९. बृह० (दा० ३६,४४) जीवद्विभागे तु पिता गृह्णीतांशद्वयं स्वयम्। दाय भाग की इस पर यह टिप्पणी है——सामान्येनांशद्वयाभिधानोपदेशो बृहस्पतिना दर्शितः पृ० ४४।

३०. कात्या० (दा० ४९, दात १७४) द्व्यंशहरोऽर्धहरो वापुत्रवित्तार्जनात्पिता।

ही चाहिये[३१]"। जीमूत० ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि पिता का द्व्यंश ग्रहण का यह अधिकार पैतृक (पैतामह) सम्पत्ति में ही है (दा०पृ० ३२)। वह इस अधिकार को स्वार्जित सम्पत्ति तक सीमित करने का विरोधी है[३२]और इस संबन्ध में उसने बड़ी प्रवल युक्ति दी है--"पिता का द्व्यंश ग्रहण स्वार्जित सम्पत्ति में ही होता है, यह कहना ठीक नहीं हैं, क्योंकि (स्वार्जित सम्पत्ति का) बंटवारा पिता की इच्छा के अनुसार होता है और इच्छा से विभाग करने में, दो भाग, तीन भाग, इन से कम या अधिक भाग भी पिता प्राप्त कर सकता है। ऐसा करने से दो भाग लेने की विधि व्यर्थ हो जायगी और यदि यह कहा जाय कि दो भाग लेने का नियम बनाने के लिए यह वचन कहा गया है तो विष्णु[३३] के (पिता को स्वार्जित सम्पत्ति में पूरी स्वतन्त्रता देने वाले) वचन का विरोध होगा[३४]"। बृहस्पति के ऊपर उद्धृत किये वचन पर टिप्पणी करते हुए जीमूत० ने पैतृक धन से पिता के दो भाग ग्रहण करने के अधिकार को स्वीकार किया (दा० ३६)।

पैतृक सम्पत्ति में पिता के अधिकार के अतिरिक्त जीमूतवाहन ने कात्यायन के ऊपर उद्धृत वचन के आधार पर पुत्र के कमाए हुए धन में से पिता को विशेष भाग दिया है—"यदि पुत्र पिता के द्रव्य के उपयोग से कुछ सम्पत्ति कमाता है तो उसका आधा भाग पिता को मिलता है (और शेष आधे भाग में से) पुत्र को दो अंश मिलते है, बाकी दायादों को एक एक अंश। यदि पिता की संपत्ति का उपयोग न किया गया हो तो उस में पिता के दो हिस्से होते हैं, पुत्र के भी इतने ही भाग होते हैं; शेष दायादों का इसमें कोई अंश नहीं

---

३१. दा० ४४ पृ० तदेवमुक्तप्रबन्धेन यत्र भ्रातुरेव पितृधने भागद्वयं कथा तत्र जनकस्य दानविक्रयपरित्यागक्षमस्य पितामहसंबन्धमूलस्य अतिगुरोः पितुरेव स्वपितृधने भागद्वयं न संभवति ?

३२. दा० पृ० ३६, स्वार्जितधनात्तु यावदेव ग्रहीतुमिच्छति तावदेव गृह्णीयात्।

३३. विष्णु० १७।१, पिता चेत् पुत्रान् विभजेत् तस्य स्वेच्छा स्वयमुपात्तेऽर्थे।

३४. दा० वहीं--किंच पितुरंशद्वयाभिधानं स्वोपात्तद्रव्यगोचरमित्यनुपपन्नं तदिच्छानुरोधित्वाद्विभागस्य, इच्छातश्च भागद्वयत्रयन्यूनाधिकानामपि प्राप्तेर्विफलो विधिः, नियमार्थत्वं च वचनस्य न वर्णनीयं विष्णुविरोधात्॥

होता । अथवा पिता के विद्या आदि गुणों से सम्पन्न होने पर, उसे आधा भाग दिया जाय; क्योंकि हम यह देखते हैं कि विद्या आदि के कारण बड़ा होने पर एक भाई को अन्य भाइयों की अपेक्षा अधिक अंश दिया जाता है; विद्यादि से हीन होने पर सन्तान का ( उत्पादक) होने से ही (पिता) द्व्यंश-हर होता है । अतः कुल परम्परा से प्राप्त धन में से या पुत्र द्वारा कमाए धन से पिता स्वयं दो भाग ग्रहण करे[३५]" ।

जीमूतवाहन की इस व्यवस्था का रघुनन्दन ने समर्थन किया, किन्तु मित्रमिश्र (व्य०प्र० ४४५)मिताक्षरा(२।१२१) का अनुमोदन करते हुए इसका घोर विरोधी है । उसने जीमूत० की व्याख्या को इसलिए दोषयुक्त बताया,; क्योंकि वह "पुत्रवित्तार्जनात्" में षष्ठी तत्पुरुष का समास मानता है; मित्र-मिश्र यहां द्वन्द्व समास मानता हुआ[३६] इसका अर्थ जीमूत० से बिल्कुल भिन्न करता है और पिता के द्व्यंश ग्रहण का अधिकार केवल पिता की स्वार्जित संपत्ति में ही मानता है । धन का आधा भाग या दो अंश ग्रहण करने की जीमूत० की व्यवस्था हमें उचित नहीं जान पड़ती । जीमूतवाहन को इस बात का श्रेय है कि उसने स्वार्जित संपत्ति की बड़ी उदार व्याख्या की, किन्तु पुत्र की स्वार्जित संपत्ति के विषय में उसका यह अनुदार दृष्टिकोण बहुत विचित्र प्रतीत होता है । संभवतः इसका यह कारण है कि वह बंटवारे में पिता को अधिक अधिकार देना चाहता है ।

**पिता द्वारा विषम विभाग**—प्राचीन काल में जब सम्पत्ति में पिता का पूर्ण स्वामित्व स्वीकार किया जाता था तो यह सर्वथा स्वाभाविक था कि उसे यह सम्पत्ति पुत्रों में अपनी इच्छा के अनुसार बांटने का भी अधिकार हो । हम देख चुके है कि हारीत पिता को इसी प्रकार का अधिकार देता है

---

३५. दा० ५१ तत्र पितृद्रव्योपघातेन पुत्रार्जितवित्तस्यार्धं पितुः अर्जकस्य पुत्रस्यांशद्वयं इतरेषां एकैकांशिता अनुपघातेन तु पितुरंशद्वयं अर्जकस्यापि तावदेव इतरेषामनंशित्वम् । यदा विद्यादिगुणसम्पन्नस्य पितुरर्धहरत्वं विद्यादिनाऽपिज्येष्ठस्यैवाधिकांशदर्शनात् , विद्यादिशून्यस्य जनकता मात्रेण द्व्यंशित्वम् । तेन क्रमागतधनाद्वा पुत्रार्जितधनाद्वा भागद्वयं पिता स्वयं गृह्णीयात् ।

३६. षष्ठी तत्पुरुष के अनुसार इस का विग्रह है—'पुत्रस्य वित्तार्जनात्' । द्वन्द्व समास में इसका विग्रह इस प्रकार है—पुत्रश्च वित्तं चेति पुत्रवित्ते तयोर्रर्जनात् ।

(दे० उ० पृ० ४११) किन्तु धर्मसूत्रों के समय से पुत्र के अधिकारों का समर्थक एक वर्ग पितासे इस विषम विभाग के अधिकार को छीनने का यत्न कर रहा था। ऐसा जान पड़ता है कि पिताओं के पास यह अधिकार छठी शती० ई० तक ही रहा। बृहस्पति इसका अन्तिम समर्थक था। कात्यायन ने सर्वप्रथम समविभाग पर बल दिया और १२ वीं शती के प्रारम्भ तक इस मत का इतना आदर हो गया कि पिता के अधिकारों के प्रबल पोषक जीमूतवाहन को भी यह स्वीकार करना पड़ा कि पिता को बंटवारे में किसी पुत्र के साथ पक्षपात करने का अधिकार नहीं है।

वैदिक साहित्य में कुछ ऐसे संकेत पाये जाते हैं, जिनसे यह सूचित होता है कि पिता अपने किसी एक पुत्र को स्वेच्छापूर्वक अपना उत्तराधिकारी बना सकता था; इसके लिए ज्येष्ठ पुत्र को चुनना आवश्यक न था। इस प्रकार के चुनाव में में प्रेम ही मुख्य निर्णायक तत्त्व होता था। शत० ब्रा० ५।४।२।८ में पिता अपने प्रियतम पुत्र के हाथ में पात्र देता हुआ कहता है—'मेरा यह पुत्र मेरे पौरुष को स्थिर रक्खे[३७]'। ताण्डच ब्राह्मण।१६।४।४।३-४ से भी यही स्थिति सूचित होती है—"प्रजापति ने यह कामना की कि मेरी सन्तानों में इन्द्र सर्वश्रेष्ठ हो। उसने (अपनी) माला इन्द्र को प्रदान की। सन्तानों ने इन्द्र की श्रेष्ठता स्वीकार की।.......अतः पुत्रों में जो दाय में अधिकतम संपत्ति प्राप्त करता है, लोग उसके सम्बन्ध में यह मानते हैं कि यह पुत्र (सारी पैतृक संपत्ति का स्वामी) होगा"[३८]। संभवतः इन्हीं प्रमाणों के आधार पर कीथ और मैकडानल इस परिणाम पर पहुँचे हैं—'सब संदर्भ इस विचार का खण्डन करते हैं कि परिवार की सम्पत्ति कानूनी तौर से पारिवारिक सम्पत्ति थी; इस पर परिवार के सब व्यक्तियों का स्वत्व था। यह स्पष्ट है कि यह घर के मुखिया (प्रायः पिता) की सम्पत्ति होती थी। परिवार के दूसरे सदस्यों का इस पर केवल नैतिक अधिकार ही होता था। पिता इस अधिकार की उपेक्षा कर सकता था' (वैदिक इंडैक्स १।३५१)।

---

३७. शत० ब्राह्मण ५।४।२।८ तद्योऽस्य पुत्रः प्रियतमः। तस्मा एतत्पात्रं प्रयच्छतीदं येऽयं वीर्यं पुत्रोऽनुसन्तनवदिति।

३८. ता० ब्रा० (१६।४।४।३-४) सोऽकामयतेन्द्रो मे प्रजायां श्रेष्ठः स्यादिति तास्स्मै स्रजं प्रत्य मुंचत्ततो वा इन्द्राय प्रजाः श्रैष्ठयायातिष्ठन्त।.... तस्माद्यः पुत्राणां दायं धनतममिवोपैति तं मन्यतेऽयमेवेदं भविष्यतीति॥

अपनी इच्छानुसार पुत्रों में मनमाना बंटवारा करने के पिता के अधिकार पर प्रतिबन्ध लगाने वाला सर्वप्रथम धर्मसूत्रकार आपस्तम्ब ही प्रतीत होता है। वह कहता है कि पिता अपने जीवन काल में क्लीब (नपुंसक) उन्मत्त तथा पतित ( जाति बहिष्कृत ) पुत्रों को छोड़ कर, ( अन्य पुत्रों में) दाय का समान रूप से विभाग करे[३९]। आप० के सामने समान विभाग में सब से बड़ी बाधा थी—शास्त्रीय प्रमाण तथा लोकाचार द्वारा ज्येष्ठ पुत्र को, अन्य अन्य पुत्रों की अपेक्षा दिया जाने वाला विशेष अंश। ज्येष्ठ पुत्र के अधिकारों के प्रकरण में इसका विस्तार से विचार होगा। यहां इतना कहना पर्याप्त है कि आप० ने ज्येष्ठ पुत्र के विशेष अंश ग्रहण करने के अधिकार को स्वीकार नहीं किया और अपने मन्तव्य की पुष्टि में "मनुः पुत्रेभ्यो दायं व्यभजत्' ( तै० सं० ३।१।९।४ ) का प्रमाण उपस्थित किया, उसके मतानुसार इस वचन में श्रुति द्वारा अविशेष ( समान) विभाग की ही व्यवस्था की गई है[४०]। यद्यपि श्रुति में समान या तुल्य शब्द का प्रयोग नहीं है, किन्तु आपस्तम्ब के टीकाकार हरदत्त के अनुसार 'पुत्रेभ्यः' का बहुवचन में किया गया प्रयोग तुल्य विभाग को सूचित करता है[४१]।

किन्तु आप० की यह व्यवस्था मान्य नहीं हुई। याज्ञ० (२।११४-११६) पिता को इच्छानुसार विभाग करने की आज्ञा देता है। पिता चाहे तो ज्येष्ठ पुत्रको श्रेष्ठ भाग दे अथवा सभी पुत्र समान अंश ग्रहण करने वाले हों[४२]। याज्ञवल्क्य इतनी व्यवस्था से ही सन्तुष्ट नहीं हुआ; किन्तु उसने यह भी कहा कि पिता द्वारा किया गया न्यून या अधिक अंशों का विभाग धर्मानुकूल है[४३]। नारद, याज्ञ० की इन दोनों व्यवस्थाओं का अनुकरण करता है और विषम विभाग के धर्मानुकूल होने के कारण का भी निर्देश करता है।—"सम, न्यून, या अधिक धनों के साथ पिता द्वारा जो विभाग किया गया है, उन दायादों के

---

३९. आप० धर्म सूत्र २।१४।१ जीवन्पुत्रेभ्यो दायं विभजेत समं क्लीबमुन्मत्तं पतितं च परिहाप्य। मि० हिरण्यकेशी धर्मसूत्र २।७

४०. वहीं २।१४।११ मनुः पुत्रेभ्यो दायं व्यभजदित्यविशेषेण श्रूयते।

४१. वहीं–पुत्रेभ्य इति बहुवचननिर्देशादित्यविशेषेण श्रूयते।

४२. याज्ञ० २।११४ विभागं चेत्पिता कुर्यादिच्छया विभजेत्सुतान्। ज्येष्ठं वा श्रेष्ठभागेन सर्वे वा स्युः समांशिनः॥

४३. वहीं २।११६ न्यूनाधिकविभक्तानां धर्म्यः पितृकृतः स्मृतः।

लिये वही धर्म है, क्योंकि पिता निश्चित रूप से सब का स्वामी है (सर्वस्य हि पिता प्रभुः)[४४]। यहां यह स्पष्ट नहीं है कि 'सर्वस्य' (सबका) विशेषण का विशेष्य क्या है? यह पुत्र, विभाग या धन तीनों का विशेषण हो सकता है और ये तीनों पिता के प्रभुत्व को सूचित करते हैं।

बृहस्पति (दा० ५३, अप० २।११४,११६) ने इस सम्बन्ध में जो व्यवस्था की है, वह कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। याज्ञ०, नारद आदि की व्यवस्थाओं में पिता के विषम विभाग को धर्मानुकूल मानने का विधान है। ऐसा प्रतीत होता है कि छठी श० ई० में, पुत्रों ने इस व्यवस्था के धर्मानुकूल होने पर भी, इसका पालन करने से इन्कार किया। यह स्पष्ट था कि पुरानी व्यवस्था से काम काम नहीं चल सकता था। अतएव बृहस्पति को यह आवश्यकता प्रतीत हुई कि वह पुरानी व्यवस्था की अपेक्षा अधिक कठोर विधान बनाये। अतएव उसने यह कहा—"पिता ने जिन (दायादों के) सम, न्यून या अधिक भाग निश्चित कर दिये हैं, उनका इसी प्रकार पालन हो; यदि उनका वैसा पालन नहीं होता तो उन दायादों को दण्डित (विनेय) किया जाना चाहिए[४५]"।

किन्तु समय के प्रभाव से पुत्रों का अधिकार बढ़ चुका था। बृह० अपनी कैन्यूट जैसी आज्ञाओं से उनके अधिकार के ज्वार को अधिक देर तक नहीं रोक सकता था। शास्त्रकारों को लोकाचार के सम्मुख नतमस्तक होना पड़ा। कात्यायन ने यह अनुभव किया कि बृह० ने दण्ड के जिस बांध से पुत्राधिकार के प्रबल प्रवाह को रोकना चाहा था, वह भग्न हो चुका है। प्राचीन शास्त्र (आपस्तम्ब के अपवाद को छोड़कर) सम विभाग के विरोधी थे; किन्तु लोकमत इसका प्रबल पोषण कर रहा था। शास्त्र और लोकाचार में प्रायः पिछला ही विजयी होता है। अतः कात्यायन ने घोषणा की कि सम विभाग ही धर्मानुकूल है[४६]। इसके बाद, उसने याज्ञ०, बृह० और नारद द्वारा स्पष्ट

---

४४. नारद स्मृ० १६।१५ पित्रैव तु विभक्ता ये समन्यूनाधिकैर्धनैः। तेषां स एव धर्म्यः स्यात्सर्वस्य हि पिता प्रभुः॥

४५. बृह० (दा० पृ० ५३, अप० २।११४, ११६) समन्यूनाधिकाः भागाः पित्रा येषां प्रकल्पिताः। तथैव ते पालनीया विनेयास्तेस्युरन्यथा॥

४६. कात्यायन (स्मृच० २६०) सकलं द्रव्यजातं यद्भागैर्गृह्णन्ति तत्समैः। पितरौ भ्रातरश्चैव विभागो धर्म्य उच्यते॥

शब्दों में स्वीकार किये गये पिता के विषम विभाग के अधिकार पर कुठाराघात किया—"अपने जीवन काल में विभाग करने पर पिता किसी पुत्र के साथ (अधिक भाग देकर) विशेषता (पक्षपात प्रदर्शन) न करे तथा किसी को विना कारण अकस्मात् (क्रोधादि से) उसके भाग से वञ्चित न करे"[४७]। कात्या० के इस वाक्य को हिन्दू परिवार में पुत्रों के अधिकार का मैग्ना कार्टा कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी।

टीकाकारों में विश्वरूप ने पुरानी व्यवस्था का समर्थन करना चाहा। यद्यपि उस समय प्रथा द्वारा पिता के विषम विभाग के अधिकार में परिवर्तन आ गया था, तथापि विश्वरूप के सामने याज्ञ० (२।११४) का इस अधिकार का प्रतिपादक स्पष्ट वचन विद्यमान था। उसने असंदिग्ध शब्दों में पिता के स्वत्व को स्वीकार किया। "उस समय (विभाग के समय पिता अपनी) इच्छा से जिस पुत्र को जितना धन देना पसन्द करता है, उसे उतना ही धन दे। पुत्रों की इच्छा से उनमें धन न बांटे। पुत्र पिता से विभाग नहीं करवा सकते और न वे पिता से किसी विशेष नियम का पालन करवा सकते हैं।...... वहां (विभाग में) वैसा ही होना चाहिए, जैसी पिता की इच्छा हो। पुत्रों के आश्रय से की जाने वाली विभाग सम्बन्धी व्यवस्था दोष पूर्ण (अनवद्य) है[४८]"। विभाग में पिता के अमर्यादित अधिकार का इससे अधिक विशद प्रतिपादन क्या हो सकता है?

परन्तु विज्ञानेश्वर ने, पुत्रों के अधिकार का समर्थक होने से पिता के इस अधिकार को मर्यादित किया, याज्ञ० २।११४ की व्यवस्था को अपनी व्याख्या द्वारा संकुचित बनाया। उसके मत में यह विषम विभाग स्वर्जित सम्पत्ति के सम्बन्ध में ही किया जाता है[४९]। यह हम पहले देख चुके हैं (पृ०३६७) कि स्वर्जित सम्पत्ति को विज्ञानेश्वर ने कितना सीमित बनाया है, अतः इस व्यवस्था

---

४७. कात्या० (दा० ५६) जीवद्विभागे तु पिता नैकं पुत्रं विशेषयेत्। निर्भाजयेन्न चैवैकमकस्मात्कारणं विना॥ ऐसी व्यवस्था यद्यपि कौ० ३।५ में है (दे० ऊ० पृ० ३७५); किन्तु यह उस समय सर्वमान्य नहीं हुई।

४८. विश्व० २।११८ तदेच्छया यावद् यस्मै रोचते दातुं, तावदेव तस्मै दद्यात्, न पुत्रेच्छया। न पुत्रैः पिता विभागं विशेष नियमं वा कारयितव्य इत्यर्थः। ......तत्र तथैव स्याद् यथैव पितुरिच्छेति पुत्राश्रयो विधिरनवद्यः।

४९. मिता० २।११४ अयं च विषमो विभागः स्वार्जितद्रव्यविषयः।

को स्वोपात्त द्रव्य के विषय में लागू करके, उसने पिता से मनमाने बंटवारे का अधिकार लगभग छीन ही लिया।

जीमूतवाहन सम्भवतः प्राचीन परम्परा का विचार करते हुये इस अधिकार को पैतृक सम्पत्ति पर ही लागू करता है (दा० पृ० ५३)। किन्तु अन्य निबन्धकार उससे सहमत नहीं हैं। देवण्ण भट्ट पिता के अधिकार को मर्यादित करता हुआ कहता है कि बृहस्पति के उपर्युक्त वचन में 'शास्त्रोक्त रीति से' यह पद अवशिष्ट है[५०]। इसका मतलब यह है कि पिता को शास्त्र में वर्णित ज्येष्ठादि पुत्र को ही विशेष अंश देने का अधिकार है, अपनी मनमानी करने का नहीं। विज्ञा० स्वर्जित सम्पत्ति में पिता को यथेच्छ अधिकार देने को तैयार था, किन्तु देवण्ण भट्ट उसे यह अधिकार भी देने को तय्यार नहीं। 'पिता अपने अर्जित धन में भी यदि एक पुत्र को हजार स्वर्ण मुद्राएँ (निष्क) बांटता है और दूसरे को केवल एक कौड़ी देता है तो यह विभाग धर्मानुकूल नहीं हो सकता"। विज्ञानेश्वर ने पैतृक सम्पत्ति के स्वेच्छापूर्वक विभाग का पिता से अधिकार स्वर्जित सम्पत्ति तक सीमित किया था, देवण्ण भट्ट ने स्वार्जित सम्पत्ति में भी उसके अधिकार को शास्त्रोक्त विधि द्वारा मर्यादित किया।

माधवाचार्य (पमा० ४९२) और प्रतापसिंह देव (सवि० ३५४) ने पिता के इस अधिकार को बिल्कुल समाप्त कर दिया। ऐसा जान पड़ता है कि १४ वीं शती तक हिन्दू समाज में पिता द्वारा स्वेच्छा पूर्वक या शास्त्रोक्त विषम विभाग की पद्धति बिल्कुल उठ चुकी थी। १२ वीं शती में देवण्ण भट्ट भी इसे दूसरे युग की प्रथा बताता है (स्मृच० २७९) तथा स्वार्जित सम्पत्ति में विषम विभाग को शास्त्रोक्त रूप में ही इसे स्वीकार करता है। किन्तु माधवाचार्य शास्त्रोक्त होने पर भी इसे लोक व्यवहार के प्रतिकूल होने से अकरणीय ठहराता है—"यह ठीक है कि विषम विभाग शास्त्रोक्त है; किन्तु लोकाचार विरोधी होने से इसका उसी प्रकार आचरण नहीं किया जाता जैसे शास्त्रविहित होने पर भी यज्ञ में गौ का वध नहीं किया जाता[५१]"। वरदराजने माधवाचार्य का समर्थन किया। प्रतापसिंहदेव ने लोक विरोधी होने के अतिरिक्त

---

**५०. स्मृच० २६१ पित्रा शास्त्रावगत प्रकारेणेति शेषः।... नहि स्वेच्छयैव स्वार्जितधनेऽपि कस्यचित्पुरुषस्य निष्कसहस्रेण कस्यचित्पुत्रस्य कपर्दिकमात्रेण विभागः कृतो धर्म्यो भवितुमर्हति।**

**५१. प० मा० ४९२ सत्यं शास्त्रतो विषमविभागोऽस्ति तथापि लोकविद्विष्टत्वादनुबन्ध्यादिवत् नानुष्ठीयते॥**

दूसरे श्रुति वचनों का विरोधी होने से विषम विभाग को अपालनीय बताया[५२]। इसके बाद पिता का यह अधिकार स्वार्जित सम्पत्ति तक सीमित रह गया।

**पैतृक सम्पत्ति पर पिता का अधिकार**—विष्णु ने सर्वप्रथम स्वाम्य की दृष्टि से पिता की सम्पत्ति के दो भाग किये (१) स्वार्जित सम्पत्ति, (२) पैतामह (पितामह या दादा से प्राप्त) सम्पत्ति। 'पिता यदि पुत्रों में सम्पत्ति का बंटवारा करता है तो स्वार्जित सम्पत्ति में उसे इच्छानुसार विभाग का अधिकार है, किन्तु पैतामह सम्पत्ति में पिता और पुत्र दोनों का समान रूप से स्वामित्व होता है[५३]। याज्ञ० ने २।१२१ में इस प्रकार की सम्पत्ति की कुछ विस्तार से चर्चा की है। 'जो भूमि, निबन्ध[५४] या अन्य सम्पत्ति दादा से प्राप्त की जाती है, उसमें पिता और पुत्र दोनों का स्वाम्य समान होता है'[५५]। बृह० ने दादा से प्राप्त स्थावर, जंगम सम्पत्ति पर पिता पुत्र दोनों का तुल्य भाग माना है (दा० ४५-४६, अप० २।१२१)। व्यास भी यही व्यवस्था करता है।

---

५२. सवि० ३५४ विषमविभागश्च शास्त्रदृष्टोऽपि लोकविरोधात् श्रुत्यन्तरविरोधत्वान्नानुष्ठेय इति ॥

५३. विष्णु स्मृति १७।१-२ पिता चेत्पुत्रान्विभजेत् तस्य स्वेच्छा स्वयमुपात्ते ऽर्थे। पैतामहे त्वर्थे पितापुत्रयोस्तुल्यं स्वामित्वम् ॥

५४. निबन्ध के अर्थ के सम्बन्ध में टीकाकारों व निबन्ध लेखकों में पर्याप्त मतभेद है। इसका विज्ञानेश्वर सम्मत अर्थ तो निर्धारित मूल्यवाली सम्पत्ति (Evaluated Property) प्रतीत होता है। विश्व० इसका अर्थ अक्षय निधि करता है, जीमूतवाहन इसे प्रतिज्ञात धन समझता है (निबन्धः कात्तिवयानिधि मिदं दास्यामीति यन्निबद्धम् दा० ३०) देवण भट्ट इसे याचको द्वारा विभिन्न वस्तुओं का नियत रूप से लिया जाने वाला अंश मानता है (निबन्धः क्लृप्तया याचकादिभिः पण्यादिषु गृह्यमाणोंऽशः। स्मृच० २७९) चंडेश्वर इसे खान आदि से प्राप्त होने वाला नियत धन समझता है (वि० ५६१) प्रतापसिंह राजा के मंत्री या मुख्याधिकारी से नियत की गई दैनिक या मासिक वृत्ति को निबन्ध मानता है (स० वि० ३७३) मित्रमिश्र राजा द्वारा निश्चित घाटों पर, तथा नदी पार कराने वालों द्वारा ली गई चुंगी को निबन्ध कहता है।

५५. याज्ञ० २।१२१ भूर्या पितामहोपात्ता निबन्धो द्रव्यमेव वा। तत्र स्यात्सदृशं स्वाम्यं पितुः पुत्रस्य चोभयोः ॥

विज्ञा० ने याज्ञ० २।१२१ की व्याख्या करते हुये कुछ महत्वपूर्ण परिणाम निकाले हैं; इन से उसने पिता के अधिकार कम करके पुत्र पौत्रों को कुछ अधिक स्वत्व दिये हैं। वह मनु द्वारा प्रतिपादित पिता के जीवनकाल में पुत्रों के अनीशित्व या अस्वाम्य को स्वार्जित सम्पत्ति तक परिमित करता है और यह कहता है 'माता के निवृत्त रजस्का न होने तथा पिता द्वारा विभाग न चाहने पर भी पुत्र की इच्छा से पैतामह संपत्ति का विभाग हो सकता है। यदि पिता पुत्रों से विभक्त नहीं हुआ है और वह उस अवस्था में पैतामह सम्पत्ति का दान या विक्रय करता है तो पौत्र को उसे इसके दान या विक्रय करने से रोकने का अधिकार है। पिता द्वारा कमाई सम्पत्ति में पुत्र को यह विशेषाधिकार प्राप्त नहीं है, क्योंकि उस पर पिता का स्वत्व है[५६]। विज्ञानेश्वर ने स्वार्जित सम्पत्ति में भी पुत्र का अधिकार बढ़ाया है "पिता को इस के विक्रय या दान में भी पुत्र की अनुमति प्राप्त करनी चाहिए, यद्यपि पैतामह और पैतृक (पिता द्वारा उपार्जित) सम्पत्ति में पौत्र का अधिकार जन्म ग्रहण करने से ही है, तथापि पैतृक सम्पत्ति में वह पिता के आधीन है, पिता के अर्जक होने के कारण, उसका प्राधान्य है, अतः पिता द्वारा स्वार्जित सम्पत्ति का उपयोग करने पर पुत्र से अनुमति ली जानी चाहिये[५७]।"

निःस्सन्देह विज्ञानेश्वर के समय तक एक नया युग प्रारम्भ हो गया था। पुराने जमाने में पिता को सारी सम्पत्ति पर पूरा अधिकार था, अब उसे अपनी कमायी सम्पत्ति के दान या विक्रय के लिए भी पुत्र से अनुमति प्राप्त करना उचित समझा गया। पहले सब अधिकार पिता के थे, अब इन्हें पुत्र को देने का यत्न होने लगा।

**जीमूतवाहन की व्यवस्था**—जीमूत वाहन ने इस प्रवृत्ति का विरोध किया। बंगाल में पिताओं को आज तक उसकी

---

५६. मिता० या० २।१२१ पर—तथा सरजस्कायां मातरि सस्पृहे च पितरि विभागमनिच्छत्यपि पुत्रेच्छया पैतामहद्रव्यविभागो भवति। तथाऽविभक्तेन पित्रा पैतामहे द्रव्ये दीयमाने विक्रीयमाणे वा पौत्रस्य निषेधेप्याधिकारः। पित्रर्जितेन तु निषेधाधिकारः तत्परतन्त्रत्वात्।

५७. मिता० या० २।१२१ पर—अनुमतिस्तु कर्तव्या। तथा हिं पैतृके पैतामहे च स्वाम्यं यद्यपि जन्मनैव तथापि पैतृके पितृपरतन्त्रत्वात् पितुश्चार्जकत्वेन प्राधान्यात् पित्रा विनियुज्यमाने स्वार्जिते द्रव्ये पुत्रेणानुमतिः कर्तव्या॥

व्यवस्था से विशेष अधिकार प्राप्त हैं। हम देख चुके है कि वह पिता के मरने पर ही पैतृक सम्पत्ति पर पुत्र का अधिकार मानता है। अतः उसने याज्ञ० २।१२१ की व्याख्या यह की है कि पैतामह धन पर जिस तरह पिता का स्वाम्य है, पिता के मरने पर उसी तरह, उस पर उसके पुत्र का स्वामित्व होता है। वह इस संदर्भ की धारेश्वर द्वारा स्वीकृत एक दूसरी व्याख्या भी करता है। पैतामह धन में पिता पुत्र के सदृश स्वाम्य का यह अर्थ है कि यदि पिता उस धन के विभाग या दान की इच्छा रखता है तो स्वार्जित धन की तरह उस का अपनी इच्छा से न्यूनाधिक विभाग नहीं कर सकता। विष्णु के पूर्वोक्त वचन को उद्धृत करके जीमूत० यह परिणाम निकालता है कि पैतामह धन में पिता की स्वच्छन्द वृत्ति नहीं है। वह कहता है कि तुल्य स्वामित्व का प्रतिपादक करने वाले इस वचन के सम्बन्ध में दो मत हैं (१) यह पैतामह धन में पिता पुत्र को तुल्य भाग देने के लिए है, (२) पुत्रों को विभाग कराने की स्वतन्त्रता देने के लिए है। ये दोनों मत हेय हैं। अतः पैतामह धन में पिता के दो भाग होते हैं तथा पिता की इच्छा से ही विभाग होता है, पुत्र की इच्छा से नहीं ( दा० ३२ )[५८]।

विज्ञा० ने कहा था कि पिता के न चाहते हुये भी पुत्र की इच्छा से पैतामह धन का विभाग होता है; जीमूत० उससे सर्वथा प्रतिकूल व्यवस्था करता है कि पिता की इच्छा से ही विभाग होता है, पुत्र की इच्छा से नहीं। इस समय बंगाल में जीमूत वाहन की व्यवस्था मान्य है तथा शेष भारत में विज्ञानेश्वर की।

जीमूतवाहन की उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि वह पिता को विशेष अधिकार अवश्य देता है; किन्तु वे अधिकार विशेष सम्पत्ति तक ही सीमित हैं। पैतृक संपत्ति में भी वह उसे अधिक अंश देने की व्यवस्था करता है, परन्तु उस पर उसका स्वत्व मर्यादित है। वह उस का विक्रय दान आदि द्वारा अपहार ( Alienation ) या इन्तकाल नहीं कर सकता। जीमूतवाहन ने पिता को निम्न अधिकार प्रदान किये हैं—

---

५८. दा० पृ० ३२ अतः पितापुत्रयोः पैतामहधने समविभागार्थं सदृशं स्वाम्यमिति वचनं, पुत्राणां वा विभागस्वातन्त्र्यार्थमिति मतद्वयमपि हेयम्।...अतःपैतामहादिधने पितुर्भागद्वयं पितुरिच्छात एव विभागो न पुत्रेच्छयेति सिद्धम्।

(१) पिता अपनी स्वार्जित सम्पत्ति का पुत्रों में विषम विभाग कर सकता है, उस सम्पत्ति का जितना चाहे उतना हिस्सा अपने पास रख सकता है, किन्तु पैतृक सम्पत्ति में उसे यह स्वच्छन्दता प्राप्त नहीं है।

(२) पिता पुत्र द्वारा कमाई सम्पत्ति में से उस का आधा भाग या दो अंश ग्रहण कर सकता है।

(३) पैतृक सम्पत्ति का विभाग पिता के जीवन काल में पिता की इच्छा से ही हो सकता है।

(४) पैतृक सम्पत्ति के विभाग में वह पुत्र से दुगना हिस्सा ले सकता है, किन्तु दुगने से अधिक अंश की वह मांग नहीं कर सकता।

(५) पिता पुत्रों में पैतृक सम्पत्ति का विषम विभाग नहीं कर सकता; उसे यह धन सब पुत्रों में समान रूप से बांटना पड़ेगा।

(६) वह पैतृक सम्पत्ति का अपहार परिवार के पालन के लिये ही कर सकता है।

वर्तमान काल में न्यायालयों ने बंगाल में पिता को जीवनकाल में अपनी इच्छानुसार पैतृक सम्पत्ति के विनियोग पर पूरा स्वत्व दिया है, पुत्र को इसमें भरण पाने के अतिरिक्त कोई अधिकार नहीं है[५९]। इस विषय में उसे पुत्रों से सहमति प्राप्त करना आवश्यक नहीं[६०]। पिता अपने वसीयतनामे द्वारा जिस पुत्र को चाहे, उसे यह सम्पत्ति प्रदान कर सकता है[६१]।

**मिताक्षरा की विरोधी व्यवस्था**—इस सम्प्रदाय में दायादों का स्वत्व जन्म से माना जाता है ( दे० ऊ० पृ० २९१)। इस का पिता के अधिकार पर बड़ा प्रभाव पड़ता है, वह संयुक्त परिवार का प्रबन्धक ( कर्त्ता) मात्र समझा जाता है, संयुक्त सम्पत्ति पर उसका स्वत्व दायभाग सम्प्रदाय के पिता की तरह अमर्यादित नहीं है; उसका अधिकार उसके पुत्रों तथा अन्य समांशियों के स्वत्वों से नियन्त्रित होता है, वह इनकी सहमति के बिना पैतृक सम्पत्ति का अपहार नहीं कर सकता[६२]।

---

५९. टैगोर बनाम टैगोर १८ वी० रि० ३५९

६०. धरमदास बनाम अमूल्य धन ३३ कल० १११९ ( ११२४)

६१. देवेन्द्र बनाम व्रजेन्द्र १७ कल० ८८६

६२. बच्चू बनाम मान कौर बाई ३४ इं० ए० १०७, सुन्दरमय्या बनाम सितम्मा ३५ म० ६२८

**पिता का पैतृक सम्पत्ति के दान का अधिकार**—किन्तु यह मानना भ्रम होगा कि मिता० संयुक्त परिवार में पिता बिल्कुल परतन्त्र है और उसे पैतृक सम्पत्ति में से किसी प्रकार के दान का अधिकार नहीं है; इस में पिता को परिवार का मुखिया होने से किसी अन्य व्यक्ति की अपेक्षा अधिक अधिकार प्राप्त हैं। वह अपनी सन्तानों तथा अपने दायादों को स्नेहवश पैतृक सम्पत्ति के विभिन्न अंशों को भेंट या उपहार के रूप में दे सकता है। इस तरह प्रेम के कारण पिता द्वारा सन्तानों को दिये जाने वाले दान में, स्त्री पुरुष का भेद नहीं किया जाता। इस प्रकार की भेंटें पिता कन्या को भी दे सकता है[६३]। किन्तु ऐसा उपहार कन्या की पुत्री[६४]; कन्या के पुत्र[६५], विधवा या माता[६६], या निकट के सम्बन्धी को[६७] नहीं दिया जा सकता।

ये दान न्यून मात्रा में ( Inconsiderable ) तथा युक्तियुक्त होने चाहियें। न्यायालयों ने संयुक्त परिवार की स्थावर सम्पत्ति में से भी दिये जाने वाले दानों को उपर्युक्त प्रकार का होने पर, उचित ठहराया है। कन्या को[६८] या अपनी कन्या के विवाह पर दामाद को पिता[६९] या माता[७०] द्वारा दिये गये दान वैध स्वीकार किये जाते हैं। पिता को स्थावर और जंगम दोनों प्रकार की सम्पत्ति में से ऐसे दान करने का अधिकार है[७१]।

**पिता के ऋण तथा अपहार (Alienation)**—स्नेहवश अपनी सन्तान को, पैतृक सम्पत्ति का कुछ अंश दान करने के अतिरिक्त पिता को एक अन्य महत्वपूर्ण अधिकार भी प्राप्त है; यह ऋण लेने तथा उसके बदले में अपनी पैतृक सम्पत्ति का अपहार कराने के सम्बन्ध में है। पुत्रों को इन ऋणों तथा

---

६३. सीता महालक्ष्मम्मा बनाम कोयंय्या ७१ म० ला० ज० २५९

६४. वहीं

६५. श्रीधर बनाम श्री निवास १९३४ म० ८१

६६. सुब्बा बनाम अदम्मा ४७ म० ला० ज० ४६५

६७. उमा बनाम महावीर १९२९ ए० ८५४

६८. रामलिंग बनाम नारायण ४५ म० ४८९, हरिदास ब० देवकुंअर बाई ५० बं० ४४३

६९. सुन्दर रमय्या बनाम सितम्मा ३५ म० ६२८

७०. चूड़ामन बनाम गोपी० ३७ कल० १

७१. सुन्दररमय्या बनाम सितम्मा ३५, म० ६२८

अपहारों को स्वीकार करना पड़ता है। उन का यह पवित्र धार्मिक कर्तव्य है कि वे पिता के ऐसे ऋणों का अपाकरण करें, जो अवैध, अनैतिक तथा अव्यावहारिक न हों।

प्राचीन काल में हिन्दू शास्त्रकारों ने पिता के ऋण की अदायगी (अपाकरण या प्रतिदान) के लिये पुत्र को उत्तरदायी स्वीकार किया था। विष्णु (६।२७-२८) ने यह व्यवस्था की थी कि धन लेने वाले के मर जाने, संन्यासी होने या २० वर्ष तक विदेश में रहने वाले व्यक्ति के पुत्र पौत्रों को उसका ऋण चुकाना चाहिए। गौतम (१२।३७) व मनु (८।१६६) यह कहते हैं कि यदि कोई एक व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति का रिक्थ प्राप्त करता है तो रिक्थहर को उसका ऋण भी उतारना चाहिए। कौटिल्य (३।१६) ने ऋण के लिए लिये पुत्रों को जिम्मेवार ठहराया है। याज्ञ० २।४५ किसी व्यक्ति द्वारा कुटुम्बार्थ लिये ऋण को चुकाने का उत्तरदायित्व उस व्यक्ति के रिक्थियों पर पर डालता है। न केवल पिता के मरने पर किन्तु संकट ग्रस्त होने पर भी पुत्र और पौत्रों को उसका ऋण चुकाना चाहिए (२।५०)। नारद स्मृति (४।२) भी पुत्रों को पिता के ऋण के लिये ज़िम्मेवार ठहराती है। नारद ने इस विषय में बड़े विस्तार से व्यवस्था की है (४।२-२४) "पिता पुत्रों को इसी स्वार्थ के कारण चाहते हैं कि पुत्र जिस किसी प्रकार से संभव होगा, देवों, ऋषियों और पितरों के उत्तम ऋणों से तथा मनुष्यों के अधम ऋणों से मुझे मुक्त करावेगा (४।५) अतएव उसे यह उचित है कि वह स्वार्थ का परित्याग करे, अपने पिता को ऋण से मुक्त कराये ताकि पिता नरकगामी न हो" (वहीं)। बृहस्पति (मिता० २।५०, अप० २।५०) पिता के ऋण को पुत्र व पौत्र द्वारा देय बताता है, साथ ही यह कहता है कि पोते को दादा का ऋण चुकाते समय उसका व्याज नहीं देना चाहिय और प्रपौत्र को अपने प्रपितामह का ऋण चुकाने में कोई बाध्यता नहीं है[७२]। पिता के आपद्ग्रस्त होने पर, उसके ऋण की जिम्मेवारी पुत्रों पर है। कात्यायन (अप० २।५०, स्मृच० १७०) की व्यवस्था बृहस्पति से मिलती है।

**अप्रतिदेय ऋण**--किन्तु पुत्र पिता के सब प्रकार के ऋण उतारने के लिये बाध्य नहीं है। यह सम्भव है कि पिता ने कोई ऋण शराब पीने या जुआ

---

७२. बृह० (मिता० या० २।५० में) **ऋणमात्मीयवत् पित्र्यं पुत्रैर्देयम् विभावितम्। पैतामहं समं देयं न देयं तत्सुतस्य तु॥**

खेलने के लिये लिया हो । शास्त्रकार इस प्रकार के अनुचित ऋणों के लिये पुत्रों को जिम्मेवार नहीं ठहराते । उन्होंने ऐसे ऋणों को बड़े विस्तार से गिनाया है । गौ० ध० सू० (१२।३८) ने पिता के निम्न ऋण अप्रतिदेय बताये हैं—(१) ज़मानत के लिये लिया गया ऋण (प्रातिभाव्य ) (२) व्यापारार्थ ऋण—कोई व्यक्ति व्यापार करने के लिये रुपया उधार लेता है, उसे लेकर विदेश चला जाता है, वहां उसकी मृत्यु हो जाती है, इस अवस्था में उसके पुत्र पिता का ऋण चुकाने के लिये बाध्य नहीं हैं। (३)शुल्क—आसुर विवाह में लड़की के पिता को दिया जाने वाला धन । यदि लड़के का पिता शुल्क देने का वचन दे कर मर जाता है तो लड़की का पिता उस शुल्क को वायदा करने वाले व्यक्ति के पुत्र से नहीं ले सकता ।(४) शराब पीने के लिये लिया गया सौरिक ऋण (५) आक्षिक—जुआ खेलने के लिये लिया गया ऋण (६) जुर्माना । वसिष्ठ (१६।२६) कौटिल्य (३।१६ ) प्रायः इन्हीं अप्रतिदेय ऋणों का वर्णन करते हैं। याज्ञ० (२।४७) निरर्थक दानों तथा कामोपभोग के लिये स्त्रियों को प्रतिज्ञा किये धनों को भी इसी प्रकार का ऋण समझता है[७३] । नारद ( ना० स्मृ० ४।९ ) और बृहस्पति ( व्यक० १२१) काम के अतिरिक्त क्रोध के आवेश में प्रतिज्ञात धनों का भी वर्णन करता है । उशना ( मिता० २।४७ ) ने व्यावह्मारिक नामक अप्रतिदेय ऋण का उल्लेख किया है। देवण्ण भट्ट व्यावहारिक को सौरिक या शराब पीने के लिये लिया गया ऋण समझता है ( स्मृ च० १७० ) । उपर्युक्त प्रकारों के ऋण पुत्र द्वारा अप्रतिदेय थे; किन्तु अन्य सब ऋण उतारने योग्य माने जाते थे ।

शास्त्रकारों ने एक ओर तो पुत्र का यह आवश्यक कर्त्तव्य माना है कि वह पिता के अप्रतिदेय ऋणों के अतिरिक्त अन्य कर्जों को चुकाए; दूसरी ओर विज्ञानेश्वर ने स्पष्ट शब्दों में पुत्रों की सहमति के बिना पैतृक सम्पत्ति का अपहार करने के पिता के अधिकार को स्वीकार नहीं किया। ( पृ० ४२१ ) पुत्र पिता का ऋण उताने के लिये बाध्य हैं; किन्तु इसके साथ ही उन्हें यह भी अधिकार प्राप्त है कि वे पिता को पैतृक सम्पत्ति के गिरवी या विक्रय करने से रोक सकें। पिता को ऋण लेने का अधिकार है; पर पैतृक सम्पत्ति के इन्तकाल का हक़ नहीं है। यदि कभी ऐसी स्थिति उत्पन्न हो कि पिता के कर्ज़ देने के लिये

---

७३. याज्ञ० २।४७ सुराकामद्यूतकृतं दण्डशुल्कावशिष्टकम् । वृथादानं तथैवेह पुत्रो दद्यान्न पैतृकम् ।।

पैतृक सम्पत्ति का विक्रय आवश्यक प्रतीत हो तो उस समय दो स्थितियां उत्पन्न हो सकती हैं। (१) पुत्र पिता के ऋण का दायित्व अपने ऊपर समझ-कर, इस अपहार को स्वीकार कर लें।(२) पुत्र यह सिद्ध करने का यत्न करें कि पिता को अपहार या इन्तकाल का कोई अधिकार नहीं है।

**पूर्ववर्ती ऋण**--( Antecedent Debt ) यह स्पष्ट है कि ये दोनों परस्पर विरोधी स्थितियां है। दोनों उचित भी जान पड़ती है। पिता के ऋण की पुत्रों द्वारा अदायगी होनी चाहिये; पर पैतृक सम्पत्ति पर भी पुत्रों का स्वत्व सुरक्षित रहना चाहिए। वर्तमान न्यायालयों में पहले इस प्रश्न पर पर पर्याप्त मतभेद था; किन्तु अब उन्होंने इस विषय में मध्यममार्ग निकाल लिया है। पिता को पैतृक सम्पत्ति गिरवी रखकर कर्ज लेने का अधिकार नहीं है। किन्तु यदि उसने कोई ऋण लिया है, वह उसे चुका नहीं सका और इसके लिये कोई अपहार ( Alienation ) करता है, तो पुत्र को इस अपहार के विरोध का कोई अधिकार नहीं; क्योंकि वह पिता का ऋण चुकाने के लिये बाध्य है। इस अवस्था में पहले लिये ऋण (Antecedent Debt) को चुकाने के लिये ही अपहार किया जाता है। ऋण की पूर्ववर्तिता (Ante-cedency ) के लिए यह आवश्यक है कि वह प्रारम्भ में किसी अपहार सम्बन्धी व्यवहार ( Legal Transaction ) से सम्बद्ध न हो। पूर्व-वर्ती ऋण ऐसे व्यवहार से पूर्व एवं उससे सर्वथा स्वतन्त्र होना चाहिये[७४]। प्रिवी कौंसिल ने ब्रजनारायण बनाम मंगल प्रसाद के मामले में पूर्ववर्तिता ( Antecedency ) की बड़ी स्पष्ट व्याख्या की है। इसका आशय ( सम्पत्ति की ) गिरवी या रेहन ( के व्यवहार ) से पहले होने वाली पूर्ववर्तिता है। इसका न केवल समय की दृष्टि से अपितु आधि (Mortgage ) की घटनामात्र से कोई सम्बन्ध नहीं होना चाहिये।

**पिता का पैतृक सम्पत्ति पर विशेषाधिकार**--पूर्ववर्ती ऋण को चुकाने के के लिये पिता संयुक्त परिवार की संपत्ति में न केवल अपने अंश एवं स्वत्व को बेच सकता है, अपितु पुत्रों के हिस्से और हक भी बेच सकता है[७५]। ब्रजनारा-यण वाले मामले में प्रिवी कौन्सिल ने पिता के इस अधिकार की व्याख्या करते

७४. चेतराम ब० रामसिंह ४४ अला० ३६८ (३७४) प्रि० कौ०; ब्रिज नारायण ब० मंगल प्रसाद ४६ अला० ९५ प्रि० कौ०

७५. ब्रिजनारायण बनाम मंगल प्रसाद ४६ अला० ९५ प्रि० कौ०, रामे-सर बनाम कल्लू राम वहीं २६४, अनन्तू बनाम रामप्रसाद वहीं २९५

हुये कहा था कि पिता का ऋण यदि पूर्ववर्ती है, वह किसी अनुचित या अवैध कार्य के लिये नहीं लिया गया तो उस की अदायगी की डिग्री को पूरा करने के लिये पारिवारिक सम्पत्ति जब्त भी की जा सकती है।

पिता के ऋण के लिए पुत्रों का दायित्व कितना है? यदि पिता बहुत अधिक कर्ज और बहुत कम सम्पत्ति छोड़कर मरे तो क्या पुत्रों की सारी सम्पत्ति ऋणों की अदायगी के लिए जब्त की जा सकती है? इस विषय में न्यायालयों में मतभेद है। बम्बई के न्यायालय पुत्र पर पिता के सब ऋणों को उतारने का दायित्व डालते थे और उसमें इस बात का विचार आवश्यक नहीं समझते कि पुत्र को विरासत में कितनी सम्पत्ति मिली है[७६]। किन्तु अन्य प्रान्तों के न्यायालय पुत्र के दायित्व के निर्धारण में रिक्थ की मात्रा का विचार आवश्यक समझते हैं[७७]। कई अवस्थाओं में यह हो सकता है कि पिता एक हजार रुपये की सम्पत्ति और दो हज़ार रुपये का कर्ज़ छोड़ कर मरा हो। उस अवस्था में पुत्र के साथ यह घोर अत्याचार है कि पिता का कर्ज़ चुकाने के लिए उसकी सम्पत्ति कुर्क करके उसे दर-दर का भिखारी बना दिया जाय। १८६६ ई० में बम्बई प्रान्त में 'पूर्वजों के ऋणों के लिए हिन्दुओं का दायित्व कानून' ( Hindus' Liability For Ancestors Debts Act ) बना कर पुत्रों के प्रति होने वाले इस अन्याय का प्रतिकार किया गया। पिता अपना ऋण चुकाने के लिए पुत्र के अविभक्त अंश का यथेच्छ विनियोग कर सकता है और उत्तमर्ण भी पिता के कर्ज़े की वसूली की डिग्री द्वारा पुत्र के पृथक् अंश को छीन सकता है[७८]। पिता के दिवालिया होने पर अदालत द्वारा ऋण की वसूली करने वाला सरकारी अधिकारी दिवालिये पिता तथा उसके पुत्रों की संयुक्त पारिवारिक सम्पत्ति को ऋण चुकाने के लिए बेच सकता है, बशर्ते कि पिता के वे ऋण अवैध या अनैतिक न हों[७९]।

---

७६. प्राणबल्लभ बनाम देवकृष्ण (१८२४) बं० से० रि० ४; नरसिंह राव ब० अम्बाजी० २ बं० हा० रि० ६४

७७. रामय्या ब० अली साहिब २ म० हा० रि० ३३६ दयामणि ब० बृन्दावन ( १८५६) सदर दीवानी अदा० बं० ९७; कन्हैया बनाम बख्तार १ सदर दी ० अदा० नार्थ वैस्टर्न प्राविन्सेज ४

७८. अतुल कृष्ण व० लालानन्द जी १४ पर ७३२ फु० बैं० चन्द्रदेव ब० माता प्रसाद ३१ अला० १७६ फु० बैं०

७९. वरद राजन् बनाम श्री निवास राव ( १९२४) म० ७९२

**अनैतिक ऋण**--पुत्र पिता के अपहार सम्बन्धी अधिकार का इस आधार पर विरोध कर सकता है कि पिता जिन ऋणों को चुकाने के लिये पैतृक सम्पत्ति की आधि ( Mortgage ) या विक्रय कर रहा है, वे अनैतिक थे। हम ऊपर यह देख चुके हैं कि प्राचीन शास्त्रकारों ने किन ऋणों को पुत्र द्वारा अप्रतिदेय स्वीकार किया था। न्यायालय उनमें से अधिकांश ऋणों को वर्तमान समय में भी अप्रतिदेय स्वीकार करते हैं। उन के प्रतिदान के लिये पिता पुत्रों के अंशों का अपहार नहीं कर सकता। शराब पीने के लिये[८०], जुआ खेलने के लिये[८१], चकलों में जाने या वेश्याओं को लाने के लिये[८२] यदि एक व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति को ऋण देता है तो वह उस ऋण की अदायगी के लिये कर्ज़दार को अदालत द्वारा बाध्य नहीं कर सकता, क्योंकि अदालत कर्ज़ के उपर्युक्त उद्देश्यों को अवैध समझती है, अतः वह इन कर्ज़ों के सम्बन्ध के सारे व्यवहार को अवैध मानती है। अवैध कार्यों की कोई कानूनी सत्ता नहीं होती, उपर्युक्त उद्देश्यों के लिये दिये गये ऋण कानूनी साधनों से वापस नहीं लिये जा सकते। प्राचीन शास्त्रकारों ने, सौरिक, आक्षिक और काम ऋणों के नाम से इन्हीं का वर्णन किया है। वर्तमान न्यायालय कुछ अन्य ऋण भी इसी कोटि के समझते हैं। उदा० क और ख में यह समझौता होता है कि ख की कन्या क के पुत्र से शादी करेगी और यदि शादी नहीं होगी तो ख, क, को ५००० ) देगा। इस प्रकार का समझौता सार्वजनिक नीति एवं व्यवहार का विरोधी है, अतः अदालत द्वारा मान्य नहीं होता[८३]।

गौतम (१२।३८) विष्णु (६।२८) कौटिल्य (२।१६) ने आसुर विवाह में कन्या के पिता द्वारा लिया जाने वाला शुल्क अप्रतिदेय माना गया है। किन्तु वर्तमान समय में एक न्यायालय ने इस प्रकार के विवाह को रिवाज़ के रूप में स्वीकार करते हुए इस ऋण की अदायगी आवश्यक मानी है[८३]। शुल्क का दूसरा अर्थ राज्यधिकारियों को दी जाने वाली चुंगी भी है (विश्व० २।५३)। वर्तमान काल में यह तुरन्त दिया जाने वाला धन समझा

---

८०. रवीन्द्र ब० नानक चन्द्र ( १९०९ ) पं० रि० नं० २४

८१. सुब्बराय ब० देवेन्द्र ७ म० ३०१

८२. राजेन्द्र बनाम अब्दुल हकीम ३९ इंडिया केसेज (कल०) ७६७

८३. देवरयन बनाम मुट्टुरमन ३७ म० ३९३, बेंका ब० लक्ष्मी ३२ म० १८४ फु० बें०, शुल्क के लिये दे० ३२ अला० ५७५

जाता है, क्योंकि चुंगी लेने वाले का कर्त्तव्य है कि वह फौरन चुंगी ले ।। यदि किसी व्यक्ति की चुंगी अवशिष्ट रहती है तो इसका उत्तरदायी उस व्यक्ति का पुत्र नहीं, किन्तु चुंगी का अधिकारी है ।

गौतम (१२।३८) ने पिता का जुर्माना पुत्र द्वारा अप्रतिदेय माना था। वर्तमान न्यायालय भी इसे पुत्र द्वारा अप्रतिदेय मानते हैं, क्योंकि यह पिता का वैयक्तिक दायित्व है । यदि कोई अपराध करता है, उस अपराध के लिये उसे अदालत द्वारा जुर्माना होता है, उस जुर्माने को देने के लिये वह जो कर्ज़ा लेता है, उस का दायित्व पिता पर ही है, पुत्र पर नहीं[८४] ।

किन्तु यदि पिता सार्वजनिक द्रव्य का दुरुपयोग करता है या किसी ट्रस्ट का दुरुपयोग करता है[८५] तो न्यायालय पिता के दायित्व को पूर्ण करना पुत्र का कर्त्तव्य समझते हैं। इसे पुत्र का कर्तव्य मानने का कारण यह है कि कानून सार्वजनिक द्रव्य के दुरुपयोग या गबन को पूरा करना चाहता है और पिता के असमर्थ होने पर पुत्र द्वारा इसकी पूर्ति में कोई दोष नहीं समझता ।

प्रातिभाव्य ऋण के सम्बन्ध में शास्त्रकारों में मतभेद है । गौतम (१२। ३८) वसिष्ठ ( १६।२६) कौटिल्य (३।१६) नारद (स्मृ० ४।९ ) बृह० (व्यक० १२१ ) पिता के प्रातिभाव्य ऋण को पुत्र द्वारा अप्रतिदेय मानते हैं; किन्तु याज्ञ० (२।४७) कात्यायन (अप० २।४७, स्मृच० १७०) उशना (मिता० २।४७) वृद्ध हारीत (७।२४९) इसका कोई उल्लेख नहीं करते। वर्तमान न्यायालय ज़मानतों के स्वरूप पर पुत्र का दायित्व निश्चित करते हैं । यदि पिता ने किसी व्यक्ति के नियत समय पर नियत स्थान पर उपस्थित होने[८६] अथवा किसी व्यक्ति के सद्व्यवहार ( Good Behaviour ) रखने[८७] अथवा किसी अवैध कार्य के लिये[८८] जमानत दी हो तो इन ज़मानतों से पिता के ऋणी होने पर पुत्र उस ऋण के लिये उत्तरदायी नहीं है; किन्तु दूसरे व्यक्ति के ऋण की अदायगी आदि के लिये जमानत देने से यदि पिता ऋणग्रस्त

---

८४. गरुड़ बनाम नरेल्हा ४८ इं० के ७४०

८५. तोशन पालसिंह ब० डिस्ट्रिक्ट जज ५६ अला० ५४८ प्रि० कौ० छकोरी बनाम गंगा ३९ कल० ८६२

८६. द्वारका बनाम किशन ५५ अला० ६७५

८७. चौधरी ब० हमगैवा १० पट ९४

८८. सत्याचरण ब० सतपीर ४ प० ला० ज० ३०९

होता है, उस हालत में पुत्र[८९]और पौत्र[९०]पिता के ऋण के प्रतिदाता होते हैं।

उशना ने अव्यावहारिक ऋण का प्रतिदान पुत्र के लिये आवश्यक नहीं माना था। इस अव्यावहारिक के अर्थ के सम्बन्ध में हाईकोर्टों में मतभेद है। बम्बई हाईकोर्ट ने दरबार बनाम खाचर के मामले में इसका अर्थ असाधारण (Unusual) या कानून अथवा रूढ़ि से न स्वीकार किया जाने वाला किया था। "सरल भाषा में कहा जाय तो इस का आशय यह है कि पुत्र को पिता के उन ऋणों के लिए उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता, जिन को पिता एक प्रतिष्ठित व्यक्ति के रूप में कभी ग्रहण न करता। वह (पुत्र) पिता के उन्हीं ऋणों के लिये उत्तरदायी है, जिन्हें पिता ने वैध रूप से ग्रहण किया हो। वह पिता की दुर्बलताताओं, मूर्खताओं या वहमों के कारण ग्रहण किये ऋणों के लिये जिम्मेवार नहीं है[९१]"। किन्तु यह व्याख्या बड़ी अस्पष्ट और संकीर्ण है। एक प्रतिष्ठित व्यक्ति कौन से ऋण लेना पसन्द नहीं करेगा, इस प्रश्न का निर्णय बहुत कठिन है। बाद के मामलों में बम्बई हाईकोर्ट ने स्वयं इस व्यवस्था को स्वीकार नहीं किया[९२]। कलकत्ता हाईकोर्ट ने अव्यावहारिक ऋण का अर्थ किया है—ऐसा ऋण जो वैध न हो, साधारण ( Usual ), पारम्परिक ( Customary ) या लोक प्रचलित न हो[९३]। किन्तु प्रत्येक प्रदेश में विभिन्न आचार और रूढ़ियां प्रचलित होती हैं, अतः किसी ऋण के पारम्परिक होने या साधारण होने का निश्चय करना कठिन है। अतः मद्रास हाईकोर्ट ने[९५] बंगाल हाईकोर्ट की व्याख्या स्वीकार नहीं की। अलाहाबाद हाई कोर्ट ने यह स्वीकार किया कि इस विषय में

---

८९. रसिक ब० सिंहेश्वर ३९ कल० ८४३, कामेश्वरम्मा ब० वेंकट ३८ म० ११२०

९०. महावीर ब० सीरी ४६ इं० के० २७, बाल०कृष्ण ब० शाम ५६ इं० के ९६२

९१. दरबार ब० खाचर ३२ वें ३४८॥

९२. रामकृष्ण ब० नारायण ४ बं० १२६ (१३०), हमसहन्त ब० गणेश ४३ बं० ६१२॥

९३. छकोरी बनाम गंगा ३९ कल० ८६२ ( ६८)

९४. दे० पिछला नोट

९५. गरुड़ ब० नरेला ३५ म० ला० ज० ६६१

कोई निश्चित नियम नहीं बनाये जा सकते कि कौन सा कार्य उत्तम नीति तथा सद्व्यवहार के विरुद्ध है[९६]। यही स्थिति ठीक प्रतीत होती है।

पुत्र द्वारा प्रतिदेय पिता का ऋण अवैध या अनैतिक नहीं होना चाहिए[९७]। पिता के सामान्य रूप से अनाचारी होने के कारण पुत्र उसका ऋण चुकाने के दायित्व से नहीं बच सकता[९८]। पिता को सामान्य रूप से अनैतिक सिद्ध करने का कोई लाभ नहीं। यह सिद्ध करना आवश्यक है कि ऋण अनैतिक कार्य के लिये लिया गया था[९९]। सट्टे को अदालतों ने अनैतिक कार्य नहीं स्वीकार किया[१००], इस के लिये पिता द्वारा लिए ऋण का पुत्र जिम्मेवार है।

---

९६. रघुनन्दन ब० बदरी इं० ला० रि० १९३८ अला० ३३०, ३३५, व्रिज ब० फणि १९३८ अला० ३७७

९७. व्रिजनारायण बनाम मंगल प्रसाद दे० ऊ० टि०

९८. हरनारायण ब० अरोड़ सिंह (१८७२) पं० रि० ४४

९९. श्री नारायण बनाम रघुवंश राव १७ कल० बी० नो० १२४ प्रि० कौ०

१००. मुथ्थु स्वामी बनाम माइथीन (१९३७१) म० ला० ज० २३१

# चौदहवाँ अध्याय

## पुत्र के अधिकार और प्रकार

पैतृक सम्पत्ति में जन्म से स्वत्व का सिद्धान्त—पिता की प्रभुता से पुत्र की मुक्ति—ज्येष्ठ पुत्र के विशेष अधिकार—बारह प्रकार के पुत्रों का स्वरूप—वर्गीकरण—गौणपुत्रों का क्रम—इनके साम्पत्तिक अधिकार—औरस पुत्र—पुत्रिकापुत्र—क्षेत्रज—कानीन—गूढ़ज—सहोढ़—पौनर्भव —पारशव—दत्तक पुत्र ।

वर्त्तमान हिन्दू परिवार में सामान्यतः सब पुत्रों को पैतृक सम्पत्ति में समान अंश पाने का अधिकार है, इसे एक स्वाभाविक नियम समझा जाता है। पर दो हजार वर्ष पहले ऐसी स्थिति नहीं थी । उस समय पैतृक सम्पत्ति पर पिता का पर्याप्त स्वत्व था, बंटवारे में वह अपने लिये और ज्येष्ठ पुत्र के लिये विशेष अंश रख सकता था, कई स्थानों पर ज्येष्ठ पुत्र को एकमात्र उत्तराधिकारी बनाने की परिपाटी थी । इसके अतिरिक्त कुछ शास्त्रकार पिता द्वारा पुत्र के दान और विक्रय सम्बन्धी कुछ अधिकारों स्वीकार करते थे । इस प्रकार पिता के स्वत्वों की तुलना में पुत्र के अधिकार बहुत कम थे ।

संयुक्त परिवार में पुत्र को अपने अधिकारों के लिये पिता से और बड़े भाई से दोहरा संघर्ष करना पड़ा है । पहले पुत्र पिता के जीवन काल में उसके नियन्त्रण में और उस की मृत्यु के बाद बड़े भाई के अनुशासन में रहता था, इन दोनों की प्रभुता से मुक्ति पाने में उसे बहुत समय लगा है । पिछले अध्याय में उसके पिता के साथ हुए संघर्ष का कुछ परिचय दिया जा चुका है। पैतृक सम्पत्ति पर पुत्र के अधिकारों का विकास, पिता के स्वत्वों के ह्रास का मनोरंजक इतिहास है । इसमें प्रधान रूप से तीन अवस्थायें रही हैं—(१) पिता का पैतृक सम्पत्ति पर पूर्ण स्वामित्व (२) पिता का इसमें स्वयं विशेष अंश ग्रहण करने या बड़े लड़के को विशेष अंश देने का अधिकार (३) पिता पुत्रों का पैतृक द्रव्य पर समान रूप से स्वत्व । इनमें पहली दो अवस्थाओं का पिछले अध्याय में वर्णन हो चुका है। यहां केवल तीसरी अवस्था का ही उल्लेख किया जायगा। इसके बाद पिता द्वारा पुत्र के दान विक्रयादि के अधिकारों

पर प्रतिबन्ध का तथा अग्रजाधिकार (Primogeniture) के विकास और ह्रास का तथा अन्त में पुत्र के विभिन्न प्रकारों का उल्लेख होगा।

पैतृक सम्पत्ति पर पिता के स्वामित्व तथा उसके मनमाना बंटवारा करने के पिता के अधिकार का पिछले अध्याय में प्रतिपादन किया गया है। विज्ञानेश्वर ने ११ वीं शताब्दी के अन्त में इस के विरोध में पुत्र के स्वत्वों का प्रबल समर्थन किया। सम्भवतः उस युग में हिन्दू परिवार में पिता की प्रभुता का अन्त हो रहा था, विज्ञानेश्वर ने इस लोक प्रचलित व्यवस्था को शास्त्रीय रूप से पुष्ट किया। दायभाग की अवतरणिका (या०२।११४) में पैतृक सम्पत्ति में पुत्रों के स्वत्व को उसने इस आधार पर पुष्ट किया है कि जन्म लेते ही पिता की जायदाद में पुत्रों का हक पैदा हो जाता है। यह सिद्धान्त विज्ञानेश्वर से पहले का है[1]; किन्तु इसका विशद प्रतिपादन और विरोधी पक्ष के प्रमाणों का खण्डन सर्वप्रथम विज्ञानेश्वर ने ही किया। उसके प्रबल पोषण से तथा समयानुकूल होने से बंगाल के अतिरिक्त शेष भारत में यह सिद्धान्त सर्वमान्य हुआ। पुत्र के के अधिकारों की दृष्टि से जन्म द्वारा स्वत्व के सिद्धान्त का बहुत महत्त्व है। पहले इसका निर्देश हो चुका है (दे० पृ०२९१), यहां विज्ञानेश्वर द्वारा दी गयी युक्तियों का ऐतिहासिक महत्त्व होने से उनका संक्षिप्त उल्लेख आवश्यक प्रतीत होता है।

**जन्मना स्वत्ववाद**—विज्ञानेश्वर से पहले पैतृक सम्पत्ति में पुत्र के स्वत्व की उत्पत्ति प्रायः पिता द्वारा बंटवारा करने से समझी जाती थी। किन्तु यदि बंटवारे से ही स्वत्व उत्पन्न होता है तो पिता की सम्पत्ति पुत्रों तक ही क्यों मर्यादित रहती है? इस मर्यादा का कारण रक्त सम्बन्ध या प्रत्यासत्ति है। यह जन्म से ही उत्पन्न हो सकती है, अन्य किसी प्रकार से नहीं। अतः प्रत्यासत्ति से स्वत्व मानने का अर्थ जन्म से स्वत्व का सिद्धान्त मानना है। यह बड़ा क्रान्तिकारी सिद्धान्त था; क्योंकि इससे पिता और पुत्र के अधिकारों में मौलिक परिवर्तन आ गया। पुराने सिद्धान्त के अनुसार बंटवारे से पहले संपत्ति पर पिता का पूर्ण प्रभुत्व था, पुत्रों का उस पर कोई अधिकार नहीं था;

---

१. सरस्वती विलास (पृ० ४०२) में उद्धृत विष्णु और भारुचि के वचनों से यह स्पष्ट है। पहले ने यह स्पष्ट घोषणा की है—जन्मना स्वत्वमापद्यते; दूसरे के मत में जन्म से पुत्र का ही स्वत्व होता है, पुत्र बनायी हुई लड़की का नहीं—पुत्रस्यैव न तु पुत्रिकाया इति भारुचिः।

किन्तु नये सिद्धान्त के अनुसार पुत्रों को जन्म से ही पैतृक संपत्ति पर पिता के साथ संयुक्त स्वामित्व प्राप्त हो गया।

विज्ञानेश्वर ने (याज्ञ० २।११४) जन्म द्वारा स्वत्ववाद का समर्थन करते हुए पहले इसके विरोध में दी जाने वाली तीन युक्तियां दी हैं—(१) जन्म से पैतृक सम्पत्ति पर पुत्र का स्वत्व मानने से शास्त्रों द्वारा विहित यज्ञ नहीं हो सकेंगे। यज्ञ धन द्वारा किये जाते हैं, धन पर पिता और पुत्रों का संयुक्त स्वामित्व है, पुत्र की अनुमति के विना यज्ञ के लिये व्यय नहीं हो सकता और पुत्र के शिशु होने से उससे यह अनुमति प्राप्त करना संभव नहीं है। (२) नारद ने प्रसन्न होकर पिता द्वारा पुत्रों को दी गयी भेंट को अविभाज्य बताया है। पैतृक द्रव्य पर पिता पुत्र के संयुक्त स्वत्व होने से यह भेंट देना संभव ही नहीं है। (३) नारद ने मणि मुक्तादि चल सम्पत्ति का स्वामी पिता को माना है (अविभाज्य) पर स्थावर संपत्ति का नहीं। जन्म से स्वत्व होने पर चल, अचल संपत्ति पर स्वामित्व का यह भेद निरर्थक है। अतः स्वत्व जन्म से नहीं, किन्तु विभाग द्वारा या सम्पत्ति के स्वामी की मृत्यु से मानना चाहिये।

पूर्वपक्ष की उपर्युक्त स्थापना के बाद विज्ञानेश्वर ने निम्न युक्तियों से अपने पक्ष की पुष्टि की है—(१) लोक में यह प्रसिद्ध है कि पुत्र का स्वत्व जन्म से ही माना जाता है। (२) विभाग शब्द से यह स्पष्ट है कि स्वत्व जन्म से होता है, क्योंकि इस से यह समझा जाता है कि विभाग की जाने वाली सम्पत्ति पर अनेक व्यक्तियों का स्वामित्व है, यह बात लोकप्रसिद्ध है। विभाग उस सम्पत्ति का नहीं हो सकता, जो दूसरे की हो या जिसका कोई स्वामी न हो। (विभाग निश्चित व्यक्तियों में होता है, इसलिए उन का स्वत्व विभाग की क्रिया से पहले होना चाहिये); अतः यह नहीं माना जा सकता कि स्वत्व विभाग के बाद उत्पन्न होता है, वह उससे पहले जन्म द्वारा ही होता है (३) गौतम ने कहा है कि उत्पत्ति से सम्पत्ति पर स्वामित्व होता है[२]। इस के बाद उसने पूर्व-पक्ष की उपर्युक्त युक्तियों का खण्डन किया और अन्त में सिद्धान्त पक्ष इस प्रकार रखा है—'अतः पिता से प्राप्त (पैतृक) और दादा से प्राप्त (पैतामह)

---

२. याज्ञ० २।११४ की अवतरणिका—लोके च पुत्रादीनां जन्मनैव स्वत्वं प्रसिद्धतरं नापह्नवमर्हति। विभागशब्दश्च बहुस्वामिकधनविषयो लोक-प्रसिद्धो नान्यदीयविषयो न प्रहीणविषयः। तथा 'उत्पत्त्यैवार्थस्वामित्वं लभेतेत्याचार्याः' इति गौतमवचनाच्च।

सम्पत्ति में जन्म से ही स्वत्व होता है, ऐसा होने पर भी पिता को शास्त्रीय वचनों द्वारा प्रतिपादित आवश्यक धर्मकार्यों के लिये, प्रीतिपूर्वक दान करने, कुटुम्ब पालन करने तथा ( परिवार को) आपत्ति से मुक्त कराने के लिये चल सम्पत्ति के विनियोग में स्वतन्त्रता है[३]। किन्तु स्वार्जित और पैतृक दोनों प्रकार की सम्पत्ति का विनियोग करने में करने में वह पुत्र के आधीन है। मिताक्षरा ने पिता की स्वार्जित सम्पत्ति में पुत्र के अधिकार को पुष्ट करने के लिये दो प्राचीन वचनों को उद्धृत किया है। इनके अनुसार पुत्रों से परामर्श किये बिना ऐसी सम्पत्ति के दान और विक्रय का निषेध है। किन्तु विज्ञानेश्वर इन वचनों को धर्म-शास्त्र का उपदेशमात्र समझता है, कानूनी बन्धन नहीं[४]।

विज्ञानेश्वर के सम्मुख प्राचीन शास्त्रकारों के पिता को सम्पत्ति का मन-माना बंटवारा करने का अधिकार देने वाले अनेक वचन थे। इन सब के निरा-करण का उसके पास एक ही आधार है कि ये पिता की स्वार्जित सम्पत्ति के सम्बन्ध में है। उदाहरणार्थ याज्ञ० २।११४ में ज्येष्ठ पुत्र को सम्पत्ति का श्रेष्ठ अंश देने का विधान है, नारद (दायभाग १२) द्वारा पिता को दो हिस्से देने की तथा मनु द्वारा पिता के जीवन काल में पुत्रों के स्वतन्त्र न होने की व्यवस्था (९। १०४) की गयी है। पुत्र के समानाधिकारविरोधी इन सब वचनों को विज्ञानेश्वर पिता की स्वार्जित सम्पत्ति तक ही सीमित कर देता है। पिछले अध्यायों में यह बताया जा चुका है कि विज्ञानेश्वर ने पिता की अनिच्छा होने पर भी पुत्रों द्वारा पैतृक सम्पत्ति के बंटवारे का सिद्धान्त स्वीकार किया है ( दे० पृ० ४२१ )

**पिता की प्रभुता से पुत्र की मुक्ति**—प्राचीन हिन्दू परिवार में पुत्र पिता के आधीन था, पिता को उसके यथेच्छ विनियोग अर्थात् उस दान करने, बेचने

---

३. वहीं—तस्मात्पैतृके पैतामहे च द्रव्ये जन्मनैव स्वत्वम्, तथापि पितु-रावश्यकेषु धर्मकृत्येषु वाचनिकेषु प्रसाददानकुटुम्बभरणापद्विमोक्षादिषु च स्थावरव्यतिरिक्त द्रव्य विनियोगे स्वातन्त्र्यमिति स्थितम्।

४. वही—स्थावरे तु स्वार्जिते पित्रादिप्राप्ते च पुत्रादिपारतन्त्र्यमेव। तथा याज्ञ० २।१२१—तथा ऽविभक्तेन पित्रा पैतामहे द्रव्ये दीयमाने विक्रीयमाणे वा पौत्रस्य निषेधेऽप्यधिकारः। पित्रर्जिते न तु निषेधाधिकारः। तत्परतन्त्रत्वात् अनुमतिस्तु कर्तव्या। आधुनिक न्यायालयों ने पिता को स्वार्जित सम्पत्ति के यथेच्छ विभाजन का अधिकार दिया है (२५ इ० ए० पृ० ५४, ६७-६८)।

या छोड़ देने के कुछ अधिकार प्रप्त थे। इस सम्बन्ध में पुत्र की पिता की प्रभुता से मुक्ति का इतिहास स्थूल रूप से तीन अवस्थाओं में बांटा जा सकता है।

(१) पहली अवस्था में पिताओं को पुत्रों के दान, विक्रय और परित्याग के कुछ अधिकार थे। यास्क ( निरुक्त ३।४ ) तथा वसिष्ठ (१५।१-३ ) ने उनका स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है। ऐतरेय ब्राह्मण की शुनः शेप की कथा में अजीगर्त्त द्वारा अपने पुत्र के विक्रय का वर्णन है। प्रायः सभी धर्म सूत्रों और स्मृतियों में गौण पुत्रों का एक प्रकार क्रीत अर्थात् मूल्य द्वारा खरीदा गया पुत्र है ( मनु० ९।१७४ याज्ञ० २।१३५ )। किन्तु मनु के लक्षण से यह स्पष्ट है कि क्रीत पुत्र केवल अपुत्र व्यक्ति ही खरीद सकते थे। स्मृतियों में क्रीत का उल्लेख होते हुए भी यह कल्पना करना ठीक नहीं प्रतीत होता कि उस समय अजीगर्त्त जैसे लोभी पिता पुत्रों का विक्रय करते थे, क्योंकि छठी श० ई० पू० से पिता के इस अधिकार पर प्रतिबन्ध लगाने वाली दूसरी अवस्था आरम्भ हो चुकी थी।

(२) छठी श० ई० पू० से पुत्रों का पक्ष प्रबल होने लगा। गौतम ने यह व्यवस्था की कि पिता आपत्काल में ही पुत्र का दान कर सकता है, अनापत्ति में पुत्र देने वाले के लिये उस ने छः वर्ष का प्रायश्चित्त बताया है। विष्णु भी पुत्र को अदेय बताता है, उस के मत में लड़के और स्त्री को देने वाला पतित होता है। कौटिल्य की यह व्यवस्था है कि केवल म्लेच्छ के पुत्रों को बेचा और गिरवी रखा जा सकता है, किन्तु आर्यपुत्र को कभी दास नहीं बनाया जा सकता है[५]।

(३) चौथी शताब्दी ई० पू० से पुत्र का परित्याग करने वालों के लिये शास्त्रकारों द्वारा कठोर दण्डों का निर्देश मिलता है। गौतम द्वारा बताये प्रायश्चित्त इसके लिये अपर्याप्त समझे गये, इनके स्थान पर राजदण्डों का विधान किया जाने लगा।

कौटिल्य के मातनुसार पिता पुत्र, भाई बहिन, मामा भांजा तथा गुरु शिष्य में से यदि कोई एक दूसरे को विना पतित हुए छोड़ता है तो उसे पूर्व साहस

---

५. गौ ध० सू० ( सवि० २७८ ) अनापदि पुत्रदारादिदाने षड्वार्षिकं चरेत्। विष्णु० (सवि० २७७ )पुत्रदारादिदाता पतितो भवति। कौ० ३।१३ म्लेच्छानामदोषः प्रजां विक्रेतुमाधातुं वा। न त्वेवार्यस्य दासभावः।

दण्ड देना चाहिये[६]। मनु (८।३८९) तथा याज्ञ० (२।२३७) पुत्र का त्याग करने वाले के लिये दण्ड का विधान करते हैं। याज्ञ० के मतानुसार पुत्र अदेय है (२।१७५)। गुप्तकाल में नारद ने आपत्ति काल में भी न देने योग्य आठ वस्तुओं में पुत्र की गणना की। इन के देने और लेने वालों को धर्मज्ञाता राजा द्वारा दण्डित करने की व्यवस्था की[७]। बृहस्पति ने भी ऐसा विधान किया (अप० २।१७५)। कात्यायन ने स्पष्ट शब्दों में यह घोषणा कि कि पुत्र और स्त्रियों के अनिच्छुक होने पर, उन का विक्रय या दान नहीं करना चाहिये (अप० २।१७५)। इस प्रकार छठी शताब्दी ई० के बाद से पिता को पुत्रों को यथेच्छ दान, विक्रय या परित्याग का अधिकार नहीं रहा; पुत्र इस दृष्टि से पिता की प्रभुता से स्वतन्त्र हो गये।

**ज्येष्ठ पुत्र के विशेष अधिकार**--पुत्र को पैतृक सम्पत्ति में समानाधिकार प्राप्त करने के लिये न केवल पिता के साथ, अपितु बड़े भाई के साथ भी संघर्ष करना पड़ा है। हिन्दू परिवार में विभिन्न कालों और स्थानों में ज्येष्ठ पुत्र को पैतृक सम्पत्ति का एकमात्र उत्तराधिकार देने का अग्रजाधिकार का नियम (Law of Primogeniture) प्रचलित रहा है, कुछ स्थानों में बंटवारे के समय बड़े भाई को विशेष अंश देने की परिपाटी थी। अब भी अनेक जमीन्दारियों में इनके कुछ अवशेष मिलते हैं। किन्तु आजकल सामान्य रूप से पुत्रों में पैतृक सम्पत्ति का समान रूप से बंटवारा होता है। प्राचीन काल में यह नियम सार्वभौम न था। उस समय विभिन्न स्थानों पर ज्येष्ठ पुत्र के विशेष अधिकार के तीन रूप प्रचलित थे--(१) बड़े लड़के का पैतृक सम्पत्ति का एकमात्र उत्तराधिकारी होना (२) उसका पैतृक सम्पत्ति में विशेष अंश या उद्धार ग्रहण करना (३) उसका सम्पत्ति में दुगना भाग लेना।

ब्राह्मण ग्रन्थों में हमें सर्वप्रथम ज्येष्ठ पुत्र के विशेषाधिकार के विभिन्न

---

६. कौ० ३।२० पितापुत्रयोर्दम्पत्योर्भ्रातृभगिन्योर्मातुलभागिनेययोः शिष्याचार्ययोः...परस्परमपतितं त्यजतः पूर्वः साहसदण्डः।

७. ना स्मृ० ७।४ अन्वाहितं याचितकमाधिः साधारणं च यत्। निक्षेपः पुत्रदारं च सर्वस्वं चान्वये इति। आपत्स्वपिहि कष्टासु वर्त्तमानेन देहिना। अदेयान्याहुराचार्या यच्चान्यस्मै प्रतिश्रुतम्॥ वही ७।१२ गृह्णात्यदत्तं यो मोहाद्यश्चादेयं प्रयच्छति। दण्डनीयावुभावेतौ धर्मज्ञेन महीक्षिता॥

रूपों—दुगना हिस्सा लेने, उद्धार प्राप्त करने तथा एकमात्र उत्तराधिकारी होने के कुछ संकेत मिलते हैं। पर छठी शती ई० पू० से बड़े लड़के के विशेष अधिकारों का विरोध होने लगा। अगले डेढ़ हज़ार वर्ष तक यह परिपाटी हिन्दू परिवार में उग्र विरोध के बावजूद लड़खड़ाती हुई चलती रही। नवीं शताब्दी में याज्ञ०स्मृति तथा मनुस्मृति के पहले टीकाकार विश्वरूप (८००-८२५) और मेधातिथि (८२५-९०० ई०) इस के अन्तिम प्रबल पोषक थे। इसके बाद आठवीं से दसवीं शती के बीच स्मृतिसंग्रह ने ज्येष्ठाधिकार की अन्त्येष्टि की, विज्ञानेश्वर (१०७०-११००) देवण्ण भट्ट (११७०-१३००) आदि निबन्धकारों ने इस ने इसका श्राद्ध किया। वर्तमान काल में कुछ अविभाज्य जागीरों और जमीन्दारियों के रूप में ही इस की सत्ता अवशिष्ट है। यहां पहले वैदिक युग में ज्येष्ठ पुत्र के विशेषाधिकारों का उल्लेख होगा, बाद में छठी श० ई० पू० से छठी श० ई० तक के काल में इसके विविध रूपों का दिग्दर्शन कराया जायगा, अन्त में इसके लुप्त होने का तथा वर्तमान युग की अग्रजाधिकार वाली जमीन्दारियों का वर्णन होगा।

**वैदिक युग में ज्येष्ठ पुत्र के अधिकार**—इस काल में सबसे बड़े लड़के के अधिकारों को दो मुख्य वर्गों में बांटा जा सकता है—(१) अन्य पुत्रों की अपेक्षा दुगना अथवा विशेष अंश पाने का अधिकार (२) पिता की सम्पत्ति का एकमात्र उत्तराधिकारी बनना। वैदिक साहित्य में दोनों प्रकार के कुछ संकेत मिलते हैं और इन से यह सूचित होता है कि उस समय वर्तमान काल की भांति समूचे हिन्दू समाज में कोई एक नियम प्रचलित नहीं था।

ऋ० ६।६९।८ में इन्द्र और विष्णु की स्पर्धा का वर्णन है, इस में हज़ार गौओं को पहले तीन हिस्सों में बांटने तथा बाद में इनमें से दो हिस्से बड़े भाई इन्द्र द्वारा लेने का वर्णन है[८]। बाद में ज्येष्ठ पुत्र के लिये दो अंशों की व्यवस्था

---

८. उभा जिग्यथुर्न पराजयेथे न पराजिग्ये कतरश्चनैनोः। इन्द्रश्च विष्णो यदपस्पृधेथां, त्रेधा सहस्रं वि तदैरयेथाम्॥ यह मन्त्र तै० सं० ३।२।११।२, ७।१।६।७, काठक सं० १२।१४, मैत्र सं० २।४।४, अथर्व० सं० ७।४४।१, ऐ० ब्रा० ६।१५।६ श० ब्रा० ३।३।१।१३ गो० ब्रा० २।४।१७ में भी है। तै० सं० में इसका सायण भाष्य निम्न है—हे विष्णो त्वमिन्द्रश्चोभौ यदपस्पृधेथां यदा परस्परं स्पर्धितवन्तौ तत्तदा गोसहस्रं त्रेधा विभज्यैरयेथामिन्द्रस्य द्वौ भागौ विष्णोरेको भाग इत्येवं प्राप्तवन्तौ मि० तै० सं० ७।१।५।४

करने वाले वसिष्ठ ( १७।४० ) आदि शास्त्रकारों को संभवतः इस श्रुति वचन से प्रेरणा मिली होगी।

जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण से ज्ञात होता है कि उस समय कुछ स्थानों में ज्येष्ठता के तारतम्य से पुत्रों में विभाग होता था, सर्वप्रथम बड़ा लड़का पैतृक सम्पत्ति में अपना हिस्सा चुनता था, उसके बाद आयु के क्रम से अन्य पुत्रों को अपने अंश पसन्द करने को कहा जाता था। प्रजापति ने इस प्रकार सब से पहले ज्येष्ठ पुत्र अग्नि को, उस के बाद क्रमशः इन्द्र और सोम को पैतृक सम्पत्ति का वरण करने के लिये कहा था[९]।

धर्मसूत्रों और स्मृतियों में ज्येष्ठ तथा गुणी पुत्रों के लिये 'उद्धार' की व्यवस्था पायी जाती है, पैतृक सम्पत्ति में से निकाला अथवा उद्धृत किया विशेष अंश उद्धार कहलाता था, पहले यह बड़े भाई को दिया जाता था; बाद में इस पर गुणवान् भाइयों का अधिकार माना जाने लगा। वैदिक वाङ्मय में गुणी भ्राता को उद्धार देने के कुछ संकेत पाये जाते हैं। मैत्रायणी संहिता के अनुसार वृत्र का वध करने से इन्द्र ने 'उद्धार प्राप्त किया, अतः यह इस का ही हिस्सा होता है[१०]'। शतपथ ब्रा० ३।४।१।११, ३।९।४।९ तथा मैत्रायणी सं० ४।३।२ में भी उद्धार का उल्लेख है।

**वैदिक युग में अग्रजाधिकार** (Primogeniture)—क्या वैदिक युग में ज्येष्ठ पुत्र द्वारा पैतृक सम्पत्ति का एकमात्र उत्तराधिकारी होने का नियम प्रचलित था? सर्वाधिकारी का मत है कि प्राचीन भारत में अग्रजाधिकार उत्तराधिकार का निश्चित कानून (Settled law) था, हिन्दू कानून के एक अन्य विशारद जे० सी० घोष ने इसे वैदिक युग का प्रचलित (Prevailing) कानून बताया है[११]। इन विद्वानोंके पाण्डित्य के प्रति पूरा सम्मान

९. जैमि० उप० ब्रा० १।५१ तदिदं साम सृष्टमद उत्क्रम्य लेलायदतिष्ठत्, तस्य सर्वे देवा ममत्विन् आसन् मम ममेति, तेऽब्रुवन् विदं भजामहा इति। तस्य विभागे न समपादयन्, तान् प्रजापतिरब्रवीदपेत मम वा एतत्, अहमेव वो विभक्ष्यामीति। सोऽग्निमब्रवीत्, त्वं वै मे ज्येष्ठः पुत्राणामसि, त्वं प्रथमो वृणीष्वेति.. .अथेन्द्रमब्रवीत् त्वमनुवृणीष्वेति। अथ सोममब्रवीत् त्वमनुवृणीष्वेति।

१०. मैत्रा० सं० ४।३।१ स एतमुद्धारमुदहरद्वृत्र.. हत्वा। तदुद्धार एवास्यैष भाग एव।

११. प्रिन्सिपज् आफ़ हिन्दू ला आफ इनहैरिटेन्स पृ० १७६; प्रिन्सिपल्ज आफ़ हिन्दू ला पृ० १७

रखते हुए भी हमें ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक युग के आरम्भ में अग्रजाधिकार की परिपाटी न तो 'प्रचलित' और न 'निश्चित' कानून थी। इसे सिद्ध करने के लिए इन विद्वानों द्वारा दिये गये प्रमाण निर्विवाद नहीं हैं, वैदिक साहित्य में केवल एक ही प्रमाण ऐसा है, जो असंदिग्ध रूप से इस प्रथा को सूचित करता है, किन्तु इस के विरोध में अग्रजाधिकार विरोधी प्रमाण पर्याप्त संख्या में है।

सम्पत्ति का एक मात्र उत्तराधिकारी होना तथा सब पुत्रों में धन का बंटवारा होना विरोधी व्यवस्थायें हैं। यदि उस समय अग्रजाधिकार प्रचलित कानून था तो हमें इसका अधिक तथा बंटवारे की प्रथा बहुत कम उल्लेख मिलना चाहिये। परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। वैदिक वाङ्मय में पैतृक सम्पत्ति को पिता द्वारा पुत्रों में बांटने के अनेक संकेत हैं (ऋ० १।२२।७, १।७०।१०, ७।३२।२६)। ऋ० १।७३।९ में यह प्रार्थना है कि पिता के धन के स्वामी होते हुए हमारे विद्वान् पुत्र सौ वर्ष की आयु का भोग करें[१२]। इसी प्रकार ऋ० २।१३।४ में सन्तान (प्रजाओं) में पोषक धन के विभाग का वर्णन है। यदि उस समय ज्येष्ठ पुत्र के एकमात्र उत्तराधिकारी होने का 'निश्चित' नियम होता तो एक पुत्र को ही सम्पत्ति देने का उल्लेख होता है।

वैदिक युग में अग्रजाधिकार का अभाव भ्राता शब्द की व्युत्पत्ति (ऋ० १।१६१।१) तथा भाइयों द्वारा बंटवारे के संकेतों से भी पुष्ट होता है। यास्क ने भ्राता शब्द की दो निरुक्तियां की हैं, इन में पहली के अनुसार यह शब्द ग्रहण करने का अर्थ देने वाली भृ धातु से बना है, अंश ग्रहण करने वाला भ्राता होता है; भाई पिता की सम्पत्ति में अंश ग्रहण करते हैं, अतः वे भ्राता कहलाते हैं। इस व्युत्पत्ति की पुष्टि ऋ० १।१६१।१ से होती है[१३]; इस मंत्र के सायणभाष्य के अनुसार "सुधन्वा के ऋभु आदि तीन पुत्र थे, उन्होंने उत्तम कर्मों से देवपद प्राप्त किया। वे किसी यज्ञ में सोमपान के लिये उपस्थित हुए। उन तीनों की आकृति मिलती थी, अग्नि उन जैसा रूप धारण कर उनके पास आ बैठा, उस ने भी सोमपान में उन की हिस्सेदारी चाही, उस समय तीनों भाई संदेह में पड़ गये कि अंश ग्रहण करने वाला चौथा भाई कहां से आ गया है"। इस मंत्र से यह स्पष्ट है कि भ्राता पिता की सम्पत्ति के भागहर होते थे। अग्रजाधिकार में

---

१२. ईशानासः पितृवित्तस्य रायो वि सूरयः शतहिमा नो अश्युः।

१३. निरुक्त ४।२६ भ्राता भरतेर्हरति कर्मणो, हरते भागम्, भर्त्तव्यो भवतीति वा।

पैतृक सम्पत्ति पर बड़े भाई का एकाधिकार होने से भाइयों में उसका बंटवारा संभव नहीं है।

शतपथ ब्राह्मण (१।२।५।१-४) में प्रजापति के पुत्र—असुरों तथा देवताओं द्वारा पृथिवी को बांटने का विस्तृत वर्णन है[१४]। देवताओं और असुरों में स्पर्धा हुई, देवता हार गये, असुरों ने सारी भूमि को अपना समझा, उन्होंने पूर्व-दिशा से पश्चिम दिशा की ओर बैलों की खालों से नापते हुए पृथिवी को बांटना शुरू किया। देवताओं ने उन से कहा—इसमें हमारा भी हिस्सा है (नोऽप्यस्यां भाग इति)। असुरों ने उन्हें उतनी भूमि देना स्वीकार किया, जितने पर विष्णु शयन करें। असुर देवताओं के बड़े भाई थे, अग्रजाधिकार के अनुसार सारी सम्पत्ति उन्हें मिलनी चाहिये, किन्तु यहां देवता स्पष्ट रूप से कहते हैं कि इसमें हमारा हिस्सा है, अग्रजाधिकार में छोटे भाई इस प्रकार किसी अंश की मांग नहीं कर सकते। शतपथ ब्राह्मण में अनेक वार असुरों तथा देवताओं में सम्पत्ति बंटने का वर्णन है (१।७।२।२२, ३।२।१।१८, ९।५।१।१२)। जैमिनीय ब्राह्मण (३।१५६) में अभिप्रतारण के पुत्रों द्वारा सम्पत्ति के बंटवारे का उल्लेख है (दे० ऊ० पृ० ४५)। यह भी सब पुत्रों में पैतृक द्रव्य के विभाग का प्रतिपादक है।

घोष ने विभाग के इन प्रमाणों के आधार पर यह कल्पना की है कि वैदिक युग के आरम्भ में अग्रजाधिकार था, इस के कठोर प्रयोग की भीषणता से बचने के लिये पिता को अपने जीवन काल में बंटवारा करने का अधिकार दिया गया[१५]। किन्तु किसी ऐतिहासिक घटना को सिद्ध करने के लिये केवल अभावात्मक प्रमाण पर्याप्त नहीं; उसे पुष्ट करने के लिये भावात्मक साक्षी भी आवश्यक है। घोष ने इसे नहीं प्रस्तुत किया; किन्तु विभाग को परवर्ती मान कर उससे पहले अग्रजाधिकार की सत्ता मान ली है। यह कल्पना तभी सत्य हो सकती है, जब दोनों में कार्यकारण भाव हो। वस्तुतः ऐसी बात नहीं है, विभाग से पहले सदैव अग्रजाधिकार प्रचलित

---

१४. देवाश्च वाऽसुराश्च। उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे ततो देवा अनुव्यमिवासुरथ हासुरा मेनिरेऽस्माकमेवेदं खलु भुवनमिति। ते होचुः हन्तेमां पृथिवीं विभजामहै तां विभज्योपजीवामेति तामौक्षणैश्चर्मभिः पश्चात्प्राञ्चो विभजमाना अभीयुः। तद्वै देवाः शुश्रुवुः।........ते होचुः। नोऽप्यस्यां भाग इति ते हासुरा असूयन्त। इवोचुर्यावदेवैष विष्णुरभिशेते तावद्वो दद्म इति।

१५. घोष पूर्व-निर्दिष्ट पुस्तक पृ० १७।

होता हो, ऐसा कोई नियम नहीं है। इंगलैण्ड में नार्मन विजय (१०६६ ई०) से पूर्व सम्पत्ति का पुत्रों में सम विभाग होता था। हेनरी प्रथम (११००-३५) के समय से अग्रजाधिकार का नियम प्रचलित हुआ[१६]। यहां विभाग पहले था, अग्रजाधिकार बाद में उत्पन्न हुआ। योरोप में भी अग्रजाधिकार विभाग के बाद प्रचलित हुआ। वस्तुतः यह बड़ी जटिल सामाजिक पद्धति है, विभाग से उस के प्रादुर्भाव का कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं। अतः घोष द्वारा प्रतिपादित विभाग के प्रमाणों के आधार पर अग्रजाधिकार को वैदिक काल का 'प्रचलित' कानून नहीं कहा जा सकता।

सर्वाधिकारी द्वारा वैदिक युग में इस प्रथा को मानने का मुख्य आधार शुनःशेप की कथा में ज्यैष्ठच शब्द का प्रयोग है, उनकी व्याख्या के अनुसार इस शब्द का अर्थ अग्रजाधिकार (Primogeniture) है। किन्तु ये दोनों बातें ठीक नहीं प्रतीत होती। इस कथा का पहले उल्लेख हो चुका है (पृ० १८६)। शुनःशेप को अपना ज्येष्ठ पुत्र बताते हुए विश्वामित्र ने उस की स्थिति सुदृढ़ करने के लिये यह कहा है—'मधुच्छन्दा, रेणु, अष्टक तथा जो भी कोई और भाई हैं, वे यह सुन लें कि वे सब शुनःशेप से 'ज्यैष्ठच' होने का अभिमान न करें'। यहां ज्यैष्ठच का अर्थ अग्रजाधिकार या सम्पत्ति का एकमात्र उत्तराधिकारी होना नहीं, किन्तु 'बड़ा होना' मात्र है। सायण जैसे प्राचीन और कीथ जैसे अर्वाचीन टीकाकारों ने इस का यही अर्थ किया है[१७]।

यदि उपर्युक्त स्थल में ज्यैष्ठच का यह अर्थ ठीक मान भी लिया जाय तो विश्वामित्र के अगले वचनों से इसका विरोध होता है। इनमें उसने सब पुत्रों द्वारा दाय प्राप्त करने का उल्लेख किया है[१८]। यह स्पष्ट रूप से अग्रजाधिकार विरोधी व्यवस्था है।

इस कथा से यह भी सूचित होता है कि बड़े लड़के की ज्येष्ठता और

---

१६. पाल—ला आफ़ प्राइमोजैनिचर अध्याय २

१७. ऐ० ब्रा० ३३।५ मधुच्छन्दाः शृणोतन ऋषभो रेणुरष्टकः। ये के च भ्रातरः स्थ नास्मै ज्यैष्ठाय कल्पध्वमिति। सायण भाष्य—सर्वेऽपि शुनःशेपात् ज्यैष्ठाय न कल्पध्वं ज्येष्ठत्वाभिमानं मा कुरुत। कीथ-ऋग्वेद ब्राह्मण हार्वर्ड ओरियण्टल सीरीज सं० २५ पृ० ३०७।

१८. ऐ० ब्रा० ३३।६ युष्मांश्च दायं म उपेता विद्यां यामु च विद्मसि। सायण भाष्य—मे मदीयं दायं धनं युष्मांश्चोपेता प्राप्स्यति, चकाराद्देवरातं च।

श्रेष्ठता के दावे को अन्य पुत्र स्वीकार नहीं करना चाहते थे। विश्वामित्र के एक सौ एक पुत्रों में से पचास ने देवराज को ज्येष्ठ बनाना अपने लिये हितकर नहीं समझा, उन्होंने विद्रोह का झण्डा खड़ा किया, विश्वामित्र शाप द्वारा ही उनका विरोध शान्त कर सके ( ऐ० ब्रा० ३३।१८ ) । छोटे तथा बड़े भाईयों के संघर्ष की यह चर्चा हमें ऐतरेय ब्राह्मण में अन्यत्र (४।२४) भी मिलती है । एक वार जब देवताओं ने इन्द्र की ज्येष्ठता को स्वीकार नहीं किया, तो इन्द्र ने बृहस्पति द्वारा द्वादशाह यज्ञ करवा के देवताओं से अपना बड़ा होना स्वीकार कराया ।

ज्येष्ठ पुत्र द्वारा सम्पत्ति के एकमात्र उत्तराधिकारी होने का सुस्पष्ट एवं निर्विवाद उल्लेख वैदिक वाङमय में केवल तैत्तिरीय संहिता ( २।५।२।७ ) में एक वार हुआ है । यहां पूर्णिमा के दिन किये जाने वाले यज्ञ के देवता का प्रश्न उठाया गया है । प्रजापति को इसका देवता बताते हुए यह कहा गया है कि उसने अपने ज्येष्ठ पुत्र इन्द्र को अपनी सारी सम्पत्ति प्रदान की, ताकि वह यावज्जीवन उसका उपभोग करे । इसी का अनुकरण संसार में किया जाता है, ज्येष्ठ पुत्र को ही सम्पत्ति दी जाती है[१९]।

वैदिक युग में अग्रजाधिकार की सत्ता सूचित करने वाले अकेले इस प्रमाण के आधार पर इसे प्राचीन भारत का 'निश्चित नियम' नहीं कहा जा सकता। इससे केवल यही परिणाम निकाला जा सकता है कि उस समय कुछ स्थानों पर इस परिपाटी का प्रचलन रहा होगा ।

**अग्रजाधिकार के उद्‌गम के कारण**--वैदिक युग में इस प्रथा का जन्म किन कारणों से हुआ, इसका उत्तर हमें इस प्रश्न की सामान्य विवेचना करने वाले समाजशास्त्रियों से ही मिल सकता है, किन्तु उन के उत्तर भारतीय परिस्थिति के लिये सत्य नहीं प्रतीत होते । इस प्रथा के उद्‌गम के कारणों के सम्बन्ध में पश्चिमी विद्वानों में दो पक्ष हैं । पहला पक्ष पुराने समाजशास्त्रियों का है, यह सामन्त पद्धति को इस का मूल समझता है । दूसरा पक्ष नवीन विचारकों का है, यह भूसम्पत्ति को अविभक्त बनाये रखने की इच्छा ही अग्रजाधिकार का प्रधान कारण मानता है । पहले पक्ष के समर्थक मेन ( एंशेण्ट ला, अध्याय ७ ) और

---

१९. तै० सं० २।५।२।७ ब्रह्मवादिनो वदन्ति किं देवत्यं पौर्णमास्यमिति प्राजापत्यमिति ब्रूयात्तेनेन्द्रं ज्येष्ठं पुत्रं निरवासाययदिति तस्माज्ज्येष्ठं पुत्रं धनेन निरवसाययन्ति । सायण भाष्य--निःशेषमायुषोऽवसानं धनेन युक्तो यथा प्राप्नोति तथा कुर्वन्तीत्यर्थः ।

ब्राडरिक तथा बेडन पावेल हैं । ब्राडरिक ने लिखा है--"अग्रजाधिकार सामन्त पद्धति के युग की उपज है, इसे इससे पूर्ववर्त्ती युग में नहीं खोजा जा सकता; यह उन्हीं देशों में प्रचलित है, जिन्होंने सामन्त पद्धति को ग्रहण किया है"[२०] । मेन का भी यही मत है । इस कल्पना के अनुसार वैदिक युग में अग्रजाधिकार के लिये सामन्त पद्धति होना आवश्यक है । बेडन पावेल की ऐसी ही मान्यता है कि इंगलैण्ड के नार्मन आक्रान्ताओं की भांति भारत के आर्य विजेताओं ने इस प्रदेश को जीत कर, यहां के मूल निवासियों को दास बनाया; आर्येतर जातियों से खेती कराते हुए बड़ी जागीरों पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया[२१] । बेडन पावेल की यह कल्पना वैदिक साहित्य से पुष्ट नहीं होती, आर्य स्वयं कृषि करते थे ( ऋ० १०।३४।१३, १०।११७।१-७ ), पंचविंश ब्रा० (१७।१) में आर्यों के समाज से बाहर के व्रात्य लोगों के सम्बन्ध में कहा गया है कि वे खेती नहीं करते । वैदिक साहित्य में बड़ी बड़ी जागीरों का कोई उल्लेख नहीं है । अतः वैदिक युग में भारत में सामन्त पद्धति की सत्ता अनिश्चित है, उससे अग्रजाधिकार की उत्पत्ति मानना युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होता ।

मेटलैण्ड और विनोग्रेडोफ ने अग्रजाधिकार को भूसम्पत्ति अविभक्त बनाये रखने की इच्छा का परिणाम बताया है[२२] । मेटलैण्ड ने सामन्त पद्धति को अग्रजाधिकार का मूल कारण मानने वालों पर तीव्र आक्षेप करते हुए कहा है--'यह (सामन्त पद्धति) एक बहुत अच्छा शब्द है जो हमारी बीसियों अज्ञानताओं को ढकने का बढ़िया आवरण है'[२३] । सर पाल विनोग्रेडोफ के मत में इसका उद्गम आर्थिक परिस्थिति में ढूंढ़ना चाहिये, आदिम युग में संघ में ही शक्ति होती है, उस समय पारिवारिक सम्पत्ति के बंटवारे से कुटुम्ब कमज़ोर होता है, अतः उसे सुदृढ़ बनाये रखने के लिये अग्रजाधिकार का नियम आवश्यक होता है[२४] ।

---

२०. दी ला एण्ड कस्टम आफ़् प्राइमोजैनिचर पृ० ९५

२१. बेडन पावेल--इंडियन विलेज कम्यूनिटीज़ पृ० १९०

२२. मेटलैण्ड-हिस्टरी आफ इंगलिश ला, विनोग्रेडोफ--औट लाइन्स आफ हिस्टारिकल ज्यूरिसप्रूडेन्स ।

२३. मेटलैण्ड-कलेक्टेड पेपर्स खण्ड १ पृ० १७५

२४. विनोग्रेडोफ-पूनि० खण्ड १ पृ० २८६, मि० इंसा० सो० सा० पृ० ४०२ ।

वैदिक युग में अग्रजाधिकार की व्याख्या के लिये यह कारण भी पर्याप्त नहीं प्रतीत होता। यदि विनोग्रेडोफ की संघशक्ति वाली युक्ति सही हो तो वैदिक साहित्य के प्राचीनतम भाग में अग्रजाधिकार के अधिक संकेत मिलने चाहियें, क्योंकि उस समय अन्य जातियों के साथ संघर्ष उग्र होने के कारण पारिवारिक सम्पत्ति की अखण्डता और दृढ़ता अधिक आवश्यक थी। किन्तु वैदिक युग की साक्षी इसके विरोध में है। उपर्युक्त कल्पना के अनुसार पहले अग्रजाधिकार और बाद में बंटवारा होना चाहिये, यहां बंटवारे के उल्लेख पहले मिलते हैं और अग्रजाधिकार के उस के बाद। अतः विनोग्रेडोफ का यह कारण भारतीय अग्रजाधिकार पद्धति की समुचित व्याख्या नहीं कर सकता।

इसमें कोई संदेह नहीं कि अग्रजाधिकार का एक प्रधान कारण भूसम्पत्ति को अखण्ड बनाये रखने की इच्छा है, किन्तु इसके साथ ही भारत में ज्येष्ठ पुत्र के कई महत्वपूर्ण दायित्व भी इसमें सहायक सिद्ध हुए हैं। पिता के बाद परिवार के नेतृत्व का तथा भाइयों के पालन पोषण के कार्य का भार वही उठाता था[२५] (कौ० ३।५, मनु० ९।१०५)। परिवार का सारा उत्तरदायित्व उठाने के कारण उसे परिवार की सम्पूर्ण सम्पत्ति का एकमात्र उत्तराधिकारी बनाया जाना स्वाभाविक ही था। संयुक्त परिवारों में जहां पिता का पैतृक सम्पत्ति पर स्वत्व माना जाता था, वहां उसके मरने पर ज्येष्ठ पुत्र के परिवार का संचालक बनने के कारण कुटुम्ब की सम्पत्ति पर उसका एकाधिकार माना जाना नैसर्गिक था।

ज्येष्ठ पुत्र को यह अधिकार देने का एक कारण संभवतः उस का धार्मिक दृष्टि से असाधारण महत्व रखना था। वैदिक युग में प्रत्येक गृहस्थ के लिये आहिताग्नि होना आवश्यक था। गृहपति की मृत्यु पर उस की अग्नियां उस के शव के साथ रख दी जाती थी (आश्व० गृ० सू० ४।२।११-१३)। इस प्रकार पुरानी अग्नियों के नष्ट हो जाने पर नये सिरे से अग्न्याधान आवश्यक हो जाता था। शांखायन गृह्यसूत्र में यह अधिकार ज्येष्ठ पुत्र को दिया गया है, यह इस बात का प्रतीक था कि उस ने सारा घर संभाल लिया है; क्योंकि गृह्य सूत्रों से हमें ज्ञात होता है कि नये घर के निर्माण के समय अग्न्याधान होता था (पार० गृ० २।१।२)। अतः जब शांखायन ज्येष्ठ पुत्र द्वारा अग्न्याधान की व्यवस्था

---

२५. गौ ध० सू० २८।३ सर्वं वा पूर्वजस्येतरान् बिभृयात्पितृवत्, मि० कौ० ३।५, पितुरसत्यर्थे ज्येष्ठाः कनिष्ठाननुगृह्णीयुः, अन्यत्र मिथ्यावृत्तेभ्यः, नास्मृ० १६।५ बिभृयाद्वेच्छतः सर्वान् ज्येष्ठो भ्राता यथा पिता ॥

करता है तो उसका आशय यह है कि वह परिवार में पिता का स्थान ग्रहण करे और कुटुम्ब पालन का उत्तरदायित्व स्वीकार करे।

उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि वैदिक युग में ज्येष्ठ पुत्र को विशेष अंश देने की परिपाटी थी, अग्रजाधिकार का प्रचलन बहुत कम था, यह अधिकार ज्येष्ठ पुत्र को संभवतः अग्न्याधान तथा परिवार पालन का उत्तरदायित्व ग्रहण करने से मिला था।

**६०० ई० पू० से ६०० ई० तक अग्रजाधिकार का विकास**—इन १२०० वर्षों में हिन्दू समाज में अग्रजाधिकार की संस्था ने स्थिर होने का यत्न किया; किन्तु यह अन्य पुत्रों के वैयक्तिक अधिकारों के प्रबल विरोध में नहीं टिक सकी। इस काल में कि अग्रजाधिकार ने दो मुख्य रूपों द्वारा छोटे भाइयों के वैयक्तिक अधिकारों के साथ समझौता करना चाहा। पहला रूप तो यह था कि ज्येष्ठ पुत्र को पूरा अधिकार न देकर अन्य पुत्रों से दुगना हिस्सा दिया जाय और दूसरा यह था कि सम्पत्ति का कुछ विशेष अंश (उद्धार) बड़े भाई के लिये पहले रख दिया जाय और फिर सम्पत्ति का सब पुत्रों में समान रूप से बंटवारा किया जाय। अन्त में ये दोनों रूप मान्य नहीं हुए। इस काल के अनेक सूत्रकार और स्मृतिकार निश्चित रूप से कोई एक व्यवस्था नहीं करते। मनु आदि ने अग्रजाधिकार के उपर्युक्त दोनों रूपों की तथा समान विभाग की विरोधी व्यवस्थायें कीं। इसका कारण संभवतः यह था कि उस समय इस सम्बन्ध में हिन्दू समाज में कोई सर्वसम्मत व्यवस्था प्रचलित नहीं थी। यहां कालक्रम से विभिन्न शास्त्रकारों की व्यवस्थाओं का उल्लेख किया जायगा।

गौतम ने २८ वें अध्याय में दाय विभाग में निम्न छः वैकल्पिक व्यवस्थायें की हैं—(१) (पिता के जीवित रहते हुए विभाग होने पर) सारा धन अग्रज (पूर्वज) को दिया जाय। वह पिता की तरह दूसरों (छोटों भाइयों) का भरण करे (२८।३)। इसमें परिवार के पालन के दायित्व का ध्यान रखते हुए ज्येष्ठ पुत्र को ही सारी सम्पत्ति दी गयी है। (२) (पिता की मृत्यु के बाद विभाग होने पर सम्पत्ति का) बीसवां भाग, गौ आदि की एक जोड़ी, ऊपर नीचे दोनों ओर की दंतपंक्तियों से युक्त (अश्वादि) पशुओं से युक्त रथ और एक बैल ज्येष्ठ पुत्र का होता है। (मंझले बेटे का विशेष भाग) काणे, बूढ़े (खोर), लंगड़े (खोट), शृंगहीन (कूट) पूंछ रहित (वण्ड) पशु होंगे, बशर्तें कि ये अधिक संख्या में हों। छोटे पुत्र का (अधिक भाग) भेड़, अन्न, लोहा (लोहे के वर्तन) घर, (बैलों से युक्त) रथ, चौपायों में से एक

एक जानवर होता है। बाकी बची हुई सम्पत्ति को समान रूप से बांट लिया जाय [२५क]।

(३) तारतम्य विभाग—प्रत्येक प्रकार की सम्पत्ति में पुत्रों को ज्येष्ठता के क्रम से चुनाव कर के हिस्सा लेने का अधिकार हो। उदा०—पहले बड़ा लड़का अपने लिये सब खेतों में से अपना हिस्सा चुने, उसके बाद छोटे भाई आयु के क्रम से अपना हिस्सा पसन्द करें। पशुओं के बंटवारे में सब भाई क्रम से एक बार में दस दस पशु चुनते हैं। किन्तु एक शफ वाले (घोड़े) तथा द्विपद (दासी आदि) को दस-दस की संख्या में नहीं लिया जाता [२५ख]।

(४) (एक पुरुष की अनेक पत्नियां होने पर उनके पुत्रों में से आयु की दृष्टि से) सब से बड़े पुत्र को (भले ही वह बाद में विवाहित स्त्री का लड़का—कनिष्ठिनेय ही क्यों न हो) एक बैल अधिक मिलता है। सब से पहले परिणीत स्त्री के सब से बड़े लड़के (ज्यैष्ठिनेय) को पन्द्रह गौयें और एक बैल दिया जाता है (२८।१२-१३)

(५) पश्चात् परिणीत पत्नी का ज्येष्ठ पुत्र पूर्व परिणीत पत्नी के छोटे भाइयों के साथ तुल्यरूप से दाय का बंटवारा करे (२८।१४)

(६) माताओं के अनुसार प्रतिवर्ग में पुत्रों के अंशों का बंटवारा किया जाय, अर्थात् जितनी मातायें हों, धन के उतने हिस्से कर दिये जांय। एक माता के जितने पुत्र हों उस माता के हिस्से को उन पुत्रों में ज्येष्ठता के क्रम के अनुसार बांट दिया जाय [२५ग]।

---

२५ क. गौध सू० २८।५-८ विंशतिभागो ज्येष्ठस्य मिथुनमुभयतोदद्युक्तो रथो गोवृषः। काणखोरकूटवण्डा मध्यमस्यानेकाश्चेत्। आविर्धान्यायसी गृहमनोयुक्तं चतुष्पदां चैकैकं यवीयसः। समधेतरत्सर्वम्। इसके अतिरिक्त गौतम की एक अन्य व्यवस्था यह भी है कि बड़ा भाई (पूर्वज) दो अंश ले तथा अन्य सब एक-एक अंश लें (२८।९-१० द्व्यंशी वा पूर्वजः स्यात्। एकैकमितरेषाम्)। स्मृतिचन्द्रिका (प्र० २६६) विवाद रत्नाकर (पृ० ४७८) इसे विद्यादि गुणों वाले ज्येष्ठ भाई पर ही लागू करते हैं (मि० विर०—इदं च ज्येष्ठस्यैव गुणातिशययुक्तत्वे अन्येषां निर्गुणत्वे)।

२५ ख. गौ ध सू० २८।११-१३ एकैकं वा धनरूपं काम्यं पूर्वः पूर्वो लभेत। दशकं पशूनां। नैकशफद्विपदानाम्।

२५ ग. वहीं २८।१५ प्रतिमातृ वा स्वस्ववर्गे भागविशेषः।

गौतम की इन छः व्यवस्थाओं से यह सूचित होता है कि उस समय इस विषय में हिन्दू समाज में कोई एकरूप व्यवस्था नहीं थी। गौतम यद्यपि पहली व्यवस्था में सारी सम्पत्ति ज्येष्ठ पुत्र को सौंपता है; किन्तु वह उसे यह इसी शर्त पर दे रहा है कि वह सारे कुटुम्ब का पालन करेगा। यह स्पष्ट है कि गौतम को इस व्यवस्था से कोई प्रीति नहीं है; क्योंकि यह व्यवस्था करने के बाद अगले ही सूत्र में, वह विभाग में धर्म की वृद्धि स्वीकार करता है (विभागे तु धर्मवृद्धिः २८।४) इसके बाद वह अन्य पांच व्यवस्थाओं में विभाग के प्रकारों का निर्देश करता है। इन पांचों व्यवस्थाओं में ज्येष्ठ पुत्र के प्रति स्पष्ट पक्षपात है। उदा० दूसरी व्यवस्था को लीजिये, इस में सम्पत्ति का २० वां भाग, पशुओं की जोड़ी, रथ और बैल बड़े भाई को मिले हैं। तीसरी व्यवस्था में सम्पत्ति में चुनाव करने का उसे पहले हक़ है। किन्तु इसके साथ हम यह भी देखते हैं कि गौतम विशेष हिस्सा न केवल बड़े भाई को देता है, किन्तु सब भाइयों को देता है। दूसरी व्यवस्था में काणे बैल मंझले के हिस्से में और भेड़ तथा लोहे के बर्तन सब से छोटे पुत्र के हिस्से में आये हैं। ज्येष्ठ पुत्र के प्रति विशेष पक्षपात तथा सब भाइयों को विशेष हिस्सा देने से यह सूचित होता है कि उस समय ज्येष्ठ पुत्र को अधिक हिस्सा देने की परिपाटी तो अवश्य थी, किन्तु छोटे भाइयों के साथ इस परिपाटी से होने वाले अन्याय के प्रतिशोध के लिये यह व्यवस्था की गयी कि उन्हें भी कुछ विशेष भाग दिया जाय।

गौतम की दायविभाग की छः विभिन्न व्यवस्थाओं में से एक में भी सब पुत्रों में सम्पत्ति के समान रूप से बंटवारे का उल्लेख नहीं है। इससे सूचित होता है कि उस समय अग्रजाधिकारवादी प्रबल थे।

किन्तु बौधायन के समय तक स्थिति में कुछ अन्तर आ चुका था; पुत्रों के समानाधिकार का पक्ष काफी प्रबल हो चुका था। गौतम ने बंटवारे के अपने छः प्रकारों में इसका कोई उल्लेख नहीं किया था; किन्तु बौधायन इस सम्बन्ध की अपनी चार व्यवस्थाओं में सर्वप्रथम इसका उल्लेख करता है। उसके मत में बंटवारे के निम्न प्रकार हैं—

(१) सब भाइयों में समानरूप से विना किसी विशेषता ( पक्षपात ) के सम्पत्ति का बंटवारा किया जाय[२६]।

(२) अथवा ज्येष्ठ पुत्र उत्कृष्ट सम्पत्ति को ग्रहण करे ( २।२।६-७ )।

---

२६. बौधायन धर्मसूत्र २।२।३ समशः सर्वेषामविशेषात्।

इसके समर्थन में बौधायन ने तैत्ति० सं० (२।५।२।७) वाले ऊपर उद्धृत (पृ० ४४४) वचन का प्रमाण उपस्थित किया है।

(३) अथवा दस हिस्सों में से एक ज्येष्ठ को दिया जाय तथा शेष सम्पत्ति समानरूप से बांटी जाय (२।२।८-९)।

(४) यदि पिता के जीवित रहते हुए पिता की अनुमति से विभाग हो तो गौ, घोड़े, बकरियां, भेड़ें ज्येष्ठ पुत्र का अंश होती हैं (२।२।८९)।

बौधायन की व्यवस्था गौतम की व्यवस्था से कम पेचीदा है तथा उससे बाद की दशा सूचित करती है। उसने २।२।१२-१३ में विभाग में एक नये सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है—'ज्येष्ठांश पर केवल आयु के कारण ज्येष्ठ भाई का अधिकार नहीं होता; किन्तु गुण के कारण भी बड़े भाई का अधिकार होता है।' हम यह बता चुके हैं कि अग्रजाधिकार कुटुम्ब पालन के दायित्व का परिणाम था। कई बार यह संभव था कि बड़ा भाई अयोग्य सिद्ध हो, उस अवस्था में क्या उसे ज्येष्ठांश मिलना चाहिये ? गौतम ने इस विषय को स्पष्ट नहीं किया; किन्तु बौधायन गुणवान् को ज्येष्ठांश का अधिकारी मानता है और अपनी इस मान्यता का कारण बताते हुए कहता है—गुणवान् ही बाकी भाइयों का पालक होता है; अतः वह ज्येष्ठांश का अधिकारी होता है[२७]। बाद में अग्रजाधिकार को न्याय्य सिद्ध करने का एक आधार गुणवान् होना भी माना गया और इससे योग्य किन्तु छोटे भाइयों को भी सम्पत्ति का अधिकार प्राप्त हुआ।

आपस्तम्ब को इस बात का श्रेय है कि धर्मसूत्रकारों में सर्वप्रथम उसने बड़े स्पष्ट और प्रबल शब्दों में सब पुत्रों में समान विभाग का प्रतिपादन किया। गौतम समान विभाग की चर्चा ही नहीं करता। बौधायन उसकी चर्चा अवश्य करता है, पर उसके साथ ज्येष्ठ पुत्र को विशेष अंश देने वाली अन्य व्यवस्थाओं का भी उल्लेख करता है; आपस्तम्ब ज्येष्ठ पुत्र के एकमात्र उत्तराधिकारी होने का बड़ी उग्रता से खण्डन करता है। आपस्तम्ब के वर्णन से यह स्पष्ट है कि उस समय कई स्थानों में ज्येष्ठ पुत्र को विशेष अंश देने की परिपाटी प्रचलित थी और कई आचार्य ज्येष्ठ पुत्र को ही एकमात्र दायाद मानते थे। आपस्तम्ब लोक प्रचलित परिपाटी के अनुसार बड़े पुत्र को कुछ विशेष अंश देने को सहमत है; किन्तु ज्येष्ठ पुत्र के सम्पत्ति पर एकमात्र अधिकार के सिद्धान्त का खण्डन करता है। इस सम्बन्ध में उसकी व्यवस्थायें अधोलिखित हैं—

---

२७. बौधायन धर्म सूत्र २।२।१३ गुणवान् हि शेषाणां भर्त्ता भवति।

(१) ज्येष्ठ पुत्र को ( गौ आदि किसी ) एक धन से सन्तुष्ट कर पिता अपने जीवन काल में पुत्रों में सम्पत्ति का समान रूप से बंटवारा करे। नपुंसक, पागल और जाति से बहिष्कृत ( पतित ) पुत्र को जायदाद न बांटे[२८]।

(२) कुछ आचार्यों का यह मत है कि ज्येष्ठ पुत्र ही दायाद होता है। कुछ देशों में ज्येष्ठ पुत्र को सोना, काली गौयें (या) भूमि से उत्पन्न होने वाली काली पैदावार ( माषादि अथवा खान से निकाला जाने वाला लोहा आदि ) का अंशहर मानते हैं। किन्तु यह ( ज्येष्ठ पुत्र के एक मात्र उत्तराधिकारी होने अथवा विशेष अंश ग्रहण करने का नियम) शास्त्रों द्वारा निषिद्ध है, क्योंकि श्रुति में यह कहा गया है कि मनु ने अपने पुत्रों में सम्पत्ति समानरूप से बांटी थी ( तै० सं० ३।१।९।४ )। अपने पक्ष का श्रुति से समर्थन करने के बाद आपस्तम्ब के लिये यह आवश्यक था कि वह अग्रजाधिकार के पक्ष में दी जाने वाली 'ज्येष्ठं पुत्रं धनेन निरवसाययन्ति' वाली श्रुति ( तै० सं० २।५।२।७) की अपने पक्ष के अनुकूल व्याख्या करे। बौधायन ने ज्येष्ठ पुत्र के विशेष अंश के समर्थन में इसी को उद्धृत किया था(२।२।५)। आपस्तम्ब ने इस श्रुति की प्रामाणिकता का निराकरण इस प्रकार किया[२९] कि 'यह केवल एक घटना का

---

२८. आपस्तम्ब २।६।१३।१२ एकधनेन ज्येष्ठं तोषयित्वा; २।६।१४।१ जीवन् पुत्रेभ्यो दायं विभजेत् समं क्लीबमुन्मत्तं पतितं च परिहाप्य।

२९. आपस्तम्ब २।६।१४।१२-१३ तथापि तस्माज्ज्येष्ठं पुत्रं धनेन निरवसाययन्तीति. ...। अथापि नित्यानुवादमविधिमाहुर्न्यायविदो यथा तस्मादजावयः पशूनां सह चरन्तीति। आपस्तम्ब का यह खण्डन युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार 'तस्माज्ज्येष्ठं पुत्रं धनेन निरवसाययन्ति' का वचन विधि नहीं, किन्तु अनुवाद वचन है, उसी प्रकार 'मनुः पुत्रेभ्यो दायं व्यभजत्' का वचन भी विधि वाक्य नहीं हो सकता। दोनों तुल्य रूप से एक घटना का वर्णन करते हैं; किन्तु आपस्तम्ब एक से विधि का ग्रहण करता है और दूसरे को अनुवाद मात्र समझता है। हरदत्त ने आपस्तम्ब की टीका में इस दुर्बलता को स्वीकार किया है। स्मृति चन्द्रिका ने ( पृ० २६० ) निरवसाययन्ति का अर्थ किया है —तोषयन्ति अर्थात् प्रसन्न करते हैं। आपस्तम्ब का भी यही मत है— ( दे० २।६।१३।१२ एकधनेन ज्येष्ठं तोषयित्वा)। विवाद रत्नाकर की व्याख्या इससे भिन्न है—ज्येष्ठं पुत्रं धनेनोद्धरणलक्षणेन निरवसाययन्ति इतरपुत्रेभ्यः पृथक् कुर्वन्ति। (पृ० ४६७ )।

वर्णन करने वाली (अनुवाद मात्र) है, मीमांसक (न्यायवित्) घटना का वर्णन करने वाले वाक्य को विधि नहीं मानते'।

आपस्तम्ब की उपर्युक्त व्यवस्थाओं से यह सूचित होता है कि वह पुत्रों के समान अधिकार का प्रबल पक्षपाती और अग्रजाधिकार का घोर विरोधी था, पर उस समय समाज में अग्रजाधिकार की परिपाटी पर्याप्त प्रबलता के साथ प्रचलित थी। लोकाचार या रूढ़ि के सामने प्रत्येक शास्त्रकार को नतमस्तक होना पड़ता है। आपस्तम्ब यद्यपि समविभाग का समर्थक था, किन्तु वह सहसा ज्येष्ठ पुत्र के अधिकार की उपेक्षा नहीं कर सकता था। अतः उसने समान विभाग की व्यवस्था करते हुए अग्रजाधिकारवादियों के साथ यह समझौता किया कि बंटवारे से पहले ज्येष्ठ पुत्र को कुछ विशेष धन देकर सन्तुष्ट कर लिया जाय (मि० हिरण्यकेशी धर्मसूत्र २।७)।

आपस्तम्ब ने आदर्श की दृष्टि से अग्रजाधिकार का विरोध किया; किन्तु यह लोकाचार सम्मत नहीं था। अतः आपस्तम्ब के बाद के सूत्रकारों वसिष्ठ (१७।३९-४२) और विष्णु (१८।३६-३७ व सवि० ३७३) ने विषम विभाग तथा ज्येष्ठ पुत्र के विशेष अधिकार को स्वीकार किया है। वसिष्ठ की व्यवस्था गौतम की दूसरी व्यवस्था (२८।५-८) से मेल खाती है, किन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि ये दोनों सूत्रकार ज्येष्ठ पुत्र को एकमात्र उत्तराधिकार देने के नहीं, किन्तु विशेषांश देने के पक्षपाती हैं।

कौटिल्य (३।६) से यह ज्ञात होता है कि चौथी शती० ई० पू० में हिन्दू समाज में अग्रजाधिकार की परिपाटी का प्रचलन कम हो चला था। वह उसका बिल्कुल उल्लेख नहीं करता। पर उस समय ज्येष्ठ पुत्र को विशेष अंश अवश्य मिलता था, यह उसे इसलिये दिया जाता था कि बड़ा लड़का होने के कारण पितरों के श्राद्ध आदि में उसे विशेष व्यय करना पड़ता था[३०]। ज्येष्ठ पुत्र के अतिरिक्त अन्य पुत्रों को भी सन्तुष्ट करने के लिये कौटिल्य ने विशेष भाग दिये हैं।

बौधायन के अतिरिक्त पिछले सूत्रकार बड़े लड़के के नालायक होने पर उसे विशेष अंश देने के विषय में मौन हैं। बौधायन ने सामान्य रूप से पुत्र के गुणवान् होने की शर्त का उल्लेख किया है, किन्तु इस की विशेष व्याख्या नहीं की। कौटिल्य ने सर्व प्रथम इस कमी को पूरा किया। वह बड़े लड़के की तीन

---

३०. कौ० ३।६।६ प्रतिमुक्तस्वधापाशो हि भवति। श्री मूला टीका—यस्माद् ज्येष्ठः कण्ठनिवेशितपितृकर्मपाशो भवति।

प्रकार की अयोग्यताओं का वर्णन करते हुए, प्रत्येक अयोग्यता के लिये विभिन्न प्रकार के दाय की व्यवस्था करता है। 'यदि ज्येष्ठ पुत्र मानुषोचित गुणों से हीन हो तो वह ज्येष्ठांश के तृतीय भाग को प्राप्त करे, यदि वह अन्याय पूर्वक जीविका का उपार्जन करता है या धर्म कार्यों का परित्याग करता है तो वह चतुर्थ भाग को प्राप्त करे और यदि वह कामाचार (अपनी इच्छा के अनुसार अप्रतिबद्ध रूप से सब काम) करने वाला है तो उसका सारा हिस्सा छीन लिया जाय[३१]। मध्यम और कनिष्ठ भाइयों में यही नियम होता है। इन में से जो मानुष गुणों से सम्पन्न हो, उसे ज्येष्ठांश का आधा हिस्सा मिलता है (३।६।१६-१७)।

कौटिल्य की इन व्यवस्थाओं से यह परिणाम निकाला जा सकता है कि वह विशेषांश को जन्म मूलक अधिकार नहीं मानता, बल्कि उस अंश के लिये कुछ गुण भी आवश्यक समझता है, जिन के अभाव में ज्येष्ठांश छीना जा सकता था। अग्रजाधिकार पर यह एक प्रबल प्रहार था। अग्रजाधिकार जन्म को प्रधान मान कर चलता है, इस व्यवस्था में छोटे पुत्रों का असन्तोष स्वाभाविक है। अतः ज्येष्ठ पुत्र के विशेषांश की व्यवस्था को गुणों के आधार पर न्याय्य ठहराया गया। इसमें दूसरे पुत्रों के लिये भी यह मौका था कि वे अपने गुणों से ज्येष्ठ अंश प्राप्त कर सकें। आगे चल कर हम देखेंगे कि इस सिद्धान्त को स्वीकृत करने का यह परिणाम हुआ कि अग्रजाधिकार का शनैः शनैः बिल्कुल लोप हो गया। कौटिल्य (३।७) से यह प्रतीत होता है कि उस समय समाज के निम्न वर्ग में समान विभाग की पद्धति ही प्रचलित थी। विशेषांश तथा विशेष भाग सम्पन्न व्यक्तियों में ही संभव है, पशुओं की अधिक संख्या होने पर ही उनमें चुनाव तथा गौतम आदि द्वारा निर्दिष्ट विभाग हो सकता है, किन्तु यदि घर में एक ही पशु हो तो उसमें ज्येष्ठांश की कल्पना किस प्रकार हो सकती है। इस तथ्य को दृष्टि में रखते हुए कौटिल्य कहता है कि सूत, मागध, व्रात्य और रथकारों में सम्पत्ति का विचार करके ही विभाग होगा (३।६।१९)। ३।७।४४ में कहा गया है कि समस्त संकर जातियों (निषाद, अम्बष्ठ, श्वपाक, चण्डाल आदि नीच जातियों) में विभाग समान (अर्थात् ज्येष्ठांश रहित) रूप से होता है[३२]।

---

३१. कौटिल्य ३।६।१३-१५ मानुषहीनो ज्येष्ठस्तृतीयमंशं ज्येष्ठांशाल्लभेत। चतुर्थमन्यायवृत्तिः निवृत्तधर्मकार्यो वा। कामाचारः सर्वं जीयेत।

३२. वहीं ३।७।४४ सर्वेषामन्तरालवर्णानां समो विभागः।

महाभारत में विरोधी व्यवस्थायें दृष्टिगोचर होती हैं। १३।४७।१६ में और १३।४७।५७ में सवर्णा स्त्री के पुत्रों में ज्येष्ठांश का विचार न कर के समान विभाग की व्यवस्था की गयी। किन्तु १३।४७।५८,६० में ज्येष्ठांश की तथा विषम विभाग की चर्चा है। इससे यह स्पष्ट है कि वर्तमान महाभारत के निर्माण काल तक सम विभाग की व्यवस्था व्यापक रूप से प्रचलित हो चुकी थी, पर ज्येष्ठांश की व्यवस्था भी समाज में पायी जाती थी।

मनुस्मृति में इस विषय की पांच व्यवस्थायें पायी जाती हैं--(१) ज्येष्ठ पुत्र ही सारे पैतृक धन को ग्रहण करे। शेष भाई जिस प्रकार पिता से भरण पाकर जीवन बिताते थे, उसी तरह वे बड़े भाई के आश्रय से जीवन बितायें[३३]। (२) ज्येष्ठ पुत्र को सब प्रकार की सम्पत्ति में से उत्कृष्ट पदार्थों का बीसवां हिस्सा दिया जाय। मंझले को इस का आधा ( ४० वां ) तथा सब से छोटे को बड़े लड़के का चौथाई ( १।८० ) भाग दिया जाय[३४]।

(३) अग्रज सब प्रकार की सम्पत्ति में से श्रेष्ठ भाग को ग्रहण करे, वह सम्पत्ति में प्रत्येक सर्वोत्तम पदार्थ को तथा दस ( गौ आदि पशुओं ) को भी प्राप्त करे[३५]।

(४) दस पदार्थों के ग्रहण का नियम (उद्धार), अध्ययन आदि योग्यता (कर्म) से सम्पन्न पुत्रों में नहीं होता। यद्यपि अग्रज के प्रति सम्मान प्रदर्शन करने के लिये उसे कुछ वस्तु अवश्य दी जाती है[३६]।

(५) दूसरी तीसरी व्यवस्था के अनुसार उद्धार निकाल कर, बाकी सम्पत्ति तुल्य रूप से बांटी जाय। यदि उद्धार नहीं निकाला जाता तो ज्येष्ठता आदि के तारतम्य से विभाग किया जाय। 'ज्येष्ठ को दो अंश दिये जांय, उसके बाद उत्पन्न होने वाले को डेढ़ अंश दिया जाय तथा छोटे भाइयों को एक एक अंश दिया जाय, (मनु ९।११७)।

---

३३. मनु० ९।१०५ ज्येष्ठ एव तु गृह्णीयात्पित्र्यं धनमशेषतः। शेषास्तमुपजीवेयुर्यथैव पितरं तथा॥

३४. वही ९।११२ ज्येष्ठस्य विंश उद्धारः सर्वद्रव्याच्च यद्वरम्। ततोऽर्धं मध्यमस्य स्यात्तुरीयं तु यवीयसः॥

३५. वही ९।११४, सर्वेषां धनजातानामाददीताग्र्यमग्रजः। यच्च सातिशयं किंचिद्दशतश्चाप्नुयाद्वरम्॥

३६. वही ९।११५ उद्धारो न दशस्वस्ति सम्पन्नानां स्वकर्मसु। यत्किंचिदेव देयं तु ज्यायसे मानवर्धनम्॥

**मनु द्वारा ज्येष्ठ पुत्र की प्रशंसा**—मनु की इन विविध व्यवस्थाओं को ध्यानपूर्वक देखने से यह ज्ञात होता है कि दूसरी शती ई० पू० में ज्येष्ठ पुत्र अपने पुराने अधिकारों को खो रहा था। इस सारे प्रकरण में मनु ने ज्येष्ठ पुत्र के विशेषाधिकारों का वर्णन करते हुए, उसे इन्हें देने के औचित्य को भी सिद्ध किया है। ९।१०५ में वह ज्येष्ठ पुत्र को एक मात्र उत्तराधिकारी मानता है; किन्तु उसे ज्येष्ठ पुत्र के एक-मात्र उत्तराधिकार के तीव्र विरोध का ज्ञान है। अतः वह अगले पांच श्लोकों में (९।१०६-१०) उसे शान्त करने के लिये ज्येष्ठ पुत्र की प्रशंसा द्वारा यह सिद्ध करना चाहता है कि उसे दिया जाने वाला अधिकार सर्वथा उचित ही है। 'ज्येष्ठ पुत्र के जन्म मात्र से मनुष्य पुत्रवान् होता है, उससे वह पितृ ऋण से मुक्त होता है। अतः ज्येष्ठ पुत्र सारी सम्पत्ति का अधिकारी है। मनुष्य जिस पुत्र से ऋण उतारता है, जिस पुत्र द्वारा अनन्त सुखों का भोग करता है, वही धर्मज पुत्र है, शेष पुत्रों को कामज पुत्र कहते हैं। ज्येष्ठ पुत्र को यह उचित है कि वह छोटे भाइयों का पिता की तरह पालन करे। छोटे भाई धर्मपूर्वक अपने को उसका पुत्र समझते हुए बड़े भाई के साथ व्यवहार करें; ज्येष्ठ पुत्रही कुल को बढ़ाता है, वही कुल का नाश करता है, ज्येष्ठ पुत्र संसार में सब से अधिक पूजा का पात्र है (पूज्यतमो लोके), ज्येष्ठ पुत्र सज्जनों द्वारा निन्दनीय नहीं होता। ज्येष्ठ पुत्र का यह धर्म है कि वह अपने भाइयों पर पितृवत् स्नेह रखे तथा उनका भरण पोषण करे। जब तक वह इस कर्तव्य को पूर्ण करता है, उस समय तक उसे ऊँची प्रतिष्ठा पाने का अधिकार है, इस कर्तव्य के पूरा न करने पर वह इस सम्मान का अधिकारी नहीं है। 'जो ज्येष्ठ पुत्र ज्येष्ठ वृत्ति (ज्येष्ठ पुत्र के दायित्व को पूरा करने वाला) हो, वह माता पिता की तरह (पूजनीय) होता है, जिस में ज्येष्ठ वृत्ति नहीं है, उसकी (मामा, आदि) बन्धुओं की तरह (सामान्य रूप से) पूजा करनी चाहिये' (९।११०, मि० महाभा०भां० १३। १०५)। मनु द्वारा की गयी ज्येष्ठ पुत्र की यह विस्तृत स्तुति उसके विशेष अधिकार के समर्थन की अन्तिम प्रबल चेष्टा प्रतीत होती है।

छोटे भाई बड़े भाई के विशेषाधिकार रूपी दुर्ग पर जबर्दस्त धावा कर रहे थे। कौटिल्य के समय में उन्होंने इस दुर्ग की दीवार में गुणवत्ता की एक दरार डाल दी थी। मनु के समय तक वह दरार चौड़ी होकर रास्ता बन गया। छोटे भाइयों ने इस रास्ते से अग्रज के विशेषाधिकार के दुर्ग में प्रवेश पा लिया था। मनु इसकी सर्वथा उपेक्षा न कर सकता था। प्राचीन व्यवस्था के प्रति

उसका आदर था, अतः गौतमादि का अनुकरण करते हुए उसने ज्येष्ठ पुत्र के लिये द्व्यंश और विंश विभाग आदि 'उद्धारों' की व्यवस्था की, किन्तु वह गुणवान् भाइयों की उपेक्षा नहीं कर सकता था। उसे यह स्वीकार करना पड़ा कि योग्य भाइयों में उद्धार की व्यवस्था नहीं होती ( उद्धारो न दशस्वस्ति सम्पन्नानां स्वकर्मसु ९।११५ )। किन्तु मनु ने यह व्यवस्था समय के प्रभाव से विवश होकर की। उसकी सहानुभूति इस व्यवस्था के साथ नहीं थी। इस विषय में आपस्तम्ब के साथ उसकी तुलना बड़ी रोचक है। आपस्तम्ब ने अपने समय के लोकाचार और रिवाज़ के प्रतिकूल होते हुए भी सब पुत्रों के समानाधिकार का प्रबल समर्थन किया। किन्तु लोकाचार के साथ समझौता करने के लिये उसे बाध्य होना पड़ा। उसने लाचारी में यह स्वीकार किया कि बड़े पुत्र को धन से सन्तुष्ट कर के शेष सम्पत्ति का सम विभाग किया जाय। किन्तु मनु के समय पुत्रों के समानाधिकार का आन्दोलन प्रबल रूप धारण कर चुका था। गुणवान् छोटे भाइयों के अधिकार की उपेक्षा नहीं की जा सकती थी। मनु ज्येष्ठ पुत्र का समर्थक था। उसे 'उद्धार' के निषेध का उल्लेख मजबूरी से करना पड़ा, पर समान विभाग की व्यवस्था करते हुए भी वह बड़े भाई के साथ विशेष पक्षपात करना न भूल सका। उसने कहा—बड़े भाई को सम्मान प्रदर्शित करने के लिये कुछ तो देना ही चाहिये (यत्किंचिदेव देयं स्यात् ज्यायसे मानवर्धनम् ९।११५)। पहले विशेष अंश पर ज्येष्ठपुत्र का अधिकार था, अब उसे यह एक रियायत के रूप में दिया जा रहा था। मनु की उक्त व्यवस्थाओं में ज्येष्ठाधिकार अपनी आखिरी सांसें ले रहा प्रतीत होता है।

याज्ञवल्क्य के समय तक ज्येष्ठ पुत्र की तुलना में छोटे भाइयों का अधिकार अधिक व्यापक रूप से स्वीकार किया जा चुका था। वह केवल पितृकृत विभाग में ही, पिता को विषम विभाग करने की आज्ञा देता है ( २।११४ ); किन्तु पिता की मृत्यु के बाद पैतृक सम्पत्ति के अथवा मिलकर काम करने में प्राप्त सम्पत्ति के विभाग में सब भाइयों को समान अंश ही प्रदान करता है ( २।११७, १२० )। आपस्तम्ब ने ६०० ई० पू० में जिस कार्य को शुरू किया था, याज्ञवल्क्य ने पहली दूसरी शती ईस्वी में उसे पूर्ण किया।

किन्तु पिछली एक सहस्राब्दी की प्रथा का हिन्दू परिवार से एकाएक लोप हो जाना संभव न था। नारद ने ज्येष्ठ को अधिक अंश देना स्वीकार किया ( १६।१३-१४ )। किन्तु इसके साथ ही उसने ज्येष्ठ पुत्र का अधिकार एक दूसरी दृष्टि से कम किया। मनु० ९।१०५ में 'एव' शब्द का प्रयोग यह बताता है कि

ज्येष्ठ पुत्र ही सारी पैतृक सम्पत्ति ले सकता है, उसके अयोग्य होने पर दूसरे पुत्र कभी ऐसा नहीं कर सकते थे। नारद ने इस नियम को कुछ परिवर्तित करते हुए कहा कि छोटा भाई भी योग्य होने पर यह उत्तरदायित्व संभाल सकता है १६।५ )।

बृहस्पति ने योग्यता की शर्त पर इतना बल दिया कि आयु के कारण प्राप्त होने वाली ज्येष्ठता तथा विद्या व अन्य गुणों के कारण होने वाली ज्येष्ठता में कोई अन्तर नहीं रहा। इन दो विशेषताओं वाले पुत्र दुगना हिस्सा पा सकते थे[३७]। वह सामान्यरूप से पुत्रों को समांशी मानते हुए भी विद्या एवं शिल्प सम्पन्न पुत्रों को अधिक हिस्सा ( उद्धार ) देने को तैयार है ( स्मृच २६४ )। मनु ने ज्येष्ठ पुत्र के अधिकार का समर्थन करते हुए उसकी तारीफ के पुल बांधे थे। बृहस्पति ने अब इसके विपरीत गुणवान् पुत्र की प्रशंसा की। मनु ने जन्म पर बल दिया, बृहस्पति ने विद्या पर। विद्यावान् तथा विशेष योग्यता वाले पुत्र के विशेष अधिकार का समर्थन करते हुए उसने कहा 'जिस पुत्र की विद्या, विज्ञान, शौर्य, सम्पत्ति, ज्ञान दान व अन्य धार्मिक क्रियाओं में कीर्ति फैली होती है, पिता ऐसे पुत्र से ही पुत्रवान् समझे जाते हैं[३८]। मनु ने ज्येष्ठ पुत्र से पिता को पुत्रवान् माना था, बृहस्पति योग्य पुत्र से उसे ऐसा मानता है। देवल ज्येष्ठांश का समर्थक अन्तिम स्मृतिकार है (विर० ४७२)।

**संग्रहकार द्वारा अग्रजाधिकार की अन्त्येष्टि**—नवीं शती ई० तक हिन्दू समाज में पुत्रों के समांश ग्रहण करने की प्रथा इतनी व्यापक और प्रबल हो चुकी थी कि मनु आदि द्वारा प्रतिपादित विषम विभाग की व्यवस्था समाज से बिल्कुल उठ गयी। प्राचीन शास्त्रों में प्रतिपादित होने से इस प्रथा को प्रतिष्ठा बड़ी प्राप्त थी।। किन्तु इस समय तक हिन्दू समाज की अनेक प्राचीन तथा प्रतिष्ठित प्रथाओं में मौलिक परिवर्तन आ चुका था। ब्राह्मण ग्रन्थों के समय में श्रुति द्वारा प्रतिपादित वैदिक यज्ञों का बहुत प्रचार था। बौद्ध धर्म के प्रचार के बाद इन यज्ञों की प्रथा बिल्कुल उड़ गयी थी। प्राचीन युग में नियोग का प्रतिपादन किया गया था, किन्तु बाद का हिन्दू समाज इसे छोड़ चुका था। शास्त्रसम्मत होने पर भी

---

३७. दा० ४२ जन्मविद्यागुणज्येष्ठो द्व्यंशं दायादवाप्नुयात् ॥

३८. [व्यक० १४३] **पितृरिक्थहराः पुत्राः सर्व एव समांशिनः। विद्याकर्मयुतस्तेषामधिकं लब्धुमर्हति। विद्याविज्ञानशौर्यार्थे ज्ञानदानक्रियासु च। यस्येह प्रथिता कीर्तिः पितरस्तेन पुत्रिणः ॥**

यदि कोई प्रथा लोक विरुद्ध है तो क्या वह करणीय है ? मनु ने विभिन्न युगों के लिये विभिन्न नियमों की कल्पना की थी ( मनु १।८५-८६ )। मध्यकाल में शास्त्रकारों ने इस आदेश का बड़ा लाभ उठाया। उन्हें कई प्रथायें ऐसी दिखाई दीं, जो शास्त्र सम्मत होने पर भी समाज में अप्रचलित तथा लोकाचार विरुद्ध थीं। उन्होंने इन्हें पूर्वयुग की व्यवस्था कह कर, कलियुग में उनके पालन का निषेध किया। ये व्यवस्थायें कलिवर्ज्य कहलायीं। स्मृतिसंग्रह में हम यह उल्लेख पाते हैं कि जिस प्रकार आज कल नियोग का धर्म अथवा यज्ञ में गोवध प्रचलित नहीं है, उसी प्रकार उद्धार ( ज्येष्ठ पुत्र के लिये विशेष अंश निकालना ) वाले विभाग की परिपाटी भी अब नहीं है[३९]। संग्रहकार इतने से ही संतुष्ट नहीं है। वह यह भी बताना चाहता है कि ज्येष्ठ पुत्र को जो विशेषाधिकार दिया गया था, वह उसकी योग्यता के कारण ही दिया गया था। यदि उसमें यह योग्यता न हो और छोटे भाई इस कार्य के लिये योग्य हों तो उन्हें सम्पत्ति का एकाधिकार मिलना चाहिये[४०]। इस प्रकार नवीं शताब्दी तक ज्येष्ठ पुत्र के अधिकार लगभग लुप्त हो गये। मध्यकाल के टीकाकारों में विश्वरूप ( याज्ञ० २।१२१) तथा मेधातिथि ( मनु० १।८५ ) ने इसका समर्थन किया; किन्तु विज्ञानेश्वर ( याज्ञ० २।११७) ने इसका प्रबल विरोध किया ( दे० ऊ० पृ० ३७७-७८ ), देवण्ण भट्ट भी इसी मत का था ( स्मृच २६५-६६ )। मनुस्मृति के टीकाकार राघवानन्द और कुल्लूक ज्येष्ठ पुत्र को विशेषाधिकार देने वाली व्यवस्था ( ९।१०४ तथा ९।११५ ) को ज्येष्ठ पुत्र के गुणवान् होने तथा शेष पुत्रों के निर्गुण होने पर ही लागू करते हैं।

**अग्रजाधिकार के उच्छेद की प्रक्रिया और कारण**--उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि इस प्रथा का उन्मूलन शनैः शनैः अनेक शताब्दियों में पुत्रों द्वारा समानाधिकार की मांग प्रबल होने से हुआ। छठी शताब्दी ई० पू० में गौतम द्वारा अग्रजाधिकार के अतिरिक्त विभाग सम्बन्धी ऊपर बतलायी गयी ( पृ० ४४८ ) पांच व्यवस्थाओं से यह स्पष्ट है कि उस समय इस विषय में हिन्दू समाज में एकरूपता नहीं थी। एक ओर कुछ व्यक्ति परिवार के भरण

---

३९. **मदनरत्न ९२ अ, स्मृति संग्रहेऽपि-यथा नियोगधर्मो नो नानुबन्ध्यावधोऽपि वा। तथोद्धारविभागोऽपि नैव सम्प्रति वर्तते ॥ मिता० २।११७**

४०. **स्मृच० २६३ सर्वमेव हरेज्ज्येष्ठोऽनुजेष्वनधिकारिषु। मध्यमो वा कनिष्ठो वा ज्यायस्यनधिकारिणि ॥**

पोषण के लिये बड़े बेटे को सब अधिकार देना चाहते थे, दूसरी ओर अन्य शास्त्रकार छोटे भाइयों के अधिकारों की उपेक्षा नहीं चाहते थे। इन दोनों पक्षों में अनेक समझौते हुए। बड़े पुत्र को विशेष अंश देने के साथ छोटे भाइयों को भी अलग हिस्से मिले। तारतम्य विभाग की व्यवस्था की गयी, सब संपत्ति भाइयों की संख्या के अनुकूल भागों में बांट कर, आयु के क्रम से उन्हें अपना हिस्सा चुनने का मौका दिया गया। किन्तु छोटे भाई केवल जन्म के कारण ज्येष्ठ पुत्र को ऊँचा स्थान देने को संभवतः उद्यत न थे। मनु ने बड़े बेटे की तारीफ के पुल बांधते हुए जन्म के कारण उसे विशिष्ट स्थिति देनी चाही, पर गुणवान् छोटे भाइयों की उपेक्षा संभव न थी, उसे उनका अधिकार मानना ही पड़ा, इससे उसने अग्रजाधिकार के विनाश का मार्ग प्रशस्त कर दिया। याज्ञ० ने पिता की मृत्यु के बाद पुत्रों के समान विभाग की स्पष्ट व्यवस्था की। बृहस्पति ने जन्म के स्थान पर गुणों को महत्ता देकर अग्रजाधिकार पर प्रबल आघात किया, विषम विभाग की कसौटी गुण माने गये। किन्तु इन के आधार पर विषम विभाग का देर तक टिकना संभव न था; क्योंकि जन्म की भांति, गुणों का कोई निश्चित स्वरूप न था। अतः स्वाभाविक रूप से सब पुत्रों में समांश ग्रहण की परिपाटी प्रचलित हुई।

सर्वाधिकारी ने अग्रजाधिकार के उच्छेद का प्रधान कारण बहुभार्यता की प्रथा बतायी है। 'पति की सब स्त्रियां यह प्रयत्न करती थीं कि वे अपनी सन्तानों के लिये अधिक से अधिक धन प्राप्त कर सकें। यदि देश में बहुभार्यता की प्रथा न होती तो अग्रजाधिकार की परिपाटी भारत में कहीं अधिक समय तक पूरे बल के साथ चलती रहती ( प्रिन्सिपल्ज़ आफ़ हिन्दू ला आफ़ इन हैरिटेंस पृ० १८४ )। इसके अतिरिक्त छोटे भाइयों द्वारा वैयक्तिक अधिकारों की तथा समांश ग्रहण की मांग इस प्रथा के विलुप्त होने के महत्वपूर्ण कारण थे।

वर्त्तमान समय में हिन्दू समाज में अनेक ज़मींदारियां, राज, वतन और पलयम अग्रजाधिकार की परिपाटी को जीवित रखे हुए हैं। इन में अधिकांश का जन्म मध्यकाल की राजनैतिक और सैनिक आवश्यकताओं से हुआ। मुग़ल सम्राट् सामन्तों को सैनिक देने के बदले तथा उच्च पदाधिकारियों को उन की सेवाओं के प्रतिफल रूप में जागीरें दिया करते थे। राजाराम के समय से महाराष्ट्र में सेनापतियों को सरंजाम और वतन देने की परिपाटी का बड़ी तेज़ी से विकास हुआ। ब्रिटिश सरकार ने इन जमींदारियों, जागीरों और वतनों को स्वीकार किया। प्रिवी कौन्सिल ने अपने कई निर्णयों में अनेक

ज़मीन्दारियों को अविभाज्य मानते हुए इनमें अग्रजाधिकार को स्वीकार किया है (६ म्यू० इं० ए० १६४, १२ इं० ए० ५२३, २९ इं० ए० १७८)। वर्त्तमान समय में ज़मीन्दारियों को अविभाज्य मानने का प्रधान आधार कुलाचार और परम्परा है। प्रिवी कौन्सिल के शब्दों में यह रिवाज़ों की उपज है (२८ कल० ला जर्नल ४२८)। प्रिवी कौन्सिल ने मनु० (९।११९) के आधार पर इस व्यवस्था का समर्थन किया है, उक्त श्लोक में वर्णित भेड़ बकरी की तरह जमींदारी भी स्वाभाविक रूप से अविभाज्य है, इस पर ज्येष्ठ पुत्र का अधिकार है, ज्येष्ठता का निर्णय माता के अनुसार नहीं, किन्तु पुत्रों के जन्म के आधार पर होता है (मनु० ९।१२५)। पहले जन्म लेने वाला पुत्र ज्येष्ठ है, भले ही वह पुरुष की अनेक पत्नियों में से सब से बाद में परिणीता की सन्तान हो। कई कुलों में अभी तक ज्येष्ठांश के नाम से बड़े भाई को विशेष अंश अथवा उद्धार देने की परिपाटी है, न्यायालय इसे स्वीकार करते हैं। (२० कल० ४५ प्रि० कौ०, ७ बं० ला० रि० ९८, ७ बं० ला० रि० पृ० ८२१)[४०क]।

## बारह प्रकार के पुत्र और उनके अधिकार

हिन्दू परिवार में पुत्र की असाधारण महत्ता पर सातवें अध्याय में प्रकाश डाला जा चुका है। ब्राह्मण ग्रन्थों में इसे ऋण उतारने वाला, अमृतत्व प्रदान करने वाला (ऐ० ब्रा० ३३।१), पुत् नामक नरक से बचाने वाला बताया गया है[४१]। याज्ञवल्क्य (१।७८) के अनुसार वह वंश के

**४०क. इस विषय के विस्तृत इतिहास के लिये दे० राधा विनोद पाल—ला आफ़ प्राइमोजैनिचर पृ० २९०-५११। गौड़-हिन्दू कोड अध्याय १५, मेन-हिन्दू ला पृ० ८४४-६२।**

**४१. ऐ० ब्रा० ३३।१ ऋणमस्मिन्संनयत्यमृतत्वं च गच्छति। गो० ब्रा० १।१।२ यच्च पुत्रः पुन्नामनरकमनेकशततारं तस्मात्त्राति पुत्रस्तत्पुत्रस्य पुत्रत्वम् मि० बौधा गृह्यपरिभाषा १।२।५, मनु ९।१३८, महाभा० (भां०) १।६८।३७ विष्णु० १५।४४। बृह० उप० (१।५।१६) में पुत्र के सांसारिक प्रयोजन पर बल देते हुए कहा गया है—सोयं मनुष्यलोकः पुत्रेणैव जय्यो नान्येन कर्मणा। केवल पितृ ऋण ही नहीं, पर सांसारिक ऋणों को भी उतारने के लिये पुत्र को चाहा जाता है—नारद (ऋणादान ५) इच्छन्ति पितरः पुत्रान् स्वार्थहेतोर्यतस्ततः। उत्तमर्णाधमर्णेभ्यो मामयं मोचयिष्यति मि० महाभारत द्रोणपर्व १७३।५४ कात्यायन स्मृति चन्द्रिका २।१६८ पितॄणां सूनुभिर्जातैः दानेनैवाधमादृणात्। विमोक्षस्तु यतस्तस्मादिच्छन्ति पितरः सुतान्॥**

अविच्छेद और स्वर्ग की प्राप्ति के लिये आवश्यक है। उससे पिण्ड दानादि के धार्मिक और कुल परम्परा के अविच्छिन्न बने रहने के सांसारिक प्रयोजन पूरे होते हैं। विष्णु धर्म सूत्र में कहा गया है कि बहुत पुत्रों की इच्छा (इस दृष्टि से) रखनी चाहिये कि उनमें से कोई (पिण्डदान) के लिये गया जायगा, अश्वमेध यज्ञ करेगा अथवा (मृत पिता के सम्मान में) काले सांड का दान करेगा। बृहस्पति ने पुत्र की आकांक्षा के निम्न प्रयोजन बताये हैं--नरक से मुक्ति, गया जाकर श्राद्ध करना, सांड छोड़ना, यज्ञ करना, वापी, कूप, तडाग, मन्दिर आदि बनवाना, बुढ़ापे में पालना और श्राद्ध देना[४२]।

इन सब प्रयोजनों को औरस पुत्र ही अच्छी तरह पूरा कर सकता है। किन्तु उस के अभाव में स्थानापन्न, प्रतिनिधि या गौणपुत्रों द्वारा भी ये प्रयोजन कुछ अंशों में पूर्ण हो सकते हैं। मनु के कथनानुसार (९।१८०) यदि गौण पुत्र न ग्रहण किये जायं तो (धार्मिक) क्रियाओं (सन्तानोत्पादन, श्राद्धादि) के लोप की संभावना है, अतः प्रतिनिधि पुत्रों को औरस पुत्र न होने की दशा में स्वीकार करना चाहिये[४३]। बृहस्पति के शब्दों में जैसे सत्पुरुषों ने (यज्ञ में) घृत के अभाव में तेल को घी का स्थानापन्न बनाया है, वैसे औरस पुत्र तथा पुत्रिका पुत्र न होने पर ग्यारह प्रकार के पुत्रों को उन का प्रतिनिधि बनाया गया है[४४]।

प्रतिनिधि अथवा गौणपुत्रों के स्वरूप, संख्या,[४५] क्रम तथा स्वत्वों के संबंध में शास्त्रकारों में बहुत मतभेद है। यहां इनके सामान्य स्वरूप, तथा

---

४२. विष्णु धसू० ८५।६७ एष्टव्याः बहवः पुत्रा यद्येकोऽपि गयां व्रजेत्। यजेत वाश्वमेधेन नीलं वा वृषमुत्सृजेत्॥ मि० मत्स्य पुराण २२।६ वायु पु० १५०।१० ब्रह्म पु० २२०। ३२-३३। बृहस्पति--पराशर माधवीय द्वारा उद्धृत १।२ पृ० ३०५ कांक्षन्ति पितरः पुत्रान्नरकापातभीरवः। गयां यास्यति यः कश्चित्सोऽस्मान् संतारयिष्यति॥ करिष्यति वृषोत्सर्गमिष्टापूर्त्तं तथैव च। पालयिष्यति वृद्धत्वे श्राद्धं दास्यति चान्वहम् मि० मत्स्य पु० २०४।३-१७।

४३. मनु० ९।१८० पुत्रप्रतिनिधीनाहुः क्रियालोपान्मनीषिणः।

४४. अप० २।११८ द्वारा उद्धृत--आज्यं विना यथा तैलं सद्भिः प्रतिनिधीकृतम्। तथैकादशपुत्रास्तु पुत्रिकौरसयोर्विना॥

४५. गौण पुत्रों की संख्या के सम्बन्ध में निम्न पक्ष उल्लेखनीय हैं--(१) गौतम (२८।३३-३४) बौधा० (२।२।१४-३४), वसिष्ठ (१७।२२)

ऐतिहासिक विकास पर प्रकाश डालने के बाद प्रत्येक प्रकार के पुत्र के सम्बन्ध में कुछ स्थूल तथ्यों का निर्देश किया जायगा।

**प्रतिनिधि पुत्रों का स्वरूप**——वसिष्ठ ने यह घोषणा की है कि पुराने ऋषि मुनियों के अनुसार पुत्र बारह प्रकार के ही हैं ——(द्वादश इत्येव पुत्राः पुराणदृष्टाः।१७।१२)। मनु के अनुसार इन का स्वरूप निम्नलिखित है। (१) औरस——जो पुत्र विवाह संस्कार से युक्त समान वर्ण की पत्नी में स्वयं (पति के वीर्य से) उत्पन्न किया जाय, उसे औरस कहते हैं(९।१६६)(२)क्षेत्रज——जो पुत्र मरे हुए, नपुंसक, (असाध्य) रोगी पुरुष की स्त्री में शास्त्र प्रतिपादित व्यवस्था के अनुसार नियुक्त अन्य पुरुष के वीर्य से उत्पन्न होता है, उसे क्षेत्रज कहते हैं (९।१६७) (३) दत्त्रिम——जब माता पिता आपत्काल में अपने सदृश (समान जातीय) किसी मनुष्य को जल से संकल्प करके प्रीतिपूर्वक अपने पुत्र को देते हैं, तब उसे दत्तक कहते हैं (९।१६८)। (४) कृत्रिम——जब गुणदोष के विचार में चतुर, पुत्र के गुणों से युक्त, अपने सदृश (समान जातीय) किसी व्यक्ति को अपना पुत्र बनाया जाता है, तो उसे कृत्रिम पुत्र समझना चाहिये (९।१६९)। (५) गूढज——कोई पुत्र घर में उत्पन्न होता है, उसके विषय में यह ज्ञान नहीं होता है कि यह किस के वीर्य से उत्पन्न है, वह

---

विष्णु (१५।१-२) के मतानुसार इन की संख्या १२ है। (२) आपस्तम्ब एक ही प्रकार का पुत्र अर्थात् औरस ही मानता है (३) मनु ने यद्यपि (९।१५८-६०) में बारह पुत्रों का उल्लेख किया है तथापि ९।१२० में वह पुत्रिकापुत्र का वर्णन करता है। इस प्रकार उस के मत में तेरह प्रकार के पुत्र होते हैं। (४) महाभारत ने १।७४।९९ में पांच प्रकार के पुत्र माने हैं, १।१२०।३३-३५ में बारह प्रकार के और १३।४९।१-२८ में २० प्रकार के। अनुशासन पर्व के पिछले संदर्भ में इस संख्या वृद्धि का कारण यह है कि इसमें अनुलोम और प्रतिलोम विवाहों से उत्पन्न छः छः प्रकार के १२ पुत्र इस प्रकार बढ़ाये गये हैं (१)छः अपध्वंसज अथवा अनुलोमज पुत्र—ब्राह्मण के क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र वर्णों की स्त्रियों से उत्पन्न तीन प्रकार के पुत्र, क्षत्रिय की वैश्य, और शूद्र पत्नी की दो प्रकार की सन्तान और वैश्य का शूद्रा से उत्पन्न पुत्र। (२) छः अपसद (प्रतिलोमज)——शूद्र के ब्राह्मणी, क्षत्रिया, वैश्या से उत्पन्न तीन पुत्र, वैश्य के क्षत्रिया, ब्राह्मणी से पैदा हुए दो प्रकार के लड़के और क्षत्रिय का ब्राह्मणी से उत्पन्न एक पुत्र।

गूढोत्पन्न है, वह उस भार्या के पति का होता है (९।१७०) (६) अपविद्ध—जब माता पिता दोनों मिल कर, या दोनों में से कोई एक अपने पुत्र को छोड़ दे और उसे कोई दूसरा व्यक्ति ग्रहण करे तो वह अपविद्ध कहलाता है (९।१७१) (७) कानीन—कन्या (कुमारी) अवस्था में पिता के घर में एकान्त में उत्पन्न पुत्र कानीन है। कन्या से उत्पन्न यह पुत्र विवाह करने वाले का होता है (९।१७२)। (८) सहोढ—विना जाने अथवा जानकर जब गर्भवती कन्या से विवाह संस्कार किया जाता है तो उसके पुत्र को सहोढ कहते हैं। वह पुत्र विवाह करने वाले का होता है (९।१७३) (९) क्रीतक—पुत्र बनाने के लिये जिसे मूल्य देकर माता पिता से खरीदा जाता है वह क्रीतक कहलाता है (भले ही वह खरीदने वाले के साथ गुणों या जाति की दृष्टि से समानता रखता हो या न रखता हो) (९।२७४)। (१०) पौनर्भव—जब स्त्री पति द्वारा छोड़े जाने पर, अथवा विधवा होने पर अपनी इच्छा से पुनः अन्य पुरुष की भार्या बन कर पुत्र उत्पन्न करती है तो वह पौनर्भव कहलाता है (९।१७५)। (११) स्वयंदत्त—माता-पिता से हीन (अनाथ) या विना कारण माता द्वारा छोड़ा हुआ जो पुत्र स्वयं जाकर किसी का पुत्र बनता है तो वह उसे लेने वाले का स्वयंदत्त पुत्र होता है (९।१७७)। (१२) पारशव—जिस पुत्र को ब्राह्मण कामवश शूद्रा में उत्पन्न करता है, उसे पारशव कहते हैं, क्योंकि वह पिण्ड-दानादि का कर्म करता हुआ (पारयन्) भी शव तुल्य है (९।१७८)

इन के अतिरिक्त मनु कन्या को भी पुत्रिका बनाने की विधि का विस्तार से उल्लेख करता है (९।१२७-३५)। 'अपुत्र इस विधि से (अपनी) कन्या को पुत्रिका बनाये। (वह यह निश्चय करे कि) इस पुत्री से जो पुत्र होगा, वही मेरा पिण्डदान करने वाला होगा (९।१२७)। वह भावी जामाता को कन्या देने से पहले कहे—'मैं तुझे अभ्रातृका कन्या (आभूषणों से) अलंकृत करके दूंगा; (किन्तु) इससे जो पुत्र उत्पन्न होगा, वह मेरी सन्तान होगी'।

अन्य ग्रन्थों में उपर्युक्त प्रकार के पुत्रों का कुछ भिन्न नामों से उल्लेख है तथा कुछ अन्य भेदों का भी निर्देश है। उदाहरणार्थ महाभारत में आदिपर्व (१२०। ३३-३४) में औरस और पारशव को स्वयंजात तथा हीनयोनिधृत (निम्नवर्ण की स्त्री से उत्पन्न) के नाम से कहा है, गूढज के लिये स्वैरिणीजात शब्द का प्रयोग किया है, क्षेत्रज के लिये उसने प्रणीत और परिक्रीत नामक दो भेद किये हैं। निःशुल्क रूप में उत्तम पुरुष के वीर्य से उत्पन्न किया पुत्र प्रणीत है और जब

नियोग करने वाला कुछ प्रतिफल लेता है तो यह परिक्रीत कहलाता है[४६]। ज्ञातिरेत सहोढ का विशेषण हो सकता है और स्वतंत्र रूप में क्षेत्रज का वाचक भी। उस के मत में कृत्रिम स्वयं किसी दूसरे के पास आने वाला लड़का है, यह मनु के स्वयंदत्त से मिलता है। अनुशासन पर्व में (४९।३-११) पुत्रों की नामावलि मनु से कुछ भिन्न है। यहां औरस, क्षेत्रज और सहोढ के लिये क्रमशः अनन्तरज, निरुक्तज और अध्यूढ का प्रयोग किया गया है। विष्णु धर्मसूत्र

४६. मि० महाभा० १।१२०।३६ तथा १।१०५।२ ब्राह्मणो गुणवान् कश्चित् धनेनोपनिमन्त्र्यताम्। विचित्रवीर्यक्षेत्रेषुयः समुत्पादयेत् प्रजाः॥ काणे ने प्रणीत का अर्थ पुत्रिकापुत्र किया है (हिध ३।६४५)। इरावती कर्वे (किनशिप टर्म्ज़ इन महाभारत—सुखठणकर मेमोरियल वाल्यूम पृ० १३० ) ने प्रणीत को क्षेत्रज माना है और पाण्डु तथा धृतराष्ट्र को इस का उदाहरण बताया है। स्वैरिणीजात का दृष्टान्त भीष्म है, क्योंकि उसकी माता गंगा अपनी इच्छा से शन्तनु के पास आयी थी, विवाह के बिना मनोवांछित काल तक उस के पास रही और अपनी मर्जी से उसे छोड़ कर चली गयी। महाभा० में दत्तक और कृत्रिम के कोई उदाहरण नहीं है, कर्ण कानीन का तथा अंगद पौनर्भव का दृष्टान्त है। यहां महाभारत के पारिवारिक संगठन के सम्बन्ध में कुछ बातों का उल्लेख आवश्यक प्रतीत होता है।

इसकी प्रधान विशेषतायें संयुक्त कुटुम्ब पद्धति, और परिवार के मुखिया द्वारा इसके सब सदस्यों पर अमर्यादित अधिकार है। पारिवारिक सम्पत्ति का बंटवारा अच्छा नहीं समझा जाता था। आदिपर्व में विभावसु और सुप्रतीक नामक दो भाइयों की कथा है, जो इकट्ठा रहने की बजाय पैतृक द्रव्य का विभाग करना चाहते थे, मरने के बाद अगले जन्म में वे एक दूसरे से लड़ने वाले हाथी और कछुआ बने, इन दोनों को गरुड़ ने खा लिया ( महाभा० भां० १।२५।१०-१७ ); प्राचीन परम्पराओं का पालन करने वाले उपरिचर के राज्य में पुत्र पिताओं से बंटवारा नहीं चाहते थे ( वही १।५७।११ न च पित्रा विभज्यन्ते)। परिवार में पिता की प्रभुता सर्वोच्च होती थी। पिता शक्तिशाली होने पर पुत्रों को अपने अधिकार से वंचित कर सकता था। ययाति ने छोटे लड़के को (वही १।८९) तथा भरत ने नौ बड़े पुत्रों की उपेक्षा कर भुमन्यु को अपना राज्य दिया ( वहीं—१।८९। १७,१८ )। राज्य प्रायः बड़े लड़के को मिलता था, किन्तु शारीरिक दोष होने पर छोटा लड़का भी उत्तराधिकारी बनता था। त्वचा संबन्धी

'यत्र क्वचनोत्पादित' नामक एक पुत्रभेद का उल्लेख करता है (१५।२७); नन्द-पण्डित के अनुसार इसके दो अर्थ हैं—(१) अपरिणीत शूद्रा स्त्री से उत्पन्न सन्तान (२) सवर्ण अथवा असवर्ण, विवाहित अथवा अनूढ किसी प्रकार की स्त्री से उत्पन्न सन्तान। हारीत का सहसादृष्ट (विर० पृ० ५४९) नामक प्रकार अन्यत्र नहीं मिलता, काणे के मतानुसार यह संभवतः कृत्रिम है—हारीत (स्मृच २३९) तथा पराशर (४।२३-२४) कुण्ड और गोलक नामक पुत्रों का वर्णन करते हैं; पति के जीवित हुए पत्नी की जारज सन्तान कुण्ड और उसके मर जाने पर गोलक कहलाती है[४७]।

**वर्गीकरण के कारण**—संभवतः किसी अन्य प्राचीन सभ्य समाज में विभिन्न प्रकार के पुत्रों का इतना विशद प्रतिपादन नहीं मिलता[४८]। पुराने रोम तथा

---

रोग के कारण देवापि को (वहीं भां० ५।१४७।२४-२५) और अन्धा होने से धृतराष्ट्र (भां० १।१०२।२३) को ज्येष्ठ पुत्र होने पर भी गद्दी नहीं मिली। महाभारत में राज्य के उत्तराधिकार के सम्बन्ध में भ्रातृक उत्तराधिकार (Fraternal Succession) की एक विशिष्ट परिपाटी दिखाई देती है, इसके अनुसार पिता के बाद बड़ा भाई और उसकी मृत्यु पर उसका छोटा भाई उत्तराधिकारी होता था। वनपर्व में घोषयात्रा में पाण्डवों की उदारता से पराभूत होकर जब दुर्योधन आत्महत्या का निश्चय करता है तो दुःशासन को अपना उत्तराधिकारी बनाता है (३।२४९।२३)। उद्योग पर्व में कृष्ण ने कर्ण को पाण्डवों के साथ मिलने का प्रलोभन देते हुए कहा है कि ऐसा होने पर वह राजा तथा युधिष्ठिर युवराज होगा (भां० ५।१३८।१८)। आदि पर्व में भीष्म ने चित्रांगद को कौरवों का राजा तथा उस के छोटे भाई विचित्र वीर्य को युवराज बनाने की बात कही है और चित्रांगद के अपुत्र मरने पर वह राजा बना (भां० १।९५।६,१२)। परवर्ती साहित्य में ऐसे उत्तराधिकार का कोई उल्लेख नहीं है। ऐसी परिपाटी अफ्रीका की किकुयू और काफिर जातियों तथा अजटकों और मसरियों में प्रचलित थी (लुई -प्रिमिटिव सोसायटी पृ० २३८)। मध्यकालीन रूस के यारोस्लाव राजवंश में भी इसका रिवाज था (इंसा० ब्रिटा० खं० १९ पृ० ७१३)।

४७. परा० ४।२३ पत्यौ जीवति कुण्डस्तु मृते भर्तरि गोलकः।

४८. डा० जाली ने इस वर्गीकरण को भारत के पारिवारिक कानून की विलक्षण विशेषता बताया है (हि० ला क० पृ० १५६)।

आधुनिक इंगलैण्ड में औरस के अतिरिक्त केवल दत्तक पुत्र की ही व्यवस्था प्रचलित है[४९]। हिन्दू परिवार के इस वर्गीकरण के उद्गम के सम्बन्ध में अनेक विद्वानों ने ऊहापोह किया है। कुछ ने इसे आर्थिक और धार्मिक आवश्यकताओं का परिणाम माना है; दूसरे इसे प्राचीनकाल की नैतिक अराजकता का चिह्न समझते हैं। डा० जाली ने टैगोर व्याख्यानमाला में पहले पक्ष का पोषण करते हुए कहा था कि इस व्यवस्था का उद्देश्य परिवार के लिये अधिकतम संख्या में शक्तिशाली कार्यकर्त्ता प्राप्त करना था तथा पितरों के लिये पिण्डदान की व्यवस्था करना था (हि० ला क० पृ० १५६, १५७)। डा० जाली के ये दोनों उद्देश्य प्राचीन ग्रन्थों से पुष्ट नहीं होते।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि कृषि प्रधान प्राचीन समाज में परिवार के सदस्यों की अधिक संख्या आर्थिक दृष्टि से वांछनीय होती थी (दे० ऊ० पृ० ३७), किन्तु उस के लिये गौण पुत्रों की व्यवस्था आवश्यक नहीं है। हिन्दू समाज में अनेक स्त्रियों से शादी करके पुत्रों की अधिक संख्या सुगमता पूर्वक प्राप्त की जा सकती थी। गौण पुत्रों से यह संख्या कभी नहीं बढ़ सकती थी, क्योंकि ये सब औरस पुत्र के अभाव में ही बनाये जाते थे। मनु के मतानुसार औरस सन्तान के न होने पर (सन्तानस्य परिक्षये) अपुत्र व्यक्ति द्वारा ही क्षेत्रज (९।५९), पुत्रिका पुत्र (९।१२७-२८) और दत्तक पुत्र बनाये जाते थे। अतः यह स्पष्ट है कि एक पुत्र के रहते हुए दूसरे पुत्र नहीं ग्रहण किये जाते थे। यदि जाली का पुत्रों की आर्थिक महत्ता विषयक कथन सत्य हो तो पिताओं द्वारा अपने पुत्र छोड़ने (अपविद्ध), बेचने (क्रीतक) और देने (दत्तक) की बात नहीं समझ आती।

पिण्डदान तथा धार्मिक कार्यों की दृष्टि से भी इस वर्गीकरण का विशेष महत्व नहीं प्रतीत होता, क्योंकि इनमें अनेक ऐसे पुत्र थे, जो यह कार्य नहीं कर सकते थे। मनु ने पौनर्भव को श्राद्ध में बुलाने योग्य नहीं समझा (३।१८१)। यद्यपि मनु ने क्रिया लोप की आशंका से प्रतिनिधि पुत्रों की व्यवस्था की है

---

४९. रोम में दत्तक बनने वाले पुत्र पर उसके उत्पादक पिता का स्वत्व समाप्त होकर पालक पिता का अधिकार स्थापित हो जाता था। उत्पादक कुल से उसका सम्बन्ध सर्वथा विच्छिन्न हो जाता था (म्यूर हैड--हिस्टारिकल इंट्रोडक्शन टू दी प्राइवेट ला आफ रोम पृ० २७, ११८, ३७८) इंगलैण्ड में १९२६ के पुत्रीकरण के कानून से इस व्यवस्था को मान्यता मिली है।

(९।१८१), किन्तु उस का सिद्धान्त पक्ष यह है कि क्षेत्रज आदि गौण पुत्र वास्तव में उत्पादक के ही हैं। उस के मत में एक मनुष्य (छेद आदि दोष वाली) खराब नौका से (नदी या समुद्र) को पार करता हुआ जैसा फल पाता है, वैसा ही फल वह इन कुपुत्रों (क्षेत्रजादि) की सहायता से (नरक के) अन्धकार को पार करता हुआ पाता है[५०]। मेधातिथि ने अपने भाष्य (९।१६६) में तथा दत्तक मीमांसा (पृ० ३२-३९) ने यह भली भांति स्पष्ट किया है कि औरस तथा पुत्रिकापुत्र के अतिरिक्त अन्य पुत्रों की धार्मिक क्रियाओं का पिता को पूरा लाभ नहीं मिल सकता[५१]। यद्यपि स्त्रियों को भी पिण्डदान का अधिकार होता है, किन्तु उनका पिण्डदान पुत्र के पिण्डदान की क्रिया की समता नहीं कर सकता। यही दशा गौण पुत्रों के धर्म कार्य की है, वे औरस की भांति अधिक धार्मिक उपकार नहीं कर सकते। मीमांसा दर्शन में प्रतिनिधि के प्रश्न पर विचार करते हुए कहा गया है कि इसका प्रयोग करने पर वैदिक विधि में न्यूनता आ जाती है (जै० ६।३।३५ पर शबर भाष्य)। सत्याषाढ़ श्रौत सूत्र ने स्पष्ट शब्दों में यह कहा है कि पुत्र का प्रतिनिधि नहीं हो सकता[५१]। इससे यह स्पष्ट है कि क्षेत्रजादि गौण पुत्र औरस पुत्र की भांति धार्मिक कार्य करने में असमर्थ हैं। अतः उपर्युक्त वर्गीकरण का उद्देश्य पितरों को धार्मिक लाभ पहुंचाना भी नहीं है।

जाली का यह मत भी ठीक नहीं प्रतीत होता कि इस वर्गीकरण में रक्त-सम्बन्ध (प्रत्यासत्ति) पर कोई ध्यान नहीं दिया गया, यह माता के अवैध संबंध पर आधारित है (हि० ला० क० पृ० १५६)। गोपालचन्द्र सरकार ने भी ऐसा ही परिणाम निकाला है—'पुत्रों के विभिन्न प्रकारों के वर्णन से यह ज्ञात होता है कि उस समय यौन सम्बन्ध बहुत शिथिल थे[५२]। यदि ऊपर बताये गये बारह तेरह प्रकार के पुत्रों को ध्यान से देखा जाय तो यह प्रतीत होगा

५०. मनु ९।१६१ यादृशं फलमाप्नोति कुप्लवैः संतरन् जलम्। तादृशं फलमाप्नोति कुपुत्रैः संतरंस्तमः ।।

५१. दमी० ३८-३९ यथौरसो भूयांसं शक्नोत्युपकारं कर्त्तुं न तथेतर इति। सत्याषाढ़ श्रौत सूत्र ३।१ न स्वामित्वस्य भार्यायाः पुत्रस्य.....प्रतिनिधि विधीयते।

५२. वैदिक काल से भारत में नारियों की यौन नैतिकता का मानदण्ड तथा आदर्श बहुत ऊँचा रहा है (कैम्ब्रिज हिस्टरी आफ इंडिया खं० १, पृ० ८८, वैदिक इंडेक्स १।४७९, मनु० ५।१५९-६०, विष्णु २५।१७, याज्ञ० १।७५,

कि इन में से नौ का अवैधता के साथ कोई सम्बन्ध न था। औरस, पुत्रिका, दत्तक, क्रीत, कृत्रिम, स्वयंदत्त, अपविद्ध, पौनर्भव और पारशव पुत्रों में अनैतिकता का लेशमात्र भी नहीं था। शेष चार में से क्षेत्रज का आधार विश्वव्यापी नियोग की प्रथा थी ( इंसा० ब्रिटा० खं० १३ पृ० ९७९ )। आगे इसके सम्बन्ध में बताये जाने वाले नियमों से यह स्पष्ट हो जायगा कि इसमें नैतिकता के बन्धनों का पूरा पालन किया जाता था। बाकी तीन पुत्रों में से सहोढ और गूढज वर्त्तमान काल में प्रिवीकौन्सिल के निर्णय तथा भारतीय साक्षी कानून के अनुसार लगभग वैध हैं[५३]। कानीन पुत्र भी अवैध नहीं है, इसे बाद में विवाह द्वारा

ब्राह्मण ग्रन्थों में पत्नी के व्यभिचार सम्बन्धी अनेक संकेत ( वै० इं० १।३९६, ३९७, ४८० ) यौन सम्बन्ध की शिथिलता नहीं सूचित करते। यदि ऐसा होता तो शास्त्रकार व्यभिचार को उपपातक तथा इसके लिये पति पत्नी को कठोर दण्डों और प्रायश्चित्तों की व्यवस्था न करते। उदाहरणार्थ मनु० ८।३७१; गौतम २३।१४ में व्यभिचारिणी पत्नी के लिये प्राणदण्ड का उल्लेख है, नारद (१२।९१ ) में इसके लिये सिर मुंडवाने का; मनु० ८।३५२ में जार के लिये अंग भंग का आदि, ८।३७२ में जलाने का, ८।३७३ में भारी जुर्माने का, ८।३७४-७५ में अंग भंग और संपत्ति छीनने का, ८।३७६ में जुर्माने का, ८।३७९ में सिर मुंडवाने तथा प्राण दण्ड का उल्लेख है। मनु ११। ५९, १७७ में व्यभिचार पति पत्नी दोनों के लिये उपपातक माना गया है। नारद १२।७० में इस के लिये जुर्माने का विधान है, बृहस्पति ( से० बु० ई० संस्करण २३।१२-१६) इसके लिये जुर्माने के अतिरिक्त, अंगभंग और मृत्युदण्ड की भी व्यवस्था करता है, गौतम धर्मसूत्र २३।१५ में जार के वध का तथा २२।१५,२९,३०,३४, ३५ में दो तीन वर्ष के प्रायश्चित्त के दण्ड का वर्णन है और १२।२ में अंगभंग का, वसिष्ठ २१।८ में मनु ११।११८ के अनुसार प्रायश्चित्त करने को कहा गया है। जार तथा उसकी सन्तान को श्राद्ध तथा सामाजिक सम्बन्ध के अयोग्य समझा जाता था ( गौतम १५।१७,१८, याज्ञ० १।२२२,२२४ )। व्यभिचारिणी स्त्री से सब अधिकार छीन लिये जाते थे तथा उसे केवल शरीर धारण के लिये आवश्यक भोजन दिया जाता था (याज्ञ० १।७७ )। इन कठोर दण्डों के होते हुए यह कल्पना नहीं की जा सकती कि उस समय यौन संबन्धों में बड़ी ढील थी।

५३. पेड्डा अम्मनी ब० ज़मीन्दार आफ़ मरुंगापुरी ( १८७४) १ इं० ए० २९३ ) के मामले में प्रिवी कौन्सिल ने यह निर्णय दिया था कि शास्त्रीय

वैध बनाने की परिपाटी प्राचीन रोम और मध्यकालीन योरोप में व्यापक रूप से प्रचलित थी [५४]। अतः पुत्रों के वर्गीकरण में न तो अवैध पुत्रों की प्रधानता है[५५]

---

वचनों से यह सिद्ध नहीं होता कि हिन्दू कानून के अनुसार पुत्र की वैधता के लिये उसका गर्भाधान और जन्म विवाह के बाद ही होना चाहिये। माननीय जज इसे हिन्दू कानून नहीं समझते। वे इस विषय में हिन्दू और अंग्रेजी कानून एक समझते हैं, भारतीय साक्षी कानून की धारा ११२ के अनुसार स्त्री पुरुष का एक वार विवाह सम्बन्ध हो जाने के बाद उत्पन्न प्रत्येक सन्तान वैध समझी जाती है, बशर्त्ते कि वह इस विवाह के भंग होने के २८० दिन के अन्दर उत्पन्न हुई हो। इस प्रकार वैधता के लिये विवाहोत्तर गर्भाधान आवश्यक नहीं है। प्रिवी कौन्सिल का यह निर्णय बौधायन के इस वचन का स्पष्ट विरोधी है—सवर्णायां संस्कृतायां स्वयमुत्पादितमौरसं पुत्रं विद्यात् (२।२।१४)। इसमें संस्कृता शब्द से स्पष्ट है कि विवाह के बाद गर्भाधान आवश्यक है (मि० वसिष्ठ १७।१३, विष्णु० १५।२, मनु० ९।१६६)। श्री गुरुदास बैनर्जी (हिन्दू ला आफ मैरिज एण्ड स्त्रीधन पृ० १६६) तथा गोपालचन्द्र सरकार (हिन्दू ला १० म संस्करण पृ० १३६) ने इस निर्णय से असहमति प्रकट की है। प्रिवी कौन्सिल ने उपर्युक्त निर्णय में विवाह संस्कार पर बल देने वाले शास्त्रीय वचनों को नैतिक उपदेश मात्र माना है; कानूनी बन्धनों का प्रतिपादक नहीं, क्योंकि शास्त्रों में विधवा विवाह निन्दित होने पर भी उसके लिये कोई पृथक् विधि नहीं बताई गई।

५४. पुराना रोमन कानून कानीन सन्तान को इसके बाद किये गये विवाह द्वारा वैध स्वीकार करता था (मेकेन्जी-रोमन ला पृ० १३०, १३४, इंस्टीटयूटस् आफ जस्टीनियन १।१०।१३)। मध्यकालीन चर्च में तथा रोमन कानून का अनुसरण करने वाले अधिकांश देशों—फ्रांस, स्काटलैण्ड, संयुक्त राज्य अमरीका में यही नियम प्रचलित है, इन सब में प्रायः यह शर्त्त है कि बाद में विवाह से सन्तान को वैध बनाने वाले व्यक्तियों में से किसी एक का भी तीसरे व्यक्ति के साथ वैवाहिक सम्बन्ध नहीं होना चाहिये। (इंसा० सो० सा० ७।५८६)। १९२६ के वैधता कानून से इंगलैण्ड ने भी कानीन पुत्र को जायज बनाने की व्यवस्था की है।

५५. मेन ने यह सत्य ही लिखा है (हिन्दू ला पृ० ११६) कि १२ पुत्रों में से कोई भी अवैध सम्बन्ध का परिणाम नहीं है। इस उक्ति की पुष्टि इन तीन

और न इ सका कारण यौन सम्बन्धों की शिथिलता प्रतीत होता है। वस्तुतः यह भ्रम गूढज, सहोढ और कानीन पुत्रों का यथार्थ स्वरूप न जानने के कारण उत्पन्न हुआ है। सम्भवतः इस वर्गीकरण का प्रधान उद्देश्य था अवान्तर भेदों की पाण्डित्यपूर्ण मीमांसा करने की प्राचीन शास्त्रकारों की सामान्य प्रवृत्ति[५६] तथा माता पिता की भूल से दुःख पाने वाले निर्दोष शिशुओं के समुचित पालन पोषण की चिन्ता। अनुशासन पर्व में स्पष्ट शब्दों में कहा गया है--इन ( गूढ़ज, सहोढ, कानीन ) के पुत्र होने को मिथ्या नहीं किया जा सकता[५६] माता द्वारा छोड़े गये पुत्र जब दूसरे व्यक्तियों द्वारा पाले जाते हैं और उन के जन्मदाता का ज्ञान नहीं होता तो वे पालने वाले के वर्ण के समझे जाते हैं और वही उनके संस्कार करता है ( १३।४९।२५-२६ )। कानीन और सहोढ के सब संस्कार अपने पुत्र की भांति करने चाहिये' (१३।४९।२७)।

प्राचीन शास्त्रकारों में १२ प्रकार के पुत्रों का सब से सरल और सुबोध वर्गीकरण संभवतः देवल ( दा० पृ०१४७ ) ने किया है। वह इन्हें चार भागों में बांटता है (१) आत्मज अर्थात् स्वयमुत्पादित पुत्र, जैसे औरस, पुत्रिका, पौनर्भव, पारशव या शौद्र (२) परज--अपनी पत्नी में दूसरे के वीर्य से उत्पन्न, जैसे क्षेत्रज (३) लब्ध ( दूसरे से प्राप्त ) जैसे दत्तक, कृत्रिम, क्रीत, स्वयंदत्त, अपविद्ध (४) यादृच्छिक जैसे गूढज, कानीन और सहोढ।

---

बातों से होती है (१) पत्नी के जारज पुत्र कुण्ड और गोलक कहलाते थे, उन्हें पिण्डदान, सम्पत्ति आदि प्राप्त करने का कोई अधिकार नहीं था ( मनु० ३।१७४, ९।१४३, १४४, १४७, मिता० याज्ञ० १।९० पर)। इस प्रकार ये १२ पुत्रों से सर्वथा भिन्न थे। (२) यदि क्षेत्रज पुत्र जारज होता तो नियोग के लिये कठोर बन्धन लगाने और नियम बनाने की कोई आवश्यकता ही नहीं थी (३) शास्त्रों में व्यभिचारिणी स्त्री को दाम्पत्य एवं धर्म कार्य से वंचित करने की व्यवस्था की गयी है (याज्ञ० १।७०)। क्षेत्रज, गूढज, सहोढ आदि को उत्पन्न करने वाली के लिये ऐसा विधान नहीं है, अतः इन पुत्रों को जारज नहीं, किन्तु वैध मानना चाहिये।

५६. विवाहों का आठ प्रकार का वर्गीकरण ( मनु ३।२१, विष्णु २४। १७-१८, याज्ञ० १।५८-६१ ) इस प्रवृत्ति का सुन्दर उदाहरण है। इनमें से पहले चार प्रकार के विवाहों में बहुत सूक्ष्म अन्तर है।

५७. महाभा० १३।४९।११ पुत्रा ह्येते न शक्यन्ते मिथ्याकर्त्तुं नराधिप।

क्षेत्रज के अतिरिक्त वस्तुतः दो प्रकार के ही पुत्र थे—औरस और दत्तक। १२, १३ पुत्रों की सूची शास्त्रकारों के अति सूक्ष्म भेदों के आधार पर नये वर्ग बनाने की प्रवृत्ति का परिणाम था। ये सब पुत्र इन दोनों में सम्मिलित किये जा सकते हैं। औरस के अतिरिक्त पौनर्भव और पारशव आत्मज ही थे, विधवा का पुर्नविवाह तथा शूद्रा के साथ पाणिग्रहण बुरा समझा जाने से ही ऐसे पुत्रों को औरस होते हुए भी नीची निगाह से देखा जाता था, अतः इनका पृथक् उल्लेख किया गया है। दत्तक, कृत्रिम, क्रीत, स्वयंदत्त और अपविद्ध वस्तुतः दत्तक पुत्र हैं। पुत्रिकापुत्र और कानीन भी ऐसे ही हैं, क्योंकि पहले में पिता अपना वंश अक्षुण्ण रखने की दृष्टि से लड़की के पुत्र को अपना पुत्र समझने का संकल्प करता था, दत्तक में दूसरे का बेटा गोद लिया जाता है, इसमें अपने दोहते को ऐसा बना लिया गया है। कानीन पति द्वारा स्वीकार किया हुआ पुत्र है, औरस ! पुत्र न होने पर दूसरे का बेटा होने की दशा में अच्छा दहेज मिलने पर ही वर इसे स्वीकार करता है और इस प्रकार वह एक प्रकार से सौतेले बेटे को दत्तक बनाता है (मेन-हिन्दू ला पृ० ११६)। गूढज और सहोढ को भी औरस या दत्तक ही मानना चाहिये, क्योंकि वे प्रायः उस की अपनी सन्तान होते थे, दूसरों के वीर्य से प्रादुर्भूत होने पर पत्नी के व्यभिचार की सिद्धि कठिन होने अथवा उसके प्रति अनुकम्पा के भाव से इन्हें अपना पुत्र बना लिया जाता था। ऐसे पुत्रों की संख्या बहुत कम होती थी, इन से प्राचीन हिन्दू परिवार की आचारहीनता के सम्बन्ध में कोई धारणा बनाना उचित नहीं प्रतीत होता। शास्त्रकारों द्वारा इन के निर्देश का कारण पुत्र के भेदों की सूक्ष्मतम मीमांसा करना तथा कानीन आदि के भरण पोषण की व्यवस्था करना था।

**गौण पुत्रों का क्रम**—इस सम्बन्ध में धर्मसूत्रों और स्मृतियों में तीव्र मतभेद है। निम्न तालिका में कालक्रमानुसार विभिन्न शास्त्रकारों द्वारा विविध प्रकार के पुत्रों को दिये दर्जे को अंकों से सूचित किया गया है।

| शास्त्रकार | औरस पुत्र | क्षेत्रज | पुत्रिकापुत्र | कानीन | गूढ़ज | पौनर्भव | सहोढ | दत्तक | कृत्रिम | क्रीतक | अपविद्ध | स्वयंदत्त | निषाद या पारशव |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| गौतम ( २८।३३-३४ ) | १ | २ | १० | ७ | ५ | ९ | ८ | ३ | ४ | १२ | ६ | ११ | — |
| बौधायन (२।२।३६-३७) | १ | ३ | २ | ८ | ६ | ११ | ९ | ४ | ५ | १० | ७ | १२ | १३ |
| आपस्तम्ब ( २।६।१३ ) | १ | — | — | — | — | — | — | — | — | — | — | — | — |
| वसिष्ठ ( १७।१२-३८ ) | १ | २ | ३ | ५ | ६ | ४ | ७ | ८ | — | ९ | ११ | १० | १२ |
| कौटिल्य ( ३।७ ) | १ | ३ | २ | ६ | ४ | ८ | ७ | ९ | ११ | १२ | ५ | १० | — |
| हारीत (विर०पृ० ५४९) | १ | २ | ५ | ४ | ६ | ३ | १० | ७ | १२ | ८ | ९ | ११ | — |
| शंख ( विर०पृ०५४७ ) | १ | २ | ३ | ५ | ६ | ४ | ८ | ९ | — | १० | ७ | १२ | ११ |
| मनु ( ९।१५८-६० ) | १ | ३ | २ | ८ | ६ | ११ | ९ | ४ | ५ | १० | ७ | १२ | १३ |
| विष्णु ( १५।१-२७ ) | १ | २ | ३ | ५ | ६ | ४ | ७ | ८ | — | ९ | ११ | १० | १२ |
| याज्ञवल्क्य (२।१२८-३२) | १ | ३ | २ | ५ | ४ | ६ | ११ | ७ | ९ | ८ | १२ | १० | — |
| नारद ( १३।४५-४६ ) | १ | २ | ३ | ४ | ६ | ७ | ५ | ९ | ११ | १० | ८ | १२ | — |
| बृहस्पति (से.बु.पृ. ३७५) | १ | ८ | २ | १० | १२ | ९ | ११ | ३ | ६ | ५ | ४ | — | ७ |
| देवल (दायभागपृ०१४७) | १ | ३ | २ | ४ | ५ | ८ | ७ | ९ | ११ | १२ | ६ | १० | — |
| यम (विर० पृ० ५४७) | १ | २ | ३ | ५ | ६ | ४ | ८ | ९ | १० | ११ | ७ | १२ | — |
| आदिपर्व (१२०।३३-३४) | १ | ३ | २ | ५ | ६ | ४ | ११ | ७ | ९ | ८ | — | १० | १२ |
| ब्रह्मपु० (अप० पृ० ७३७) | १ | २ | ३ | ७ | ५ | १० | ८ | ४ | — | ९ | ६ | ११ | १२ |

उपर्युक्त तालिका पर सामान्य दृष्टिपात से यह प्रतीत होता है कि पुत्रों के क्रम निर्धारण में कोई मौलिक सिद्धान्त नहीं है, एक ही पुत्र को विभिन्न शास्त्रकार बड़ा ऊंचा और नीचा दर्जा प्रदान करते है; जैसे दत्तक को गौतम, बौधायन चौथा, हारीत और याज्ञवल्क्य सातवां, वसिष्ठ और विष्णु आठवां, कौटिल्य, नारद, देवल और यम नवां स्थान देते हैं। किन्तु यदि इन क्रमों का सावधानी से अवलोकन किया जाय तो कुछ मौलिक सिद्धान्त प्रतीत होते हैं; इनमें प्रत्यासत्ति अथवा रक्तसम्बन्ध की समीपता ( Propinquity ) प्रधान है। इसके अतिरिक्त स्थानीय रीति रिवाजों की विभिन्नता तथा विविध प्रकार के पुत्रों के सम्बन्ध में शास्त्रकारों के अपने वयक्तिक आदर्श और विचार भी इस क्रमभेद का कारण हैं।

आठ शास्त्रकार-हारीत, वसिष्ठ, विष्णु, शंख लिखित, कौटिल्य, याज्ञवल्क्य, नारद और यम प्रत्यासत्ति के सिद्धान्त का अनुसरण करते हैं, अतः सब से पहले आत्मज वर्ग के औरस तथा पुत्रिकापुत्रों का उल्लेख करते हैं, इनमें सन्तान के साथ माता पिता दोनों का सम्बन्ध होता है, फिर केवल माता से सम्बन्ध रखने वाले परज वर्ग के क्षेत्रज को तथा गूढज, कानीन, सहोढ आदि को स्थान देते हैं और अन्त में माता पिता दोनों से असंबद्ध दत्तक, क्रीतक, कृत्रिम आदि को। वसिष्ठ, विष्णु, यम और शंख का पहले छः पुत्रों का क्रम लगभग एक है, नियोग की प्रथा प्राचीन काल में अधिक प्रचलित होने से इन्होंने क्षेत्रज को दूसरा स्थान दिया है, पुत्रिका पुत्र को तीसरा, विधवा का पुत्र अपना होने से पौनर्भव को चौथा स्थान मिला है, इसके बाद कानीन, और गूढज और सहोढ का दर्जा है। इनके बाद दत्तकादि तथा शूद्रा के पुत्र हैं। पुत्र के पिता की प्रभुता में माने जाने के कारण उसका अपने को स्वयं दान करना शायद समाज में बुरा माना जाता था, अतः उसे सामान्य रूप से बहुत नीचा दर्जा दिया गया था, सब से निचला दर्जा शूद्रा के पुत्र का था, क्योंकि ऐसा विवाह जघन्य समझा जाता था। इस क्रम में यह बात ध्यान देने योग्य है कि दत्तक पुत्र के साथ माता पिता का कोई रक्त सम्बन्ध न होने से उपर्युक्त शास्त्रकार उसे आठवां या नवां स्थान देते हैं। आपस्तम्ब द्वारा पुत्र के दान का निषेध (२।६।१३।१२ ) भी पुत्र की हीन स्थिति का कारण हो सकता है।

मनु, गौतम और बौधायन का क्रम उपर्युक्त क्रम से कई बातों में बड़ा भेद रखता है। ये सब दत्तक तथा पुत्रिकापुत्र को ऊँची स्थिति देते हुए उसे पहले छः पुत्रों में गिनते हैं। इसके निम्न कारण प्रतीत होते हैं।

मनु कुमारी कन्याओं के विवाह पर बल देता था[५८] अतः उसने कानीन और सहोढ पुत्रों को आठवां नवां स्थान दिया (९।१६०)। स्त्रियों के पुनर्विवाह का विरोधी होने से उसने पौनर्भव को ग्यारहवें स्थान पर रखा। वसिष्ठ आदि की व्यवस्थाओं में इन पुत्रों का दर्जा ऊँचा था, मनु द्वारा इन्हें पीछे डाल देने से दत्तक तथा कृत्रिमादि पिछले पुत्रों का स्थान स्वयमेव ऊँचा (चौथा और पांचवाँ) हो गया। गौतम और बौधायन ने लगभग मनु का अनुसरण किया है। गौतम के क्रम की एक विलक्षणता पुत्रिका-पुत्र को बहुत नीचा अर्थात् दसवां दर्जा देना है। सर्वाधिकारी के मत में इसका कारण यह है कि दूसरे कुल में विवाह होने से कन्या की सहानुभूति पैतृक कुल की अपेक्षा श्वशुर कुल से हो जाती है, पितृकुल से उसका सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाता है (प्रिन्सि०आफ़ इनहै० पृ० १९२-९३)। पर पुत्रिका के पिण्डदान के लिये पितृकुल में लौटकर आने के कारण उसका सम्बन्ध पितृकुल से बना रहता है, अतः यह कारण ठीक नहीं प्रतीत होता। गौतम के समय घरजंवाई के रिवाज को जघन्य समझा जाता था, संभव है यह इसका मुख्य हेतु रहा हो[५९]।

**गौण पुत्रों के दो वर्ग**—धर्मसूत्रों तथा स्मृतियों में गौण पुत्रों को छः-छः पुत्रों के दो बड़े भागों में बांटा गया है। गौतम (२८।३३-३४) के अनुसार औरस, क्षेत्रज, दत्तक, कृत्रिम, गूढोत्पन्न तथा अपविद्ध रिक्थभाक् अर्थात् पैतृक सम्पत्ति ग्रहण करने वाले तथा पिता का गोत्र लेने वाले होते हैं, इनके अतिरिक्त शेष छः पुत्र पैतृक सम्पत्ति न लेकर केवल गोत्र ही ग्रहण करते हैं। बौधायन ने (२।२ ३६-३७) पुत्रों को इसी प्रकार रिक्थभाक् तथा गोत्रभाक् नामक दो वर्गों में बांटा है[६०], किन्तु उसने पहले वर्ग में पुत्रिकापुत्र को भी सम्मिलित किया है। स्मृतिकारों ने इन्हें बन्धु दायाद (दायाद बान्धव) तथा अदायाद बान्धव नामक दो वर्गों में बांटा है। मनु के मतानुसार पहले वर्ग में औरस (पुत्रिका), क्षेत्रज, दत्त, कृत्रिम, गूढोत्पन्न और अपविद्धनामक पुत्र सम्मिलित हैं (९।१५८)। इन्हें बन्धु दायाद इसलिये कहते हैं कि ये पिता के तथा (नज़दीकी उत्त-

---

**५८. मनु० ८।२२६ पाणिग्रहणिका मन्त्राः कन्यास्वेव प्रतिष्ठिताः।**

**५९. गौतम ने इसी कारण अभ्रातृमती कन्या के विवाह का निषेध किया है (२८।२०), दे० ऊ० पृ० २६०**

**६०. गौ० २८।३३-३४ पुत्रा औरसक्षेत्रजकृत्रिमगूढोत्पन्नापविद्धा रिक्थभाजः। कानीनसहोढपौनर्भवपुत्रिकापुत्रस्वयंदत्तक्रीता गोत्रभाजः॥**

राधिकारी न होने पर) पिता के सम्बन्धियों (बन्धुओं) की दाय या सम्पत्ति को ग्रहण करते हैं। कानीन, सहोढ, क्रीत, पौनर्भव, स्वयंदत्त और शौद्र अदायाद बान्धव, केवल बान्धव अर्थात् पिता के गोत्र से संबद्ध होते हैं। किन्तु पिता के सम्बन्धियों की सम्पत्ति के दायाद नहीं बन सकते[६१]। वसिष्ठ (१७।५-२५), शंख लिखित (विर०पृ० २४७) तथा नारद (दा० ४७) के अनुसार पहले वर्ग में निम्न प्रकार के पुत्र हैं--औरस, क्षेत्रज, पुत्रिका पुत्र, पौनर्भव, कानीन और गूढज। इनमें पिछले तीन पुत्र मनु के अनुसार दूसरे वर्ग के हैं। इस संबंध में सब से स्पष्ट और सुबोध व्यवस्था कौटिलीय अर्थशास्त्र ने की है--"औरस पुत्र ही पिता के सम्बन्धियों का दायाद हो सकता है, दूसरे से उत्पन्न किया गया पुत्र (परजात) उसे पालन करने वाले पिता का ही दायाद होता है, उसके सम्बन्धियों का नहीं[६२]।

**गौण पुत्रों के साम्पत्तिक अधिकार**--इस विषय में शास्त्रकारों ने विभिन्न व्यवस्थायें की हैं। यदि किसी व्यक्ति द्वारा पुत्रिकापुत्र, क्षेत्रज या दत्तक ग्रहण करने के बाद औरस पुत्र उत्पन्न होता था तो बड़ी विषम समस्या उत्पन्न हो जाती थी। ऐसी दशा में सामान्यतः मनु (९।१६३) औरस को ही पैतृक सम्पत्ति का अधिकारी समझता है; वह पुत्रिका और क्षेत्रज के अतिरिक्त दूसरे गौण पुत्रों को केवल निर्वाहमात्र देने को कहता है, ताकि उनके प्रति कठोरता न हो[६३]। किन्तु पुत्रिकापुत्र के बाद औरस पुत्र होने पर दोनों के लिये समान अंश ग्रहण करने का विधान करता है[६४]। ९।१६४ में वह औरस को अपनी

---

**६१. बन्धुदायाद की यह व्याख्या दायभाग (पृ० १४७) के अनुसार है--औरसादयः षट् न केवलं पितृदायहराः किन्तु बन्धूनामपि सपिण्डादीनां दायहराः। अन्ये परभूताः पितुरेव परं दायहराः न सपिण्डादीनां मि० मिता० याज्ञ० २।१३२। कुल्लूक के अनुसार बान्धव होने का अर्थ है उदक दानादि का बन्धु कार्य करना (मनु० ९।१५८)**

**६२. कौटिल्य ३।७ स्वयंजातः पितृबन्धूनां च दायादः। परजातः संस्कर्त्तुरेव न बन्धूनाम्।**

**६३. मनु० ९।१६३ एक एवौरसः पुत्रः पित्र्यस्य वसुनः प्रभुः। शेषाणामानृशंस्यार्थम् प्रदद्यात्तु प्रजीवनम्॥**

**६४. मनु० ९।१३४ पुत्रिकायां कृतायां तु यदि पुत्रोऽनुजायते। समस्तत्र विभागः स्याज्ज्येष्ठता नास्ति हि स्त्रियाः॥**

पैतृक सम्पत्ति का पांचवां या छठा हिस्सा क्षेत्रज को देने के लिये कहता है। गौतम ( २९।३२ ) कानीन आदि गोत्रभाक् पुत्रों को औरसादि रिक्थभाक् पुत्रों के अभाव में पैतृक सम्पत्ति का केवल चौथाई भाग लेने को कहता है ( चतुर्थांशिन औरसाद्यभावे)। देवल और कात्यायन बाद में औरस पुत्र उत्पन्न होने पर, दत्तक क्षेत्रज आदि को केवल तीसरा हिस्सा ही देते हैं बशर्ते कि वे सजातीय हों, ऐसा न होने पर वे केवल भरण के अधिकारी हैं। कौटिल्य का भी यही मत है। याज्ञ० (२।१३२ ) के मतानुसार बारह प्रकार के पुत्रों में पूर्व पूर्व पुत्र के अभाव में अगले पुत्र सवर्ण होने पर पिण्डदान के अधिकारी होते थे[६५]।

मध्ययुग के टीकाकारों ने प्रायः कानीन, सहोढ और गूढज को भरणमात्र का अधिकारी बताया है[६६]।

बारह प्रकार के पुत्रों के क्रम, सम्पत्ति में स्वत्व तथा अन्य अधिकारों के सम्बन्ध में शास्त्रकारों में इतना मतभेद है कि यह नहीं प्रतीत होता कि वे किसी वास्तविक स्थिति का प्रतिपादन कर रहे हैं; किन्तु इनका उद्देश्य पुराने युग की परम्परा का अविकल वर्णन मात्र है[६७]। क्षेत्रज, गूढज, सहोढ और

---

६५. देवल दा० पृ० १४७ तेषां सवर्णा ये पुत्रास्ते तृतीयांशभागिनः। हीनास्तमुपजीवेयुर्ग्रासाच्छादनसंभृताः ॥ मि० कात्यायन विचि० पृ० १५०। कौ० ३।७ औरसे तूत्पन्ने सवर्णास्तृतीयांशहराः। असवर्णाः ग्रासाच्छादनभागिनः। या० २।१३२ पिण्डदोंऽशहरश्चैषां पूर्वाभावे परः परः।

६६. मेधातिथि (मनु० ९।८१)। इस सम्बन्ध में यह बात देखने योग्य है कि यद्यपि शास्त्रकारों ने व्यभिचार के सम्बन्ध में कठोर व्यवस्थायें की थीं (दे०ऊ०पृ० ४६८) किन्तु कानीन, सहोढ और गूढ़ज को उन्होंने विशेष उद्देश्य से स्वीकार किया था। कानीन कन्या के विवाह तक नाना के अधिकार में समझा जाता था (याज्ञ० २।१२९ ) तथा विवाह के बाद पति के स्वत्व में आ जाता था ( मनु ९।१७२ )। पति द्वारा उसके ग्रहण का अर्थ यह था कि पति पत्नी के पिछले स्खलन को क्षमा कर रहा है। सहोढ में भी यही स्थिति थी। पति द्वारा उसे स्वीकार किये जाने पर दूसरे व्यक्तियों को यह अधिकार न था कि वे ऐसे पुत्रों के परित्याग पर बल दें। अतः शास्त्रकारों ने इन्हें वैध स्वीकार कर इन पुत्रों के भरण की व्यवस्था की ( काणे-हि० ध० ३।६५२-५३ )

६७. मेन--हिन्दू ला पृ० १२३; ३८ म० ११४४।

कानीन का रिवाज उस युग में लगभग उठता जा रहा था। बृहस्पति ने गुप्त युग के अन्त में बड़े स्पष्ट शब्दों में कहा—'पुराने ऋषियों ने अनेक प्रकार के पुत्र बनाये थे, आज कल के शक्तिहीन लोगों द्वारा वैसे पुत्र बनाना संभव नहीं है[६८]'। इस से स्पष्ट है कि उस समय गौण पुत्रों की पद्धति लगभग लुप्त हो गयी थी।

मध्ययुग में विज्ञानेश्वर ने नियोग को निषिद्ध ठहराया तथा कानीन और सहोढ जैसे पुत्रों को असवर्ण और अवैध बताया (२।१३३)। अपरार्क (२।१३२) ने शौनक के एक वाक्य के अनुसार कलियुग में दत्तक तथा औरस के अतिरिक्त अन्य पुत्रों का ग्रहण निषिद्ध ठहराया। हेमाद्रि ने यही वचन आदि पुराण के नाम से उद्धृत किया है। मध्यकाल के अधिकांश शास्त्रकार और निबन्ध ग्रन्थ—देवण्ण भट्ट ( स्मृच २८८,) [६९] पराशर माधवीय ( पृ० ५२२ ), सुबोधिनी (२।१३२) दत्तक मीमांसा ( पृ० २३ ) व्यवहार मयूख (पृ० ४७ ) विवाद ताण्डव ( पृ० ३६४ ), बालंभट्टी( २।१३२) दत्तक चन्द्रिका ( पृ० ४)—शौनक की भांति दो पुत्र ही मानते हैं।

मध्ययुग में गौण पुत्रों की प्रथा लुप्त होने का प्रधान कारण हिन्दू समाज में होने वाले कुछ मौलिक परिवर्त्तन थे। नियोग तथा विधवा विवाह की प्रथायें बन्द हो जाने से क्षेत्रज और पौनर्भव पुत्र अनावश्यक हो गये, अनुलोम विवाहों के अप्रचलित होने पर पारशव की ज़रूरत नहीं रही; बालविवाह के व्यापक प्रसार से कानीन और सहोढ पुत्र अन्यथा सिद्ध हो गये। पुत्रों का स्वत्व बढ़ने तथा पितृ प्रभुत्व मर्यादित होने से क्रीतक पुत्र का लोप हो गया।

वर्त्तमान काल में बारह प्रकार के पुत्रों में से औरस तथा दत्तक के अतिरिक्त मलाबार के नम्बूदरी ब्राह्मणों में पुत्रिकापुत्र की तथा मिथिला में कृत्रिम पुत्र की

---

६८. अप० १।१६९ अनेकधा कृताः पुत्राः ऋषिभिर्ये पुरातनैः। तच्छक्यं नाधुना कर्तुं शक्तिहीनैरिदन्तनैः॥ बृहस्पति ने कुछ पुत्रों की निन्दा की है—क्षेत्रजो गर्हितः सद्भिस्तथा पौनर्भवः सुतः। कानीनश्च सहोढश्च गूढोत्पन्नस्तथैव च॥ विर० पृ० ५५२ पर उद्धृत।

६९. देवण्ण भट्ट स्पष्ट रूप से कहता है कि गौण पुत्रों की परिपाटी समाज से उठ चुकी है; उनके वर्णन से ग्रन्थ का व्यर्थ में विस्तार होगा। अतएवास्माभिरसवर्णपुत्राणां दत्तकेतरेषां गौणपुत्राणां पुत्रिकायास्तत्सुतस्य च भागविधयो न निबध्यन्ते संप्रत्यननुष्ठीयमानत्वात् वृथा च ग्रन्थविस्तारापत्तेः।

परिपाटी स्वीकृत की जाती है। क्षेत्रज पुत्र[७०] केवल इसी रूप में अवशिष्ट है कि कुछ जातियों में पति की मृत्यु होने पर पत्नी उसके भाई के साथ शादी कर लेती है, दक्षिण भारत की शबर, गौड, इडीयार जातियों में, पंजाब के जाटों और मध्य भारत के राजपूतों में ऐसी प्रथा है ( मेन-हिन्दू ला पृ० १२५ )।

बारह प्रकार के पुत्रों में आजकल औरस के अतिरिक्त केवल दत्तक का ही प्रचलन है, अतः यहां इसी का कुछ विस्तार से प्रतिपादन होगा, इससे पहले पुत्रों के अन्य प्रकारों का संक्षिप्त उल्लेख होगा।

**औरस पुत्र**--शास्त्रविहित पाणिग्रहण संस्कार से परिणीत पत्नी में स्वयमुत्पादित सन्तान औरस होती थी[७१]। यद्यपि आपस्तम्ब और बौधायन इस के लिये सवर्णा पत्नी भी आवश्यक मानते हैं[७२], किन्तु अधिकांश शास्त्रकार ऐसा कोई बन्धन नहीं मानते। विज्ञानेश्वर (२।१३३) और अपरार्क (पृ० ७४०) ब्राह्मण की क्षत्रिय, वैश्यादि स्त्रियों के साथ अनुलोम विवाह से उत्पन्न पुत्र भी औरस मानते हैं[७३], पर शूद्रा पत्नी से पैदा हुए पारशव पुत्र को औरस से भिन्न समझते हैं। प्राचीन शास्त्रों के अनुसार औरस पुत्र के वैध होने के लिये उसका गर्भाधान और जन्म विवाह के बाद आवश्यक था। पर पहले (पृ० ४६९) यह बताया जा चुका है कि प्रिवी कौन्सिल के निर्णय के अनुसार वैधता के लिये विवाह संस्कार के बाद गर्भाधान आवश्यक नहीं रहा, क्योंकि यद्यपि मनु ने कन्या

---

७०. जगन्नाथ तर्क पंचानन ने तथा उसके आधार पर कोलब्रुक ने ( डाइजैस्ट २ पृ० ४१७) ने उड़ीसा में नियोग की सत्ता मानी थी। किन्तु सर्वाधिकारी को उड़ीसा में अन्वेषण के बाद यह परिपाटी कानूनी दृष्टि से महत्वपूर्ण नहीं जान पड़ी। पिछली शताब्दी में आर्यसमाज के प्रवर्त्तक स्वामी दयानन्द ने नियोग का समर्थन किया (सत्यार्थ प्रकाश, वैदिक यंत्रालय अजमेर, सप्तम संस्करण पृ० ११६-२४) किन्तु लोक विरुद्ध होने से इसका प्रचलन नहीं हो सका।

७१. मनु० ९।१६६, याज्ञ० २।१२८, बौधा० २।२।१४, विष्णु० १५।२, कौटिल्य ३।७ स्वयं जातः कृतक्रियायामौरसः। वसिष्ठ १७।१३ स्वयमुत्पादितः स्वक्षेत्रे संस्कृतायां प्रथमः।

७२. आप० २।१३।१ तथा बौधा० २।२।१४ सवर्णायां संस्कृतायां स्वयमुत्पादितमौरसं पुत्रं विद्यात्।

७३. मिता० २।१३३ तथानुलोमजानां मूर्धावसिक्तादीनामौरसेष्वन्तर्भावस्तेषामप्यभावे क्षेत्रजादीनां दायहरत्वं वेदितव्यम्।

के ही विवाह पर बल देते हुए यह कहा है कि 'पाणिग्रहणिका मन्त्राः कन्यास्वेव प्रतिष्ठिता: ( ८।२२६ ) किन्तु इसके साथ ही उसने सहोढ (९।१७३)' कानीन (९।१७२ ) तथा पौनर्भव (९।१७५) पुत्रों के रूप में ऐसी स्त्रियों का विवाह स्वीकार किया है, जिनका कन्यात्व खण्डित हो चुका है।

हिन्दू परिवार में प्रारम्भ से औरस पुत्र की तीव्र आकांक्षा रही है। वैदिक युग में इससे भिन्न अन्य पुत्र गर्हा की दृष्टि से देखे जाते थे। ऋ० ७।४।७ में अग्नि से प्रार्थना में कहा गया है--'अन्य व्यक्ति द्वारा उत्पन्न तनय पुत्र नहीं होता, वह प्रमादी (मूर्ख या उन्मत्त) व्यक्ति का पुत्र हो सकता है[७४]। इससे अगले मंत्र के अनुसार दूसरी स्त्री के गर्भ से उत्पन्न पुत्र ( अन्योदर्य) को ग्रहण करने का विचार भी चित्त में नहीं लाना चाहिये, भले ही वह अत्यन्त सुख देने वाला (सुशेवः) हो, क्योंकि 'वह अन्त में अपने उत्पादक पिता के घर की ओर लौट कर आता है। ( अतः शत्रुओं को) भय से कंपाने वाला, (शत्रुओं का) पराभव करने वाला पुत्र हमें प्राप्त हो[७५]'।

**पुत्रिकापुत्र**--औरस पुत्र के अभाव में जब पिता वंश चलाने के लिये लड़की के लड़के को पुत्र बना लेता था तो यह पुत्रिकापुत्र कहलाता था। यह व्यवस्था दो प्रकार से होती थी--(१) विशेषविधि द्वारा--गौतम (२८।१८), बौधा० (२।३।१५ ) वसिष्ठ ( १७।१५-१७ ), मनु (९।१२५ ) विष्णु (१५।४-५ ) के अनुसार पिता अपनी भ्रातृहीन पुत्री का विवाह करने से पहले जंवाई के साथ स्पष्ट रूप से यह समझौता कर लेता था कि इससे उत्पन्न सन्तान मेरी होगी। गौतम इसके लिये होम आवश्यक समझता है[७६]; वसिष्ठ और

---

७४. ऋ० ७।४।७ न शेषो अग्ने अन्यजातमस्त्यचेतानस्य मा पथो विदुक्षः। निरुक्त ३।२ में इस की टीका करते हुए दुर्गाचार्य ने लिखा है कि महर्षि वसिष्ठ के सब पुत्र मारे जाने पर जब अग्नि ने उन्हें दत्तक, कृत्रिम, क्रीतादि पुत्र स्वीकार करने के लिये कहा तो वसिष्ठ ने इन पुत्रों की निन्दा करते हुए अग्नि से औरस पुत्र की ही याचना की, इसका इसमें तथा अगले मंत्र में उल्लेख है।

७५. ऋ० ७।४।८ न हि ग्रभायारणः सुशेवोऽन्योदर्यो मनसा मन्तवा उ। अधा चिदोकः पुनरित्स एत्या नो वाज्यभीषाळेतु नव्यः ॥

७६. गौतम धर्म सूत्र २८।१८ पितोत्सृजेत् पुत्रिकामनपत्योऽग्निं प्रजापतिं चेष्ट्वाऽस्मदर्थमपत्यमिति संवाद्य। वसिष्ठ १७।१८अभ्रातृकां प्रदास्यामि तुभ्यं कन्यामलंकृताम्। अस्यां यो जायते पुत्रः स मे पुत्रो भवेदिति ॥

विष्णु के मतानुसार होम ज़रूरी नहीं; किन्तु पिता के लिये दोहते को अपना बेटा बनाने की घोषणा आवश्यक थी। (२) कुछ प्रदेशों में यह घोषणा करना ज़रूरी नहीं था, कन्या दान करते समय यदि पिता के मन में यह अभिप्राय हो कि वह इस की सन्तान को अपनी सन्तान मानेगा तो इस मानसिक अभिप्राय ( अभिसंधि ) मात्र से वह कन्या पुत्रिका हो जाती थी[७७]। बृहस्पति ने होम तथा अभिसंधि दोनों प्रकार से इसे बनाने का वर्णन किया है (विर० ५६२)।

अभ्रातृमती कन्या के पुत्रिका होने की संभावना के कारण शास्त्रकारों ने उसके साथ विवाह का निषेध किया है[७८]; क्योंकि वसिष्ठ धसू० द्वारा उद्धृत एक प्राचीन श्रुति के अनुसार परिणीत होने पर भी पिण्डदान के लिये यह पिता के घर में आती थी और उसका पुत्र बन जाती थी। वसिष्ठ इस कन्या को ही पुत्र समझता था। याज्ञवल्क्य स्मृ० २।१२८ की व्याख्या करते हुए विज्ञानेश्वर ने इसके दो अर्थ किये हैं—(१) उपर्युक्त प्रकार का समझौता जिस पुत्रिका के साथ हुआ है, वही पुत्र है (२) ऐसी पुत्रिका का लड़का पुत्रिका पुत्र है[७८क]।

---

७७. गौतम धर्मसूत्र २८।१९ अभिसंधिमात्रात्पुत्रिकेत्येकेषाम् ।

७८. वही २८।२० तत्संशयान्नोपयच्छेदभ्रातृकाम् । मि० याज्ञ० १।५३, मनु० ३।११; किन्तु आजकल धनी पुरुष की ऐसी लड़की को युवक अधिक पसन्द करते हैं ।

७८क. महाभारत में इन दोनों प्रकारों के पुत्रिकापुत्रों के कई अस्पष्ट पौराणिक दृष्टान्त हैं और कई मातृमूलक उदाहरण। पहले प्रकार में प्रजापति की पचास कन्यायें हैं, जिन्हें उसने एक हज़ार पुत्रों की मृत्यु पर अपनी पुत्रिका बनाया ( महाभा० भां० १।६०।११)। सम्भवतः इडा मनु की लड़का बनायी हुई ऐसी पुत्रिका थी। दूसरे प्रकार का उदाहरण बभ्रुवाहन है, जो मणलूरपुर के राजा की पुत्री चित्रांगदा के अर्जुन के साथ विवाह से उत्पन्न हुआ था। इस का पहले उल्लेख हो चुका है ( पृ० ३३३ )। यह संभवतः मातृ स्थानीय विवाह (Matrilocal marriage) पद्धति का परिणाम था। महाभारत में इस पद्धति के अन्य कई उदाहरण मिलते हैं — जैसे जरत्कारु के पुत्र आस्तीक का अपने मामा के घर पर रहना ( म० भा० भां० १।४४।२१ ), अर्जुन से विवाह करने के बाद भी नागकन्या उलूपी का पितृगृह में रहना (वहीं भां० १।२०६।३५); भीम के पुत्र घटोत्कच का अपनी माता हिडिम्बा के साथ नाना के घर रहना (वही भां० १।१४३।३६-३७)।

पुत्रिकापुत्र का दर्जा औरस पुत्र के तुल्य ही माना जाता था। मनु (९।१३०) और महाभारत ( १३।४५।१३ ) की दृष्टि में पुत्र और पुत्री में कोई अन्तर नहीं है ( पुत्रेण दुहिता समः ); याज्ञ० ( विर० ५६२) पुत्रिकापुत्र को औरस ही मानता है, देवल की सम्मति के अनुसार वह औरस तुल्य है ( तत्तुल्यः पुत्रिकापुत्रः विर० ५६० ); शंख का भी यही मत है ( विर० ५६० )। मनु पौत्र और दौहित्र में कोई भेद नहीं करता (९।१३९), क्योंकि पौत्र की भांति दौहित्र भी पिण्डदान द्वारा अपने नाना का उद्धार करता है (मि० विष्णु १५। ४७)। देवल ( विर० ५६१) इस समानता का कारण स्पष्ट करते हुए कहता है कि उसके शरीर में माता पिता के अंश इकट्ठे होते हैं। अतएव बारह पुत्रों में पुत्रिकापुत्र को बहुत ऊंचा स्थान प्राप्त हुआ है। मनु, बौधायन, कौटिल्य याज्ञवल्क्य, बृहस्पति, देवल, महाभारत और ब्रह्मपुराण उसे औरस के बाद दूसरा स्थान देते हैं, वसिष्ठ, शंख लिखित, विष्णु और नारद नियोग के कारण क्षेत्रज के बाद इसका तीसरा दर्जा मानते हैं, केवल गौतम ही उसे बहुत पीछे दसवां स्थान देता है, विज्ञानेश्वर के मतानुसार यह असवर्ण पुत्रिका-पुत्र के लिये है। मनु के मत में पुत्रिकापुत्र का साम्पत्तिक अधिकार औरस पुत्र के तुल्य है ( ९।१३४)। किन्तु कात्यायन सवर्ण पुत्रिकापुत्र के लिये औरस पुत्र होने की दशा में तृतीयांश (विर० ५४४) या चतुर्थांश (मिता० २।१३२) तथा असवर्ण होने की अवस्था में भरण मात्र की व्यवस्था करता है।

हिन्दू परिवार में पुत्रिकापुत्र की प्रथा के संकेत वैदिक युग से उपलब्ध होते हैं। वसिष्ठ द्वारा १७।१६ में उद्धृत श्रुतिवचन ऋ० १।१२४।७ में उषा के रूपवर्णन की एक उपमा में मिलता है[७९]। यास्क ने इस मंत्र का

---

सुपर्ण वैनतेय ने एक ब्राह्मण को निषादी स्त्री के साथ सुसराल में रहते हुए देखा था (वही भां० १।२५।१-६)। उपर्युक्त पांच उदाहरणों में दो नाग, एक राक्षस और एक निषाद जाति का है, मणलूरपुर संभवतः दक्षिण भारत में था। अतः ये सब दृष्टान्त आर्यजाति से बाहर के प्रतीत होते हैं।

७९. वसिष्ठ १७।१६ विजायते अभ्रातृका पुंसः पितॄनभ्येति प्रतीचीनं गच्छति पुत्रत्वम्। ऋ० १।१२४।७ अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची गर्त्तारुगिव सनये धनानाम्। जायेव पत्य उशती सुवासा उषा हस्रेव नि रिणीते अप्सः॥ कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने इस मंत्र से यह परिणाम निकाला है कि भरण पोषण करने वाले भ्राता के अभाव में कन्या अपने रूप द्वारा धनोपार्जन करती थी (वै० इं० १।३९५)

तथा दो अन्य मंत्रों का अर्थ पुत्रिकापरक किया है ( निरुक्त० ३।४ )। उक्त मंत्र का आशय उसके अनुसार यह है कि अभ्रातृका कन्या ( विवाह के बाद ) पिता की वंश परम्परा बनाये रखने तथा पितरों को पिण्ड देने के लिये अपने पितृकुल में आ जाती है, पति के पास नहीं जाती। दूसरा मन्त्र अथर्व० १।१७।१ से मिलता है; इसमें भ्रातृहीन कन्याओं की भांति कान्तिहीन रक्त वाहिनियों के निश्चल खड़े होने का वर्णन है, यास्क की व्याख्या के अनुसार इसका यह अर्थ है कि जैसे अभ्रातृका कन्यायें विवाह के बाद अपने पति की कुल-परम्परा को बनाये रखने का तथा ( पुत्रों द्वारा ) उसे पिण्ड देने का रास्ता रोक देती हैं, वैसे ही इन का मार्ग अवरुद्ध होता है। यास्क द्वारा इस सम्बन्ध में उपस्थित किया तीसरा मंत्र शासद्वह्निः (ऋ० ३।३१।१) बहुत ही अस्पष्ट है, इसके अतिरिक्त वह अभ्रातृका के साथ विवाह का निषेध करने वाला एक स्पष्ट प्राचीन वचन भी उद्धृत करता है[८१]।

मध्ययुग में पुत्रिकापुत्र की व्यवस्था लगभग लुप्त हो गयी। चौदहवीं शती के एक राजा मदनपाल के आश्रित विश्वेश्वर भट्ट ने ही इस का कुछ विस्तृत वर्णन किया है। इस प्रथा के लुप्त होने के कई कारण थे। अभ्रातृमती कन्या के साथ विवाह के निषेध से ऐसी लड़कियों के लिये वर मिलना कठिन था, क्योंकि इस की सन्तान पति को नहीं, किन्तु नाना को मिलती थी। इस समय दत्तक की प्रथा लोकप्रिय हो रही थी, ऐसी कन्या के माता पिता के लिये यह अधिक सुविधाजनक थी। पुत्रिकापुत्र बनाने पर यह आवश्यक नहीं था कि नाना को दोहता ही प्राप्त हो, दोहती भी मिल सकती थी। इंगलैण्ड के ट्यूडर राजा हेनरी सप्तम ने पुत्रप्राप्ति के लिये सात विवाह किये, किन्तु उसकी लड़कियां ही पैदा हुईं। ऐसी अवस्था में नाना के लिये वंशवर्द्धक पुत्र की समस्या पूर्ववत् बनी रहती थी। पुत्रिकापुत्र की अपेक्षा दत्तक पुत्र बनाने में निश्चित रूप से पुत्र की प्राप्ति का तथा कन्या को आसानी से वर मिलने का लाभ था, अतः पुत्रिकापुत्र की प्रथा लुप्तप्राय हो गयी।

---

८०. निरुक्त ३।४ अमूर्या यन्ति जामयः सर्वा लोहितवाससः। अभ्रातर इव योषास्तिष्ठन्ति हतवर्त्मनः॥ अभ्रातृका इव योषास्तिष्ठन्ति सन्तानकर्मणे पिण्डदानाय हतवर्त्मानः।

८१. निरुक्त ३।५ नाभ्रात्रीमुपयच्छेत्तोकं ह्यस्य तद्भवति॥ विश्वरूप ( या० १।५३ ) के अनुसार यह भाल्लवि का वचन है।

वर्त्तमान काल में पटना हाई कोर्ट ने पुत्रिकापुत्र की पद्धति को अप्रचलित माना है (१ पटना ला जर्नल ५८१)। किन्तु मलाबार के नम्बूदरी ब्राह्मणों में यह 'सर्वस्वधनम्' नाम से प्रचलित है। इसकी विधि इस प्रकार है कि पिता कन्यादान करते समय अपने जामाता को यह कहता है—'मैं तुझे अलंकारों से सजी हुई इस कन्या का दान करता हूँ, इसका कोई भाई नहीं है, इस कन्या से उत्पन्न होने वाला पुत्र मेरा लड़का समझा जायगा' (कुमारन् ब० नारायण १८८६, ९ म० २६०)। ऐसी व्यवस्था पुरुषसन्तान के अभाव में ही की जाती है, किन्तु यदि ऐसी पुत्रिका की सन्तान न हो तो उसके पिता की सम्पत्ति उसके पति को न मिलकर, पितृकुल में ही रहती है (११ म० १५७)।

**क्षेत्रज**—पुत्रप्राप्ति के लिये पति अथवा गुरुजनों की आज्ञा से किसी नियत व्यक्ति के साथ किया जाने वाला विधवा स्त्री का सम्बन्ध नियोग था और इस से उत्पन्न पुत्र क्षेत्रज कहलाता था। प्राचीन काल में नियोग का प्रचलन होने पर गौणपुत्रों में क्षेत्रज का स्थान बहुत ऊँचा था। गौतम, वसिष्ठ, हारीत, शंख लिखित, नारद, विष्णु और यम इसे दूसरा तथा बौधायन, कौटिल्य, मनु, याज्ञवल्क्य, बृहस्पति, देवल, महाभारत और ब्रह्मपुराण तीसरा स्थान देते हैं (दे० ऊ० पृ० ४७२)। नियोग की प्रथा बहुत प्राचीन थी। ऋग्वेद में पति के मरने पर देवर द्वारा नियोग का उल्लेख है (को वां शयुत्रा विधवेव देवरम् ऋ० १०।४०।२ तथा ऋ० १०।१८।८)। महाभारत के अनेक स्थलों में ब्राह्मणों द्वारा नियोग कराने का वर्णन है[८२]। धर्मशास्त्रों में सगोत्र, सपिण्ड या देवर इसके अधिकारी बताये गये हैं।

---

८२. पाण्डु ने १।१२० में कुन्ती को इस विषय में शरदण्डायन की पुत्री से सिद्ध ब्राह्मण द्वारा, १।१२२।२२ में वसिष्ठ द्वारा सौदास की पत्नी मदयन्ती से सन्तान उत्पन्न करने के दृष्टान्त दिये हैं। इस के अन्य उदाहरण ये हैं—राजा बलि की पत्नी सुदेष्णा का ऋषि दीर्घतमा से पुत्र पाना (१।१०४।४५), विचित्रवीर्य की पत्नियों से महर्षि व्यास द्वारा धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुर की उत्पत्ति (१।१०६ अ०) मेयर के मत में इन दृष्टान्तों का उद्देश्य ब्राह्मणों की तपस्या के गौरव को बढ़ाना है, इनमें ऐतिहासिकता का अंश बहुत कम है (सै० ला० १। १६९), सत्य का अंश केवल इतना ही है कि कभी कभी उत्कृष्ट गुणवाली सन्तान की प्राप्ति के लिये पुरोहितों से सहायता ली जाती थी। ग्रीनलैण्ड बासी एस्किमो जाति में अब तक यह व्यवस्था की जाती है (वै०ह्यू० मै०पृ० ८०)।

बौधा० ( २।३।१७-१८ ) विधवा को नियोग का अधिकार देता है, किन्तु पति के जीवन काल में उसके क्लीब या व्याधिपीड़ित होने पर भी वह ऐसा कर सकती है। कौटिल्य पत्नी के किसी सम्बन्धी अथवा सगोत्र द्वारा (३।६) तथा विष्णु सपिण्ड (सातवीं पीढ़ी तक के सम्बन्धी) अथवा उत्तम वर्ण वाले व्यक्ति को नियोग द्वारा सन्तान उत्पन्न करने का अधिकार देता है[८३]। मनु ने औरस पुत्र के अभाव में देवर या सपिण्ड को इस कार्य में समर्थ बताया है (९।५९)। याज्ञवल्क्य (२।१२८) सगोत्र अथवा इतर व्यक्ति से उत्पन्न पुत्र को क्षेत्रज कहता है, ( क्षेत्रजः क्षेत्रजातस्तु सगोत्रेणेतरेण वा ); विज्ञानेश्वर यहां इतर से सपिण्ड या देवर का ग्रहण करता है।

क्षेत्रज पुत्र उत्पन्न करने के सम्बन्ध में शास्त्रकारों ने बड़े कठोर नियम बनाये हैं, ताकि नियोग का दुरुपयोग न हो; कर्त्तव्यबुद्धि से सन्तान-प्राप्ति के लिये ही इस प्रथा का व्यवहार हो। मनु (९।६०) तथा नारद ( स्त्री पुंस ८२ ) नियुक्त पुरुष को शरीर पर घी मलने के लिये कहते हैं, विश्वरूप के मतानुसार यह कामप्रवत्ति को रोकने के लिये है, उस स्त्री के साथ मनु भाषण तक वर्जित ठहराता है (९।६०), एक या दो पुत्रों की प्राप्ति के बाद नियोग करने वाले पुरुष को उसे अपनी पुत्रवधू समझना चाहिये और स्त्री को उस पुरुष को श्वशुरतुल्य मानना उचित है (९।६२), इन नियमों का पालन न करने वाले पुरुष पुत्रवधूगामी होने के तथा गुरुपत्नीगामी होने के महापापों से पतित होते हैं (९।६३; मि० नारद स्त्री पुंस ८५, ८६ )। इस अवस्था में उनकी सन्तान जारज समझी जाती थी और उन्हें सम्पत्ति में हिस्सा नहीं मिलता था (मनु ९।१४३-४४, गौतम २८।२३ )। विधवा या पत्नी सदैव पति, गुरु आदि बड़े व्यक्तियों की आज्ञा और अनुमति से ही नियत व्यक्ति से नियोग कर सकती थी।

क्षेत्रज पुत्र पर अधिकार के सम्बन्ध में शास्त्रकारों ने बहुत विवाद किया है। पुरानी परिभाषा के अनुसार नियोग से सन्तान उत्पन्न करने वाला उत्पादक पिता बीजी (गौ० ४।३) या जनक (आप० २।१३।६) कहलाता था। पुत्र उत्पन्न करने वाली स्त्री को क्षेत्र कहते थे (गौ० १८।११, महाभा० १।१२०

---

८३. बौधा० २।२।२० मृतस्य प्रसूतो यः क्लीबव्याधितयोर्वाऽन्येनानुमते स्वे क्षेत्रे क्षेत्रजः। कौ० ३।७ सगोत्रेणान्यगोत्रेण वा नियुक्तेन क्षेत्रजातः क्षेत्रजः पुत्रः।

२२-२३ ), इससे उत्पन्न पुत्र क्षेत्रज और उसका पति क्षेत्रिक ( मनु० ९।३२, ३३, ५३ ) कहा जाता था। विवादास्पद प्रश्न यह था कि क्षेत्रज पर किसका स्वत्व है। इस सम्बन्ध में तीन पक्ष थे (१) उस पर बीजी या उत्पादक का अधिकार है (२) क्षेत्रिक का स्वत्व है (३) उस पर दोनों का स्वामित्व है।

बीजी के अधिकार का बीज ऋ० ७।४।८ में मिलता है, इसमें कहा गया है कि औरसेतर पुत्र निश्चित रूप से अपने उत्पादक पिता के घर में लौट आता है ( अधा चिदोकः पुनरित्स एति )। यास्क (निरुक्त ३।१ ) ने पुत्र उत्पादक का ही माना है। आपस्तम्ब ( २।१३।६ ) तथा बौधायन (२।२।३८-४१ ) में उद्धृत तीन पुरानी गाथायें इस मत को पुष्ट करती हैं, 'इनमें यह कहा गया है कि बीजी ही पुत्र का स्वामी होता है, 'तुम सावधान होकर सन्तानरूपी तन्तु की रक्षा करो, तुम्हारे खेत में दूसरे पुरुष बीज न बोयें, परलोक में पुत्र उत्पादक का होता है, पति इस सन्तान को निष्प्रयोजन ही अपना बताता है'[८४]। वसिष्ठ (१७।६३-६४ ) नियोग की आज्ञा पाये विना इसे करने वाली स्त्री के पुत्र पर उत्पादक का अधिकार मानता है। मनु क्षेत्रज पर (९।१९०) बीजी का स्वत्व मानता है। महाभारत के मत में माता तो धौंकनी ( भस्त्रा) मात्र है, पुत्र उसी का होता है, जिससे उत्पन्न होता है। कौटिल्य के समय में भी कुछ आचार्यों का ऐसा मत था [८४क]।

दूसरा पक्ष यह था कि क्षेत्रज क्षेत्रिक अर्थात् नियोग करने वाली स्त्री के पति का है। वसिष्ठ ने एक रोचक उदाहरण से इस पक्ष की पुष्टि की है— "यदि किसी व्यक्ति का सांड दूसरे पुरुष की गौओं में सौ बछड़े उत्पन्न करे तो वे गौओं के मालिक के ही होंगे, सांड के स्वामी की दृष्टि से सांड अपनी शक्ति का व्यर्थ ही व्यय करता है"[८५]। महाभारत ने यह घोषणा की कि वेदों से यह बात निश्चित है कि पाणिग्रहण करने वाले व्यक्ति का ही पुत्र पर स्वत्व होता है (१।१०४।६)। मनु ने इस प्रश्न की बड़े विस्तार से मीमांसा की है (९।

---

८४. बौधा० २।२।३४१ अप्रमत्ता रक्षथ तन्तुमेतं मा वः क्षेत्रे परबीजानि वाप्सुः। जनयितुः पुत्रो भवति साम्पराये मोघं वेत्ता कुरुते तन्तुमेतमिति ॥

८४.क महाभा० १।९५।३० भस्त्रा माता पितुः पुत्रो येन जातः स एव सः। मि० कौ० ३।६ माता भस्त्रा यस्य रेतस्तस्यापत्यम् इत्यपरे।

८५. वसिष्ठ० १७।९ यद्यन्यो गोषु वृषभो वत्सानां जनयेच्छतम्। गोमिनामेव ते वत्सा मोघं स्यन्दितमार्षभम् ॥ मि० मनु० ९।५०

३४-५६ ) वस्तुतः दोनों पक्षों में इस बात पर तीव्र मतभेद है कि बीज प्रधान है या क्षेत्र। इसमें कोई संदेह नहीं कि बीज बहुत महत्व रखता है, वही उत्पत्ति का आधार है, जैसा बीज बोया जाता है, वैसा फल मिलता है। किन्तु स्वामित्व के विचार से मनु के मत में क्षेत्र ही प्रधान है। वह इस पक्ष को मुख्य रूप से निम्न उदाहरणों और युक्तियों से पुष्ट करता है (१) 'बाढ़ और हवा के द्वारा (दूसरे के खेत से) लाया हुआ बीज जिस व्यक्ति के खेत में उगता है, उसके फल पर उस खेत के मालिक का स्वत्व होता है, न कि बीज बोने वाले का[८६]। पत्नी पति का क्षेत्र है, उपर्युक्त न्याय से उसमें उत्पन्न पुत्र पर उसके पति का अधिकार उचित है। (२) जैसे दूसरों की गौ आदि में अपने सांड से उत्पन्न बछड़ों पर सांड के मालिक का अधिकार नहीं होता, वैसे ही दूसरे की स्त्रियों में उत्पन्न सन्तान पर उत्पादक का स्वत्व नहीं है[८७]। (३) जिस वस्तु पर किसी का पहले अधिकार हो जाता है, उसके बाद उस पर दूसरे का स्वत्व नहीं हो सकता। जैसे पृथिवी के पहले राजा पृथु हुए, उसके बाद यद्यपि अनेक राजा इसके स्वामी हुए, किन्तु यह अब तक पृथिवी ही कहलाती है। जो जंगल के झाड़ झंखाड़ ठूंठादि साफ करता है, (साफ की हुई भूमि) पर उसका स्वत्व माना जाता है। मृग पहले जिसके तीर से मारा जाता है, उसी का समझा जाता है[८८]। इसी प्रकार विवाह द्वारा पत्नी पर जब पति का स्वत्व हो गया तो उसमें उत्पन्न पुत्र उसी का होगा, उत्पादक का नहीं (४) विवाह एक अविच्छेद्य बन्धन है, पति, पत्नी और पुत्र तीनों मिल कर एक होते हैं; जो पति है, वही पत्नी है, अतः पत्नी में उत्पन्न वस्तु पर पति का ही अधिकार है[८९]। इन कारणों से मनु का मत है—बीजाद्योनिर्गरीयसी (९।५२), वह क्षेत्रज पर क्षेत्रिक

---

८६. मनु ९।५४ ओघवाताहृतं बीजं यस्य क्षेत्रे प्ररोहति। क्षेत्रिकस्यैव तद्बीजं न वप्ता लभते फलम् ॥

८७. वही ९।४८ यथा गोऽश्वोष्ट्रदासीषु महिष्यजाविकासु च। नोत्पादकः प्रजाभागी तथैवान्यांगनास्वपि ॥

८८. वही ९।४४ पृथोरपीमां पृथिवीं भार्यां पूर्वविदो विदुः। स्थाणुच्छेदस्य केदारमाहुः शल्यवतो मृगम् ॥

८९. वही ९।४५-४६ एतावानेव पुरुषो यज्जायात्मा प्रजेति ह। विप्राः प्राहुस्तथा चैतद्यो भर्त्ता सा स्मृतांगना ॥ न निष्क्रयविसर्गाभ्यां भर्तुर्भार्या विमुच्यते।

का ही अधिकार स्वीकार करता है। उपर्युक्त युक्तियों के अतिरिक्त इस पक्ष को उचित मानने का यह भी कारण है कि यदि क्षेत्रज पर बीजी का स्वत्व माना जाय तो नियोग द्वारा पुत्र प्राप्ति का प्रयोजन पूरा नहीं हो सकेगा; उसे सार्थक करने के लिये उस पर क्षेत्रिक का अधिकार मानना उचित है।

कुछ शास्त्रकारों ने बीज और क्षेत्र दोनों की समान रूप से महत्ता स्वीकार करते हुए क्षेत्रज पर बीजी और क्षेत्रिक दोनों की प्रभुता मानी है। हारीत के शब्दों में 'बीज के बिना क्षेत्र में फल नहीं उत्पन्न हो सकता और बिना क्षेत्र के बीज नहीं पैदा होता, इस प्रकार दोनों का (समान महत्व) दिखाई देने से पुत्र दोनों का होता है, ऐसा कई आचार्यों का मत है[९०]। बौधायन (२।२।२१-२३), कौटिल्य (३।७) ऐसा मानते हुए क्षेत्रज के दो पिता और दो गोत्र मानते हैं, वह दोनों को पिण्ड दान करने वाला तथा उनकी सम्पत्ति का हरण करने वाला होता है[९१]। क्षेत्रिक और बीजी दोनों का पुत्र होने से विज्ञानेश्वर ने उसे द्व्यामुष्यायण कहा है (या० २।१२७)। मनु बीजी और क्षेत्रिक दोनों में इस सम्बन्ध में पहले समझौता हो जाने की दशा में इस पर दोनों का स्वत्व मानता है (९।५३)

**क्षेत्रज प्रथा का उद्गम**--इसके उद्भव के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है। ब्रह्मपुराण (अपरार्क द्वारा उद्धृत पृ० ७३७) में इस विषय में एक मनोरंजक कल्पना की गयी है। क्षत्रिय जाति (अपने दुष्कर्मों के कारण ऋषियों द्वारा) शप्त होने तथा निरन्तर युद्धों में लगी रहने से जब क्षीण होने लगी, तो वे औरस और पुत्रिकापुत्र के अभाव में क्षेत्रज आदि पुत्र बनाने लगे[९२]।

**क्षेत्रज पुत्र का निषेध**--इसके विरोध में सब से पहले आवाज उठाने वाले

---

९०. विर० ५५७ नाबीजं क्षेत्रं फलति नाक्षेत्रं बीजं प्ररोहतीत्युभयदर्शनादुभयोरपत्यमित्येके।

९१. कौ० ३।७ स एव द्विपितृको द्विगोत्रो वा द्वयोरपि स्वधारिक्थभाग्भवति। मि० या० २।१२७ उभयोरप्यसौ रिक्थी पिण्डदाता च धर्मतः।

९२. राज्ञां तु शापदग्धानां नित्यं क्षयवतां तथा। अथ संग्रामशीलानां न कदाचिद् भवन्ति ते॥ औरसो यदि वा पुत्रस्त्वथवा पुत्रिकासुतः। विद्यते न हि तेषां तु विज्ञेयाः क्षेत्रजादयः॥

आपस्तम्ब (२।१३।५-७) और बौधायन थे[९३]। आपस्तम्ब ने पहले तो इसका इस आधार पर निषेध किया है—क्षेत्रज पर उत्पादक का ही अधिकार है। (उत्पादयितुः पुत्र इति ह ब्राह्मणम् २।१३।५), अतः यह किसी भी पति के लिये बेकार है। इस के बाद वह तीन पुरानी वैदिक गाथाओं से इस मत को पुष्ट करता है कि क्षेत्रज पितृलोक ( यमस्य सादने ) में उत्पादक का ही होता है, अतः दूसरे के बीज से अपनी पत्नी की रक्षा करनी चाहिये। नियोग के पुराने उदाहरणों के सम्बन्ध में आपस्तम्ब का यह मत था कि पुराने ज़माने के लोगों में धर्म का व्यतिक्रम ( प्रजापति का पुत्रीगमनादि ) और जघन्यकार्य (परशु-राम द्वारा मातृवध) देखे जाते हैं; किन्तु उनमें विशेष तेज होता था, इस कारण वे दोषी नहीं होते थे, उनके व्यतिक्रम और साहस को देख कर आज-कल वैसा कार्य करने वाला दोषी होता है[९४]। आपस्तम्ब ने अन्यत्र (२।१०। २७।४६ ) नियोग करने वालों को वैवाहिक प्रतिज्ञा भंग करने के कारण नरक-गामी बताया। बौधायन ने आपस्तम्ब की ही वैदिक गाथायें उद्धृत कर क्षेत्रज का विरोध किया है। मनु नियोग की घोर निन्दा करता है ( ९।६४-६८ )। 'यह पशुधर्म (पापी) राजा वेन के समय से मनुष्यों को कर्त्तव्य रूप में बताया जाने लगा, इससे वर्णसंकर की स्थिति उत्पन्न हुई। उस समय से विधवा स्त्री को पुत्र प्राप्ति के लिये नियोग का आदेश देने वाले व्यक्ति की सज्जन पुरुष निन्दा करते हैं'। नियोग का निन्दक होते हुए भी संभवतः समाज में इसके प्रच-

---

**९३. आप० धर्म सूत्र २।१३।६ इदानीमेवाहं जनकः स्त्रीणामीर्ष्यामि नो पुरा। यदा यमस्य सादने जनयितुः पुत्रमब्रुवन्॥ रेतोधाः पुत्रं नयति परेत्य यम-सादने। तस्माद् भार्यां रक्षन्ति बिभ्यन्तः पररेतसः। तीसरी गाथा 'अप्रमत्ता रक्षथ, के दे० ऊ० टि० सं० ८४।**

**९४. वही २।१३।७-९ दृष्टो धर्मव्यतिक्रमः साहसं च पूर्वेषाम्। तेषां तेजोविशेषेण प्रत्यवायो न विद्यते, तदन्वीक्ष्य प्रयुञ्जानः सीदत्यवरः। कुमारिल भट्ट व्यास के नियोग का समर्थन करते हुए कहता है कि उनका यह पापकार्य इससे पहले तथा बाद में की तपस्या के बल से पाप नहीं रहा, तपस्या का इतना बल रखने वाला व्यक्ति यह कार्य कर सकता है (तन्त्र वार्त्तिक पृ० २०३)। पाण्डु ने कुन्ती को नियोग के लिये प्रेरणा करते हुए संभवतः इसी दृष्टि से उसे उत्कृष्ट तप वाले पुरुष के पास जाने को कहा है—मन्नियोगात्सुकेशान्ते द्विजाते-स्तपसाधिकात्। पुत्रान्गुणसमायुक्तानुत्पादयितुमर्हसि ( १।१२२।३०-३१)।**

लित होने के कारण मनु को इसकी सत्ता स्वीकार करनी पड़ी, अतएव उसने कठोर प्रतिबन्धों के साथ इसकी अनुमति दी (९।५९-६३)। गुप्त युग में बृहस्पति ने इसे द्वापर और कलियुग के लिये अशक्य बताया क्योंकि इस समय मनुष्यों में कृतयुग और त्रेतायुग का तप और ज्ञान नहीं रहा (कुल्लूक की टीका मनु ९।६८)[९५]। शनैः शनैः इस प्रथा का हिन्दू समाज से लोप हो गया, कुछ जातियों में देवर के साथ विधवा की शादी के रूप में इसका कुछ अवशेष अब तक बचा हुआ है।

**क्षेत्रज का दायाधिकार**--मनु (९।१४५) याज्ञ० (२।१२९) नारद (विवाद पद २३) क्षेत्रज को औरस के समान दायाद मानते हैं। बौधायन० कौटिल्य और याज्ञ० के मत में यह दोनों पिताओं की सम्पत्ति का स्वामी होता है।

**कानीन**--यह अविवाहित कन्या का पुत्र होता है[९६]। अथर्व वेद (५।५।९) में इस शब्द का प्रयोग है तथा शुक्ल यजुर्वेद में (३०।६) कुमारी पुत्र के नाम से संभवतः इसका उल्लेख है। इसके प्रसिद्ध उदाहरण व्यास और कर्ण हैं। कानीन पुत्र पर स्वामित्व के सम्बन्ध में दो पक्ष थे (१) वसिष्ठ (१७।२२-२५), याज्ञ० (२।१२९), अग्निपुराण (२५६।१६) इस पर नाना का अधिकार मानते थे। वसिष्ठ ने एक प्राचीन वचन उद्धृत कर इस पक्ष का समर्थन किया है--'यदि अविवाहिता पुत्री समान वर्ण वाले पुरुष से पुत्र प्राप्त करती है तो इससे नाना पुत्र वाला माना जाता है; वह पुत्र नाना को पिण्ड देगा तथा उसकी सम्पत्ति का स्वामी होगा[९७]। (२) दूसरा पक्ष विष्णु (१५।१२), मनु (९।१७२), नारद (विर० ५६५) तथा ब्रह्मपुराण (व्यप्र० ४७५) का है, ये कानीन पर उस कन्या के साथ विवाह करने वाले का स्वामित्व स्वीकार करते हैं[९८]। सोलहवीं शती में मित्रमिश्र ने बड़े विस्तार से पहले पक्ष का खण्डन किया (व्यप्र०

---

९५. **उक्तो नियोगो मुनिना निषिद्धः स्वयमेव तु। युगक्रमादशक्योऽयं कर्त्तुमन्यैर्विधानतः।। तपोज्ञानसमायुक्ताः कृतत्रेतायुगे नराः। द्वापरे च कलौ नृणां शक्तिहानिर्हि निर्मिता।।**

९६. पाणिनि० ४।१।११६ **कन्यायाः कानीन च।**

९७. **अप्रत्ता दुहिता यस्य पुत्रं विन्देत तुल्यतः। पुत्री मातामहस्तेन दद्यात्पिण्डं हरेद्धनम्।।**

९८. **विष्णु० १५।१२ स च पाणिग्राहस्य। नारद--कानीनश्च सहोढश्च गूढायां यश्च जायते। तेषां वोढा पिता ज्ञेयस्ते च भागहराः स्मृताः।।**

४७५-७६), किन्तु पारिजात ने दोनों पक्षों में इस प्रकार समन्वय स्थापित किया है कि नाना के अपुत्र होने पर कानीन उसका पुत्र होता है, और ऐसा न होने पर वह उस कन्या के साथ शादी करने वाले का। यदि दोनों का पुत्र नहीं होता तो कानीन अपने नाना और पिता दोनों का बेटा बनता है[९९]। बच्चे के पिता से भिन्न किसी व्यक्ति के साथ शादी होने की दशा में बच्चे के हित की दृष्टि से नाना का घर ही सुरक्षित स्थान है। पर ऐसा बहुत कम होता था, प्रायः ऐसी दशा में कानीन के पिता के साथ ही कन्या का विवाह होता है, इस अवस्था में वह उसका स्वामी होता है। संभवतः इस वस्तुस्थिति को दृष्टि में रखते हुए मनु और नारद ने कानीन पर पति का स्वामित्व माना है। पहले यह बताया जा चुका है कि रोमन कानून में परवर्त्ती विवाह द्वारा कानीन पुत्र को वैध स्वीकार किया गया था, मध्यकालीन चर्च तथा योरोप के अनेक देशों में तथा १९२६ के बाद इंगलैण्ड में कानीन पुत्रों को वैध माना जाता है[१००]। इसका प्रधान कारण निर्दोष सन्तान की हितचिन्ता है, यदि पति पत्नी अपने स्खलन के फल का उत्तर दायित्व उठाने को तय्यार हैं तो कानून को उसे जायज मानने में आपत्ति नहीं है।

अधिकांश अवस्थाओं में कानीन के औरस पुत्र होने के कारण शास्त्रकारों ने बारह पुत्रों में उसे काफी ऊँची स्थिति दी है। हारीत, नारद और देवल इसे चौथा तथा वसिष्ठ, शंख लिखित, याज्ञ०, नारद, विष्णु, यम और महाभारत पांचवां स्थान देते हैं।

---

९९. विर० ५६५ में उद्धृत—अथापुत्रो यदि मातामहस्तदा तस्य पुत्रः कानीनः सहोढश्चासपुत्रश्चेत्तदा वोढुः; उभयोरपुत्रत्वे चोभयोरिति पारिजातः।

१००. १२३६ ई० में इंगलैण्ड के सरदारों (Barons) तथा चर्च में इस प्रश्न पर प्रबल मतभेद उत्पन्न हुआ। चर्च के मतानुसार यदि कोई शिशु विवाह सम्बन्ध के बिना उत्पन्न होता है और उसके जन्म के बाद माता पिता विवाह कर लेते हैं तो वह शिशु वैध माना जाना चाहिये। इंगलैण्ड के सरदार इसे अपने देश के सामान्य कानून के विरुद्ध समझते थे, उन के मत में गर्भाधान भले ही विवाह से पहले हो, किन्तु प्रसूति इसके बाद ही होनी चाहिये। १९२६ में इंगलैण्ड ने इस पुराने कानून का अन्त कर पश्चात्कालीन विवाह द्वारा वैधता ( Legimation Per Subsequence Matrimonium ) का रोमन सिद्धान्त स्वीकार कर लिया है ( इंसा० सो० सा० ७।५८६ )।

**गूढज**—पति के घर में गुप्त रूप से उत्पन्न होने वाला पुत्र गूढज कहलाता है (वसिष्ठ १७।२४, याज्ञ० २।१२९, कौ० ३।७, मनु० ८।१७०)। ऋ० २।२९।१ में इसका अस्पष्ट निर्देश है[१०१], इसमें नैतिक नियम के धारक, सदैव गतिशील ( इषिराः ) आदित्यों से प्रार्थना की गयी है कि वे भक्त से पाप को वैसे ही दूर करें, जैसे गुप्त रूप से शिशु प्रसव करने वाली स्त्री उसे दूर रखती है। प्रायः इसे भ्रमवश जारज समझ लिया जाता है , वस्तुतः यह ऐसा पुत्र है, जिसके पितृत्व के सम्बन्ध में संदेह उत्पन्न हो जाय। सम्भवतः पति के घर में होने पर पत्नी से उत्पन्न होने वाला यह ऐसा पुत्र था, जिसे शुरू में औरस मान कर उसके जातकर्मादि सब संस्कार कर दिये जाते थे, किन्तु बाद में किन्हीं व्यक्तियों द्वारा उसके सम्बन्ध में यह संशय पैदा कर दिया जाता था कि यह किसी अन्य पुरुष के समागम का परिणाम है, (मेन-हिन्दू ला पृ० ११६ ), इस प्रकार उसका पितृत्व गूढ़ अर्थात् अस्पष्ट हो जाता है। बौधायन के लक्षण और उसकी टीका से इस अर्थ की पुष्टि होती है[१०२]। यह ध्यान रखना चाहिये कि गूढ़ज के उत्पादक में संदेह मात्र होता था, उसके जारज होने का कोई निश्चित या पुष्ट प्रमाण नहीं था। केवल संदेह उत्पन्न होने से ही ऐसे पुत्र को औरस से भिन्न माना गया। व्यभिचार प्रमाणित होने पर याज्ञवल्क्य पत्नी के लिये कठोर दण्ड की व्यवस्था करता है (१।७०); किन्तु वह गूढ़ज को बहुत ऊंचा (चौथा) स्थान देता है। इससे यह स्पष्ट है कि वह गूढ़ज को जारज नहीं मानता। मनु ९।१४२ में जारज को रिक्थहर नहीं मानता, किन्तु गूढ़ज को दायादों में छठा स्थान देता है। बौधायन, वसिष्ठ, हारीत, शंख, नारद, विष्णु उसे यही स्थान देते हैं, गौतम और देवल के अनुसार इस का पांचवां और कौटिल्य के मत में चौथा स्थान है। अतः गूढ़ज प्रमाणित व्यभिचार वाला नहीं, किन्तु संदिग्ध पितृत्व वाला पुत्र है।

**सहोढ**—यदि किसी गर्भिणी कन्या का विवाह संस्कार किया जाता

---

१०१. धृतव्रता आदित्या इषिरा आरे मत्कर्त्त रहसूरिवागः।

१०२. बौधा० २।२।२६ गृहे गूढोत्पन्नोऽन्ते ज्ञातो गूढजः। बौधायन विवरण—गृहेऽतिगुप्तायामपि स्त्रियाममुनोत्पादितोऽयमिति पूर्वमज्ञातः। पश्चात्कालान्तरे येन केनचित् व्यभिचारादिना कारणेनास्यामुत्पादितोऽयं पुत्र इति विज्ञायते तथापि गूढज इत्यभिप्रायः।

है तो इससे उत्पन्न पुत्र सहोढ ( अपने साथ लाया हुआ ) कहलाता है[१०३]। बौधायन के मतानुसार पति को संस्कार के समय कन्या के गर्भ का ज्ञान हो सकता है और नहीं भी हो सकता। सहोढ के विभिन्न शास्त्रकारों द्वारा किये लक्षणों में अन्य व्यक्ति द्वारा गर्भाधान का कोई संकेत नहीं। पति के लिये शास्त्रीय दृष्टि से कन्या की गर्भस्थिति का ज्ञान होना, या न होना समान रूप से आपत्तिजनक है। यदि उसे इस बात का ज्ञान है तो कन्या के अक्षतयोनि न रहने के कारण उसका विधिपूर्वक विवाह संस्कार नहीं हो सकता, क्योंकि पाणिग्रहण केवल अक्षतयोनि का ही होता है (मनु ८।२२६ )। यदि पति को गर्भ का ज्ञान नहीं तो बाद में इस के अन्य बीज से होने की आपत्ति उठायी जा सकती है। दोनों दशाओं में सहोढ की स्थिति औरस जैसी नहीं होती; शास्त्रीय दृष्टि से वह हीन कोटि का पुत्र है। दोनों दशाओं में वह दत्तक पुत्र की भांति ग्रहण किया जाता है। (मेन-हिन्दू ला पृ० ११७)। सहोढ को प्रायः सभी कानून पद्धतियों में स्वीकार किया जाता है ( दे० ऊ० पृ० ४६९)।

यद्यपि आजकल हिन्दू परिवार में गूढज और सहोढ को नामतः नहीं स्वीकार किया जाता; किन्तु प्रिवीकौन्सिल के ऊपर उद्धृत किये गये ( पृ० ४६९ ) निर्णय के तथा भारतीय साक्षी कानून की अनुच्छेद सं० ११२ के अनुसार इनकी वैधता की सम्भावना बहुत बढ़ गयी है।

कानीन, गूढज, और सहोढ जारज न होते हुए भी निन्दित पुत्र थे, अत एव अधिकांश दशाओं में औरस होने पर भी उन्हें हीन स्थिति दी गयी। इस सम्बन्ध में शास्त्रकारों ने घटनासिद्ध (Factum valet) का नियम लागू किया। कानीन पुत्र होना बुरी बात है, किन्तु उसके हो जाने पर निर्दोष शिशु की रक्षा होनी चाहिये। कौमार्य खण्डित करने के अपराध में शास्त्रकारों ने कठोर दण्डों की व्यवस्था की है ( आप० २।२६।२१ मनु ८।३४ ) कर्ण के उदाहरण से स्पष्ट है कि प्राचीन समाज में कानीन पुत्र गर्हित समझे जाते थे ; किन्तु ये अवैध नहीं थे।

**पौनर्भव**--पुनर्भू स्त्री से उत्पन्न पुत्र पौनर्भव है। यह औरस है, किन्तु

---

**१०३. वसिष्ठ १७।३६ सहोढः सप्तमः। गर्भिणी या संस्क्रियते तस्याः पुत्रः। स पाणिग्राहस्य मि० विष्णु० १५।१५-१७, कौटिल्य ३।७, मनु० ९।१७३, याज्ञ० २।१३१। बौधा० २।३।३० या गर्भिणी संस्क्रियते विज्ञाता वाऽविज्ञाता वा तस्यां यो जातः स सहोढः।**

हिन्दू समाज में विधवा स्त्री के पुनर्विवाह को अच्छा न समझा जाने से इसे हीन स्थान दिया गया। पौनर्भव पुत्र के सम्बन्ध में विचारणीय प्रश्न यह है कि किस स्त्री को पुनर्भू माना जाय। बौधा० (२।३।२७) नपुंसक (क्लीब) या जातिच्युत (पतित) पति को छोड़ कर अन्य पुरुष से सम्बन्ध करने वाली स्त्री को पुनर्भू मानता है। कात्यायन का भी यही मत है (विर० ५६४)। वसिष्ठ (१७।२०-२१) क्लीब और पतित के अतिरिक्त उन्मत्त पति को छोड़ कर अथवा विधवा होने पर दूसरे पुरुष से शादी करने वाली को पुनर्भू कहता है। इसके अतिरिक्त वह उस स्त्री को भी पुनर्भू मानता है, जो अपने कौमार (कुमारावस्था के) पति को छोड़ कर दूसरे पुरुष के साथ रहती है, और फिर उस (पूर्व पति) के कुटुम्ब में आश्रय ग्रहण करती है[१०४]। विष्णु (१५।८-९) के मतानुसार—'अक्षत योनि कन्या (पूर्व पति के मर जाने पर) यदि पुनर्विवाह करती है अथवा कोई कन्या विवाह संस्कार से पूर्व किसी पुरुष के साथ सहवास रखती है तो वह पुनर्भू कहलाती है'। मनु कहता है जब पति से छोड़ी गयी स्त्री अथवा विधवा स्त्री अपनी इच्छा से दूसरे पुरुष को अपना पति बनाती है तो वह पुनर्भू होती है (९।१७५)। मनु ने ९।१७६ में पुनर्भू का एक दूसरा लक्षण भी किया है। यह बड़ा विचित्र जान पड़ता है। पिता कन्या का विवाह एक पुरुष के साथ निश्चित करता है, कन्या उसे पसन्द नहीं करती, वह अपने परिणय के लिये दूसरे पुरुष के पास जाती है, उसके साथ उसका विवाह हो जाता है। किन्तु फिर वह कन्या (सम्भवतः अपनी भूल का अनुभव करके) पिता द्वारा पसन्द किये पति के पास आती है (गतप्रत्यागताऽपि वा)। इस अवस्था में यदि वह अक्षतयोनि है तो उसका विवाह संस्कार हो सकता है (९।१७६)[१०५]। यह कहना बहुत कठिन है कि कन्यायें जब अपने प्रेमियों के पास जाती थीं तो अक्षतयोनि की मर्यादा का कहां तक पालन करती थीं। वसिष्ठ ने यह उचित समझा कि वह इस विषय में अक्षतयोनि की शर्त का उल्लेख न करे। मनु ने इस शर्त का उल्लेख विशेष

---

१०४. वसिष्ठ० १७।२०-२१ या कौमारं भर्तारमुत्सृज्यान्यैः सह चरित्वा तस्यैव कुटुम्बमाश्रयति सा पुनर्भूर्भवति। या च क्लीवं पतितमुन्मत्तं वा भर्तारमुत्सृज्यान्यं पतिं विन्दते मृते वा सा पुनर्भूर्भवति।

१०५. सा चेदक्षतयोनिः स्याद् गतप्रत्यागताऽपि वा। पौनर्भवेन भर्त्रा सा पुनः संस्कारमर्हति॥

उद्देश्य से किया है। मनु की यह मान्यता है कि स्त्री का विवाह एक वार ही होता है ( सकृत्कन्या प्रदीयते ९।४७ ) और विवाह कन्याओं का ही होता है (८।२२६); अतः उसने अक्षतयोनि होने की अवस्था में ही पुनर्भू का विवाह संस्कार स्वीकार किया। याज्ञ० क्षता व अक्षता दोनों प्रकार की स्त्रियों को पुनर्भू मानता है, याज्ञ० (१।६७, २।१३०)।

नारद ने पुनर्भू के विषय को अधिक स्पष्ट किया है। वह पुनर्भू के तीन भेद मानता है। (१) एक कन्या का पाणिग्रहण हो चुका है, किन्तु वह अक्षतयोनि है। इस अवस्था में दुबारा विवाह संस्कार होने से वह पुनर्भू कहलाती है। (२) वह कन्या भी पुनर्भू है जिसे माता पिता व गुरु लोग देश धर्म का विचार करके किसी पुरुष को प्रदान करते हैं, किन्तु वह (व्यभिचार का भाव उत्पन्न होने पर ) अपने को किसी दूसरे पुरुष को सौंपती है ( और पुनः अपने पहले पति के पास लौट आती है) (३) वह स्त्री भी पुनर्भू है, जिसे पति के मरने पर तथा देवरों के अभाव में उस स्त्री के सम्बन्धी किसी समानजातीय सम्बन्धी को प्रदान करते हैं (ना० स्मृ० १५।४५-४८)।

पुनर्भू के सम्बन्ध में कौटिल्य का लक्षण बड़ा सरल और स्पष्ट है। वह पुनर्विवाहित स्त्री को पुनर्भू मानता है ( ३।७ )। स्त्रियों द्वारा पुनर्विवाह के बुरा माना जाने से (गौ० २८।३३, मनु० ५।१५७-१६०, ९।६५) पौनर्भव पुत्र को औरस होते हुए भी बड़ी हीन स्थिति प्रदान की गयी। हारीत ने औरस पुत्र होने के नाते, उसे बारह पुत्रों में तीसरा स्थान दिया; वसिष्ठ, विष्णु, शंख लिखित और यम ने चौथा। अन्य सब शास्त्रकार उसका स्थान काफी नीचे मानते हैं। याज्ञवल्क्य इसे ६ ठा, नारद ७वां, कौटिल्य और देवल ८वां, बृहस्पति और गौतम ९वां, बौधायन तथा मनु ११वां स्थान तथा ब्रह्मपुराण १२वां स्थान देता है। १८५६ के विधवा पुनर्विवाह कानून द्वारा अब पौनर्भव औरस पुत्र के तुल्य हो गया है।

**पारशव**—यह ब्राह्मण का शूद्रा में उत्पन्न हुआ पुत्र होता था ( बौधा० २।३।३०, मनु० ९।१७८ )। शास्त्रकारों ने ब्राह्मणादि के शूद्रा के साथ अनुलोम विवाह की घोर निन्दा की है[१०५]। मनु के मतानुसार ब्राह्मण शूद्र

---

**१०५. अर्थशास्त्र में शूद्रा में उत्पन्न पुत्र को निषाद या पारशव कहा गया है। जीमूतवाहन ( दा० ९।२४-२८ ) निषाद और पारशव में सूक्ष्म अन्तर बताता है–निषाद अविवाहित शूद्रा की प्रसूति होता है तथा पारशव विवाहिता का।**

के साथ ( परिणय द्वारा ) सन्तानोत्पत्ति करके अपना ब्राह्मणत्व खो देता है ( ३।१७ )। वसिष्ठ (१।२७, १४।५ ) इस विवाह की निन्दा करता हुआ इसे कुलनाश का कारण बताता है। मनु ने बड़े विस्तार से तथा कठोर शब्दों में अनुलोम विवाहों की गर्हणा की है (३।४-१९)। शंख आपत्तिकाल में भी ऐसे विवाह का विरोध करता है, क्योंकि इस विवाह से शूद्र पुत्र उत्पन्न होने पर सब सपिण्ड पितर भी शूद्र हो जाते हैं। याज्ञवल्क्य ने स्पष्ट शब्दों में इस का विरोध किया है (१।५६)। अन्य शास्त्रकारों ने भी इस से मिलती जुलती व्यवस्थायें की हैं[१०६]। इन विवाहों की घोर निन्दा होने पर भी, ये हिन्दू समाज में प्रचलित थे।

इन विवाहों को हीन दृष्टि से देखे जाने के कारण औरस पुत्र होने पर भी, निषाद या पारशव को बारह पुत्रों में बहुत नीचा स्थान दिया गया है। शंख ने इसे ग्यारहवां और बौधायन, वसिष्ठ, कौटिल्य तथा मनु ने बारहवां स्थान दिया है। निषाद के सम्पत्ति के अधिकार को केवल कौटिल्य ने स्वीकृत किया। कौटिल्य ३।६ के अनुसार पारशव को पैतृक सम्पत्ति का तीसरा हिस्सा प्राप्त होता है ( मि० वि० १।२।३० )। जायसवाल ने यह लिखा है कि कौटिल्य के अनुसार शूद्रा स्त्री का औरस पुत्र गौण पुत्रों के अभाव में दायाद बनता है ( मनु एण्ड याज्ञवल्क्य पृ० २४३ ) किन्तु उन्होंने इस विषय में कौटिल्य का कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं प्रस्तुत किया। अन्य शास्त्रकार पारशव को अदायाद मानते हैं। ( ९।५।३७ )

शेष पांच पुत्र दत्तक, क्रीत, कृत्रिम, अपविद्ध और स्वयंदत्त पुत्रीकरण (Adoption) के ही अवान्तर भेद हैं[१०७], गोद लेने के विभिन्न ढंगों और परिस्थितियों से इन्हें अलग नाम दिये गये हैं। दत्तक में लड़के के माता पिता

---

१०६. विष्णु० २६।२५-२६, ४६-७; बौधा० २।१।४१ वृद्धयम ३। १३, यम ( वी मि० ७५० ) हारीत ( वी मि० ७५०, ७५१ ) उशना ( वहीं) भविष्य पुराण ( वहीं) ब्रह्मपुराण ( वहीं )।

१०७. पुत्रीकरण की इन सब विधियों के प्रेरक हेतु संभवतः लौकिक और धार्मिक प्रयोजन थे। अपुत्र व्यक्ति बीमारी और बुढ़ापे में अपने को असहाय पाता था और अपनी सम्पत्ति दूरवर्त्ती सम्बन्धियों को नहीं देना चाहता था। धार्मिक कारणों में पिण्डदान की चिन्ता थी ( मेन-हिन्दू ला पृ० ११५ )

स्वयं अपने पुत्र को किसी अन्य अपत्यार्थी पुरुष को दान करते हैं। क्रीत में पुत्र चाहने वाला पुरुष दाम देकर किसी पुरुष से उसका बच्चा खरीदता है और उसे अपना पुत्र बनाता है[१०८] ( वसिष्ठ १७।३०-३२ )। इसका प्रसिद्ध उदाहरण हरिश्चन्द्र द्वारा अजीगर्त्त से खरीदा जाने वाला शुनःशेप है। कृत्रिम में पुत्राकांक्षी माता पिता किसी मातृपितृहीन सवर्ण पुरुष को उसकी सहमति से अपना पुत्र बनाते हैं[१०९]। स्वयंदत्त में लड़का स्वयमेव अपने को किसी का पुत्र बनने के लिये प्रस्तुत करता है, जैसे शुनःशेप विश्वामित्र का बेटा बना था[११०] ( ऐ० ब्रा० ३३।५ )। कृत्रिम और स्वयंदत्त दोनों में पुत्र बनने वाले प्रायः अनाथ होते हैं, इन दोनों में केवल इतना ही अन्तर है कि पहले में पुत्रीकरण का प्रस्ताव पिता की ओर से तथा दूसरे में लड़के की ओर से किया जाता है। अपविद्ध भी पुत्रीकरण का एक रूप है[१११]। माता पिता द्वारा छोड़ दिया जाने पर अनाथ बच्चा अस्वामिक होता है, इस पर इसे प्राप्त करने वाले का अधिकार होता है।

पुत्रीकरण का प्राचीन काल में अधिक प्रचलन न था, आपस्तम्ब ने पुत्रों के दान और क्रय का बड़े स्पष्ट शब्दों में निषेध किया था (२।६।१३।१२)। वसिष्ठ ने यद्यपि इस मत का खण्डन करते हुए (१५।१ अनु०) दत्तक पुत्र की विधि का कुछ विस्तार से उल्लेख किया, किन्तु समाज में अन्य पुत्रों का अधिक

---

१०८. बौधा० २।३।२६, वसिष्ठ १७।३०, विष्णु० १५।२०-२१, कौटिल्य ३।७, मनु० ९।१७४, याज्ञवल्क्य २।१३१। शुनः शेप के लिये दे० ऐ० ब्रा० ३३।३ तथा वसिष्ठ १७।३१ हरिश्चन्द्रो ह वै राजा सोऽजीगर्त्तस्य सौयवसेः पुत्रं चिक्राय।

१०९. बौधा० २।२।२५ सदृशं यं सकामं स्वयं कुर्यात्स कृत्रिमः। कौटिल्य ३।७, मनु० ९।१६९।

११०. बौधा० २।२।३२ मातापितृविहीनो यः स्वयमात्मानं दद्यात् स स्वयंदत्तः। वसिष्ठ १७।३३-३५ विष्णु० १५।२२-२३, कौटिल्य, ३।७ मनु ९।१७७, या० २।१३१। इसके उदाहरण के लिये दे० शुनः शेप की प्रार्थना ऐ० ब्रा० ३३।५ यथैवांगिरसः सन्नुपेयां तव पुत्रताम्।

१११. या० २।१३२ उत्सृष्टो गृह्यते यस्तु सोऽपविद्धो भवेत्सुतः, बौधा० २।२।२७, वसिष्ठ १७।३७-३८, विष्णु० १५।२४-२६, कौटिल्य ३।७ मनु ९।१७१।

प्रचलन होने से उस ने दत्तक को आठवां स्थान दिया। मनु, गौतम और बौधायन के अतिरिक्त अन्य सब शास्त्रकार उसे बहुत पीछे स्थान देते हैं। मध्ययुग में नियोग तथा अन्य प्रकार के पुत्रों के निषेध से औरस के अतिरिक्त मुख्यरूप से दत्तक पुत्र का ही रिवाज रह गया। अतः यहां इस का उल्लेख किया जायगा।

## दत्तक पुत्र

वर्त्तमान हिन्दू परिवार में इस का विशेष महत्त्व है। औरस के अतिरिक्त यही एक मात्र वैध पुत्र है। अपरार्क, देवण्ण भट्ट, शौनक, माधवाचार्य, नीलकण्ठ आदि सभी मध्यकालीन शास्त्रकारों ने इस के अतिरिक्त क्षेत्रज आदि अन्य सभी गौण पुत्रों को कलिकाल में वर्जित ठहराया है[११२]। प्राचीनकाल में इस का प्रचलन कम होने से इस के सम्बन्ध में बहुत थोड़ी व्यवस्थायें मिलती हैं, उन की व्याख्या में निबन्धकारों ने असाधारण बुद्धि कौशल प्रदर्शित किया है और वर्त्तमान न्यायालयों के विद्वान् विचारपतियों ने अपने ऊहापोह द्वारा परस्पर विरोधी निर्णयों से इस विषय को अत्यन्त जटिल बना दिया है[११३]। जहां एक ओर मध्यकालीन शास्त्रकार वसिष्ठ स्त्री द्वारा दत्तक पुत्र ग्रहण करने के एक ही वाक्य की चार प्रकार से व्याख्या करते हैं (पृ० ५०३), वहां दूसरी ओर प्रिवी कौन्सिल ने इस संबन्ध में अपने पचास वर्ष पुराने निर्णयों के प्रतिकूल फैसले दिये हैं। इससे पुत्री करण ( Adoption ) वर्त्तमान समय में अत्यन्त जटिल गोरख धन्धा बन गया है, अतएव काणे के शब्दों में यह हिन्दू कानून में मुकद्दमेबाजी की सब से उर्वर क्षेत्र बना हुआ है (हि ध० भाग २, खं० ३, पृ० ६६५)। यहां केवल दत्तक पुत्र के विकास तथा इसके सम्बन्ध की स्थूल व्यवस्थाओं का निर्देशमात्र किया जायगा।

---

११२. अप० पृ० ७३९ पुत्रप्रतिनिधीनां मध्ये दत्तक एव कलियुगे ग्राह्यः। अत एव कलौ निवर्त्तन्त इत्यनुवृत्तौ शौनकेनोक्तम्—'दत्तौरसेतरेषां तु पुत्रत्वेन परिग्रहः। स्मृच० २८९ एवं च गौणपितृद्वारा धनागमनं कलौ दत्ताख्यं पुत्रं प्रत्येव। परामा० पृ० ५२२। व्यम० पृ० ४७ अत्र दत्तकभिन्ना गौणाः पुत्राः कलौ वर्ज्याः।

११३. इस विषय के विस्तृत विवेचन के लिये दे० टैगोर ला व्याख्यानमाला में गोलापचन्द्र सरकार शास्त्री का एडोप्शन द्वितीय संस्करण कलकत्ता १९१६।

वैदिक युग में औरस पुत्र की आकांक्षा की जाती थी। अग्नि से यह कहा जाता था कि दूसरे का पुत्र अपनी सन्तान नहीं हो सकता, मूर्ख का ही ऐसा पुत्र होता है, दूसरे के पुत्र न तो लेना चाहिये और न उसके लेने की बात मन में लानी चाहिये[११४]। किन्तु औरस पुत्र की प्रधानता होते हुए भी, उस युग में दत्तक पुत्र की सत्ता के कुछ संकेत मिलते हैं। तै० सं० (७।१।८।१) में यह वर्णन है कि अत्रि ने और्व को अपना इकलौता बेटा दिया। ऐतरेय ब्राह्मण में विश्वामित्र द्वारा १०१ पुत्र होते हुए भी शुनःशेप को देवरात के नाम से अपना सन्तान बनाने का उल्लेख है[११५]।

प्रायः सभी धर्मसूत्रों और स्मृतियों में दत्तक पुत्र का उल्लेख है। आपस्तम्ब ही ऐसा सूत्रकार है, जो पुत्र के दान और क्रय का विरोधी होने से (२।१३।१०) इस का कोई वर्णन नहीं करता। वसिष्ठ अन्य शास्त्रकारों की भांति इसके नामोल्लेख से सन्तुष्ट नहीं; किन्तु नौ सूत्रों में (१५।१-९) पुत्रीकरण की विविध व्यवस्थाओं का प्रतिपादन करता है। ये सूत्र दत्तक पुत्र की परवर्त्ती विवेचना का मूल आधार हैं। दत्तक पुत्र के दर्जे के सम्बन्ध में सूत्रकारों में मतभेद है। गौतम (२८।३२-३३), बौधा० (२।२।३।३१-३२) मनु (९।१५९, १६०) इसे औरस तथा क्षेत्रज पुत्र के बाद बारह पुत्रों में तीसरा स्थान देते हैं। किन्तु इसका विशद प्रतिपादन करने वाला वसिष्ठ (१७। २६, २८) इसे आठवां स्थान देता है, विष्णु का भी यही मत है (१५।१८)। याज्ञवल्क्य (२।१२८-३२) ने इसे सातवां और कौटिल्य (३।७) तथा नारद (१३।४५-४७) ने नवां स्थान दिया। विभिन्न स्मृतियों में दत्तक पुत्र के दर्जे का यह अन्तर सम्भवतः स्थानीय रीति रिवाजों की विभिन्नता का परिणाम था[११६]। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि नारद स्मृति का टीकाकार असहाय (६०० ई०) और याज्ञवल्क्य स्मृति का भाष्यकर्त्ता

---

११४. ऋ० ७।४।७ न शेवो अग्ने अन्यजातमस्त्यचेतानस्य; ऋ० ७।४।८ न हि ग्रभायारणः सुशेवोऽन्योदर्यो मनसा मन्तवाउ।

११५. अथ ह शुनःशेपो विश्वामित्रस्यांकमाससाद स होवाचाजीगर्त्तः सौयवसिर्ऋषे पुनर्मे पुत्रं देहीति नेति होवाच विश्वामित्रो देवा वा इमं मह्यमरासतेति स ह देवरातो वैश्वामित्र आस।

११६. जायसवाल—मनु एण्ड याज्ञवक्य पृ० २५२, मेन—हिन्दू ला, पृ० १९४

विश्वरूप (८०० ई०) अपनी मूल स्मृतियों के विरोध में दत्तक को तीसरा स्थान देते हैं (मेन-हिन्दू ला पृ० १९४)।

मध्यकाल में दत्तक प्रथा की परिपाटी इतनी प्रबल हुई कि औरस के अतिरिक्त अन्य सभी प्रकार के पुत्र निषिद्ध ठहराये गये। ऊपर इस सम्बन्ध में अनेक शास्त्रकारों की व्यवस्था का उल्लेख हो चुका है। उस समय दत्तक पुत्र की प्रथा लोकप्रिय होने के सम्बन्ध में मेन की कल्पना युक्तियुक्त प्रतीत होती है[११७]। उसके मतानुसार इस समय विभिन्न राज्यों में पारस्परिक संग्राम होने तथा इन में सामन्तों की मृत्यु से बड़ी ज़मींदारियों और छोटी रियासतों के उत्तराधिकार का प्रश्न बड़ा जटिल हो गया। ऐसे संकटपूर्ण समय में जायदाद को अपने कुल में सुरक्षित रखने का उपाय दत्तक पुत्र बनाना था, अन्यथा

---

११७. मेन—वही पृ० १९५। दत्तक प्रथा के प्रसार के अन्य कारण नियोग की प्रथा का न रहना, विधवा पुर्नविवाह को बुरा समझा जाना तथा विवाह से पूर्व कन्या के अक्षतयोनि होने पर बल देना था। इस के अतिरिक्त, यह प्रथा आर्यों के अन्य जातियों के साथ सम्पर्क में आने का परिणाम भी हो सकती है। (इरावती कर्वे—किनशिप टर्म्ज़ इन दी महाभारत पृ० १३३)। वर्तमान समय में दत्तक प्रथा लगभग सभी आदिम जातियों में पायी जाती है। (सुमनेर केलर एण्ड डेवी-पू० नि० पु० खं० ३ पृ० १९२३-२६)। सुमनेर ने इस पद्धति के व्यापक प्रसार का एक कारण मातृतन्त्र ( Matriarchy ) बताया है, इस व्यवस्था में पत्नी पति के घर में न रहकर पिता के घर पर ही ही रहती है और बच्चे अपने ननिहाल में पलते और सम्पत्ति का स्वामी होते हैं (दे० ऊ० पृ० ३२८-२९)। इस प्रणाली में अपनी सम्पत्ति पर पुत्रों को अधिकार देने का एक उपाय दत्तक प्रथा है, अपनी बहिन द्वारा औरस पुत्र गोद लेकर व्यक्ति पैतृक सम्पत्ति अपने बच्चों को दे सकता है। (सुमनेर—वहीं)। यद्यपि दत्तक प्रथा प्राचीन क्रीट व चीन में प्रचलित थी (इंसाइक्लोपीडिया आफ् रिलीजन एण्ड ईथिक्स खण्ड १ पृ० ११४,१०७) किन्तु पुरानी आर्य जातियों में यूनान और रोम के अपवाद को छोड़ कर इसका कहीं प्रसार नहीं था (इंसा० सो० सा० खं० १, पृ० ४६१)। आधुनिक योरोप में सर्वप्रथम नैपोलियन कोड में रोमन आदर्श पर फ्रांस में इसे ग्रहण किया गया और बाद में अन्य योरोपियन देशों में इसका प्रसार हुआ (इंसा० सो० सा० वहीं)।

सामन्त के युद्ध में मरने पर उसकी पत्नी अथवा अन्य उत्तराधिकारियों को जायदाद पर अपना हक़ साबित करने में काफी परेशानी उठानी पड़ती थी। दत्तक पुत्र बना लेने पर सम्पत्ति निर्विवाद रूप से मृतक के कुल में बनी रहती थी। इस कल्पना की पुष्टि इस बात से भी होती है कि शौनक ने पुत्रीकरण की विधि में राजा को बुलाने तथा मधुपर्क से सम्मानित करने की बात लिखी है[११८]। हिन्दू परिवार में मध्यकाल में दत्तक पुत्र की प्रथा सर्वमान्य होने पर १७वीं शताब्दी से इस पर स्वतन्त्र निबन्ध लिखे जाने लगे। इन में नन्द पण्डित (१५९५-१६३०) की दत्तक मीमांसा और देवण्ण भट्ट की दत्तकचन्द्रिका उल्लेखनीय हैं। प्रिवी कौन्सिल के निर्णयानुसार आजकल पुत्रीकरण के सम्बन्ध में ये परम प्रमाण हैं, इन दोनों में मत भेद होने पर बंगाल और दक्षिण भारत में पहले ग्रन्थ का तथा मिथिला और बनारस में दूसरे ग्रन्थ का अनुसरण किया जाना चाहिये (१२ मूर इं० ए० ३९७ पृ० ४३७)। इन के अतिरिक्त अत्रि, शौनक, शाकल और कालिका पुराण के वचनों को उद्धृत करते हुए व्यवहार मयूख (१६१०-६० ई०), संस्कारकौस्तुभ आदि ग्रन्थों में भी इस विषय का प्रतिपादन है।

पुत्रीकरण के सम्बन्ध में प्रधान रूप से निम्न प्रश्न विचारणीय हैं—(१) पुत्रीकरण के प्रयोजन (२) दत्तक पुत्र बनाने का कानूनी अधिकार किन व्यक्तियों को है (३) दत्तक बनने के लिये पुत्र देने का किन व्यक्तियों को अधिकार है। (४) दत्तक कौन हो सकता है? (५) दत्तक पुत्र बनाने की की आवश्यक विधियां (६) दत्तक पुत्र बनने के परिणाम (७) दत्तक पुत्र बनाने के अन्य प्रकार।

**पुत्रीकरण के प्रयोजन**—इसके प्रयोजन दो प्रकार के हैं। (१) धार्मिक (२) लौकिक। बालम्भट्टी (या० २।१३५) में मनु, बृह० यम के तथा दत्तक मीमांसा (पृ० ३) में अत्रि के नाम से उद्धृत किये गये श्लोकों में इसके प्रयोजन भली-भाँति स्पष्ट किये गये हैं[११९]। यम के मतानुसार अपुत्र व्यक्ति को जिस

११८. दत्तक मीमांसा पृ० ७२ पर उद्धृत—मधुपर्केण संपूज्य राजानं च द्विजान् शुचीन्।

११९. अपुत्रेण सुतः कार्यो यादृक् तादृक् प्रयत्नतः। पिण्डोदकक्रियाहेतोर्नाम संकीर्त्तनाय च॥ धर्मकोश व्यवहार काण्ड भाग २ पृ० १३१६, पृ० १३४८, पृ० १३५२ पर क्रमशः मनु, बृहस्पति और यम के वचन दिये गये हैं। इसी ग्रन्थ के पृ० १३५२ पर अत्रि का इससे मिलता हुआ वचन है।

किसी तरह प्रयत्नपूर्वक निम्न प्रयोजनों के लिये पुत्र बनाना चाहिये—(१) पिण्डदान अथवा श्राद्ध करने के लिये (२) जल द्वारा पितरों का तर्पण करने के लिये (३) दाहादि संस्कार के निमित्त ( क्रियाहेतोः ) (४) वंश का नाम चलाते रहने के लिये। इसमें पहले तीन प्रयोजन धार्मिक हैं और चौथा लौकिक। अत्रि ने धार्मिक प्रयोजनों का ही वर्णन किया है। प्रिवी कौन्सिल ने अपने एक निर्णय ( ६० इं० ए० पृ० २४२ ) में मनु ९।१०६-७, १३७-३८ के आधार पर पुत्रीकरण का प्रधान प्रयोजन धार्मिक ही माना है।

किन्तु दत्तक प्रथा का प्राचीन इतिहास और वर्त्तमान स्थिति यह सूचित करती है कि इसमें वंश रक्षण और धन प्राप्ति के लौकिक प्रयोजन भी महत्व-पूर्ण रहे हैं। बौधायन गृह्य शेष सूत्र के अनुसार पुत्र को ग्रहण करते हुए कहा जाता है—मैं तुझे धर्म और सन्तति के लिये ले रहा हूँ (धर्माय त्वा प्रति-गृह्णामि, संतत्यै त्वा प्रतिगृह्णामि)। आगे यह बताया जायगा कि प्राचीन साहित्य में वंशरक्षा की दृष्टि से लड़कियों को गोद लेने के अनेक दृष्टान्त मिलते हैं। मेन ने पंजाब के जाटों, सिक्खों तथा तामिल जाति के ऐसे उदाहरण दिये हैं, जहां वंश परम्परा बनाये रखने के लिये दत्तक पुत्र लेने की परिपाटी है ( हिन्दू ला पृ० १९७)। शुक्रनीति में कहा गया है कि धनी व्यक्ति को देखकर ही मनुष्य दत्तक पुत्र बनना चाहते हैं[१२०]। आजकल दत्तक पुत्र लेने वाला भले ही धार्मिक प्रयोजन से यह कार्य करे, किन्तु दत्तक पुत्र बनने वाले तथा उसके माता पिता के मन में अनायास सम्पत्ति पाने की आकांक्षा ही प्रधान होती है। विधवायें प्रायः अपने पति के भाई, भतीजों से विद्वेष के कारण दत्तक पुत्र से सम्पत्ति की साझीदारी का समझौता कर आर्थिक दृष्टि से लाभ उठाने के लिये ही कोई लड़का गोद लेती हैं ( काणे हि० ध० ३।६६६)। अतः वर्त्तमान युग में हिन्दू परिवार में दत्तक पुत्र ग्रहण करने में लौकिक प्रयोजन की प्रधानता प्रतीत होती है।

**दत्तक पुत्र बनने के अधिकारी**—१६ वर्ष की आयु पूर्ण कर लेने पर किसी हिन्दू पुरुष को अथवा उस की ओर से उसकी विधवा को पुत्र गोद लेने का अधिकार है। किन्तु इसके लिये यह आवश्यक है कि गोद लेते समय उसका कोई पुत्र न हो। दत्तक मीमांसा में यह बताया गया है कि पुत्र का अर्थ प्रपौत्र

---

१२०. शुक्रनीति २।३१ ते दत्तकत्वमिच्छन्ति दृष्ट्वा यद् धनिकं नरम्।

पर्यन्त सन्तान है[१२१]। सामान्यतः इसके अभाव में दत्तक पुत्र लिया जाता है। किन्तु यदि ऐसी इकलौती औरस सन्तान हो, जो पतित, संन्यासी या हिन्दू धर्म छोड़ चुकी हो, दूसरे को दत्तक बनने के लिये दी जा चुकी हो, जिसका केवल अवैध पुत्र ही हो, तो ऐसे व्यक्ति भी दत्तक पुत्र ग्रहण कर सकते हैं। दत्तक पुत्र की व्यवस्था पिण्डदान और वंशरक्षा के लिये है, अतः अविवाहित (१२ बं० ३२९) और विधुर भी लड़का गोद ले सकते हैं। संन्यासी और नपुंसक दत्तक पुत्र नहीं ले सकते, किन्तु कोढ़ी पुरुष को पुत्रीकरण का अधिकार है।

मध्यकाल में शूद्रों द्वारा दत्तक पुत्र ग्रहण करने के सम्बन्ध में दो पक्ष थे। पहला पक्ष रुद्रधर और वाचस्पति का था[१२२]। ये शूद्र को इस का अनधिकारी मानते थे, क्योंकि पुत्रीकरण की विधि में होम आवश्यक था। शूद्र वेदाध्ययन का अधिकारी न होने से इसे नहीं कर सकता था, अतः उसके लिये लड़का गोद लेना संभव न था। दूसरा पक्ष कमलाकर, रघुनन्दन, नीलकण्ठ और नन्द पंडित का था। ये शूद्र को गोद लेने का अनधिकारी नहीं मानते थे, क्योंकि शूद्र यद्यपि स्वयं होम नहीं कर सकता था, किन्तु ब्राह्मण से करवा सकता था। वर्त्तमान न्यायालयों ने इसी पक्ष को स्वीकार करते हुए शूद्रों द्वारा लड़का गोद लेने का अधिकार स्वीकार किया है।

किसी पुरुष के निःसन्तान मर जाने पर उसके लिये पुत्र गोद लेने का अधिकार केवल विधवा को है। इस अधिकार के स्वरूप के सम्बन्ध में शास्त्रकारों में प्रबल मतभेद और चार विभिन्न पक्ष हैं। इन सब का आधार वसिष्ठ का एक वचन है—'पति की अनुमति के विना न दूसरे को लड़का दे और न दूसरे से लड़का ले[१२३]। इस वचन की व्याख्या में निबन्धकारों ने

१२१. दमी० पृ० ३, अपुत्रोऽजातपुत्रो मृतपुत्रो वा। 'अपुत्रो मृतपुत्रो वा पुत्रार्थं समुपोष्य च' इति शौनकीयात्'........अपुत्रेण इति पुत्रपदं पौत्रप्रपौत्रयोरप्युपलक्षकम्।

१२२. निर्णय सिन्धु (पूर्वार्ध पृ० २४९) यत्तु समन्त्रकहोमस्य पुत्रप्रतिग्रहांगत्वात् व्याहृत्यादिमंत्रपाठे च स्त्रीशूद्रयोरनधिकारात् तयोर्दत्तकः पुत्रो न भवत्येवेति शुद्धिविवेके रुद्रधरेणोक्तम्। वाचस्पतिश्चैवमाह। तन्न।...स्त्रियाश्च होमासंभवस्तथापि व्रतादिवद्विप्रद्वारा होमादि कारयेदिति हरिनाथादयः। सम्बन्धतत्वेऽप्येवम्। एवं शूद्रस्यापि। मि० दमी० पृ० १९,२२-२३ व्यम० ११२

१२३. वसिष्ठ १५।५ न स्त्री पुत्रं दद्यात्प्रतिगृह्णीयाद्वा अन्यत्रानुज्ञानाद्भर्त्तुः।

बहुत अधिक बुद्धि पाटव प्रदर्शित किया है। इन्हें चार बड़े पक्षों में बांटा जा सकता है —(१) नन्द पण्डित और मिथिला के वाचस्पति आदि लेखक विधवा को गोद लेने का कोई अधिकार नहीं मानते। उनकी दो मुख्य युक्तियां हैं— पहली तो यह कि अत्रि ने कहा है–अपुत्र व्यक्ति द्वारा ही पुत्र का स्थानापन्न (दत्तक पुत्र) बनाना चाहिये (अपुत्रेणैव कर्त्तव्यः पुत्रप्रतिनिधिः सदा), यहां अपुत्र पुंल्लिग है, अतः पुरुष द्वारा ही लड़का गोद लिया जाना चाहिये, स्त्री को यह अधिकार नहीं है [१२४]। इसकी पुष्टि वसिष्ठ के उक्त वचन द्वारा की गयी है। दूसरी युक्ति यह है कि पुत्रीकरण के लिये होम आवश्यक है, स्त्रियां वेदाध्ययन का अधिकार न होने से इसे नहीं कर सकती, अतः दत्तक पुत्र भी नहीं ले सकती[१२५]। मिथिला में आजकल विधवा किसी दशा में लड़का गोद नहीं ले सकती।

(२) दूसरा पक्ष बंगाल और बनारस में प्रचलित है। इस में यह माना जाता है कि वसिष्ठ के उक्त वचन में बतायी गयी पति की अनुमति पुत्रीकरण के समय प्राप्त करना आवश्यक नहीं, यह उससे बहुत पहले, पति की जीवित दशा में भी ली जा सकती है (मुसम्मात तारा मणि बनाम देवनारायण ३ सदर दीवानी ३८७, ५१६)।

(३) तीसरा पक्ष मद्रास में प्रचलित है। इसमें विधवा पति की आज्ञा के विना भी लड़का गोद ले सकती है। किन्तु उसके पति के संयुक्त परिवार का सदस्य होने पर उसे अपने श्वशुर की या उस समूचे परिवार के सब शरीकों की अनुमति प्राप्त करना आवश्यक है, यदि उसका पति परिवार से पृथक हो चुका था तो उसे अपने श्वशुर से या उसके मृत होने की दशा में पति के अधिकांश सपिण्डों से अनुज्ञा लेनी चाहिये (१२ म्यूर इंडियन एपील्स ३९७, ४३५)

(४) चौथा पक्ष नीलकण्ठ, (व्यवहार मयूख), कमलाकर (निर्णय सिन्धु) और काशीनाथ (धर्मसिन्धु) का है; बम्बई तथा पश्चिमी भारत में प्रचलित है। इसके अनुसार वसिष्ठ का उक्त वचन पति के जीवित रहने की दशा में ही लागू होता है, विधवा के लिये पति की अनुज्ञा आवश्यक नहीं। यदि पति ने स्पष्ट

---

१२४. दत्तक मीमांसा पृ० ७ अपुत्रेण इति पुंस्त्वश्रवणात् न स्त्रिया अधिकार इति गम्यते।

१२५. वही पृ० २२-२३ किं च....होमकर्त्तुरेव प्रतिग्रहसिद्धे स्त्रीणां होमानधिकारित्वात् परिग्रहानधिकारः—इति वाचस्पतिः।

रूप से निषेध नहीं किया तो उसकी अनुमति ही समझी जानी चाहिये। दत्तक चन्द्रिका ने इसे इस 'न्याय' से पुष्ट किया—'दूसरे के मत का यदि निषेध न किया जाय तो उसे अनुमति ही समझा जाना चाहिये[१२६]।

प्राचीन आचार्यों में ही विधवा के पुत्रीकरण के अधिकार के सम्बन्ध में मतभेद रहा हो, सो बात नहीं; आजकल विभिन्न हाईकोर्टों तथा प्रिवीकौंसिल के परस्पर विरोधी निर्णयों ने इस विषय को बहुत जटिल बना दिया है। उदाहरणार्थ बम्बई के उच्च न्यायालय की फुल बेंच ने अपने एक निर्णय ( राम जी ब० घमऊ ६ बं० ४९८ ) में यह व्यवस्था की थी कि जिस विधवा का पति मरते समय संयुक्त परिवार का सदस्य हो, वह अपने पति की, अथवा पति के समांशी दायादों की सहमति के विना लड़का गोद नहीं ले सकती। इस निर्णय के पचास वर्ष बाद प्रिवी कौंसिल ने भीमा बाई ब० गुरुनाथ गौड ( ला० रि० ६० इं० ए० पृ० २५ ) के मामले का निर्णय करते हुए बम्बई हाई कोर्ट की व्यवस्था अमान्य ठहरायी और संयुक्त परिवार की विधवा को पति की सहमति के विना लड़का गोद लेने का अधिकार दिया। इसी प्रकार बम्बई हाईकोर्ट ने पहले यह निर्णय किया था कि संयुक्त परिवार की साझेदारी (Coparcenary) यदि एक वार भंग हो जाय, सम्पत्ति अगले वारिस को पहुँच जाय तो मृत समांशी की विधवा का दत्तक पुत्र ग्रहण करना यद्यपि वैध है, किन्तु संयुक्त सम्पत्ति दत्तक पुत्र को नहीं लौट सकती (इं० ला० रि० १९३७ बं० ५०८)। पर नागपुर ( इं० ला० रि० १९४१ ना० ७०७ ) तथा मद्रास ( इं० ला० रि० १९४३ म० ३०९ ) हाईकोर्टों ने उपर्युक्त निर्णय के सर्वथा प्रतिकूल दत्तक पुत्र को संपत्ति लौटने का तथा उस द्वारा पुनर्विभाग करवाने का अधिकार माना है। प्रिवी कौन्सिल ने अनन्त ब० शंकर (४६ बं० ला० रि० १) के मामले में मद्रास और नागपुर हाईकोर्टों के निर्णयों का समर्थन किया है। इससे यह स्थिति पैदा हो गयी है कि पुत्र के अभाव में भाई आदि के पास गयी जायदाद ५० वर्ष बाद भी विधवा के दत्तक पुत्र बना लेने से उसे लौट सकती है। इन निर्णयों का यह

---

१२६. व्यम० पृ० ११३ भर्त्रनुज्ञया तु सधवाया एव दृष्टार्थत्वात्। विधवायास्तु तां विनापि पितुस्तदभावे ज्ञातीनामाज्ञया भवति।....अतो विधवाया भर्तुराज्ञां विनाप्यधिकारः। दच० पृ० १८ स्त्रियास्तु जीवति भर्त्तरि तदनुमतौ। प्रोषिते मृते वा तदनुज्ञां विनापि। यथा वसिष्ठः न स्त्री... भर्तुः। इति। अनुमतिश्चाप्रतिषेधेऽपि भवति। अप्रतिषिद्धं परमतमनुमतं भवतीति।

परिणाम हुआ है कि संयुक्त परिवार की सम्पत्ति पाने वाले दायादों को यह खतरा पैदा हो गया है कि उन से यह जायदाद बाद में बनाये दत्तक पुत्र छीन सकते हैं, अतः वे उसे जल्दी बेचना चाहते हैं, खरीदने वाले भावी विवाद की आशंका से उस का पूरा दाम नहीं देते। अतः जिन संयुक्त परिवारों में पूर्वमृत समांशियों की विधवायें हैं, उनकी जायदाद बाज़ार में आसानी से बिक नहीं सकती, बिकती है तो पूरा मूल्य नहीं मिलता। इस तरह संयुक्त परिवार की सम्पत्ति बरबाद होती है[१२७]।

**दत्तक पुत्र को देने के अधिकारी**––दत्तक बनाने के लिये दूसरे व्यक्ति को अपना पुत्र देने का अधिकार उस के पिता और माता को है। याज्ञ० ने दोनों द्वारा दतक के दिये जाने का उल्लेख किया है। माता, पिता की अनुमति से ही पुत्र को दे सकती थी, यह वसिष्ठ के ऊपर उद्धृत किये वचन (१५।५) से स्पष्ट है। विज्ञानेश्वर पति के विदेशस्थ होने अथवा उस की मृत्यु पर ही पत्नी को पुत्र देने का अधिकार मानता है[१२८]। यह निश्चित है कि पिता को ही पुत्र देने का पूर्ण अधिकार है, वह पत्नी से विना पूछे यह कर सकता है, यद्यपि वह इसमें प्रायः उससे अनुमति ले लेता है ( ५ सदर दीवानी ३५६ ( ४१८ ) । बम्बई हाईकोर्ट के अनुसार हिन्दू पिता धर्मान्तर स्वीकार कर लेने पर भी अपने हिन्दू पुत्र को दूसरे को देने का अधिकार रखता है ( शामसिंह ब० शान्ता बाई २५ बं० ५५१ ) । माता पिता के अतिरिक्त कोई अन्य सम्बन्धी, सौतेली माता, भाई आदि पुत्रीकरण के लिये लड़का नहीं दे सकते। पुर्नविवाह करने पर विधवा को अपने पहले पति के लड़के को देने का अधिकार नहीं रहता।

**दत्तक पुत्र कौन बन सकता है?**––इस विषय में शास्त्रकारों ने अनेक प्रतिबन्ध लगाये हैं, वर्त्तमान न्यायालयों ने उन्हें स्वीकार किया। इस संबन्ध में मुख्य नियम निम्न हैं––

---

१२७. यह प्रकरण पाण्डुरंग वामन काणे की हिस्टरी आफ़ धर्मशास्त्र खण्ड ३ पृ० ६७०-७४ के आधार पर लिखा गया है। विधवा के पुत्रीकरण के अधिकार के विस्तृत विवेचन के लिये दे० मेन––हिन्दू ला पृ० २०९-२३९

१२८. या० २।१३० दद्यान्माता पिता वा यं स पुत्रो दत्तको भवेत्। मि० मनु० ९।१६८ माता पिता वा दद्यातां यमद्भिः पुत्रमापदि। वसिष्ठ १५।२ तस्य प्रदानविक्रयत्यागेषु मातापितरौ प्रभवतः। मिता० या० २।१३० पर–मात्रा भर्त्रनुज्ञया प्रोषिते प्रेते वा भर्त्तरि।

(१) गोद लिया जाने वाला व्यक्ति लड़का होना चाहिये—प्राचीन काल में लड़कियों को गोद लेने के अनेक दृष्टान्त मिलते हैं। दशरथ की कन्या शान्ता को राजा लोमपाद ने, ( वा० रा० १।९ ) तथा शूर की लड़की पृथा को कुन्तीभोज ने ( महाभा० १।१११।२-३ ) अपनी कन्या बनाया था। इन उदाहरणों के आधार पर दत्तक मीमांसा ( पृ० ११२-१६ ) और संस्कार कौस्तुभ ( पृ० १८८ ) यह मानते हैं कि लड़कियों को भी गोद लिया जा सकता है। किन्तु नीलकण्ठ ने मनु के 'स ज्ञेयः कृत्रिमः सुतः' (९।१६८) के आधार पर उसका लड़का होना ही माना है, वर्तमान न्यायालय इस विषय में व्यवहार मयूख को ही प्रमाण मानते हैं, दत्तक मीमांसा को नहीं[१२९]।

(२) सपिण्डता—शौनक के मतानुसार ब्राह्मणों को सपिण्ड अर्थात् सातवीं पीढ़ी तक के पुरुषों में से ही दत्तक पुत्र ग्रहण करना चाहिये, इनके अभाव में असपिण्डों में से भी इसे लिया जा सकता है, क्षत्रियों में सजातीय, समान गुरु अथवा समान गोत्र वालों का पुत्रीकरण हो सकता है[१३०]। दत्तक मीमांसा ने ( पृ० २४-५४ ) इसकी व्याख्या करते हुए पुत्र के चुनाव के लिये निम्न क्रम निश्चित किया है (१) समान गोत्र सपिण्ड, (२) असमान गोत्र सपिण्ड (नाना के कुल के व्यक्ति), (३) सोदक (७वीं से १४ वीं पीढ़ी तक के व्यक्ति) तथा समान गोत्र (४) असमानोदक सगोत्र (५) असमानोदक असगोत्र। इनमें पहले के न होने पर अगले वर्ग के सम्बन्धियों में से चुनाव किया जाता है। इनका क्रम प्रत्यासत्ति अर्थात् रक्त सम्बन्ध द्वारा समीपता के आधार पर ही निश्चित

---

१२९. व्यम० पृ० १०८९ दत्तकश्च पुमानेव भवति न कन्या। 'स ज्ञेयः कृत्रिमः सुतः' इति संज्ञासंज्ञिसंबन्धबोधकवाक्यगतेन स इति सर्वनाम्ना मातापितृकर्तृकप्रीतिजलगुणकापन्निमित्तकदानकर्मीभूतसजातीयपुंस एव। गंगा बाई ब० अनन्त १३ बं० ६९०। किन्तु कुमाऊँ में रिवाज के आधार पर लड़की भी गोद ली जाती है ( पन्नालाल—कुमाऊँ लोकल कस्टम्ज़ ) आसाम की मातृमूलक खासी जातियों में तथा ट्रावन्कोर के राजकुल में वंश का सातत्य बनाये रखने के लिये लड़की गोद ली जाती है ( गुर्डन-खासी पृ० ८५, थर्सटन-कास्टस् एण्ड ट्राइब्स आफ् सदर्न इंडिया खं० ४ पृ० ८२ )।

१३०. दमी० पृ० २४ में उद्धृत-ब्राह्मणानां सपिण्डेषु कर्त्तव्यः पुत्रसंग्रहः। तदभावे ऽसपिण्डे वा अन्यत्र तु न कारयेत्॥ क्षत्रियायां स्वजातौ वा गुरुगोत्रसमेऽपि वा।

किया गया है। वसिष्ठ ने इस सिद्धान्त का अपने एक सूत्र में इस प्रकार निर्देश किया है कि पास के सम्बन्धियों को ही दत्तक पुत्र बनाना चाहिये; मिताक्षरा ने इसका अर्थ यह किया है कि गोद लिया जाने वाला दूर देशवासी और दूर की भाषा बोलने वाला नहीं होना चाहिये[१३१]। वर्त्तमान न्यायालय इन नियमों को आवश्यक नहीं समझते और निकटस्थ सम्बन्धियों के रहते हुए भी दूरस्थ व्यक्ति को दत्तक बनाना स्वीकार करते हैं ( १० बं० ८०, बाबा जी बनाम भागीरथी बाई ६ बं० हा० को० ७० )।

(३) सवर्णता—शौनक ने कहा है कि दत्तक पुत्र अपनी ही जाति का होना चाहिये, दूसरे वर्ण का नहीं[१३२]। मेधातिथि का मत इससे भिन्न है, वह मनु के ९।१६८ में आये सदृश शब्द का अर्थ सजातीय नहीं, किन्तु गुणों से अनुरूप होना करता है, अतः क्षत्रिय समान गुण होने पर ब्राह्मण का दत्तक पुत्र बन सकता है। विज्ञानेश्वर, कुल्लूक आदि अन्य टीकाकार और नीलकण्ठ इससे सहमत नहीं, वे सवर्णता की शर्त्त आवश्यक समझते हैं। धर्मसिन्धु सवर्णता के अतिरिक्त एक देश का होना अर्थात् गुर्जर ब्राह्मण के दत्तक पुत्र के लिये भी गुर्जर होने का बन्धन लगाता है। आधुनिक न्यायालय इस हद तक नहीं जाते, केवल सवर्णता का बन्धन आवश्यक समझते हैं, उपजाति का भेद होने पर भी दत्तक के पिता का वर्ण होने पर उस का पुत्रीकरण वैध मानते हैं (शिवदेव मिश्र ब० रामप्रसाद १९२४, ४६ अला० ६३७, ६४६ )।

(४) इकलौता पुत्र होना—प्राचीन स्मृतियों ने ऐसे पुत्र को दत्तक बनाने का निषेध किया। वसिष्ठ, (१५।३-४ ) और शौनक ने बड़े स्पष्ट शब्दों में यह व्यवस्था की है[१३३] और इस का कारण यह बताया है कि वह (इकलौता पुत्र ) पूर्वजों की वंश परम्परा चलाने के लिये होता है। वर्तमान न्याया-

---

१३१. वसिष्ठ १५।६ अदूरबान्धवं बन्धुसंनिकृष्टमेव गृह्णीयात्। मिता० या २।१३० पर—अदूरबान्धवमिति अत्यन्तदेशभाषाविकृष्टस्य प्रतिषेधः।

१३२. दमी० २८ सर्वेषां चैव वर्णानां जातिष्वेव न चान्यतः।

१३३. वसिष्ठ १५।३ न त्वेकं पुत्रं दद्यात्प्रतिगृह्णीयाद्वा स हि सन्तानाय पूर्वेषाम्। शौनक दमी ५४ नैकपुत्रेण कर्त्तव्यं पुत्रदानं कदाचन। बौधायन गृह्य शेष सूत्र में वसिष्ठ के ही वचन दुहराये गये हैं। रोम में अपने गोत्र के इकलौते बेटे को धार्मिक क्रियाओं (Sacra) के जारी रखने की दृष्टि से गोद नहीं लिया जा सकता था ( मेन-हिन्दू ला पृ० २४३ )।

लयों ने इसे मीमांसा (१।२।३६-२७) के सूत्रों के आधार पर वसिष्ठ के वचन के उत्तरार्ध को हेतु नहीं, किन्तु अर्थवाद माना है; अतः अब इकलौता बेटा भी गोद लिया जा सकता है। (२६ इं० ए० पृ० ११३, २४ बं० ३६७)।

विज्ञानेश्वर ने मनु ९।१०६ के आधार पर यह व्यवस्था की थी[१३४] कि ज्येष्ठ पुत्र को नहीं देना चाहिये, क्योंकि वही मुख्य रूप से पुत्र का कार्य करता है। वर्त्तमान काल में न्यायालयों ने इस व्यवस्था को आवश्यक नहीं माना (१ बं० ला० रि० १४४)। उन का प्रधान आधार व्यवहारमयूख द्वारा मिताक्षरा के मत का खण्डन है (व्यम० पृ० १०८)।

एक पुरुष एक से अधिक परिवारों में दत्तक नहीं बन सकता[१३४ क]। दो व्यक्तियों के भाई होने पर भी उन्हें एक व्यक्ति को ही पुत्र बनाने का अधिकार नहीं है (५२ इं० ए० २३१, २४२, २५२)।

(५) गोद लिये जाने वाले पुत्र की आयु के सम्बन्ध में प्राचीन शास्त्रकारों में प्रबल मतभेद है। विभिन्न आचार्यों द्वारा तीन वर्ष की अवस्था वाले बालक से विवाह के बाद सन्तान पैदा करने वाले प्रौढ़ आयु तक के पुरुष दत्तक पुत्र बनाने योग्य बतलाये गये हैं। दत्तक मीमांसा (पृ० ५८) में उद्धृत किये गये कालिकापुराण के वचनानुसार इस विषय में निम्न विभिन्न मत हैं[१३५]—(१) जातकर्म से चूड़ाकर्म (मुण्डन) तक जिसके सब संस्कार अपने उत्पादक पिता के घर पर हुए हों, वह गोद नहीं लिया जा सकता, चूड़ाकर्म तीसरे वर्ष होता है। (२) यदि किसी का चूड़ाकर्म और इसके बाद के संस्कार गोद लेने वाले के घर में हुए हैं तो वह दत्तक पुत्र बन सकता है। (३) पांच वर्ष के बाद बालक दत्तक पुत्र नहीं बन सकता (४)पांच वर्ष से अधिक

---

१३४. मिता० या० २।१३० पर—तथाऽनेक पुत्रसद्भावेऽपि ज्येष्ठो न देयः....ज्येष्ठेन जातमात्रेण पुत्री भवति मानवः (म० ९।१०६) इति। तस्यैव पुत्रकार्यकरणे मुख्यत्वात्।

१३४. क दमी० २५ अपुत्रेणेत्येकत्वश्रवणाच्च न द्वाभ्यां त्रिभिर्वा एकः पुत्रः कर्त्तव्य इति गम्यते।

१३५. (दमी ० ५८) आचूडान्तं न पुत्रः स पुत्रतां याति चान्यतः। चूडाद्याः यदि संस्काराः निजगोत्रेण वै कृताः। दत्ताद्यास्तनयास्ते स्युरन्यथा दास उच्यते। ऊर्ध्वं तु पंचमाद्वर्षान्न दत्ताद्याः सुताः नृप। गृहीत्वा पंचवर्षीयं पुत्रेष्टिं प्रथमं चरेत्।

आयु वाला पुत्रेष्टि संस्कार द्वारा ग्रहण किया जा सकता है। दत्तक चन्द्रिका (पृ० ३६) का मत है कि प्रथम तीन वर्णों के व्यक्ति उपनयन संस्कार तक तथा शूद्र विवाह से पहले तक दत्तक बनाया जा सकता है। नीलकण्ठ अपने पिता (शंकरभट्ट) के वचन के आधार पर कहता है कि विवाहित होने तथा पुत्र उत्पन्न करने के बाद भी पुरुष को गोद लिया जा सकता है[१३६]।

वर्त्तमान समय में बम्बई के अतिरिक्त सब प्रान्तों में ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य वर्णों में दत्तक पुत्र उपनयन से पहले तक और शूद्रों में विवाह से पूर्व तक बनाया जा सकता है (९ अला० २५३, ३२८, ५ पटना ७७७)। बम्बई प्रान्त में मयूख की उपर्युक्त व्यवस्था के कारण आयु का कोई बन्धन नहीं है, बम्बई हाईकोर्ट के निर्णयानुसार कोई व्यक्ति अपने से बड़ी आयु के पुरुष को दत्तक पुत्र बना सकता है (४८ बं० ३८७, ३८९)। पंजाब में रिवाज़ के आधार पर आयु का कोई बन्धन नहीं है। अग्रवाल जैनों में ३२ वर्ष की आयु तक व्यक्ति दत्तक पुत्र बन सकता है (५२ इं० ए० २३१, २४२)।

**दत्तकपुत्र न बनने योग्य संबन्धी**--भांजा आदि कुछ सम्बन्धियों को स्मृतिकारों ने तथा वर्त्तमान न्यायालयों ने दत्तक पुत्र बनने के अयोग्य ठहराया है। इन के वर्जन का मूल आधार शौनक की यह व्यवस्था है कि दत्तक पुत्रच्छायावह[१३७] अर्थात् पुत्र के साथ सादृश्य रखने वाला होना चाहिये। कौनसा व्यक्ति ऐसा पुत्र हो सकता है, इस सम्बन्ध में निबन्धकारों तथा वर्त्तमान हाईकोर्टों में तीव्र मतभेद है। दत्तक मीमांसा (पृ० १४४) में नन्दपण्डित ने इसका अर्थ किया है--नियोगादि से उत्पन्न किये जाने पर पुत्र के साथ होने वाला अपना सादृश्य। भाई, सपिण्ड या सगोत्र के पुत्र दत्तक बनाये जा सकते हैं क्योंकि नियोग के नियमों के अनुसार भाई, सपिण्ड और सगोत्र

---

**१३६. व्यम० पृ० ११४ दत्तकस्तु परिणीत उत्पन्नपुत्रोऽपि च भवतीति तातचरणाः। कालिकापुराण के पिछले नोट में उद्धृत किये वचन इसकी दो तीन प्रतियों में न होने से, नीलकण्ठ के मतानुसार अविश्वसनीय हैं--इदं तु वचोन न तथा विश्रम्भणीयम्, द्वित्रिकालिकापुराणपुस्तकेष्वदर्शनात्। कृष्णंभट्ट ने इन वचनों को राज्यार्ह पुत्र के लिये ही लागू किया है, दे० निर्णय सिन्धु की कृष्णंभट्टी टीका चौखम्भा प्रेस बनारस पृ० ८८।**

**१३७. दमी० (कलकत्ता ४४) वस्त्रादिभिरलंकृत्य पुत्रच्छायावहं सुतम्।**

की पत्नी में नियोग करके अपने जैसी सन्तान पैदा की जा सकती है; किन्तु यह नियोग माता, नानी, लड़की, बहिन और मौसी के साथ संभव नहीं, अतः इनकी सन्तान सगा भाई, मामा, दोहता, भांजा आदि दत्तक नहीं बनाये जा सकते[१३८]। दत्तक मीमांसा ने ही अन्यत्र (पृ० ८० ) शौनक और शाकल के वचनों के आधार पर दोहते, भांजे और मौसी के लड़के को दत्तक बनाने का निषेध किया है[१३९]। द्वैत निर्णय और व्यवहारमयूख इस प्रश्न की विस्तृत मीमांसा के बाद द्विजाति मात्र को दोहते, भांजे और मौसी के लड़के को दत्तक बनाने की अनुमति देते हैं[१४०]।

वर्त्तमान न्यायालयों ने भी इस विषय में परस्पर विरोधी निर्णय किये हैं। दत्तक मीमांसा के उपर्युक्त स्थल का अंग्रेजी अनुवाद करने वाले स्टोक ने नियोगादि शब्द का अर्थ करते हुए नियोग के साथ विवाह का शब्द और जोड़ दिया और इस अनुवाद के आधार पर जजों ने उन सब स्त्रियों की सन्तान दत्तक पुत्र के लिये अयोग्य ठहरायी, जिनका कुमारी दशा में उससे विवाह संभव नहीं था। इस प्रकार दोहते, भांजे, मौसी के लड़के के दत्तक होने के निषेध की व्यवस्था मद्रास ( ११ म० ४८ फु० बै० ) हाई कोर्ट ने स्वीकार की। उक्त आधार पर भाई, चाचा, मामा दत्तक होने योग्य नहीं माने गये। पर बम्बई हाईकोर्ट ने ऊपर उद्धृत किये गये शौनक शाकल के वचनों में गिनाये तीन संबन्धियों ( दोहता, भांजे और मौसी का लड़का ) के अतिरिक्त सब संबन्धी दत्तक होने योग्य ठहराये ( रामचन्द्र ब० गोपाल ३२ बं० ६१९ )। इस प्रकार बम्बई में मामा और बुआ के लड़के भाई, भतीजा दत्तक पुत्र बन सकते हैं। इस व्यवस्था में दोहते के साथ वस्तुतः अन्याय हुआ है। डा० जाली ने

---

१३८. दमी० वहीं--पुत्रच्छाया पुत्रसादृश्यं तच्च नियोगादिना स्वयमुत्पादनयोग्यत्वम्। यथा भ्रातृसपिण्डसगोत्रादिपुत्रस्य।........ततश्च भ्रातृपितृव्यमातुलदौहित्रभागिनेयादीनां निरासः पुत्रसादृश्याभावात्।

१३९. दमी० ८० तथा च शौनकः--दौहित्रो भागिनेयश्च शूद्रैश्च क्रियते सुतः। ब्राह्मणादि त्रये नास्ति भागिनेयः सुतः क्वचित्॥ तदेतत्स्पष्टमाचष्टे शाकलः। समानगोत्रजाभावे पालयेदन्यगोत्रजम्। दौहित्रं भागिनेयं च मातृस्वसृसुतं विना॥

१४०. द्वैतनिर्णय पृ० १०५ तेन ब्राह्मणादिभिरपि दौहित्रभागिनेयौ पुत्रत्वेन ग्राह्याविति सिद्धम्। व्यम० पृ० १११

दोहते को दत्तक पुत्र के अयोग्य ठहराने की नन्द पण्डित की व्यवस्था का इस आधार पर विरोध किया है कि प्राचीन साहित्य में इस का कोई संकेत नहीं है ( हिन्दू ला एण्ड कस्टम पृ० १६३ )। मामा, बुआ आदि के लड़कों की अपेक्षा दोहता अधिक समीप का तथा प्रिय संबन्धी है। रिवाज़ के आधार पर कुमाऊं में दोहता, और भांजा दत्तक बनते हैं। शूद्रों में इस प्रकार दत्तक के लिये वर्जित संबन्धियों का कोई बन्धन नहीं है।

**पुत्रीकरण की विधियां**—वसिष्ठ, बौधायन और शौनक ने पुत्र बनाने की विधि का निर्देश किया है, दत्तक मीमांसा और दत्तक चन्द्रिका में इस का विस्तृत वर्णन है। इसका सब से आवश्यक अंग लड़का देने और लेने की विधि है। बौधायन के अनुसार पुत्र देने वाले के पास जाकर, उससे कहना चाहिये—'मुझे पुत्र दीजिये, वह उसे कहता है—मैं देता हूँ। उस पुत्र को वह यह कहता हुआ ग्रहण करता है कि मैं तुझे धर्म के लिये और सन्तान के लिये लेता हूँ [१४१]। इस दान और प्रतिग्रह के बाद दतक होम की विधि होती है, अग्नि में आहुतियां डाली जाती हैं। यह होम बाद में भी हो सकता है, शूद्र और स्त्रियां इसे दूसरे व्यक्तियों द्वारा करा सकती हैं। द्विजातिमात्र के लिये दत्त होम आवश्यक विधि है, दत्तक मीमांसा के मतानुसार इसके विना किसी को दत्तक पुत्र नहीं बनाया जा सकता [१४२]।

शूद्रों में दत्तक होम आवश्यक नहीं है(७ इं० ए० २४)। पंजाब में, तथा जैनों में भी यह धार्मिक विधि नहीं होती, उत्तरी लंका के मुदालियरों में केवल एक ही विधि अर्थात् दत्तक पुत्र ग्रहण करने वालों द्वारा केसर का पानी पीना ही होता है (मेन-हिन्दू ला पृ० २५३)।

**पुत्रीकरण के परिणाम**—दत्तक बनने के बाद पुत्र अपने जन्मदाता पिता के परिवार का सदस्य नहीं रहता, गोद लेने वाले पिता के कुटुम्ब का अंग बनता है और उसे नये परिवार में औरस पुत्र के अधिकार प्राप्त हो जाते हैं। पिछले

---

१४१. धर्मकोश पृ० १३८४ दातुः समीपं गत्वा 'पुत्रं मे देहि' इति भिक्षेत ददामीतर आह। तं पुत्रं प्रतिगृह्णाति—'धर्माय त्वा गृह्णामि संतत्यै त्वा गृह्णामि इति।

१४२. दमी पृ० १६१ दानप्रतिग्रहहोमाद्यन्यतमाभावे तु पुत्रत्वाभाव एवेति। दत्तहोम के विस्तृत वर्णन के लिये दे० बौधायन गृह्य शेष सूत्र २।६। ४-९ काणे हि० ध० ३।६८८-९

परिवार से उसका सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाता है। इस सम्बन्ध में मनु ने कहा है—'दत्तक अपने उत्पादक पिता के गोत्र और रिक्थ का हरण नहीं करता (अर्थात् वह अपने पालक पिता के वंशनाम तथा पैतृक सम्पत्ति का उत्तराधिकारी बनता है)। पिण्ड (श्राद्ध में दिया जाने वाला चावल का गोला) गोत्र और रिक्थ का अनुगामी होता है, (अतः) पुत्र देने वाले को (उससे प्राप्त होने वाली) स्वधा बन्द हो जाती है[१४२क]।' इसका केवल यही अभिप्राय है कि दत्तक पुत्र अपने उत्पादक पिता का पिण्डदान नहीं करता, उसकी सम्पत्ति नहीं लेता। आजकल बम्बई हाईकोर्ट के कुछ विद्वान् न्यायाधीशों ने मनु के इस वचन का यह तात्पर्य निकाला है कि दत्तक पुत्र बनने के बाद पालक पिता के घर में उस का नया जन्म होता है और उत्पादक पिता के घर में कानूनी तौर से उसकी मृत्यु हो जाती है। पुत्र को यदि उत्पादक पिता के परिवार में कोई सम्पत्ति किसी प्रकार मिलती थी तो दत्तक पुत्र बनते ही यह उसके दायाद को मिलेगी (४० बं० ४२९, ४९ बं० ५२०)। किन्तु मद्रास (२९ म० ४३७) तथा कलकत्ता हाईकोर्टों (१ कल० वी० नो० १२१) ने बम्बई के इस फैसले को सही नहीं माना[१४३]।

दत्तक पुत्र यद्यपि अपने उत्पादक पिता के कुल से पृथक् हो जाता है, तथापि कुछ विषयों में वह उसी परिवार का सदस्य माना जाता है। उसके विवाह में असपिण्डता और असगोत्रता के नियम का पालन दोनों कुलों की दृष्टि से किया जाता है। पालक एवं उत्पादक दोनों परिवारों की निषिद्ध पीढ़ियों के अन्दर आने वाली कन्याओं से उसका विवाह संभव नहीं है। इस दृष्टि से नये कुल में आने के बाद भी पुराने कुल में उसकी स्थिति यथापूर्व बनी रहती है। धर्मसिन्धु के मत में दत्तक उत्पादक पिता का पुत्र न होने की दशा में उसकी मृत्यु के बाद वह उसका श्राद्ध तथा सम्पत्ति ग्रहण कर सकता है[१४४]। उत्पादक पिता की मृत्यु के बाद

---

**१४२. क मनु ९।१४२ गोत्ररिक्थे जनयितुर्न हरेद् दत्रिमः क्वचित्। गोत्ररिक्थानुगः पिण्डो व्यपैति ददतः स्वधा ॥**

**१४३. इस विषय के विस्तृत विवेचन के लिये दे० मेन—हिन्दू ला पृ० २५६-५७ काणे—हि० ध० ३।६९२-९८**

**१४४. धर्मसिन्धु उत्तरार्ध, पृ० ३७१ दत्तकस्तु जनकपितुः पुत्राद्यभावे जनकपितुः श्राद्धं कुर्याद्धनं च गृह्णीयात्।**

उसका सूतक दस दिन का नहीं किन्तु तीन दिन का ही होता है (दत्तक चन्द्रिका पृ० ६८)। इन सब बातों से यह स्पष्ट है कि दत्तक पुत्र का मूल कुल से पूर्ण नहीं, किन्तु आंशिक विच्छेद होता है।

दत्तक पुत्र दूसरे कुल में जाकर औरस पुत्र की भांति न केवल अपने पिता की सम्पत्ति को प्राप्त करता है, अपितु चाचा के दायाद न होने पर उस के रिक्थ का भी उत्तराधिकारी बनता है।

दत्तक पुत्र ग्रहण करने के बाद यदि औरस पुत्र उत्पन्न हो तो बंटवारे में दोनों को बराबर हिस्सा नहीं मिलता, दत्तक पुत्र का हिस्सा औरसपुत्र के भाग से बहुत कम होता है। वसिष्ठ (१५।९) और बौधायन परिशिष्ट दत्तक पुत्र को चतुर्थांश देने का विधान करते हैं[१४५]। कात्यायन (दायभाग द्वारा उद्धृत पृ० १४८) के अनुसार औरस पुत्र होने पर सवर्ण दत्तक को सम्पत्ति का तीसरा हिस्सा मिलता है[१४६]। मध्यकालीन निबन्धकारों में इस विषय में काफी मतभेद है। विज्ञानेश्वर और दत्तक मीमांसा ने वसिष्ठ के चतुर्थांश का अनुमोदन किया है। सरस्वती विलास के मत में यह कुल सम्पत्ति का नहीं, किन्तु औरस पुत्र के हिस्से का चौथाई भाग है, इस प्रकार दत्तक को औरस का $\frac{1}{5}$ भाग मिलेगा[१४७], दत्तक चन्द्रिका ने भी इसका समर्थन किया है और साथ ही यह भी कहा है कि शूद्रों में चतुर्थांश का नियम नहीं लगता, वे सम्पत्ति का बंटवारा समान रूप से करते हैं (दच० पृ० ९८)।

आजकल बंगाल की दायभाग व्यवस्था में दत्तक एवं औरस पुत्र होने पर पहले को सम्पत्ति का एक तिहाई मिलता है (१ कल० ला० ज० ३८८, ४०४)। दक्षिणी भारत और बम्बई में औरस पुत्र के भाग का $\frac{1}{4}$ अर्थात् कुल सम्पत्ति का $\frac{1}{5}$ दत्तक का हिस्सा माना गया है (४९ बं० ६७२)। दत्तक मीमांसा का अनुसरण करने वाले प्रदेशों में दत्तक पुत्र को सम्पूर्ण सम्पत्ति का $\frac{1}{4}$ मिलता है (२ ला० ६९)। बम्बई के अतिरिक्त शेष भारत में शूद्रों के दत्तक तथा औरस को समान अंश प्राप्त होते हैं (७ म० २५३)। बम्बई में शूद्रों में दत्तक पुत्र को

१४५. वसिष्ठ १५।९ तस्मिश्चेत्प्रतिगृहीत औरसः पुत्र उत्पद्येत चतुर्थभागभागी स्याद्दत्तकः। बौधा० के लिये दे० धर्मकोश २।१३८५

१४६. दा० १४८ उत्पन्ने त्वौरसे पुत्रे तृतीयांशहराः स्मृताः।

१४७. सवि० ३९३ चतुर्थांशो नाम चतुर्थस्य योंऽशः समत्वेन परिकल्पते तत्तुल्योंऽशः पंचमांश इत्यर्थः।

कुल सम्पत्ति का पांचवां हिस्सा ही मिलता है ( ४९ बं० ६७२ )। यदि सम्पत्ति अविभाज्य हो तो यह औरस को ही मिलती है ( इं० ला० रि० १९३९ बं० ३१४ )

**पुत्रीकरण के अन्य भेद**--वर्त्तमान काल में दत्तक पुत्र के अतिरिक्त हिन्दू परिवार में पुत्र बनाने के निम्न प्रकार प्रचलित हैं--

(१) **द्व्यामुष्यायण**--इसका शब्दार्थ है दो व्यक्तियों का पुत्र। जब दत्तक पुत्र बनाते हुए यह समझौता (संवित्) कर लिया जाता है कि यह उत्पादक ( जनक) तथा पालक दोनों पिताओं का पुत्र समझा जायगा तो यह द्व्यामुष्यायण कहलाता है[१४८]। प्राचीन समय में इस शब्द का प्रयोग क्षेत्रज के लिये किया जाता था (मिता० या० २।१२७)। कात्यायन के अनुसार दत्तक, क्रीत और पुत्रिकापुत्र दो गोत्रों (वंशों) से संबद्ध होने के कारण ऐसा कहलाते थे[१४९]। नन्द पण्डित ने दत्तक मीमांसा में अनित्यवद् और नित्यवद् के नामों से इसके दो भेद बताये हैं, इन दोनों प्रकारों में जनक और पालक पिता में यह समझौता करना आवश्यक है कि यह हम दोनों का पुत्र रहेगा। दोनों का मुख्य अन्तर यह है कि अनित्यवद् में लड़का चूडाकर्म ( मुण्डन संस्कार) के बाद विभिन्न गोत्र में ग्रहण किया जाता है[१५०]। वह दोनों पिताओं का श्राद्ध करने वाला और सम्पत्ति का उत्तराधिकारी होता है; किन्तु इसका पुत्र अपने मूल गोत्र में लौट जाता है। ऐसे द्व्यामुष्यायण की परिपाटी अब हिन्दू समाज में लुप्त हो चुकी है (५७ बं० ७४, ७६ )। दूसरा प्रकार नित्यवद् है--इसमें जनक और पालक पिता का उस पुत्र को दोनों कुलों का सदस्य मानने का समझौता आवश्यक है। पश्चिमी तट के नम्बूदरी ब्राह्मणों ( ११ म० १५७, १६८ ), बम्बई तथा उत्तर प्रदेश के कुछ भागों ( १९ बं० ४२८, २६ अला० ४७२ ) में तथा बंगाल में ( म्यू०

१४८. व्यम० पृ० ११४ अयं च दत्तको द्विविधः केवलो द्व्यामुष्यायणश्च। संविदा विना दत्त आद्यः। आवयोरसाविति संविदा दत्तस्त्वन्यः।

१४९. वहीं पृ० ११५ दत्तकक्रीतपुत्रिकापुत्राः परपरिग्रहेणानार्षेयास्ते द्व्यामुष्यायणा भवन्ति--इति द्व्यामुष्यायणानुपक्रम्य कात्यायनः।

१५०. दमी० १८८ द्विविधा दत्तकादयो नित्यवद् द्व्यामुष्यायणा अनित्यवद् द्व्यामुष्यायणाश्च। तत्र नित्यवद् द्व्यामुष्यायणा नाम ये जनकप्रतिग्रहीतृभ्यामावयोरयं पुत्रः इति संप्रतिपन्नाः। अनित्यवद्द्व्यामुष्यायणास्तु ये चूडान्तैः संस्कारैर्जनकत्वेन संस्कृता उपनयनादिभिश्च प्रतिग्रहीत्रा।

इं० ए० ८५ ) में इसका प्रचलन है। यह तथा इसके उत्तराधिकारी दोनों कुलों की सम्पत्ति के अधिकारी बनते हैं।

(२) कृत्रिम—प्राचीन शास्त्रकारों द्वारा निर्दिष्ट इस पुत्र का प्रचलन अब केवल मिथिला (१३ पटना ५५० ) और पश्चिमी तट के नम्बूदरी ब्राह्मण में प्रचलित है (११ मद्रास १५७, १७४, १७६ )। कृत्रिम पुत्र बनाने की विधि बहुत सरल है। इसमें शुभ मुहूर्त्त में स्नानादि के बाद पिता गोद लेने वाले पुत्र को कुछ द्रव्य प्रदान करने के बाद कहता है कि तुम मेरे पुत्र बनो। वह उत्तर देता है—'मैं आपका पुत्र बन गया हूँ।' इसमें दोनों पक्षों की सहमति मात्र आवश्यक है ( १ सदर दीवानी ९, ११ )। पहले यह बताया जा चुका है कि मिथिला में विधवा को दत्तक पुत्र ग्रहण करने का अधिकार नहीं है। किन्तु उसे पति के लिये अथवा अपने लिये कृत्रिम पुत्र बनाने का अधिकार है। कृत्रिम पुत्र के लिये सजातीय होना आवश्यक है, पर आयु का कोई बन्धन नहीं, कोई भी सम्बन्धी कृत्रिम पुत्र बनाया जा सकता है। अपने पालक पिता द्वारा ग्रहण किया जाने पर वह उसके गोत्र का हो जाता है और उसकी सम्पत्ति का उत्तराधिकारी बनता है। किन्तु यदि विधवा किसी को कृत्रिम पुत्र बनाये तो वह पालक पिता का गोत्र नहीं ग्रहण कर सकता। कृत्रिम पुत्र के अधिकार अपने उत्पादक कुल में भी बने रहते हैं, पालक पिता के कुल में दायाद बनने का अधिकार केवल उसी तक सीमित है, (२५ वी० रि० २५५)। मिथिला में इसे कर्त्ता पुत्र भी कहते हैं और औरस पुत्र हो जाने पर पैतृक सम्पत्ति में इसका स्वत्व समाप्त हो जाता है ( ४ प० १२४ )। नम्बूदरियों में इल्लोम या वंश चलाने के लिये कृत्रिम पुत्र ग्रहण किया जाता है।

(३) इल्लातोम पुत्रीकरण—मद्रास की रेड्डी और कम्मा जातियों में पारिवारिक सम्पत्ति के प्रबन्ध में दी जाने वाली सहायता के विचार से जंवाई को पुत्र बनाने की परिपाटी इल्लातोम है। इसकी कोई धार्मिक विधि नहीं हैं। औरस या दत्तक पुत्र होते हुए भी जंवाई को पुत्र बनाया जा सकता है और उसे श्वशुर से मिलने वाली सम्पत्ति उसकी पृथक् सम्पत्ति समझी जाती है, इस पर उसके पुत्रों को जन्म से कोई स्वत्व नहीं प्राप्त होता ( ९ म० ११४)।

दत्तक पुत्र सम्बन्धी उपर्युक्त जटिल व्यवस्थाओं को हिन्दू कोड में सरल और एकरूप बनाने के लिये कुछ महत्वपूर्ण प्रस्ताव किये गये थे, इनका अन्तिम अध्याय में उल्लेख होगा।

———

# पन्द्रहवां अध्याय

## कन्या के साम्पत्तिक अधिकार

हिन्दू परिवार में कन्या के दायाद होने की तीन अवस्थायें—पहली अवस्था—कन्या का उत्तराधिकारिणी न होना—अभ्रातृमती और कुमारी कन्या का दायाद होना—दूसरी अवस्था—मनु और कन्या के अधिकार—कुमारिकाओं के लिये यौतक की व्यवस्था—मध्ययुग में कन्या के अधिकारों के समर्थक और विरोधी शास्त्रकार—भाइयों द्वारा बहनों को चतुर्थांश देने की दो व्याख्यायें—भारुचि, अपरार्क इसे विवाह के लिये आवश्यक धनमात्र मानते हैं—असहाय विज्ञानेश्वरादि का विरोधी पक्ष—ब्रिटिश युग में कन्या के अधिकार—पैतृक सम्पत्ति पर सीमित स्वत्व—स्त्रीधन पर कन्याओं का अधिकार—तीसरी अवस्था—कन्या को दायाद बनाने के प्रयत्न।

हिन्दू परिवार में कन्या की स्थिति का आठवें अध्याय में उल्लेख हो चुका है। आज से कई हजार वर्ष पूर्व ऐतरेय ब्राह्मण (३३।१) तथा महाभारत में कन्या को कष्ट कहा गया था[1]; बीसवीं शती में भी इस दशा में विशेष अन्तर नहीं हुआ। कन्या की इस दयनीय दशा के अतिरिक्त अन्य अनेक कारणों से भी उसके साम्पत्तिक अधिकारों की उपेक्षा हुई है। हिन्दू समाज में विवाह की अनिवार्यता से और छठी शताब्दी ई० पू० से बाल विवाह के प्रचलन से कन्या को पैतृक सम्पत्ति देने की क्रियात्मक आवश्यकता बहुत कम अनुभव हुई, क्योंकि दहेज और स्त्रीधन के रूप में उसे पितृ एवं श्वशुर कुल से पर्याप्त धन मिल जाता था। अतः कन्या के साम्पत्तिक स्वत्वों का

---

१. महाभा० १।१५९।११ आत्मा पुत्रः सखा भार्या कृच्छ्रं तु दुहिता किल; वही १२।२४३।२० दुहिता कृपणं परम्। महाभारत युद्ध का एक बड़ा अपशकुन कुछ स्त्रियों द्वारा चार पांच लड़कियों को जन्म देना था; वही ६।३।७ स्त्रियः काश्चित्प्रजायन्ते चतस्रः पंच कन्यकाः। किन्तु इसके साथ महाभारत में कन्या को लक्ष्मी का निवासस्थान भी कहा गया है—दे० १३।११। १४ नित्यं निवसते लक्ष्मीः कन्यकासु प्रतिष्ठिता। यह विचार आज तक हिन्दू-समाज में प्रचलित है।

विकास बड़ी मन्थर गति से हुआ ; पुत्रों तथा विधवा के अभाव में पैतृक सम्पत्ति प्राप्त करने का अधिकार उसे काफी संघर्ष के बाद मिला ।

हिन्दू कन्या के साम्पत्तिक स्वत्वों के विकास को स्थूल रूप से तीन अवस्थाओं में बांटा जा सकता है । पहली अवस्था वैदिक युग से ४थी शती ई० पू० तक थी, इसमें कन्या को सामान्य रूप से दायादों में नहीं गिना जाता था, गौतम, बौधायन और वसिष्ठ ने उस का रिक्थहरों में उल्लेख नहीं किया । किन्तु यास्क जैसे कुछ शास्त्रकार विशेष अवस्थाओं में अविवाहिता और अभ्रातृमती कन्याओं को उत्तराधिकारिणी बनाने के पक्षपाती थे । दूसरी अवस्था ४थी शती ई० पू० से बीसवीं शती के पूर्वार्द्ध तक रही, इसमें शनैः शनैः कन्या को दायादों में निश्चित स्थान मिला, याज्ञवल्क्य ( लग० १००-३०० ई० ) विष्णु ( लग० १००-३०० ई० ), बृहस्पति ( लग० ३००-५०० ई० ) ने पुत्रों तथा विधवा के अभाव में उसे दायाद माना; नारद ( दाय ५० ) ने वंश विस्तार की दृष्टि से पुत्र के समान होने से पुत्री को विधवा से भी पहले उत्तराधिकारी माना । मनु ( ९।११८ ) तथा याज्ञवल्क्य ( २।११४ ) ने सम्पत्ति में उन्हें भाइयों के भाग का चौथा हिस्सा देने की व्यवस्था की, बहिनों का विवाह भाइयों का आवश्यक कर्त्तव्य माना गया ( विष्णु १५।३१ ) । किन्तु मध्ययुग में अनेक शास्त्रकार कन्या के अधिकारों में वृद्धि के समर्थक नहीं थे । विश्वरूप (लग० ८००-८५० ई० ), धारेश्वर (१०००-१०५५ ई०), देवस्वामी (१०००-१०५० ई०) और देवरात—याज्ञवल्क्य विष्णु तथा बृहस्पति के कन्या के दायाद होने के स्पष्ट वचनों को पुत्र बनायी हुई लड़की (पुत्रिका) तक ही सीमित करना चाहते थे[२]। मेधातिथि (९०० ई०) नारायण ( ११००-१३०० ई० ) और कुल्लूक ( १२५० ई० ) की व्याख्या के अनुसार मनु ( ९।१३० ) ने पुत्र के अभाव में लड़का बनायी हुई पुत्रिका को दायाद माना था । किन्तु विज्ञानेश्वर ने विधवा के बाद कन्या के रिक्थहर होने का प्रबल समर्थन किया । देवणभट्ट ( ११५०-१२२५ ई० )

---

२. स्मृतिचन्द्रिका २।२९५ एवं सोपपत्तिकीं पत्न्यभावे दुहितृगामितां ब्रुवता बृहस्पतिनैव यद् दुहितृगामि धनमिति विधायकं वचनजातं तत्पुत्रिकाविषयमेव न पुनरपुत्रिकादुहितृविषयमिति धारेश्वरदेवस्वामिदेवरातमतं स्मृतितन्त्राभिज्ञत्वाभिमानोन्मादकल्पितं निरस्तं वेदितव्यम् । विश्वरूप के मत के लिये देखिये याज्ञ० स्मृति ( २।११४) पर उस की टीका ।

आदि ने इसका अनुमोदन किया; पुत्रों तथा विधवा के न होने पर कन्या के पैतृक सम्पत्ति का उत्तराधिकारी होने का नियम हिन्दू परिवार में प्रचलित हुआ। तीसरी अवस्था १९४३ ई० से आरम्भ हुई है। इस वर्ष सर्वप्रथम हिन्दू कन्याओं को विना वसीयत वाली पैतृक सम्पत्ति में पुत्रों और विधवा के साथ दायाद बनाने का कानून पेश किया गया, अब तक कन्या पुत्र, पौत्र और प्रपौत्र के तथा विधवा के अभाव में पिता की जायदाद पाती थी, उत्तराधिकारियों में उस का पांचवां स्थान था, प्रस्तावित कानून के अनुसार पुत्रों तथा विधवा के होने पर भी वह उनके साथ दायाद बन सकेगी। यह व्यवस्थाबाद में हिन्दूकोड में रखी गयी, और २६ मई १९५४ को प्रकाशित वसीयतहीन हिन्दू उत्तराधिकार के नवीन विधेयक में भी इसे स्थान दिया गया है। इसके पास हो जाने से साम्पत्तिक अधिकारों की दृष्टि से पुत्र और पुत्री में समानता स्थापित हो जायगी। यहां उपर्युक्त तीनों अवस्थाओं का कालक्रमानुसार संक्षिप्त वर्णन किया जायगा।

**पहली अवस्था-कन्या का दायाद न होना**—वैदिक युग में कन्याओं को भाई होने की दशा में पैतृक सम्पत्ति या रिक्थ में कोई अधिकार नहीं था। ऋग्वेद में स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि औरस पुत्र अपनी बहिन को पैतृक-सम्पत्ति नहीं देता[३]।

श्री सर्वाधिकारी के मतानुसार इस व्यवस्था का कारण वैदिक समाज की पितृतन्त्रीय (Patriarchal) व्यवस्था, संघर्षमय जीवन और वीर योद्धाओं के नेतृत्व की आवश्यकता थी, अतः स्त्रियों को सब प्रकार के साम्पत्तिक अधिकार से वंचित किया गया और भाई के रहते

---

३. ऋ० ३।३१।२ न जामये तान्वो रिक्थमारैक्। यास्काचार्य ने निरुक्त (३।६) में बहिन के दायहर न होने का पक्ष रखते हुए इस ऋचा को प्रमाणरूप में उपस्थित किया है और फिर दूसरा पक्ष रखते हुए यह कहा है कि यह ऋचा वस्तुतः ऐसी बहिन के बारे में है, जिसे पुत्र के अभाव में पहले पिता ने अपना पुत्र बना लिया था; किन्तु बाद म उसका औरस पुत्र उत्पन्न हो गया। ऐसा पुत्र अपनी बहिन को हिस्सा नहीं देता; मि० मनु० ९।१३४। कन्या के दायाद होने के सम्बन्ध में यास्क ने एक दूसरा प्रमाण ऋ० ३।३१।१ का भी दिया है, किन्तु इसका अर्थ बहुत विवादास्पद है दे० कापडिया—हिन्दू किनशिप पृ० १९४-९५।

हुए बहिन को रिक्थहर नहीं माना गया[४]। किन्तु यह कारण सर्वांशतः सत्य नहीं प्रतीत होता; क्योंकि आगे यह बताया जायगा कि वैदिक युग में अविवाहिता और अभ्रातृमती कन्यायें रिक्थहर होती थीं। पितृतन्त्रीय समाज व्यवस्था और संघर्षमय जीवन कन्याओं के अधिकारों का सदैव विरोधी रहे हों, सो बात नहीं है। मध्यकालीन मुस्लिम समाज पितृतन्त्रीय था, किन्तु उसमें कन्यायें पैतृक सम्पत्ति में अंशहर होती थीं[५]। इसका वास्तविक कारण पिण्डदान के लिये पुत्र की महत्ता थी। इस पर पहले प्रकाश डाला जा चुका है (दे० ऊ० पृ० २१६), बंगाल में दायादों के निर्धारण की मुख्य कसौटी पिण्डदान है (दे० ऊ० पृ० ३१६-१७)। कन्या के पिण्डदाता न होने से उसे पैतृक सम्पत्ति का उत्तराधिकारी न समझना स्वाभाविक था। ऋग्वेद के एक मन्त्र में इसका संकेत मिलता है—"यद्यपि माता-पिता स्त्री और पुरुष सन्तान (पुत्र, पुत्री) को उत्पन्न करते हैं; तथापि उनमें से एक शोभनकर्मों का कर्त्ता होता है, दूसरी (केवल वस्त्र, अलंकार द्वारा) समृद्ध होती है (उसे दायार्ह नहीं समझा जाता)।" सायण ने अपने भाष्य में इस कारण को भली भांति स्पष्ट किया है[६]। अतः वैदिक युग में दुहिता के सामान्यरूप से रिक्थहर न होने का कारण पिण्डदान में उस की असमर्थता प्रतीत होती है।

**अभ्रातृमती कन्या का दायाद माना जाना**—उपर्युक्त कारण की पुष्टि इस तथ्य से भी होती है कि भाई के अभाव में कन्या को ही दायाद माना गया; क्योंकि उस अवस्था में वह अपने पुत्र द्वारा पिता का पिण्डदान करती थी। यह महत्वपूर्ण कार्य सम्पन्न करने से, वह रिक्थहर मानी जाती

---

४. सर्वाधिकारी—प्रिन्सिपल्ज आफ हिन्दू ला आफ इन हैरिटैन्स पृ० २०९

५. कुरान शरीफ सूरा ४।१२। ह्यूजेस—डिक्शनरी आफ् इस्लाम पृ० ७०-७१

६. ऋ० ३।३१।२ यदी मातरो जनयन्त वह्निमन्यः कर्त्ता सुकृतोरन्य ऋन्धन्। सायणभाष्य—तथापि तयोमध्येऽन्यः पुंल्लक्षणः सुकृतोः शोभनस्य पिण्डदानादेः कर्मणः कर्त्ता भवति। अन्यः स्त्रीलक्षण ऋन्धन् वस्त्रालंकारादिना ऋध्यमान एव भवति। पिण्डदानादिकर्तृत्वात्पुत्रो दायार्हः, दुहिता तथा नेति न दायार्हा सा तु केवलं परस्मै दीयते मि० निरुक्त ३।६।

थी। ऋ० १।१२४।७ में कहा गया है कि अभ्रातृका (कन्या) विवाहित होने पर भी धन प्राप्त करने के लिए अपने पितृकुल की ओर आती है[७]। दुर्गाचार्य की व्याख्यानुसार वह कन्या अपने पुत्रों, पौत्रों से पिता के वंश को ही बढ़ाती है, पति के वंश को नहीं; अतः अभ्रातृका कन्या को पैतृक दाय का अधिकारी बनाना उचित ही प्रतीत होता है[८]।

कुछ अन्य वैदिक सन्दर्भों से यह प्रतीत होता है कि अभ्रातृमती कन्या के अपने पिता का दायाद बनने तथा उसका वंश बढ़ाने के कारण यह स्थिति उत्पन्न हो गई कि ऐसी कन्याओं के साथ विवाह निन्दनीय समझा जाने लगा। उस समय पुत्रों की बहुत अधिक महत्ता थी, कोई व्यक्ति अपना पुत्र दूसरे को देना पसन्द नहीं करता था। भाई रहित कन्या के साथ विवाह करने पर पुत्र पिता का न होकर, नाना का ही समझा जाता था। अतः उस समय विवाह करते हुए यह ध्यान रखा जाता था कि अभ्रातृका कन्या के साथ विवाह न किया जाय। अथर्ववेद में ऐसी कन्याओं के अविवाहित रहने का उल्लेख है[९]। यास्काचार्य ने अभ्रातृका के साथ विवाह के निषेध में एक पुराना वचन उद्धृत किया है[१०]।

अभ्रातृमती कन्या को दायाद बनाने का अन्य कारण वैदिकयुग में औरस पुत्र के प्रति दृष्टिगोचर होने वाला विशेष पक्षपात भी प्रतीत होता है। पुत्र न

---

७. अभ्रातेव पुंसएति प्रतीची गर्तारुगिव सनये धनानाम्। नि० नि० ३।५ की व्याख्या—अभ्रातृकेव पुंसः पितॄनेत्यभिमुखी सन्तानकर्मणे पिण्डदानाय न पतिम्।

८. दुर्गाचार्य का भाष्य 'यथा अभ्रातृका कन्या दत्ताऽपि सती पित्रा ऊढापि भर्त्रा पुनः 'प्रतीची' पुंसः 'पितॄन्' एव पितृवंशमेव 'अभिमुखी एति'। सा हि पितृ-वंशं पुत्रैः पौत्रैश्च वर्धयति, न भर्तृवंशमिति। तस्मादभ्रातृका पैतृकं दायाद्य-मर्हतीत्युपपद्यते।

९. अथर्व १।१७।१ अमूर्याः यन्ति योषितो हिरा लोहितवाससः। अभ्रा-तर इव जामयस्तिष्ठन्तु हतवर्त्मनः। नि० ३।४ में योषितः के स्थान पर जामयः पाठ है।

१०. नि० ३।५ 'नाभ्रात्रीमुपयच्छत तोकं ह्यस्य तद्भवति' इत्यभ्रातृ-काया उपयमनप्रतिषेधः प्रत्यक्षः पितुश्च पुत्रभावः, मि० मनु० ३।११, गौतम २८।२०, याज्ञ० १।५३; महाभारत १३।४४।१५

होने पर, आजकल पिता पिण्डदान के लिए दत्तक पुत्र को ग्रहण कर सकता है; परन्तु वैदिककाल में यह माना जाता था कि वास्तविक सन्तान तो औरस पुत्र ही है, अन्य प्रकार के पुत्र उसकी तुलना नहीं कर सकते। अत्यन्त सुखकर होने पर भी दूसरे के पेट से पैदा होने वाले पुत्र को ग्रहण नहीं करना चाहिए; उसे मन से भी अपना पुत्र नहीं मानना चाहिए[11]। वसिष्ठ ने अग्नि से पुत्र की कामना की; अग्नि ने उसे क्रीत, कृत्रिम, दत्तक आदि पुत्र देने चाहे; किन्तु वसिष्ठ ने कहा—हे अग्नि, अन्य व्यक्ति से उत्पन्न किया हुआ अपना पुत्र नहीं होता, प्रमादी लोग ही उसे अपना मानते हैं ( न शेषोऽग्ने अन्यजात-मस्त्यचेतानस्य ऋ० ७।४।७ )। उस समय दत्तक पुत्र ग्रहण करना उन्मत्त लोगों का ही काम माना जाता था। इस अवस्था में पिता के लिए यह सर्वथा स्वाभाविक था कि वह किसी दूसरे के पुत्र को गोद लेकर सम्पत्ति देने की अपेक्षा अपनी औरस कन्या को ही अपना दायाद बनाये।

**अविवाहित कन्या का दायाधिकार**—अभ्रातृका के अतिरिक्त कुमारी कन्या को भी इस युग में रिक्थहर माना जाता था। वैदिक युग में कन्याएँ उच्च शिक्षा ग्रहण करती थीं और कई अवस्थाओं में वे अविवाहित रहती हुई, पिता के घर में बूढ़ी हो जाती थीं। इन की स्थिति विवाहिताओं से भिन्न थी, वे पाणिग्रहण के समय पिता से पर्याप्त सम्पत्ति (वहतु ) प्राप्त करती थीं[12]। विवाह के बाद पतिगृह में जाकर वहां भी स्त्रीधन की अधिकारी होती थीं। अतः रिक्थहर न होने पर भी वे पैतृक सम्पत्ति में से अपना कुछ अंश ले लेती थीं। किन्तु कुमारी कन्याओं को दहेज (वहतु) तथा पति से मिलने वाला धन नहीं प्राप्त होता था। अतः पिता की सम्पत्ति में उन द्वारा अपना भाग मांगा जाना स्वाभाविक था। एक भक्त इन्द्र से प्रार्थना करता हुआ कहता है—"हे इन्द्र मैं आप से सेवनीय धन उसी प्रकार मांगता हूँ, जिस प्रकार माता पिता के साथ ( पितृगृह में ) रहने वाली, उनके साथ बूढ़ी हो जाने वाली (अमाजूः) कन्या घर से अपना हिस्सा मांगती हैं इस प्रकार दिये जाने वाले धन को सर्वजन प्रसिद्ध करो ( सब लोगों को इसका ज्ञान हो जाय )[13]।

११. ऋ० ७।४।८ न हि ग्रभायारणः सुशेवोऽन्योदर्यो मनसा मन्तवा उ। दे० निरुक्त ३।३

१२. ऋ० १०।८५।१३,३८; अथर्व १४।१।१३, १४।२।२१, ३।३१।५

१३. ऋ० २।१७।७ अमाजूरिव पित्रोः सचा सती समानादा सदसस्त्वामिये भगम्। कृधि प्रकेतम्.............॥ सायण भाष्य—हे इन्द्र, अमाजूर्यव-

ऐसा प्रतीत होता है कि अविवाहिता कन्या को अपनी सम्पत्ति में जो अधिकार मिला था, उसे कई शास्त्रकार सब कन्याओं को सामान्य रूप में देना चाहते थे। यास्काचार्य ने निरुक्त ( ३।४ अनु० ) में इस विषय की कुछ विस्तार से चर्चा की है। इस प्रकरण से यह ज्ञात होता है कि उस समय कन्याओं के अधिकारों का प्रबल समर्थन करने वाले कुछ शास्त्रकार अवश्य थे। श्री अल्तेकर ने निरुक्त के इस प्रकरण को परवर्त्ती प्रक्षेप माना है[१४]। किन्तु दुर्गाचार्य आदि सभी पुराने टीकाकारों ने निरुक्त के इस स्थल की पूरी व्याख्या की है, अतः हमें इसे अप्रामाणिक या प्रक्षिप्त मानना युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होता।

इस प्रकरण में कन्या के अधिकारों का समर्थन करने वालों ने जो प्रमाण उपस्थित किये हैं, उनका आशय यह है कि पुत्र और पुत्री दोनों समान रूप से माता पिता के शरीर का अंश लेकर उत्पन्न होते हैं। जब उनकी उत्पत्ति में इस प्रकार का अभेद है तो उनके दायाधिकार में क्यों भेद किया जाय? इस विषय में उन्होंने दो प्रमाण उपस्थित किये हैं। पहला प्रमाण[१५] तो सन्तानमात्र ( पुत्र और पुत्री दोनों ) को अपने शरीर से प्रादुर्भूत और आत्म-

---

ज्जीवं गृह एव जीयन्ती पित्रोः सचा——मातापितृभ्यां सह भवन्ती तयोः शुश्रूषणपरा पतिमलभमाना सती, समानादात्मनः पित्रोश्च साधारणात्सदसो गृहात् गृह उपस्थायैव यथा भागं याचति तथा स्तोताऽहं भगं भजनीयं धनं त्वामियै——त्वां याचे।

१४. पोजीशन आफ् वुमैन इन हिन्दू सिविलिजेशन पृ० २८७

१५. नि० ३।४ अविशेषेण मिथुनाः पुत्रा दायादा इति, तदेतदृक्श्लोकाभ्यामभ्युक्तम्——'अंगादगात्संभवति हृदयादधि जायते। आत्मा वै पुत्र नामासि स जीव शरदः शतम्॥ इति। इस श्लोक का पूर्वार्ध निम्न ग्रन्थों में मिलता है—— शत०ब्रा० १४।९।४।८, साम ब्राह्मण १।५।१६।१७, शांखा०आ० ४।११, बृहदा० उप० ६।४।८, कौषी० ब्रा० उप० २।११, आश्व गृ० १।१५।९ गो० गृ० २।८।३१ पा० गृ० १।१८।२ आप-गृ० ६।१५।१, १२; हि० गृ० २।३।२ मानव गृ० १।१८।६, महाभा० १।७४।६३ में भी यह पाया जाता है। इस श्लोक के उत्तरार्ध के लिये दे० श० ब्रा० १४।९।४।२६, साम० ब्रा० १।१५।१७, शांखा० आ० ४।११, बृह० उप० ६।४।२६, कौषी० ब्रा० उ० २।११, आश्व गृ० १।१५।३, पार० गृ० १।१६।१८ हि० गृ० २।३।२, मानव गृ० १।१७।५ और महाभा० १।७४।६३ इन ग्रन्थों में यह थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ मिलता है।

रूप सिद्ध करता है। यह हमारे प्राचीन साहित्य में बारबार दोहराया गया है। दूसरा प्रमाण मनु के नाम से उपस्थित किया गया है—'सृष्टि के आरम्भ में स्वयंभू के पुत्र मनु ने कहा था कि (स्त्री और पुरुष) दोनों प्रकार की सन्तानों का, विना किसी भेद के, धर्मानुसार दाय (का अधिकार) होता है[१६]'। यह बड़े आश्चर्य की बात है कि यह श्लोक न तो वर्तमान मनुस्मृति में और न किसी दूसरे ग्रन्थ में उपलब्ध होता है, किन्तु यास्क द्वारा इस श्लोक को उद्धृत किया जाना यह बात अवश्य सूचित करता है कि वह इसे प्रामाणिक मानता है। इसमें स्पष्ट रूप से पुत्र और पुत्री के दायाधिकार सर्वथा तुल्य माने गये हैं।

किन्तु कन्याओं के दायाधिकार का समर्थन करने वाला यह पक्ष उस समय बहुत प्रबल नहीं था। इसके विरोध में यास्क ने एक दूसरा पक्ष उपस्थित किया है कि स्त्रियां दायाद नहीं हो सकती हैं[१७]; और अन्त में सिद्धान्त पक्ष यह स्थापित किया है कि अभ्रातृमती कन्या ही दायाधिकारिणी होती है।

यह स्पष्ट है कि उस समय कन्या के दायाद होने के समर्थक विरोधियों की अपेक्षा बहुत ही अल्प संख्या में थे; अतः दायादों में कन्या को बहुत निचला दर्जा दिया गया। बौधा० (१।५।११३-११४) वसिष्ठ (१५।७) और गौतम (२८।२१) तो रिक्थहरों में दुहिता का उल्लेख ही नहीं करते। आपस्तम्ब ने

---

१६. नि० ३।४—अविशेषेण पुत्राणां दायो भवति धर्मतः। मिथुनानां विसर्गादौ मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत्॥ श्री अलतेकर (पोजीशन आफ वुमैन पृ० २८७) ने इसमें मिथुनानां को पुत्राणां का विशेषण न मान कर स्वतन्त्र शब्द माना है और इसका अर्थ 'माता पिताओं के' ऐसा ही किया। उस अवस्था में इस श्लोक का अर्थ यह होगा कि माता पिता के सब पुत्रों में दाय समान रूप से बंटता है, ज्येष्ठ पुत्र को अधिक भाग नहीं मिलता।

१७. लड़कियों को अदायाद मानने के लिये उसने पूर्वपक्ष की ओर से दो प्रमाण दिये हैं —(१) मैत्रा सं० (४।६।४) का 'तस्मात्स्त्रियं जातां' वाला वचन (२) स्त्रियों का दान, विक्रय और परित्याग होते हैं। यास्क दूसरे प्रमाण का यह खण्डन करता है कि शुनःशेपादि पुरुषों में भी विक्रयादि देखे जाते हैं, अतः इस आधार पर वह कन्या को सम्पत्ति के अधिकार से वंचित नहीं करता—निरुक्त ३।४ न दुहितर इत्येके। तस्मात्पुमान् दायादोऽदायादा स्त्रीति विज्ञायते। तस्मात्स्त्रियं जातां परास्यन्ति, न पुमांसमिति च स्त्रीणां दानविक्रयातिसर्गा विद्यन्ते न पुंसः। पुंसोपीत्येके शौनः शेपे दर्शनात्।

ही इसे दायाद माना है, किन्तु उसका स्थान दायादों में बिल्कुल अन्त में रखा है। पुत्र के अभाव में प्रत्यासन्न सपिण्ड दायाद होता है; उसके अभाव में आचार्य, आचार्य के अभाव में शिष्य उसकी सम्पत्ति धर्मकार्य में लगाए अथवा कन्या उस सम्पत्ति को प्राप्त करे[१८]। इतने दूर के दायादों के बाद कन्या को सम्पत्ति में अधिकार देने और न देने में कोई विशेष अन्तर नहीं है। इस व्यवस्था से प्रति सहस्र में शायद एक आध कन्या ही दायाद बनती होगी। श्री सर्वाधिकारी आपस्तम्ब के इस विधान को स्त्री विरोधी भावना से ओत-प्रोत समझते हैं तथा यहां कन्या का अर्थ सामान्य कन्या नहीं किन्तु पुत्रिका बनाई हुई कन्या करते हैं। आपस्तम्ब ने औरस के अतिरिक्त अन्य पुत्रों का अधिकार नहीं माना, किन्तु पुत्रिका को लोकमत का प्रबल समर्थन प्राप्त था, अतः उसे ऐसी कन्या को दायाद बनाना पड़ा; पर आपस्तम्ब ने उसे ऐसी स्थिति प्रदान की, जिसमें उसे अपने पिता की सम्पत्ति प्राप्त होने की कम से कम सम्भावना थी[१९]। वैदिक युग से सूत्रकारों के युग तक एक महान अन्तर आ चुका था। पहले कन्या भ्राता के न होने पर पिता की सम्पत्ति का सर्वप्रथम दायाद होती थी, आपस्तम्ब ने उसे रिक्थहरों में अन्तिम स्थिति प्रदान की, कन्या दायादों की श्रेणी में ऊँचे धरातल से रसातल में पहुँची।

## *दूसरी अवस्था*

**कौटिल्य का कन्या को दायाद बनाना**—कन्या को रसातल से उठाने का श्रेय कौटिल्य को है। विधवाओं को अपने दाय सम्बन्धी अधिकारों के लिये यदि याज्ञवल्क्य का आभारी होना चाहिए तो कन्याओं को अर्थशास्त्रकार का धन्यवाद करना चाहिए। उसके मत में "अपुत्र मृत व्यक्ति के द्रव्य को सगे तथा इकट्ठे रहने वाले भाई और कन्यायें प्राप्त करें; पुत्रों वाले व्यक्ति की सम्पत्ति के अधिकारी धर्म-विवाहों में उत्पन्न पुत्र तथा पुत्रियां बनें[२०]"। यह बड़े खेद की बात है कि कौटिल्य की इस व्यवस्था का परवर्त्ती शास्त्रकारों ने बहुत कम अनुसरण किया।

---

१८. आप० धर्म सूत्र २।१४।२-४ पुत्राभावे यः प्रत्यासन्नः सपिण्डः। तदभावे आचार्यः। आचार्याभावे अन्तेवासी। हृत्वा तदर्थेषु धर्मकृत्येषु वोपयोजयेत्। दुहिता वा।

१९. सर्वाधिकारी पूर्वोक्त पुस्तक पृ० २११

२०. कौ० ३।५ द्रव्यमपुत्रस्य सोदर्या भ्रातरः सहजीविनो वा हरेयुः। कन्याश्च रिक्थं पुत्रवतः पुत्रा दुहितरो वा धर्मिष्ठेषु विवाहेषु जाताः॥

**मनु और कन्या के अधिकार**—मनुस्मृति में इस सम्बन्ध में अस्पष्ट और परस्पर विरोधी व्यवस्थायें मिलती हैं। एक ओर मनु ने कन्या के प्रति बड़ा स्नेह प्रदर्शित किया है—"दुहिता परम स्नेह (कृपा) का पात्र है; उसकी बात सदा सह लेनी चाहिए" (४।१८५) "जैसा अपना आत्मा होता है, वैसा ही पुत्र होता है, पुत्री पुत्र तुल्य होती है; उसके रूप में अपनी आत्मा (अपना स्वरूप) जीवित रहती है; उसके जीवित रहते हुए कोई दूसरा (पैतृक) धन कैसे ले सकता है[२१]"। किन्तु दूसरी ओर ९।१८५ में मनु ने अपुत्र व्यक्ति के मरने पर इससे सर्वथा भिन्न व्यवस्था की है। वहां पिता या भाइयों को ही अपुत्र व्यक्ति का रिक्थहर बताया गया है[२२]। मनु की इस विरोधी व्यवस्था ने टीकाकारों को बहुत परेशान किया है। मनु ९।१३० के शब्दों से यह सूचित होता है कि मनु कन्या को दायाद बनाता है। जीमूतवाहन ने (दा० ११।२।१) में यही अर्थ लिया है। जायसवाल इस वचन के आधार पर कन्या को दायाधिकारी मानते हैं (मनु एण्ड याज्ञवल्क्य, पृ० २६०-२६१)। किन्तु विश्वरूप (याज्ञ० २।१४०) मेधातिथि, कुल्लूक और सर्वज्ञ नारायण प्रकरण का ध्यान रखते हुए इसका अर्थ पुत्रिका परक ही करते हैं[२३]।

इस विवादास्पद व्यवस्था को यदि छोड़ दिया जाय तो भी यह स्पष्ट है कि मनु, गौतम, बौधायन आदि की अपेक्षा कन्याओं के प्रति अधिक उदार था। उसने कन्याओं को कुछ नए अधिकार दिये, सम्पत्ति में उनका एक भाग निश्चित कर दिया और अगले स्मृतिकारों ने इस व्यवस्था का अनुसरण किया। 'भाई पृथक् रूप से, अपने अपने अंशों से, उन हिस्सों का चतुर्थ भाग कन्याओं को दें; जो भाई अपनी बहिन को चौथाई हिस्सा नहीं देना चाहते, वे पतित होते हैं[२४]'। याज्ञ० ने भी (२।१२४) में इसकी पुष्टि की है, किन्तु कुछ अधिक स्पष्टता के साथ। उसने यह बताया कि कन्याओं को यह हिस्सा

---

२१. मनु० ४।१८५ दुहिता कृपणं परम्। ९।१३० यथैवात्मा तथा पुत्रः पुत्रेण दुहिता समा। तस्यामात्मनि तिष्ठन्त्यां कथमन्यो धनं हरेत्॥

२२. मनु० ९।१८५ पिता हरेदपुत्रस्य रिक्थं भ्रातर एव च॥

२३. मेधातिथि का भाष्य 'पुत्रेषु दुहिता समेति' सामान्यवचनो दुहितृशब्दः प्रकरणात्पुत्रिकाविषयो ज्ञेयः।

२४. मनु० ९।११८ स्वेभ्योंऽशेभ्यस्तु कन्याभ्यः प्रदद्युर्भ्रातरः पृथक्। स्वात्स्वादंशाच्चतुर्भागं पतिताः स्युरदित्सवः॥

उनके विवाह का व्यय पूरा करने के लिए दिया जाता है[२५]। नारद कन्या का हिस्सा मंझले भाइयों के बराबर मानता है। किन्तु इसका उद्देश्य विवाह काल तक कन्या का भरण ही मानता है[२६]। कात्यायन भी मनु और याज्ञ० द्वारा प्रतिपादित व्यवस्था का ही अनुमोदन करता है[२७]। इन वचनों से पिता की सम्पत्ति पर अविवाहित कन्या का अधिकार मान लिया गया, किन्तु आगे यह बताया जायगा कि टीकाकारों में इसकी मात्रा पर तीव्र मतभेद था।

**कुमारी कन्याओं को यौतक मिलना**—मनु ने अविवाहिता कन्याओं के लिए यह व्यवस्था की है कि माता का यौतक उन्हें ही मिले[२८]। यौतक की कोई निश्चित और सुस्पष्ट व्याख्या मनुस्मृति में उपलब्ध नहीं होती। अगले अध्याय में यह बताया जायगा कि यह स्त्रीधन का एक प्रकार है, वीरमित्रोदय के कथनानुसार विवाह काल में एक आसन पर बैठे हुए वर-वधू को, बन्धु जो धन देते हैं, वह दोनों को इकट्ठा मिला होने से यौतक कहलाता है। पत्नी स्वभावतः यौतक को अपनी अविवाहित कन्याओं के लिए सुरक्षित रखती थी। कुमारी कन्यायें माता-पिता के न रहने पर तथा भाइयों से विरोध होने पर, सर्वथा निराश्रित हो जाती हैं। मनु ने प्रथम तो उन्हें भाइयों के भाग का चौथाई अंश देने की व्यवस्था की, किन्तु यह सम्भव था कि कोई भाई अपने हिस्से में से धन देने को तय्यार न हो, अतः मनु ने उनके लिए यौतक की भी व्यवस्था की है।

मनु कन्याओं को दायाद मानता था, यह उसकी ९।२११-१२ की व्यवस्था से स्पष्ट है। इन श्लोकों में यह प्रश्न उठाया गया है कि यदि दायभाग के समय छोटा या बड़ा भाई संन्यासी बन जाय या मर जाय तो उसके हिस्से का बंटवारा किस प्रकार हो। इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा गया है कि

---

२५. याज्ञ० २।१२४ असंस्कृतास्तु संस्कार्या भ्रातृभिः पूर्वसंस्कृतैः। भगिन्यश्च निजादंशाद्दत्वांशं तु तुरीयकम्॥

२६. नारद स्मृति १६।१३ ज्येष्ठायांऽशोऽधिको देयः कनिष्ठायावरः स्मृतः। समांशभाजः शेषाः स्युरप्रत्ता भगिनी तथा॥ वही १६।२७, या तस्य दुहिता तस्याः पित्र्योंऽशो भरणे मतः। आसंस्कारात् हरेद्भागं परतो बिभृयात्पतिः।

२७. कन्यकानां त्वदत्तानां चतुर्थो भाग इष्यते। दा० ६९ पृष्ठ पर उद्धृत।

२८. मनु० ९।१३१ मातुस्तु यौतकं यत्स्यात्कुमारीभाग एव सः।

सब सहोदर भाई और बहिनें उसके भाग को आपस में समान रूप से विभक्त कर लें [२९]। यहां विवाहित या अविवाहित (अनूढा) कन्याओं का कोई भेद नहीं रखा गया, सामान्य रूप से दोनों को सम्पत्ति में समान भाग दिया गया है।

मनु ने कन्या को माता की सम्पत्ति (मातृक रिक्थ) में भाइयों के साथ हिस्सा दिया है[३०]। इसके अतिरिक्त दोहती (कन्या की कन्या) को मनु ने नाना की सम्पत्ति में से प्रीतिपूर्वक कुछ देने की व्यवस्था की है[३१]। जब हम यह देखते हैं कि उस ने पौत्री (लड़के की लड़की) के विषय में ऐसी कोई व्यवस्था नहीं की तो हमें यह मानना पड़ता है कि मनु कन्याओं के प्रति विशेष-रूप से उदार था।

मनु की उदारता एक अन्य व्यवस्था से भी सूचित होती है। उसने पौत्र और दौहित्र का भेद बिल्कुल मिटा दिया, उसके मत में जब लड़के और लड़की में कोई भेद नहीं, तो उसकी सन्तान में अन्तर कैसे हो सकता है? मनु से पहले यह व्यवस्था प्रचलित थी कि पुत्र न होने की दशा में जिस कन्या के सम्बन्ध में पिता यह नियत कर लेता था कि यह मेरी पुत्रिका है और इसका पुत्र मेरे वंश का ही माना जायगा तो वह कन्या पुत्रिका या नियत पुत्रिका (Appointed Daughter) कहलाती थी, वह अपने पुत्र द्वारा पिता की सम्पत्ति ग्रहण करती थी। अभ्रातृमती कन्याओं के पिता अपने दामादों से इस प्रकार की शर्त कर लेते थे कि दौहित्र उन का पौत्र ही समझा जायगा। ऋ० ३।३१।१ में इसी प्रथा की ओर संकेत है। बाद में यह प्रथा इतनी प्रचलित हो गई कि इस प्रकार की कोई स्पष्ट शर्त तय न होने पर भी अभ्रातृमती कन्या इस प्रकार के संकल्प (अभिसंधि) मात्र से पुत्रिका मानी जाती थी (गौतम धर्मसूत्र २९।१७; वसिष्ठ धर्म सूत्र १५।५)। मनु के मतानुसार संसार में पुत्र

---

२९ मनु० ९।२११-१२ येषां ज्येष्ठः कनिष्ठो वा हीयेतांशप्रदानतः। म्रियेतान्यतरो वापि तस्य भागो न लुप्यते॥ सोदर्या विभजेरंस्तं समेत्य सहिताः समम्। भ्रातरो ये च संसृष्टा भगिन्यश्च सनाभयः॥

३०. मनु० ९।१९२ जनन्यां संस्थितायां तु समं सर्वे सहोदराः। भजेरन्मातृकं रिक्थं भगिन्यश्च सनाभयः॥

३१. वही ९।१९३ यास्तासां स्युर्दुहितरस्तासामपि यथार्हतः। मातामह्या धनात्किंचित्प्रदेयं प्रीतिपूर्वकम्॥

और दौहित्र में कोई अन्तर नहीं है, दौहित्र भी परलोक में नाना का, पौत्र की तरह उद्धार करता है[३२]। इससे पहिले ९।१३१ में मनु अपुत्र पिता के धन का अधिकारी तथा उसे पिण्डदान करने वाला, दौहित्र को ही बना चुका है और ९।१३३ में वह पौत्र और दौहित्र में भेद न होने के कारण को भी स्पष्ट कर चुका है[३३]। जायसवाल ने मनु एण्ड याज्ञवल्क्य (पृ० २५९) में लिखा है कि मनु ने पौत्र और दौहित्र में अभेद स्थापित कर पुराने नियमों में एक बड़ा परिवर्तन किया और मनु की इस नूतन व्यवस्था का मूल कारण उस का कन्याओं के प्रति स्नेह भाव ही था।

**कन्या के अधिकारों के अन्य समर्थक**—महाभारत में कन्या को औरस पुत्र के अभाव में अन्य पुत्रों की अपेक्षा अधिक ऊँचा स्थान दिया गया है। वेदव्यास दुहिता को इन से विशिष्ट मानता है[३४]; अभ्रातृका दुहिता को पूरी सम्पत्ति का अधिकारी स्वीकार करता है और उन लोगों का भी उल्लेख करता है जो ऐसी कन्याओं को पूरी सम्पत्ति न देकर आधी सम्पत्ति देने के पक्षपाती थे[३५]। पुत्र के अभाव में नारद ने दुहिता को ही दायाद बनाया है[३६]।

कात्यायन ने अनूढ कन्या को पत्नी के अभाव में रिक्थहर माना है। बृहस्पति भी पुत्र के अभाव में पुत्री को ही दायाद मानता है[३७]।

मध्यकाल में अनूढा और अभ्रातृका का भेद मिटा कर सब कन्याओं को पुत्रों के साथ भाग देने की व्यवस्था शुक्रनीति में की गई है। 'पिता के जीवित

---

**३२. मनु ९।१३९ पौत्रदौहित्रयोर्लोके विशेषो नोपपद्यते। दौहित्रोऽपि ह्यमुत्रैनं संतारयति पौत्रवत् ॥**

**३३. वही ९।१३३ पौत्रदौहित्रयोर्लोके न विशेषोऽस्ति धर्मतः। तयोर्हि मातापितरौ संभूतौ तस्य देहतः ॥**

**३४. महा० १३।८०।११ दुहितान्यत्र जाताद्धि पुत्रादपि विशिष्यते।**

**३५. वही० १३।८८।२२ अभ्रातृका समग्रार्हा चार्धार्हेत्यपरे विदुः।**

**३६. नारद० १३।५० पुत्राभावे तु दुहिता तुल्यसंतानकारणात्।**

**३७. कात्यायन—मिता० २।१३६ तथा स्मृच पृ० २९६ पर उद्धृत पत्नी पत्युर्धनहरी या स्यादव्यभिचारिणी। तदभावे तु दुहिता यद्यनूढा भवेत्तदा। बृहस्पति दा० १६८ पर उद्धृत। भर्त्तुर्धनहरी पत्नी तां विना दुहिता स्मृता। अगांदंगात्संभवति पुत्रवद्दुहिता नृणाम्। तस्मात्पितृधनं त्वन्यः कथं गृह्णीत मानवः ॥**

रहते हुए यदि विभाग हो तो पुत्रों तथा पत्नी को एक हिस्सा, कन्याओं को आधा हिस्सा तथा दौहित्र को चौथाई हिस्सा मिले; किन्तु यदि विभाग पिता के मरने पर हो तो पुत्रों और स्त्रियों को एक भाग माता को चतुर्थांश तथा कन्या को अष्टम भाग मिले[३८]।

कन्या के प्रकरण में हम देख चुके हैं, देवयानी शुक्र की अत्यन्त लाडली बेटी थी ( दे० ऊ० पृ० २५४ ); सम्भवतः शुक्र ने इसी स्नेहातिरेक से अभिभूत होकर ही कन्याओं को यह अधिकार दिया है; शुक्र नीति बहुत अर्वाचीन[३९] होने पर भी उस प्राचीन परम्परा को अक्षुण्ण रखे हुए है।

श्री अल्तेकर ने यह कल्पना की है कि शायद मुस्लिम कानून के प्रभाव से शुक्रनीति में कन्याओं को सम्पत्ति में भाग दिया गया है।[४०] किन्तु ऐसा सम्भव नहीं प्रतीत होता। हिन्दूशास्त्रकारों ने मध्ययुग में मुस्लिम आक्रमणों से हिन्दू धर्म की रक्षा करने के लिए जटिल विधि विधानों और मर्यादाओं का सुदृढ़ प्राचीर बनाया। इस अवस्था में यह असम्भव जान पड़ता है कि उन्होंने 'म्लेच्छों' का इस विषय में अनुकरण किया हो। यदि मुस्लिम कानून हिन्दू शास्त्रकारों को प्रभावित कर रहा था तो वह केवल शुक्रनीति में ही क्यों दिखाई देता है?

जीमूतवाहन ने दाय भाग में ( पृ० १५४ में ) तथा वाचस्पति मिश्र ने विवाद चिन्तामणि ( पृष्ठ २३९ ) में कन्याओं के दायाधिकार के सम्बन्ध में पराशर का एक वचन उद्धृत किया है। 'अपुत्र व्यक्ति की सम्पत्ति को कुमारी कन्या ग्रहण करे और उसके अभाव में विवाहित कन्या प्राप्त करे[४१]'। यह बड़े आश्चर्य की बात है कि वर्तमान पराशर स्मृति में यह व्यवस्था कहीं नहीं पाई जाती। याज्ञ० ने ( २।१३५-३६ ) में प्रपौत्र पर्यन्त पुरुष सन्तान तथा पत्नी के अभाव में कन्या को दायाद बनाया है।

---

३८. शुक्रनीति ४।५।२९९-३००। समानभागा वै कार्याः पुत्राः स्वस्य च वै स्त्रियः। स्वभागार्धहराः कन्या दौहित्रस्तु तदर्धभाक्। मृताधिपे तु पुत्राद्या उक्तभागहराःस्मृताः। मात्रे दद्याच्चतुर्थांशं भगिन्यै मातुरर्धिकम्॥

३९. काणे—हि० ध० खं० १ पृष्ठ ११६।

४०. पोजीशन आफ् वुमैन पृ० २८८

४१. विचि० अपुत्रस्य कुमारी रिक्थं गृह्णीयात् तदभावे चोढा चेति पराशरवचनात्तथैवात्र क्रम इति बालरूपः।

**कन्या के दायाधिकार के विरोधी शास्त्रकार**—किन्तु वैदिक युग की भांति मध्य युग में भी दाय में पुत्री का स्वत्व मानने वालों की संख्या अधिक न थी। कन्या के दाय के सम्बन्ध में मनु, पराशर, महाभारत, कात्यायन, याज्ञवल्क्य आदि शास्त्रकारों की व्यवस्थायें इतनी स्पष्ट थीं कि उनका निराकरण असम्भव था। अतः टीकाकारों एवं निबन्धकारों को यह तो स्वीकार करना पड़ा कि तीसरी पीढ़ी तक पुरुष सन्तान तथा विधवा के अभाव में कन्या सम्पत्ति की अधिकारिणी होती है। यदि अविवाहिता और विवाहिता, निर्धन और धनी, पुत्रवती और अपुत्र कन्या में विरासत के लिये मुकाबला हो तो विवाहित, निर्धन और पुत्रवती को पहले मौका दिया जाना चाहिए। विज्ञानेश्वर ने इस सम्बन्ध में कन्या का अधिकार बहुत स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादित किया[४२]। उसके बाद अपरार्क (या० २।१३५-३६), देवण्ण भट्ट, चण्डेश्वर, वाचस्पति मिश्र, जीमूतवाहन[४३], रघुनन्दन, मित्रमिश्र आदि ने विज्ञानेश्वर वाली व्यवस्था को ही दोहराया। किन्तु अन्य शास्त्रकारों ने कन्या के अधिकार को मर्यादित करना चाहा, कुछ टीकाकारों ने याज्ञ० के २।१३५ में आये दुहिता शब्द को पुत्रिका तक सीमित करना चाहा और फिर भाइयों द्वारा दिये जाने वाले चौथे हिस्से को कन्या के विवाह के व्यय तक मर्यादित करने का यत्न किया।

विश्वरूप याज्ञवल्क्य स्मृति का सबसे पुराना टीकाकार (लग० नवीं शती ई०) है; उसने याज्ञवल्क्य द्वारा उत्तराधिकारियों में निर्दिष्ट दुहिता शब्द को सामान्य रूप से कन्यावाची न मानते हुए पुत्रिका बनाई हुई दुहिता का वाचक समझा[४४] और मनु ९।१३० से इस अर्थ की पुष्टि की। श्रीकर भी

---

४२. मिता० ( २।१३५-३६ ) तत्र चोढानूढासमवायेऽनूढैव गृह्णाति 'तदभावे तु दुहिता यद्यनूढा भवेत्तदा' इति विशेषस्मरणात्। तथा प्रतिष्ठिताप्रतिष्ठितानां समवाये अप्रतिष्ठितैव तदभावे प्रतिष्ठिता। 'स्त्रीधनं दुहितृणामप्रत्तानामप्रतिष्ठितानां च' इति गौतमवचनस्य पितृधनेऽपि समानत्वात्।

४३. दायभाग ११।२।१-३, अतः पुत्रवती सम्भावित पुत्रा चाधिकारिणी। वन्ध्यात्वविधवात्वदुहितृप्रसूत्वादिना विपर्यस्तपुत्रा पुनरनधिकारिण्येवैति दीक्षितमतमादरणीयम्।

४४. विश्व० (या० २।१३५-३६) दुहिता, सा पुत्रिका एव। स्मृतिचन्द्रिका (२।२९५) से ज्ञात होता है कि धारेश्वर और देवरात का भी यही मत था। दे० ऊ० पृ० ५१७

विश्वरूप के मत का अनुयायी है[४५]। विज्ञानेश्वर ने २।१३५-३६ में दुहिता शब्द को पुत्रिका परक मानने वाले विश्वरूप, श्रीकर आदि टीकाकारों के मत का इस प्रकार खण्डन किया है—"पुत्रिकापुत्र औरस पुत्र के तुल्य माना गया है—और उसके अधिकार की पहले चर्चा की जा चुकी है। अतः यहां दुहिता का अर्थ पुत्रिका नहीं, किन्तु कन्या करना चाहिए[४६]"।

मनु० (९।११८) व याज्ञ० (२।१२४) ने भाइयों द्वारा अपने भाग का चतुर्थ अंश बहिनों को देने की व्यवस्था की है। कुछ टीकाकारों ने इसकी ऐसी व्याख्या की कि यह धन बहिनों के विवाह के लिए है; अतः शादी के बाद पैतृक धन पर उनका कोई अधिकार नहीं रहता। भारुचि और अपरार्क इस मत को रखने वाले प्रधान टीकाकार हैं।

भारुचि नवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध से पहले का एक प्राचीन टीकाकार है (काणे—हि० ध० १।२६५); उसकी रचना अब उपलब्ध नहीं होती, किन्तु दूसरे ग्रन्थों में उसके उद्धृत अवतरणों से यह सूचित होता है कि कन्याओं के चतुर्थ भाग का विधान वह उनके विवाह के लिए ही समझता था[४७]। अपरार्क भी भारुचि के मत का अनुयायी था, वह कन्या को दायाद नहीं मानता और इसकी पुष्टि में बौधा० की 'न दायं निरिन्द्रियाणां' वाली श्रुति उपस्थित करता है। किन्तु यह बात उल्लेखनीय है कि विधवा के अधिकार का समर्थन करते समय वह इस श्रुति वचन की यह कह कर उपेक्षा करता है कि यह वचन वहां लागू होता है, जहां पुत्र हो; पुत्रों के अभाव में यह वचन लागू नहीं होता[४८]।

४५. श्रीकर का कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं मिलता। दूसरे ग्रन्थों में उद्धृत वाक्यों से ही उसके विचारों का ज्ञान होता है। वह सम्भवतः मिथिला का रहने वाला था और उसका समय ८००-१०५० ई० के बीच का है (काणे-हिस्टरी आफ् धर्मशास्त्र, प्रथम खण्ड)।

४६. मिता० (२।१३५-३६) न चैतत्पुत्रिकाविषयमिति मन्तव्यम्। 'तत्समः पुत्रिकासुत' इति पुत्रिकायास्तत्सुतस्य चौरससमत्वेन पुत्रप्रकरणेऽभिधानात्।

४७. भारुचिस्तु चतुर्भागपदेन विवाहसंस्कारमात्रोपयोगिद्रव्यं विवक्षितम् पराशरमाधवीय, पृ० ५१०-११ में उद्धृत। मि० स० वि० ; ६१-६२

४८. अप० २।१२४ न चायं दायः। ततश्चार्हति स्त्रीत्यनुवृत्तौ यदुक्तं बौधायनेन—'न दायं निरिन्द्रियाणां ता ह्यदायाः स्त्रियो मताः' इति श्रुतिः, तेन सहास्य विरोधः; किन्तु इससे प्रतिकूल मत के लिए दे० अप० पृष्ठ ७४२-४३

प्रतापरुद्रदेव ने भी इसी मत का समर्थन किया है। 'पिता के मरने के बाद माता पिता के जीवित रहते हुए कन्या दायाद नहीं है, जीवित रहते हुए पिता अपनी इच्छा से पुत्रियों को जो चाहे दे सकता है। पिता की मृत्यु के पश्चात् भाई अविवाहित कन्याओं को विवाह संस्कार के लिए और निर्धन कन्याओं को उनके विवाह के लिए आवश्यक धन दें; कन्यायें चौथे हिस्से की अधिकारिणी नहीं होतीं। चतुर्थांश का प्रतिपादन करने वाले वचनों का अर्थ केवल इतना ही है कि उन्हें संस्कार के लिए तथा जीवन निर्वाह के लिए आवश्यक द्रव्य देना चाहिए ( सवि० ३६१-३६२ )। जीमूतवाहन ( दा० ६९-७० ) ने भी इस व्यवस्था को कन्या का विवाह कराने के लिए आवश्यक माना है।

भारुचि आदि के मत को कुछ प्राचीन सूत्रकार उससे पहले स्थापित कर चुके थे। वे अविवाहित (अनूढा) और निर्धन (अप्रतिष्ठित) कन्याओं को हिस्सा देने के पक्षपाती थे। प्रतापरुद्रदेव ने विष्णु के दो सूत्रों की ऐसी व्याख्या की है[४९]। कन्याओं को विवाहोपयोगी द्रव्य देने की व्यवस्था देवल और शंख ने की भी थी। देवल के मतानुसार कन्याओं को विवाह के काम में आने वाला पैतृक द्रव्य देना चाहिए[५०]। शंख भी कन्या के पैतृक द्रव्य में वैवाहिक धन और अलंकारों का उल्लेख करता है[५१]। पैठीनसि भी इसी का समर्थन करता है[५२]। अतः भारुचि ने संभवतः इन प्राचीन प्रमाणों का अवलम्बन करते हुए चतुर्थ भाग को दाय न मान, विवाहोपयोगी धन ही स्वीकार किया था। किन्तु असहाय, मेधातिथि ( ९।११८ ) और विज्ञानेश्वर ( २।१२४ ) जैसे प्रसिद्ध टीकाकारों ने भारुचि आदि के मत का खण्डन किया[५३]। विज्ञानेश्वर

---

४९. स० वि० ३६१-६२ में उद्धृत विष्णु सूत्र—अनूढानामनिष्ठितानामेवांशो दातव्यः। मातरः पुत्रभागानुसारेण भागहारिण्यः अनूढाश्च दुहितरः।

५०. कन्याभ्यश्च पितृद्रव्यं देयं वैवाहिकं वसु। स्मृच० द्वारा पृ० २६९ पर, दाय० द्वारा पृ० १७५ पर उद्धृत।

५१. विभज्यमाने दायाद्ये कन्यालंकारं वैवाहिकं स्त्रीधनं च कन्या लभेत। स्मृच (पृ० २६९) और विर० (पृ० ४९५) द्वारा उद्धृत।

५२. कन्या वैवाहिकं स्त्रीधनं च लभते। व्यवहारार्थ समुच्चय (पृ० १२९) द्वारा उद्धृत।

५३. मिता० २।१२४—अतोऽसहायमेधातिथिप्रभृतीनां व्याख्यानमेव

तो स्पष्ट रूप से यह कहता है कि असहाय, मेधातिथि आदि की व्यवस्था ठीक जान पड़ती है, भारुचि की नहीं।

यह बड़े दुःख की बात है कि इन प्रतिष्ठित टीकाकारों द्वारा समर्थित मत मध्यकाल में मान्य नहीं हो सका; पैतृक सम्पत्ति में भाइयों के भाग के चौथे हिस्से पर कन्या का अधिकार स्वीकार नहीं हुआ।

इसका एक मुख्य कारण यह था कि चतुर्थांश का कोई निश्चित रूप न था और उसे व्यावहारिक रूप देने में अनेक कठिनाइयां थीं। मेधातिथि कहता है कि भाई पहले सम्पत्ति का विभाग करें और बाद में अपने भागों का चतुर्थांश अपनी बहनों को दें। कल्पना कीजिये किसी परिवार में एक

---

चतुरस्रं न भारुचेः। मिताक्षरा के मत का व्यवहार प्रकाश ( पृ० ४५६-५७ ) ने देवल के ऊपर टि० सं० ५० में दिये उद्धरण के आधार पर प्रबल समर्थन किया। देवण्ण भट्ट ने स्मृतिचन्द्रिका में ( पृ० २६८ ) यह कहा था कि कन्याओं को विवाह के लिये ही पैतृक सम्पत्ति में से धन देना चाहिये। मित्रमिश्र ने इसका खण्डन करते हुए कहा कि यह अर्थ ठीक नहीं, वस्तुतः यहां दो पृथक् विधियां हैं। एक तो यह कि कन्याओं को पैतृक धन देना चाहिये, जो मनुस्मृति के अनुसार चौथा हिस्सा है; दूसरी विधि यह है कि कन्याओं को विवाहोपयोगी द्रव्य देने चाहियें, जैसा शंख का वचन है। पराशर स्मृति की टीका में शंख के इस वचन की विद्यारण्य ने यह व्याख्या की है कि पैतृक सम्पत्ति के बंटवारे के समय धारण किये अलंकार भी कन्या को मिलते हैं। यदि विवाहोपयोगी पितृद्रव्य ही कन्या को दिया जाना माना जाय तो वसुपद पुनरुक्त होगा; अतः यहां दो विधियां मानना ही उचित है, इसलिये हमारे अर्थ का ही आदर करना चाहिये, अर्थात् कन्याओं को पिता की सम्पत्ति का चौथा हिस्सा देना चाहिये, न कि केवल विवाह के लिये उपयोगी सम्पत्ति। (स्मृतिचन्द्रिकाकारस्तु कन्याभ्यश्चेति देवल-वचनानुसारेण संस्कारमात्रोपयोगि द्रव्यदानमेव मन्यते, अत्र वदामः कन्याभ्यः पितृद्रव्यदेयमिति पृथग्विधिः। तच्च मन्वाद्यनुरोधाच्चतुर्थांशरूपमेव। वैवाहिकं वसु च देयमित्यपि पृथग्विधिः।..............यदि तु वैवाहिकं विवाहोपयोगि पितृद्रव्यं कन्याभ्यो देयमित्यर्थः स्याद् वसुपदं पुनरुक्तं स्यादिति पृथग्विधिद्वयमेवात्र युक्तम्। तस्मादस्मदुक्तमेव व्याख्यानमादर्तुमर्हं न तु विवाहोपयुक्तद्रव्यपरतेत्यवसेयम्, व्य० प्र० ४५६-५७ )। मदन पारिजात ( पृ० ६५० ) और बालंभट्टी ( याज्ञ० २।१२४ ) का भी यही मत है।

बहिन और पांच भाई हैं, इस अवस्था में पैतृक सम्पत्ति के पांच भाग होंगे। भाई अपना एक-एक हिस्सा लेकर इसका $\frac{1}{4}$ अपनी बहिन को देंगे। इस दशा में बहिन को भाइयों की अपेक्षा अधिक हिस्सा मिल जायगा। यदि बीस हजार रुपये की सम्पत्ति हो तो बहिन को पांच हजार तथा प्रत्येक भाई को तीन हज़ार मिलेगा। भाइयों को बहिन का यह अधिक हिस्सा अवश्यमेव बुरा प्रतीत होगा। अब इसके विपरीत उदाहरण लीजिये। एक भाई और पांच बहिनें हैं। इस अवस्था में बीस हजार की सम्पत्ति में से भाई को पन्द्रह हज़ार तथा बहिनों को एक एक हज़ार का हिस्सा मिलेगा। किन्तु यदि यह माना जाय कि भाई प्रत्येक बहिन को अपने सम्पत्ति का चौथा हिस्सा दे तो चार बहिनों में अपनी सारी सम्पत्ति बांट देने पर वह बिल्कुल निर्धन हो जायगा और पांचवीं बहिन को हिस्सा देने के लिए उसे ऋण लेना पड़ेगा। दोनों अवस्थाओं में भाई बहिनों के हिस्सों में उनकी संख्या के कारण अन्तर पड़ता रहेगा।

विज्ञानेश्वर (या० २।१२४) ने इन दोषों का अनुभव करते हुए चतुर्थांश की यह व्याख्या की कि एक वर्ण की लड़की को उस वर्ण का लड़का होने पर जो हिस्सा मिलता, उसका चौथाई हिस्सा दिया जाय। कल्पना कीजिये किसी ब्राह्मण परिवार में दो लड़के और एक लड़की है। उक्त व्यवस्था के अनुसार सम्पत्ति पहले तीन हिस्सों में बांटी जायगी। दो हिस्से दोनों लड़कों को मिल जायंगे। तीसरे हिस्से का एक चौथाई कन्या को दिया जायगा और तीन चौथाई फिर दोनों लड़कों में बांट दिया जायगा। हम यह देख चुके हैं कि विभिन्न वर्ण के पुत्रों को उनके वर्णानुसार सम्पत्ति में हिस्सा दिया जाता है। उदाहरणार्थ यदि एक ब्राह्मण की चारों वर्णों की एक-एक पत्नी हो और प्रत्येक से एक लड़का और एक लड़की उत्पन्न हो तो प्रत्येक वर्ण की लड़की को अपने सवर्ण भाई के हिस्से का चौथा भाग मिलेगा। अब इस उदाहरण में चारों पुत्रों का भाग ४, ३, २, १ होगा। बहिनों का भी हिस्सा इसमें शामिल किया जाय तो सम्पत्ति ८, ६, ४ और २ के योगफल २० हिस्सों में विभक्त की जायगी। ब्राह्मण कन्या को एक हिस्सा पूरा मिलेगा (ब्राह्मण पुत्र के चार हिस्सों का एक चौथाई) क्षत्रिय कन्या को $\frac{3}{4}$ (३ का $\frac{1}{4}$) वैश्या को $\frac{1}{2}$ (२ का $\frac{1}{4}$) तथा शूद्र कन्या को $\frac{1}{4}$। विज्ञानेश्वर ने यह व्यवस्था इसलिए की थी कि पहिली व्यवस्था में बहुत भाई होने पर बहिनों को बहुत अधिक हिस्सा मिल जाता और बहुत बहिनें होने पर

भाई निर्धन हो जाते थे[५४]। इस व्यवस्था से ये दोष दूर हो गये। किन्तु फिर भी विज्ञानेश्वर की इस व्याख्या से बंटवारा कितना जटिल और व्यवहार में परेशानी उत्पन्न करने वाला हो गया, इसकी सहज ही में कल्पना की जा सकती है। कन्या विवाह के बाद दूसरे कुल में चली जाती है। मध्य-काल में यातायात और आवागमन के साधन आजकल की तरह सुलभ नहीं थे। उस समय दूसरे गांव में गई हुई कन्या का पिता के गांव में अपनी सम्पत्ति का सम्भालना सर्वथा असम्भव था। साथ ही उस समय कन्याओं का विवाह छोटी आयु में अनिवार्य रूप से प्रचलित हो जाने से वैदिक काल की अविवाहिता और अमाजू कन्याओं का हिन्दू परिवार में सर्वथा लोप हो गया था। इन सब कारणों से यह समझा जाने लगा कि कन्या के लिए पैतृक द्रव्य का मुख्य उद्देश्य विवाह करना है।

**बहिन का विवाह–भाइयों का आवश्यक कर्त्तव्य**––प्राचीन काल में पिता के अभाव में भाइयों का यह कर्त्तव्य माना जाता था कि वे अपनी बहिनों का विवाह करें। विष्णु ( १५।३१ ) ने स्पष्ट शब्दों में इसका विधान किया था[५५]। व्यास ने इसका समर्थन करते हुए कहा––ज्येष्ठ भाई पैतृक धन से अविवाहिता कन्याओं का विवाह करे[५६]। कई बार ऐसी स्थिति भी हो सकती थी कि कन्याएँ विवाह योग्य हों तथा पैतृक धन कुछ भी न हो, नारद ने उस अवस्था में विवाहित भाइयों का यह कर्त्तव्य निश्चित किया कि वे अपनी स्वार्जित सम्पत्ति से अविवाहित बहिनों का पाणिग्रहण संस्कार करें ( १३।३४ )। विश्वरूप इसे आवश्यक मानता हुआ, यह व्यवस्था करता

---

५४. याज्ञ० २।१२४ पर मिता० यदपि कैश्चिदुच्यते। अंशदानविवक्षायां बहुभ्रातृकाया बहुधनत्वं बहुभगिनीकस्य च निर्धनता प्राप्नोतीति तदुक्तरीत्या परिहृतमेव। न ह्यत्रात्मीयाद्‌भागादुद्धृत्य चतुर्थांशस्य दानमुच्यते येन तथा स्यात्। जीमूतवाहन ने भी उक्त आपत्ति को स्वीकार किया, (दा० पृ० ६९-७०); किन्तु वह चतुर्थांश को बहिन का हक़ नहीं मानता, इसका अर्थ विवाहोचित धन ही मानता है––'भगिनीनां संस्कार्यतामाह नाधिकारिताम्। एवं च बहुतरधने विवाहोचितधनं दातव्यं न चतुर्थांशनियमः इति सिध्यति'।

५५. विष्णु० १५।३१ अनूढानां तु कन्यानां वित्तानुसारेण संस्कारं कुर्यात्।

५६. व्यास––( विर० ४९३, अप० २।१२४ में उद्धृत ) असंस्कृतास्तु ये तत्र पैतृकादेव ते धनात्। संस्कार्या भ्रातृभिर्ज्येष्ठैः कन्यकाश्च यथाविधि॥

है कि कन्याओं के विवाह के लिए सम्पत्ति अलग करने के बाद ही दाय का बटवारा किया जाय। विवाह के कर्त्तव्य पर बल देने का परिणाम यह हुआ कि कन्या का पैतृक द्रव्य में कोई स्वतंत्र भाग नहीं रहा। यह समझा जाने लगा कि वैवाहिक धन और दहेज़ के रूप में कन्या को पैतृक सम्पत्ति में से उचित हिस्सा मिल जाता है; अतः उसे पृथक् रूप से दायाद मानने की आवश्यकता नहीं है।

**ब्रिटिश युग में कन्या के अधिकार**—वर्त्तमान समय में प्रपौत्र पर्यन्त पुरुष सन्तान तथा विधवा के अभाव में ही कन्या पैतृक सम्पत्ति में रिक्थहर होती है। मिताक्षरा[५७] तथा दायभाग द्वारा शासित प्रदेशों में उत्तराधिकार की दृष्टि से कन्यायें निम्न वर्गों में बांटी गई हैं और नीचे दिये क्रम से ही दायाद मानी जाती हैं—

| मिताक्षरा | दाय भाग |
|---|---|
| १. अविवाहिता (अनूढा) | १. अविवाहिता |
| २. विवाहिता | २. विवाहिता |
| क. अप्रतिष्ठिता (निर्धन) | क. पुत्रवती |
| ख. प्रतिष्ठिता | ख. संभावितपुत्रा |

विवाहिता और अविवाहिता दोनों कन्याओं के एक साथ दायाद होने पर, अविवाहिता को दायाद बनाने की विज्ञानेश्वर की व्यवस्था का आज कल की अदालतों ने अनुमोदन किया है[५८]। निर्धन और धनी की शर्त दोनों कन्याओं की एक जैसी स्थिति होने पर ही लागू होती है और धनी कन्या की तुलना में निर्धन का अधिकार पहले माना जाता है। इस व्यवस्था का लाभ उठाने के लिए यह आवश्यक है कि दोनों विवाहिता या अविवाहिता (अनूढा) हों, किन्तु यदि निर्धन विवाहिता और धनी अविवाहिता का मुकाबला हो तो धनी अविवाहिता को ही दायाद माना जायगा[५९]। अनूढा के अभाव में ही विवाहिता रिक्थहर होती है और विवाहिताओं में निर्धन कन्याएँ

---

५७. याज्ञ० २।१२४ पर मिताक्षरा।

५८. हेमांचल बनाम महाराजसिंह १. आगरा २१०, गुलाब बनाम हंसी २. आगरा १६६; विनोद बनाम प्रधान २ बी० रि० १७६

५९. दौलत बनाम वर्मा २२ बी० रि० ५४, जमना बाई बनाम खेमजी १४ बं० १

धनियों के मुकाबले में सम्पत्ति की पहले हक़दार होती हैं। बनारस सम्प्रदाय में आपेक्षिक निर्धनता ही कन्याओं के दायाद होने की मुख्य कसौटी है। अवधकुमारी बनाम चन्द्रा देई के मामले में चार कन्याओं में से दो ने पिता की सम्पत्ति में पूरा हिस्सा मांगा और यह दावा किया कि शेष दो बहिनों को इसमें कोई भाग नहीं मिलना चाहिए, उन दो बहिनों ने उनके दावे का यह कह कर विरोध किया कि वे उन की अपेक्षा निर्धन होने से सारी सम्पत्ति की अधिकारिणी हैं। अलाहाबाद हाई कोर्ट ने उनकी मांग स्वीकार करते हुए तथा उन्हें निर्धन मानते हुए धनी बहिनों का मामला खारिज कर दिया[६०]।

**बंगाल का नियम**—बंगाल में उत्तराधिकार की मुख्य कसौटी पिण्डदान है। अतः निःसन्तान विधवा को विवाहिता की तुलना में दाय में कोई अधिकार नहीं, भले ही विवाहिता वन्ध्या हो या उसका पुत्र होने की सम्भावना न हो। इसका कारण यह है कि प्रत्येक विवाहिता कन्या से यह आशा रखी जाती है कि वह पुत्र उत्पन्न करेगी। अतः यदि वह सन्तानोत्पादन की आयु को पार नहीं कर चुकी तो वही पिता की सम्पत्ति की अधिकारिणी होगी, बाद में विधवा या बांझ होने से उसकी सम्पत्ति नहीं छिन सकती[६१]।

विधवा कन्या, यदि पिता के जीवन काल में १८५६ के विधवा पुनर्विवाह कानून के अनुसार विवाह कर लेती है और पुत्र प्राप्त करती है तो वह पिता की सम्पत्ति को प्राप्त करेगी; बाद में पुत्र की मृत्यु से उसकी वह सम्पत्ति नहीं छिन सकती[६२]।

दक्षिण में देवण्ण भट्ट की स्मृतिचन्द्रिका द्वारा शासित प्रदेश में कन्याएँ पैतृक सम्पत्ति की अधिकारिणी नहीं होतीं[६३]।

**पैतृक सम्पत्ति पर कन्या का सीमित स्वत्व**—भारत के अधिकांश भागों में पिता से प्राप्त होने वाली सम्पत्ति पर कन्या का अधिकार विधवा के स्वत्व की भांति सीमित होता है[६४]। सीमित स्वत्व (Limited Estate) का

---

६०. इं० ला० रि० २. अला० ५६१

६१. अमृतलाल बनाम रजनीकान्त २३ वी० रि० २१४ ( २१७) प्रि० कौ०।

६२. बिनोला बनाम डांगू १९ वी रि० १३९

६३. डोरा स्वामी बनाम अमामला मद्रास दिसम्बर १८५२ पृष्ठ १७७

६४. छोटे लाल बनाम मन्नूलाल १४ बंगा ला० रि० २३५, गुत्तू बनाम डोरा सिंह ३ म० २९०

आशय यह है कि वह इस सम्पत्ति का यावज्जीवन उपभोग ही कर सकती है, उसकी मृत्यु के बाद यह सम्पत्ति कन्या के दायादों को नहीं मिलती, किन्तु पिता के दायादों को प्राप्त होती है। केवल बम्बई प्रान्त में कन्याओं का सम्पत्ति पर पूरा स्वत्व माना जाता है[६५]।

**स्त्रीधन पर कन्याओं का अधिकार**—कई प्राचीन शास्त्रकारों ने स्त्रीधन में कन्याओं को सब से पहले अधिकार दिया है। गौतम ने सर्वप्रथम इसका विधान किया, परवर्त्ती ग्रन्थों में इसका अनुसरण किया गया है[६६]। पिता की सम्पत्ति पर यदि पुत्रों को पूरा अधिकार है तो माता की सम्पत्ति में पुत्रियों को अधिकार मिलना स्वाभाविक है।

शास्त्रकारों ने इस व्यवस्था के समर्थन में कई विचित्र तर्क उपस्थित किये हैं। विज्ञानेश्वर ने लिखा है कि 'स्त्री का धन उसकी कन्याओं को प्राप्त होता है, क्योंकि कन्याओं में पुत्रों की अपेक्षा माता के अधिक अवयव संक्रान्त होते हैं, पुत्र में पिता के अवयव अधिक आते हैं; अतः पुत्र पिता की सम्पत्ति का अधिकारी होता है'। किन्तु गुरुदास बैनर्जी के मतानुसार इसका सच्चा कारण पुत्र पुत्रियों में सम्पत्ति का न्यायपूर्ण विभाजन है; कुछ ऐसे कारणों से जो केवल हिन्दू कानून का ही विशेष अंश नहीं है, पुत्र पिता की सम्पत्ति को पूर्ण रूप से ग्रहण करते हैं; इसकी क्षतिपूर्ति के रूप में कन्याओं को उनकी माताओं की सम्पत्ति के उत्तराधिकार में तरजीह दी जाती है[६७]।

स्त्रीधन के उत्तराधिकार के सम्बन्ध में विभिन्न सम्प्रदायों में परस्पर पर्याप्त मतभेद है, पर विज्ञानेश्वर ने ( याज्ञ० २।१४४-४५ ) कन्या को

---

**६५. विनायक बनाम लक्ष्मी बाई १ बं० हा० को० रि० ११७, भास्कर बनाम महादेव बं० हा० को० रि० १ जानकी बाई बनाम सुकरा १४ ब० ६१२**

**६६. गौतम ध० सू० २८।२४ स्त्रीधनं दुहितॄणामप्रत्तानामप्रतिष्ठितानां च। मि० बौधा० २।२।४९, मातुरलंकारं दुहितरः साम्प्रदायिकं लभेरन्नन्यद्वा। शंख स्मृच पृ० २६९ द्वारा उद्धृत—विभज्यमाने दायाद्ये कन्यालंकारं वैवाहिकं स्त्रीधनं च कन्या लभेत। मि० मनु० ९।१३१, याज्ञ० २।११७**

**६७. मिता० २।११७ मातुर्धनं दुहितरो विभजेरन्। ....युक्तं चैतत्। 'पुमान्पुंसोऽधिके शुक्रे स्त्री भवत्यधिके स्त्रियाः' इति स्त्र्यवयवानां दुहितृषु बाहुल्यात् स्त्रीधनं दुहितृगामि। पितृधनं पुत्रगामि पित्रवयवानां पुत्रेषु बाहुल्यादिति। बैनर्जी—हिन्दू ला आफ् मैरिज एण्ड स्त्रीधन।**

सब से ऊँचा स्थान दिया है और मिताक्षरा द्वारा शासित भारत के बड़े हिस्से में कन्याएँ स्त्रीधन की अधिकारिणी होती हैं (दे० अगला अध्याय)।

**कन्याओं के अन्य अधिकार—भरण तथा विवाह**—प्रत्येक कन्या को अपने पिता की सम्पत्ति में से भरण-पोषण पाने का अधिकार है[६८]। पिता का या उसके अभाव में भाइयों का कर्त्तव्य है कि वे कन्या का विवाह करें। संयुक्त परिवार का विभाग होने पर कन्याएँ अपने भाइयों के चतुर्थांश की अधिकारी होती हैं। विज्ञानेश्वर द्वारा प्रतिपादित रीति से उन कन्याओं को अपना भाग मिलता है। इस भाग को प्राप्त कर लेने के बाद परिवार के सदस्य उनका विवाह करने के लिए बाध्य नहीं होते। कई वार इस नियम के कारण परिवार के विभक्त होने पर भाइयों को बड़ा घाटा उठाना पड़ता है। जैसे, एक परिवार में यदि चार भाई और दो बहनें हैं तो परिवार के संयुक्त रहने तक तो लड़कियों का विवाह परिवार की संयुक्त सम्पत्ति में से किया जायगा। किन्तु यदि बंटवारा हो जाता है तो इन लड़कियों का पिता इनके विवाह के लिए संयुक्त परिवार की सम्पत्ति में किसी विशेष भाग का अधिकारी नहीं होगा। विभाग हो जाने पर पिता का कर्त्तव्य है कि वह अपनी कन्या का विवाह संस्कार कराये। कई वार ऐसा होता है कि कुछ भाइयों की लड़कियों के विवाह के बाद संयुक्त परिवार विभक्त हो जाता है। पहली लड़कियों की शादी संयुक्त परिवार की सम्पत्ति से हुई थी। जिन भाइयों की अविवाहित कन्याएँ बची हुई हैं, वे यह चाहते हैं कि इनके विवाह के लिए अपने भाग के अतिरिक्त कुछ द्रव्य विभाग के समय संयुक्त परिवार की सम्पत्ति में से निकाल कर उन्हें दिया जाय और बाद में सम्पत्ति बांटी जाय। किन्तु अदालतें उन की यह मांग स्वीकार नहीं करतीं। परिवार के संयुक्त रहते हुए कन्या का विवाह पारिवारिक कर्त्तव्य है, पर विभाग होने पर वह दायित्व पिता का ही है।

## *तीसरी अवस्था*

वर्तमान काल में हिन्दू परिवार में पुत्र की तुलना में कन्या को बहुत कम-साम्पत्तिक अधिकार प्राप्त हैं। उसे अपनी पैतृक सम्पत्ति में भाइयों का चौथा

---

६८. रामाबाई बनाम अम्बक ९ बं० हा० को० रि० २८३, मंगल बनाम रुक्मणि २३ बं० २९१, जमना बनाम मचुल २ अला० ३१५ तुलशा बनाम गोपाल राय ६ अला० २६३

भाग पाने का ही स्वत्व है और मध्यकाल से उस की व्याख्या यह की जा रही है कि इस का उद्देश्य उसके विवाह के व्यय को पूरा करना है। अतः कन्याओं का पैतृक सम्पत्ति में पृथक् रूप से कोई अंश नहीं माना जाता, प्रपौत्र पर्यन्त पुरुष सन्तान तथा विधवा के अभाव में ही वे पैतृक सम्पत्ति का दायाद हो सकती हैं।

कन्या विवाह के बाद दूसरे कुल में चली जाती है। उसे दायाद बनाने का तात्पर्य सम्पत्ति का एक परिवार से दूसरे परिवार में हस्तान्तर था, अतः पंजाब के रिवाज के अनुसार लड़कियां कभी दायाद नहीं होतीं, अवध के अनेक गांवों के रिवाजों के संग्रहों (बाजिबुलअर्जों) में यह व्यवस्था थी कि पैतृक तथा स्वार्जित दोनों प्रकार की सम्पत्ति में कन्याओं का कोई अधिकार नहीं है[६९]।

स्त्रियों में शिक्षा के प्रसार तथा पुरुषों के समान अधिकारों के लिए नारी आन्दोलन के प्रबल होने पर, पैतृक सम्पत्ति में कन्याओं को भी पुत्र की भांति दायाद बनाने की मांग होने लगी। इसके परिणाम स्वरूप २४ मार्च १९४३ को श्री सुल्तान अहमद ने केन्द्रीय व्यवस्थापिका परिषद में निःसंकल्प-पत्रक हिन्दू उत्तराधिकार बिल (Intestate Hindu Succession Bill) उपस्थित किया। इसमें कन्या को पुत्र तथा विधवा के साथ दायाद माना गया तथा पतिगृह से प्राप्त होने वाली सम्पत्ति का विचार करते हुए उसे पुत्र की अपेक्षा आधा हिस्सा प्रदान किया गया। इस बिल के निर्माताओं ने पहले कुमारी कन्याओं को ही पैतृक सम्पत्ति में उत्तराधिकारी बनाया, क्योंकि यह प्राचीनपरम्परानुमोदित व्यवस्था थी। विवाहित कन्याओं के श्वशुर कुल में चले जाने से उन्हें पैतृक सम्पत्ति में स्वत्व देने में व्यावहारिक कठिनाइयां थी[७०]। किन्तु देश के अधिकांश शिक्षित समुदाय ने विवाहित और अविवाहित कन्याओं में भेद करने का घोर विरोध किया। इन का मुख्य तर्क यह था कि इस व्यवस्था से कन्याओं को क्वांरी रहने का प्रोत्साहन मिलेगा, धनी घरों की कन्याएँ दाय प्राप्त करने के लिए विवाह नहीं करना चाहेंगीं और इस से समाज में अनाचार फैलने की सम्भावना बढ़ जायगी। इस आन्दोलन के परिणाम स्वरूप राव समिति द्वारा प्रस्तावित हिन्दू कोड में अविवाहित

---

६९. मेन—हिन्दू ला—दशम संस्करण, पृ० ६५८
७०. अल्तेकर—पोजीशन आफ् वुमैन, पृ० २९४

की शर्त हटा कर सब कन्याओं को समान रूप से दायाद बनाया गया और लड़की को लड़के से आधा हिस्सा दिया गया। पार्लियामेंट में हिन्दू कोड बिल के उपस्थित होने पर निर्वाचित समिति ने लड़के लड़की दोनों का हिस्सा बराबर रखने का प्रस्ताव किया। तीव्र विरोध के कारण हिन्दू कोड बिल पास नहीं हो सका और सरकार ने इसे पृथक बिलों में पास करने का निश्चय किया। इसके अनुसार २६ मई १९५४ को प्रकाशित असाधारण सरकारी गजट में नवीन 'वसीयत हीन हिन्दू उत्तराधिकार' विधेयक में लड़कियों को लड़कों के साथ दायाद बनाया गया है, किन्तु राव समिति का अनुसरण करते हुए उन्हें लड़कों से आधा हिस्सा देने की व्यवस्था की गयी है, क्योंकि पुत्री विवाहित होने पर पति की सम्पत्ति में से भी अंश ग्रहण करेगी।

इसमें कोई संदेह नहीं कि विवाहित कन्या को चल एवं अचल दोनों प्रकार की पैतृक सम्पत्ति में अंश देने में अनेक कठिनाइयां हैं। परिवार की चल पैतृक सम्पत्ति आभूषण और द्रव्य के रूप में होती है, प्रायः पिता की मृत्यु के बाद इसका बंटवारा होता है, उस समय तक कन्या का विवाह हुए काफी समय बीत चुका होता है, इस बीच में परिवार की यथार्थ स्थिति का ज्ञान श्वशुर कुल में रहने वाली कन्या को वैसा नहीं होता, जैसा पितृगृह में रहने वाले उसके भाइयों को संभव है। यह असंभव नहीं कि कन्या के विवाह के समय परिवार की आर्थिक स्थिति बहुत अच्छी हो, बाद में संकट आने पर इसके निराकरण के लिये भाइयों को कुछ आभूषण बेचने पड़े हों, ऐसी बातों को परिवार की प्रतिष्ठा अक्षुण्ण रखने के लिये प्रायः गुप्त रखा जाता है। इस का ज्ञान न होने पर कन्या बंटवारे के समय जब पारिवारिक चल सम्पत्ति को बहुत कम देखेगी तो वह यही समझेगी कि उसके भाइयों ने उसे ठगने और हिस्से से वंचित करने के लिये ही ऐसा किया है। भाइयों की सच्ची बात पर भी विश्वास करना उसके लिये कठिन होगा। दूसरी ओर भाई ऐसे चतुर भी हो सकते हैं कि बंटवारे के समय बहुत सी सम्पत्ति छिपा लें, ताकि उसमें से बहन को हिस्सा न मिल सके। दोनों अवस्थाओं में विवाह के बाद लड़की को अपना न्याय्य अंश प्राप्त करने में कठिनाई होगी, भाई बहन में ग़लतफ़हमी और वैमनस्य का भाव बढ़ेगा।

अचल सम्पत्ति में भी विवाहित कन्या को हिस्सा देने में कई कठिनाइयां हैं। अचल सम्पत्ति प्रायः भूमि के रूप में होती है, पुत्रों द्वारा बंटवारा वर्त्तमान समय में भूमि को इतने छोटे खण्डों में विभक्त कर देता है कि वे आर्थिक दृष्टि से

अनुत्पादक होते हैं। लड़कियों द्वारा बंटवारे में हिस्सा लेने से ऐसे अनुत्पादक भू-खण्डों की संख्या और बढ़ेगी। विवाह के बाद दूसरे स्थान में चले जाने से कन्या के लिये अपने पीहर की भू-सम्पत्ति का प्रबन्ध करना बहुत कठिन होगा। अतः अल्तेकर जैसे विचारकों ने विवाहित कन्याओं को पैतृक सम्पत्ति में अंश देने का विरोध किया है[७१]।

किन्तु वर्तमान युग में नरनारी के समानाधिकार का आन्दोलन इतना प्रबल है कि अब कन्यायें हिन्दू परिवार में अधिक समय तक पैतृक सम्पत्ति में अंश ग्रहण करने के अधिकार से वंचित नहीं रक्खी जा सकतीं। अन्तिम अध्याय में यह बताया जायगा कि किस प्रकार कानून द्वारा कन्याओं को यह अधिकार देने के प्रयत्न हो रहे हैं। वह दिन दूर नहीं प्रतीत होता, जब कन्याओं को यह स्वत्व प्राप्त हो जायगा।

विवाह के बाद श्वशुरालय जाने पर हिन्दू कन्या को वहां पत्नी और विधवा के रूप में साम्पत्तिक स्वत्व प्राप्त होते हैं। इनका अगले दो अध्यायों में वर्णन होगा। यद्यपि अनेक हिन्दू शास्त्रकारों ने नारी के अस्वातन्त्र्य का विधान किया है (दे० ऊ० पृ० १४४), किन्तु हिन्दू शास्त्रकार स्त्रियों की अस्वतन्त्रता का अर्थ उनका पुरुषों की पराधीनता में रहना नहीं[७२], किन्तु कानूनी

---

७१. अल्तेकर—पू० नि० पु० पृ० २९३-९६।

७२. नारद स्मृति (जाली–से० बु० ई० पृ० ४९) के ऋणादान प्रकरण (५।२६-२७) में यह बात बड़े विस्तार से स्पष्ट की गयी है—'स्त्री द्वारा विशेष संकट न होने की दशा (अनापत्ति) में किये हुए कानूनी कार्य विशेषतः घर या खेत का दान, रेहन रखना या बेचना अवैध (अप्रमाण) होते हैं, यही कार्य पति से अनुमति लेकर किये जाने पर वैध होते हैं (स्त्रीकृतान्यप्रमाणानि कार्याण्याहुर-नापदि। विशेषतो गृहक्षेत्रदानाधमनविक्रयाः॥ एतान्येव प्रमाणानि भर्त्ता यद्यनुमन्यते)। नारद के अनुसार स्वतंत्रता का अर्थ है कानूनी कार्य (व्यवहार) करने का सामर्थ्य, इस दृष्टि से वह संसार में केवल तीन व्यक्तियों—राजा, आचार्य और गृहपति को ही स्वाधीन मानता है, अतएव वह पुत्रों और दासों के साथ स्त्रियों की पराधीनता की घोषणा करता है (अस्वतन्त्राः स्त्रियः पुत्राः दासाश्च सपरिग्रहाः। ऋणा०३४)। कानूनी मामलों में स्त्री की यह पराधीनता भारतीय समाज में ही हो, सो बात नहीं; पिछली शती के उत्तरार्ध तक यह योरोप के अधिकांश देशों में थी और विवाह के बाद पति पत्नी के अभिन्न समझे जाने का परि-

मामलों में स्त्री की स्वतन्त्र सत्ता या व्यक्तित्व (Jeristic Personality) का न होना है। स्त्री के साम्पत्तिक स्वत्वों के विषय में वे बहुत उदार रहे हैं[७३], कानूनी मामलों में परतन्त्रतास्वीकार करते हुए भी उन्होंने स्त्री

---

णाम थी। मध्य युगीन ब्रिटिश कानून के सर्वोत्तम व्याख्याता ब्लैकस्टोन के प्रसिद्ध शब्दों में विवाह से पति पत्नी कानून की दृष्टि में एक व्यक्ति हो जाते हैं, स्त्री की कानूनी सत्ता स्थगित हो जाती है अथवा कम से कम पति की सत्ता में समाविष्ट हो जाती है, वह प्रत्येक कार्य उसके संरक्षण में करती है, अतः वह कोई ऐसा काम नहीं कर सकती, जिससे उसका स्वतंत्र कानूनी व्यक्तित्व माना जा सके (कमेण्टरीज १।४४२ )

७३. यद्यपि कानूनी मामलों में स्त्री की परतन्त्रता के सम्बन्ध में पिछली शताब्दी के इंगलैण्ड और भारत में कोई बड़ा अन्तर न था, किन्तु भारतीय स्मृतिकारों ने इस परतन्त्रता को स्त्री द्वारा सम्पत्ति रखने के अधिकार में बाधक नहीं माना था और उसका साम्पत्तिक स्वत्व बहुत पहले स्वीकृत कर लिया था (दे० नो० पृ० ५४७ )। इंगलैण्ड में पत्नी की पृथक् कानूनी सत्ता न होने के कारण १८७० ई० तक उसे अपनी कमाई पर वैयक्तिक अधिकार न था, १८८२ तक वह किसी सम्पत्ति पर स्वतंत्र रूप से स्वामित्व नहीं रख सकती थी (हाबहाऊस मारल्स इन इवोल्यूशन सप्तम संस्करण लंडन १९५१, पृ० २२३); किन्तु हिन्दू परिवार में स्त्रीधन कहलाने वाली सम्पत्ति पर वैदिक युग से उस का स्वत्व स्वीकार किया जाता रहा है (दे० अगला अध्याय ), गौतम ने इस पर लड़कियों का हक़ माना है ( २८।२४-३६ )। यद्यपि मनु के एक श्लोक में पत्नी की कमाई पति की सम्पत्ति बतायी है और यह कहा गया है कि पत्नी, पुत्र और दास का कोई साम्पत्तिक स्वत्व नहीं होता (८।४१६ भार्या पुत्रश्च दासश्च त्रय एवाधनाः स्मृताः ), किन्तु मनु के टीकाकारों ने इस की यह व्याख्या की है कि पत्नी को पति से अनुमति लिये विना स्वतन्त्र रूप से इस सम्पत्ति के विनियोग का अधिकार नहीं। मेधातिथि के भाष्यानुसार यदि पत्नी को सम्पत्ति का स्वामी न माना जाय तो 'पत्नी हि पारीणह्यस्येशे' (तै० सं० ६।२।१।१७) आदि पत्नी का साम्पत्तिक स्वत्व द्योतित करने वाले श्रुति वचन निरर्थक हो जायेंगे, अतः मनु के इस वचन का अभिप्राय यह है कि पति की आज्ञा के विना स्त्री को स्वतंत्र-रूप से धन व्यय करने का अधिकार नहीं है (असति वा स्त्रीणां स्वाम्ये पत्न्यैवानुगमनं क्रियते 'पत्नी वै पारिणह्यस्येशे' श्रुतयो निरालम्बनाः स्युः। अत्रोच्यते।

को प्राचीन काल में ऐसे साम्पत्तिक स्वत्व प्रदान किये, जो इंगलेंण्ड की स्त्रियों को पिछली शताब्दी के उत्तरार्ध में प्राप्त हुए हैं। अगले अध्यायों में इस का विशेष विवेचन होगा।

----

पारतन्त्र्याभिधानमेतत् असत्यां भर्त्रनुज्ञायां न स्त्रीभिः स्वातन्त्र्येण यत्र क्वचिद्धनं विनियोक्तव्यम् ––मनु ८।४१६ पर मेधा तिथि की टीका )। मनु की एक अन्य व्यवस्था भी पत्नी के साम्पत्तिक स्वत्व का निर्देश करती है, मनु ८।२९ में धार्मिक राजा का यह कर्त्तव्य बताया गया है, कि वह रक्षा के बहाने से पत्नी की सम्पत्ति हड़पने वाले संबन्धियों को चोरी का दण्ड दे। यद्यपि नारद ने स्त्री की कानूनी परतन्त्रता की उद्घोषणा की थी, किन्तु इसे विज्ञानेश्वर ने सम्पत्ति के सम्बन्ध में स्वीकार नहीं किया––'यत्तु पारतन्त्र्यवचनं 'न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति' इत्यादि तदस्तु पारतन्त्र्यम्, धनस्वीकारे तु को विरोधः ( याज्ञ० २।१३६ पर मिता० ) ।

# सोलहवां अध्याय

## स्त्रीधन

हिन्दू परिवार में नारी के साम्पत्तिक स्वत्वों का विकास—वैदिक युग में पत्नी के अधिकार—जैमिनि द्वारा स्त्रियों के साम्पत्तिक अधिकार का प्रबल समर्थन—बौधायन का स्त्री को अदायाद बनाना—इसके कारण—मध्यकालीन टीकाकार और नारी के दायाधिकार—स्त्रीधन का स्वरूप—इसका आदिम रूप—धर्मसूत्रों, स्मृतियों तथा मध्यकालीन धर्मशास्त्रों के अनुसार इसका स्वरूप—स्त्रीधन पर पत्नी का स्वत्व—सौदायिक सम्पत्ति—पति द्वारा नियन्त्रित सम्पत्ति—स्त्रीधन का विभाग और उत्तराधिकारी—स्त्रीधन के उत्तराधिकार में कन्या को तरजीह देना—इसमें पुत्रों का स्वत्व—आसुर विवाह में स्त्रीधन का विभाग—स्त्रीधन के संक्रमण की विविध व्यवस्थायें—हिन्दूकोड द्वारा इस विषय में प्रस्तावित परिवर्त्तन।

अधिकांश सभ्य समाजों में प्राचीन एवं मध्यकाल में विवाहिता स्त्री को सम्पत्ति पर कोई स्वत्व न था; पश्चिमी जगत् में स्त्रियों को यह अधिकार पिछली शताब्दी के उत्तरार्ध में मिला है[1]। किन्तु हिन्दू परिवार में पत्नी वैदिक

---

१. चीनियों में और फिलस्तीन के यहूदियों में प्राचीन काल में स्त्रियों को कोई साम्पत्तिक अधिकार नहीं प्राप्त थे (हाबहाऊस-मारलस इन इवोल्यूशन पृ० १९३-२००) यूनान में स्पार्टा के अपवाद को छोड़ कर कहीं भी स्त्रियों को यह स्वत्व न था, स्पार्टा के सैनिक राज्य में पुरुषों के सदैव युद्धों में अथवा उनके अभ्यास में व्यापृत रहने के कारण स्त्रियों को भूसम्पत्ति पर स्वामित्व मिला। अरस्तू के समय स्पार्टा की ⅖ भूमि स्त्रियों के अधिकार में थी, किन्तु वह स्त्रियों की इस स्वतन्त्रता को स्पार्टा के लिये घातक समझता था ( हाबहाऊस पूर्व निर्दिष्ट पुस्तक पृ० २०४ )। आरम्भिक रोम में द्वादश पट्टिकाओं ( Twelve Tables ) के युग ( ५५० ई० पू० ) तक विवाहित होने पर स्त्री पति के पूर्ण प्रभुत्व ( Potesta ) में चली जाती थी, बाद में रोमन कानून ने योरोप में प्रथम बार विवाहिता स्त्री की पृथक् सम्पत्ति स्वीकार की, उसके दहेज ( Dos ) तथा पति द्वारा दी भेंटों पर उसका वैयक्तिक

युग में भी स्त्रीधन पर स्वामित्व रखती थी । सर हेनरी मेन ने लिखा है— "हिन्दुओं में विवाहित स्त्रियों की वह सुरक्षित सम्पत्ति—जिसका पति अपहार ( Alienation ) नहीं कर सकता—स्त्रीधन के नाम से प्रसिद्ध है । यह तथ्य निश्चित रूप से उल्लेखनीय है कि हिन्दुओं में रोमन लोगों की अपेक्षा इस संस्था का विकास बहुत पहले हो गया था"[२] । हिन्दू समाज को इस विषय में अधिकांश सभ्य जातियों का अग्रणी कहा जा सकता है ।

---

स्वामित्व स्वीकार किया ( इंसाइक्लोपीडिया आफ सोशल साइन्सिज खण्ड १० पृ० ११७) । किन्तु यह स्थिति देर तक नहीं रही । ईसाई चर्च द्वारा रोमन नारी की स्वच्छन्दता का घोर विरोध हुआ और योरोप में स्त्रियों से सम्पत्ति के अधिकार छिने । पहले (दे० ऊ० पृ० ५४३) यह बताया जा चुका है कि ब्लैकस्टोन की व्याख्यानुसार इंगलैण्ड में विवाह के बाद पत्नी का व्यक्तित्व पति में निमज्जित होने से उस की कोई पृथक् सम्पत्ति नहीं मानी जाती थी । संयुक्त-राज्य अमरीका और योरोप के अधिकांश देशों में यही स्थिति थी । १९वीं शती के उत्तरार्ध में नारियों के वैयक्तिक अधिकारों का आन्दोलन प्रबल होने पर विवाहिता स्त्रियों को अपनी सम्पत्ति रखने का अधिकार मिला । इंगलैण्ड में १८७० ई० का 'विवाहित स्त्री सम्पत्ति कानून' बनने से पहले शराबी पति पत्नी द्वारा उपार्जित कमाई हड़प सकता था, १८७८ में एक कानून द्वारा अन्य प्रकार की सम्पत्ति पर विवाहिता स्त्री को वैयक्तिक स्वत्व दिया गया । १८७७ और १८८१ ई० में स्काटलैण्ड के लिये ऐसे कानून बने । सं० रा० अमरीका के विविध राज्यों में १८५० ई० तक ऐसे कानूनों का निर्माण हुआ । स्वीडन ने १८७४ ई० में, डेन्मार्क ने १८८० में, नार्वे ने १८८८ में और जर्मन सिविल कोड ने इस शती के प्रारम्भ में पत्नी की कमाई पति के प्रभुत्व से पृथक् की (इंसा० सो० सा० खं० १० पृ० ११७-२२, हाबहाऊस—मारल्स इन इवोल्यूशन पृ० २२०-२४ )

२. अर्ली हिस्टरी आफ़ इंस्टीट्यूशन्स, पृ० ३२१-२४ । किन्तु मेन का इस सम्बन्ध में यह कथन ठीक नहीं कि बाद में हिन्दू स्त्रियों के इस अधिकार में ह्रास आ गया, क्योंकि मध्य युग में विज्ञानेश्वर ने स्त्रीधन का स्वरूप बहुत विस्तृत किया ( दे० नी० पृ० ५६५) । सर गुरुदास बैनर्जी ने लिखा है कि किसी अन्य देश में स्त्रियों के साम्पत्तिक अधिकार इतने प्राचीन काल में स्वीकृत नहीं किये गये, जितने प्राचीन समय में भारत में मान्य हुए ( हिन्दू ला आफ मैरिज एण्ड स्त्री-

स्त्रीधन हिन्दू कानून का क्लिष्टतम भाग है। शास्त्रकारों में उसके स्वरूप और प्रकारों तथा उत्तराधिकार की प्रणाली में बहुत मतभेद है। मध्यकाल में जीमूतवाहन ने इस विषय को अतिगहन बताया था और वर्त्तमान युग में भारत सरकार के एक भूतपूर्व विधिमन्त्री श्री अम्बेडकर ने इसे स्त्रीबुद्धि के समान जटिल कहा है[3]। कमलाकर ने विवाद ताण्डव में लिखा है कि धर्मशास्त्री इस विषय में खूब झगड़ते हैं, अगली विवेचना से यह स्पष्ट होगा कि वर्त्तमान न्यायालय भी इस विषय में पर्याप्त मतभेद रखते हैं। स्त्रीधन के सम्बन्ध में तीन प्रश्न मुख्य रूप से विचारणीय हैं—इसका स्वरूप, इस पर पत्नी का स्वत्व, इसके विभाग और उत्तराधिकार के नियम। इन तीनों पर पृथक् रूप से विचार करने से पहले हिन्दू परिवार में नारियों के साम्पत्तिक स्वत्वों के विकास का संक्षिप्त प्रतिपादन किया जायगा।

## *हिन्दू नारी के साम्पत्तिक अधिकार*

**वैदिक युग में स्त्री का साम्पत्तिक स्वत्व**—पहले यह बताया जा चुका है कि इस युग में पत्नी की स्थिति बहुत उन्नत थी (दे० ऊ० पृ० १३२)। ऐसा प्रतीत होता है कि इस युग के प्रारम्भ में स्त्रियों को कुछ सीमा तक साम्पत्तिक अधिकार प्राप्त थे। तैत्ति० सं०(६।२।१।१), काठक संहिता (२४।८), कपिष्ठल सं० (३८।१) और मैत्रायणी संहिता (३।७।९) के एक वचन में पत्नी को पारिणाह्य अर्थात् घर की वस्तुओं की स्वामिनी स्वीकार किया गया है[4]। इतनी अधिक संहिताओं में इस वचन का उल्लेख यह द्योतित करता है कि उस समय पत्नी का यह अधिकार समाज में साधारण रूप से मान्य रहा होगा। इसका समर्थन इस बात से भी होता है कि उपर्युक्त संहितायें नारी के संबन्ध

---

धन पृ० ३७० ) किन्तु इस विषय में बेबीलोनिया और मिश्र अपवाद हैं। हम्मूरब्बी के बेबीलोन (लग० २१५०-१९५० ई० पू०) में स्त्री कुछ अवस्थाओं में सम्पत्ति का विनियोग कर सकती थी तथा मिश्र में पुराने राज्य ( लग० २७००-२२०० ई० पू० ) के बाद स्त्रियों को सम्पत्ति पर पूर्णाधिकार थे ( हाबहाऊस-पू० नि० पृ० १८२, १९३ )

३. दा० पृ० ९९ इत्यतिगहनमुक्तमप्रजः स्त्रीधनम्। हिन्दू कोड बिल, भारत सरकार द्वारा प्रकाशित पृ० ४१-४२।

४. तै० सं० ६।२।१।१ पत्नी हि पारिणाह्यस्येशे। पारिणाह्य शब्द काठक सं० में परिणह्य तथा मै० सं० में पारेणह्य, वसिष्ठ धर्म सूत्र में पारिणाय्य

में उच्च विचार नहीं रखतीं[५], फिर भी उन्होंने नारियों के इस अधिकार का उल्लेख किया है। संभवतः तत्कालीन समाज में स्त्रियों के साम्पत्तिक अधिकार की प्रथा मान्य होने से ही उन्हें ऐसा वर्णन करना पड़ा है। अथर्व० ( १८।३।१), तैत्तिरीय आरण्यक ( ६।३।१ ) और कौषीतकी सूत्र (८०।८४ ) स्पष्ट रूप से विधवा को धन प्रदान करने का विधान करते हैं[६]। शतपथ ब्राह्मण ( १४।७।३।१-२; १४।५।४।१ ) से यह सूचित होता है कि पत्नी पति के दाय की उत्तराधिकारिणी होती थी। याज्ञवल्क्य ने संन्यास लेने का निश्चय करने पर अपनी एक पत्नी मैत्रेयी को दूसरी पत्नी कात्यायनी के साथ अपनी संपत्ति का संविभाग करने को कहा था।

वैदिक युग में याज्ञिक कर्मकाण्ड में पवित्रता का विचार बढ़ने से स्त्रियों को शनैः शनैः यज्ञ कार्यों से बहिष्कृत किया जाने लगा, पहले इस विषय का प्रतिपादन हो चुका है (दे० ऊ० पृ० १३३-३६ ); यहां इतना निर्देश पर्याप्त है कि यज्ञीय विधियों से स्त्रियों के बहिष्कार के कुछ ऐसे वचन हैं जिनसे बाद में उनके दाय से वंचित होने की कल्पना की गयी। तैत्ति० सं० (६।५।८।२) ने यह कहा कि यज्ञ में स्त्रियों द्वारा दिया गया सोम निर्वीर्य ( निरिन्द्रिय) हो जाता है, अतः स्त्रियां निरिन्द्रिय तथा दाय को ग्रहण न करने वाली (अदायादी ) होती हैं[७]। तै० सं० का यह सारा प्रकरण यज्ञ विषयक है और इसमें

---

आदि अनेक रूपों में मिलता है। पारिणाह्य का अर्थ है—घर का सामान, शीशा, कंगनादि—(पारिणाह्यमुपस्करः, आदर्शकंकणताम्बूलकरण्डकादि विता० पृ० ४५१ )। पारिणाय्य का अर्थ—विवाह के समय मिला धन ( परिणयनलब्धं धनम् दा० ८२ )। अप० ( २।११७) के अनुसार परीणाह्य का अर्थ आभूषण है।

५. इन संहिताओं में नारी की निन्दा के लिये दे० ऊ० पृ० १४२-४३, टि० सं० २९-३०

६. अथर्व १८।३१ इयं नारी पतिलोकं वृणाना निपद्यत उप त्वा मर्त्य प्रेतम्। धर्मं पुराणमनुपालयन्ती तस्यै प्रजां द्रविणं चेह धेहि॥

७. तै० सं० ६।५।८।२ पात्नीवतो गृह्यते सुवर्गस्य लोकस्य प्रज्ञात्यै स सोमो नातिष्ठत स्त्रीभ्यो गृह्यमाणस्तं घृतं वज्रं कृत्वाऽघ्नन्तं निरिन्द्रियं भूतमगृह्णन्त तस्मात्स्त्रियो निरिन्द्रिया अदायादीः। मि० शत० ब्रा० ४।४।२।१३ तथोऽएवैष एतेन वज्रेणाज्येन हन्त्येव पत्नीर्निरक्षणोति ता हता निरष्टा नात्मनश्च नेशते न दायस्य चनेशते।

संहिताकार द्वारा स्त्रियों को यज्ञ में सोम के अधिकार से वंचित करने का उल्लेख है। शतपथ ब्राह्मण (४।४।२।१३) के एक याज्ञिक प्रकरण में कहा गया है—'देवों ने आज्य रूप वज्र से पत्नियों को आहत किया, आहत पत्नियां अपनी तथा दाय की स्वामिनी नहीं हुईं'। मैत्रायणी संहिता के उस याज्ञिक स्थल का पहले उल्लेख हो चुका है (दे० ऊ० पृ० २४४), जिसमें स्त्री सन्तान के पैदा होने पर उसे नीचे पड़ा रहने देने तथा लड़के को (गोद में) उठा लेने का वर्णन है। इस याज्ञिक प्रक्रिया का उपसंहार करता हुआ संहिताकार यह कहता है कि इस कारण पुरुष दायाद है और स्त्री अदायाद। इन तीन वचनों से यह प्रतीत होता है कि स्त्रियों को अदायाद मानने की कल्पना याज्ञिक कर्मकाण्ड से प्रारम्भ हुई।

**जैमिनि द्वारा स्त्रियों को साम्पत्तिक अधिकार देने का समर्थन**—किन्तु कर्मकाण्ड के प्रधान ग्रन्थ मीमांसा दर्शन में जैमिनि (५००–२०० पू०) ने स्त्रियों के साम्पत्तिक अधिकारों का प्रबल पोषण किया। इसके छठे अध्याय के पहले पाद के तृतीय अधिकरण में इस मन्तव्य का प्रतिपादन किया गया है कि पति पत्नी दोनों को यज्ञ करने का अधिकार है। उस समय ऐतिशायनादि कुछ विचारक केवल पुरुषों को ही यज्ञ का अधिकारी मानते थे (मी०सू० ६।१।६, दे०ऊ० पृ० १३६); जैमिनि ने पूर्वपक्ष के रूप में इनकी युक्तियां उपस्थित कर उनका विस्तृत खण्डन किया है। इन युक्तियों में एक यह भी है कि यज्ञों का अधिकार केवल पुरुषों को है, क्योंकि यज्ञों के लिये धन की आवश्यकता होती है और चूंकि स्त्रियों का क्रय-विक्रय होता है, अतः स्त्रियां सम्पत्ति की स्वामी नहीं हो सकतीं, वस्तुतः वे सम्पत्ति जैसी ही हैं[८]; जैमिनि ने इस युक्ति का खण्डन करते हुए यह सिद्ध किया है कि स्त्रियां सम्पत्ति पर स्वत्व रखती हैं। मीमांसासूत्रों और शबरभाष्य (२००–५०० ई०) के आधार पर यहां दोनों पक्षों की युक्तियों का विस्तृत दिग्दर्शन कराया जायगा, क्योंकि हिन्दू स्त्रियों के साम्पत्तिक स्वत्वों के बारे में यह प्रकरण असाधारण महत्व रखता है।

**पूर्वपक्ष की युक्तियां**—पूर्वपक्ष ने स्त्रियों का साम्पत्तिक स्वत्व न होने की **पहली युक्ति** यह दी है—"स्त्रियां बेचे और खरीदे जाने के कारण यह अधिकार नहीं रखतीं, पिता द्वारा बेचे जाने के कारण उनका पिता की सम्पत्ति

८. मीमांसासूत्र ६।१।१० द्रव्यवत्त्वात्तु पुंसां स्यात् द्रव्यसंयुक्तं, क्रय-विक्रयाभ्यामद्रव्यत्वं स्त्रीणां, द्रव्यैः समानयोगित्वात्।

में स्वत्व नहीं होता, पति द्वारा खरीदा जाने से उन्हें उसकी जायदाद पर हक नहीं मिलता। अनेक श्रुति वचनों में स्त्री की बिक्री का उल्लेख है, जैसे, कन्या के पिता को गाड़ी में जुड़ने वाले सौ बैल दिये जाने चाहियें; आर्ष विवाह में लड़की के बाप को एक गौ और एक बैल दिया जाना चाहिये"। इन वचनों का स्पष्ट अर्थ यह है कि यह लड़की का मूल्य है, इसे देने से पति को कन्या पर अधिकार प्राप्त होता है। इन श्रुति वाक्यों का अभिप्राय यह नहीं है कि कन्या के पिता की स्वीकृति प्राप्त करने के लिये यह मूल्य दिया जाता है। इस प्रकार अन्य वस्तुओं के समान बेचे और खरीदे जाने से स्त्रियां सम्पत्ति ही हैं[९]।

पूर्वपक्षी की **दूसरी युक्ति** स्त्री के विक्रय का सूचक यह श्रुति वचन है कि 'पति द्वारा खरीदी जाने पर वह दूसरे व्यक्तियों से सम्बन्ध रखती है'[१०]। उसकी **तीसरी युक्ति** यह है—चूंकि उन पर पति का स्वामित्व होता है, अतः उनके कार्य ( कमाई) पर भी पति का स्वत्व होता है[११]। शबर ने इसका यों स्पष्टीकरण किया है—"यदि कोई यह युक्ति दे कि स्त्रियां खाना बनाने से अथवा कातने से कमाई करें और इस प्रकार प्राप्त सम्पत्ति से यज्ञ करें तो पूर्वपक्षी यह कहेगा कि स्त्री की कमाई अपनी वैयक्तिक सम्पत्ति नहीं है। जब स्त्री पर पति का स्वामित्व है तो उससे सम्बन्ध रखनेवाली प्रत्येक वस्तु पर पति का अधिकार है। पति के लिये कार्य करना उस का कर्तव्य है, उसे यह शोभा नहीं देता कि वह उसके काम छोड़ कर अपना काम करे। वस्तुतः अतिरिक्त कार्य से वह जो भी कमाई करती है, वह पति की सम्पत्ति होती है। पूर्वपक्षी ने मनुस्मृति के एक वचन ( ८।४१६) से इस मत की पुष्टि की है"[१२]।

---

९. शाबरभाष्य ६।१।१० अद्रव्यत्वं स्त्रीणां क्रयविक्रयाभ्यां, क्रयविक्रयसंयुक्ता हि स्त्रियः, पित्रा विक्रीयन्ते, भर्त्रा क्रीयन्ते, विक्रीतत्वाच्च पितृधननानामनीशिन्यः। क्रीतत्वाच्च भर्तृधनानाम्। विक्रयो हि श्रूयते, 'शतमधिरथं दुहितृमते दद्यात्, आर्षे गोमिथुनमिति'।...एवं द्रव्यैः समानयोगित्वं स्त्रीणाम्।

१०. मी० ६।१।११ तथा चान्यार्थदर्शनम्। शा० भा०—या पत्या क्रीतासती अथान्यैश्चरति इति क्रीततां दर्शयति।

११. वही ६।१।१२ तादर्थ्यात् कर्मतादर्थ्यम्।

१२. मी० सू० ६।१।१२ पर शाबर भाष्य—आह, यदनया भक्तोत्सर्पणेन वा कर्त्तनेन वा धनमुपार्जितं तेन यक्ष्यते इति। उच्यते, तदप्यस्या न स्वम्, यदाहि

**उत्तर पक्ष**—जैमिनि ने नारियों को सम्पत्ति का स्वामी न मानने वाले उपर्युक्त पूर्व पक्ष का चार सूत्रों (६।१।१३-१६) द्वारा खण्डन किया है। पहले सूत्र में यह युक्ति दी गयी है—"(यज्ञों से स्वर्गादि) फल प्राप्त करने की इच्छा स्त्री पुरुष दोनों में समान रूप से होती है। निर्धन होने पर भी पत्नी स्वर्ग जाने की इच्छा रख सकती है, इस फल को पाने के लिये यज्ञ का विधान करने वाले—'स्वर्गकामो यजेत' आदि विधि वचन हैं, अतः उसे यज्ञ करने चाहियें, यदि स्मृति का अनुसरण करते हुए वह सम्पत्तिहीन हो, 'यजेत' का विधि-वाक्य होते हुए भी यज्ञ न करे तो स्मृति द्वारा श्रुतिवचन का खण्डन होगा और यह ठीक नहीं है। इस से यह परिणाम निकलता है कि स्वर्गादि फल की आकांक्षा रखने वाली को स्मृतिवचन का प्रमाण न मानते हुए सम्पत्ति प्राप्त कर के यज्ञ करना चाहिये'[१३]।

दूसरे सूत्र में जैमिनि ने यह तर्क उपस्थित किया है कि पत्नी का सम्पत्ति के साथ सम्बन्ध बताने वाले अनेक श्रुतिवचन हैं। विवाह के समय पति को कहा जाता है कि धार्मिक, साम्पत्तिक, आनन्द विषयक कार्यों में पत्नी का अतिचार (उपेक्षा) नहीं करना चाहिये। मनुस्मृति का पत्नी को सम्पत्ति-हीन बताने वाला वचन श्रुतिविरोधी होने से ठीक नहीं, इसका अर्थ केवल यह बताना है कि पत्नी पति के नियन्त्रण से स्वाधीन नहीं होनी चाहिये, यह व्यवस्था परिवार में शान्ति और सौहार्द बनाये रखने के लिये है[१४]।

---

सा अन्यस्य स्वभूता, तदा यत्तदीयं तदपि तस्यैव। अपि च, स्वामिनस्तया कर्म कर्त्तव्यम्। न तत्परित्यज्य स्वकर्मार्हति कर्त्तुम्। यत्तया अन्येन प्रकारेणोपार्ज्यते, तत्पत्युरेव स्वं भवितुमर्हति। एवं च स्मरति, 'भार्या दासश्च पुत्रश्च निर्धनाः सर्व एव ते। यत्ते समधिगच्छन्ति यस्य ते तस्य तद्धनमिति'।

१३. मी० सू० ६।१।१३ फलोत्साहाविशेषात्तु। शा० भा०—श्रुतिविशेषात्फलार्थिन्या यष्टव्यम्, यदि स्मृतिमनुरुध्यमाना परवशा निर्धना च स्यात्, यजेतेत्युक्ते सति न यजेत, तत्र स्मृत्या श्रुतिर्बाध्येत। न चैतत् न्याय्यम्। तस्मात्फलार्थिनी सती स्मृतिमप्रमाणीकृत्य द्रव्यं परिगृह्णीयात् यजेत चेति।

१४. वही ६।१।१४, अर्थेन च समवेतत्वात्। शा०भा०—एवं दानकाले संवादः क्रियते, धर्मे च अर्थे च कामे च नातिचरितव्येति। यत्तूच्यते, भार्यादयो निर्धना इति, स्मर्यमाणमपि निर्धनत्वम्, अन्याय्यमेव, श्रुतिविरोधात्। तस्मादस्वातन्त्र्यमनेन प्रकारेण उच्यते, संव्यवहारप्रसिद्ध्यर्थम्।

स्त्री के क्रय के सम्बन्ध में जैमिनि ने यह उत्तर दिया है कि यह विशुद्ध रूप से धार्मिक कार्य है । "यह वास्तविक रूप से बेचना नहीं है, क्योंकि क्रय में तो वस्तु का दाम चढ़ता और गिरता रहता है, किन्तु विवाह में यह दाम निश्चित है, कन्या सुरूप हो या कुरूप, उसके लिये रथ में जुड़ने वाले सौ बैल दिये ही जायेंगे । यदि स्मृतियों में पत्नी के क्रय-विक्रय के वचन हों तो वे भी श्रुतिविरोधी होने से अमान्य होंगे[१५] । इसके अतिरिक्त स्त्रियों के सम्पत्ति के स्वामित्व ( स्ववत्ता ) को सूचित करने वाले श्रुति वचन भी हैं। शबर ने ऐसे दो वचनों का निर्देश किया[१६] । इस विवेचना से यह स्पष्ट है कि जैमिनि के मतानुसार स्त्रियां सम्पत्ति का स्वामी होने की योग्यता रखती थीं । अतः जान मेन का यह मत ठीक नहीं प्रतीत होता—"अत्यन्त प्राचीन काल में हिन्दू स्त्रियों को सम्पत्ति रखने का अधिकार नहीं था, वे दास समझी जाती थी, बाद के स्मृतिकारों तथा टीकाकारों ने उनकी साम्पत्तिक स्थिति उन्नत की"[१७] । वस्तुतः तथ्य यह है कि वैदिक युग के अन्त में हिन्दू नारी के साम्पत्तिक स्वत्वों में कुछ ह्रास हुआ ।

**बौधायन का स्त्री को अदायाद बनाना**—धर्मसूत्रों में इसके स्पष्ट संकेत दृष्टिगोचर होते हैं । इस समय तक स्त्रियों की स्थिति पहले बताये कारणों से काफी गिर चुकी थी ( दे० ऊ० पृ० १३३-३८), उनकी आजीवन परतन्त्रता का सिद्धान्त सर्वमान्य हो चुका था (दे० ऊ० पृ० १४४) । बौधायन ने सम्भवतः सर्वप्रथम 'न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति' की यह व्याख्या की कि वह दाय की

---

१५. वही ६।१।१५, क्रयस्य धर्ममात्रत्वम् । यत्तु क्रयः श्रूयते, धर्ममात्रं तु तत्, नासौ क्रय इति, क्रयो हि उच्चनीचपण्यपणो भवति । नियतं त्विदं दानं शतमधिरथं, शोभनामशोभनाञ्च कन्यां प्रति । स्मार्त्तं च श्रुतिविरुद्धं विक्रयं नानुमन्यन्ते ।

१६. वही ६।१।१६ स्ववत्तामपि दर्शयति । शबर द्वारा इसकी पुष्टि में दिये गये श्रुतिवचनों में पहला 'पत्नी वै पारिणय्यस्येष्टे ( तै० सं० ६।२।१।१ ) ऊपर (टि० सं० ४) उद्धृत किया जा चुका है । दूसरा वचन यह है, जाघन्या पत्नीः संयाजयन्ति, भसद्वीर्या हि पत्न्यः, भसदा वा एताः परगृहाणामैश्वर्यमवरुन्धत' इति ( वे स्त्रियों के लिये भसद् के साथ यज्ञ करते हैं, स्त्रियों का गौरव भसद् में है, भसद् से वे दूसरे घरों की स्वामिनी बनती हैं। भसद्-योनि )

१७. जान मेन—हिन्दू ला षष्ठ संस्करण पृ० ८६ ।

अधिकारिणी नहीं है, क्योंकि श्रुति में कहा गया है कि स्त्रियां निरिन्द्रिय और दायहीन होती हैं[१८]। मध्यकालीन निबन्धकारों के लिये बौधायन का यह वचन स्त्रियों को साम्पत्तिक अधिकारों से वंचित करने के लिये ब्रह्मवाक्य हो गया। जीमूतवाहन (दा० पृ० २०९), अपरार्क (२।१२४) देवण्णभट्ट (स्मृच पृ० २७) चंडेश्वर (विर० ४९५) मित्रमिश्र (वी० मि० २।१३६, व्यप्र० ५२९) तथा कमलाकर (विता० ३३४) ने इसे उद्धृत किया है।

स्त्रियों को इस प्रकार अदायाद बनाने का क्या कारण था ? श्री सर्वाधिकारी ने यह कल्पना की है कि नारियों को साम्पत्तिक अधिकारों से इसलिये वंचित किया गया कि वे संकटपूर्ण समयों में पारिवारिक कार्यों का प्रबन्ध करने में असमर्थ थीं। "स्त्रियां अबला समझी जाती थीं; हिन्दू इतिहास में हमें कोई सेमिरामिस या बोडीसिया नहीं मिलती। ऋग्वेद में हम यह पढ़ते हैं कि मनु की कन्या इडा ने मानव जाति को यज्ञों की विधि सिखलायी थी, उपनिषदों के युग में हमें मैत्रेयी की तथा अन्य अनेक स्त्रियों की बुद्धिमत्तापूर्ण उक्तियों के अधिक उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं, किन्तु ऐसी स्त्री कहां थी, जो शत्रु के आक्रमण रोक सके। परिवारिक सम्पत्ति का प्रबन्ध करना स्त्रियों के लिये बड़ा कठिन काम था। अतः यह अच्छा था कि उन्हें परिवार के मन्दिर में देवता बना दिया जाय और जीवन की स्थूल चिन्ताओं के भार से मुक्त कर दिया जाय"[१९]।

किन्तु यह व्याख्या कई कारणों से ठीक नहीं प्रतीत होती। यह आवश्यक नहीं कि योद्धा समाज में सदैव नारियाँ साम्पत्तिक अधिकारों से वंचित हों, पहले (पृ०५१५) यह बताया जा चुका है कि प्राचीन यूनान में केवल स्पार्टा के सैनिक राज्य में स्त्रियां सम्पत्ति की स्वामिनी थीं। ऋग्वेद में इडा के ही दर्शन नहीं होते, किन्तु वहीं सायणभाष्यानुसार हम मुद्गलानी को युद्धभूमि में

---

१८. बौधा० २।२।५।३ न दायं, निरिन्द्रिया ह्यदायाश्च स्त्रियो मता इति श्रुतिः।

१९. सर्वाधिकारी—प्रिन्सिपल्ज आफ् हिन्दू ला आफ इनहैरिटेन्स पृ० २०९। दन्तकथाओं के अनुसार सेमिरामिस असीरिया की राजधानी निनेवा के संस्थापक नाइनस (२१८२ ई० पू०) की वीर पत्नी थी और बोडीसिया पहली श० ई० में इंगलैण्ड में रोमन शासन के विरुद्ध विद्रोह का नेतृत्व करने वाली वीरांगना।

पति के साथ जाते हुए और उसके सारथि कर्म से पति को विजयी होता हुआ पाते हैं[२०]। सर्वाधिकारी के मतानुसार वैदिककाल बहुत संघर्षमय था, किन्तु पहले ( पृ० ५४७ ) यह बताया जा चुका है कि इस समय स्त्री को विवाह के समय उपलब्ध सम्पत्ति पर स्वत्व प्राप्त था। अतः सर्वाधिकारी का उपर्युक्त मत ठीक नहीं प्रतीत होता।

धर्मसूत्रों के समय में तथा बाद में स्त्रियों को अदायाद मानने का वास्तविक हेतु पहले बताये कारणों ( दे० ऊ० पृ० १३३ अनु० ) से उनकी स्थिति का हीन होना था। कर्मकाण्डप्रधान युग में पवित्रता का विचार बहुत अधिक बढ़ने से स्त्रियां पहले याज्ञिक अधिकारों से वंचित हुईं और बाद में साम्पत्तिक स्वत्वों से। जैमिनि की उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि ये दोनों अधिकार परस्पर संबद्ध थे। स्त्रियों की शिक्षा बन्द होने से तथा बालविवाह के प्रचलन से उनकी स्वाधीनता बिल्कुल नष्ट हो गयी। ये सब कारण स्त्रियों के साम्पत्तिक स्वत्व को संकुचित करने में सहायक सिद्ध हुए। स्त्रियों को पुरुषों के तुल्य दायाधिकार न देने के अन्य दो कारणों का पहले उल्लेख हो चुका है ( दे० ऊ० पृ० ३२६-२७ )।

**मध्यकालीन टीकाकार और स्त्री का दायाधिकार**—बौधायन द्वारा स्त्रियों के अदायाद होने की घोषणा के बावजूद धर्मसूत्रों और स्मृतियों में माता, पत्नी, कन्यादि स्त्रियों को स्पष्टरूप से दायाद माना गया है[२१]। मध्यकालीन निबन्धकारों के आगे यह समस्या थी कि इन विरोधी वचनों का समन्वय किस प्रकार किया जाय। यह मुख्यतः निम्न ढंगों से किया गया—(१) विज्ञानेश्वर ने मिताक्षरा में बौधायन वाले श्रुति वचन का उल्लेख ही

---

२०. ऋ० १०।१०२।२ रथीरभून्मुद्गलानी गविष्टौ भरे कृतं व्यचेदिन्द्रसेना।

२१. पैतृक द्रव्य में पुत्रों के बराबर माता के हिस्से का विधान विष्णुस्मृति १८।३४ में है—मातरः पुत्रभागानुसारेण भागहारिण्यः मि०ना०स्मृ० १६।१२ समांशहारिणी माता पुत्राणां स्यात् मृते पतौ। बृहस्पति ( धर्मकोश २।१४१३ ), कात्यायन ( वही-वहीं ) व्यास और देवल ( धर्मकोश २।१४१४ ) ने भी माता को पुत्रों के समान दायार्ह माना है। कन्या के दायसंबन्धी प्रमाणों का पिछले अध्याय में उल्लेख हुआ है। याज्ञवल्क्य अपुत्र पुरुष के मरने पर उसके उत्तराधिकारियों में पत्नी को प्रथम स्थान देता है ( याज्ञ० २।१३५ )।

नहीं किया। (२) माधवाचार्य ने यह सिद्ध किया कि यह वचन स्त्रियों के दाय निषेध का प्रमाण नहीं हो सकता (३) जीमूतवाहन ने स्त्रियों को अदायाद बनाने वाले वचनों तथा मातादि को दायार्ह बतलाने वाले स्मृतिवाक्यों के विरोध का परिहार इस प्रकार किया कि सामान्य रूप से स्त्रियां दायाद नहीं हैं, किन्तु शास्त्रों में विशेष वचनों द्वारा जिनको दायाद बनाया गया है, उन्हें दायार्ह समझना चाहिये।

मध्यकाल में विज्ञानेश्वर संभवतः स्त्रियों के साम्पत्तिक अधिकारों का सब से बड़ा समर्थक था। वह यह नहीं मानता था कि स्त्रियां अदायाद हैं, उसने बौधायन वाली श्रुति का कहीं उल्लेख नहीं किया, पहले यह बताया जा चुका है कि वह स्त्रियों की परतन्त्रता को उनके साम्पत्तिक स्वत्व में बाधक नहीं समझता था (दे० ऊ० पृ० ५४४)। जीमूतवाहन की भांति वह यह नहीं मानता कि केवल वही स्त्रियां दायाद हो सकती हैं, जिनका स्मृतियों में नामतः उल्लेख है, पर परदादी के किसी शास्त्र में निर्दिष्ट न होने पर भी वह गोत्रज सपिण्डों में उसे दायाद बनाता है (मिता० २।१३५)। विज्ञानेश्वर ने स्त्रीधन की इतनी विस्तृत व्याख्या की है (दे० नी० पृ० ५६५) कि उसमें सम्पत्ति प्राप्त करने के सभी प्रकारों—उत्तराधिकार, क्रय, बंटवारा आदि का समावेश हो जाता है[२२]। वर्त्तमान न्यायालयों ने विज्ञानेश्वर की इस व्याख्या को पूरी तरह स्वीकार नहीं किया[२३], किन्तु इसमें कोई संदेह नहीं कि विज्ञानेश्वर स्त्रियों के साम्पत्तिक स्वत्व को पूरी तरह मानता था।

---

२२. सर हेनरी मेन ने विज्ञानेश्वर के स्त्रीधन के लक्षण पर यह टिप्पणी की है कि यदि यह सब स्त्रीधन हो तो इस से यह परिणाम निकलता है कि प्राचीन हिन्दू कानून ने सैद्धान्तिक रूप से विवाहित स्त्रियों को उस से अधिक मात्रा में साम्पत्तिक स्वतन्त्रता दी थी, जो अंग्रेज स्त्रियों को वर्त्तमान काल में इंगलैण्ड के 'विवाहित स्त्रियों की सम्पत्ति कानून' से मिली है (अर्ली इंस्टीटयूशन्स, पृ० ३२२)।

२३. उदाहरणार्थ बनारस सम्प्रदाय म स्त्री द्वारा उत्तराधिकार में प्राप्त सम्पत्ति स्त्रीधन नहीं समझी जाती। विधवा को पति में विरासत से मिली जायदाद को प्रिवी कौन्सिल ने स्त्रीधन नहीं माना (ठाकुर देई ब० बालकराम, ११ म्यू० इं० ए० १३९; भगवान दीन ब० मैना ११ म्यू० इं० ए० ४८७)। इसी प्रकार लड़की द्वारा पिता से विरासत में प्राप्त सम्पत्ति भी स्त्रीधन नहीं

जीमूतवाहन ने बौधायन के वचन पर यह मत प्रकट किया कि स्त्री दाय-योग्य नहीं है, पर पत्नी आदि को दायाद बनाने वाले विशेष वचन हैं; अतः सामान्य रूप से स्त्रियां दायाद नहीं हैं, किन्तु नामतः निर्दिष्ट स्त्रियों को दायाद समझना चाहिये[२४]। चण्डेश्वर का भी यही मत था[२५]। आगे यह बताया जायगा कि वर्तमान न्यायालयों ने भी यही स्थिति स्वीकार की है।

माधवाचार्य ने स्त्रियों को अदायाद बताने वाले श्रुति वचन की ठीक व्याख्या करते हुए कहा है कि इसका वास्तविक अर्थ यह है कि पात्नीवत नामक ग्रह अर्थात् सोमरस के प्याले में पत्नी का कोई भाग नहीं होता, क्योंकि 'इन्द्रियं

---

है ( छोटे लाल ब० चुन्नूलाल इं० ला० रि० ४ कल० ७४४ )। मद्रास में भी यही कानून (इं० ला० रि० ३ म० २९०) है। न केवल पुरुषों, किन्तु स्त्रियों से उत्तराधिकार में प्राप्त सम्पत्ति भी स्त्रीधन नहीं होती, दे० शिवशंकर ब० देवीसहाय इं० ला० रि० २५ अला० ४६८।

२४. दा० २०९ न दायमर्हति स्त्रीत्यन्वयः। पत्न्यादीनां त्वधिकारो विशेष-वचनादविरुद्धः।

२५. स्त्रियों के अदायाद सम्बन्धी श्रुतिवचन पर कुछ मध्यकालीन टीका-कारों के मत देखना अप्रासंगिक न होगा। अपरार्क (या०२।१३५-३६) का मत है कि 'तस्मात्स्त्रियो निरिन्द्रियाश्चादायादाः' का वचन पुत्रों के होने पर ही लागू होता है, सामान्यतः स्त्रियां दायाद नहीं, किन्तु पुत्रों के अभाव में दायाद बन सकती हैं। देवण्ण भट्ट ने कहा—माताऽप्यंशं समं हरेत् ( याज्ञ० २।१२३), मातरः पुत्र-भागानुसारेण भागहारिण्यः ( वि० १८।३४-३५ ) आदि वचन स्त्रियों को अंश-हर या भागहर बनाते हैं, दायहर नहीं। स्त्रियां दायाद नहीं हैं किन्तु उनके भागहर होने में कोई आपत्ति नहीं की जा सकती! ( स्मृच २६७ दाया-नर्हाणां हि दायहरत्वोक्तिर्विरुध्यते। न पुनरंशहरत्वोक्तिः। अंशशब्दो हि भागवचनो न दायवचनः ) अन्यत्र देवण्ण भट्ट ने इसे अर्थवाद ( प्रशंसा परक ) मात्र कहा है, न कि सामान्य विधि। यह विधि उन पत्नी आदि स्त्रियों पर लागू नहीं होती, जिन्हें सींग से पकड़ कर अर्थात् स्पष्ट रूप से शास्त्रीय वचनों द्वारा दायाद बनाया गया है ( स्मृच पृ० २९४ यत्तु श्रुतौ चोक्तं तस्मात्स्त्रियो निरि-न्द्रिया अदायादा इति तदपि न मन्वादिवचनबाधकम्।......भवतु वा सर्व-स्त्रीविषयत्वावगतिः। तथापि दायादतया शृंगग्राहोक्तपत्न्यादिस्त्रीव्यतिरिक्त विषया अर्थवादश्रुतिरिति सर्वं सुस्थम्)। मि० व्यप्र० पृ० ५१७

वै सोमपीथः' के श्रुति वचन में इन्द्रिय शब्द का प्रयोग सोम के अर्थ में देखा जाता है[२६]। अतः इस वचन का दाय के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। माधव के इस सही अर्थ का मित्रमिश्र ने बड़ा अयुक्तियुक्त खण्डन किया है। उसका यह तर्क है कि इन्द्रिय का अर्थ यदि सोम हो तो भी बौधायन द्वारा स्त्रियों को अदायाद बनाने का प्रतिपादक कोई श्रुतिवचन होना चाहिये क्योंकि यह तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता कि बौधायन ने स्त्रियों के अदायाद होने का एक तथ्य के रूप उस अवस्था में वर्णन किया हो, जब कि श्रुति में कोई ऐसा स्पष्ट निषेधपरक वचन न हो[२७]। मित्रमिश्र के इस तर्क पर टिप्पणी करने की आवश्यकता नहीं है।

दुर्भाग्यवश वर्त्तमान न्यायालयों ने जीमूतवाहन और मित्रमिश्र की व्याख्या सही मानी। कलकत्ता हाईकोर्ट ने यह मत प्रकट किया कि श्रुति तथा बौधायन के वचनों में स्त्रियों के दायनिषेध के जिस नियम का प्रतिपादन है, मित्रमिश्र ने जिसकी पुष्टि की है, वह स्त्रियों को रिक्थ के अधिकार से पूर्णरूप से वंचित करता है[२८]। इस निर्णय के अनुसार स्मृतियों में नामतः उल्लिखित स्त्री संबन्धियों के अतिरिक्त अन्य कोई स्त्री निकटतम सम्बन्धी होने पर भी उत्तराधिकार में सम्पत्ति नहीं पा सकती[२९]। यदि न्यायालय विज्ञानेश्वर और माधव का अनुसरण करते तो यह शोचनीय स्थिति न उत्पन्न होती। अब तो कानून द्वारा ही इसका प्रतिकार हो सकता है। १९२९ के दूसरे कानून के अनुसार बहिन, पोती और दोहती का दायादों की श्रेणी में परिगणन करते हुए इन्हें ऊँचा स्थान दिया गया; प्रस्तावित हिन्दू कोड तथा नवीन हिन्दू उत्तराधिकार विधेयक में स्त्री दायादों का स्पष्ट उल्लेख है और उन्हें पुरुषों के तुल्य अधिकार दिये गये हैं।

---

२६. परामा० ५३६ या च श्रुतिः 'तस्मात्स्त्रियो निरिन्द्रिया अदायादा' इति सा पात्नीवतग्रहे तत्पत्न्या अंशो नास्तीत्येवंपरा। इन्द्रियशब्दस्य 'इन्द्रियं वै सोमपीथः' इति सोमे प्रयोगदर्शनात्।

२७. व्यप्र० ५२९-५३० अस्तु वा इन्द्रियपदस्य वाक्यशेषात्सोमपरता तथापि दायादत्वाभावाभिधानावलम्बनस्यान्यस्यासत्वान्निरालम्बनश्रुतेश्चासंभवात्सिद्धवत्कीर्त्तनानुपपत्तिप्रसूतप्रतिषेधकल्पनावश्यम्भावात्।

२८. जगदम्बा ब० सेक्रेटरी आफ स्टेट १६ कल० ३६७;

२९. ३७ म० २८६

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि हिन्दूसमाज में स्त्रियों को वैदिक-युग में साम्पत्तिक अधिकार थे, जैमिनि ने इनका प्रबल समर्थन किया। पर समाज में स्त्रियों की स्थिति गिरने से ये स्वत्व कम होने लगे। बौधायन ने उन्हें अदायाद घोषित किया, किन्तु विज्ञानेश्वर ने स्त्रीधन की उदार व्याख्या से इन अधिकारों को विशद बनाया। माधव ने स्त्रियों को अदायाद बताने वाले वचनों का खण्डन किया। पर जीमूतवाहन ने स्त्रीधन की संकुचित व्याख्या की, वर्त्तमान अदालतों द्वारा इस के स्वीकृत होने पर स्त्रियों के साम्पत्तिक अधिकार बहुत मर्यादित हो गये, इनका प्रतिकार नये कानूनों द्वारा हो रहा है।

हिन्दू समाज में स्त्रियों के साम्पत्तिक अधिकारों के सामान्य प्रतिपादन के बाद अब स्त्रीधन के स्वरूप का वर्णन होगा।

## *स्त्रीधन का स्वरूप*

**स्त्रीधन का आदिम रूप**—ऐसा प्रतीत होता है कि स्त्रीधन का आरम्भ वैदिक युग में विवाह के समय कन्या को दिये जाने वाले दहेज (वहतु) की वस्तुओं[३०]—वस्त्र, आभूषण तथा घर की अन्य सामग्री (पारिणाह्य) से हुआ[३१]। बौधायन तथा वसिष्ठ स्त्रीधन में स्पष्टरूप से गहनों ( अलंकार ) तथा विवाह के समय मिले द्रव्य (परिणाय्य) का उल्लेख करते हैं; आपस्तम्ब धर्मसूत्र में कुछ आचार्यों का यह मत उद्धृत किया गया है कि अलंकारों तथा पिता, भाई आदि संबन्धियों से मिले धन पर पत्नी का स्वत्व होता है[३२]।

---

३०. ऋ० १०।८५।१३ तथा अथर्व १४।१।१३ में कहा गया कि सूर्या को उसके पिता ने जो दहेज ( वहतु) दिया, वह उसके श्वशुरालय में पहुँचने से पहले ही वहां पहुँच गया ( सूर्यायाः वहतुः प्रागात्सविता यमवासृजत् )। एक अन्य मंत्र ( ऋ० १०।८५।३८, अथर्व० १४।२।२१, पा० गृ० १।७।३ ) में कन्या को दहेज के साथ देने का वर्णन है ( तुभ्यमग्रे पर्यवहन् सूर्यां वहतुना सह)। अथर्व ३।३१।५ में त्वष्टा द्वारा लड़की के लिये दहेज जुड़ाने का वर्णन है ( त्वष्टा दुहित्रे वहतुं युनक्ति)। सायण ने वहतु शब्द की व्युत्पत्ति और अर्थ इस प्रकार किया है—पुरुषैरुह्यते जामातृगृहं प्राप्यत इति वहतुः। दुहित्रा सह प्रीत्या प्रस्थापनीयं वस्त्रालंकारादिद्रव्यं वहतुशब्देन विवक्षितम् (अथर्व० ३।३१।५); कन्याप्रियार्थं दातव्यो गवादिपदार्थो वहतुः ( ऋ० १०।८५।१३ )

३१. दे० ऊ० टिप्पणी सं० ४, पृ० ५४७

३२. बौधा० २।२।४९ मातुरलंकारं दुहितरः साम्प्रदायिकं लभेरन्नन्यद्वा।

विष्णु, कौटिल्य और याज्ञवल्क्य स्मृति से पहले स्त्रीधन के प्रकारों में शुल्क (कन्या के पिता को दिया गया धन) का कोई उल्लेख नहीं मिलता, अतः सर हेनरी मेन तथा अल्तेकर की यह कल्पना मान्य नहीं प्रतीत होती कि स्त्रीधन का उद्‍गम शुल्क से हुआ है[३३]।

गौतम ने सर्वप्रथम स्त्रीधन शब्द का उल्लेख किया है (२८।२५), किन्तु इसका स्वरूप स्पष्ट नहीं किया। बौधायन (२।२।४९) और वसिष्ठ (१७।४६) इस शब्द का प्रयोग न करते हुए गहनों तथा विवाह के समय भेंटों से मिले धन का स्त्रियों द्वारा बंटवारा करने की व्यवस्था करते हैं। चौथी शताब्दी ईस्वी पूर्व में कौटिलीय अर्थशास्त्र ने स्त्रीधन के सम्बन्ध में सब से पहले विस्तारपूर्वक अनेक व्यवस्थायें कीं (३।२) और इसे दो प्रकार का बताया—(१) वृत्ति अर्थात् जीवन निर्वाह के साधन (भू-सम्पत्ति और सोना), (२) आबन्ध्य या शरीर में बांधे जाने वाले आभूषण। वृत्ति रूप का स्त्रीधन दो हज़ार कार्षापण तक हो सकता था और आभूषणों में कोई मर्यादा नहीं थी। यह स्पष्ट है कि वैदिक युग की अपेक्षा मौर्य युग में स्त्रीधन का क्षेत्र अधिक विस्तृत हो गया था, पहले उसमें केवल चल सम्पत्ति—अलंकार और घर की सामग्री थी; अब उसमें जीवन निर्वाह के लिये वार्षिक राशि भी नियत की जाने

---

वसिष्ठ १७।४६ मातुः परिणेयं स्त्रियो विभजेरन्। आप० धर्मसूत्र २।६।१४।९ अलंकारो भार्याया ज्ञातिधनं चैके।

३३. मेन—अर्ली इंस्टीटयूशन्स पृ० ३२४, अल्तेकर—पोजीशन आफ वुमैन, पृ० २५९। शुल्क वर द्वारा विवाह के लिये वधू अथवा उसके माता पिता को दिया जाने वाला धन था। मेन के मतानुसार पितृतन्त्रीय प्राचीन हिन्दू समाज में यह शुल्क कन्या पर पैतृक या पारिवारिक प्रभुत्व की क्षति का प्रतिफल था; कन्या पिता के स्वामित्व से निकल कर वर को मिलती थी, अतः वर उसका मूल्य कन्या के पिता को चुकाता था। मेन के मतानुसार स्त्रीधन का आदिम रूप यही था। इसमें कोई संदेह नहीं कि प्राचीन हिन्दू परिवार में शुल्क की प्रथा थी, ऋ० १।१०९।२ में इसका संकेत है, गौतम (२८।२३) ने सर्वप्रथम इसका नामतः उल्लेख किया, मनु ने इसकी निन्दा की है (३।५१)। किन्तु कौटिल्य (४ थी श० ई० पू०) से पहले किसी सूत्रकार ने स्त्रीधन में शुल्क का वर्णन न कर, वधू के अलंकारों का प्रधान रूप से उल्लेख किया है, अतः यही स्त्रीधन का आदिम रूप समझा जाना चाहिये।

लगी। कौटिल्य ने परवर्त्ती स्मृतिकारों द्वारा निर्दिष्ट शुल्क, आधेय, आधिवेदनिक और बन्धुदत्त नामक स्त्रीधन का भी उल्लेख किया है[३४]।

स्मृतिकारों के समय स्त्रीधन के भेद बढ़ने लगे। मनु ने ९।१९४ में छः प्रकार के निम्न स्त्रीधनों की गणना की है—(१) अध्यग्नि—विवाह संस्कार की अग्नि के सम्मुख दिया गया धन (२) अध्यावाहनिक—पतिगृह से लाते समय दिया गया द्रव्य (३) प्रीतिदत्त—प्रीतिकर्म में दिया हुआ धन (४-६) भाई, माता और पिता द्वारा दिया गया द्रव्य[३५]। इनके अतिरिक्त मनु ने दो अन्य प्रकार के

---

३४. कौ० ३।२ वृत्तिराबन्ध्यं वा स्त्रीधनम्। परद्विसाहस्रा स्थाप्या वृत्तिः। आबन्ध्यानियमः। श्री मूला व्याख्या—वृत्तिर्भूमिहिरण्यादिजीविकार्था, आबन्ध्यंभूषणादि। दो हज़ार पण की मर्यादा का उल्लेख कात्यायन (स्मृच० द्वारा उ० २।२८१) तथा व्यास (स्मृच–वहीं) ने भी किया है (द्विसहस्रः परो दायः स्त्रियै देयो धनस्य च)। स्मृति चन्द्रिका ने व्यास के वचन की विवेचना करते हुए यह परिणाम निकाला है कि यह प्रतिवर्ष दी जाने वाली राशि है (स्त्रियै देय इत्यत्र प्रत्यब्दमिति विधेयसंख्या योग्यताबलादवगम्यते)। व्यवहार प्रकाश का भी यही मत है ((पृ० ५४४)। पराशर द्वारा उद्धृत (३।५४८) बृहस्पति के वचन से यह ज्ञात होता है कि वृत्ति में स्थावर सम्पत्ति भी दी जा सकती थी (दद्याद्धनं च पर्याप्तं क्षेत्रांशं वा यदिच्छति)। अर्थशास्त्र की ऊपर उद्धृत की टीका से भी इसकी पुष्टि होती है। श्री अल्तेकर के मतानुसार दो हजार पण क्रय शक्ति की दृष्टि से द्वितीय विश्वयुद्ध से पूर्व १० हज़ार रुपये के बराबर थे (पोज़ीशन आफ़ वुमैन पृ० ३०५), इनका वर्त्तमान मूल्य ३५० का सूचक अंक मानते हुए ३५ हज़ार रुपये के लगभग होगा।

३५. मनु० ९।१९४ अध्यग्न्यध्यावाहनिकं दत्तं च प्रीतिकर्मणि। भ्रातृमातृपितृप्राप्तं षड्विधं स्त्रीधनं स्मृतम्॥ मिताक्षरा के अनुसार छः की यह संख्या यह बताती है कि इस से कम प्रकार का स्त्रीधन नहीं हो सकता, किन्तु अधिक प्रकार का स्त्रीधन संभव है (याज्ञ० २।१४३ पर मिता० इति स्त्रीधनस्य षड्विधत्वं तन्न्यूनसंख्याव्यवच्छेदार्थं नाधिकसंख्याव्यवच्छेदाय)। अध्यावाहनिक की व्याख्या इस प्रकार की गयी है—नन्दन के मतानुसार आवहन का अर्थ है पितृकुल से पति कुल में आना, इस समय मिली वस्तुयें अध्यावाहनिक हैं—मि० विर० ५२२ अध्यावाहनिकं पतिगृहं नीयमानायाः पृष्ठतो यन्नीयते तत्, भर्तृगृहात्पितृगृहं यदा श्वशुरादिभिर्दत्तमध्यावाहनिकमिति मेधातिथिः।

स्त्रीधनों का भी उल्लेख किया है—अन्वाधेय या विवाह के बाद मिली भेंटें (९।१४५) तथा यौतक (९।१३१)। यौतक संभवतः मनु ने सामान्य रूप से स्त्रीधन के लिये प्रयुक्त किया है, किन्तु टीकाकारों में इसके अर्थ के सम्बन्ध में बहुत मतभेद है[३६]। नारद (दा० ४८) ने मनु की भांति छः प्रकार का ही स्त्रीधन गिनाया है, किन्तु मनु के प्रीतिकर्म में दिये धन के स्थान पर भर्तृदाय (पति द्वारा दिया धन) का उल्लेख कर उसने मनु के उपर्युक्त प्रकार को संकुचित कर दिया है। विष्णु (१७।१८) और याज्ञवल्क्य ने मनु के स्त्रीधन में निम्न

सर्वज्ञनारायण के मतानुसार प्रीतिदत्त का अर्थ है—रतिकाल के समय पति द्वारा दी वस्तु (प्रीतिकर्मणि रतिकाले पत्या दत्तम्) और चण्डेश्वर के मत में यह श्वशुरादि द्वारा वधू के शील धर्मादि गुणों से प्रसन्न होकर दी गयी भेंट है। (विर० ५२२)।

३६. मनु० ९।१३१ मातुस्तु यौतकं यत्स्यात्कुमारीभाग एव सः। मनु के सब से पुराने टीकाकार मेधातिथि ने इसका अर्थ किया है कि यह स्त्री की पृथक् सम्पत्ति है, जिस पर उसका पूरा स्वाम्य है (यौतकशब्दः पृथग्भावेन च स्त्रीधने। तत्र हि तस्या एव केवलायाः स्वाम्यम्) अप० (याज्ञ० २।११७) का भी यही मत है। जीमूतवाहन मिश्रण वाची यु धातु से इसकी व्युत्पत्ति करता है, विवाह से पति पत्नी एक हो जाते हैं, अतः विवाह के समय मिला धन यौतक है। (यु मिश्रण इति धातोर्युत इति पदं मिश्रतावचनं, मिश्रता च स्त्रीपुरुषयोरेकशरीरता विवाहाच्च तद्भवति 'अस्थिभिरस्थीनि मांसैर्मांसानि त्वचा त्वचमिति श्रुतेः, अतो विवाहकाले लब्धं-यौतकम् दा० ८२)। स्मृति चन्द्रिका के अनुसार विवाहादि के समय पति पत्नी के एक आसन पर इकट्ठा (युत) बैठे हुए जिस किसी से मिली भेंटें यौतक हैं। (स्मृच २।२८५ यौतकं समानासनोपवेशनप्रत्यासन्नयोर्वधूवरयोर्विवाहादौ येन केनचित्समर्पितम् धनं तद्वधूवरयोर्देयम् 'युतयो यौतकं मतमिति' निघण्टुकारोक्तत्वात्)। देवस्वामी के मत में पितृगृह से प्राप्त धन के पतिगृह से प्राप्त धन से पृथक् होने के कारण पहला धन यौतक है, क्योंकि यु धातु का अर्थ पृथक् करना भी होता है (स्मृच वहीं)। चण्डेश्वर ने कहा है कि हलायुध के मतानुसार यौतक वह धन है, जो पत्नी को शाक दाल के व्यय के लिये दिया गया हो और उसने उसे अपने कौशल से बढ़ा लिया हो (हलायुधस्तु यौतकं शाकसूपाद्यर्थं स्त्रियै दत्तं तया स्वकौशलेन विशेषितं विर० ५१७)।

प्रकारों की वृद्धि की है—आधिवेदनिक, बन्धुदत्त और शुल्क[३७]। अधिवेदन का अर्थ है—दूसरा विवाह, इसे करने पर पहली स्त्री को दिया गया धन आधिवेदनिक कहलाता है। बन्धुओं अर्थात् कन्या के माता-पिता के सम्बन्धियों द्वारा दिया धन बन्धुदत्त है, शुल्क का साधारण अर्थ वह राशि है, जो कन्या को विवाह में प्राप्त करने के लिये दी जाती है[३८]।

---

३७. या० २।१४३-४४ पर मिता०—पितृमातृपतिभ्रातृदत्तमध्यग्न्युपागतम्। आधिवेदनिकाद्यं च स्त्रीधनं परिकीर्त्तितम्॥ बन्धुदत्तं तथा शुल्कमन्वाधेयकमेव च।

३८. याज्ञ० २।१४४ पर मिता०—शुल्कं यद् गृहीत्वा कन्या दीयते। मध्यकालीन निबन्धकारों ने शुल्क के निम्न अर्थ किये हैं-(१) दाय भाग (पृ० ९३) के अनुसार इसके दो अर्थ हैं—(क) घर बनाने वाले कारीगरों तथा सुनारादि द्वारा स्त्री को इस दृष्टि से घूंस के रूप में दिया द्रव्य कि वह अपने पति आदि को उन से काम कराने को कहे (गृहादिकर्मिभिः शिल्पिभिस्तत्कर्मकरणाय भर्त्रादिप्रेरणार्थं स्त्रियै यदुत्कोचदानं तच्छुल्कं तदेव मूल्यं प्रवृत्त्यर्थत्वात्)। (ख) अथवा व्यास के अनुसार पत्नी को (प्रसन्नतापूर्वक) पति गृह में जाने की प्रेरणा के लिये दिया हुआ धन (व्यासोक्तं वा यथा। यदानेतुं भर्तृगृहे शुल्कं तत् परिकीर्त्तितम्। भर्तृगृहगमनार्थमुत्कोचादि यद्दत्तं तच्च ब्राह्मादिष्वविशिष्टम्)। (२) कात्यायन के कथनानुसार घर के बर्त्तन (उपस्कर), भारवाही पशु, दुधार पशु, आभूषण, तथा दासों के क्रय के लिए वर द्वारा दिया जाने वाला मूल्य शुल्क कहलाता है (अप० २।१४३ में उद्धृत) यह अर्थ स्मृतिचन्द्रिका से पुष्ट होता है, उसम नया घर बनाने के लिये अथवा विवाह के समय वर द्वारा वधू को दी गयी वस्तुओं का देना शुल्क कहा गया है (गृहोपस्करादीनां मूल्यं लब्धं कन्याधनत्वेन वरादिसकाशात्कन्यार्पणोपाधितया स्मृच० २८१ मि०)। विवाद चिन्तामणि ने घर की सामग्री जुटाने के लिये पति से पत्नी द्वारा ली राशि को शुल्क कहा है (गृहोपस्करादिकरणोपाधिना स्त्रिया गृहपतितो यल्लब्धं तच्छुल्कमित्यर्थः पृ० १३९)। व्यवहार मयूख ने इस अर्थ को स्पष्ट करते हुए कहा है कि विवाह के समय घर का जो सामान नहीं मिल सका, उसका कन्या को दिया गया मूल्य शुल्क है (गृहोपस्कराद्यलाभे तन्मूल्यं कन्यादानकाले कन्यायै दत्तं तच्छुल्कमित्यर्थं व्यम० ६९)। वरदराज ने कहा है (व्यनि० ४६८)—शुल्क दो प्रकार का होता है—(क) कन्या के मूल्य के रूप में उसके माता पिता को दी जाने वाली राशि,

कात्यायन ने २७ श्लोकों में स्त्रीधन की बड़े विस्तार से व्याख्या की है, मनु, नारद आदि के छः प्रकार के स्त्रीधनों का विशद लक्षण करते हुए उसने स्त्रीधन के कुछ नये प्रकारों का भी उल्लेख किया है। उसके मतानुसार छः प्रकार के स्त्रीधनों का स्वरूप इस प्रकार है--(१) अध्यग्नि--विवाह संस्कार की अग्नि के सम्मुख स्त्री को दिया गया धन, (२) अध्यावहनिक--पितृगृह से पतिगृह में ले जाते समय स्त्री को दी गयी राशि, (३) प्रीतिदत्त--सास, ससुर द्वारा प्रीति पूर्वक दिया हुआ तथा चरण स्पर्श के समय दिया हुआ धन, (४) अन्वाधेय-पतिकुल और पितृकुल से विवाह के बाद मिला धन, (५) शुल्क--घर के सामान, भारवाही तथा दूध देने वाले पशुओं, आभूषणों तथा दासों के खरीदने के लिये मिला धन (६) सौदायिक--विवाहित अथवा क्वांरी कन्या को पति के या पिता के घर में, भाई और माता-पिता से मिला हुआ धन[३९]। इस धन के विनियोग के सम्बन्ध में कात्यायन ने स्त्री को पूरी

---

यह कन्या के मरने पर उसकी माता और भाई को मिलती है (ख) कन्या के आभूषण और घर की सामग्री के क्रय के लिये दिया गया धन।

३९. मिता० २।१४३ तथा स्मृच पृ० २।२८०-१ में उद्धृत--विवाहकाले यत्स्त्रीभ्यो दीयते ह्यग्निसंनिधौ। तदध्यग्निकृतं सद्भिः स्त्रीधनं परिकीर्त्तितम्॥ यत्पुनर्लभते नारी नीयमाना पितुर्गृहात्। अध्यावहनिकं नाम स्त्रीधनं तदुदाहृतम्॥ प्रीत्या दत्तं तु यत्किञ्चित् श्वश्र्वा वा श्वशुरेण वा। पादवन्दनिकं चैव प्रीतिदत्तं तदुच्यते॥ विवाहात्परतो यत्तु लब्धं भर्तृकुलात्स्त्रियाः। अन्वाधेयं तदुक्तं तु लब्धं बन्धुकुलात्तथा॥ (दा० पृ० ९३) गृहोपस्करवाह्यानां दोह्याभरणकर्मिणाम्। मूल्यं लब्धं तु यत्किंचिच्छुल्कं तत्परिकीर्त्तितम्॥ ऊढया कन्यया वापि पत्युः पितृगृहेऽपि वा। भ्रातुः सकाशात्पित्रोर्वा लब्धं सौदायिकं स्मृतम्॥ उपर्युक्त प्रकार के स्त्रीधनों की टीकाकारों ने विभिन्न व्याख्यायें की हैं। अध्यावहनिक में विज्ञानेश्वर के मतानुसार पितृगृह से ले जाये जाते हुए वधू को सब व्यक्तियों से मिली भेंटें सम्मिलित हैं, किन्तु दायभाग के मत में इसमें पिता और माता के कुल से संबन्ध रखने वाले व्यक्तियों के ही उपहार आते हैं, इन से भिन्न व्यक्तियों की भेंट अध्यावहनिक नहीं (दा० पृ० ७३ पैतृकादित्येकशेषेण पितृमातृ कुलाद् यल्लभते धनं भर्तृगृहं नीयमाना तदध्यावहनिकम्)। वाचस्पति के मत में यह गौने के समय जहां कहीं से भी मिले उपहार हैं (द्विरागमनकाले यत्कुतोप्यवाप्तं तदध्यावहनिकमित्यर्थः विचि० पृ० १३८)। सौदायिक का दायभाग के मतानु-

स्वतन्त्रता दी है ( दे० नी० पृ० ५६८ )। उसने शिल्प ( कताई ) आदि से कमाये तथा सम्बन्धियों से भिन्न व्यक्तियों द्वारा भेंटों के द्रव्य को स्त्रीधन नहीं माना[४०], इस पर पति का स्वत्व होता है (दे० नी० पृ० ५७१ )। इसके अतिरिक्त कात्यायन ने निम्न अवस्थाओं में दिये हुए आभूषण स्त्रीधन नहीं माने—(१) पिता, भाई और पति द्वारा स्त्री को विशेष उत्सव पर पहनने की शर्त (उपधि) के साथ दिये गये अलंकार (२) अपने समांशी दायादों को ठगने (योग) के उद्देश्य से धारण करने केलिये दिये गये ज़ेवर[४१]। देवल (दा० ७५ में उ०) ने स्त्रीधन के निम्नभेद गिनाये हैं—वृत्ति या निर्वाह के लिये दिया गया धन, आभूषण, शुल्क और लाभ।

**मध्यकालीन टीकाकार और स्त्रीधन का स्वरूप**—विज्ञानेश्वर और जीमूतवाहन ने स्त्रीधन के स्वरूप को अपनी व्याख्याओं द्वारा क्रमशः विस्तृत और

---

सार अर्थ है—सुदाय अर्थात् प्रेम करने वाले संबन्धियों से मिला धन (सुदायसंबन्धियो लब्धं सौदायिकम् दा० पृ० ७६) अमरकोश में यौतकादि की भेंट को सुदाय कहा गया है, इसमें ठन् प्रत्यय लगने से भी इस के अर्थ में कोई अन्तर नहीं आता ( मि० स्मृच० पृ० २८२ )। सौदायिक वस्तुतः स्त्रीधन का विशेष प्रकार नहीं, किन्तु अनेक प्रकार के स्त्रीधनों का सामान्य नाम है, स्मृच० (पृ० २८२ ) में उद्धृत व्यास की उक्ति से यह स्पष्ट है—विवाह के समय और विवाह के बाद पिता और पति के घर से कन्या को जो धन मिलता है, वह सौदायिक है ( यत्कन्यया विवाहे च विवाहात्परतश्च यत्। पितृभर्तृगृहात्प्राप्तं धनं सौदायिकं स्मृतम्॥)। विवाद चिन्तामणि में कात्यायन के उपर्युक्त श्लोक के आधार पर सौदायिक का यही विस्तृत अर्थ किया गया है।

४०. अल्तेकर ने इस व्यवस्था का कारण यह बताया है कि मध्यम एवं निम्नवर्ग में परिवार का निर्वाह प्रायः पति पत्नी दोनों की कमाई से होता है (पोजीशन आफ वुमैन); किन्तु यह शबर की ऊपर बतायी ( पृ० ५५० ) व्यवस्था के प्रतिकूल है।

४१. स्मृच० २८१ में उ०—तत्र सोपधि यद्दत्तं यच्च योगवशेन वा। पित्रा मात्राऽथवा पत्या न तत्स्त्रीधनमिष्यते॥ उपधि और योग की निबन्धकारों की व्याख्यायें निम्न हैं—स्मृच पृ० २८१ यत्तूत्सवादावेव धार्यमित्येवाद्युपधिना अलंकारादि दत्तं, यच्च दायादादिवञ्चनार्थं दत्तम् ( मि० व्यप्र० पृ० ५४२) बालम्भट्टी २।१४४ उत्सवादौ शोभा उपधिः। संभोगाद्यर्थं छलं योगः।

संकुचित बनाने का प्रयत्न किया; वर्त्तमान हिन्दू कानून पर इसका गहरा प्रभाव पड़ा है, अतः यहां दोनों के मतों का संक्षिप्त उल्लेख किया जायगा। विज्ञानेश्वर की स्त्रीधन की व्याख्या का मुख्य आधार याज्ञ० के 'आधिवेदनिकाद्यं च स्त्रीधनं परिकीर्त्तितम्' (२।१४३) में आद्य शब्द का प्रयोग है। मिताक्षरा में इस शब्द से यह परिणाम निकाला गया है कि "इससे उत्तराधिकार (रिक्थ), क्रय, बंटवारा ( संविभाग ), जबर्दस्ती अधिकार ( परिग्रह ), और उपलब्धि (अधिगम) से प्राप्त सम्पत्ति सूचित होती है, मनु तथा अन्य शास्त्रकारों द्वारा यह स्त्रीधन कहा गया है। स्त्रीधन शब्द का प्रयोग यहां यौगिक अर्थ में है ( स्त्री का धन स्त्रीधन है ), न कि पारिभाषिक अर्थ में; क्योंकि जहां यौगिक अर्थ लिया जा सकता हो, वहां पारिभाषिक अर्थ ग्रहण करना ठीक नहीं हो होता[४२]"। विज्ञानेश्वर ने यहां गौतम (१०।३९ ) के सम्पत्ति के स्वामी बनने के सब प्रकारों का आद्य शब्द से ग्रहण किया है। संभवतः वह इस विषय में स्त्री पुरुषों के लिये एक जैसा नियम बनाना चाहता था[४३]। उसकी यह व्याख्या मदन पारिजात ( पृ० ६७१ ) सरस्वती विलास (पृ० ३७९ ), व्यवहार प्रकाश (पृ० ५४२) तथा बालंभट्टी ने स्वीकार की है। इस व्याख्या के अनुसार विधवा को पति से उत्तराधिकार में प्राप्त होने वाली तथा पत्नी और माता को बंटवारे में मिलने वाली सम्पत्ति स्त्रीधन है।

जीमूतवाहन याज्ञ० के उपर्युक्त श्लोक में आद्यपद नहीं पढ़ता और 'आधिवेदनिकं चैव' का पाठ मानता है[४४] और कहता है कि वही सम्पत्ति स्त्रीधन है, जिसका पति से स्वतन्त्र रहते हुए, पत्नी दान, विक्रय या उपभोग कर

---

४२. याज्ञ० २।१४३ पर मिता०—आद्यशब्देन रिक्थक्रयसंविभागपरिग्रहाधिगमप्राप्तं एतत्स्त्रीधनं मन्वादिभिरुक्तम्। स्त्रीधनशब्दश्च यौगिको न पारिभाषिकः। योग सम्भवे परिभाषाया अयुक्तत्वात्। विज्ञानेश्वर की यह युक्ति इसलिये ठीक प्रतीत होती है कि मनु आदि ने छः से अधिक प्रकार के स्त्रीधनों का वर्णन किया है ( दे० ऊ० पृ० ५६० )।

४३. जान मेन—हिन्दू ला, पृ० ७३९-४०, किन्तु इस सम्बन्ध में विज्ञानेश्वर ने स्पष्ट रूप से यह नहीं कहा कि स्त्रीधन पर नारी को यथेच्छ विनियोग की पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त है।

४४. किन्तु अपरार्क ( २।१४३) ने जीमूतवाहन का पाठ मानते हुए भी 'च' शब्द से विज्ञानेश्वर के अर्थ का समर्थन किया है।

सकती है[४५]। दायभाग में स्त्रीधन के प्रकार नहीं स्पष्ट किये गये, किन्तु उपर्युक्त वाक्य के बाद ही जीमूतवाहन ने लिखा है कि कात्यायन के मतानुसार शिल्पों से प्राप्त तथा संबन्धियों से भिन्न व्यक्तियों से दिया गया द्रव्य स्त्रीधन नहीं होता और नारद के मत में पत्नी को स्थावर सम्पत्ति के अतिरिक्त दी गयी सब भेंटों के यथेच्छ व्यय का अधिकार है[४६]। इससे यह परिणाम निकलता है कि दायभाग निम्न प्रकार की सम्पत्ति स्त्रीधन नहीं मानता—(१) शिल्पों से प्राप्त धन (२) संबन्धियों से भिन्न व्यक्तियों से प्राप्त भेंटें (३) स्त्री द्वारा उत्तराधिकार में अथवा बंटवारे में पायी हुई स्थावर सम्पत्ति।

वर्तमान काल में न्यायालयों ने स्त्रीधन विषयक मिताक्षरा की व्याख्या नहीं स्वीकार की, उत्तराधिकार अथवा बंटवारे में स्त्री को मिली सम्पत्ति बम्बई के अतिरिक्त कहीं स्त्रीधन नहीं मानी जाती। मिताक्षरा के अनुसार किसी स्त्री द्वारा पुरुष संबन्धियों ( पति, पिता, पुत्र ) अथवा स्त्री संबन्धियों ( माता, कन्या ) द्वारा विरासत में प्राप्त सम्पत्ति स्त्रीधन है; किन्तु प्रिवी कौन्सिल ने अपना निर्णय इसके विपक्ष में दिया है[४७]। स्त्रीधन न होने का

---

४५. दा० पृ० ७६—तदेव च स्त्रीधनं यत्र भर्तृतः स्वातन्त्र्येण दानविक्रयभोगान् कर्त्तुमधिकरोति। तदिदं किंचित्संक्षिप्याह कात्यायनः—'प्राप्तं शिल्पैस्तु यद्वित्तमित्यादि। अन्यत इति पितृमातृभर्तृकुलव्यतिरिक्तात् यल्लब्धं शिल्पेन वा यदर्जितं तत्र भर्त्तुः स्वाम्यं स्वातन्त्र्यं, अनापद्यपि भर्त्ता ग्रहीतुमर्हति, तेन स्त्रिया अपि न स्त्रीधनमस्वातन्त्र्यात्, एतद्द्वयातिरिक्तधनं तु स्त्रिया एव दानविक्रयाद्यधिकारात्।

४६. दा० ७७, जीमूतवाहन ना० स्मृ० ४।२८ के इस वचन को पहले उद्धृत करता है—भर्त्रा प्रीतेन यद्दत्तं स्त्रियै तस्मिन्मृतेऽपि तत्। सा यथा काममश्नीयाद्दद्याद्वा स्थावरादृते॥ इस पर उसकी यह टिप्पणी है—भर्तृदत्तविशेषणात् भर्तृदत्त स्थावरादृते अन्यत् स्थावरं देयमेव भवति। अन्यथा यथेष्टं स्थावरेऽप्यपीति विरुध्येत। श्री अल्तेकर के मतानुसार स्थावर सम्पत्ति के यथेच्छ विनियोग का स्त्रियों को अधिकार न देने का प्रधान कारण परिवार की संयुक्त संपत्ति को अखण्ड बनाये रखने की भावना थी (पोजीशन आफ़ वुमैन पृ० २६८ )

४७. ठाकुरदेवी ब० बालकराम ११ म्यू० इं० ए० १३९, शिवशंकर ब० देवीसहाय ला० रि० ३० इं० ए० २०२। ये निर्णय मुख्य रूप से कात्यायन के

यह आशय है कि यह सम्पत्ति उस स्त्री के उत्तराधिकारियों को नहीं मिलेगी; किन्तु जिस पुरुष से उसे विरासत में मिली है, उसके वारिसों को लौट जायगी। बम्बई में विधवा द्वारा अपने पति से रिक्थ में प्राप्त सम्पत्ति के अतिरिक्त, स्त्रियों द्वारा अपने पिता या भाई से अथवा स्त्री संबन्धियों से उत्तराधिकार में प्राप्त सम्पत्ति स्त्रीधन होती है, उस पर उनका पूर्ण अधिकार होता है और वह उन के वारिसों को ही मिलती है[४८]। बंटवारे में पत्नी या माता द्वारा प्राप्त सम्पत्ति बम्बई में स्त्रीधन नहीं है।

आज कल स्त्रीधन के प्रायः सभी पुराने भेद अध्यग्नि अध्यावहनिक, प्रीति-दत्त, आधिवेदनिक, शुल्क, यौतक और सौदायिक स्वीकार किये जाते हैं। मद्रास हाईकोर्ट ने कात्यायन के शिल्पों द्वारा उपार्जित सम्पत्ति के स्त्रीधन न होने के नियम की ऐसी व्याख्या की है कि अपने वैयक्तिक परिश्रम और नैपुण्य से नारी द्वारा उपार्जित सम्पत्ति उस का स्त्रीधन माना जाता है[४९]।

**स्त्रीधन पर पत्नी का स्वत्व**--विज्ञानेश्वर ने स्त्रीधन की बड़ी उदार व्याख्या की है, किन्तु जीमूतवाहन ने इसे उसी सम्पत्ति तक मर्यादित किया है, जिसके दान, विक्रय और भोग का उसे पूर्ण अधिकार है, इस विषय में वह पति के नियन्त्रण से स्वतन्त्र है। इस से यह स्पष्ट है कि स्त्रीधन उसके स्वत्व की दृष्टि से दो प्रकार का हो सकता है--(१) ऐसी सम्पत्ति जिस पर स्त्री का पूर्ण प्रभुत्व हो (२) ऐसी सम्पत्ति जिस पर उस का प्रभुत्व केवल पति द्वारा

---

इस वचन के आधार पर हैं कि पत्नी यावज्जीवन पति की सम्पत्ति का उपभोग करे और उसकी मृत्यु के बाद यह जायदाद पति के वारिसों को प्राप्त हो (भुंजीतामरणात्क्षान्ता दायादा ऊर्ध्वमाप्नुयुः दा० ७३ में उद्धृत)। यदि रिक्थ से प्राप्त होने वाली सम्पत्ति पत्नी का स्त्रीधन होता तो यह सम्पत्ति पति के वारिसों को न मिल कर उसके दायादों (लड़कियों) को मिलती; अतः रिक्थ की सम्पत्ति स्त्रीधन नहीं हो सकती (विस्तृत विवेचना के लिये दे० बैनर्जी--हिन्दू ला आफ मैरिज पृ० ३००)।

४८. भाऊ ब० रघुनाथ ३० बं० २२९, विजय रंगम् ब० लक्ष्मण ८ बं० हा० रि० २४४, बलवन्तराव ब० बाजीराव ला० रि० ४७ इं० ए० २१३, २३३

४९. देवीमंगल प्रसाद ब० महादेव प्रसाद ला० रि० ३९ इं० ए० १२१, १३१-३२। सुब्रह्मण्यम ब० अरुणाचलम् २८ म० १, सलम्मा ब० लछमन २१ म० १००

नियन्त्रित हो। पहले प्रकार में मुख्य रूप से सौदायिक सम्पत्ति आती है और इससे भिन्न स्त्रीधन का दूसरे प्रकार में समावेश होता है।

**सौदायिक सम्पत्ति**––इस पर पत्नी के पूर्ण प्रभुत्व की स्पष्ट घोषणा मध्ययुग में कात्यायन ने की थी––'सौदायिक धन (पति से भिन्न अन्य संबन्धियों से प्राप्त द्रव्य) पाने पर इसके संबन्ध में स्त्रियों की स्वतन्त्रता वांछनीय है, क्योंकि यह उन्हें (संबन्धियों द्वारा) निर्वाहार्थ अनुकम्पा की दृष्टि से दिया गया था (ताकि उन्हें धनाभाव में कष्ट न उठाना पड़े), सौदायिक सम्पत्ति पर स्त्रियों की स्वतन्त्रता सदा मानी जाती है, वे इच्छानुसार सौदायिक स्थावर सम्पत्ति का भी दान और विक्रय कर सकती है[५०]"। स्मृतिचन्द्रिका

---

५०. स्मृच० २।२८२ में उद्धृत––सौदायिकधनं प्राप्य स्त्रीणां स्वातन्त्र्यमिष्यते। यस्मात्तस्मादानृशंस्यार्थं तैर्दत्तमुपजीवनम्॥ सौदायिके सदा स्त्रीणां स्वातन्त्र्यं परिकीर्त्तितम्। विक्रये चैव दाने च यथेष्टं स्थावरेष्वपि॥ विवादरत्नाकर (पृ० ५११) ने इस की व्याख्या करते हुए लिखा है––आनृशंस्यमदारुणता, तेन यस्मादियं वित्ताभावाद्दारुणा न भवत्वेतदर्थं तैः पित्रादिभिर्दत्तं तत्प्रजीवनमिति लभ्यते। यहां कात्यायन से पूर्ववर्त्ती स्मृतिकारों के इस विषय के मत उद्धृत करना उचित प्रतीत होता है। आपस्तम्ब कोई ऐसा स्त्रीधन नहीं मानता, जिस पर पत्नी का पृथक् एवं पूर्ण स्वत्व हो, वह दोनों के संयुक्त स्वामित्व को स्वीकार करता है––२।१४।१६-१९ जायापत्योर्न विभागो विद्यते। पाणिग्रहणाद्धि सहत्वं कर्मसु। तथा पुण्यफलेषु। द्रव्यपरिग्रहेषु च। हरदत्त ने उज्ज्वला में इस की व्याख्या करते हुए पत्नी की पराधीनता की पुष्टि की है 'पति को यथेच्छ विनियोग का अधिकार है; किन्तु पत्नी को परिमित व्यय का ही अधिकार है'। महाभारत में स्त्रीधन की मर्यादा तीन हजार पण मानते हुए, उसके यथेच्छ उपभोग का अधिकार पत्नी को दिया गया है (१३।४७।२३)। मनु ने स्त्री धन पर पति का अधिकार माना (८।४१६), पति की आज्ञा के विना स्त्रीधन के विनियोग का निषेध किया (९।१९९) नारद ने पति द्वारा दिये स्थावरातिरिक्त धन में स्त्रियों की स्वतन्त्रता की घोषणा की (४।२८ भर्त्रा प्रीतेन यद्दत्तं स्त्रियै तस्मिन्मृतेऽपि तत्। सा यथा काममश्नीयाद्दद्याद्वा स्थावरादृते॥) किन्तु नारद स्मृति में ४।२६ के बाद के एक श्लोक में स्त्रियों की इस विषय में परतन्त्रता की घोषणा की गयी है––नाधिकारो भवेत्स्त्रीणां दानविक्रयकर्मसु। यावत्संजीवमाना स्यात्तावद्भोगस्य सा प्रभुः॥

सौदायिक स्त्रीधन को वाग्दान से विवाह के बाद पतिगृह में प्रवेश तक पितृगृह से ही वधू को मिली हुई भेंटों तक मर्यादित करना चाहती थी; किन्तु वर्त्तमान काल में इसे स्वीकार नहीं किया गया ( ३९ म० ३९८ )। दायभाग ( दा० ७६ ) दायतत्वादि ( पृ० १८४ ) में विवाह के समय और विवाह के बाद पिता माता, पति आदि संबन्धियों से दिया धन सौदायिक माना है[५१]। वर्त्तमान न्यायालय इस व्याख्या को सही मानते हुए विवाह से पहले, विवाह के समय या उसके पश्चात् संबन्धियों द्वारा दी गयी सभी भेंटें सौदायिक समझते हैं, किन्तु संबन्धियों से भिन्न व्यक्तियों द्वारा मिली भेंटें इसमें नहीं समझी जातीं[५२]। सौदायिक सम्पत्ति तथा इससे खरीदी हुई अचल सम्पत्ति का भी पत्नी यथेच्छ दान, विक्रय और उपभोग कर सकती है[५३]। पति इस विषय में न तो उस का नियन्त्रण कर सकता है और न इस सम्पत्ति का स्वयं उपयोग कर सकता है[५४]। सौदायिक के अतिरिक्त, देवल के कथनानुसार निम्नप्रकार के

---

५१. स्मृच० पृ० २८२ वाग्दानप्रभृति पतिगृहप्रवेशरूपोत्सवसमाप्तिपर्यन्तं पितृगृहे पतिगृहे वा पितृपक्षत एव स्त्रिया लब्धं यौतकादिधनं सौदायिकशब्दाभिधेयमिति। किन्तु जीमूतवाहन सुदाय का अर्थ करता है—उत्तम देने वाले संबन्धी और इन से प्राप्त धन सौदायिक है—सुदायसंबन्धिभ्यो लब्धं सौदायिकम् दा० ७६। रघुनन्दन ने इन संबन्धियों की व्याख्या करते हुए लिखा है—सुदायेभ्यः पितृमातृभर्तृकुलसंबन्धिभ्यो लब्धं सौदायिकम् ( दायतत्व पृ० १८४ )

५२. ५ वी० रि० ५३, ५ म० हा० को० १११; मेन—हिन्दू ला पृ० ७४७

५३. २ म० ३३३

५४. कुछ विशेष अवस्थाओं में पति इसका उपयोग कर सकता है। याज्ञ० ( २।१४७ ) के अनुसार ये निम्न हैं—अकाल, अनिवार्य धर्मकार्य, बीमारी, ( महाजन, राजा या शत्रु द्वारा ) बन्दी बनाया जाना (संप्रतिरोधक), (दुर्भिक्षे धर्मकार्ये च व्याधौ च संप्रतिरोधके। गृहीतं स्त्रीधनं भर्त्ता न स्त्रियै दातुमर्हति ॥) यदि वह इन आपत्तियों के न होने पर स्त्रीधन लेता है तो उसे वह लौटाना पड़ता है—मिता० या० २।१४७ पर—प्रकारान्तरेणापहरन् दद्यात्। विज्ञानेश्वर ने मनु ८।२९ तथा ९।२०० के आधार पर स्त्री के जीवित रहते हुए उपर्युक्त आपत्तियों के अतिरिक्त पति भिन्न—किसी भी दायाद द्वारा स्त्रीधन लेने का निषेध किया है। उपर्युक्त आपत्तियों में लिया गया धन

स्त्रीधन पर भी पत्नी को यथेच्छ विनियोग का अधिकार प्राप्त है—स्त्री का निर्वाह धन (वृत्ति), आभरण, शुल्क और लाभ; पति आपत्ति के अतिरिक्त इनका उपयोग नहीं कर सकता, अकारण इनका नाश और उपयोग करने पर पति को व्याजसहित यह धन पत्नी को लौटा देना चाहिये[५५]। इनमें लाभ

---

सामर्थ्य होने पर अवश्य लौटाना चाहिये (व्यप्र० ५४६ सति तु सामर्थ्ये दुर्भिक्षादि-गृहीतमप्यवश्यं देयम्)। कात्यायन तथा कौटिल्य ने भी याज्ञवल्क्य जैसी व्यवस्थायें की हैं। कात्या० के अनुसार बीमारी में, संकट में अथवा महाजनों से परेशान किये जाने पर इन से मुक्ति के लिये स्त्री से प्राप्त धन को वह अपनी इच्छा से लौटा सकता है (अप० २।१४७)। कौटिल्य (३।२) की व्यवस्था अधिक विशद है और संभवतः उस काल को सूचित करती है, जब स्त्रीधन पर पति का प्रभुत्व अधिक था। वह निम्न अवस्थाओं में स्त्री द्वारा स्त्रीधन के उपयोग में दोष नहीं समझता—अपना, पुत्र अथवा पुत्रवधू के भरण पोषण के व्यय की व्यवस्था बिना किये पति का विदेश गमन। पति बन्दी होने पर, बीमारी, दुर्भिक्ष और भय के प्रतिकार तथा धर्म कार्य के लिये स्त्रीधन का उपयोग कर सकता है। इसके साथ ही वह यह भी कहता है कि पत्नी पति द्वारा स्त्रीधन के उपयोग की शिकायत उस अवस्था में नहीं कर सकती, जब कि यह व्यय तीन वर्ष पहले दोनों ने संयुक्त-रूप से किया हो, उनकी दो सन्तानें हों तथा उन का ब्राह्मादि धर्म विवाह हुआ हो, यदि गन्धर्व और आसुर विवाह हुआ हो तो व्यय किया गया स्त्रीधन व्याज-सहित वापिस किया जाना चाहिये, राक्षस या पैशाच विवाह हुआ हो तो इसे चोरी समझना चाहिये (कौ० ३।२ तदात्मपुत्रस्नुषाभर्मणि प्रवासाप्रतिविधाने च भार्याया भोक्तुमदोषः। प्रतिरोधकव्याधिदुर्भिक्षभयप्रतिकारे धर्मकार्ये च पत्युः। सम्भूय वा दम्पत्योर्मिथुनं प्रजातयोस्त्रिवर्षोपभुक्तं च धर्मिष्ठेषु विवाहेषु नानुयुञ्जीत। गान्धर्वासुरोपभुक्तं सवृद्धिकमुभयं दाप्येत। राक्षसपैशाचोपभुक्तं स्तेयं दद्यात्)।

५५. दा० ७५ पर उ०—वृत्तिराभरणं शुल्कं लाभश्च स्त्रीधनं भवेत्। भोक्त्री च स्वयमेवेदं पतिर्नार्हत्यनापदि। वृथा मोक्षे च भोगे च स्त्रियै दद्यात्स-वृद्धिकम्। पुत्रार्त्तिहरणे वापि स्त्रीधनं भोक्तुमर्हति॥ इसमें अपरार्क (२।१४७) के मतानुसार जुए नाचगानादि में रुपया गंवाना मोक्ष है—द्यूतगीतादिप्रयोजनो धनव्ययो वृथामोक्षः। देवण्ण भट्ट के अनुसार पितादि से गुजारे के लिये दी गयी राशि वृत्ति है।

बड़ा विस्तृत शब्द है[५६] और इसमें पत्नी द्वारा सूदखोरी से या अन्य किसी कार्य द्वारा की गयी कमाई भी सम्मिलित है। वस्तुतः प्राचीन शास्त्रकारों के मत में, शिल्प द्वारा उपार्जित तथा संबन्धी भिन्न किसी व्यक्ति द्वारा दिये गये द्रव्य के अतिरिक्त सब प्रकार के स्त्रीधन पर पत्नी को पूर्ण अधिकार है।

**पति द्वारा नियन्त्रित सम्पत्ति**—प्रभुत्व की दृष्टि से स्त्रीधन का दूसरा भेद वह है, जिस पर पति का नियन्त्रण होता है। यह सम्पत्ति कात्यायन के अनुसार दो प्रकार की होती है—(१) शिल्पों से प्राप्त धन (२) पिता माता, पति आदि संबन्धियों से भिन्न किसी व्यक्ति द्वारा दिया गया धन। 'इन दोनों पर पति का स्वाम्य होता है, शेष प्रकार की सम्पत्ति स्त्रीधन होती है[५७]। जीमूतवाहन ने इसका अभिप्राय स्पष्ट करते हुए कहा है कि स्वाम्य या स्वतन्त्रता का अर्थ है—पति द्वारा आपत्तिकाल न होने पर भी स्त्रीधन लेने की स्वतन्त्रता। उपर्युक्त दोनों प्रकार की सम्पत्ति वह अपनी इच्छानुसार ले सकता है[५७]। सौदायिक के विनियोग में पत्नी को पति से अनुमति लेने की आवश्यकता नहीं, किन्तु उपर्युक्त दो प्रकार की सम्पत्ति का पति से विना पूछे किया विनियोग अवैध होता है। पति से पहले उसके मर जाने पर इस सम्पत्ति का उत्तराधिकारी पति होता है, किन्तु यदि पति पहले गुज़र जाता है तो इस पर उसका पूर्ण स्वामित्व हो जाता है, उसकी मृत्यु के बाद इस धन के दायाद पति के नहीं, किन्तु उसके उत्तराधिकारी होते हैं ( २१ म० १००, १ म० ३०७ )।

---

५६. लाभ के सम्बन्ध में कई मत हैं—(क) पार्वती आदि देवियों की प्रसन्नता के लिये व्रतादि में दी हुई राशि ( स्मृच० २८३), (ख) बन्धुओं से मिला धन ( विर० पृ० ५१२) (ग) व्याज (यद्वा लाभो वृद्धिः सवि० ३८१) (घ) शौर्यादि द्वारा या प्रीति से मिला धन ( रत्नमाला १६२ )।

५७. दा० ७६ पर उद्धृत—प्राप्तं शिल्पैस्तु यद्वित्तं प्रीत्या चैव यदन्यतः। भर्त्तुः स्वाम्यं तदा तत्र शेषं तु स्त्रीधनं स्मृतम्॥ दा० ७६ तदेव च स्त्रीधनं यत्र भर्तृतः स्वातन्त्र्येण दानविक्रयभोगान् कर्त्तुमधिकरोति। तदिदं किंचित्संक्षिप्याह कात्यायनः—प्राप्तं शिल्पैस्तु यद्वित्तं इत्यादि। अन्यत इति पितृमातृभर्तृकुल-व्यतिरिक्तात् यल्लब्धं शिल्पेन वा यदर्जितम् तत्र भर्त्तुः स्वाम्यं स्वातन्त्र्यं, अनापद्यपि भर्त्ता ग्रहीतुमर्हति, तेन स्त्रिया अपि धनं न स्त्रीधनमस्वातन्त्र्यात्। एतद्द्वयातिरिक्तधनं तु स्त्रिया एव दानविक्रयाद्यधिकारात्।

स्त्रीधन पर पत्नी के प्रभुत्व का शास्त्रकारों ने बड़े स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादन करते हुए उस का दुरुपयोग करने वालों के लिये दण्ड की व्यवस्था की है। मनु इस का उपभोग करने वाले दायादों के लिये राजा द्वारा दण्ड का विधान करता है (८।२९)। कात्यायन के मतानुसार 'पति, पुत्र, पिता और भाई स्त्रीधन के ग्रहण या व्यय के अधिकारी नहीं हैं, यदि इनमें से कोई एक भी बलपूर्वक (विना अनुमति के) स्त्रीधन का उपयोग करे तो उससे यह व्याजसहित वापिस लेना चाहिये और उसे दण्ड देना चाहिये; यदि वह अनुमति लेकर प्रीतिपूर्वक उस का उपयोग करता है तो धनी होने पर उसे मूल राशि वापिस करनी चाहिये'[५८]। अप० (२।१४३) और चण्डेश्वर (विता० ४४६) ने कात्यायन के इसी विषय के एक दूसरे श्लोक को उद्धृत किया है—पत्नी के जीवित रहते हुए, (उसके) पति, पुत्र, देवर, पितृबान्धव (भाई आदि) का स्त्रीधन पर कोई अधिकार नहीं है, जो स्त्रीधन का अपहरण करते हैं, उन्हें दण्ड दिया जाना चाहिये[५९]। इस विषय में पहले देवल और विज्ञानेश्वर की व्यवस्था का निर्देश हो चुका है। इसे प्रायः सभी मध्यकालीन टीकाकारों ने स्वीकार किया है, इस अवस्था में मनु का पति की अनुमति से ही पत्नी द्वारा स्त्रीधन के व्यय का नियम अर्थवादमात्र ही समझना चाहिये[६०]।

कात्यायन का स्त्रीधन के सम्बन्ध में एक विशेष नियम यह है कि यदि पति पत्नी को कुछ धन देने का वचन देता है तो पुत्रों को उसे ऋण की भांति चुकाना चाहिये, बशर्त्ते कि पत्नी पतिकुल में ही रहे[६१], स्मृतिचन्द्रिका

---

५८. दा० ७८ द्वारा उ०—न भर्त्ता नैव च सुतो न पिता भ्रातरो न च। आदाने वा विसर्गे वा स्त्रीधने प्रभविष्णवः॥ यदि ह्येकतरोऽप्येषां स्त्रीधनं भक्षयेद्बलात्। स वृद्धिं प्रतिदाप्यः स्याद्दण्डं चैव समाप्नुयात्॥ तदेव यद्यनुज्ञाप्य भक्षयेत्प्रीतिपूर्वकम्। मूलमेव स दाप्यः स्याद्यदा स धनवान्भवेत्॥

५९. याज्ञ० २।४६ पर अप० द्वारा उद्धृत—जीवन्त्याः पतिपुत्रास्तु देवराः पितृबान्धवाः। अनीशाः स्त्रीधनस्योक्ता दण्ड्यास्त्वपहरन्ति ये॥

६०. मनु० ९।१९९ न निर्हारं स्त्रियः कुर्युः कुटुम्बाद्बहुमध्यगात्। स्वकादपि च वित्ताद्धि स्वस्य भर्त्तुरनुज्ञया॥ कुल्लूक और राघवानन्द के अनुसार निर्हार का अर्थ रत्नाभूषण के लिये धन संचय है और सर्वज्ञनारायण तथा नीलकण्ठ के अनुसार सब प्रकार का व्यय।

६१. याज्ञ० २।१४७ पर अप० द्वारा उद्धृत—भर्त्ता प्रतिश्रुतं देयमृण-

और व्यवहार प्रकाश पोतों और परपोतों को भी यह राशि चुकाने के लिये उत्तरदायी मानते हैं। कात्यायन की एक अन्य व्यवस्था भी उल्लेखनीय है। यदि किसी पुरुष की दो पत्नियां हैं और वह पहली पत्नी का सेवन नहीं करता तो उसका स्त्रीधन राजा द्वारा बलपूर्वक पति से छीन कर पत्नी को दिलवाया जाना चाहिये, भले ही वह धन पत्नी ने उसे प्रसन्नतापूर्वक प्रदान किया हो"[६२]।

स्त्रीधन पर पत्नी का स्वत्व किन दशाओं में नहीं रहता, इस का सर्वप्रथम एवं विस्तृत प्रतिपादन कौटिलीय अर्थशास्त्र में हुआ है। इस के अनुसार निम्न अवस्थाओं में स्त्रीधन और शुल्क पर स्त्री का स्वाम्य नष्ट हो जाता है—(१) राजविरोधी बातें कहना (२) शराब, जुए आदि का व्यसन (३) अपने पति को छोड़ कर दूसरे व्यक्ति के पास जाना[६३]। कात्यायन चार प्रकार की स्त्रियों को स्त्रीधन का अधिकारी नहीं मानता—(सदा) पति के लिये हानिप्रद कार्य (अपकार) करने वाली, निर्लज्जा, पति की सम्पत्ति नष्ट करने वाली और व्यभिचारिणी। व्यवहार प्रकाश और विवाद चिन्तामणि ऐसी अवस्था में उस से यह धन छीनने को कहते हैं[६४]। किन्तु वर्त्तमान न्यायालयों ने स्त्रीधन की स्वत्वहानि के इस नियम को स्वीकार नहीं किया[६५]।

स्त्रीधन पत्नी को भेंटों, क्रय, कलाकौशल और उत्तराधिकार आदि अनेक प्रकारों से प्राप्त हो सकता है। इनमें उत्तराधिकार के अतिरिक्त अन्य प्रकार के स्त्रीधन पर पत्नी के स्वत्व का ऊपर उल्लेख हो चुका है। अब रिक्थागत

---

वत्स्त्रीधनं सुतैः। तिष्ठेद् भर्तृकुले या तु न सा पितृकुले वसेत्॥ स्मृच० पृ० २८३ सुत ग्रहणं पौत्रस्याप्युपलक्षणार्थं ऋणवदित्यभिधानात्। अनेनापि स्त्रीधने सुतादीनां नास्ति स्वामित्वमिति गम्यते।

६२. दा० पृ० ७८ में उद्धृत—अथ चेत्स द्विभार्यः स्यान्न च तां भजते पुनः। प्रीत्या निसृष्टमपि चेत्प्रतिदाप्यः स तद्बलात्॥

६३. कौ० ३।२ राजद्विष्टातिचाराभ्यामात्मापक्रमणेन च। स्त्रीधनानीतशुल्कानामस्वाम्यं जायते स्त्रियाः॥

६४. अप० द्वारा याज्ञ० २।१४७ में उ०—अपकारक्रियायुक्ता निर्लज्जा चार्थनाशिका। व्यभिचाररता या च स्त्रीधनं न च सार्हति॥ विचि पृ० १४१-४२ या पुनः अतिदुष्टा स्त्री सा स्वधनमनिसृष्टमपि विनियोक्तुं नार्हतीत्याह स एव।

६५. गंगा ब० घसीटा १ अला० ४६ (फु० बै०) ४८-४९

( Inherited ) स्त्रीधन के नियमों का वर्णन होगा। बंगाल में रिक्थागत सम्पत्ति ( चाहे वह पुरुष से प्राप्त हो या स्त्री से ) कभी स्त्रीधन नहीं हो सकती, क्योंकि स्त्री की मृत्यु पर यह उसके दायादों को नहीं मिलती, किन्तु उस पुरुष या स्त्री के रिक्थहर को मिलती है, जिस का मूलतः इस पर स्वामित्व था[६६]। मद्रास में भी यही स्थिति है[६७]। किन्तु बम्बई में स्त्री के अधिकार कुछ अधिक हैं। लड़कियां अपने माता पिता से रिक्थ में प्राप्त स्थावर सम्पत्ति पर पूर्ण अधिकार रखती हैं[६८], पति से प्राप्त जंगम जायदाद के यथेच्छ विनियोग का उन्हें अधिकार है[६९], किन्तु यह स्वत्व उन्हें अपने जीवन काल में ही है, वसीयत द्वारा वे पति के दायादों को उनके रिक्थ के अधिकार से वंचित नहीं कर सकतीं[७०]।

पति के जीवित रहने पर पत्नी को स्त्रीधन पर उपर्युक्त स्वत्व प्राप्त होते हैं, विधवा होने पर उसके ये अधिकार बढ़ जाते हैं, इन का आगे (पृ०६०१) यथास्थान उल्लेख होगा।

### *स्त्रीधन का विभाग और उत्तराधिकारी*

स्त्रीधन यदि हिन्दू कानून का क्लिष्टतम भाग है तो इसका उत्तराधिकार स्त्रीधन का जटिलतम अंग है; क्योंकि इसकी कोई एकरूप व्यवस्था नहीं है। अविवाहित और विवाहित स्त्रियों के स्त्रीधन के उत्तराधिकार के अलग नियम हैं, विवाहित स्त्रियों में इस बात को देखा जाता है कि उनका विवाह ब्राह्मादि प्रशस्त प्रकारों से हुआ है या शुल्क लेने वाली निन्दित आसुर पद्धति से हुआ है। स्त्रीधन के विविध प्रकारों—अन्वाधेय, पितृदत्त आदि के दायादक्रम में भी भेद है। हिन्दू कानून के विविध सम्प्रदायों—मिताक्षरा, दायभाग, आदि प्रादेशिक भेदों से भी स्त्रीधन के उत्तराधिकार में अन्तर पड़ जाता है[७१]। डा० जाली के मतानुसार

---

६६. हरिदयाल ब० गिरीश चन्द्र १७ कल० ९११, ९१६

६७. वेंकटराम कृष्णराव ब० भुजंगराव १९ म० १०७

६८. प्राण जीवनदास ब० देव कुंवर बाई १ बं० १३०

६९. बेचर भगवान ब० बाई लक्ष्मी १ बं० हा० को० रि० ५६

७०. गदाधर भट्ट ब० चन्द्रभाग बाई १७ बं० ६९०

७१. निबन्धकारों द्वारा स्त्रीधन के उत्तराधिकारियों के क्रम में अन्तर का एक बड़ा कारण विभिन्न प्रदेशों के रीतिरिवाजों ( आचार) में पाया जाने

स्त्रीधन के उत्तराधिकार का गोरख धन्धा 'भारतीय टीकाकारों की आलोचनात्मक तीव्र बुद्धि तथा बाल की खाल निकालने वाले वादविवादों का उर्वर क्षेत्र सिद्ध हुआ है, यह अँग्रेज जजों के लिये टीकाकारों के परस्पर विरोधी वचनों में संगति बैठाने के लिये अपने व्याख्या कौशल के प्रयोग का उपयोगी क्षेत्र रहा है" (हि० ला क० पृ० १९३-९४)। यहां इस गोरख धन्धे के विस्तार में न जाकर केवल स्थूल तथ्यों का निर्देश किया जायगा।

**स्त्रीधन के उत्तराधिकार में कन्याओं को तरजीह देना**—स्त्रीधन के दायादों के सम्बन्ध में घोर मतभेद होते हुए भी विभिन्न सम्प्रदायों में प्रायः एक बात पर सहमति है कि इसके उत्तराधिकार में पुत्रियों को पुत्रों की अपेक्षा तरजीह दी जाय। संभवतः पहले अविवाहित और निर्धन कन्यायें ही स्त्रीधन का दायाद होती थीं। गौतम की व्यवस्था इसका प्रबल प्रमाण है, बौधायन ने इसकी पुष्टि की है[७२]। पुत्री को स्त्रीधन का उत्तराधिकारी बनाने के निम्न कारण प्रतीत होते हैं। प्रारम्भ में स्त्रीधन प्रधान रूप से पत्नी के आभूषण थे, बौधा० ने स्त्रीधन में अलंकारों का ही उल्लेख किया है, इन्हें कन्या को देने की व्यवस्था सर्वथा स्वाभाविक थी, क्योंकि ये उसके ही उपयोग में आने वाले थे। दूसरा कारण माता का अपनी कन्या के प्रति अनुराग और विवाह के समय उसे अपने आभूषण देने की इच्छा रही होगी। इस इच्छा को इस कारण से भी पुष्टि मिली कि पिता की सम्पत्ति पुत्रों में विभक्त होती थी, पुत्रियों को इस में कोई भाग नहीं मिलता था। विज्ञानेश्वर ने इसे उचित सिद्ध करने के लिये एक अन्य तर्क भी उपस्थित किया है—'पुरुष के अंश अधिक होने से लड़का पैदा होता है, स्त्री के अंश अधिक होने पर कन्या उत्पन्न होती है; इस वचन के अनुसार लड़कियों में स्त्रियों के अंश अधिक होते हैं, अतः स्त्रीधन कन्याओं को मिलता है। पुत्रों में पिता के अंश अधिक होते हैं, इसलिए

---

वाला वैविध्य था, दे० व्यस० यत्तु याज्ञवल्क्यः 'मातुर्दुहितरः' (२।११७) इति तत्राप्यन्वयपदकन्यासन्ततिपरमिति केचित्। परे तु दुहित्रभावे पुत्रा एव गृह्णीयुः ...। आचारसंवादी चायं पक्षः।

७२. गौ० ध० सू० २८।२५ स्त्रीधनं दुहितॄणामप्रत्तानामप्रतिष्ठितानां च। बौधा० २।२।४९ मातुरलंकारं दुहितरः साम्प्रदायिकं लभेरन्नन्यद्वा। मि० शंखलिखित स्मृच० २६९ विभज्यमाने दायाद्ये कन्यालंकारं, वैवाहिकं, स्त्रीधनं च कन्या लभेत्।

पिता का धन पुत्र को मिलता है[७३]। विज्ञानेश्वर की इस युक्ति का कारण आगे बताया जायगा।

उपर्युक्त कारणों से गौतम (२८।२५), बौधायन (२।२।४९), विष्णु (१७।२१), शंखलिखित, (स्मृ० च० २६९), याज्ञ० (२।११७) नारद स्मृति (१६।२) बृहस्पति (दा० ७९), कात्यायन (दा० ८२) और पैठिनसि (समु० १२९) ने स्त्रीधन का उत्तराधिकारी कन्या को ही बताया है[७४]। किन्तु कन्याओं में स्त्रीधन तुल्य रूप से नहीं बंटता। उनमें आवश्यकता को देखकर ही इसका विभाजन होता है। अविवाहित, अपुत्रा और निर्धन (अप्रतिष्ठित) को विवाहित पुत्रवती और धनी कन्या की अपेक्षा स्त्रीधन की अधिक आवश्यकता है। अतः इन्हें स्त्रीधन में विवाहित और धनी कन्या की अपेक्षा पहले दायाद माना गया। गौतम (२८।२५) ने यह व्यवस्था की कि स्त्रीधन अविवाहिता और अप्रतिष्ठिता कन्याओं का होता है। विज्ञानेश्वर ने सब प्रकार के स्त्रीधन के विभाग के सम्बन्ध में यह व्यवस्था स्वीकार की। किन्तु भारुचि, देवण्ण भट्ट, अपरार्क तथा प्रतापरुद्रदेव ने यौतक, अन्वाधेयक व प्रीतिदत्त के अतिरिक्त अन्य प्रकारों के स्त्रीधन में इस तरह की व्यवस्था उचित मानी है और विज्ञानेश्वर का मत अप्रामाणिक ठहराया है[७५]। नीलकंठ भी अन्वाधेय और भर्तृप्रीतिदत्त से भिन्न, पारिभाषिक धन में ही गौतम के इस नियम को लागू करता है। वास्तव में गौतम के आशय को विज्ञानेश्वर ने ही समझा है। गौतम के समय तक स्त्रीधन मुख्य रूप से अलंकारों के रूप में था और उसने उसे आवश्यकता के आधार पर लड़कियों में बांटा। किन्तु मध्यकाल के टीकाकारों के समय तक स्त्रीधन का रूप बहुत जटिल हो चुका

---

७३. मिता० २।११७ 'पुमान्पुंसोऽधिके शुक्रे स्त्री भवत्यधिके स्त्रियाः इति वचनात् स्त्र्यवयवानां दुहितृषु बाहुल्यात्स्त्रीधनं दुहितृगामि। पितृधनं पुत्रगामि पित्रवयवानां पुत्रेषु बाहुल्यादिति।

७४. गौ० ध० २८।२५ स्त्रीधनं दुहितॄणामप्रत्तानामप्रतिष्ठितानां च। याज्ञ० २।११७ मातुर्दुहितरः शेषमृणात् ताभ्य ऋतेऽन्वयः।

७५. स्मृच० २८५ अस्य विज्ञानेश्वरकृता व्याख्या स्वबुद्धिमात्रेणाध्याहारादिकारणात्। सवि ३८३ एतद्विज्ञानेश्वरमतं भारुच्यपरार्कचन्द्रिकाकारादयो न मन्यन्ते। विज्ञानेश्वरेण स्वमतिपरिकल्पितत्वात्। अनेकाध्याहारपरिकल्पिततत्वाच्च।

था। उस समय देवण्ण भट्ट आदि को सब कन्याओं में उचित रूप से विभाग करने के लिए स्त्रीधन के अनेक प्रकारों की कल्पना करनी पड़ी। देवण्ण भट्ट ने विज्ञानेश्वर पर व्यर्थ में अध्याहार करने का आक्षेप किया है। वास्तव में विज्ञानेश्वर नहीं, किन्तु देवण्ण भट्ट स्वयं इस आक्षेप का पात्र है।

**स्त्रीधन पर पुत्रों का अधिकार**—कन्याओं के अभाव में स्त्रीधन पर पुत्रों का अधिकार माना गया ( याज्ञ० २।११७, कात्या० दा० ७२ )। पत्नी के निस्सन्तान मरने पर यह धन पति को प्राप्त होता था ( विष्णु १७। १९-२०, मनु० ९।१९६, याज्ञ० २।१४५, नार० स्मृ० १६।१९ )। गुप्त युग तक स्त्रीधन के स्वरूप में काफी अन्तर आ चुका था। पहले स्त्रीधन में मुख्यरूप से आभूषण होते थे। किन्तु नारद से यह ज्ञात होता है कि उसके समय तक स्थावर सम्पत्ति भी उसमें सम्मिलित हो चुकी थी (४।२८)। इस सम्पत्ति में नारद ने स्त्रियों को भोग का अधिकार दिया, यथेच्छ विनियोग का नहीं। कात्यायन के समय तक स्त्रीधन का और विकास हुआ तथा उसने स्थावर सम्पत्ति में भी पत्नी को अधिकार देते हुए ( दा० ७६; अप० २।१४ ) यह अधिकार उसके जीवन काल तक ही सीमित किया। उसके मरने पर पति से प्राप्त उसके स्त्रीधन ( भर्तृदाय) को पति के ही उत्तराधिकारी पुत्र आदि प्राप्त करते थे। इसका कारण सम्पत्ति को अपने परिवार में सुरक्षित रखना प्रतीत होता है। यदि स्त्रीधन पूरे तौर से कन्याओं को मिलता तो परिवार की सम्पत्ति का एक बड़ा भाग दूसरे परिवारों में चला जाता। इस स्त्रीधन में बहुत सा भाग पति का दिया हुआ होता था। पुत्र उसपर अपना अधिकार समझते थे। अतः स्त्रीधन में पुत्रों को भी कन्याओं के समान उत्तराधिकारी माना जाने लगा। शंख लिखित और कौटिल्य ने सबसे पहले स्त्रीधन पर पुत्र का अधिकार माना[७६]।

मनु ने ९।१९२ में पुत्रों के अधिकार का समर्थन करते हुए कहा कि माता के धन (मातृरिक्थ) को भाई बहिन मिलकर बांट लें, किन्तु याज्ञ० ने २।११७ में कन्याओं का प्रबल समर्थन किया और नारद ने इसका अनुमोदन किया ( १६।२)। बृहस्पति और कात्यायन भी इस मत के थे। ८वीं से ९वीं शती के बीच में पुत्रों का पक्ष प्रबल हुआ। देवल ने यह घोषणा की कि

७६. अर्थशास्त्र ३।२ तत्तु स्त्रीधनं पुत्रा हरेयुः। शंख लिखित—समं सर्वे सोदर्या मातृकं रिक्थमर्हन्ति कुमार्यश्च ( दा० ७९ )

स्त्रीधन में पुत्रों और कन्याओं का तुल्य अधिकार होता है (दा० ७९)। याज्ञ० २।११७ की विश्वरूप व विज्ञानेश्वर ने जो टीका लिखी है, उससे यह सूचित होता है कि उनके समय में पुत्रों का पक्ष बहुत प्रबल हो चुका था। विश्वरूप ने पूर्वपक्ष उपस्थित करते हुए यह प्रश्न उठाया कि 'न जामये तान्वो रिक्थ मारैक्' (ऋ० ३।३१।२) और 'यदी मातरो जनयन्त वह्निम्' (ऋ० ३।३१।२) के श्रुतिवचनों के अनुसार पुत्र को पैतृक धन प्राप्त करने का अधिकार है, पुत्री को नहीं'। अतः लड़कियों के होते हुए भी लड़कों को माता की सम्पत्ति प्राप्त होनी चाहिए। किन्तु इस पूर्वपक्ष के उत्तर में कोई प्रबल युक्ति न देता हुआ वह केवल यही कहता है कि याज्ञ० के इस स्मृतिवचन (२।११७) के अनुसार कन्याओं का ही अधिकार है; इनके अभाव में ही यह सम्पत्ति पुत्रों को मिलती है। विश्वरूप का यह तर्क इसलिए दुर्बल है कि श्रुति स्मृति के विरोध में श्रुति का प्रामाण्य प्रबल होता है। उपर्युक्त श्रुति वचनों के होते हुए स्मृति के वचन को कैसे प्रामाणिक माना जा सकता है।

विज्ञानेश्वर ने सम्भवतः उपर्युक्त दुर्बलता को अनुभव किया। वह स्त्रीधन में पुत्रों के लड़कियों से पहले दायाद होने के अधिकार का विरोध करना चाहता था। श्रुति वचन उसके विपक्ष में थे। अतः उसने यह युक्ति उपस्थित की कि कन्याओं में माता का अंश अधिक होता है और पुत्रों में पिता का, अतः कन्याओं को माता का अंश मिलना चाहिए और पुत्रों को पिता का (मिता० २।११७)। विज्ञानेश्वर द्वारा स्त्रीधन में पुत्रियों के अधिकार के प्रबल समर्थन का यह परिणाम हुआ कि भारत के एक बड़े भाग में आज भी लड़कियों को स्त्रीधन में सब से पहले हिस्सा मिलता है। अविवाहिता व निर्धन लड़कियों को विवाहित व धनी लड़कियों की अपेक्षा तरजीह दी जाती है। कन्याओं के अभाव में क्रमशः दोहती, दोहते और फिर पुत्र, पौत्र स्त्रीधन के उत्तराधिकारी बनते हैं।

जीमूतवाहन ने मनु (९।१९२), शंखलिखित व देवल के वचनों के आधार पर स्त्रीधन में कन्याओं के साथ पुत्रों के अधिकार का प्रबल समर्थन किया। जीमूतवाहन के सामने स्त्रीधन पर कन्या के अधिकार के प्रतिपादक गौतम धर्म सूत्र, नारद स्मृति, याज्ञ० (२।११७) के स्पष्ट वचन थे। इनका समाधान करना आवश्यक था। अतः जीमूत० ने मनु (९।१३१) के आधार पर इनका समाधान यह किया कि ये यौतक विषयक स्त्रीधन के विभाग पर ही लागू होते हैं; सामान्य स्त्रीधन पर नहीं (दा० पृ० ८२)। जीमूत० के इस

प्रकार के विधान के कारण बंगाल में आज तक शुल्क, पितृदत्त व यौतक के अतिरिक्त अन्य प्रकारों के स्त्रीधन पर पहला अधिकार पुत्रों तथा अविवाहिता ( अवाग्दत्ता ) कन्याओं का होता है।

**आसुर विवाह में स्त्रीधन (शुल्क) का विभाग**—स्त्रीधन के उत्तराधिकार का उपर्युक्त विवेचन ब्राह्म, दैव, आर्ष, गान्धर्व तथा प्राजापत्य विवाहों द्वारा परिणीत स्त्रियों के स्त्रीधन के सम्बन्ध में है। आसुर विवाह में स्त्रीधन का उत्तराधिकार विभिन्न प्रकार से होता है। इस का शुल्क स्त्री की सन्तान न होने पर उसके पितृकुल में लौट जाता है[७७]। गौतम धर्म सूत्र (२८।२६) विष्णु ( सवि० ३८४ ) मनु (९।१९७) याज्ञ० (२।१४४) नारद स्मृति (१६।९)कात्यायन (स्मृच ३८६) यम(दा० ८८) शुल्क के अधिकारी पितृकुल के दायादों के क्रम में मतभेद रखते हैं। गौतम पहले सोदर भाइयों और फिर माता पिता के अधिकार को मानता है। मनु इसमें माता-पिता का ही हिस्सा मानता है। याज्ञ० ( २।१४४) यह कहता है कि शुल्क, बन्धुदत्त व अन्वाधेय नामक स्त्रीधन बान्धवों को अर्थात् स्त्री के पितृकुल के संबन्धियों को प्राप्त होते हैं। आसुर विवाह में वर द्वारा कन्या के पिता को शुल्क देना पड़ता था। पिता अपनी इच्छा से वह शुल्क कन्या को दिया करता था। कन्या के निस्सन्तान मरने पर पिता उस शुल्क को वापिस ले लेता था। इस धन पर पति अपना कोई अधिकार नहीं रखता था, क्योंकि उसने यह धन विवाह के लिए कन्या के पिता को दिया था। अतः स्वाभाविक रूप से यह धन कन्या के भाइयों या माता पिता को प्राप्त होता था। वर्तमान काल में गौतम के आधार पर शुल्क पहले सोदर भाई को और फिर क्रमशः माता और पिता को प्राप्त होता है। स्त्रीधन के उत्तराधिकार के इन सामान्य सिद्धान्तों के बाद यहां संक्षेप में स्मृतियों तथा टीकाकारों की स्त्रीधन की उत्तराधिकार सम्बन्धी व्यवस्थाओं का उल्लेख होगा।

स्त्रीधन के संक्रमण (Devolution) की प्राचीनतम व्यवस्था गौतम धर्मसूत्र में है, इस के अनुसार स्त्रीधन कन्यागामी होता है, कन्याओं में

---

७७. गौ० ध० २८।२६ भगिनीशुल्कं सोदर्याणामूर्ध्वं मातुः। विष्णु १७। १९-२० ब्राह्मादिषु चतुर्षु विवाहेष्वप्रजायामतीतायां तद्भर्तुः। शेषेषु च पिता हरेत्। शंख लिखित स्मृच पृ० २८७ में उद्धृत—स्वं च शुल्कं वोढा। याज्ञ० २।१४५ अप्रजस्त्रीधनं भर्तुर्ब्राह्मादिषु चतुर्ष्वपि। दुहितॄणां प्रसूता चेच्छेषेषु पितृगामि तत्॥

अविवाहिता (अपुत्रा) और निर्धन ( अप्रतिष्ठिता ) को विवाहिता और धनी की अपेक्षा तरजीह दी जाती है; किन्तु आसुर विवाह में लिये गये शुल्क का उत्तराधिकारी कन्या नहीं, पर उसके भाई होते हैं। विष्णु धर्म सूत्र (१७।१९-२०) में यह कहा गया है कि ब्राह्मादि चार विवाहों में स्त्री के निःसन्तान मरने पर उसका धन पति को मिलता है, शेष विवाहों में परिणीता अनपत्या स्त्री का धन उसके पिता को प्राप्त होता है, किन्तु लड़की होने पर सब विवाहों में वही दायाद होती है। कौटिलीय अर्थ शास्त्र संभवतः सर्वप्रथम स्त्रीधन का पुत्रों तथा पुत्रियों में बंटवारा करने का उल्लेख करता है, पुत्रों के अभाव में लड़कियों को और इनके न होने पर पति को दायाद बनाता है, किन्तु यह नियम आसुरादि अधर्म्य विवाहों के शुल्क तथा अन्वाधेय नामक स्त्रीधन के प्रकारों पर लागू नहीं होता, इन प्रकारों का स्त्रीधन उसके पितादि स्त्रीबन्धुओं को ही मिलता है (३।२)। मनु ने कौटिल्य की भांति स्त्रीधन को भाई, बहनों में समान रूप से बांटने की तथा लड़कियों की लड़कियों ( दोहतियों) को भी प्रीतिपूर्वक कुछ देने की व्यवस्था की ( ९।१९२-९३ )। माता के यौतक को क्वांरी लड़की का ही हिस्सा माना है ( ९।१३१ )। ब्राह्म, दैव, गान्धर्व, प्राजापत्य नामक धर्म विवाहों के अनुसार परिणीता अपुत्रा पत्नी के मरने पर उसका धन पति को मिलता है (९।१९६), आसुरादि तीन अधर्म विवाहों से परिणीता के स्त्रीधन के दायाद उसके माता पिता होते हैं (मनु ९।१९७)। याज्ञवल्क्य स्त्रीधन के कन्यागामी होने का वर्णन करता है। ब्राह्मादि धर्म विवाहों के अनुसार परिणीता स्त्री के निःसन्तान होने पर उसका धन पति को मिलता है और शेष विवाहों में उसके पिता को ( याज्ञ० २।१४५)। नारद भी इसी व्यवस्था का अनुमोदन करता है ( नास्मृ० १६।२,९ )। बृहस्पति ने स्त्रीधन का दायाद अविवाहिता कन्या को बताया है (दा० ७९)[७८]। कात्यायन ने स्त्री-धन के विभाग का विस्तृत वर्णन करते हुए ( स्मृच० २८५-८६, अप० २।११७) निम्न नियम बनाये हैं[७९]—(१) स्त्रीधन की पहली उत्तराधिकारिणी अविवा-

---

७८. बृह० दा० ७९ में उ०—स्त्रीधनं स्यादपत्यानां दुहिता च तदंशिनी। अप्रत्ता चेत्समूढा तु लभते मानमात्रकम्॥

७९. मिता० व अप० द्वारा याज्ञ० २।११७ पर तथा स्मृच० २।२८५-८७ में उद्धृत—भगिन्यो बान्धवैः सार्धं विभजेरन् सभर्तृकाः। स्त्रीधनस्येति धर्मोऽयं विभागस्तु प्रकल्पितः॥ दुहितृणामभावे तु रिक्थं पुत्रेषु तद्भवेत्। बन्धुदत्तं तु बन्धूनामभावे

हित लड़कियां हैं, (२) इन के न होने पर जीवित पति वाली विवाहिता कन्यायें अपने भाइयों के साथ दायाद बनती हैं, (३) लड़कियों के न होने पर स्त्रीधन मृत स्त्री के पुत्रों को मिलता है। (४) पितृकुल अथवा मातृकुल के किसी सम्बन्धी द्वारा ही दी हुई वस्तु उसके अभाव में पति को मिलती है। (५) माता-पिता द्वारा कन्या को दी गयी स्थावर सम्पत्ति उसके निःसन्तान मरने पर उसके भाई को मिलती है। (६) आसुरादि विवाहों में जो पैतृक धन स्त्री को मिलता है, वह उसके पुत्रों के अभाव में उसके माता पिता को प्राप्त होता है[८०]। देवल ने कात्यायन से भिन्न नियम बनाते हुए स्त्रीधन का दायाद पुत्र और पुत्री दोनों को बताया है[८१]।

मध्यकालीन टीकाकारों ने उपर्युक्त व्यवस्थाओं पर विस्तृत ऊहापोह किया है; किन्तु यहां वर्त्तमान काल में विशेष प्रभाव डालने वाले प्रसिद्ध धर्मशास्त्री विज्ञानेश्वर, नीलकण्ठ, वाचस्पति मिश्र, देवण्णभट्ट और जीमूतवाहन के मतों का ही उल्लेख किया जायगा। मिताक्षरा में स्त्रीधन के उत्तराधिकार के तीन विभिन्न प्रकार हैं—(१) शुल्क का दायाद क्रम (२) कन्या का स्त्रीधन (३) अन्य प्रकार के स्त्रीधन। विज्ञानेश्वर ने शुल्क में गौतम(२८।२६) के आधार पर पहले पत्नी के भाइयों को तथा उनके अभाव में माता को उत्तराधिकारी माना है। दायभाग (पृ० ९५), स्मृतिचन्द्रिका, पराशर माधवीय, व्यवहार प्रकाश और विवादचिन्तामणि इस विषय में मिताक्षरा का अनुसरण करते हैं; किन्तु सुबोधिनी, दीपकलिका और हरदत्त का मत इससे प्रतिकूल है, वे शुल्क पर पहला अधिकार माता का मानते हैं और उसके अभाव में सोदर भाइयों का[८२]।

कन्या के स्त्रीधन के दायादों का क्रम मिताक्षरा ने बौधायन के एक वचन

---

भर्तृगामि तत् ॥ पितृभ्यां चैव यद्दत्तं दुहितुः स्थावरं धनम्। अप्रजायामतीतायां भ्रातृगामि तु सर्वदा ॥

८०. स्मृच० पृ० २८६—आसुरादिषु यल्लब्धं स्त्रीधनं पैतृकं स्त्रियाः। अभावे तदपत्यानां मातापित्रोः तदिष्यते। दा० पृ० ८८ मे इसी अभिप्राय का एक श्लोक यम के नाम से उद्धृत है।

८१. दा० पृ० ७९ में उ०—सामान्यं पुत्रकन्यानां मृतायां स्त्रीधनं स्त्रियाम्। अप्रजायां हरेद् भर्त्ता माता भ्राता पितापि वा ॥

८२. याज्ञ० २।१४५ पर मिता० शुल्कं तु सोदर्याणामेव। मि० सुबोधिनी २।१४५ मातुरभावे सोदर्याः परिगृह्णीयुः।

के आधार पर इस प्रकार निश्चित किया है--(१) सोदर भाई (२) माता (३) पिता । वीरमित्रोदय पिता के अभाव में सपिण्डों को दायाद बताता है[८३] ।

शुल्क और कन्या के स्त्रीधन के अतिरिक्त शेष सब प्रकार के स्त्रीधन का संक्रमण निम्न है—(१) अविवाहिता कन्या (२) विवाहिता किन्तु निर्धन कन्या (३) विवाहिता धनी कन्या (४) लड़की की लड़कियां (५) लड़की का लड़का (६) लड़का (७) लड़के का लड़का (पोता) । इन सात दायादों के बाद धर्म्य तथा अधर्म्य विवाहों के भेद से दायादों का क्रम बदल जाता है । धर्म्य विवाह में निम्न क्रम है—(८) उसका पति (९) पति के उत्तराधिकारी-सौतेला बेटा, उसका लड़का, पोता, सपत्नी, सौतेली लड़की, उसका बेटा, सास, ससुर, पति का भाई (देवर), देवर का लड़का, सपिण्ड, समानोदक और बन्धु । अधर्म्य विवाह का क्रम इस प्रकार है--मृत स्त्री के धन के दायादों में पोते के अभाव में उसकी माता, पिता और पिता के सपिण्ड, पति और पति के सपिण्ड[८४] ।

गुजरात, बम्बई टापू और उत्तरी कोंकण में प्रामाणिक माने जाने वाले नीलकण्ठ के व्यवहार मयूख में स्त्रीधन को दो भागों में बांटा गया—(१) पारिभाषिक (२) अपारिभाषिक[८५] । पारिभाषिक स्त्रीधन उत्तराधिकार की दृष्टि से चार भागों में विभक्त है--(१) शुल्क--इसके दायादों का क्रम मिताक्षरा के क्रम जैसा है । (२) यौतक पर अविवाहिता कन्याओं का और इनके अभाव में संभवतः विवाहिता लड़कियों का अधिकार होता है । (३) अन्वाधेय और प्रीतिदत्त के उत्तराधिकारी पुत्र और अविवाहिता कन्यायें एक साथ समान रूप से होती हैं । अविवाहिता के अभाव में विवाहिता कन्यायें दायाद बनती हैं । इनके अभाव में पहले कन्या की सन्तान और फिर पुत्र के पुत्र (पौत्र) इसके रिक्थहर होते हैं (४) अन्वाधेय तथा भर्तृ प्रीतिदत्त से भिन्न पारिभाषिक धन के उत्तराधिकारी मिताक्षरावत् हैं । अपारिभाषिक स्त्रीधन के संक्रमण का क्रम यह है--पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र, पुत्री, दोहता, दोहती । निःसन्तान होने पर यह दायाद क्रम मिताक्षरा जैसा ही है (मेन-हिन्दू ला पृ० ७५८-९) ।

८३. मिता० २।१४६ रिक्थं मृतायाः कन्यायाः गृह्णीयुः सोदरास्तदभावे पितुरिति ।

८४. मेन—हिन्दू ला पृ० ७५६-५८

८५. व्यवहार मयूख पृ० १६०--पारिभाषिकातिरिक्तं मातृधनं दुहितृसत्वे पुत्रादय एव लभेरन् ।

मिथिला में प्रामाणिक समझे जाने वाले विवाद चिन्तामणि के अनुसार शुल्क का संक्रमण मिताक्षरा जैसा है। यौतक स्त्रीधन लड़कियों को मिलता है और उनके अभाव में लड़कों को। अविवाहिता कन्याओं को विवाहिताओं से तरजीह दी जाती है। शेष सब प्रकार का स्त्रीधन लड़कों तथा अविवाहित लड़कियों को एक साथ समानरूप से मिलता है (मेन-हिन्दू ला, पृ० ७५८)।

दक्षिण भारत में मिताक्षरा के समान प्रामाणिक मानी जाने वाली स्मृति-चन्द्रिका इस विषय में व्यवहार मयूख से बहुत सी महत्वपूर्ण बातों में मेल रखती है। किन्तु यह मयूख की भांति स्त्रीधन को पारिभाषिक और अपारिभाषिक नामक भेदों में नहीं बांटती। मयूख की भांति, इसके मतानुसार पुत्र और अविवाहित पुत्रियां एक साथ अन्वाधेय और प्रीतिदत्त के उत्तराधिकारी होते हैं। मयूख के साथ इसका दूसरा बड़ा सादृश्य यह है कि यौतक की उत्तराधिकारिणी केवल कुमारिकायें होती हैं। मद्रास में अधिकांश दशाओं में, मिताक्षरा का अनुसरण किया जाता है (११ म० १००)।

बंगाल में प्रचलित दायभाग के अनुसार स्त्रीधन चार प्रकारों में बांटा जाता है—शुल्क, यौतक, अन्वाधेय और अयौतक। (क) शुल्क के संक्रमण का क्रम यह है—(१) सोदर भाई (२) माता (३) पिता (४) पति। (ख) यौतक अथवा विवाह की वेदी के समक्ष दी गयी भेंटों वाले स्त्रीधन के दायाद इस प्रकार होंगे—क्वांरी तथा अवाग्दत्ता कन्यायें (२) वाग्दत्ता कन्यायें (३) पुत्रवती अथवा संभावितपुत्रा व्याही लड़कियां (४) वन्ध्या, विवाहिता तथा निःसन्तान विधवा लड़कियां—ये एक साथ समान अंश ग्रहण करती हैं (५) पुत्र (६) पुत्री का पुत्र (७) पौत्र (८) प्रपौत्र (९) सौतेला पुत्र (१०) सौतेला पौत्र (११) सौतेला प्रपौत्र। इनके बाद धर्म्य विवाह से परिणीत होने पर उपर्युक्त दायादों के अभाव में यौतक क्रमशः पति, भाई, माता और पिता को मिलता है। अधर्म्य विवाह होने पर इसके दायाद माता, पिता, भाई और पति होते हैं। (ग) अन्वाधेय अथवा विवाह के बाद दी गयी भेंटों के दायादों का क्रम यौतक के रिक्थहरों जैसा ही है, केवल कुछ सूक्ष्म अन्तर है—लड़के का हक़ व्याही लड़की से पहले होता है। स्त्री के निःसन्तान होने पर यह क्रम होता है—भाई, माता, पिता, पति। (घ) उपर्युक्त तीन प्रकार से भिन्न सब प्रकार का स्त्रीधन अयौतक कहलाता है। दायभाग के अनुसार इसके रिक्थहरों का यह क्रम है—पुत्र और कुमारी कन्या, व्याही लड़की जिसकी सन्तान है या होने की संभावना है, पोता, दोहता, बांझ और विधवा लड़कियां। किन्तु रघुनन्दन और

श्रीकृष्ण ने अन्तिम दो के बीच में निम्न दायाद और जोड़े हैं--पोता, पोते का लड़का, सौतेला लड़का, इसका पुत्र और पोता। इनके अभाव में सब प्रकार के स्त्रीधन का दायादक्रम निम्न है--पति का छोटा भाई, पति के भाई का लड़का, बहिन का लड़का, पति की बहिन (बुआ) का लड़का, भाई का लड़का, लड़की का पति। इन के भी न होने पर पति के सपिण्ड, सकुल्य, और समानोदक उत्तराधिकारी होते हैं[८६]।

मिताक्षरा द्वारा शासित प्रदेश में स्त्रीधन का उत्तराधिकारी बनने के लिये कन्या का साध्वी होना आवश्यक नहीं। विज्ञानेश्वर द्वारा उद्धृत स्कन्दपुराण के वचनानुसार वेश्यायें पंचचूडा नामक अप्सरा की वंशज पंचम जाति हैं[८७]। क्वांरी अथवा विवाहित कन्याओं में असाध्वी कन्या दायाद बन सकती है (तारा ब० कृष्णा ३१ ब० ५९५)। किन्तु बंगाल में कन्या का साध्वी होना आवश्यक है। वेश्यावृत्ति अत्यन्त गर्हित होने पर भी हिन्दू परिवार में रक्तसंबन्ध को विच्छिन्न करने वाली नहीं समझी जाती, अतः नर्त्तकी का पेशा करने वाली नाइकिन लड़कियों के स्त्रीधन पर उसके भाई, बहिन, पति आदि संबन्धियों का उत्तराधिकार बना रहता है।

स्त्रीधन के उत्तराधिकार के उपर्युक्त अत्यन्त जटिल नियमों को सरल बनाने के उद्देश्य से प्रस्तावित हिन्दू कोड में तीन परिवर्त्तन किये गये थे—(१) स्त्रीधन के विविध प्रकारों का अन्त कर उनकी एक ही श्रेणी बना दी गयी है, स्त्री द्वारा किसी भी तरह विवाह से पहले या बाद में प्राप्त सब प्रकार की सम्पत्ति स्त्रीधन कहलायेगी (धारा ९१)। (२) स्त्रीधन के उत्तराधिकार की विभिन्न प्रणालियों का अन्त कर स्त्री पुरुषों के लिये एक जैसी उत्तराधिकार व्यवस्था का प्रस्ताव किया गया है। (३) पुत्र को भी स्त्रीधन में उत्तराधिकार पाने का अधिकार दिया गया है, उसे पुत्री के भाग से आधा भाग दिया गया है। इसका उद्देश्य पुत्र और पुत्री के बीच में समान स्थिति बनाये रखना है। हिन्दू कोड में पुत्री को पिता की सम्पत्ति में पुत्र से आधा अंश दिया गया है; अतः अब तक कन्या को ही प्राप्त होने वाले स्त्रीधन में से पुत्र को पुत्री से आधा हिस्सा

८६. मेन--हिन्दू ला, पृ० ७६०-६२

८७. या० २।२९० पर मिता०—स्मर्यते हि स्कन्दपुराणे पंचचूडा नाम काञ्चनाप्सरसस्तत्सन्ततिर्वेश्याख्या पंचमी जातिरिति। हीरालाल ब० त्रिपुरा ४० कल० ६५०, नारायण ब० लक्ष्मण १५ बं० ७८४

देना उचित समझा गया । २६ मई १९५४ को भारत सरकार के गज़ट में प्रकाशित नवीन हिन्दू उत्तराधिकार विधेयक में भी स्त्रीधन के सम्बन्ध में हिन्दू कोड से मिलती जुलती व्यवस्था की गयी है । अन्तिम अध्याय में इसका उल्लेख होगा ।

---

# सत्रहवां अध्याय

## विधवा के साम्पत्तिक स्वत्व

विधवा द्वारा पति से विरासत में सम्पत्ति पाने की चार अवस्थायें—पहली अवस्था—विधवा का उत्तराधिकारी न होना—दूसरी अवस्था—विधवाओं का दायाद बनना—तीसरी अवस्था—पति की सम्पत्ति के विनियोग का अधिकार—अभिलेखों की साक्षी—वर्त्तमान काल में विधवाओं का सीमित स्वत्व—इसके दुष्परिणाम—चौथी अवस्था—१९३७ का 'हिन्दू स्त्रियों के साम्पत्तिक अधिकार' का कानून—स्त्रीधन पर विधवा का स्वत्व।

विधवा को वर्त्तमान काल में मुख्य रूप से दो प्रकार के साम्पत्तिक अधिकार हैं (१) उत्तराधिकार द्वारा अपने पति की जायदाद के उपभोग का स्वत्व (२) स्त्रीधन पर अधिकार। इनमें पहले प्रकार की सम्पत्ति पर उसका स्वत्व सीमित है, क्योंकि वह पति की सम्पत्ति का विक्रय या अपहार नहीं कर सकती और उसकी मृत्यु के बाद यह सम्पत्ति उसके वारिसों को न मिलकर पति के उत्तराधिकारियों को प्राप्त होती है। दूसरे प्रकार की सम्पत्ति पर उस का पूर्ण अधिकार है, वह इच्छानुसार इसे बेचने, दान करने का पूरा स्वत्व रखती है। उस के मरने पर यह जायदाद उसके उत्तराधिकारियों को मिलती है। यहां क्रमशः इन दोनों का प्रतिपादन होगा।

**विधवा द्वारा पति से सम्पत्ति पाने की चार अवस्थायें**—पति से उत्तराधिकार में सम्पत्ति पाने का अधिकार विधवा को काफी लम्बे संघर्ष के बाद मिला है। इसे स्थूल रूप से चार अवस्थाओं में बांटा जा सकता है।

**पहली अवस्था** में वैदिक युग से सातवाहन युग ( २०० ई० ) तक विधवा को सामान्य रूप से कोई साम्पत्तिक स्वत्व न था। **दूसरी अवस्था** में ( २००-११०० ई० ) याज्ञवल्क्य ने विभक्त परिवार में पुत्र, पौत्र और प्रपौत्र न होने पर विधवा को विरासत में पति की सम्पत्ति पर अधिकार प्रदान किया। नारद का विरोध होने पर भी बृहस्पति और कात्यायन ने विधवा के इस स्वत्व का प्रबल समर्थन किया। **तीसरी अवस्था** ( ११००-१९३७) में जीमूतवाहन आदि ने प्रपौत्र पर्यन्त सन्तान के अभाव

में उस के उत्तराधिकारी होने के अधिकार को विभक्त और अविभक्त दोनों प्रकार के परिवारों में लागू किया। इस काल में उस के साम्पत्तिक स्वत्व पर दो प्रकार के प्रतिबन्ध थे। पहला तो यह कि प्रपौत्र तक सन्तान न होने पर ही वह उत्तराधिकारी बनती थी और दूसरा यह कि इस प्रकार प्राप्त सम्पत्ति पर उसका सीमित स्वत्व था। १९३७ ई० से **चौथी अवस्था** आरम्भ होती है, इस वर्ष 'हिन्दू स्त्री सम्पत्ति कानून' द्वारा उसे पुत्र के साथ पति की सम्पत्ति में वारिस होने का अधिकार दिया गया। दूसरे प्रतिबन्ध सीमित स्वत्व को भी हटाने का प्रस्ताव हिन्दू कोड में किया गया और उसके पास न होने पर ऐसा ही प्रस्ताव २६ मई १९५४ को प्रचारित नवीन हिन्दू उत्तराधिकार बिल में किया गया है।

**पहली अवस्था—विधवा का उत्तराधिकारी न होना**—अधिकांश धर्मसूत्रों में दायादों में विधवा का उल्लेख नहीं है[1]। आपस्तम्ब किसी व्यक्ति के निःसन्तान मरने पर उसके सपिण्ड ( निकटतम पुरुष सम्बन्धी ) को ही उत्तराधिकारी बनाता है। बौधायन के मतानुसार 'परदादा, दादा, पिता, स्वयं, सगा भाई, सवर्णा स्त्री से उत्पन्न पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र अविभक्त दायाद होने पर सपिण्ड होते हैं और बंटवारा हो जाने पर सकुल्य। पुत्रों के न होने पर यह

---

१. कुछ धर्मसूत्रों में स्त्री के उत्तराधिकारिणी होने का उल्लेख है। दे० गौतम धर्मसूत्र २८।२१-२३ पिण्डगोत्र्षिसंबन्धा रिक्थं भजेरन्। स्त्री चानपत्यस्य, बीजं वा लिप्सेत। इस में गौतम ने स्त्री को सपिण्डों और सगोत्रों के साथ वारिस बनाया है; विश्वरूप यहां स्त्री शब्द को गर्भिणी तक ही सीमित करता है और नियोग द्वारा पुत्र प्राप्त करने वाली स्त्री को ही दायाद बनाता है (या० २।१३९); किन्तु विज्ञानेश्वर इस अर्थ से सहमत नहीं है (या० २।१३५ गौतमवचनान्नियुक्ताया धनसंबन्ध इति। तदप्यसत् )। मिताक्षरा ने तथा गौधसू० के टीकाकार ने यहां च के स्थान पर वा का पाठ माना है, इस के अनुसार स्त्री सपिण्डों के साथ संयुक्त रूप से नहीं, किन्तु स्वतन्त्र रूप से वैकल्पिक दायाद होगी। विष्णु और शंख लिखित ने पत्नी के दायाद होने का उल्लेख किया है ( वि० १७।४ अपुत्रस्य धनं पत्न्यभिगामी, शंख विश्व रूप द्वारा याज्ञ० २।१४० में उ०––अपुत्रस्य स्वर्यातस्य भ्रातृगामि द्रव्यम्। तदभावे पितरौ हरेतां पत्नी वा ज्येष्ठा )। ये सब वचन यह सूचित करते हैं कि शनैः शनैः विधवा को दायाद बनाने वाला पक्ष प्रबल हो रहा था।

सम्पत्ति सकुल्यों को मिलती है और इनके अभाव में क्रमशः आचार्य, शिष्य, ऋत्विक् या राजा को मिलती है।' उत्तराधिकारियों की इस लम्बी सूची में विधवा का कहीं निर्देश नहीं है[२]। कौटिलीय अर्थशास्त्र ( ३।५) से भी यही स्थिति सूचित होती है; दायादों के अभाव में यदि राजा मृत पुरुष का धन लेता था तो वह मृत पुरुष की स्त्री के जीवन निर्वाहार्थ तथा उसके और्ध्वदैहिक कार्य के लिये कुछ धन अवश्य छोड़ देता था[३]।' इस व्यवस्था से यह स्पष्ट है कि उस समय विधवा दायाद नहीं मानी जाती थी। मनु ने विधवा के कर्त्तव्यों की विस्तार से चर्चा की है ( ५।१५७-१६१ ); किन्तु दायादों की गणना करते हुए ९।२१७ के अपवाद को छोड़ कर उसे कहीं उत्तराधिकारी नहीं माना[४]।

अतः याज्ञवल्क्य के समय ( १००-३०० ई० ) तक सामान्य रूप से विधवा को दायाद नहीं माना जाता था। दक्षिण में कुछ स्थानों पर संभवतः वह पति की सम्पत्ति की स्वामिनी हो सकती थी[५]।

---

२. आप० धर्मसूत्र २।१४।२-५ पुत्राभावे यः प्रत्यासन्नः सपिण्डः। तदभावे आचार्यः तदभावेऽन्तेवासी।...दुहिता वा। सर्वाभावे राजा दायं हरेत्। बौधा० १।५।११३-४ प्रपितामहः पितामहः, पिता स्वयं सोदर्या भ्रातरः सवर्णायाः पुत्रः पौत्रः प्रपौत्र एतान् विभक्तदायादान् सपिण्डानाचक्षते। विभक्तदायादान् सकुल्यानाचक्षते। असत्स्वंगजेषु तद्गमी ह्यर्थो भवति। सपिण्डाभावे सकुल्यस्तदभावेऽप्याचार्योऽन्तेवासी ऋत्विग्वा हरेत्। तदभावे राजा।

३. कौ० ३।५ द्रव्यमपुत्रस्य सोदर्या भ्रातरः सहजीविनो वा हरेयुः कन्याश्च। रिक्थं पुत्रवतः पुत्रा दुहितरो वा।...आदायादकं राजा हरेत् स्त्री वृत्तिप्रेतकार्यवर्जम्।

४. मनु० ९।१८५,८७ न भ्रातरो न पितरः पुत्रा रिक्थहराः पितुः। पिता हरेदपुत्रस्य रिक्थं भ्रातर एव च॥ अनन्तरः सपिण्डाद्यस्तस्य तस्य धनं भवेत्। अतऊर्ध्वं सकुल्यः स्यादाचार्यः शिष्य एव वा॥ कुल्लूक ने अपनी टीका (९। १८७ ) में लिखा है कि मेधातिथि ने पत्नी के अंशहर होने का जो निषेध किया है, वह ठीक नहीं। क्योंकि बृहस्पति आदि द्वारा पत्नी को दायाद माना गया है ( अतो यन्मेधातिथिना पत्नीनामंशभागित्वं निषिद्धत्वमुक्तं तदसंबद्धम्। पत्नीनामंशभागित्वं बृहस्पत्यादिसम्मतम्। मेधातिथिर्निराकुर्वन्न प्रीणाति सतां मनः )। वस्तुतः मेधातिथि की व्याख्या ठीक है, कुल्लूक अपने समय की प्रचलित व्यवस्था को जबर्दस्ती मनु का मत बनाना चाहता है।

५. यास्क के निरुक्त से यह प्रतीत होता है कि दक्षिण में विधवायें पति

इस काल में विधवा के दायाद न माने जाने के निम्न कारण प्रतीत होते हैं। वैदिक युग में विधवाओं के पुनर्विवाह और नियोग की परिपाटी प्रचलित थी[६], अतः उस समय विधवाओं की संख्या बहुत कम थी। ईसा की पहली सहस्राब्दी में इन दोनों प्रथाओं का लोप होने लगा[७]। इससे समाज में विधवाओं की संख्या बढ़ी। कुछ समय तक उनके अधिकारों की इस कारण भी उपेक्षा हुई कि बौधायन जैसे धर्मसूत्रकार स्त्रियों को साम्पत्तिक स्वत्व देने के विरोधी थे[८]। किन्तु यह स्थिति देर तक नहीं रही, मध्यकालीन स्मृतिकारों ने विधवा को दायाद स्वीकार किया।

**दूसरी अवस्था—विधवाओं का दायाद बनाना**—याज्ञवल्क्य संभवतः पहला स्मृतिकार है, जिसने स्पष्ट रूप से सर्वप्रथम[९] विधवाओं को पुत्रों के अभाव में पति की सम्पत्ति का स्वामी बनाया (या० २।१३५-३६ दे० ऊ० पृ० ३००)[१०]

---

की सम्पत्ति प्राप्त करती थीं। ऋ० १।२४।७ की व्याख्या में उसने लिखा है, दाक्षिणात्य स्त्री अपुत्र और विधवा होने पर सभास्थान में जाती है, वहां मंच (गर्त्त या सभास्थाणु) पर आरूढ़ होती है, सभा के व्यक्ति उस पर पांसे फैंकते हैं और वह उत्तराधिकार की सम्पत्ति प्राप्त करती है (निरुक्त ३।५गर्त्तारोहिणीव धनलाभाय दक्षिणाजी। गर्त्तः सभास्थाणुः। ....तं तत्र याऽपुत्रा याऽपतिका साऽऽरोहति। तां तत्राक्षैराघ्नन्ति, सा रिक्थं लभते)।

६. अल्तेकर—पोजीशन आफ हिन्दू वुमैन, पृ० १७४, १७९

७. वही—वहीं, पृ० १७५ तथा १८३

८. दे० ऊ० पृ० ५५२ तथा द्वारकानाथ मित्तर—पोजीशन आफ वुमैन इन हिन्दू ला पृ० ४३३-४४६

९. विष्णु, गौतम और शंख ने यद्यपि इससे पहले विधवा को दायाद बनाया था (दे० ऊ० टि० सं० १)। किन्तु विष्णु का काल निर्विवाद रूप से निश्चित नहीं, श्लोकों वाला हिस्सा बहुत बाद का है (काणे-हिस्टरी आफ धर्मशास्त्र खं० १ पृ० ६९)। गौतम के सूत्र का अर्थ और पाठ काफी विवादास्पद है, शंख का काल (३०० ई० पू०—१०० ई०) यद्यपि याज्ञ० से पहले का है, किन्तु इसका धर्म सूत्र निबन्ध ग्रन्थों में अवतरणों के रूप में ही मिलता है।

१०. इस समय विधवा को दायाद बनाने का कारण यह था कि मनु द्वारा विधवाओं के पुनर्विवाह और नियोग का निषेध होने से समाज में विधवाओं की संख्या बढ़ने लगी थी। इन के भरण पोषण और सरक्षण की दृष्टि

किन्तु नारद ने इस सम्बन्ध में पुरानी व्यवस्था का समर्थन किया, विधवा को दायाद नहीं माना[११] और उत्तराधिकारियों के अभाव में मृत व्यक्ति की सम्पत्ति राजा को देने की व्यवस्था की[१२]।

बृहस्पति को इस बात का श्रेय है कि उसने विधवा के दायाद होने का प्रबल समर्थन किया। याज्ञवल्क्य ने विधवा का उत्तराधिकारियों में उल्लेख मात्र किया था, बृहस्पति ने तर्क द्वारा विधवा के इस अधिकार को पुष्ट किया—"वेद में, स्मृतियों में, लोकाचार में पत्नी विद्वानों द्वारा पति का आधा शरीर कही गयी है, पुण्य और पाप के फल वह पति के साथ तुल्य रूप से ग्रहण करती है। जिस पुरुष की पत्नी मृत नहीं, उसकी देह का आधा भाग जीवित है, उसके जीवित रहते हुए कोई दूसरा पुरुष ( उसके पति के धन को) कैसे प्राप्त कर सकता है ? सकुल्य पिता, माता, सोदर भाई आदि के रहते हुए भी अपुत्र मृत पुरुष की सम्पत्ति उसकी पत्नी को मिलती है। अपने पति से पहले मरने वाली पत्नी उसका अग्निहोत्र ले लेती है, किन्तु यदि पति उस से पहले मरता है तो वह पति-व्रता होने पर उस की सम्पत्ति प्राप्त करती है। यही सदा से चला आने वाला नियम है। यदि सपिण्ड ( पितृकुल के संबन्धी ), बन्धु (मातृकुल के संबन्धी) या शत्रु इस सम्पत्ति को हानि पहुँचायें तो राजा उन्हें चोरों का दण्ड दे"[१३]।

---

**से संभवतः यह व्यवस्था की गयी (अल्तेकर—पू० नि० पु० पृ० ४२६-२७)। यह स्मरण रखना चाहिये कि शास्त्रकारों ने स्त्री को परतन्त्र मानते हुए भी उसे सम्पत्ति में स्वत्व के अधिकार से वंचित नहीं किया दे० ऊ० पृ० ५४४**

**११. ना० स्मृ० १६।५१ अभावे तु दुहितृणां सकुल्या बान्धवास्तथा। ततः सजात्याः सर्वेषामभावे राजगामि तत्॥ मध्यकाल में अनेक टीकाकारों तथा निबन्धलेखकों को नारद का यह वचन विधवा को दायाद बनाने में बाधक प्रतीत हुआ (दे० मिता० तथा अप० या० २।१३६ पर, स्मृच० ३०२, व्यप्र० ५१०)।**

**१२. राजा द्वारा अपुत्र मृत व्यक्ति की सम्पत्ति लेने के तत्कालीन साहित्य में अनेक संकेत मिलते हैं ( दे० नीचे टिप्पणी संख्या २०)**

**१३. स्मृच० २९० में उ०—आम्नाये स्मृतितन्त्रे च लोकाचारे च सूरिभिः। शरीरार्धं स्मृता जाया पुण्यापुण्यफले समा॥ यस्य नोपरता भार्या देहार्धं तस्य जीवति। जीवत्यर्धशरीरेऽर्थं कथमन्यः समाप्नुयात्। कुल्येषु विद्यमानेषु पितृ-भ्रातृसनाभिषु। असुतस्य प्रमीतस्य पत्नी तद्भागहारिणी॥ पूर्वं प्रमीताग्निहोत्रं मृते भर्त्तरि तद्धनम्। विन्देत्पतिव्रता नारी धर्म एष सनातनः॥ तत्सपिण्डा बान्धवा**

विधवा के अधिकार का इससे अधिक उग्र समर्थन क्या हो सकता था। साध्वी स्त्री के लिये पति का उत्तराधिकारी होना बृहस्पति के लिये 'सनातन धर्म' था। था। बृहस्पति ने पत्नी को दायाद बनाते हुए भी उसे स्थावर सम्पत्ति के अतिरिक्त द्रव्य पर ही यह अधिकार दिया है[१४]।

कात्यायन ने बृहस्पति का समर्थन करते हुए साध्वी पत्नी को दायाद बनाया[१५] और यह कहा कि वह उस सम्पत्ति का यावज्जीवन उपभोग ही करे और उसके मरने के बाद यह सम्पत्ति पति के दायादों को प्राप्त हो[१६]। स्मृतिचन्द्रिका में (पृ० २९२) कात्यायन के नाम से उद्धृत एक श्लोक में कहा गया है[१७] 'कुल (की प्रतिष्ठा की) रक्षा करने वाली स्त्री पति के मरने पर उसके अंश को जीवन पर्यन्त प्राप्त करे, किन्तु उसे इसके दान, विक्रय और गिरवी रखने का अधिकार नहीं है'। इस से यह स्पष्ट होता है कि विधवा अपने पति की सम्पत्ति की आय का मृत्युपर्यन्त उपभोग कर सकती है, किन्तु उसे इस के विनियोग का यथेच्छ अधिकार नहीं है, वह पति के उत्तराधिकारियों की सहमति से ही उसकी सम्पत्ति का दान या विक्रय कर

---

वा ये तस्याः परिपन्थिनः। हिंस्युर्धनानि तान् राजा चोरदण्डेन शासयेत्॥ मिता० २।१३५ में उ० बृह० का वचन—भर्त्तुर्धनहरी पत्नी तां विना दुहिता स्मृता।

१४. दा० १६८—यद्विभक्ते धनं किंचिदाध्यादि विविधं स्मृतम्। तज्जाया स्थावरं मुक्त्वा लभेत मृतभर्तृका। वृत्तस्थापि कृतेऽप्यंशे न स्त्री स्थावरमर्हति॥ माधव के मत में यह वचन अन्य दायादों से विना पूछे स्थावर सम्पत्ति के विक्रय का निषेध करने के सम्बन्ध में है—तदितरदायादानुमतिमन्तरेण स्थावर-विक्रयनिषेधपरम्, पृ० ५३६

१५. याज्ञ० २।१३६ पर मिता० द्वारा उद्धृत—पत्नी भर्तुर्धनहरी या स्यादव्यभिचारिणी। तदभावे तु दुहिता यद्यनूढा भवेत्तदा॥

१६. दा० १७१ में उ०—अपुत्रा शयनं भर्तुः पालयन्ती व्रते स्थिता। भुंजीता-मरणात्क्षान्ता दायादा ऊर्ध्वमाप्नुयुः॥ यह व्यवस्था सर्व प्रथम कौटिल्य में मिलती है—अपुत्रा पतिशयनं पालयन्ती गुरुसमीपे स्त्रीधनं आ आयुः क्षयाद् भुंजीत। आपदर्थं हि स्त्रीधनम्। ऊर्ध्वं दायादं गच्छेत्। मि० महाभा० १३।४७।२४ स्त्रीणां स्वपतिदायस्तु उपभोगफलः स्मृतः। नापहारं स्त्रियः कुर्युः पतिवित्तात्कथंचन॥

१७. मृते भर्त्तरि भर्त्रंशं लभेत कुलपालिका। यावज्जीवं न हि स्वाम्यं दानाधमनविक्रये॥

सकती है, किन्तु धार्मिक कार्यों के लिये या पति को लाभ पहुँचाने वाले पुण्य कार्यों के लिये ही काफी व्यय कर सकती है। प्रिवी कौन्सिल ने इन नियमों को स्वीकार किया है[१८]।

कात्यायन के बाद मध्यकाल के लगभग सभी स्मृतिकारों व्यास (धर्मकोश खं० २ पृ० १५२४), उशना (धर्मकोश पृ० १५२६), यम (वहीं), वृद्ध-हारीत (वहीं), लघुहारीत और बृहन्मनु (वही पृ० १५२७) ने विधवा को उत्तराधिकारी माना। किन्तु कुछ शास्त्रकार पुरानी परम्परा का अनुसरण करते हुए इसके विरोधी बने रहे।

स्मृतिकारों ने यद्यपि विधवा के अधिकार का समर्थन किया, किन्तु साहित्यिक साक्षी से यह प्रतीत होता है कि १२०० ई० तक दायादों के अभाव में मृत पुरुष की सम्पत्ति राजकोष में चली जाती थी, विधवा उसकी स्वामी नहीं बनती थी, उसे केवल राज्य से भरण पोषण का व्यय मिलता था। कालिदास के अभिज्ञान शाकुन्तल से प्रतीत होता है कि एक समुद्री व्यापारी धनमित्र के नौका डूबने की दुर्घटना में मृत हो जाने पर दुष्यन्त के मन्त्री उस की सम्पत्ति राज्य को दिलाना चाहते थे। गुजरात के राजा कुमारपाल (११४४-७३) के मुंह से मोहपराजय नामक नाटक में यह कहलाया गया है—'राजा यह चाहता है कि धनी व्यक्ति निःसन्तान ही मरें ताकि उन की सम्पत्ति राजा को मिल सके'। इसी राजा के एक दरबारी कवि ने उसकी प्रशंसा करते हुए कहा है कि सतयुग में उत्पन्न हुए रघु, नहुष, नाभाग, भरत आदि राजाओं ने पुराने ज़माने में विधवा की सम्पत्ति को नहीं छोड़ा था, किन्तु आप रोती हुई विधवाओं के धन को छोड़ कर महापुरुषों के मस्तक की मणि बने हैं[२०]।

---

१८. कलेक्टर आफ मछलीपट्टम ब० केवली वेंकट ८ म्यू० इं० ए० ५००, ५०१।

१९. इन में मेधातिथि (कुल्लूक की ऊपर उद्धृत टीका पृ० ५८८ में) संग्रहकार (स्मृच० २९४) धारेश्वर भोज (स्मृच०-वहीं) और विश्वरूप (या० २।१३९) उल्लेखनीय हैं, पिछले तीनों नियोग करने वाली विधवा को ही यह अधिकार देना चाहते थे। श्रीकर ने पति की सम्पत्ति थोड़ी होने पर ही उसे दायाद माना (मिता० याज्ञ० २।१३५ पर-एतेनाल्पधनविषयत्वं श्रीकरादिभिरुक्तं निरस्तं वेदितव्यम्।

२०. शाकु० षष्ठ अंक—समुद्रव्यवहारी सार्थवाहो धनमित्रो नाम नौका-

**तीसरी अवस्था—विधवाओं के दायाधिकार में वृद्धि**—मध्ययुग प्रायः ह्रास का प्रतीक समझा जाता है, किन्तु हिन्दू परिवार में इस काल में विधवाओं के साम्पत्तिक स्वत्वों का विकास हुआ, पौत्र तक सन्तान के अभाव में इन का दायाद होना निर्विवाद रूप से स्वीकार कर लिया गया[२१] और इसे विस्तृत बनाने का प्रयत्न हुआ। विज्ञानेश्वर ने (याज्ञ० २।१३५-३६)

---

व्यसने विपन्नः। अनपत्यश्च किल तपस्वी। राजगामी तस्यार्थसंचय इत्येतदमात्येन लिखितम्। मोह पराजय तीसरा अंक-निष्पुत्रं म्रियमाणमाढ्यमवनीपालो हहा वाञ्छति। कुमारपाल प्रतिबोध पृ० ४८ न मुक्तं यत्पूर्वं रघुनहुषनाभागभरत-प्रभृत्युर्वीनाथैः कृतयुगोत्पत्तिभिरपि। विमुञ्चन्सन्तोषात्तदिह रुदतीवित्तमधुना कुमार क्ष्मापाल त्वमसि महतां मस्तकमणिः॥ विधवाओं के दायाद बन जाने से राज्य की आय में जो कमी हुई, उस की पूर्त्ति के लिये अनेक राज्यों ने अपुत्र मरने वाले व्यक्तियों की सम्पत्ति पर मृत्युकर लगाया (ग्राहम—कोल्हापुर पृ० पृ० ३३३ अल्तेकर द्वारा पोजीशन आफ हिन्दू वुमैन पृ० ३१० पर उद्धृत)

२१. विज्ञानेश्वर (याज्ञ० २।१३५-३६) ने इस प्रसंग में पूर्वपक्ष के रूप में विधवा को दायाद न मानने में निम्न युक्तियां उपस्थित कर उनका खण्डन किया है (१) विधवा को उत्तराधिकारी बनाने वाले वचनों में यह विधान है कि यह अधिकार नियोग करने वाली विधवा को ही है, किन्तु मिता० इसे उत्तराधिकार की शर्त्त न समझता हुआ गौतम के आधार पर एक विकल्प मात्र मानता है और नियोग की प्रथा मनु द्वारा निन्दित होने से विधवा को ही रिक्थहर बनाता है (२) वह इस युक्ति का भी खण्डन करता है कि स्त्रियों को पति या पुत्र द्वारा ही सम्पत्ति पाने का अधिकार है, क्योंकि यदि ऐसा माना जाय तो मनु द्वारा बताये गये स्त्रीधन के छः प्रकारों पर उसका स्वत्व नहीं हो सकता, अतः स्त्री पति या पुत्र के अतिरिक्त अन्य स्रोतों से भी सम्पत्ति प्राप्त कर सकती है। (३) 'स्त्रियां पति की सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी नहीं हो सकतीं, क्योंकि ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य की सम्पत्ति का उद्देश्य यज्ञादि धर्मकार्य करना है और स्त्रियों को यज्ञ करने का अधिकार नहीं है'। विज्ञा० ने इस युक्ति का इस प्रकार खण्डन किया है—यह स्थापना ठीक नहीं है कि सम्पत्ति यज्ञों के लिये ही होती है, क्योंकि याज्ञ०, मनु, गौतम के अनेक वचन इसके विरोधी हैं। (४) श्रीकर का यह मत है कि विधवाओं को वहीं दायाद होने का अधिकार है, जहां सम्पत्ति थोड़ी हो। विज्ञा० इस का भी प्राचीन वचनों के आधार पर खण्डन करता है।

विष्णु, बृहस्पति, कात्यायन और बृहन्मनु के पहले उद्धृत किये (पृ० ५८९) वचनों से विधवा के दायाद होने की पुष्टि की, इसका विरोध करने वाले नारद आदि के वचनों की यह व्याख्या की कि ये संयुक्त अथवा संसृष्ट (एक बार विभक्त होकर पुनः संयुक्त हुए) परिवार के विषय में कहे गये हैं और अन्त में उसने यह परिणाम निकाला है कि निःसन्तान मृत, विभक्त और असंसृष्ट (अलग होकर पुनः न मिले हुए) पुरुष के सम्पूर्ण धन को पतिव्रता स्त्री ही ग्रहण करती है[२२]। जीमूतवाहन के अतिरिक्त मध्यकाल के प्रायः सभी निबन्धकारों ने विज्ञानेश्वर के इस मत को स्वीकार किया और १९३७ ई० तक मिताक्षरा द्वारा शासित प्रदेश में अदालतों द्वारा यह व्यवस्था सर्वमान्य थी।

जीमूतवाहन ने इस अधिकार को विज्ञानेश्वर की अपेक्षा अधिक विस्तृत बनाया, वह संयुक्त परिवार के अतिरिक्त विभक्त परिवार में भी विधवा को दायाद मानता है। उस की मुख्य युक्ति यह है कि पत्नी पति का आधा अंग है, उसे सम्पत्ति मिलनी ही चाहिये, चाहे वह विभक्त परिवार में हो या अविभक्त परिवार में, क्योंकि ऐसा तो नहीं होता कि विभक्त परिवार में वह पति का अर्धांश हो और संयुक्त परिवार में न हो। धर्मशास्त्रों के अनुसार पति-पत्नी का सम्बन्ध अविच्छेद्य है, अतः दोनों प्रकार के परिवारों में विधवा पत्नी को पति का उत्तराधिकारी मानना चाहिए। जीमूतवाहन इस विषय में अपने पूर्ववर्त्ती जितेन्द्रिय नामक आचार्य का अनुसरण करता हुआ सब विधवाओं द्वारा पति का समूचा धन विभक्त और अविभक्त दोनों परिवारों में लेने की व्यवस्था करता है[२३]।

विधवा को निर्विवाद रूप से उत्तराधिकारी मान लेने पर मध्ययुग में इस सम्बन्ध के दो प्रश्नों पर विशेष विचार होता रहा—(१) विधवा को पति की कितनी सम्पत्ति लेने का अधिकार है। (२) वह उसके यथेच्छ विनियोग में कितना अधिकार रखती है। पहले प्रश्न के सम्बन्ध में जीमूतवाहन और विज्ञानेश्वर दोनों का यह मत था कि वह पति की सारी सम्पत्ति की स्वामिनी होती है। नारद स्मृति में स्त्रियों को निर्वाहमात्र देने की व्यवस्था पायी जाती

---

२२. याज्ञ० २।१३५-३६ पर मिता० तस्मादपुत्रस्य स्वर्यातस्य विभक्तस्यासंसृष्टिनो धनं परिणीता स्त्री संयता सकलमेव गृह्णातीति स्थितम्।

२३. दा०पृ० १८१ अतोऽविशेषेणैव विभक्तत्वाद्यनपेक्षयैवापुत्रस्य भर्तुः कृत्स्नधने पत्न्यधिकारो जितेन्द्रियोक्त आदरणीयः।

है (१६।५२)। इसका दोनों ने यह समाधान किया है कि यज्ञकार्य में साथ बैठने वाली स्त्री को ही पत्नी कहा जाता है, याज्ञवल्क्य ने २।१३५ में पत्नी को ही उत्तराधिकारी बताया है; नारद ने अपनी व्यवस्था में स्त्री शब्द का प्रयोग किया है (तत्स्त्रीणां जीवनं दद्यादेष दायविधिः स्मृतः), अतः इसका यह अर्थ है कि पत्नी के अतिरिक्त अन्य स्त्रियों को सम्पत्ति में कोई अधिकार न दिया जाय[२४]। यह मध्यकालीन टीकाकारों द्वारा व्याख्या-कौशल से प्राचीन व्यवस्थाओं को समयानुकूल बनाने का सुन्दर उदाहरण है।

विधवा द्वारा प्राप्त सम्पत्ति के विनियोग के सम्बन्ध में मध्यकालीन निबन्धकारों में पर्याप्त मतभेद है। जीमूतवाहन ने कात्यायन के ऊपर उद्धृत किये (पृ० ५९१) 'अपुत्रा शयनं' वाले श्लोक के आधार पर उसे पति की सम्पत्ति के भोग का अधिकार दिया है, स्त्रीधन की भांति अपनी इच्छा से दान विक्रयादि का स्वत्व नहीं दिया। महाभारत के एक वचन का प्रमाण देते हुए उसने कहा है कि पति की सम्पत्ति विधवाओं के उपभोग के लिये ही होती है, वे उस का अपहार नहीं कर सकतीं। उपभोग का आशय विलास के लिये बारीक कपड़े आदि पहनना नहीं, किन्तु पति को लाभ पहुँचाने की दृष्टि से अपने शरीर को धारण करने के लिये किया जाने वाला उचित व्यय है और इसे विधवा कर सकती है। इसी कारण पति के दाह-संस्कार और श्राद्ध के लिये उसे दान करने की अनुमति है, गुजारा न चलने पर वह पति की सम्पत्ति रेहन रख सकती है, बेच भी सकती है"[२५]। दाय भाग की इस व्यवस्था से यह स्पष्ट

---

२४. वही—नारदस्तु तत्स्त्रीणां जीवनं दद्यादिति वर्त्तनधनं दत्त्वा राज्ञा सर्वधनं ग्रहीतव्यमिति यो विरोधः स पत्नीस्त्रियोर्भेदेन समाधेयः। मि० मिता० २।१३५-३६। विज्ञानेश्वर नारद के वचन को रखैल (अवरुद्धा) स्त्री के लिये समझता है। नारद का ऊपर निर्दिष्ट वचन इस प्रकार है—'अन्यत्र ब्राह्मणात् किन्तु राजा धर्मपरायणः। तत्स्त्रीणां जीवनं दद्यादेष दायविधिः स्मृतः॥ ना० स्मृ० १६।५२

२५. वही—पत्नी च भर्तृधनं भुंजीतैव परं न तु तस्य दानाधमनविक्रया-न्कर्त्तुमर्हति। तदाह 'कात्यायनः- अपुत्रा...' गुरौ श्वशुरादौ भर्तृगृहे स्थिता यावज्जीवं भर्तृधनं भुञ्जीत, न तु स्त्रीधनवत् स्वच्छन्दं दानाधानविक्रयानपि कुर्वीत।...स्त्रीणां स्वपतिदायस्तु उपभोगफलः स्मृतः। नापहारं स्त्रियः कुर्युः पति-दायात्कथंचन॥ उपभोगोऽपि न सूक्ष्मवस्त्रपरिधानादिना किन्तु स्वशरीरधारणेन

हैं कि सामान्यतः विधवा को जीवन पर्यन्त पति की सम्पत्ति के उपभोग का ही अधिकार है, किन्तु दिवंगत पति को पुण्यलाभ पहुँचाने की दृष्टि से तथा जीवन-निर्वाह के लिये वह इस सम्पत्ति का दान भी कर सकती है। स्मृति चन्द्रिका (पृ० ६६७), नीलकण्ठ (व्यम० पृ० ८६) तथा मित्रमिश्र (वी०मि० सं० प्र० ६२८–३०) ने अदृष्ट पुण्य फल पाने के लिये विधवा के दान के अधिकार को माना है।

मिथिला के धर्मशास्त्रियों ने इस युग में विधवा को कुछ अधिक अधिकार दिये। चण्डेश्वर और वाचस्पति मिश्र ने कात्यायन के एक वचन के आधार पर चल सम्पत्ति पर उस का पूरा प्रभुत्व माना है [२६]। माधव की सम्मति में स्थावर सम्पत्ति का विनियोग करने के लिये विधवा को दायादों की अनुमति लेना आवश्यक था (पृ० ५३६)। विज्ञानेश्वर ने विधवा द्वारा सम्पत्ति के विनियोग में किसी प्रतिबन्ध का उल्लेख नहीं किया। इस प्रकार मध्ययुग में विधवा द्वारा सम्पत्ति के विनियोग के अधिकार की कोई एकरूप व्यवस्था दृष्टिगोचर नहीं होती। मध्यकालीन अभिलेखों से इस की पुष्टि होती है।

मध्ययुग में दक्षिण के दानपत्रों में हमें दोनों प्रकार की व्यवस्था उपलब्ध होती है [२७]। विधवायें दायादों से अनुमति ले कर दान करती हैं और इसके बिना भी अपनी भूसम्पत्ति का धर्मकार्य में विनियोग करती हैं। पहले प्रकार के उदाहरण निम्न हैं—१० वीं शती के मैसूर के एक दानपत्र में विधवा और उसके देवर द्वारा भूदान का उल्लेख है, देवर का उल्लेख दायादों की अनुमति सूचित करने के लिये ही किया गया प्रतीत होता है (एपिग्राफिया कर्नाटिका भाग ११, सं० ३३)। इसी राज्य के १२ वीं शती के एक दानपत्र में विधवा और देवर के अतिरिक्त उनके जातिबन्धु श्री वैष्णवों का भी उल्लेख है ( वहीं १०, सं० १०० ए )। मदुरा के १३ वीं शती के एक दानपत्र में दो निःसन्तान विधवाओं द्वारा संबन्धियों की सहमति से एक मन्दिर के लिये उद्यान के दान का वर्णन है (दक्षिण भारतीय अभिलेखों की रिपोर्ट १९१६ सं० ४०१)। इसके विपरीत

---

**पत्युरुपकारकत्त्वात् देहधारणोचितोपभोगाभ्यनुज्ञानम्। एवं च भर्तुरौर्ध्वदैहिक-क्रियाद्यर्थं दानादिकमप्यनुमतम्।...अतएव वर्त्तनाशक्तौ आधानमप्यनुमतं तत्राप्यशक्तौ विक्रयणमपि।**

**२६. विवाद ताण्डव पृ० ३९०**

**२७. अल्तेकर—पोजीशन आफ हिन्दू वुमैन पृ० ३१७-१८**

दक्षिण से ऐसे भी अनेक अभिलेख मिले हैं, जिन में विधवायें स्वतन्त्रतापूर्वक भूमि का दान या विक्रय करती हुई प्रतीत होती हैं। १२ वीं शती के एक अभिलेख में त्रिचनापल्ली ज़िले की एक ब्राह्मण विधवा के द्वारा मन्दिर को भूमि दान करने का उल्लेख है, १३ वीं शती के कोलार जिले के एक लेख में एक विधवा द्वारा भूसम्पत्ति में अपना हिस्सा बेचने का संकेत है, १७ वीं शती के एक अभिलेख में यह बताया गया है कि एक ब्राह्मण स्त्री ने एक मन्दिर को पूरे गांव का दान किया[२८]। इन सब लेखों में भूसम्पत्ति बेचने या दान करने के लिये दायादों से अनुमति लेने का कोई निर्देश नहीं है। अतः अभिलेखीय साक्षी से यह प्रकट होता है कि उस समय दक्षिण भारत में विभिन्न स्थानों पर विधवा के पूर्ण तथा सीमित—दोनों प्रकार के स्वत्वों की व्यवस्था प्रचलित थी।

ब्रिटिश काल में न्यायालयों के निर्णयों द्वारा हिन्दू समाज में विधवा के सीमित स्वत्व का सिद्धान्त लगभग सर्वमान्य हुआ। मिताक्षरा के अनुसार उत्तराधिकार से प्राप्त सम्पत्ति स्त्रीधन होनी चाहिये। किन्तु प्रिवी कौन्सिल ने मछलीपट्टम के कलेक्टर ब० केवली वेंकट (८ म्यू० इं० ए० ५२९) के मामले में दायभाग की सीमित स्वत्व की व्यवस्था मिताक्षरा द्वारा शासित प्रदेश में लागू करते हुए, यह नियम बनाया कि विधवा धार्मिक कार्यों के अतिरिक्त अन्य किसी कार्य के लिये अपनी इच्छा से सम्पत्ति का अपहार (Alienation) (उसका दान, विक्रय या गिरवी) नहीं कर सकती। माननीय जजों की सम्मति में विधवा के अधिकार पर यह अंकुश इसलिये लगाया गया था कि पति के दायादों की सम्पत्ति विधवा द्वारा व्यर्थ में उड़ायी जाने से बची रहे, यह हिन्दू शास्त्रकारों द्वारा बार-बार प्रतिपादित 'नारी की परतन्त्रता के सिद्धान्त' का स्वाभाविक परिणाम था। ठाकुरदेई ब० राय बालकराय (११ म्यू० इ० १३९) के निर्णय में पहले फैसले को पुष्ट करते हुए स्थावर सम्पत्ति के विनियोग में विधवा का सीमित अधिकार स्पष्ट रूप से माना गया। इस निर्णय में न्यायाधीशों ने यह कहा—'यद्यपि कोलब्रुक द्वारा अनूदित मिताक्षरा में सीमित स्वत्व को पुष्ट करने वाली कोई व्यवस्था नहीं है, किन्तु शायद उस द्वारा अनुवाद न किये हिस्सों में कहीं ऐसा विधान हो; नारद और कात्यायन के वचनों से उन्होंने अपना निर्णय पुष्ट किया। इस सम्बन्ध के तीसरे मामले (भगवानदीन ब० मैनाबाई ११ म्यू० इं० ए० ४८७) में जजों ने चल सम्पत्ति

---

२८. अल्तेकर—वहीं।

में भी विधवा के सीमित स्वत्व की घोषणा करते हुए लिखा कि पति से उत्तराधिकार में प्राप्त विधवा की सम्पत्ति के प्रभुत्व पर चाहे इस कारण से प्रतिबन्ध लगाया गया हो कि स्त्री परतन्त्र होती है या उसे वैधव्य का संयत जीवन बिताना है या एक परिवार की सम्पत्ति दूसरे परिवार में जाना उचित नहीं है, यह प्रतिबन्ध चल और अचल दोनों प्रकार की सम्पत्ति पर लागू होता है"। अतः मिथिला[२९] के अतिरिक्त शेष भारत में विधवाओं को दायादों से विना पूछे अपनी चल, अचल सम्पत्ति का दान या विक्रय करने का अधिकार नहीं है। वह केवल धर्मकार्य और कानूनी आवश्यकता के कारणों से ही इस सम्पत्ति का इच्छानुसार उपयोग कर सकती है। धर्मकार्यों के कुछ उदाहरण ये हैं—पति के लिये श्राद्ध, तीर्थयात्रा, पूजा के लिये मन्दिर बनवाना, तालाब खुदवाना। इनकी विस्तृत सूची बनाना या कानूनी आवश्यकता के सम्बन्ध में नियम निश्चित करना बड़ा कठिन है, इस विषय का कानून बहुत पेचीदा है[३०] और मुकद्दमेबाजी की एक बड़ी जड़ है। एक प्रसिद्ध हिन्दू कानून वेत्ता ने १९१३ में लिखा था कि विधवा के सीमित स्वत्व के सम्बन्ध में हमारे न्यायालयों में आने वाले अभियोगों की संख्या, हिन्दू कानून के अन्य सभी मुकद्दमों की सम्मिलित संख्या से बहुत अधिक है, राव समिति ने कुछ वर्ष पहले कहा था कि यह वाक्य आज भी उतना ही सत्य है, जितना १९१३ में था[३१]।

**सीमित स्वत्व की अवाञ्छनीयता**—श्री अल्तेकर ने विधवाओं के सीमित

---

२९. मिथिला में विधवा को केवल चल सम्पत्ति पर पूर्ण अधिकार है, किन्तु भूसम्पत्ति का दान अपने दायादों की लिखित सहमति के विना नहीं कर सकती दे० दुर्गादेई ब० पूसनदेई ५ वी० रि० १४१, सुरेस्सर ब० महेशरानी २० कल० वी० नो० ३१, ३३। बम्बई में पहले कुछ फैसलों में पति से विरासत में प्राप्त सम्पत्ति में विधवा को पूरा स्वत्व दिया गया था, किन्तु बाद में सीमित स्वत्व ही स्वीकार किया गया —(घारपुरे-राइटस् आफ वुमेन अंडर दी हिन्दू ला पृ० १३४-३५)

३०. मेन—हिन्दू ला पृ० ७७८-७८२।

३१. द्वारकानाथ मित्तर—दी पोजीशन आफ वुमेन इन हिन्दू ला पृ० ५२६; राव समिति की सम्मति के लिये दे० गजट आफ इंडिया भाग ५; ३० मई १९४२

स्वत्व को पंजाब और फिलस्तीन के उदाहरणों से उपयोगी सिद्ध किया है[३२], इन दोनों स्थानों पर किसानों को भूसम्पत्ति बेचने का अधिकार था, उन्होंने ऋण प्राप्त करने के लिये जमीनें गिरवी पर रखीं, किन्तु अन्त में कर्ज न चुकाने पर भूमि उनसे छिन गयी, राज्य को भूमि विक्रय निषेधक कानून बनाने पड़े। स्त्रियों को पूर्ण स्वत्व देने से हिन्दू परिवार में भी ऐसे ही दुष्परिणाम उत्पन्न होने की आशंका है। किन्तु पंजाब और फिलस्तीन के उदाहरण इस प्रकरण में ठीक नहीं प्रतीत होते; दोनों स्थानों पर किसानों से अपनी सम्पत्ति बेचने का अधिकार नहीं छीना गया, किन्तु सम्पत्तिशाली यहूदियों और पंजाब की अकृषक जातियों द्वारा भूसम्पत्ति के खरीदने पर प्रतिबन्ध लगाया गया है। सामान्य हिन्दू विधवा अशिक्षित भले ही हो, किन्तु यह अच्छी तरह जानती है कि यह सम्पत्ति ही उसके जीवन का मुख्य आधार है, पूर्ण स्वत्व मिल जाने पर भी वह असाधारण परिस्थिति में ही उस का विक्रय करेगी, अतः उपर्युक्त दुष्परिणामों की आशंका निर्मूल है। भारत में जैन[३३], पारसी, ईसाई, मुस्लिम विधवाओं को पति की सम्पत्ति पर पूर्ण स्वामित्व प्राप्त है, वे इस स्वत्व का दुरुपयोग नहीं कर रहीं तो हिन्दू स्त्रियों से इस की कैसे आशा रखी जा सकती है?

इस समय सीमित स्वत्व होने से विधवा को अपनी सम्पत्ति से विशेष लाभ नहीं है और परेशानी अधिक है। सम्पत्ति बेचने के लिये पति के दायादों की अनुमति आवश्यक है; वे स्वभावतः इस प्रकार की सहमति देने को तय्यार नहीं होते, क्योंकि विधवा की मृत्यु के बाद अपने पास आने वाली सम्पत्ति को खोने की मूर्खता वे क्यों करें? यह ठीक है कि कानूनी आवश्यकता पड़ने पर विधवा इस सम्पत्ति को बेच सकती है। किन्तु इसका खरीदार बड़ी कठिनता से मिलता है और वह भी उसे इस सम्पत्ति का बहुत कम दाम देता है, क्योंकि उसे यह आशंका रहती है कि उस सम्पत्ति के दायाद (Reversioner) या परावर्तन भागी उसे प्राप्त करने के लिये दावा दायर करेंगे और उस समय विधवा द्वारा सम्पत्ति बेचने की कानूनी आवश्यकता सिद्ध करने में बड़ी कठिनाई

---

३२. अल्तेकर—पोजीशन आफ वुमैन पृ० ३२१

३३. जैन समाज में विधवा को पति की सम्पत्ति पर पूर्ण प्रभुत्व देने का दुष्परिणाम के स्थान पर यह सुफल हुआ है कि पुत्र को माता की कृपा प्राप्त करने के लिये सद्गुणी, और आज्ञाकारी होना आवश्यक हो गया है ( चम्पक राय—दी जैन ला १९२६ पृ० १२ )।

होगी। १८७३ के एक मुकद्दमे (१९ वी० रि० ४२६) में कलकत्ता हाईकोर्ट ने विधवा से सम्पत्ति खरीदने वालों को चेतावनी दी थी कि वे इस प्रकार के क्रय से भारी खतरा उठा रहे हैं, दायादों से विना पूछे और कानूनी आवश्यकता की विना जांच किये यदि वे सम्पत्ति खरीदते हैं तो उन्हें इस के सब परिणाम भोगने के लिये तय्यार रहना चाहिये"।

इससे यह स्पष्ट है कि विधवा को आवश्यकता पड़ने पर संकटकाल में अपनी सम्पत्ति का उचित मूल्य कभी नहीं मिल सकता, यदि वह लाचारी में इसे बेचती है तो दायादों द्वारा मुक़द्दमेबाज़ी शुरू हो जाती है। इन दोनों दुष्परिणामों के अतिरिक्त, सीमित स्वत्व का सिद्धान्त वर्त्तमान समय की नर-नारी की समानाधिकार-भावना के प्रतिकूल और हिन्दू स्त्रियों के प्रति अन्याय-मूलक है। इन्हीं सब बातों को दृष्टि में रखते हुए हिन्दू कानून का संशोधन करने वाली राव-समिति ने हिन्दू विधवा के सीमित स्वत्व को समाप्त कर उसे सब प्रकार की सम्पत्ति पर पूर्ण प्रभुत्व देने की सिफारिश की थी, १९४८ के हिन्दू कोड में यह प्रस्ताव था कि रिक्थ (Inheritance), वसीयत, बंटवारे या दान से प्राप्त, अपने परिश्रम अथवा नैपुण्य से या अन्य किसी प्रकार से उपलब्ध चल और अचल दोनों प्रकार की सम्पत्ति का स्त्री यथेच्छ विनियोग कर सकती है (धारा ९१)। यह व्यवस्था विज्ञानेश्वर द्वारा किये स्त्रीधन के लक्षण का अनुसरण करती है और समयानुकूल है, हिन्दू कोड के पास न होने से यह अभी तक कानून नहीं बन सकी। २६ मई १९५४ को भारत सरकार द्वारा प्रकाशित नये निःसंकल्प पत्रक हिन्दू उत्तराधिकार बिल में भी ऐसी व्यवस्था का प्रस्ताव है, आशा है, कुछ वर्षों में इसके पास होने पर विधवा का सीमित स्वत्व समाप्त हो जायगा।

**चौथी अवस्था**––१९३७ से हिन्दू विधवा के साम्पत्तिक स्वत्व के विकास के इतिहास का चतुर्थ युग आरम्भ होता है। इस समय तक याज्ञवल्क्य की व्यवस्थानुसार विधवा पोते तक सन्तान न होने की दशा में पति की सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी होती थी; अब देशमुख के 'हिन्दू स्त्रियों के साम्पत्तिक अधिकार' का कानून पास हो जाने (१४ अप्रैल १९३७) से विधवाओं को विभक्त हिन्दू परिवार में पुत्र के साथ तथा उसके बराबर हिस्सा पाने का अधिकार प्राप्त हो गया (तीसरी धारा का क भाग) और संयुक्त परिवार में यावज्जीवन भरण-पोषण की पुरानी व्यवस्था के स्थान पर उसे पारिवारिक सम्पत्ति में पति के मरने पर उस के स्वत्व मिले हैं। इस कानून द्वारा विधवाओं

का सम्पत्ति में सीमित अधिकार ही स्वीकृत किया गया। पहले यह बताया जा चुका है कि इसका अन्त करने के लिये क्या प्रयत्न हो रहे हैं।

**स्त्रीधन पर स्वत्व**—पति से उत्तराधिकार में प्राप्त सम्पत्ति के अतिरिक्त विधवा एक दूसरी प्रकार की सम्पत्ति—स्त्रीधन—की भी स्वामिनी होती है। इस पर उसका पूर्ण स्वत्व होता है। पिछले अध्याय में स्त्रीधन के स्वरूप और पति के जीवनकाल में पत्नी के इस धन पर अधिकार का प्रतिपादन हो चुका है, यहां विधवा के इस धन पर स्वत्व का संक्षिप्त उल्लेख होगा।

पति के संरक्षण ( Coverture ) में रहने वाली पत्नी की अपेक्षा विधवा स्त्रीधन पर अधिक अधिकार हैं। पहले यह बताया जा चुका है कि स्त्रीधन में दो प्रकार की सम्पत्ति होती है (क) सौदायिक—इस पर पत्नी का पूर्ण प्रभुत्व होता है (ख) सौदायिक से भिन्न अन्य प्रकार के स्त्रीधन—इसके विनियोग में वह केवल पति के नियन्त्रण में रहती है। कात्यायन के मतानुसार यह शिल्पों ( कताई आदि) से कमाया तथा अपने संबन्धियों से भिन्न व्यक्तियों से उपहार में पाया धन है[३४]। पति के न रहने पर उसका दोनों प्रकार के स्त्री धन पर पूर्ण अधिकार हो जाता है। नारद के कथनानुसार पति के जीवनकाल में स्त्रियों को स्त्रीधन के दान और विक्रय का अधिकार नहीं होता, किन्तु विधवा होने पर उन्हें यह अधिकार प्राप्त हो जाता है (नास्मृ० १६।८)।

---

३४. दा० ७६ में उ०—प्राप्तं शिल्पैस्तु यद्वित्तं प्रीत्या चैव यदन्यतः। भर्त्तुः स्वाम्यं तदा तत्र शेषं तु स्त्रीधनं स्मृतम्॥ अल्तेकर ने इस व्यवस्था का कारण यह बताया है कि बाहर के व्यक्तियों के उपहार को स्त्रीधन बना कर हिन्दू शास्त्रकार ईर्ष्यालु पतियों के परिवारों की शान्ति भंग नहीं करना चाहते थे। श्रमजीवी वर्ग में प्रायः पति-पत्नी की कमाई के संयुक्त धन से परिवार का व्यय चलता है, अतः ऐसी परिस्थिति में पत्नी द्वारा कमाये वित्त को स्त्रीधन बनाने से पति पर परिवार के सारे व्यय का भार पड़ता, जिसे उठाना उसके लिये बहुत कठिन था (पोजीशन ऑफ वुमेन पृ० २६३)। किन्तु इस व्यवस्था में यह एक बड़ा दोष था कि उड़ाऊ पति अपनी कमाई फूंक कर पत्नी को परिवार का खर्चा चलाने के लिये बाधित करे। वर्त्तमान समय में न्यायालयों ने कात्यायन के शिल्प शब्द को कताई आदि यान्त्रिक कारीगरी के कार्यों तक सीमित कर स्त्रियों की शिक्षक, नर्स, डाक्टर आदि के रूप में की गयी कमाई को स्त्रीधन नहीं माना (३८ म० १०३६) और उपर्युक्त दोष का परिमार्जन किया है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि हिन्दू परिवार में वैदिक युग में और उस के काफी समय बाद तक विधवा को कोई साम्पत्तिक अधिकार न थे; क्योंकि उस समय विधवा-पुर्नविवाह और नियोग की परिपाटी प्रचलित होने से विधवाओं की संख्या समाज में बहुत कम थी। इन प्रथाओं के बन्द होने पर जब समाज में इन की संख्या बढ़ने लगी तो याज्ञवल्क्य, विष्णु, बृहस्पति, कात्यायनादि स्मृतिकारों ने विधवा को दायाद मानते हुए, उसके साम्पत्तिक स्वत्वों का प्रबल समर्थन किया, १२०० ई० तक विधवा के ये सब अधिकार मान्य हो गये। विज्ञानेश्वर ने उसे विभक्त परिवार में तथा जीमूतवाहन ने विभक्त और संयुक्त दोनों प्रकार के परिवारों में पौत्र तक सन्तान न होने के अभाव में उत्तराधिकारी बनाया। १९३७ तक मिताक्षरा द्वारा शासित प्रदेश में संयुक्त परिवार में वह उत्तराधिकारी नहीं बन सकती थी। १९३७ के 'हिन्दू स्त्रियों के सम्पत्ति कानून' द्वारा दायभाग के उदार नियम को मिताक्षरा परिवार में भी लागू किया गया, विधवा द्वारा उत्तराधिकारी होने के लिये संयुक्त और विभक्त कुटुम्ब का भेद उड़ा दिया गया। पति से विरासत में प्राप्त सम्पत्ति पर कात्यायन के समय से विधवा का स्वत्व सीमित माना जाता रहा है, वह सामान्य रूप से इस का उपभोग ही कर सकती है, दान अथवा विक्रय नहीं, केवल धर्मकार्य और कानूनी आवश्यकता के लिये ही वह इस का यथेच्छ विनियोग कर सकती है। इसके दुष्परिणामों का पहले उल्लेख हो चुका है (पृ० ५९८–६००) और वह दिन दूर नहीं प्रतीत होता जब कानून द्वारा इस स्थिति का अन्त हो जायगा और हिन्दू परिवार में पति-पत्नी के साम्पत्तिक अधिकारों में कोई वैषम्य नहीं रहेगा।

———

# अठारहवां अध्याय

## हिन्दू परिवार का भविष्य

परिवार के भविष्य के सम्बन्ध में रोचक कल्पनायें—पश्चिमी जगत् में परिवार का रूपान्तर और उसके कारण—हिन्दू परिवार के भविष्य पर प्रभाव डालने वाले तत्व—(१) आर्थिक तत्व (क) व्यावसायिक क्रान्ति और इसके प्रभाव (ख) नये आविष्कारों का प्रभाव (२) राजनैतिक तत्व (क) राज्य के क्षेत्र का विस्तृत होना (ख) स्त्रियों को मताधिकार-प्राप्ति (३) नवीन विचारधारायें (४) सामाजिक तत्व (क) भारत का नारी-जागरण-आन्दोलन तथा उसके प्रभाव (अ) विवाह की आयु का ऊँचा उठना (आ) अविवाहित रहने की प्रवृत्ति बढ़ना (इ) स्त्रियों का आर्थिक स्वावलम्बन (ई) वरण-स्वातन्त्र्य (उ) परिवार में समान स्थिति की मांग (ऊ) काम करने वाली स्त्रियों की परिवार सम्बन्धी समस्यायें (ऋ) परिवार का आकार छोटा होना (ख) यौन नैतिकता के दोहरे मानदण्ड की समाप्ति (ग) नर-नारी के समानाधिकारों की मांग (५) हिन्दू परिवार पर प्रभाव डालने वाले नये कानून—हिन्दूकोड बिल द्वारा प्रस्तावित परिवर्त्तन (क) मिताक्षरा परिवार की समाप्ति (ख) उत्त-राधिकार सम्बन्धी परिवर्तन (ग) दत्तक पुत्र सम्बन्धी नये नियम (घ) स्त्री-धन के नियमों को सरल बनाना तथा स्त्री को सम्पत्ति पर पूर्ण प्रभुत्व देना—१९५४ का वसीयतहीन हिन्दू उत्तराधिकार बिल-हिन्दूकोड बिल विरोधी युक्तियों की समीक्षा—हिन्दू परिवार में भविष्य में होने वाले मुख्य परिवर्त्तन (क) पुरुष-प्रभुता का क्षीण होना (ख) संयुक्त परिवार का विघटन (ग) परिवार के स्थायित्व में कमी आना (घ) कानूनी विषमताओं की समाप्ति—उपसंहार ।

परिवार के भविष्य के सम्बन्ध में पश्चिम के कतिपय समाजशास्त्रियों और औपन्यासिकों ने अनेक मनोरंजक कल्पनायें की हैं । इनके अनुसार सुदूर भविष्य में एक ऐसा युग आने वाला है, जब परिवार-प्रथा का पूर्ण रूप से अन्त हो जायगा, स्त्री-पुरुष इच्छानुसार कामसुख का उपभोग करेंगे, गर्भनिरोध के साधन उन्नत हो जाने से, इसमें बच्चे उत्पन्न होने की कोई सम्भावना न रहेगी, राज्य द्वारा संचालित शिशुशालाओं में अनुभवी धायें शिशुपालन का कार्य करेंगी । सुप्रसिद्ध

औपन्यासिक आल्डस हक्सली ने अपने एक उपन्यास 'नवीन साहसिक जगत्' (The Brave New World) में यहां तक उड़ान ली है कि भविष्य में विज्ञान इतना उन्नत हो जायगा कि प्रयोगशालाओं में वीर्य और रज को मिलाकर कृत्रिम रूप से बच्चे उत्पन्न किये जा सकेंगे, स्त्रियां प्रसूतिव्यथा से मुक्ति पा जायंगी।

किन्तु यहां इन कल्पनाओं की अपेक्षा उन ठोस तथ्यों की समीक्षा करना आवश्यक है, जिनके आधार पर ऐसी कल्पनायें की जा रही हैं। पश्चिम में इस समय नवीन परिस्थितियों से परिवार-प्रथा में आमूलचूल परिवर्त्तन हो रहे हैं, इनका हिन्दू परिवार पर प्रभाव पड़ना अवश्यम्भावी है। अतः यहां पहले संक्षेप में उन उपादानों की चर्चा की जायगी, जिनके कारण पश्चिम में परिवार की प्रथा में मौलिक परिवर्त्तन हो रहे हैं और परिवारपद्धति का भविष्य अन्धकारमय बताया जा रहा है, इसके बाद आधुनिक काल में हिन्दू परिवार पर पड़ रहे आर्थिक, राजनैतिक, दार्शनिक और सामाजिक प्रभावों की मीमांसा तथा हिन्दूकोड और अन्य नये बिलों द्वारा प्रस्तावित परिवर्तनों का उल्लेख होगा और अन्त में हिन्दू परिवार का भावी स्वरूप बतलाया जायगा।

**पश्चिमी जगत् में परिवार का रूपान्तर और उसके कारण**——१८वीं शती के अन्त तक योरोप तथा अमरीका में बीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक भारत के देहातों में पाये जाने वाले पितृतन्त्रीय ( Patriarchal ) परिवार थे, इनमें पिता को विशाल अधिकार प्राप्त थे, यह व्यवस्था उस समय के निरंकुश राजतन्त्र के सर्वथा अनुकूल थी, धर्म इसका समर्थक था और आर्थिक परिस्थिति इसे पुष्ट कर रही थी, उस कृषिप्रधान युग में उत्पादन की इकाई परिवार था, आजीविका के अन्य साधन न होने से परिवार के सदस्यों को विवश होकर उसमें रहना पड़ता था, उनकी आर्थिक पराधीनता पिता की प्रभुता को सुदृढ़ बना रही थी।

किन्तु१८ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में प्रारम्भ होने वाले दो प्रकार के परिवर्तनों ने परिवारप्रथा को पश्चिम में बहुत प्रभावित किया[१]——(१) सांस्कृतिक (२) आर्थिक। सांस्कृतिक परिवर्त्तनों का आशय है——पिता की निरंकुश सत्ता को बल देने वाले स्वेच्छाचारी राजतन्त्रों और धर्म के प्रभाव का क्षीण होना तथा समानता, स्वतन्त्रता, उदारता और व्यक्तिवाद के नये सामा-

---

१. मैसाइवर-सोसायटी, पृ० २५१-५२

जिक आदर्शों का प्रबल होना। फ्रेंच राज्य क्रान्ति द्वारा जन्म लेने वाली प्रजातन्त्र की भावना ने राजनैतिक ही नहीं, अपितु पारिवारिक क्षेत्र में भी मौलिक परिवर्त्तन किया। लोकतन्त्रीय राज्यों ने पत्नी और बच्चों को दण्ड देने के अधिकार गृहपतियों से छीन लिये, स्वच्छन्द प्रेम का आदर्श उत्तम समझा जाने लगा, युवक-युवति अपना जीवनसाथी चुनने में माता-पिता का हस्तक्षेप नापसन्द करने लगे।

इन सांस्कृतिक परिवर्त्तनों के साथ, इन से भी अधिक महत्वपूर्ण आर्थिक परिवर्त्तन थे। १८वीं शताब्दी के अन्त में योरोप में औद्योगिक क्रान्ति हुई, कताई बुनाई आदि विभिन्न उद्योगों में हाथ की बजाय पानी और वाष्प की शक्ति से संचालित मशीनों द्वारा उत्पादन होने लगा। इस क्रान्ति की प्रगति के साथ परिवार का आर्थिक महत्व नष्ट हो गया। पहले उत्पादन का केन्द्र परिवार था, अब उसका स्थान कारखाने ने ले लिया। इसमें मजदूरी करने के लिये लोग दूर दूर से आने लगे, परिवार का विघटन प्रारम्भ हो गया, स्त्रियां भी कारखानों और दफ्तरों में जाने लगीं। आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी होने के कारण वे पितृप्रभुता से बहुत कुछ स्वतन्त्र होने लगीं।

पश्चिमी जगत् में वैज्ञानिक और यान्त्रिक उन्नति के कारण परिवार द्वारा अतीत काल में किये जाने वाले अनेक कार्य अन्य माध्यमों द्वारा अधिक क्षमता और कम व्यय के साथ किये जाने लगे हैं। आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति का कार्य कारखानों ने ले लिया है, राज्य द्वारा स्थापित विद्यालय घर में मिल सकने वाली शिक्षा देने का कार्य कर रहे हैं, चिकित्सालय प्रसूति और बीमारी में परिवार की अपेक्षा अधिक सुविधाजनक हैं। परिवार के विभिन्न सदस्यों द्वारा पहले आपस में जो मनोरंजन होता था, उसका स्थान अब सिनेमा ने ले लिया है। वृद्धावस्था में असहाय होने पर पहले परिवार में पुत्र पर भरोसा रखा जाता था, अब बीमे की पालिसी से यह कार्य अधिक अच्छी तरह हो जाता है। काम करने वाली स्त्रियों की सुविधा के लिये पश्चिम में विविध प्रकार की शिशुशालाओं (नर्सरी) तथा बालोद्यानों का प्रचार बढ़ रहा है। होटलों ने खाने की दृष्टि से परिवार की उपयोगिता कम कर दी है।

परिवार के विविध कार्यों के अन्य माध्यमों द्वारा होने के कारण अनेक व्यक्ति और अतिवादी (Extremists) विचारक इसे अब निरर्थक समझने लगे हैं, इसके अन्त की आशंका और समर्थन करने लगे हैं। न्यूयार्क राज्य के एक अफसर ने, अपने पिता से वैवाहिक उपहार के रूप में २५ हजार

डालर की राशि पाने वाली एक युवति से पूछा कि क्या वह इसे अपना घर बनाने में व्यय करेगी। उस तरुणी ने इस प्रश्न पर आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा—"मैं चिकित्सालय में पैदा हुई हूँ, शिशुशाला में पली हूँ, कालेज में पढ़ी हूँ, चर्च में मेरी शादी हुई है, होटल में रहती हूँ, मुझे परिवार और घर की क्या आवश्यकता ?"[२] कुछ विचारक मनोवैज्ञानिक दृष्टि से परिवारप्रथा को हानिप्रद मानते हैं[३]। वाटसन ने यह लिखा है कि घर अब अतीत की वस्तु हो रहा है, इस समय इसका उपयोग इतना ही है कि यहां कपड़े बदल लिये जायं और कुछ घंटे सो लिया जाय। वह दिन दूर नहीं जब बच्चे घर की बजाय उस से अधिक अच्छी संस्थाओं में बाल-शिक्षण-निष्णात व्यक्तियों द्वारा पाले जाया करेंगे, परिवार प्रथा का अन्त हो जायगा[३]। "पहले यह कहा जाता था—घर से अधिक मधुर कोई स्थान नहीं है; भविष्य में यह कहा जायगा—ईश्वर की कृपा है कि घर जैसी कोई जगह नहीं है[४]।

किन्तु अतिवादी विचारकों की उपर्युक्त कल्पनायें सत्य नहीं प्रतीत होतीं, निकट भविष्य में परिवारप्रथा के उच्छेद की कोई संभावना नहीं दिखाई देती। ऊपर बताये जिन परिवर्त्तनों के आधार पर ये कल्पनायें की गयी हैं, वे परिवार के मूलभूत प्रयोजनों से संबन्ध नहीं रखते। परिवार के आवश्यक कार्य हैं—रति, सन्तानोत्पादन और घर बनाना। अभी तक विज्ञान ने इन कार्यों को एक साथ करने के लिये परिवार के अतिरिक्त कोई दूसरा साधन नहीं ढूंढ़ा; यदि ऐसा आविष्कार संभव हो तो भी यह कहना कठिन है कि प्रसूति-व्यथा को झेलनेवाली कितनी मातायें बच्चों को पैदा होते ही दूसरी संस्थाओं को देना पसन्द करेंगी। अधिकांश आधुनिक समाजशास्त्रियों को भविष्य में परिवार प्रथा के उच्छेद की कल्पना निर्मूल प्रतीत होती है[५]। वाटसन को उपर्युक्त

---

२. सिलास बैण्ट—मशीनमेड मैन, न्यूयार्क १९३०, पृ० ३२२

३. कैलवर्टन—न्यू जैनरेशन न्यूयार्क १९३०, अध्याय १३

४. वही पृ० ५५-७३

५. आगबर्न एण्ड निमकाफ—ए हैण्ड बुक आफ सोश्योलोजी लंडन १९५०, पृ० ४८४, मैसाइवर-सोसायटी लंडन १९५० पृ० २६३-६६, बेबर-मैरिज एण्ड फैमिली न्यूयार्क १९३९ पृ० ६३४। आगबर्न का यह मत है कि अब तक परिवार सात प्रकार के कार्य किया करता था —(१) आर्थिक-परिवार के सदस्य मिल कर कृषि, दस्तकारी आदि द्वारा वस्तुओं का उत्पादन तथा उपभोग

भविष्यवाणी किये हुए २४ वर्ष हो गये हैं, किन्तु पश्चिम में परिवारप्रथा का

---

किया करते थे (२) परिवार से मनुष्य की सामाजिक स्थिति और दर्जा निश्चित होता था। (३) बच्चों की शिक्षा का कार्य परिवार द्वारा सम्पन्न होता था (४) मनोरंजन—पहले यह प्रधान रूप से परिवार में होता था (५) धार्मिक कार्य परिवार द्वारा सम्पन्न किये जाते थे। (६) संरक्षक कार्य—माता-पिता अपनी सन्तान की शैशव दशा में पूरी रक्षा करते हैं और पुत्र वृद्धावस्था में माता-पिता का पालन करते हैं, पति पत्नी का पालन एवं रक्षण करता है। (७) परिवार पति-पत्नी को दाम्पत्यसुख प्रदान करने का तथा सन्तानोत्पादन का साधन है (दी फैमिली जुलाई १९३८, पृ० १३९-४३ में आगबर्न का लेख—दी चेंजिंग फैमिली)। इनमें से पहला कार्य कारखानों द्वारा होने लगा है, दूसरा कार्य प्रजातन्त्र और समानाधिकार के युग में अपना महत्व खो बैठा है। तीसरा, चौथा और पांचवां कार्य क्रमशः सार्वजनिक शिक्षणालयों, सिनेमा और चर्च द्वारा होने लगा है। छठे कार्य को भी आंशिक रूप से वृद्धावस्था में सामाजिक बीमे आदि द्वारा राज्य ने लेना शुरु किया है। किन्तु अन्तिम कार्य का अब तक कोई दूसरा स्थानापन्न नहीं ढूंढ़ा जा सका। डेवीस जैसे विचारकों का कथन है कि उपर्युक्त कार्यों के परिवार से छिन जाने के कारण उन का फालतू बोझ उतर गया है, इससे परिवार अपने सामाजिक प्रयोजन पूर्ण करने में दुर्बल नहीं, किन्तु सुदृढ़ हुआ है (दी फैमिली न्यूयार्क १९३८, पृ० १९७)। एल्मर के मतानुसार बच्चे के पालनादि का कार्य अन्य संस्थायें अवश्य ले रही हैं, किन्तु बालक का समुचित विकास परिवार में ही संभव है (सोश्यालोजी आफ फैमिली, पृ० ४९७)। इसके अतिरिक्त बालक को किसी समाज के आदर्शों के अनुरूप ढालने तथा उसके चरित्र निर्माण का साधन परिवार ही है (एल्मर वही पृ० ४५२-५३)। इसके साथ साथ परिवार दाम्पत्यप्रेम को प्रस्तुत करने का एकमात्र साधन है और इससे विवाहित पुरुष अविवाहित पुरुषों की अपेक्षा अधिक स्वस्थ और दीर्घजीवी होते हैं। न्यूयार्क राज्य में ३० से ४० वर्ष की आयु के अविवाहित पुरुषों की मृत्यु संख्या इस आयु के विवाहित पुरुषों की संख्या से दुगनी पायी गयी है। एक अन्य गणना के अनुसार शराब के असर से मरनेवालों तथा आत्मघात करने वालों में अधिक संख्या अविवाहितों की होती है। (इलियट एण्ड मैरिल—सोशल डिसआरगैनिजेशन, पृ० ३६३)। यह सत्य है कि अनेक परिवार दुःखमय होते हैं; किन्तु इसके साथ ही यह भी सत्य है कि परिवार के अतिरिक्त मनुष्य

अन्त नहीं हुआ । इसके विपरीत रूस जैसे देशों ने राष्ट्रीय दृष्टि से इसे बहुत अधिक प्रोत्साहन दिया है[६] ।

पश्चिम में परिवारप्रथा के भविष्य में लोप की संभावना न होते हुए भी उसमें उपर्युक्त दिशाओं में बताये परिवर्तनों की मात्रा निरन्तर बढ़ती जायगी । वैज्ञानिक आविष्कारों की उन्नति से शनैः शनैः पहले घर द्वारा किये जाने वाले कार्य अन्य व्यापारिक संस्थाओं द्वारा किये जाने लगेंगे अथवा गृहिणियां नवीन यन्त्रों से उन्हें घर पर करने लगेंगी । कपड़े धोना, खाना पकाना, घर की सफाई यन्त्रों द्वारा होने से गृहिणी के समय और श्रम की वहां भारी बचत हो गयी है, गर्भनिरोध के साधनों ने उसे अपनी अपनी आर्थिक स्थिति के अनुरूप सन्तानोत्पादन की सुविधा प्रदान की है, इनके आविष्कार ने नैतिकता के आदर्शों पर निःसन्देह भारी प्रभाव डाला है; किन्तु इनके आधार पर यह कल्पना करना यथार्थ नहीं कि स्त्रियां इसे कष्ट समझ कर सन्तानोत्पादन बन्द कर देंगी । मातृत्व की आकांक्षा स्त्रियों में इतनी स्वाभाविक और प्रबल है कि वे सन्तान अवश्य चाहेंगी । इस सम्बन्ध में भविष्य में केवल इतना ही परिवर्त्तन होगा कि अनभीष्ट शिशुओं का उत्पादन नहीं होगा, पितृत्व और मातृत्व आयोजित होगा । परिवार के सदस्यों की संख्या कम होगी । पुराने ज़माने में

---

को इतना प्रेम, सहानुभूति और स्नेह अन्य किसी संस्था से नहीं प्राप्त हो सकता । सन्तानोत्पादन, उनके लालन-पालन, रति-सुख और दाम्पत्य-प्रेम के सब कार्य एक साथ करने से परिवार की उपयोगिता निर्विवाद है और उसके अन्त की कोई संभावना नहीं है ( सेट-न्यू होराइजन्स फ़ार दी फैमिली पृ०, ८-९, इलियट एण्ड मैरिल, पृ० ३६२-६३)

पश्चिम में परिवार की आधुनिक समस्याओं के अध्ययन के लिये निम्न ग्रन्थ विशेष रूप से उपयोगी हैं---बर्जेस एण्ड लाक---दी फैमिली १९४५, एल्मर-दी सोश्योलोजी आफ फैमिली ( १९४५), फोलसम---दी फैमिली एण्ड डेमोक्रेटिक सोसायटी, जिम्मरमैन-फैमिली एण्ड सिविलिजेशन, ( न्यूयार्क १९४७) वैस्टरमार्क---दी फ्यूचर आफ मैरिज इन वैस्टर्न सिविलिजेशन ( लंडन १९३६), निमकाफ---मैरिज एण्ड दी फैमिली (बोस्टन १९४७), ट्रक्सल एण्ड मैरिल---दी फैमिली इन अमेरिकन कल्चर, ( न्यूयार्क १९४७ )

६. स्वर्ड लोव---लीगल राइट्स आफ दी सोवियट फैमिली १९४५, के० टी० शाह---चेंजिंग आइडियल्स इन सोवियट रशिया ।

आर्थिक स्वार्थ, यातायात की सुविधाओं का अभाव और धर्म विशाल कुटुम्बों को संयुक्त बनाये रखने में सहायक थे; अब उत्पादन केन्द्र के रूप में परिवार की उपयोगिता की समाप्ति, यातायात की सुविधाओं तथा व्यक्तिवादी भावनाओं ने पश्चिम में संयुक्त परिवार का लगभग अन्त कर दिया है। किन्तु ये सब परिवर्त्तन परिवार के बाह्य रूप में ही हैं, उसके आन्तरिक प्रयोजन यौन सुख और सन्तति की प्राप्ति, सन्तान का पालन और घर का निर्माण यथापूर्व हैं। अधिकांश विचारकों का यह मत है कि पुराने जमाने में परिवार द्वारा आर्थिक उत्पादन, शिक्षा आदि अनेक अनावश्यक कार्य करने से परिवार के असली कार्यों की ओर कम ध्यान दिया जाता था, उसमें दाम्पत्य प्रेम का विकास बहुत कम होता था। अनावश्यक कार्यों के घट जाने से अब इसके आधारभूत प्रयोजनों की पूर्त्ति अधिक सुचारु रूप से सम्पन्न होगी। भविष्य में परिवार का ऐसा आदर्श विकास होगा, जैसा भूतकाल में कभी नहीं हुआ[७]।

पश्चिमी जगत् में परिवारप्रथा के स्वरूप को बदलने वाले अनेक आर्थिक, राजनैतिक, दार्शनिक और सामाजिक तत्व तथा हिन्दू-कानून का संशोधन करने वाले बिल भारत में हिन्दू परिवार के स्वरूप पर भी गहरा प्रभाव डाल रहे हैं, अतः इनका संक्षिप्त विवेचन यहां समुचित प्रतीत होता है।

## *हिन्दू परिवार पर प्रभाव डालने वाले आर्थिक तत्व*

**(क) व्यावसायिक क्रान्ति**—यह अभी तक पश्चिमी देशों की तुलना में, भारत में शैशवावस्था में है। प्रथम विश्व युद्ध में इसका जन्म हुआ, द्वितीय विश्व-युद्ध ने इसे पोषण दिया। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद केन्द्र तथा राज्य की सरकारों द्वारा देश के उद्योगीकरण की नीति के अवलम्बन से हमारे यहां औद्योगिक उत्पादन में तथा कारखानों में निरन्तर वृद्धि हो रही है[७क]; द्वितीय पंचवर्षीय योजना में उद्योगों पर अधिक बल दिया जाने से हमारे देश के औद्योगिक विकास का भविष्य उज्ज्वल प्रतीत होता है।

७. सेट—न्यू होराइजन्स फार दी फैमिली, पृ० ७४५-४७

७क. १९४६ के वर्ष को आधार मानते हुए १९४७ में औद्योगिक उत्पादन का सूचक अंक ९७.२ था, १९५२ में यह १२८.७ हो गया। नये उद्योगों के विकास, इस सम्बन्ध की सरकारी नीति तथा पंचवर्षीय योजना में व्यावसायिक उन्नति की व्यवस्था के लिये दे० दी टाइम्ज आफ इंडिया डायरेक्टरी एण्ड यीअर बुक १९५४-५५, पृ० १५४। १८९४ ई० में भारत में कारखानों की संख्या ८१५ थी; १९४८ में यह १५,९०६ हो गयी (सक्सेना-लेबर प्राबलम्ज़ पृ० ६)।

औद्योगिक क्रान्ति का परिवार पर पहला प्रभाव यह पड़ता है कि उत्पादन का केन्द्र बदल जाता है। पहले कृषक अथवा कारीगर अपने घर और परिवार में रहता हुआ अन्न वस्त्रादि का उत्पादन करता था, परिवार के सब सदस्य उसे इस कार्य में सहायता देते थे, प्रायः आवश्यकता की सब वस्तुओं का उत्पादन परिवार के सदस्यों द्वारा हो जाने से परिवार आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी इकाई था। किन्तु कारखानों में कपड़े आदि का निर्माण होने से अब उत्पादन का केन्द्र घर नहीं, किन्तु मिल हो जाती है। मिलों द्वारा प्रभूत मात्रा में तैय्यार किया माल घर में उसके उत्पादन को अनावश्यक बना देता है, घर से उत्पादन का कार्य छिन जाने से पुरुषों और स्त्रियों को घर से बाहर फैक्टरियों में आजीविका ढूंढ़नी पड़ती है। स्त्रियों के कारखानों में काम करने से पारिवारिक जीवन में बच्चों की देखभाल की समस्यायें उत्पन्न होती हैं। भारत में कारखानों में काम करने वाली स्त्रियों को शिशुशालाओं या बालमन्दिरों के अभाव में सरकारी रिपोर्टों के अनुसार बच्चों को अफीम देने आदि के उपायों का अवलम्बन करना पड़ता है। बच्चों की उपेक्षा से उनका यथोचित विकास नहीं हो पाता, उनमें अपराध की प्रवृत्ति बढ़ती है। दिन भर की मजदूरी के कार्य से परिश्रान्त पत्नी अपने घर के कार्य तथा बच्चों और पति के प्रति दायित्व को पूरी तरह निभाने में असमर्थ होती है; पारिवारिक जीवन में सुख की मात्रा घटने लगती है।

औद्योगिक क्रान्ति का दूसरा प्रभाव नगरों की संख्या में वृद्धि होती है। भारत में यह प्रवृत्ति बढ़ रही है। १९३१, १९४१ तथा १९५१ में कस्बों और नगरों की जनसंख्या में क्रमशः १८.४, ३१.१ तथा ४१.३ प्रतिशत की वृद्धि हुई है। १९२१ में २ करोड़ ८२ लाख जनता नगरों में रहती थी, १९५१ में यह संख्या ६ करोड़ १९ लाख हो गयी है। यद्यपि यह संख्या कुल भारतीय जन-संख्या का १७ प्रतिशत ही है[८], पश्चिमी देशों की नागरिक जन-संख्या की दृष्टि से बहुत कम है, किन्तु भविष्य में इसके निरन्तर बढ़ने और हिन्दू परिवार पर अधिकाधिक प्रभाव डालने में कोई संदेह नहीं है। नगरों की वृद्धि के हिन्दू कुटुम्ब पर निम्न परिणाम उल्लेखनीय हैं—

(क) **केन्द्रापगामी प्रवृत्तियों द्वारा परिवार का विघटन**—गांव में परिवार बड़ा संगठित और सुदृढ़ होता है क्योंकि वह आर्थिक उत्पादन की इकाई होता

---

८. टाइम्ज़ आफ इंडिया डायरेक्टरी एण्ड यीअर बुक १९५४-५५ पृ० १०

है, सब सदस्य परिवार के आर्थिक कार्यों में पूरा सहयोग देते हैं और उनके सुसंगठित रहने से परिवार की समृद्धि होती है। परिवार से बाहर आजीविका के साधन बहुत कम होने से उनके वैयक्तिक हित परिवार के सामूहिक स्वार्थों से भिन्न नहीं होते, अतः उनमें कुटुम्ब में रहने, उसे सुदृढ़ बनाने की केन्द्राभिमुखी प्रवृत्तियां प्रबल होती हैं, किन्तु नगर में एक परिवार के विभिन्न सदस्यों द्वारा पृथक् स्थानों में आजीविका उपार्जन करने से उनके वैयक्तिक स्वार्थ एक जैसे नहीं रहते, केन्द्रापगामी प्रवृत्तियों की प्रबलता से परिवार की सुदृढ़ता कम होने लगती है।

**(ख) पारिवारिक नियन्त्रण का अभाव**—नगरों में आर्थिक उत्पादन, शिक्षा और मनोरंजन के कार्य कारखानों, शिक्षणालयों तथा सिनेमा और थियेटरों ने परिवार से छीन लिये हैं। परिवार के विभिन्न सदस्य दिन भर पृथक् कारखानों और कार्यालयों में काम करते हैं, शाम को अपनी रुचि के क्लबों और मनोरंजन-गृहों में जाते हैं, रात को केवल सोने के लिये परिवार के सब सदस्य घर में एकत्र होते हैं। इसका परिणाम यह हो रहा है कि व्यक्ति पर परिवार का नियन्त्रण कम हो रहा है तथा उन संस्थाओं और व्यक्तियों का प्रभाव बढ़ रहा है, जिनके सम्पर्क में वह दिन भर रहता है।

**(ग) निवासस्थानों की कमी**—भारतीय नगरों में जनसंख्या जिस तेजी से बढ़ रही है, नये मकान उतनी शीघ्रता से नहीं बन रहे। बम्बई, कलकत्ता, कानपुर जैसे औद्योगिक नगरों में मज़दूरों को बड़े गन्दे और संकुचित स्थानों में रहना पड़ता है[८क]। मध्यम वर्ग के पास भी बहुत सीमित स्थान वाले मकान होते हैं। उत्तर प्रदेश, बम्बई, दिल्ली आदि में सरकार की ओर से नये मकान बनाने का प्रयत्न हो रहा है, किन्तु शहरों में देहात जैसा खुला स्थान और परिस्थितियां नहीं उत्पन्न की जा सकतीं। परिवार पर संकुचित स्थान का बड़ा हानिकर प्रभाव पड़ता है। (१) छोटे मकानों में बहुत अधिक व्यक्तियों के रहने से वैयक्तिक विकास के लिये उपयुक्त एकान्त और पर्याप्त स्थान नहीं मिलता, बच्चों के खेलने के लिये मैदान, और चढ़ने के लिये पेड़ नहीं होते, उनकी क्रीड़ा का स्थान गन्दी गलियां या यातायात से भरी सड़कें होती हैं, जहां

---

८ क. इन गन्दी बस्तियों के लिये यह सत्य ही कहा जाता है कि ईश्वर ने मनुष्य की सृष्टि की, मनुष्य ने नगर की और शैतान ने गन्दी बस्तियों (Slums) की।

उनका खेलना खतरे से खाली नहीं होता। घर में अभीष्ट एकान्त न होने से, सदैव एक दूसरे के निरीक्षण में रहने से, दम्पती तथा अन्य व्यक्तियों में चिड़चिड़ापन उत्पन्न हो जाता है, मनोवैज्ञानिकों का मत है कि ऐसी दशा में बालक के व्यक्तित्व का विकास अवरुद्ध हो जाता है[९]। (२) गांव में पड़ोसी सुपरिचित होते हैं, उनका परिवार के व्यक्तियों के व्यवहार पर काफी नियंत्रण रहता है। शहर में पड़ोसी प्रायः अजनबी होते हैं। इस प्रकार की अज्ञानता और दिन भर घर से बाहर रहने के कारण, शहरों में अवैध सम्बन्धों द्वारा कामसुख-प्राप्ति की सुविधायें गांवों की उपेक्षा अधिक होती हैं। इस प्रकार अनेक व्यक्ति विवाह और पारिवारिक जीवन को झंझट समझते हुए उससे बचने का प्रयत्न करते हैं। यों तो अवैध सम्बन्ध सभी स्थानों और समाजों में पाये जाते हैं, किन्तु बड़े नगरों में इस के लिये अधिक सुविधायें होती हैं, इससे परिवार के सदस्यों में अविवाहित रहने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है। (३) शहरों में निवास स्थान की कमी परिवार की सदस्यसंख्या पर बड़ा प्रभाव डालती है, स्थानसंकोच तथा मंहगाई के कारण यहां विशाल एवं संयुक्त कुटुम्ब असम्भव हो जाते हैं, एकाकी तथा छोटे परिवारों की संख्या बढ़ने लगती है। (४) शहरी जीवन में मनोरंजन के व्यापारिक साधन ( सिनेमा, थियेटर ) प्रचुर मात्रा में होते हैं। इन साधनों तथा क्लबों आदि के कारण शहर में व्यक्ति अपने एकाकी जीवन में वह नीरसता और खालीपन अनुभव नहीं करते, जो देहात में होता है और जिसके लिये वहां विवाह जल्दी एवं आवश्यक माना जाता है। इसके साथ ही शहर में अवैध कामसुख की सुविधायें भी अधिक होती हैं। अतः नगरों में विवाह गांव की अपेक्षा अधिक उच्च आयु में किया जाता है और अविवाहितों की संख्या बढ़ने लगती है। इसके अतिरिक्त शहर में शिक्षा की सुविधायें अधिक होने से हिन्दू नारी के विवाह की आयु अधिक ऊँची उठ रही है, नौकरी आदि स्वतन्त्र आजीविका के साधन होने से शिक्षित स्त्रियों में अविवाहित रहने की प्रवृत्ति बढ़ रही है (दे० नी० पृ० ६२१-२)।

---

९. जे० एस० प्लाण्ट—सम सिकियैट्रिक एस्पैक्टस् आफ क्रौडेड लिविंग कंडीशन्स अमेरिकन जर्नल आफ सिकियेट्री मार्च १९३०, पृ० ८४९-८६०। वर्जिनिया वुल्फ ने ए रूम आफ वन्स ओन (न्यूयार्क १९२९) में सृजनात्मक चिन्तन तथा जीवन के लिये वैयक्तिक एकान्त का प्रबल समर्थन किया है। मि० इलियट एण्ड मेरिल, पृ० ३५५-५६

**आविष्कारों का प्रभाव**—औद्योगिक क्रान्ति के अतिरिक्त विज्ञान के नवीन आविष्कार आजकल पारिवारिक जीवन को बहुत प्रभावित कर रहे हैं। इनमें घरेलू कार्यों को करने में श्रम बचाने वाले यन्त्र, रेडियो तथा मोटर मुख्य हैं। हिन्दू परिवार में अभी इनके प्रवेश का श्रीगणेश ही है, किंतु इसमें कोई सन्देह नहीं कि भविष्य में इन का प्रभाव उत्तरोत्तर बढ़ता जायगा। श्रम बचाने वाले यन्त्रों का विकास सं०रा० अमरीका में बहुत अधिक हुआ है। बिजली की बत्ती ने मिट्टी के तेल की लालटेनों को संग्रहालय की वस्तु बना दिया है, झाड़ू लगाने का काम मशीन से होने लगा है, बिजली और गैस के चूल्हों ने लकड़ी और कोयले की अंगीठियों को निरर्थक सिद्ध कर दिया है और कपड़े धोने, बर्तन मांजने, सीने और इस्त्री करने के यन्त्रों ने इन कामों को बहुत सुगम बना दिया है। इन सब यन्त्रों का यह प्रभाव हुआ है कि घर का काम थोड़े समय में तथा अल्प परिश्रम से किया जा सकता है। गृहिणी को दिन भर उस काम में जुटे रहने की आवश्यकता नहीं रही, घर के कामों से बचे समय में वह अब नौकरी करके अपने परिवार की आय बढ़ा सकती है। उपर्युक्त यन्त्रों द्वारा घर और बाहर के काम का सामंजस्य सुगम हो गया है। भारत में अभी ये सुविधायें बिजली वाले बड़े शहरों में ही प्राप्त हैं, सामान्यतः हिन्दू गृहिणी के श्रम की बचत आटे की चक्की और पानी के नल तक ही सीमित है। किन्तु इस समय हमारे देश में बिजली उत्पन्न करने की भाखड़ा नंगल, दामोदर घाटी आदि अनेक योजनायें चल रही हैं, उनके पूरा हो जाने पर देहातों में भी बिजली पहुँच जायगी और घरेलू कार्यों में श्रम की बचत करने वाले यन्त्रों का प्रसार बढ़ेगा। यह ठीक है कि इन यन्त्रों के क्रय करने में पर्याप्त धन राशि व्यय होती है, किन्तु इन से गृहिणी को घर से बाहर पूरे या थोड़े समय के लिये नौकरी द्वारा धन कमाने का अवसर मिल सकता है। इन यन्त्रों के उपयोग का एक यह भी पहलू है कि इनके अभाव में लड़कियां घर के कार्यों में माता का सहयोग देती हैं, प्रतिदिन घर के काम करने से घर से उनका सम्बन्ध और ममता अधिक घनिष्ठ होती है। यन्त्रों के प्रयोग के बाद, वे घरेलू कामों से अवकाश पा जाती हैं, परिवार का सुख बढ़ाने के कार्य में अपना उत्तरदायित्व पहले की अपेक्षा कम अनुभव करती हैं।

रेडियो परिवार की एकता को सुदृढ़ करने में भी सहायक होता है और उसे कम करने में भी। व्याख्यान और संगीत का जो आनन्द प्राप्त करने के लिये परिवार के विभिन्न सदस्य घरों से बाहर जाते थे, रेडियो द्वारा वह उन्हें

घर में ही प्राप्त हो सकता है। टेलीविज़न सिनेमा के आनन्द को भी घर में लाने वाला है। अतः इन आविष्कारों से परिवार के सदस्यों को घर में रहने का प्रोत्साहन मिलता है, किन्तु इसके साथ यह पारिवारिक सदस्यों में कलह-वृद्धि का केन्द्र भी बन सकता है। जब एक ही समय पिता द्वारा शास्त्रीय संगीत सुनने का, पुत्र द्वारा फिल्मी गाने तथा पत्नी द्वारा नाटक श्रवण करने का आग्रह हो तो विषम समस्या उत्पन्न हो जाती है। अवस्था भेद से उत्पन्न होने वाले रुचि-वैचित्र्य का समाधान होने पर रेडियो परिवार की एकता पुष्ट करने में सहायक हो सकता है। किन्तु इसका यह प्रभाव सीमित है, सिनेमा, नृत्य एवं संगीत-गोष्ठियों के रेडियो में न आनेवाले प्रोग्राम घर के सदस्यों को अपने मनोरंजन के लिये परिवार से बाहर जाने को बाधित करते हैं[१०]।

परिवार पर मोटर का प्रभाव अभी तक संयुक्त राज्य अमरीका तक ही मर्यादित है। प्रति तीन व्यक्तियों के पीछे एक मोटर वाले इस देश में इस आविष्कार ने घर से दूरवर्त्ती स्थानों में भी परिवार के सब सदस्यों द्वारा एक साथ मिल कर छुट्टियां बिताने तथा मनोरंजन करने की संभावना बढ़ा दी है और इस प्रकार पारिवारिक एकता को सुदृढ़ बनाया है। किन्तु इसके साथ ही, रेडियो की भांति यह परिवार के सदस्यों का रुचिभेद होने पर वैमनस्य और कलह का कारण भी बन सकता है। जब परिवार के तरुण सदस्य माता पिता की इच्छा के विरुद्ध प्रणय व्यवहार के लिये इस साधन का प्रयोग करते हैं और माता पिता के नियन्त्रण के क्षेत्र से दूर हो जाते हैं तो परिवार में अनुशासन की नवीन समस्यायें उत्पन्न हो जाती हैं[११]।

**राजनैतिक तत्त्व**--परिवार पर प्रभाव डालनेवाले राजनैतिक तत्त्वों में दो विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं--(१) राज्य के क्षेत्र और प्रभुता का विस्तार। (२) स्त्रियों को मताधिकार की प्राप्ति। पहले सन्तान का संरक्षण और शिक्षण परिवार का कार्य था, पिता को परिवार के सदस्यों पर असाधारण प्रभुता प्राप्त थी (दे० ऊ० पृ० १८१)। पिछले सौ वर्षों में राज्य के कार्यों और प्रभुता का विस्तार होने से पिता का अधिकार क्षीण हो रहा है। उदाहरणार्थ पहले पिता अपनी सन्तान की शिक्षा की उपेक्षा कर उसे अपनी खेती बाड़ी के काम में लगा सकता था, अब अनिवार्य आरम्भिक शिक्षा के कानून बन जाने से वह अपने बच्चे को

---

१०. इलियट मेरिल--सोशल डिसआरगैनिजेशन, पृ० ३५६

११. बेबर--मैरिज एण्ड फैमिली, पृ० १६

स्कूल जाने की नियत अवस्था में गाय चराने या चारा लाने के लिये बाधित नहीं कर सकता। माता पिता भले ही विद्यालयों की शिक्षा बच्चों के लिये घातक समझें, किन्तु उन्हें अपनी सन्तान को स्कूल अवश्य भेजना पड़ता है। पश्चिमी देशों में यह अनुभव किया जा रहा है कि यदि बालक विद्रोही या शरारती हो तो उसका नियन्त्रण करना पिता का कर्त्तव्य नहीं है, उसकी यह प्रवृत्ति बाद में समाजविरोधी हो सकती है, अतः राज्य को बच्चे के दण्ड का अधिकार होना चाहिये। संयुक्त राज्य अमरीका में राज्य को बच्चों के मामलों में हस्त-क्षेप के अधिकार बहुत अधिक हैं। वहां राज्य माता पिता को बच्चों की उचित देखभाल के लिये बाधित ही नहीं कर सकता, किन्तु माता पिता द्वारा सन्तान की उपेक्षा या दुर्व्यवहार की अनेक दशाओं में वह बच्चों को माता पिता से छीन भी सकता है[१२]। वहां राज्य शनैः शनैः बच्चों का 'बड़ा पिता' बन रहा है। स्कूलों में बच्चों की अनिवार्य उपस्थिति, उनके शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य का नियन्त्रण, पिता द्वारा सन्तान पर क्रूरता को नियन्त्रित करने के नियम परिवार पर राज्य की बढ़ती हुई प्रभुता के सूचक हैं। इनसे यह आशंका उत्पन्न हो गयी है कि भविष्य में परिवार का बच्चों पर अपना कोई नियन्त्रण नहीं रहेगा[१३]।

**स्त्रियों को मताधिकार की प्राप्ति**—पश्चिमी जगत् में स्त्रियों को लोक-सभाओं का वोटर होने का अधिकार उग्र संघर्ष के बाद मिला है। इंगलैण्ड में पार्लियामेण्ट का वोटर होने का अधिकार स्त्रियों को पूरी आधी शती के आन्दोलन के बाद १९१८ में पहली बार कुछ शर्तों के साथ प्राप्त हुआ और १९२८ में सब वयस्क स्त्रियाँ वोट देने की अधिकारिणी बनीं[१४]। किन्तु भारत में

१२. मेबल इलियट—कनफ्लिक्टिंग पीनल थियोरीज इन स्टैचूटरी क्रिमिनल शिकागो (१९३१), पृ० ३२-३६। एच० एच० लौ—जूवेनाइल कोर्ट इन दी यूनाटेड स्टेट्स चेपल हिल (१९२८), पृ० ३-८

१३. इलियट ऐण्ड मेरिल—सोशल डिसआरगैनिजेशन, पृ० ३४९। राज्य और परिवार के सम्बन्ध के लिये दे० एस० पी० ब्रैकनरिज—दी फैमिली एण्ड दी स्टेट (शिकागो १९३७), जिमरमैन-फैमिली एण्ड सिविलिजेशन (न्यूयार्क १९४७), अध्याय २३।

१४ स्ट्रैची—दीकाज़—ए शार्ट हिस्टरी आफ़ वुमैन्स मूवमैण्ट इन ग्रेट-ब्रिटेन (१९२८)। फ्रांस में स्त्रियों को यह अधिकार द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद मिला है।

स्त्रियों को यह अधिकार बड़ी सुगमता से आवेदन पत्र देने और प्रस्ताव पास करने से ही मिल गया है। १९१७ में भारत को ब्रिटिश पार्लियामेण्ट द्वारा दिये जाने वाले राजनैतिक सुधारों की स्थिति का अध्ययन करने के लिये यहां आये तत्कालीन भारत मन्त्री श्री मांटेग्यू के सामने यह मांग श्रीमती सरोजनी नायडू की अध्यक्षता में स्त्रियों के एक शिष्ट मंडल ने रखी। १९१९ की सुधार योजना में ब्रिटिश पार्लियामेंट ने स्त्रियों को मताधिकार देने का प्रश्न प्रान्तीय व्यवस्थापिका परिषदों पर छोड़ दिया। १९२६ में सर्वप्रथम मद्रास में स्त्रियां निर्वाचक बनीं और दो वर्ष के भीतर अन्य प्रान्तों में भी विधान सभाओं ने स्त्रियों को मताधिकार प्रदान किया। भारत के वर्त्तमान शासन-विधान में सब वयस्क स्त्रियों को वोटर होने का अधिकार प्राप्त है। भारत में नारी के प्रति सहज सम्मान की प्राचीन भावना के कारण पुरुषों से यह अधिकार प्राप्त करने में हिन्दू स्त्रियों को अपनी पश्चिमी बहिनों की भांति कोई संघर्ष नहीं करना पड़ा।

स्त्रियों को मताधिकार प्राप्त होने का यह परिणाम हुआ है कि परिवार में नारियों की हीन स्थिति का अन्त करने और उन्हें पुरुषों के तुल्य अधिकार देने के कानून तेजी से पास हो रहे हैं। इन कानूनों का आगे वर्णन किया जायगा।

**दार्शनिक तत्व—नवीन विचारधारायें**—हिन्दू परिवार पर प्रभाव डालने वाला एक महत्वपूर्ण तत्व पश्चिम से आनेवाली व्यष्टिवाद, प्रजातन्त्र, समानता और स्वतन्त्रता की भावनायें हैं। पहले इनका वर्णन किया जा चुका है (दे० ऊ० पृ० ७०-७२) और यह बताया जा चुका है कि ये संयुक्त परिवार के विघटन में सहायक सिद्ध हो रही हैं। इस के अतिरिक्त वर्तमान काल का सुखवाद और भौतिकवाद त्याग पर बल देनेवाले पारिवारिक आदर्श के प्रतिकूल है। भौतिकवाद, बुद्धिवाद तथा विज्ञान के प्रसार से जनता में धर्म के प्रति श्रद्धा और आस्था क्षीण हो रही है और विवाह को पवित्र तथा अविच्छेद्य धार्मिक बन्धन समझने की भावना शिथिल हो गयी है। इसके साथ ही हमारे देश के शिक्षित वर्ग पर पश्चिमी विचारकों की पुस्तकों तथा चल-चित्रों द्वारा 'प्रणय में स्वतन्त्रता' 'परीक्षणात्मक विवाहों (Trial marriages) और साथी विवाहों (Companionate marriages) के विचार लोकप्रिय हो रहे हैं। ये सब विचार पुराने ढंग के हिन्दू परिवार के विघटन में सहायक हैं।

**सामाजिक तत्व**—हिन्दू परिवार पर प्रभाव डालनेवाले सामाजिक तत्वों

में निम्न उल्लेखनीय हैं—(क) स्त्रियों का उत्थान और जागरण तथा इसके प्रभाव (ख) यौन नैतिकता के दोहरे मापदण्ड की समाप्ति। (ग) स्त्रियों द्वारा समानाधिकारों की मांग।

**(क) स्त्रियों का उत्थान और जागरण**—पहले (पृ० १३३) यह बताया जा चुका है कि हिन्दू परिवार में किन कारणों से पति देवता और पत्नी दासी की हीन स्थिति को प्राप्त हुई और मध्यकाल में शूद्रों के समकक्ष मानी गयी। १९वीं शती के मध्य में ईश्वरचन्द्र विद्यासागर और ईसाई मिशनरियों द्वारा स्त्रियों में शिक्षाप्रसार के आन्दोलन से स्त्रियों के उत्थान का आरम्भ हुआ[१४]। १८५४ में सर चार्ल्स वुड ने शिक्षा विषयक अपने प्रसिद्ध खरीते में स्त्रियों की शिक्षा पर विशेष बल दिया। तत्कालीन सुधार आन्दोलनों—ब्राह्मसमाज और आर्यसमाज ने इस दिशा में बहुत उत्साह से कार्य किया, १८८३ ई० में पहली स्त्री विश्वविद्यालय की स्नातिका बनी। पंडिता रमाबाई, रुखमा बाई जैसी स्त्रियों ने तीव्र लोक निन्दा की परवाह न करते हुए उच्च शिक्षा ग्रहण करने तथा स्वतन्त्र पेशा अपनाने का आदर्श स्त्रियों के सामने रखा। किन्तु उस समय ऐसी स्त्रियां इनी गिनी थीं, स्त्रियों के उत्थान का कार्य प्रधान रूप से पुरुषों द्वारा ही हो रहा था। १८८५ ई० में कांग्रेस की स्थापना के बाद, प्रति वर्ष इसकी बैठकों के साथ भारतीय राष्ट्रीय सामाजिक परिषद् के भी अधिवेशन होने लगे। इनमें प्रमुख भाग लेनेवाले दीवान रघुनाथ राव, श्री महादेव गोविन्द रानडे, श्री नरेन्द्रनाथ सेन, श्री जानकीनाथ घोषाल थे। यह परिषद् १९१७ ई० तक प्रति वर्ष स्त्रियों के उत्थान के लिये अनेक विषयों पर प्रस्ताव पास करके सरकार तथा जनता का ध्यान उन कुरीतियों और कारणों की ओर आकृष्ट करती रही, जिन से भारतीय स्त्रियों की दशा शोचनीय थी। इसके अतिरिक्त वह स्त्रियों के उत्थान के उपायों का भी निर्देश करती रही। इस परिषद् द्वारा पास किये प्रस्तावों में निम्न

---

१४. भारतीय नारी आन्दोलन के विविध पहलुओं के लिये निम्न ग्रन्थ द्रष्टव्य हैं—श्यामकुमारी नेहरू (संपादिका) आवर काज अलाहाबाद, कमला देवी चट्टोपाध्याय—एवेकनिंग आफ इंडियन वुमैन, मार्गरेट कजिन्स—इंडियन वुमैनहुड टुडे, रेणुका राय—वुमैन इन माइन्स, रेगे—ह्विवदर वुमैन, सुमति बाई—वुमैन एवेकन्ड, हंसा मेहता—वुमैन अण्डर दी हिन्दू ला आफ मेरिज एण्ड सक्सैशन, हाटे—हिन्दू वुमैन एण्ड हर फ्यूचर, रमाबाई—दी हाईकास्ट हिन्दू वुमैन।

बातों पर बल दिया जाता था—स्त्रियों में प्रारम्भिक, माध्यमिक तथा उच्च शिक्षा का प्रसार, बाल और बेमेल विवाह का तथा दहेज और बहुविवाह का निषेध, विधवाओं के सिर मुंडवाने का और सामाजिक समारोहों में वेश्याओं के नाच द्वारा मनोरंजन का विरोध, विधवा विवाह तथा अन्तर्जातीय विवाह का प्रोत्साहन[१४क]।

स्त्रियों में शिक्षा का प्रसार होने से १९१२ ई० से उनके अनेक संगठन बनने लगे। एनी बेसेण्ट ने अपने ओजस्वी व्याख्यानों में भारत को जागृत करने के लिये इस बात पर बल दिया कि लड़कियों को अशिक्षा और बालविवाह से मुक्ति मिलनी चाहिये। स्त्रियां अपने अधिकारों के लिये जागरूक होने लगीं। पहले यह बताया जा चुका है कि १९१७ ई० में उन्होंने मद्रास में भारतमन्त्री के सम्मुख सर्वप्रथम स्त्रियों को मताधिकार देने की मांग रखी। १९२० के बाद स्त्रियों ने राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य संघर्ष में बहुत भाग लिया। उनमें शिक्षा और जागृति बढ़ रही थी। १९२६ में श्रीमती मार्गरेट कजिन्स ने महिलाओं के भारत-व्यापी संगठन का प्रयास किया, फलस्वरूप अखिल भारतीय महिला परिषद् की स्थापना हुई। यह हमारे देश में शिक्षित महिलाओं का प्रधान संगठन है और इसने पिछली दो दशाब्दियों में भारतीय नारियों पर लगे प्रतिबन्धों और कानूनी बाधाओं को हटाने तथा समानाधिकारों की मांग करने में प्रमुख भाग लिया है।

ब्रिटिश सरकार की नीति नारी-आन्दोलन के अनुकूल थी। १९३५ के भारत सरकार के शासन-कानून में केन्द्रीय एवं प्रान्तीय परिषदों में स्त्रियों के लिये कुछ स्थान सुरक्षित रखे गये, इनके लिये मताधिकार की शर्त्तें उदार बनायी गयीं और इन से ६० लाख स्त्रियां वोटर बनीं। १९३८ में श्रीमती राधाबाई सुब्बा रायन राज्य परिषद् की तथा १९४३ में श्रीमती रेणुकाराय केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा की पहली स्त्री सदस्या बनीं। प्रान्तीय व्यवस्थापिका परिषदों में स्त्रियां इस से पहले पहुँच चुकी थीं।

स्वतन्त्र भारत ने 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः' की प्राचीन परम्परा का पालन करते हुए नारियों को उच्चतम सम्मान के पद प्रदान किये हैं। दिवंगता श्रीमती सरोजनी नायडू भारत में एक प्रान्त की पहली महिला गवर्नर थीं, श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित मास्को (१९४७-४९) और वाशिंगटन (१९४९-५२) में भारत की पहली महिला राजदूत थीं[१५] और गत वर्ष

१४क. हार्टे—हिन्दू वुमैन एण्ड हर फ्यूचर, पृ० २६३-७२

१५. यह स्मरण रखना चाहिये कि संयुक्त राज्य अमरीका में १९४९

(१९५३) भारत के प्रतिनिधि के रूप में संयुक्त राष्ट्र संघ की जनरल असेम्बली की पहली महिला सभापति चुनी गयी थीं। हमारे देश के नवीन संविधान में स्त्री-पुरुषों के अधिकारों को समान स्वीकार किया गया है। १९४८ में केन्द्रीय सरकार ने भारतीय शासन (आई० ए० एस०) प्रतियोगिता परीक्षाओं में नारियों को भी बैठने का अधिकार प्रदान कर नौकरी की दृष्टि से नरनारी के भेद की समाप्ति कर दी है[१६]।

स्त्रियों की शिक्षा और जागृति हिन्दू परिवार पर निम्न प्रभाव डाल रही है—

**(अ) विवाह की आयु का ऊंचा उठना**—आज से ५० वर्ष पहले हिन्दू समाज बाल विवाहों के कारण बदनाम था, इस कुरीति के दुष्परिणामों का अनुभव करते हुए तीव्र विरोध के बावजूद १९२९ में बालविवाह निषेधक शारदा कानून पास किया गया। किन्तु इस कानून के होते हुए भी बालविवाह बन्द नहीं हुए। १९५१ की जनगणना की रिपोर्ट के अनुसार भारत में ५ से १४ वर्ष की आयु में विवाहित पुरुषों की संख्या २८ लाख ३३ हजार थी, विवाहित स्त्रियों की ६१ लाख १८ हजार, इस आयु के विधुर और विधवाओं की संख्या क्रमशः ६६ हजार तथा १ लाख ३४ हजार थी[१७]। किन्तु इसी रिपोर्ट से यह भी ज्ञात होता है कि अब बालविवाहों की संख्या घटने लगी है। पिछले दस वर्षों में १५ साल तक की विवाहित स्त्रियों का अनुपात कुल विवाहित स्त्रियों के अनुपात की तुलना में कम हुआ है। १९४१ में यह अनुपात ९.६ प्रति शत था, १९५१ में यह गिर कर ७.४ प्रतिशत हो गया[१८]। विवाह की आयु ऊँची होने का एक प्रधान कारण स्त्रियों में शिक्षा का प्रसार है। बम्बई प्रान्त की स्त्रियों की स्थिति के सम्बंध में किये एक अध्ययन से इस विषय पर बड़ा अच्छा प्रकाश पड़ा है[१९]। इससे

---

में पहली बार एक महिला को राजदूत बनाया गया, किन्तु भारत में नारी को यह सम्मानास्पद स्थान दो वर्ष पूर्व १९४७ ई० में ही प्राप्त हो गया था।

१६. यह अभी तक आदर्श रूप में ही है, क्योंकि विवाहित होने पर स्त्रियों का नौकरी पर कोई स्वत्व नहीं रहता। इस प्रतिबन्ध को हटाने के लिये सितम्बर १९५४ में राज्य परिषद तथा लोक सभा में विचार हुआ था, किन्तु उसका कोई परिणाम नहीं निकला।

१७. १९५१ की भारत की जनगणना रिपोर्ट, भा० १, खं० १ पृ० ७१-७२

१८. वही पृ० ७२

१९. चन्द्रकला हाटे—हिन्दू वुमैन एण्ड हर फ्यूचर—इसमें लेखिका ने

यह ज्ञात होता है कि इस अन्वेषण के अन्तर्गत स्त्रियों की औसत आयु २४ वर्ष थी और शिक्षित स्त्रियों की विवाह की आयु २९ वर्ष थी[२०]। इसका यह तात्पर्य है कि शहरों के मध्यम एवं शिक्षित वर्ग की स्त्रियों में बाल विवाह के स्थान पर बहुत देर में विवाह की प्रवृत्ति का श्रीगणेश हो गया है[२१]। इस प्रवृत्ति के प्रबल होने पर पारिवारिक जीवन में अनेक समस्यायें उत्पन्न होने की आशंका है। बड़ी आयु में शादी करने वाले स्त्री-पुरुषों के विचार और आदतें प्रायः परिपक्व होती हैं, उनमें सुखमय दाम्पत्य जीवन के लिये आवश्यक समझौते और आनुकूल्य की भावना कम होती है[२२]। विवाह से पूर्व स्वतन्त्र कमाई करने वाले पति पत्नी जब विवाह के बाद अपने वैयक्तिक सुख और मनोरंजन की प्राप्ति में बाधायें देखते हैं तो उनमें कलह का सूत्रपात हो जाता है, वैवाहिक जीवन की स्थिरता विवाह-विच्छेद से कम होने लगती है।

बड़ी आयु में विवाह की दूसरी समस्या यह है कि इससे बच्चों की जन्म-दर बहुत कम हो जाती है। यह समस्या यद्यपि अनेक पश्चिमी देशों में है, किन्तु वहां स्त्री पुरुष की औसत आयु अधिक होने से[२३] तथा बाल मृत्यु संख्या कम होने

---

बम्बई विश्व विद्यालय के समाजशास्त्र विभाग की ओर से १३४८ स्त्रियों से २८ प्रश्न पूछ कर हिन्दू नारी की वर्त्तमान स्थिति का विशद अध्ययन किया है।

२०. वही पृ० ४१,२८१। इस औसत आयु के सम्बन्ध में यह स्मरण रखना चाहिये कि इस अन्वेषण की अधिकांश स्त्रियां शहरों में रहने वाली तथा शिक्षित थीं। भारत में शिक्षित स्त्रियों की संख्या कुल ८ प्रतिशत हैं। अतः यह आयु बड़े सीमित वर्ग की है, किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि शिक्षा के प्रसार के साथ भविष्य में यह प्रवृत्ति बढ़ेगी।

२१. संयुक्त राज्य अमरीका में कम शिक्षित स्त्रियों के शीघ्र विवाह के लिये देखिये--इलियट मैरिल--पू० पु० पृ० ३५२

२२. इलियट एण्ड मेरिल --पू० पु० पृ० ३४६

२३. पिछले तीस वर्षों में एक भारतीय की औसत आयु में काफी वृद्धि हुई है। १९२१ में जन्म के समय भारत में यह संख्या २६ वर्ष ११ महीने थी, १९५० में यह ३२ वर्ष ५ महीने हो गयी। इसी प्रकार १० साल की अवस्था में औसत आयु ३९ वर्ष है, किन्तु इंगलैण्ड आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड में यह ६० वर्ष है, संयुक्त राज्य अमरीका में ५६ वर्ष, जापान में ५० वर्ष और मिश्र में ४७ वर्ष (१९५१ की भारत जनगणना रिपोर्ट भाग १, खं० १, पृ० १८७)

से, यह समस्या हिन्दू समाज की तरह चिन्तनीय नहीं है। १९५१ की जनगणना के अनुसार भारतीयों की औसत आयु ३९ वर्ष है, स्त्रियों के सन्तानोत्पादन के सामर्थ्य की आयु यद्यपि ४५ वर्ष है, किन्तु हाटे के कथनानुसार कई बार यह ३७ वर्ष में ही समाप्त हो जाती है। परिवार नियोजन के सिद्धान्त के अनुसार दो बच्चों की प्रसूति में २॥ वर्ष का अन्तर अवश्य होना चाहिये, फिर यह भी देखा गया है कि जन्म लेने वाले पांच बच्चों में चार ही बचते हैं और ये बच्चे भी ७५ प्रतिशत दम्पती के ही होते हैं। इन सब अवस्थाओं पर विचार करते हुए यह प्रतीत होता है कि स्त्रियों के विवाह की आयु यदि २४ वर्ष हो जाय तो कुछ स्त्रियों के दो या तीन बच्चे होंगे, इन में से यदि दो जीवित रहें तो दम्पती समाज में केवल अपनी स्थान पूर्त्ति ही कर सकेंगे[२४]। भारत में बड़ी तेज़ी से बढ़ती हुई जनसंख्या पर यह बड़ा प्रभावशाली नियन्त्रण होगा। किन्तु अभी तक यह परिवर्तन शिक्षित महिला वर्ग की अल्पसंख्या तक ही सीमित है[२५]। स्त्रियों में शिक्षा का व्यापक प्रसार होने से इसका प्रभाव बढ़ेगा।

(आ) स्त्रीशिक्षा का दूसरा प्रभाव यह है कि इससे स्त्रियों में अविवाहित रहने की प्रवृत्ति बढ़ रही है। हाटे की प्रश्नावलि का उत्तर देने वाली २६३ अविवाहित स्त्रियों में ३६ अर्थात् १३ प्रतिशत ने निश्चित रूप से यह कहा कि वे विवाह नहीं करेंगी[२६]। यद्यपि इन सब के वचन पर पूरा विश्वास नहीं किया जा सकता[२७], किन्तु इनके अविवाहित रहने के कारण यह सूचित करते हैं कि हिन्दू समाज में यह प्रवृत्ति क्यों बढ़ रही है। एक स्त्री के विवाह न करने का यह हेतु था कि उस पर छोटी बहिनों और भाइयों के भरण-पोषण का

---

२४. हाटे—पू० पु० पृ० ५७

२५. अभी तक भारत में १५ वर्ष तक या इससे अधिक आयु की अविवाहित स्त्रियों की संख्या ६.४ प्रतिशत है, जब कि इंगलैण्ड, इटली, जर्मनी, फ्रांस, अमरीका, कनाडा में यह संख्या क्रमशः २५.५, ३३, २९, २५, २५.८ और ३३ प्रतिशत है (१९५१ की जनगणना रिपोर्ट पृ० ७३)

२६. हाटे—वहीं पृ० ३६

२७. हाटे—पृ० ३७, आरम्भ में शादी की इच्छा न रखने वाली कई स्त्रियां बाद में विवाह कर लेती हैं और कई स्त्रियों को शादी न करने का पछतावा होता है। हाटे ने एक ४२ वर्षीया सुशिक्षित एवं आर्थिक दृष्टि से स्वतन्त्र अविवाहित स्त्री द्वारा जीवन साथी प्राप्त करने की इच्छा का उल्लेख किया है।

दायित्व था। दूसरी स्त्री के वर ढूंढ़ने वाले सम्बन्धी नहीं थे, तीसरी स्त्री की अपने प्रेमी के साथ हुई सगाई इस लिये भंग हो गयी थी कि वह बीमार थी, प्रणयवैफल्य के कारण उस ने एकाकी जीवन बिताने का निश्चय किया[२८]। शिक्षित स्त्रियों के वर न मिलने का एक यह भी कारण है कि शिक्षा द्वारा उन में जो महत्वाकांक्षायें जागृत होती हैं, उसके अनुरूप पति मिलने में कठिनाई होती है। संयुक्त राज्य अमरीका में शिक्षित स्त्रियों के अविवाहित रहने का यह कारण भी है कि वहां पुरुष कालेज में शिक्षित स्त्रियों की अपेक्षा कम शिक्षा वाली स्त्रियों के साथ शादी करना अधिक पसन्द करते हैं। यह तथ्य आंकड़ों से भली भांति पुष्ट होता है। १९४० में १५ से १९ वर्ष की आरम्भिक शिक्षा प्राप्त विवाहित स्त्रियों की संख्या इसी आयु की माध्यमिक शिक्षा प्राप्त विवाहिता स्त्रियों की संख्या से दुगनी और कालेज-शिक्षा प्राप्त परिणीता नारियों की संख्या से चौगुनी थी[२९]। कालेज में शिक्षित स्त्री के रहन-सहन का स्तर ऊँचा होने से वह कम शिक्षा या अल्प धन वाले व्यक्ति के साथ निभाव करने में अपने को असमर्थ पाती है। डाक्टरी वकालत आदि पेशों की उच्च शिक्षा प्राप्त करने के बाद स्वतन्त्र आजीविका उपार्जन करने का सामर्थ्य होने पर सुशिक्षित अमरीकन तरुणी बहुधा विवाह करके 'अवैतनिक घरेलू कार्य' करने में अपना जीवन बरबाद नहीं करना चाहती[३०] भारत की शिक्षित नारियों में भी लगभग इन्हीं कारणों से अविवाहित रहने की प्रवृत्ति बढ़ रही है।

(इ) **आर्थिक स्वतन्त्रता**—पहले यह बताया जा चुका है कि प्राचीन एवं मध्यकाल में स्त्री के सम्मुख स्वतन्त्र रूप से आजीविका उपार्जन का कोई साधन न था (पृ० ५०२), उस समय विवाह ही सुखमय जीवनयापन करने का एकमात्र सम्मानित उपाय था, अतः स्त्री के लिये विवाह लगभग अनिवार्य था। किन्तु विवाह में आर्थिक दृष्टि से पति पर अवलम्बित होने से पति का वशवर्ती होना पत्नी के लिये स्वाभाविक था। आजकल स्त्रियों के शिक्षित होने से उनमें आर्थिक स्वावलम्बन की क्षमता बढ़ गयी है, वे स्वतन्त्र आजीविका का उपार्जन कर

---

२८. हार्ट—वही।

२९. मेट्रोपोलिटन लाइफ इंशोरेन्स कम्पनी का मैरिज एण्ड एजुकेशन अटेनमैण्ट का स्टैटिस्टिकल बुलेटिन (अगस्त १९४५)—इलियट द्वारा पूर्वोक्त पुस्तक में उद्धृत, पृ० ३५२। हिन्दू परिवार में भी यही स्थिति है।

३०. इलियट एण्ड मेरिल—पू०, पु०, पृ० ३५२

सकती हैं। अब अपने निर्वाह के लिये उन्हें पति पर निर्भर रहने अथवा विवाह करने की पहले जैसी अनिवार्य आवश्यकता नहीं रही। आज हिन्दू परिवारों में ऐसी स्त्रियों की संख्या कम नहीं है, जो अपने पैरों पर खड़ा होने के लिये विद्याभ्यास करती हैं। हाटे के अन्वेषण में ३७ प्रतिशत स्त्रियों ने अपनी शिक्षाप्राप्ति का लक्ष्य आर्थिक स्वतन्त्रता की प्राप्ति बताया है[३१]।

स्त्रियों की आर्थिक स्वतन्त्रता पश्चिम में पारिवारिक जीवन की स्थिरता कम करने तथा तलाकों की संख्या बढ़ाने का एक कारण है। पहले स्त्रियां आर्थिक अवलम्ब प्राप्त करने के लिये विवाह करती थीं; अब इस के साथ साथ प्रेम और सहानुभूति पाने के लिये दाम्पत्य जीवन अंगीकार करती हैं। पहले प्रेम न मिलने पर भी कोई और चारा न होने से स्त्रियां विवाहविच्छेद की कल्पना नहीं करती थीं, अब आजीविका मिलने का विश्वास होते ही स्त्रियां तलाक द्वारा दुःखमय पारिवारिक जीवन से तलाक द्वारा मुक्ति प्राप्त करने का यत्न करती हैं[३२]। आर्थिक स्वतन्त्रता एक अन्य रीति से भी परिवार के विघटन में सहायक होती है। संयुक्त राज्य अमरीका में विवाह से पहले स्वतन्त्र कमाई करने वाली युवतियों में सत्तर से अस्सी प्रतिशत विवाह के बाद यह अनुभव करती हैं कि वे अब पहले जैसा जीवनस्तर नहीं रख सकतीं[३३]। इस कारण वे वैवाहिक बन्धन से मुक्त होने का प्रयत्न करती हैं।

किन्तु इस सम्बन्ध में यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि साधारण रूप से मध्यम एवं उच्च वर्गों में विवाह के बाद स्त्रियां प्रायः आर्थिक दृष्टि से पति पर अवलम्बित होती हैं। हमारे देश में बेकारी अधिक होने से स्त्रियों के लिये काम प्राप्त करना सुगम नहीं है। स्त्री को इस बात में अधिक सुविधा और सुख है कि वह कमाई करने के झंझट से बची रहे। अतः अत्यन्त सुशिक्षित और समानाधिकारवादी हिन्दू युवतियां भी प्रायः यह चाहती हैं कि उनका विवाह धनीकुल में हो। स्त्रियों द्वारा स्वतन्त्र कमाई के साधन भारत में सीमित और अत्यल्प होने के कारण आर्थिक स्वावलम्बन अभी तक हिन्दू परिवार की स्थिरता को बहुत कम नहीं कर सका।

**(ई) वरण स्वातन्त्र्य**—शिक्षा से व्यक्तित्व का विकास होने के बाद स्त्रियां

---

३१. हाटे—पू० पु०, पृ० ३१

३२. इलियट एण्ड मैरिल—पू० पु०, पृ० ३४७

३३. वही।

अपना जीवनसाथी चुनने की स्वतन्त्रता चाहने लगी हैं। प्राचीन काल में स्वयं-वर एवं गन्धर्वविवाह प्रचलित थे, किन्तु मध्ययुग में बालविवाहों के प्रसार के बाद कन्या का विवाह निश्चित करना माता पिता का ही काम समझा जाने लगा। स्त्रियों में वर्त्तमान शताब्दी में शिक्षाप्रसार से पूर्व हिन्दू परिवार में माता पिता द्वारा कन्या की शादी करना सार्वभौम नियम था; किन्तु अब शिक्षाप्राप्त स्त्रियां माता पिता के इस विशेषाधिकार में हस्तक्षेप करने लगी हैं। हाटे की गवेषणा में ७४ प्रतिशत कन्याओं ने यह बताया कि वे अपना जीवनसंगी स्वयं चुनना चाहती हैं[३४]। शिक्षित कन्या की यह इच्छा होना स्वाभाविक ही है कि जीवन के ऐसे महत्वपूर्ण प्रश्न में उसकी इच्छा का पूरा ध्यान रखा जाना चाहिये। इसके अतिरिक्त, इस प्रवृत्ति के बढ़ने के कुछ अन्य कारण भी हैं। यद्यपि माता-पिता सदैव अपनी कन्या के सुख का ध्यान रखते हैं, तथापि ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं है कि लाचारी में अथवा धन के लोभ में माता पिता अपनी कन्या का बेमेल विवाह करके उसे जीवन भर के लिये दुःखी बना देते हैं। हाटे ने इस विषय के अनेक हृदयविदारक उदाहरण दिये हैं, एक अभागी कन्या माता पिता द्वारा एक बूढ़े के साथ शादी किये जाने पर एक वर्ष में ही विधवा हो गयी, दूसरी कन्या का एक शराबी और दुश्चरित्र के साथ विवाह करके उसका जीवन दुःखमय बना दिया गया[३५]। स्त्रियों को इससे बचने का उपाय वरणस्वातन्त्र्य ही प्रतीत होता है।

किन्तु इस मार्ग के अवलम्बन में दो बड़ी कठिनाइयां हैं। पहली तो यह कि माता पिता की अपेक्षा अदूरदर्शी और अल्प एवं अपरिपक्व बुद्धि के कारण कन्या अपने चुनाव में ऐसी भयंकर भूलें कर सकती है, जिनके लिये उसे जीवन पर्यन्त पश्चात्ताप करना पड़े। पर अपनी भूल होने से शायद उसका पछतावा उतना असह्य न हो, जितना माता पिता की भूल का होता है। दूसरी कठिनाई यह है कि पश्चिमी देशों के क्लबों की भांति अभी तक हमारे देश में युवक युवतियों के एक दूसरे से मिलने और परिचय प्राप्त करने के कोई केन्द्र नहीं हैं। सहशिक्षा वाले कालेज ही इस कार्य को पूरा कर रहे हैं। फिर भी शिक्षित हिन्दू कन्याओं में इस प्रवृत्ति के प्रबल होने में कोई संदेह नहीं, युवकों में यह भावना कन्याओं से भी अधिक है। इससे हिन्दू परिवार में विवाह के विषय में माता पिता

---

३४. हाटे—पू० पु०, पृ० २३९

३५. वही—पृ० ४४-४५

का पुराना अमर्यादित प्रभुत्व समाप्त हो रहा है, वे विवाह में सन्तान की इच्छा का बहुत ध्यान रखने लगे हैं।

**(उ) परिवार में समान स्थिति की मांग**—वर्त्तमान काल में स्त्रीशिक्षा के प्रसार से पूर्व हिन्दू पति-पत्नी के मानसिक धरातल में आकाश पाताल का अन्तर होता था। बचपन में विवाहित एवं अशिक्षित होने से पत्नी पति के साथ समता के विचार की कल्पना नहीं कर सकती थी। स्त्रीशिक्षा से इस स्थिति में बड़ा अन्तर आ रहा है। पहले यह बताया जा चुका है कि वैदिक युग में पति के साथ समानाधिकार रखने वाली ( पृ० ८९-९० ) और अर्धांगिनी समझी जाने वाली पत्नी की स्थिति परवर्ती युगों में किन कारणों से हीन हुई (दे० ऊ० पृ० ९१-९९), इन में एक कारण स्त्रियों की अशिक्षा भी था। वह अब दूर हो रहा है। शिक्षित स्त्री में स्वाभिमान और व्यक्तित्व का उदय होने से, वह पति के तुल्य स्थिति की मांग करने लगी है। श्रीमती हाटे के शब्दों में 'स्त्री की हीन स्थिति का अवश्य अन्त होना चाहिये, यथोचित सम्मान सहित उसके साथ बराबर दर्जे के साथी और गृहस्वामिनी का सा व्यवहार होना चाहिये'[३६]। इस प्रवृत्ति से हिन्दू परिवार में पति की प्रभुता का अन्त होकर वैदिक काल के सखायुग के प्रत्यावर्त्तन की संभावना प्रतीत होती है। पाण्डु ने कुन्ती को कहा था—'पति पत्नी को धर्मानुकूल या धर्मविरुद्ध जो बात कहे, भार्या को उस पर आचरण करना चाहिये'[३७]। आधुनिक युग की शिक्षित नारी इस स्थिति को स्वीकार करने के लिये तय्यार नहीं है।

**(ऊ) काम करने वाली स्त्रियों की समस्यायें**—शिक्षा प्राप्त करने के बाद हिन्दू परिवार में जीविका उपार्जन करने वाली स्त्रियों की संख्या बढ़ रही है। श्रीमती हाटे के अनुसन्धान में १५२ अथवा १९ प्रतिशत स्त्रियां शासन, चिकित्सा, अध्यापन, गवेषणा, क्लर्की, नर्सिंग आदि का कार्य कर रही थीं[३९]। इन में १०२ अथवा ६७% को यह कार्य अपने अथवा परिवार के भरण-पोषण के लिये लाचारी में करना पड़ रहा था। पांच स्त्रियां ऐसी थीं, जो घर में खाली बैठने से बचने के लिये नौकरी कर रही थीं। काम करने वालों में केवल एक

---

३६. हाटे—पू० पु० पृ० २४०

३७. महाभा० १।१२२।६ भर्त्ता भार्यां राजपुत्रि धर्म्यं वाऽधर्म्यमेव वा। यद् ब्रूयात्तत्तथा कुर्यादिति वेदविदो विदुः॥

३९. हाटे—वही पृ० ६७, ६९

स्त्री का लक्ष्य आर्थिक स्वाधीनता प्राप्त करना था। अतः यह स्पष्ट है कि मध्यमवर्गीय हिन्दू परिवार में स्त्रियां लाचारी में जीवननिर्वाह के लिये घर से बाहर काम करती हैं। संयुक्त राज्य अमरीका में भी अधिकांश स्त्रियों के काम करने का यही कारण है[४०]।

काम करने वाली स्त्री के सम्मुख निम्न समस्यायें आती हैं—(१) डाक्टरी, शिक्षण, वकालत, व्यापारादि किसी व्यवसाय की विशेष शिक्षा ग्रहण करने के बाद क्या वह अविवाहित रह कर यह व्यवसाय करे या विवाह करे[४१]। (२) यदि वह शादी का विचार नहीं छोड़ सकती तो क्या वह विवाह के बाद अपना चिकित्सा, शिक्षणादि का कार्य छोड़ कर गृहकार्य में ही सन्तोष एवं आनन्द का अनुभव करेगी। क्या उसका सुशिक्षित मन घर के प्रतिदिन दोहराये जाने वाले क्षुद्र कार्यों में जीर्ण हो जायगा अथवा वह प्राप्त शिक्षा द्वारा घरेलू कामों को अपनी सृजनात्मक प्रतिभा से ऐसा नवीन रूप प्रदान करेगी जो परिवार के कल्याण और सुख को बढ़ाने वाला होगा। (३) यदि उसे विवाह के बाद गृहकार्य नीरस और निरर्थक प्रतीत होता है तो क्या वह परिवार से बाहर पूरे समय की नौकरी कर दोहरा भार उठाने को तय्यार होगी? अथवा वह घर से बाहर केवल थोड़े समय का ही काम स्वीकार करेगी? या वह ऐसे अर्थप्रद कामों (उदा० साहित्य निर्माण) को करेगी जो उसे मानसिक आनन्द देने के साथ परिवार की आय में भी वृद्धि करें। (४) बच्चों के सम्बन्ध में क्या दृष्टिकोण होगा? क्या वह अपना व्यवसाय करने की दृष्टि से निःसन्तान रहना चाहेगी? अथवा सन्तान की आकांक्षा रखेगी। कितनी सन्तानें उसे अभीष्ट होंगी? सन्तानों के होने पर उसके बाहर के काम का बच्चों के मानसिक विकास, शारीरिक स्वास्थ्य और सुख पर क्या प्रभाव पड़ेगा? क्या वह घर से बाहर पूरा काम करते हुए उत्तम माता बन सकती है[४२]? श्रीमती हाटे की प्रश्नावलि का उत्तर देने वालों में ६६

---

४०. इलियट एण्ड मैरिल—पू० पु० पृ० ३४८

४१. कोलोरेडो विश्वविद्यालय के ५०९ छात्रों के एक अध्ययन से प्रतीत हुआ है कि ६२% लड़कियां विवाह को व्यवसाय (Career) से अधिक महत्व देती हैं, केवल ५% ने व्यवसाय को विवाह से श्रेष्ठ समझा, शेष ३३% दोनों को चाहती थीं। १२८६ स्त्रियों के एक अन्य अध्ययन से यह ज्ञात हुआ कि ७५% स्त्रियां विवाह अधिक गृहजीवन को और अच्छा समझती हैं (बेबर—मैरिज एण्ड दी फैमिली पृ० ३९३)।

४२. न्यूयार्क विश्वविद्यालय की छात्राओं में बेबर द्वारा किये अनुसन्धान

स्त्रियों में से ४५ सन्तानवती थीं। इनमें २३ ने यह उत्तर दिया कि वे काम के साथ-साथ अपने बच्चों की ठीक देख-भाल कर रही हैं और नौ ने यह स्वीकार किया कि इसमें उन्हें कुछ कठिनाई है[४३]।

वस्तुतः उपर्युक्त समस्यायें बहुत जटिल हैं और पश्चिमी देश अभी तक इन का पूरा समाधान नहीं कर सके। अनेक समाजशास्त्रियों के मत में सन्तान होने पर माता का घर से बाहर काम करना बच्चे के विकास की दृष्टि से हितकर नहीं है। "जब माता दिन भर घर से बाहर रहती है तो बच्चा न केवल परिवार की देखभाल से वंचित हो जाता है, किन्तु उसकी संभावित अपराधी वृत्ति से बच्चे का भविष्य भी खतरे में पड़ जाता है।...ऐसे बच्चे हमारे समाज में अनुपयुक्त लोगों (Misfits) का बड़ा स्रोत रहे हैं, जो अतीत में हमारी जेलों और सुधार गृहों को भरते रहे हैं। महत्वाकांक्षी स्त्रियों को इस बात का अनुभव कराया जाना चाहिए कि आर्थिक कार्य की अपेक्षा सन्तान के प्रति उनका कर्त्तव्य अधिक महत्वपूर्ण है। आधुनिक जीवन ने अभी तक इस प्रश्न का उत्तर नहीं दिया कि स्त्रियों के व्यक्तिरूप का तथा उनके मातृकार्य का समन्वय कैसे हो सकता है। यह भी सत्य नहीं है कि बच्चों के १४ या १६ वर्ष से अधिक आयु का होने पर मातायें घर से बाहर काम पर जा सकती हैं। अधिकांश अपराधी कन्यायें १४ से १६ वर्ष की आयु के बीच की होती हैं और प्रत्येक माता को यह समझना चाहिये कि कन्या की इस अवस्था में माता का उत्तरदायित्व घटता नहीं, किन्तु बढ़ता है"[४४]।

**(ऋ) परिवार का आकार छोटा होना**—पहले यह बताया जा चुका है कि वैदिक युग के हिन्दू परिवार में पत्नी को दस पुत्र उत्पन्न करने का आशीर्वाद दिया जाता था[४५], किन्तु वर्त्तमान युग में शिक्षित महिलायें बहुत कम सन्तानें

---

से ज्ञात होता है कि वहां ७५% लड़कियां विवाह के बाद सन्तान होने तक काम करना चाहती हैं, केवल २०% कन्यायें ही ऐसी थीं, जो बच्चों के ४-५ वर्ष का होने पर भी काम करने की इच्छुक थीं। बच्चों के छोटा होने पर १४ लड़कियों में एक ही ऐसी थी, जो पूरे समय के लिये काम करने को उद्यत थी। (बेबर-पू० पु० ३९३)

४३. हाटे पू० पु० ७४

४४. इलियट एण्ड मैरिल —पू० पु० पृ० ३४८-४९

४५. ऋ० १०।८५।४५ दशास्यां पुत्रानाधेहि पतिमेकादशं कृधि। योद्धा

चाहने लगी हैं और गर्भनिरोध के साधनों ने उन्हें अपनी सन्तान-संख्या मर्यादित करने का एक निश्चित और सुगम उपाय प्रदान किया है। संयुक्त राज्य अमरीका के कुछ आंकड़ों से यह बात भलीभांति स्पष्ट हो जायगी, इनसे यह ज्ञात होता है कि पत्नी की शिक्षा जितनी अधिक होती है, सन्तान-संख्या उतनी कम होती है। १९४० की अमरीकी जनगणना के अनुसार पांच वर्ष से कम की प्रारम्भिक शिक्षा रखने वाली प्रति सहस्र पत्नियों के ७२० बच्चे थे और कालेज में एक या दो वर्ष की शिक्षा ग्रहण करने वाली विवाहिता स्त्रियों में हजार के पीछे केवल २७८ बच्चे थे[४६]। अमरीकी परिवार में १८ वीं शती में एक सामान्य परिवार में सात या आठ बच्चे होते थे, आज यह संख्या घट कर दो या तीन रह गयी है[४७]। पिछले पचास वर्षों में पश्चिमी देशों में जन्मदर इतनी घटने लगी है कि वहां इंगलैण्ड जैसे राष्ट्रों की जनसंख्या के भविष्य के सम्बन्ध में बड़ी चिन्ता उत्पन्न हो गयी है[४८]।

पश्चिम में शिक्षित स्त्रियों द्वारा परिवार में सन्तान कम चाहे जाने के अनेक कारण हैं। ये महिलायें अपने जीवन को सन्तानोत्पादन और इसके पालन तक ही सीमित नहीं समझतीं; अपने वैयक्तिक आनन्द और व्यवसाय में बच्चों को बाधक समझती हैं। शिक्षा के साथ उनके रहन सहन का स्तर ऊँचा उठ जाता है, बच्चे होने पर उनकी प्रसूति, पालन पोषण और शिक्षा पर होनेवाला भारी

---

एवं कृषिजीवी समाजों में अधिक पुत्रों की आकांक्षा सर्वथा स्वाभाविक है और यह प्राचीन एवं मध्यकाल में हिन्दू समाज के अतिरिक्त अन्य समाजों में भी पायी जाती थी। यहूदियों में बच्चे जिहोवा (भगवान्) का वरदान माने जाते थे और यह समझा जाता था कि बच्चे शक्तिशाली व्यक्ति के हाथों में तीरों की तरह हैं, वह मनुष्य भाग्यशाली होता है जिसका तरकस तीरों (बच्चों) से भरा होता है (ओल्ड टेस्टामेण्ट–साम्स १२७-३-५)। रोम में सिपियो अफ्रीकेनस की लड़की कॉर्नीलिया के १२ बच्चे थे। जब उससे किसी ने पूछा कि तुम रत्नजटित आभूषण क्यों नहीं पहनती तो उसने उत्तर दिया कि बच्चे ही मेरे रत्न हैं।

४६. इलियट एण्ड मैरिल—पू० पु०, पृ० ३५३

४७. बेबर—मैरिज एण्ड दी फैमिली, पृ० ९, एल्मर—दी सोश्योलोजी आफ दी फैमिली, पृ० १४२

४८. १९५१ की भारतीय जनगणना की रिपोर्ट सं० १, भाग १, पृ० १७७-७८

व्यय जीवनस्तर को गिराने वाला होगा[४९], अतः सन्तान की कामना बहुत कम की जाती है। मनु (९।९६) ने यह कहा था कि स्त्रियों का निर्माण प्रजनन के लिए किया गया है (प्रजनार्थं स्त्रियः सृष्टाः), किन्तु आधुनिक नारी मातृत्व को आवश्यक नहीं, ऐच्छिक कर्त्तव्य मानती है। इसे वर्त्तमान काल की शोचनीय आर्थिक एवं राजनैतिक दशा भी पुष्ट करती है। शिक्षित महिलाओं का यह सोचना स्वाभाविक है कि युद्ध में कटने के लिये अथवा भूखे मरने के लिये बच्चे क्यों पैदा किये जायं। गर्भनिरोध के साधनों ने उसे इस विषय में पूरी सुविधा प्रदान की है। शिक्षित स्त्रियों की सन्तान कम होने का एक कारण यह भी है कि वे गर्भनिरोध के साधनों का प्रयोग अशिक्षित स्त्रियों की अपेक्षा अधिक सुचारु रूप से कर सकती हैं।

---

४९. वर्त्तमान अमरीकी पत्नी का यह दृष्टिकोण जनवरी १९३३ की फोरम पत्रिका (पृ० ५२-५४) में लिखे एक स्त्री के निम्न पत्र से स्पष्ट होगा। इसमें उसने यह शिकायत की है कि बच्चे बीस वर्ष की आयु तक माता पिता का बहुत रुपया व्यय कराते हैं और उसका कुछ प्रतिफल दिये बिना घर छोड़ कर चले जाते हैं। "कल्पना कीजिए, हमारा एक बच्चा होता है। इस समय हम न्यूयार्क में सुखपूर्वक तीन कमरे के मकान में रहते हैं, जो पति के और मेरे दफ्तर से १० और १२ मिनट की दूरी पर है। इसका किराया ७० डालर मासिक है और हम इससे अधिक नहीं दे सकते। अब यदि बच्चा होता है तो मुझे अपना काम छोड़ना पड़ेगा, हमारी आय में एक तिहाई की कमी हो जायगी और इसके साथ ही इस मकान से काम न चलने पर दूसरा मकान लेना पड़ेगा। यह शहर से बाहर होगा और पति का दफ्तर आने जाने का खर्च बढ़ जायगा। .....मुझे बच्चे की बहुत देखभाल करनी पड़ेगी। हम लोग कभी थियेटर नहीं जा सकेंगे, जो इस समय हमारा प्रधान मनोरंजन है। हम अपने मेहमानों के साथ रात के भोजन से पहले बढ़िया मार्टीनी (एक प्रकार का स्वादिष्ट पेय) तथा भोजनोपरान्त स्कॉच ह्विस्की नहीं पी सकेंगे। संगीत सम्मेलनों में जाने का और पुस्तकें खरीदने का आनन्द प्राप्त करना असंभव हो जायगा। निःसन्देह, शनैः शनैः हमें अन्य सुखों को भी छोड़ने के लिये बाधित होना पड़ेगा"। इस मनोवृत्ति पर टिप्पणी करते हुए बेबर ने ठीक ही लिखा है कि थियेटर और शराब को बच्चों से अधिक महत्व देना व्यष्टिवाद की पराकाष्ठा है और यह सूचित करता है कि ऐसी स्त्रियों में मातृत्व की भावना का सर्वथा अभाव है (बेबर—पू० पु०, पृ० ५१६-१७)।

हिन्दू परिवार की शिक्षित महिलाओं में उपर्युक्त कारणों से सन्तान कम चाही जाने लगी हैं। सरकार की ओर से गर्भनिरोध के साधनों का प्रचार होने लगा है और महिलाओं को इस विषय में सहायता देने के लिये परिवार-नियोजन-केन्द्र खोले जा रहे हैं। १९५१ की भारत की जनगणना-रिपोर्ट में सरकार द्वारा इस कार्य को बड़े पैमाने पर तथा अत्यन्त उत्साह के साथ करने पर बहुत बल दिया गया है, क्योंकि इस समय हमारे देश की जनसंख्या जिस तेजी से बढ़ रही है उस अनुपात में खाद्यान्नों का उत्पादन नहीं बढ़ रहा है[५०]। इसका परिणाम भुखमरी के अतिरिक्त कुछ नहीं हो सकता। अतः इस बात की आवश्यकता है कि परिवार में स्त्री उतनी ही संख्या में सन्तानें उत्पन्न करे, जिसके भरण-पोषण की व्यवस्था परिवार द्वारा अच्छी तरह हो सकती हो। जनगणना रिपोर्ट के लेखक श्री गोपाल स्वामी के मत में यह संख्या तीन है। तीन बच्चों के पालन-पोषण की व्यवस्था भली भांति हो सकती है, अतः इन का मातृत्व व्यवस्थित समझना चाहिये, इससे अधिक बच्चों का उत्पादन अव्यवस्थित मातृत्व (Improvident Maternity) है[५१]। इस समय हमारे देश में जन्म-संख्या की दर प्रतिहज़ार व्यक्तियों के पीछे चालीस है, इनमें १७ अव्यवस्थित मातृत्व का परिणाम हैं, अतः यह दर घट कर २३ होनी चाहिये[५२]। अन्यथा ३० वर्ष बाद हमारे देश की जनसंख्या ३६ से ५२ करोड़ हो जायगी और बंगाल के अकाल जैसे भीषण दुर्भिक्ष ही इसे कम करेंगे। इससे बचने का एकमात्र उपाय गर्भनिरोध के साधनों का देश में व्यापक रूप से अवलम्बन है[५३]। योजना कमीशन ने भी इस पर बहुत बल दिया है[५४]।

इसमें कोई संदेह नहीं है कि भावी हिन्दू परिवार में उपर्युक्त कारणों से शिक्षित एवं अशिक्षित दोनों प्रकार की महिलाओं में सन्तान की संख्या कम करने की प्रवृत्ति बढ़ेगी।

**(ख) यौन नैतिकता के दोहरे मानदण्ड की समाप्ति**—मनुस्मृति में यौन-

---

५०. १९५१ की जनगणना रिपोर्ट खं० १ भाग १ पृ० १५७-७५, पृ० २०८। १९५४ में खाद्यान्नों की दृष्टि से भारत के स्वावलम्बी हो जाने से इस रिपोर्ट में दिये आंकड़े पूरी तरह सही नहीं हैं।

५१. वहीं पृ० ८७-८८

५२. वही पृ० २१७

५३. वही पृ० २१९-२५

५४. वही पृ० २१३-१६

नैतिकता के सर्वोत्तम आदर्श का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि संक्षेप में पति-पत्नी का परम धर्म यह है कि दोनों आमरण एक दूसरे के प्रति सच्चे रहें[५५]। किन्तु पहले (पृ० १६२-६३) यह बताया जा चुका है हिन्दू परिवार में इस आदर्श का पालन नहीं होता रहा, पत्नी से पातिव्रत्य और सतीत्व की रक्षा की आशा की जाती रही है, किन्तु पति का एकपत्नीव्रत होना आवश्यक नहीं रहा। इस प्रकार पुरुषों और स्त्रियों के लिये यौन नैतिकता के आदर्श एक जैसे नहीं रहे। पति को यौन स्वातन्त्र्य देने वाली तथा पत्नी पर सतीत्व का बन्धन लगाने वाली नैतिकता का दोहरा मानदण्ड (Double Standard of Morality) न केवल हिन्दू समाज में, अपितु प्रायः सभी प्राचीन एवं मध्यकालीन समाजों में प्रचलित था, पहले यह बताया जा चुका है कि इस प्रकार की व्यवस्था के क्या क्या कारण थे (दे० ऊ० पृ० १६४-१७१)। वर्त्तमान युग में स्त्रियां इस दोहरी व्यवस्था का अन्त कर पति-पत्नी दोनों पर संयम का बन्धन समान रूप से लगाना चाहती हैं और उन्हें नवीन परिस्थितियों से इसमें बड़ी सहायता मिल रही है।

पुराने जमाने में दोहरी नैतिकता के दो मुख्य आधार थे—धर्म और गर्भ की आशंका। शास्त्रकारों ने पातिव्रत्य की गरिमा के गीत गाकर पत्नी को सतीत्व का आदर्श निबाहने की प्रबल प्रेरणा प्रदान की (दे० ऊ० पृ० १५२-१५६) और स्त्रियों ने पातिव्रत्य की भावना के अतिरिक्त, गर्भधारण की सम्भावना तथा उससे उत्पन्न होने वाली तीव्र लोकनिन्दा और सामाजिक तिरस्कार की भीति से दोहरी नैतिकता स्वीकार की। किन्तु वर्त्तमान युग में बुद्धिवाद और विज्ञान ने धर्म का प्रभाव शिथिल कर दिया है और कृत्रिम गर्भनिरोध के साधन-रबड़ की थैली-ने गर्भधारण की आशंका को निर्मूल कर दिया है। अतः भविष्य में हिन्दू परिवार में नैतिकता के दोहरे मानदण्ड की समाप्ति निश्चित ही है[५६]।

---

५५. मनु० ९।१०१ अन्योन्यस्याव्यभीचारो भवेदामरणान्तिकः। एष धर्मः समासेन ज्ञेयः स्त्रीपुंसयोः परः ॥

५६. संयुक्त राज्य अमरीका में इसका अन्त हो चुका है। पिछले पचास वर्षों में वहां विवाह से पूर्व यौन सम्बन्ध करने वाले स्त्री पुरुषों की संख्या बढ़ रही है। डिकिन्सन की गणना के अनुसार शादी से पहले यौन अनुभव रखने वाली स्त्रियों की संख्या एक निश्चित समूह में २०% थी, १९२९-३० में एक दूसरे समूह में ३३½% और १९३४ में ५०%। हैमिल्टन ने अपनी गवेषणा के

**(ग) समानाधिकारों की मांग**—नारी आन्दोलन स्त्री-पुरुषों के लिये तुल्य स्वत्वों की मांग द्वारा भी हिन्दू परिवार को बहुत प्रभावित कर रहा है। अखिल भारतीय महिला परिषद् प्रतिवर्ष अपने अधिवेशन में इस सम्बन्ध में अनेक प्रस्ताव पास करती रहती है[५७]। इन में परिवार पर प्रभाव डालने वाले अधिकारों की मांग दो बड़े वर्गों में बांटी जा सकती है—(क) दाम्पत्य अधिकारों में समानता (ख) साम्पत्तिक स्वत्वों में समता। यद्यपि नवीन भारतीय संविधान में नर-नारी की समानता को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है, किन्तु हिन्दू परिवार में वैवाहिक एवं साम्पत्तिक अधिकारों के क्षेत्र में नर नारी के स्वत्वों में कुछ अंशों में वैषम्य है, नये कानूनों द्वारा इन्हें दूर करने का प्रयत्न हो रहा है। यहां इन का संक्षिप्त उल्लेख किया जायगा।

हिन्दू परिवार में पति-पत्नी के वैवाहिक अधिकारों में विषमता का पहले उल्लेख किया जा चुका है ( दे० ऊ० पृ० ११२-१८ )। वर्त्तमान व्यवस्था के अनुसार पति एक पत्नी के जीवित रहते हुए दूसरा विवाह (अधिवेदन) कर सकता है। यद्यपि प्राचीन शास्त्रकारों ने उस के इस अधिकार पर अनेक प्रतिबन्ध लगाये थे ( दे० ऊ० पृ० ११६ ), तथापि उनका पालन हिन्दू समाज में बहुत कम होता है। इस का यह परिणाम हुआ है कि आजकल पति को यथेच्छ विवाह करने की स्वतन्त्रता प्राप्त है, किन्तु पत्नी एक पुरुष के साथ परिणीत होने पर आजीवन दूसरा विवाह नहीं कर सकती, क्योंकि हिन्दू विवाह द्वारा उसका पति के साथ अविच्छेद्य सम्बन्ध समझा जाता है। शास्त्रकारों की व्यवस्था के अनुसार पति-पत्नी के कुलटा, शराबी, प्रतिकूल, रोगिणी, हिंस्र या अपव्ययी होने ( मनु ९।८० मि० याज्ञ० १।७३ ), अथवा अप्रियवादिनी या वन्ध्या होने पर

---

५४% पुरुषों तथा ३५% स्त्रियों को प्राग्वैवाहिक यौन सम्बन्ध वाला पाया था ( सेट—न्यू होराईजन्स फार दी फैमिली पृ० ५४३)। विवाहित स्त्री-पुरुषों के विवाह-बाह्य (Extra Marital) सम्बन्धों की भी यही दशा है। हैमिल्टन के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि उसे उत्तर देने वालों में न केवल २८% पुरुष, किन्तु २४% स्त्रियां व्यभिचार कर चुकी थीं। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण बात यह थी कि उसके अध्ययन में आने वाले २०० विवाहित स्त्री-पुरुषों में से केवल दस पुरुष और सोलह स्त्रियां ही ऐसी थीं, जो व्यभिचार को पूर्ण रूप से अनुचित समझती थीं ( सेट—पू० पु० पृ० ५४७)

५७. इन के लिये दे० हाटे—पू० पु०, पृ० २७३-७७

उसे छोड़ सकता है, ( मनु० ९।८१ ), किन्तु पत्नी को पति के जीवन काल में या मर जाने पर भी पति की कोई अप्रिय बात नहीं करनी चाहिये, पति की मृत्यु पर उसे कभी परपुरुष का नाम भी नहीं लेना चाहिये और आजीवन ब्रह्मचारिणी रहना चाहिये[५८]। स्पष्टतः यह व्यवस्था स्त्रियों के प्रति अन्याय मूलक है। इसका अन्त करने के लिये हिन्दू महिलायें यह चाहती हैं कि स्त्री और पुरुष दोनों पर समान रूप से एकविवाह ( Monogamy ) का बन्धन लगा दिया जाय और दोनों को असाधारण दशाओं में दुःखमय विवाहों से मुक्ति पाने के लिये तलाक का अधिकार दिया जाय[५९]। हिन्दू कोड बिल में यह दोनों व्यवस्थायें सम्मिलित की गयीं थीं, उस बिल को छोड़ देने के बाद १९५२ के हिन्दू विवाह और विच्छेद बिल में इन का समावेश किया गया है। यद्यपि अभी तक यह बिल पास नहीं हुआ, किन्तु प्रधान मन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरू के कथनानुसार यह बिल शीघ्र ही पास हो कर कानून का रूप धारण करेगा। इस से पति पत्नी के वैवाहिक अधिकारों में समानता स्थापित हो जायगी। हिन्दू विवाह-बिल पास न होने तक इस वर्ष ( १९५४ ) पास हुए विशेष विवाह कानून के अनुसार विवाह करने वाले हिन्दुओं पर एक-विवाह का नियम लागू होगा और इस में बतायी गयी अवस्थाओं के अनुसार वे तलाक भी प्राप्त कर सकेंगे।

हिन्दू परिवार में नर-नारी के साम्पत्तिक अधिकारों में कुछ विषमतायें हैं। इनमें निम्न उल्लेखनीय हैं—(१)पुत्री का पिता की सम्पत्ति में उत्तराधिकारी न होना (२) पति से प्राप्त सम्पत्ति पर पत्नी का सीमित स्वत्व। इस वैषम्य को दूर करने के लिये गतवर्षों में सब से बड़ा प्रयत्न हिन्दू कोड बिल द्वारा प्रस्तावित किया गया था, इसका विचार स्थगित कर दिये जाने पर भी अनेक नवीन बिल इस के आधार पर प्रस्तुत किये जा रहे हैं। इनका हिन्दू परिवार के कानूनी स्वरूप पर गहरा असर पड़ना अवश्यम्भावी है, अतः यहां इन की चर्चा आवश्यक जान पड़ती है।

**हिन्दू परिवार पर प्रभाव डालनेवाले नये बिल (क) हिन्दू कोड**—इस के

---

५८. मनु० ५।१५६-५८,पाणिग्राहस्य साध्वी स्त्री जीवतो वा मृतस्य वा। पतिलोकमभीप्सन्ती नाचरेत्किंचिदप्रियम्॥ कामं तु क्षपयेद्देहं पुष्पमूलफलैः शुभैः। न तु नामापि गृह्णीयात्पत्यौ प्रेते परस्य तु॥ आसीतामरणात्क्षान्ता नियता ब्रह्मचारिणी। यो धर्म एकपत्नीनां कांक्षन्ती तमनुत्तमम्॥

५९. हाटे पू० पु०, पृ० ८९-९०

उद्भव का इतिहास बड़ा रोचक है। १९३७ में 'हिन्दू स्त्रियों का सम्पत्ति पर अधिकार' का कानून पास होने के बाद यह अनुभव किया गया कि समूचे हिन्दू कानून को समयानुकूल बनाने के लिये उसके सभी अंगों का संशोधन तथा संहिताबद्ध होना ( Codification ) आवश्यक है। १९४१ ई० में भारत सरकार ने स्व० बेनेगल नरसिंह राव की अध्यक्षता में एक समिति इस उद्देश्य से बनाई कि वह हिन्दू कोड बनाने की वांछनीयता पर रिपोर्ट करे। समिति ने अपनी रिपोर्ट में क्रमिक दशाओं में हिन्दू कानून की संहिता ( कोड) बनाने की सिफारिश की और वसीयत हीन उत्तराधिकार तथा विवाह सम्बन्धी दो विधेयकों के प्रारूप ( Draft ) भी तय्यार किये। इसके बाद इस समिति का कार्य समाप्त हो गया। केन्द्रीय व्यवस्थापिका परिषद् में इन बिलों के उपस्थित होने पर यह वाञ्छनीय समझा गया कि समूचे हिन्दू कानून का संशोधन कर एक व्यापक हिन्दू कोड तय्यार किया जाय और इस कार्य को करने के लिये २० जनवरी १९४४ के एक प्रस्ताव द्वारा पूर्वोक्त राव समिति को पुनरुज्जीवित किया गया। फरवरी १९४४ में इस समिति ने कार्य आरम्भ किया, दो वर्ष तक लोकमत जानने के लिये यह समिति देश का परिभ्रमण करती रही। मार्च १९४७ में राव समिति ने अपनी अन्तिम रिपोर्ट और हिन्दू कोड बिल भारत सरकार के सम्मुख प्रस्तुत किया। ११ एप्रिल १९४७ को यह बिल लोक सभा में पेश हुआ, ९ एप्रिल १९४८ को इसे निर्वाचित समिति को सौंपा गया, १२ अगस्त १९४८ को निर्वाचित समिति ने इस पर अपनी रिपोर्ट दी। ३१ अगस्त १९४८ को इस रिपोर्ट पर लोक सभा में विचार करने का प्रस्ताव पेश हुआ। इस बिल के लिये बहुत थोड़ा समय मिलने के कारण तथा उग्र विरोध होने से १९ दिसम्बर १९४९ तक लोकसभा ने केवल इतना ही प्रस्ताव पास किया कि निर्वाचित समिति द्वारा संशोधित बिल पर विचार किया जाय। यह स्पष्ट था कि इस मन्थर गति से समूचा कोड कभी पास नहीं हो सकता। इस बीच में लोक सभा के नये निर्वाचन हुए और भारत सरकार ने हिन्दू कोड बिल को अनेक बिलों में खण्डशः विभक्त

---

६०. हिन्दू कोड बिल के पक्ष और विपक्ष में बहुत साहित्य निकला है। पक्ष में इसका संक्षिप्त और सर्वोत्तम प्रतिपादन टोपे तथा उरसेकर के 'हमारा हिन्दू कोड' ( धर्म निर्णय मण्डल लुनावला ) में तथा भारत सरकार द्वारा प्रकाशित 'हिन्दू कोड बिल और उसका उद्देश्य' तथा हिन्दू ला कमेटी की रिपोर्ट में है। विपक्ष में श्री करपात्री जी का 'हिन्दू कोड बिल प्रमाण की कसौटी पर' उल्लेखनीय है।

कर उन्हें पास कराने की नीति ग्रहण की। इस के अनुसार अब तक हिन्दू विवाह और तलाक, हिन्दू नाबालिगी और संरक्षकता तथा वसीयतहीन हिन्दू उत्तराधिकार के तीन बिल सरकारी गज़ट में प्रकाशित हो चुके हैं। दत्तक पुत्र लेने, भरण-पोषण तथा संयुक्त परिवार के सम्बन्ध में तीन बिल अभी तक अवशिष्ट हैं। यद्यपि हिन्दू कोड बिल अब समाप्त हो चुका है तथापि इस सम्बन्ध के नये बिल हिन्दू कोड पर आधारित हैं। अतः यहां हिन्दू कोड बिल द्वारा तथा बाद में अन्य बिलों द्वारा प्रस्तावित परिवर्त्तनों की संक्षिप्त चर्चा की जायगी।

निर्वाचित समिति द्वारा संशोधित हिन्दू कोड बिल द्वारा हिन्दू परिवार के सम्बन्ध में निम्न मौलिक परिवर्त्तन प्रस्तावित किये गये थे—

**(क) मिताक्षरा परिवार की समाप्ति**—पहले यह बताया जा चुका है कि इस समय हिन्दू परिवार के दो सम्प्रदाय हैं—मिताक्षरा और दायभाग (दे०ऊ० पृ० २८९-९५); इन में मिताक्षरा परिवार की यह विशेषता है कि उसमें पैतृक सम्पत्ति में पुत्रों के स्वत्व की उत्पत्ति उनके जन्म से मानी जाती है। परिवार के किसी एक सदस्य की मृत्यु होने पर, सम्पत्ति उस व्यक्ति के उत्तराधिकारियों को नहीं मिलती, किन्तु उसके बाद जीवित रहनेवाले समांशियों (Surviving Coparceners) को प्राप्त होती है। पैतृक सम्पत्ति किसी हिन्दू की वैयक्तिक सम्पत्ति नहीं होती, किन्तु पिता, पुत्र, पौत्र प्रपौत्र उसके भागीदार होते हैं।

प्रस्तावित कोड की धारा ८६ के अनुसार मिताक्षरा की इस विशेषता का अन्त करते हुए कहा गया है कि भविष्य में परिवार में जन्म लेने से सम्पत्ति पर स्वत्व नहीं माना जायगा। दूसरे शब्दों में, इसमें दायभाग का वह सिद्धान्त स्वीकार कर लिया गया है जिसके अनुसार उत्तराधिकार में मिलने वाली सम्पत्ति उसे पाने वाले की वैयक्तिक सम्पत्ति होती है और वह दान या वसीयत द्वारा या अन्य प्रकार से इसका यथेच्छ विनियोग कर सकता है। इस दृष्टि से भविष्य में इस सम्बन्ध में मिताक्षरा नियम का अन्त होकर सर्वत्र दायभाग का नियम लागू होगा।

निःसन्देह हिन्दू परिवार में यह एक मौलिक परिवर्त्तन है; किन्तु यह केवल सैद्धान्तिक दृष्टि से ही है, व्यावहारिक रूप में वर्त्तमान न्यायालय और प्रिवी कौन्सिल संयुक्त हिन्दू परिवार के सदस्यों को अपने हिस्से के अपहार (Alieantion) का अधिकार देकर तथा अपने दत्तक पुत्र सम्बन्धी निर्णयों से और व्यवस्थापिका परिषद् 'हिन्दू विद्याधन' कानून से तथा 'हिन्दू स्त्रियों के सम्पत्ति पर अधिकार' के १९३७ के कानून से मिताक्षरा परिवार का अन्त कर चुकी हैं। इस विषय के प्रसिद्ध विद्वान् श्री काणे के शब्दों में इस समय मिताक्षरा संयुक्त

परिवार का बाहरी आवरण ही अवशिष्ट है, आत्मा नहीं रही, व्यवस्थापिका परिषद् का यह घोषणा करना अधिक अच्छा है कि मिताक्षरा-संयुक्त-परिवार पद्धति समाप्त की जाती है (हि० ध० ३।६७४)। हिन्दू कोड बिल में यही बात की गयी है।

इस परिवर्त्तन के विरोध में सबसे प्रबल युक्ति यह दी जाती है कि यह संयुक्त हिन्दू परिवार की साझी सम्पत्ति का उन्मूलन करने वाला परिवर्त्तन है, किन्तु वस्तुस्थिति का अपलाप करने के कारण यह तर्क निःसार प्रतीत होता है, क्योंकि यह परिवर्त्तन मिताक्षरा परिवार की जिस पैतृक सम्पत्ति का अन्त कर रहा है, उसका क्षेत्र ऊपर बताये न्यायालयों के निर्णयों द्वारा बहुत सीमित हो चुका है। वैयक्तिक और स्वार्जित सम्पत्ति की तुलना में संयुक्त पैतृक सम्पत्ति नाम मात्र रह गयी है, अतः क्रियात्मक दृष्टि से इसका प्रभाव बहुत कम सम्पत्ति पर पड़ेगा। वर्त्तमान मिताक्षरा कानून के अनुसार पिता पारिबारिक कार्यों के लिये ऋण लेकर इस सम्पत्ति का अन्त कर सकता है, पुत्र जब चाहे, इसका विभाग करा सकता है, अजनबी महाजन ऋण की वसूली के लिये इसे छिन्न-भिन्न कराने का अधिकार रखता है, अतः इस समय भी मिताक्षरा परिवार विघटित हो चुका है। यह बिल वस्तुतः आमूलचूल परिवर्त्तनकारी नहीं; किन्तु वर्त्तमान वस्तुस्थिति को कानूनी रूप देने वाला है[६०क]। इससे केवल यही परिवर्त्तन होगा कि संयुक्त परिवार के सदस्यों के अधिकार संयुक्त असामियों (Joint tenants) के स्थान पर सम्मिलित असामियों ( Tenants in common ) के रूप में बदल जायेंगे।

इस बिल की धारा ८८ द्वारा हिन्दू पुत्र के धार्मिक कर्त्तव्य का नियम खंडित किया गया है। इसके अनुसार पिता, पितामह या प्रपितामह द्वारा लिये गये ऋणादि की अदायगी उसके पुत्र, पौत्र या प्रपौत्र से इस आधार पर नहीं की जा सकती कि उसे चुकाना उसका धार्मिक कर्त्तव्य था।

**(ख) उत्तराधिकार सम्बन्धी परिवर्तन**—इन का कोड के सातवें भाग में वर्णन है। इनमें ये व्यवस्थायें महत्वपूर्ण हैं—(अ) उत्तराधिकारियों का क्रम सामान्य रूप से दायभाग जैसा कर दिया गया है, (आ) विधवा, पुत्री, पूर्वमृत पुत्र की विधवा—इन सब को पुत्र के समान ही स्थान दिया गया है तथा पुत्री को पिता की सम्पत्ति में एक हिस्सा देने का नियम बनाया गया है (इ) स्त्री

---

६०क. हिन्दू ला कमेटी की रिपोर्ट, पृ० १६-१७

उत्तराधिकारियों में उनके धनी या निर्धन, विवाहित या अविवाहित, सन्तानवती या निःसन्तान होने के कारण किये जाने वाले भेदों का अन्त किया गया है। (ई) उत्तराधिकारियों की संख्या घटा दी गयी है। (उ) उत्तराधिकारियों में माता का स्थान पिता से पहले माना गया है।

(अ) ११ वें अध्याय में मिताक्षरा तथा दायभाग के उत्तराधिकारियों तथा रिक्थहरों का क्रम स्पष्ट किया जा चुका है ( दे० पृ० ३०२-१९ )। इसके अनुसार इन दोनों में एक आधारभूत भेद है। मिताक्षरा परिवार में प्रत्यासत्ति या रक्त सम्बन्ध की समीपता का सिद्धान्त महत्वपूर्ण होने से उत्तराधिकारियों में गोत्रजों (Agnates) अथवा पितृपक्ष के सम्बन्धियों को उसके मातृपक्ष के सम्बन्धियों की अपेक्षा तरजीह दी जाती है। दायभाग पिण्डदान द्वारा मृत व्यक्ति को धार्मिक लाभ पहुँचाना रिक्थहरण की मुख्य कसौटी मानता है, अतः उसके उत्तराधिकारियों में मातृपक्ष के भी अनेक सम्बन्धी आ जाते हैं। स्वाभाविक स्नेह तथा प्रेम के आधार पर इनका उत्तराधिकारी होना उचित प्रतीत होता है, अतः प्रस्तुत हिन्दू कोड के सातवें परिशिष्ट में इसका क्रम बताते हुए प्रायः दायभाग नियम का अनुसरण किया गया है। इसमें प्रत्यासत्ति अथवा सम्बन्धसामीप्य और स्नेह—दोनों बातों का ध्यान रखा गया है। इस प्रकार मिताक्षराक्रम के स्थान पर दायभाग के क्रम को लागू किया गया है, केवल एक अंश में मिताक्षरा-व्यवस्था को माना गया है। पहले यह बताया जा चुका है कि उत्तराधिकारी या दायाद होने में स्पष्टता माता पिता के स्थान के सम्बन्ध में दोनों में मौलिक अन्तर है, दायभाग में पिता को और मिताक्षरा में माता को पहले दायाद माता जाता है (दे० ऊ० पृ० ३०६)। कोड में इस विषय में मिताक्षरा की व्यवस्था को सारे भारत में लागू करने का प्रस्ताव है।

( आ-इ ) पुत्री को पुत्र के साथ पैतृक सम्पत्ति में हिस्सा देने की व्यवस्था इस कोड का व्यावहारिक दृष्टि से सब से क्रान्तिकारी परिवर्त्तन है। इसमें तो कोई संदेह नहीं कि वैदिक युग से अनेक शास्त्रकार कन्याओं के इस अधिकार का समर्थन करते रहे हैं[६१]। किन्तु इस समय हिन्दू परिवार में ऐसी

---

६१. एष ते रुद्र भागः सह स्वस्राम्बिकया ( शु० यजु० ३।५७, मैत्रा० सं० १।१०।४ शत० ब्रा० २।६।२।९, तै० सं० १८।६।१) में भाई के दाय में बहिन के भाग का निर्देश है, ऋ० २।१७।७ में अविवाहित कन्या द्वारा पिता से अपना भाग मांगने का उल्लेख है। यास्क द्वारा अभ्रातृमती कन्या के दायाद होने तथा

प्रथा न होने के कारण इसका तीव्र विरोध है। विपक्षियों के मतानुसार इससे भाई बहिनों में कलह की वृद्धि होगी, विवाह के पश्चात् दूसरे कुल में चले जाने से लड़कियों को पैतृक सम्पत्ति की व्यवस्था करना कठिन हो जायगा। दूसरी ओर कन्याओं के इस अधिकार के समर्थकों का कहना है कि इस से भाई बहिन के वैमनस्यवृद्धि की आशंका निर्मूल है, भाइयों के सहज निश्छल और निःस्वार्थ प्रेम को इससे कोई हानि नहीं होगी[६२], यदि ऐसा होता है तो वह स्वार्थमूलक है। विवाहित होने पर कन्याओं द्वारा पैतृक सम्पत्ति की व्यवस्था में अवश्य कुछ कठिनाइयां हैं, किन्तु इन्हें दूर करने के अनेक उपाय सुझाये गये हैं। पहला सुझाव यह है कि कन्याओं को पैतृक सम्पत्ति के उपभोग का ही अधिकार

---

मनु (९।११८) याज्ञ० (२।१२४) द्वारा अविवाहित कन्या को चौथा अंश देने की व्यवस्थाओं का पहले विस्तारपूर्वक उल्लेख हो चुका है (दे० पृ० ५२५), यद्यपि अनेक निबन्धकारों ने इसे कन्याओं के विवाह पर व्यय किया जाने वाला द्रव्य समझा। किन्तु विश्वेश्वर भट्ट ने इस मत का खण्डन किया है—केचन एवं मन्यन्ते, पूर्वोक्तरीत्या चतुर्थमंशं कन्यकायै दत्वा तेनैव विवाहः कर्त्तव्यो न तु समुदितद्रव्येण विवाहं कृत्वा पुनरपि चतुर्थांशदानमिति। तन्मेधातिथि-मिताक्षराकारादीनामनभिमतत्वादुपेक्षणीयम् (मदन पारिजात ६४८, धर्मकोश २।१४२०)।

६२. गोआ में हिन्दू, मुसलमान, ईसाइयों पर एक ही सिविल कोड लागू है, लड़कियों का लड़कों की तरह पैतृक सम्पत्ति में अधिकार है, वहां जांच करने पर पता लगा है कि भाई बहिनों के झगड़ों के उदाहरण नहीं के बराबर हैं (हिन्दू कोड बिल और उसका उद्देश्य—पब्लिकेशन्स डिवीजन द्वारा प्रकाशित १९४९ पृ० १०३)। इस से पारिवारिक अशान्ति बढ़ने के तर्क का खण्डन करते हुए अम्बेडकर ने कहा था कि एक व्यक्ति के १२ पुत्र और १ पुत्री होने पर पैतृक सम्पत्ति के १२ या १३ हिस्से करने में बड़ा अन्तर नहीं पड़ता (पू० नि० पृ० ४८), यदि बंटवारे से वैमनस्य बढ़ता हो तो भाइयों में भी इसे बन्द करना चाहिये। यही बात पुत्री को हिस्सा देने से पारिवारिक सम्पत्ति के खण्डशः विभक्त होने के सम्बन्ध में कही जा सकती है। वस्तुतः बहिनों को भाइयों द्वारा चतुर्थांश देने का नियम शास्त्रानुमोदित है, किन्तु प्रिवी कौंसिल ने रूढ़ि को बलवान् मानते हुए कन्या को पैतृक सम्पत्ति में स्वत्व देने वाले वचनों का प्रामाण्य स्वीकार नहीं किया (हिन्दू कोड बिल, पृ० ४७)।

हो, बेचने का नहीं। दूसरा सुझाव यह है कि बहिनों की सम्पत्ति भाई खरीद लें, इस विषय में प्रथम अधिकार उन्हीं का माना जाय। किन्तु इन सब कठिनाइयों के होते हुए भी इस बात की उपेक्षा नहीं की जा सकती कि पैतृक सम्पत्ति में पुत्री का पुत्र के समान अधिकार होना चाहिये। ईसाई, मुस्लिम तथा अन्य सभी सभ्य समाजों में भारत में पुत्री को यह अधिकार प्राप्त है। समानता के इस युग में हिन्दू परिवार में कन्या को देर तक इस अधिकार से वंचित नहीं रखा जा सकता।

विचारशील व्यक्ति पुत्री के पैतृक सम्पत्ति में अधिकार का सिद्धान्त-रूप से समर्थन करने में एकमत हैं; किन्तु उनमें इसे व्यावहारिक रूप देने के सम्बन्ध में काफी मतभेद है। राव समिति का पहले यह विचार था कि अविवाहित कन्याओं को ही पैतृक सम्पत्ति में स्वत्व दिया जाय, इस में विवाह के बाद दूसरे स्थान में चले जाने से पैतृक सम्पत्ति की व्यवस्था में उत्पन्न होने वाली कठिनाइयों की समस्या का निराकरण हो जाता था। किन्तु इसमें यह संभावना थी कि धनी कुलों की कन्याओं में सम्पत्ति पाने के प्रलोभन से अविवाहित रहने तथा अनाचारपूर्ण जीवन यापन करने की प्रवृत्ति बढ़ेगी। अतः राव समिति ने विवाहित, अविवाहित सब पुत्रियों को समानरूप से पुत्र के अंश से आधा भाग देने की व्यवस्था की थी, उसने इसके साथ यह भी व्यवस्था की थी कि पुत्र को भी माता की सम्पत्ति में आधा भाग मिलेगा ताकि पुत्र और पुत्री के बीच समान स्थिति बनी रहे। किन्तु निर्वाचित समिति ने पुत्री का भाग पुत्र के अंश के समान निश्चित किया।

(ई) वर्त्तमान काल में कन्याओं के उत्तराधिकारी होने पर अविवाहिता को प्राथमिकता दी जाती है, यदि सभी विवाहिता हों तो निर्धन और धनी तथा पुत्रवती और निःसन्तान में पहले प्रकार को तरजीह दी जाती है ( दे० ऊ० पृ० ५३६-७)। इस बिल द्वारा इन सब भेदों को समाप्त कर दिया गया है। उत्तराधिकारी होने पर पैतृक सम्पत्ति में सब स्त्रियों का स्वत्व समानरूप से माना गया है।

(उ) आजकल मिताक्षरा और दायभाग परिवारों में उत्तराधिकारियों की सूची बहुत लम्बी है, इसमें समानोदक अर्थात् १४वीं पीढ़ी तक के सम्बन्धी सम्मिलित होते हैं ( दे० ऊ० पृ० ३१८ ), इनके तथा बन्धुओं के अभाव में आचार्य, उसके न होने पर शिष्य और इसके भी न होने की दशा में सब्रह्मचारी ( मृत व्यक्ति के साथ एक ही गुरु से उपनयन कराने एवं वेदाध्ययन

करने वाला सहपाठी ) उत्तराधिकारी होता है, ( मिता० २।१३५-३६ ), इसके भी न होने पर पहले वेद का विद्वान् ब्राह्मण ( गौ० २९।२९), और फिर सामान्य ब्राह्मण (दायभाग ११।६।२७)। इन सब के अभाव में ब्राह्मण के अतिरिक्त अन्य वर्णों के कोई दायाद न रखनेवाले व्यक्तियों की सम्पत्ति राजा को प्राप्त होती है ( नारद दायभाग ५१-५२, विष्णु १७।१२-१३, बौधा० १।५। १२०-२२ ) । प्रवर समिति द्वारा संशोधित हिन्दू कोड में इन सब दूरवर्त्ती उत्तराधिकारियों को समाप्त कर दिया गया है। इसकी १०२ तथा १०३ धाराओं के अनुसार पांचवीं पीढ़ी तक के पितृपक्ष के सम्बन्धी ( गोत्रज) और मातृपक्ष के सम्बन्धी (बन्धु) ही दूरतम उत्तराधिकारी हैं, आचार्य, शिष्य, सब्रह्मचारी आदि उत्तराधिकारी नहीं माने गये। इन की संख्या मर्यादित करने का एक विशेष कारण है। इस कोड द्वारा प्रत्येक हिन्दू को वसीयत करने का अधिकार दिया गया है,इस से वह अभीष्ट व्यक्ति को अपने जीवन काल में ही सम्पत्ति देने की व्यवस्था कर सकता है। वसीयत करने का अधिकार दे देने के बाद मृत व्यक्ति से १४वीं पीढ़ी तक पहुँचने वाली उत्तराधिकारियों की लम्बी सूची निर्धारित करना अनावश्यक है। प्राचीन काल में वसीयत की प्रथा न होने पर उस की उपयोगिता थी, अब वह निरर्थक है।

**(ग) गोद लेना**—पहले यह बताया जा चुका है कि यह हिन्दू कानून का अत्यन्त विवादग्रस्त विषय है और मुकद्दमेबाज़ी की एक बड़ी जड़ है, इसकी लगभग सभी बातों पर अनेक पक्ष और तीव्र मतभेद हैं ( पृ० ४९७ )। हिन्दू कोड (भाग ३, धारा ५२ से ७६) में इसे सरल, सुबोध और एकरूप बनाने के लिए निम्न महत्वपूर्ण व्यवस्थायें की गयी हैं।

(अ) गोद लेने की योग्यता रखने वाले व्यक्तियों में अब १८ वर्ष तथा इससे अधिक आयु की विधवा का अधिकार स्पष्ट रूप से स्वीकार कर लिया गया है, बशर्त्ते कि पति ने उसे स्पष्ट या अस्पष्ट रूप से इसके लिये रोका न हो (धारा ५५)। इस प्रकार इस सम्बन्ध में वसिष्ठ के एक ही वचन के आधार पर भारत के विभिन्न प्रान्तों में प्रचलित चार विभिन्न पक्षों (पृ० ५०२-३) का अन्त करने का यत्न किया गया है। मुकद्दमेबाज़ी की रोकथाम के लिये यह व्यवस्था की गयी है कि इस सम्बन्ध में पति का वही आदेश प्रामाणिक माना जायगा जिसकी रजिस्टरी हो चुकी हो या जिसका वसीयतनामे में उल्लेख हो, ( धारा ५६ ), इस सम्बन्ध में मौखिक गवाही वैध नहीं मानी जायगी। अब तक पति को गोद लेने के मामले में पत्नी से अनुमति प्राप्त करना आव-

श्यक नहीं था, अब ऐसा कर दिया गया है। अनेक पत्नियां होने की दशा में कम से कम एक पत्नी की अनुमति लेना जरूरी है। पति या पत्नी के धर्मान्तर ग्रहण करने पर उनका गोद लेने का अधिकार समाप्त हो जायगा।

(आ) गोद देने की योग्यता बच्चे के माता पिता के अतिरिक्त किसी व्यक्ति में नहीं होगी (धारा ६२), पिता के मरने, संन्यासी बनने या धर्मान्तर ग्रहण करने पर माता बच्चे को गोद दे सकती है, बशर्त्ते कि पति ने किसी रजिस्टर्ड लेख या वसीयत द्वारा इस कार्य का निषेध न किया हो।

(इ) गोद लिये जाने वाले व्यक्ति की योग्यता के सम्बन्ध में वर्त्तमान कानून में अनेक पक्ष हैं, नीलकण्ठ के मतानुसार विवाहित और पुत्रवान् पुरुष भी गोद लिया जा सकता है, इस में आयु का कोई बन्धन नहीं है (पृ० ५०९)। कोड ने इसके लिये अविवाहित होना तथा पन्द्रह वर्ष से कम होना आवश्यक बताया है (धारा ६३)। इकलौते बेटे [६३], दोहते, भांजे और मौसी के लड़के को गोद लेने के सम्बन्ध में कुछ संदेह था; वर्त्तमान कोड द्वारा इन्हें स्पष्ट रूप से दत्तक पुत्र बनने योग्य ठहराया गया है (धारा ६४)।

गोद लेने के लिये दत्तक होम (दे० पृ० ५११) आवश्यक नहीं रखा गया (धारा ६५)। गोद लिये जाने वाले व्यक्ति के लिये माता पिता के वर्ण का होना आवश्यक नहीं रहा।

---

६३. इकलौते पुत्र के सम्बन्ध में वसिष्ठ के निम्न वचन (१५।३-४) पर न्यायालयों ने बड़ा ऊहापोह किया है--'न त्वेकं पुत्रं दद्यात्प्रतिगृह्णीयाद्वा। स हि सन्तानाय पूर्वेषाम्'-इस का अर्थ बिल्कुल स्पष्ट है--इकलौते पुत्र को गोद लेना और देना नहीं चाहिये, क्योंकि वह पूर्वजों के (पिण्डदानादि आवश्यक कार्यों के निमित्त) सन्तान प्राप्त करने केलिये होता है। मांडलिक के मतानुसार इस वाक्य में हेतु का निर्देश है, अतः मीमांसा के नियमों के अनुसार यह विधि नहीं हो सकती, (व्यवहार मयूख एण्ड याज्ञवल्क्य पृ० ४९९)। मांडलिक ने इसकी पुष्टि जै० सू० १।२।२६-२७ से की है, अलाहाबाद हाईकोर्ट ने मांडलिक की व्याख्या की पुष्टि की है (१४ अला० ६७ पृ० ७३), किन्तु प्रिवी कौंसिल ने इस व्याख्या में सन्देह प्रकट किया था (इं० ए० ११३ पृ० १४६)। वस्तुतः 'स हि सन्तानाय पूर्वेषाम्' का अभिप्राय केवल इतना ही है कि पुत्र की महत्ता बता कर गोद लेने की विधि की प्रशंसा की जाय (सरकार—मीमांसा रूल्स पृ० १७५-७६, काणे हि० ध० ३।६७६-७७, मेन–हिन्दू ला पृ० ३९-४०)।

(ई) दत्तक पुत्र के अधिकार के सम्बन्ध में कोड द्वारा महत्वपूर्ण परिवर्तन किया गया है। इस विषय में वर्त्तमान व्यवस्था बहुत असन्तोषजनक है, दत्तक पुत्र उन व्यक्तियों को अधिकारच्युत कर सकता है, जो उसके गोद लिये जाने से पूर्व सम्पत्ति के अधिकारी थे। इस समय गोद लिया हुआ पुत्र, चाहे वह कभी गोद लिया गया हो, गोद लेने वाली अपनी विधवा माता द्वारा हस्तान्तरित की हुई या दूसरे के अधिकार में दी हुई सम्पत्ति को वापिस लेने के लिये अभियोग चला सकता है। पति की मृत्यु के ४० वर्ष बाद गोद लिया जाने वाला लड़का ऐसा कर सकता है ( दे० ऊ० पृ० ५०४ )। हिन्दू कानून में संभवतः सब से अधिक अभियोग इस सम्बन्ध में होते हैं। इस से संयुक्त परिवार की सम्पत्ति को भारी खतरा पहुँचा है ( काणे-हि ध० ३।६७३-७४ )। इसके अतिरिक्त इसका एक अन्य भीषण दुष्परिणाम यह है कि दत्तक पुत्र अपनी नई विधवा माता से सारी सम्पत्ति छीन कर अपने अधिकार में कर लेता है, गोद लेनेवाली माता से उसे कोई स्वाभाविक स्नेह नहीं होता, अतः कई वार वह उसकी सारी सम्पत्ति लेकर भाग खड़ा होता है और माता के लिये जीवन निर्वाह भी कठिन हो जाता है।

इस शोचनीय दशा का अन्त करने के लिये कोड में दो व्यवस्थायें हैं—(१) दत्तक पुत्र को उसके अधिकार अपने नये गोद लेने वाले पिता की मृत्यु की तारीख से न मिल कर, गोद लेने की तिथि से मिलेंगे। ( धारा ६७ ) इससे वह दत्तक बनने से पूर्व हस्तान्तरित की हुई सम्पत्ति के सम्बन्ध में कोई झगड़ा नहीं खड़ा कर सकता। (२) दत्तक पुत्र अपनी नई माता की सारी सम्पत्ति पर अधिकार नहीं कर सकेगा, वह केवल आधी सम्पत्ति ले सकेगा, शेष आधी पर विधवा का अधिकार रहेगा। ( धारा ६८ )

(उ) दत्तक पुत्र सम्बन्धी मुक़द्मेबाजी कम करने के लिये यह व्यवस्था की गयी है कि गोद लेने के कार्य की रजिस्टरी आवश्यक है ( धारा ७४-७६ ), दत्तक पुत्र बनाने के नव्वे दिन के भीतर अपने जिले की अदालत में गोद लेने के कार्य को पंजिकाबद्ध ( रजिस्टर्ड ) करने के लिये प्रार्थनापत्र देना आवश्यक होगा, इस प्रकार अदालत में रजिस्टरी ही गोद लेने का वैध प्रमाण होगा।

(ऊ) इस समय दत्तक पुत्र के अतिरिक्त कृत्रिम, द्वयामुष्यायण आदि गोद लेने की कई प्रथायें हैं (दे० ऊ० पृ० ५१४-१५)। हिन्दू कोड द्वारा इन सब की समाप्ति कर दी गयी है। यतः इस कोड का उद्देश्य हिन्दू कानून में एकरूपता लाना है और विभिन्न रीति रिवाज इसमें प्रबल बाधक हैं; अतः इसमें यह कहा गया

है कि दत्तक के अतिरिक्त गोद लेने की कोई और प्रथा कानून द्वारा मान्य न होगी। इस व्यवस्था का दूसरा कारण यह है कि द्वयामुष्यायण प्रकार का पुत्र बनाने का प्राय: यह उद्देश्य होता है कि सम्पत्ति दो परिवारों तक ही सीमित हो जाय। गोद लेने का वास्तविक प्रयोजन पुत्र का अभाव पूरा करना है, न कि सम्पत्ति को हथियाने का यत्न करना। अत: कोड में उचित ढंग से तथा उपयुक्त प्रयोजन की पूर्त्ति के लिये कानून द्वारा स्वीकृत एवं निश्चित विधि से ही गोद लेने की व्यवस्था की गयी है, अन्य सब रीति-रिवाज़ रद्द कर दिये गये हैं।

**(घ) स्त्रीधन**—'स्त्री के ही समान इस अत्यन्त जटिल विषय' को हिन्दू कोड में बहुत सरल बना दिया गया है। इसके स्वरूप, और उत्तराधिकार विषयक पेचीदगियों का पहले उल्लेख हो चुका है ( दे० ऊ० पृ० ५५८-५८४ )। कुमारी तथा विवाहिता के स्त्रीधन को पाने वाले उत्तराधिकारियों का क्रम, दायभाग, मिताक्षरा और मिथिला सम्प्रदायों में अलग-अलग है। स्त्रियों की सम्पत्ति के इस समय दो प्रकार हैं—(१) स्त्रीधन (२) विधवा की सम्पत्ति। इन दोनों के उत्तराधिकारी भी अलग-अलग होते हैं (दे० सत्रहवाँ अध्याय )। विधवा को अपने पति की सम्पत्ति की आमदनी के उपभोग का ही सीमित स्वत्व होता है, उसे इच्छानुसार विनियोग का पूर्ण प्रभुत्व (Absolute Estate) नहीं है। उसकी मृत्यु के बाद यह सम्पत्ति उसके पति के उत्तराधिकारियों को मिल जाती है। इसके दुष्परिणामों का भी पहले उल्लेख किया जा चुका है (दे० ऊ० पृ० ५९८-६०० )।

हिन्दू कोड बनानेवालों के सामने इस विषय में दो मुख्य प्रश्न थे—(१) स्त्रीधन और विधवा की सम्पत्ति के दो मुख्य प्रकार और उन के उत्तराधिकारियों का विभिन्न क्रम जारी रखा जाय या नहीं, (२) स्त्री को सम्पत्ति पर पूर्ण प्रभुत्व दिया जाय या नहीं। हिन्दू कानून में एकरूपता लाने के लिये यह आवश्यक समझा गया कि स्त्री की सब प्रकार की चल, अचल, विवाह से पहले, बाद में और वैधव्य काल में प्राप्त, उत्तराधिकारी होने से उपलब्ध, दान, परिश्रम या क्रयादि किसी भी प्रकार से मिली सम्पत्ति पर स्त्री का पूर्ण प्रभुत्व समझा जाय ( धारा ९१ )। नि:सन्देह, यह व्यवस्था विज्ञानेश्वर द्वारा की गयी स्त्रीधन की व्याख्या के सर्वथा अनुकूल है[६४] और हिन्दू परिवार में मुकद्दमेबाजी की एक बड़ी जड़ काटने वाली है। यह

६४. याज्ञ० २।१४३ आद्यशब्देन रिक्थक्रयसंविभागपरिग्रहादिप्राप्तमेतत् स्त्रीधनम्।

बात समझ में नहीं आती कि स्त्री को जब स्त्रीधन की सम्पत्ति के विक्रय का अधिकार है तो पति द्वारा विरासत में प्राप्त सम्पत्ति के यथेच्छ विनियोग का स्वत्व क्यों न दिया जाय ? स्त्रियां यदि सम्पत्ति के एक भाग को इच्छानुसार प्रयोग में लाने अथवा बेचने की बुद्धि रखती हैं, तो उन्हें अपनी सम्पत्ति के दूसरे भाग को भी बेचने योग्य समझना चाहिये । इस तर्क के आधार पर कोड में स्त्री को अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति पर पूर्ण प्रभुत्व दिया गया है । विधवा के बाद सम्पत्ति के लिये दावा करने के उत्तराधिकारियों का अधिकार इस बिल द्वारा समाप्त कर दिया गया है ।

इस बिल की एक महत्वपूर्ण व्यवस्था दहेज के सम्बन्ध में है (धारा ९३) । इस गर्हित प्रथा के दुष्परिणामों को रोकने के लिये यह नियम बनाया गया है कि विवाह के समय लड़की को जो सम्पत्ति दी जाय, उसे बतौर अमानत ( ट्रस्ट) के रखा जाय, १८ वर्ष की अवस्था पूरी होने पर यह सम्पत्ति उस स्त्री को दे दी जाय । इससे न तो उसके पति को तथा न उसके पति के सम्बन्धियों को उस सम्पत्ति का प्रलोभन होगा, न ही वे उस सम्पत्ति को बरबाद करके लड़की को जीवन भर के लिये असहाय बना सकेंगे ।

स्त्रियों की सम्पत्ति के उत्तराधिकार की पृथक् प्रणालियों का अन्त कर, स्त्री-पुरुषों की सम्पत्ति का दायाद-क्रम एक जैसा कर दिया गया है ।

**वसीयतहीन हिन्दू उत्तराधिकार बिल**--(Intestate Hindu Succession Bill ) २६ मई १९५४ के असाधारण सरकारी गज़ट में प्रकाशित इस विधेयक में हिन्दू कोड बिल की उत्तराधिकार सम्बन्धी व्यवस्थाओं को कुछ परिवर्तनों के साथ दोहराया गया है । इनमें निम्न विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं--

**(अ) पैतृक सम्पत्ति में कन्या को पुत्र की अपेक्षा आधा भाग देना**--पहले यह बताया जा चुका है कि अविवाहिता कन्या द्वारा पैतृक सम्पत्ति में हिस्सा प्राप्त करने का वैदिक साहित्य में उल्लेख है ( ऋ० २।१७।७) यास्क ने पुत्र और पुत्री दोनों के रिक्थहर होने का तथा भाई के अभाव में बहन को दायाद बनाने का वर्णन किया है ( दे० ऊ० पृ० ५२२-३ ), धर्म सूत्रों में विष्णु तथा शंख लिखित कन्या द्वारा पैतृक सम्पत्ति ग्रहण करने का उल्लेख करते हैं । मनु ( ९।११८ ) और याज्ञवल्क्य (२।१२४ ) भाइयों को अपने हिस्से का चौथाई भाग बहनों को देने के लिये कहते हैं । पहले यह बताया जा चुका है कि मध्यकालीन निबन्धकारों में इस चतुर्थांश के सम्बन्ध में दो पक्ष थे । अस-

हाय, मेधातिथि, विज्ञानेश्वर, नीलकण्ठ, मित्रमिश्र और विश्वेश्वर भट्ट उपर्युक्त वचनों के आधार पर बहिनों को भाइयों के साथ पैतृक सम्पत्ति में अंशहर मानते थे, किन्तु भारुचि, अपरार्क, देवण्ण भट्ट, जीमूतवाहन, पराशर-माधवीय, सरस्वतीविलास, विवादरत्नाकर तथा विवादचिन्तामणि कन्याओं को दायाद न मानते हुए इस व्यवस्था को बहिनों के विवाह के लिये होने वाले व्यय तक सीमित करते थे ( दे० ऊ० पृ० ५३१-३ )। वर्त्तमान अदालतों ने भी इस व्यवस्था को स्वीकार किया है। दहेज की प्रथा के प्रसार के कारण प्रायः यह समझा जाता रहा है कि कन्या को पैतृक सम्पत्ति में अपना अंश मिल जाता है। इसके अतिरिक्त कन्या के विवाहित होने के बाद दूसरे स्थान में चले जाने के कारण उसे पैतृक सम्पत्ति में अंशहर बनाने में क्रियात्मक कठिनाइयां भी हैं ( दे० ऊ० पृ० ५४१-२ )। वर्त्तमान काल में नर-नारी के समानाधिकारों का आन्दोलन प्रबल होने पर यह अनुभव किया जाने लगा कि पैतृक सम्पत्ति में पुत्री को भी पुत्र की भांति दायाद माना जाना चाहिये। वैदिक व्यवस्था का अनुसरण करते हुए पहले यह अधिकार अविवाहिता कन्याओं को ही दिया जाने का सुझाव रखा गया, किन्तु इससे धनी परिवारों में कन्याओं द्वारा जानबूझ कर अविवाहित रहने से अनैतिकता की वृद्धि की संभावना थी। अतः राव समिति ने हिन्दू कोड में सब कन्याओं को पुत्रों के हिस्से से आधा भाग सिफारिश की थी, पुत्रों से आधा भाग इस लिये रखा गया था कि वे दहेज के रूप में पैतृक सम्पत्ति से काफी अंश पाती हैं। हिन्दू कोड के लोक सभा में उपस्थित होने पर निर्वाचित समिति ने पुत्रियों का हिस्सा पुत्रों के बराबर कर दिया था, किन्तु यह व्यवस्था पुत्र और पुत्री के अंश में विषमता उत्पन्न करने वाली थी, अतः नये बिल में पुनः लड़कियों को लड़कों से आधा भाग देने का प्रस्ताव रखा गया है।

**(आ) उत्तराधिकार सम्बन्धी नियम**—इस सम्बन्ध में नये बिल की व्यवस्थायें हिन्दू कोड जैसी हैं। मिताक्षरा की व्यवस्था में १४वीं पीढ़ी तक के सम्बन्धी ( समानोदक ) दायाद हो सकते हैं, नये बिल में पितृ एवं मातृकुल की पांच पीढ़ियों तक ही दायादों की संख्या मर्यादित कर दी गयी है, आचार्य और शिष्य को दायादों की सूची से निकाल दिया गया है। दायादों की श्रेणियां निर्वाचित समिति द्वारा संशोधित हिन्दू कोड के अनुसार रखी गयी हैं। किसी व्यक्ति के मरने पर १९३७ तक उसके बाद उसका पुत्र, पूर्व मृत पुत्र का पुत्र, पूर्व मृत पुत्र के पूर्व मृत पुत्र का पुत्र—केवल तीन व्यक्ति ही पैतृक सम्पत्ति के एक

साथ समकालीन दायाद ( Simultaneous heirs ) होते थे। १९३७ के 'स्त्रियों के सम्पत्ति पर अधिकार' कानून द्वारा इनमें तीन दायाद और बढ़ाये गये—मृत व्यक्ति की विधवा, पूर्व मृत पुत्र की विधवा तथा पूर्वमृत पुत्र के पूर्व मृत पुत्र की विधवा। अब इन में कन्या को और जोड़ा गया है। इस प्रकार नये बिल के अनुसार अब सात व्यक्ति एक साथ मृत पुरुष की सम्पत्ति के उत्तराधिकारी होंगे। ये सब दायाद प्रथम श्रेणी में आते हैं। इसके बाद द्वितीय श्रेणी के दायाद १० वर्गों में बांटे गये हैं, ये पहली श्रेणी के दायादों के तथा पूर्व, पूर्व वर्ग के उत्तराधिकारियों के अभाव में ही रिक्थहर होंगे। इनके न होने पर मृत व्यक्ति के गोत्र की पांच पीढ़ी तक के सम्बन्धी (Agnate) तथा इन के अभाव में मृत व्यक्ति के स्त्रीपक्ष के पांच पीढ़ी तक के बन्धु (Cognate) उत्तराधिकारी होंगे। समूची हिन्दू जाति के कानून को एकरूप बनाने के लिये मरुमक्कत्तायम्, अलिप सन्तान ( दे० ऊ० पृ० ३३४ ) तथा नम्बूदरी कानून द्वारा शासित व्यक्तियों को भी इस बिल में सम्मिलित किया गया है, और इन प्रदेशों में स्त्रियों के उत्तराधिकार द्वारा सम्पत्ति ग्रहण के लिये अनेक विशेष व्यवस्थायें की गयी हैं।

**(इ) दायादों की अयोग्यतायें**—पहले (पृ० ३१९-२४) यह बताया जा चुका है कि किन अवस्थाओं में हिन्दू कानून कुछ व्यक्तियों को उत्तराधिकार में सम्पत्ति ग्रहण करने का अधिकारी नहीं समझता। ऐसे दायानर्ह व्यक्तियों के सम्बन्ध में १८५० के 'जाति अयोग्यता निवारक'[६५] तथा १९२८ के 'हिन्दू रिक्थहरण (अनर्हता निवारण)' कानूनों ने कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तन किये हैं। अब इस बिल में कुछ नई व्यवस्थायें प्रस्तावित की गयी हैं। इन में निम्न उल्लेखनीय हैं—(क) १८५० के उपर्युक्त कानून द्वारा यह व्यवस्था की गयी थी कि हिन्दू धर्म का परित्याग कर इस्लाम, ईसाइयत आदि अन्य धर्म ग्रहण करने वाले व्यक्ति का पारिवारिक सम्पत्ति में स्वत्व बना रहता था, इससे पहले हिन्दू धर्म छोड़ने पर व्यक्ति पैतृक सम्पत्ति पर अपना अधिकार खो बैठता था। किन्तु १८५० के कानून का प्रभाव केवल धर्मान्तर करने वाले व्यक्ति तक ही सीमित था[६६],

---

६५. यह कानून पहले १८३२ ई० के सातवें बंगाल रेग्यूलेशन के रूप में बंगाल में लागू किया गया था। १८५० में इसे सारे भारत में लागू किया गया।

६६. इस कानून का लाभ केवल धर्मान्तर करने वाले व्यक्ति को मिलता है, यह निम्न उदाहरण से स्पष्ट हो जायगा। क के दो पुत्र ख ग हैं, ख की

नये बिल की व्यवस्थाओं से धर्मान्तिर ग्रहण करने वाले व्यक्ति की सन्तान को अपने हिन्दू सम्बन्धियों की सम्पत्ति प्राप्त करने के अधिकार से वंचित कर दिया गया है, हिन्दू होने की दशा में ही ये पारिवरिक सम्पत्ति को ग्रहण कर सकते हैं।

(ख) इसके अतिरिक्त दायाधिकार से वंचित किये जाने वाले अन्य व्यक्ति निम्न हैं—वानप्रस्थ, संन्यासी, यति या नैष्ठिक ब्रह्मचारी (आजीवन विवाह न करने वाला)होकर संसार छोड़ने वाला व्यक्ति, विवाह के बाद पति के जीवन काल में असाध्वी रहने वाली स्त्री, बशर्ते कि पति ने उसके ऐसे आचरण को क्षमा न किया हो, पुनर्विवाह करने वाली विधवायें, सम्पत्ति के स्वामी की हत्या करने वाला उसका उत्तराधिकारी। (ग) शारीरिक और मानसिक अनर्हताओं की समाप्ति––कोढ़ादि बीमारियों, अन्धापन आदि शारीरिक दोषों एवं पागलपन और मूर्खतादि मानसिक विकारों के कारण प्राचीन काल में व्यक्ति दाय के अधिकारी नहीं समझे जाते थे (दे० ऊ० पृ० ३१९-३२१)। १९२८ के 'हिन्दू उत्तराधिकार (अनर्हता निवारक)' कानून के अनुसार उन सब अनर्हताओं को समाप्त कर दिया गया, केवल दो प्रकार के व्यक्ति ही दायानर्ह रह गये—जन्म से पागल और जन्मजात मूर्ख। नये बिल में इन दोनों अनर्हताओं को भी समाप्त कर दिया गया है। अब कोई भी व्यक्ति किसी मानसिक विकार अथवा शारीरिक दोष के कारण दायाधिकार से वंचित नहीं किया जा सकेगा[६७]।

---

सन्तान च छ तथा ग के लड़के ज झ हैं। ख यदि मुसलमान हो जाता है तो उसे क की सम्पत्ति का आधा हिस्सा प्राप्त हो जायगा, किन्तु न तो उसके मुस्लिम पुत्र च छ क की सम्पत्ति में किसी हिस्से की मांग कर सकते हैं और नहीं ज झ, ख की सम्पत्ति में कोई हिस्सा लेने के हकदार हैं। दे० मितर सैन ब० मकबूल हसन ५७ इं० ए०, ३१३ आ० इं० रि० १९३० प्रि० कौ० २५१

६७. प्राचीन काल में शारीरिक दोष और मानसिक विकार वाले व्यक्तियों को दायाधिकार से वंचित करने का कारण इनका यज्ञादि धर्म कार्य करने में असमर्थ होना तथा अपने दोषों के कारण कोई कार्य या व्यापार करने की असमर्थता थी। (दे० ऊ० पृ० ३२४-५)। यद्यपि प्राचीन काल में यज्ञ कर्म को बहुत महत्ता दी जाती थी, किन्तु इन कार्यों की असमर्थता दायानर्ह होने का एकमात्र कारण नहीं था, क्योंकि यज्ञाधिकार से वंचित शूद्रों में भी

(ई) इस बिल में स्त्रीधन के स्वरूप, उसपर स्वत्व और उसके उत्तराधिकार के सम्बन्ध में किये गये परिवर्त्तन हिन्दू कोड जैसे ही हैं। स्त्री द्वारा बंटवारे, उत्तराधिकारादि सब वैध उपायों से प्राप्त सम्पत्ति स्त्रीधन होगी और इसपर उसका पूर्ण स्वत्व होगा––बशर्ते कि यह ऐसी सम्पत्ति न हो, जो उसे किसी वसीयत या दान द्वारा किसी विशेष प्रतिबन्ध के साथ मिली हो। स्त्रीधन के उत्तराधिकार की वर्त्तमान जटिल पद्धति को सरल बना दिया गया है, अब इसमें विवाहित, अविवाहित, ब्राह्म, आर्षादि उत्तम प्रकारों से तथा आसुर आदि निन्दित प्रकारों से विवाहित आदि का भेद नहीं रखा जायगा। इसके उत्तराधिकार की पद्धति निम्न प्रकार से एकरूप और सरल बना दी गयी है। स्त्रीधन का सर्वप्रथम उत्तराधिकारी मृत व्यक्ति की सन्तान होगी, इसमें पूर्वमृत सन्तान के बच्चे भी सम्मिलित हैं। इसके बाद पूर्व पूर्व के अभाव में स्त्रीधन के उत्तराधिकारी निम्न क्रम से इस प्रकार होंगे ––(२) पति, (३) माता और पिता (४) पति के उत्तराधिकारी (५) माता के उत्तराधिकारी (६) पिता के उत्तराधिकारी। यह बिल हिन्दू परिवार की केवल ऐसी सम्पत्ति पर लागू होगा, जिसके लिये कोई वसीयत न की गयी हो। इस बिल की व्यवस्थाओं को नापसन्द करने वाला व्यक्ति वसीयत द्वारा अपनी सम्पत्ति के बंटवारे की मनोवांछित व्यवस्था कर सकता है।

पिछले दस वर्ष से हिन्दू कोड बिल तथा उपर्युक्त बिलों पर हिन्दू समाज में प्रचण्ड विवाद हो रहा है। वस्तुतः यह कट्टरपंथी और प्रगतिशील विचारधाराओं का उग्र संघर्ष है। रूढ़िवादी इन बिलों के घोर विरोधी हैं। उनके भीषण प्रतिरोध के कारण ही अभी तक ये बिल कानून का रूप नहीं धारण कर सके। सामान्य रूप से इन बिलों का विरोध मुख्यतः निम्न आधारों पर किया जाता है—(१) ये हिन्दू धर्म की प्राचीन परम्परा के विरुद्ध हैं। (२) वर्त्तमान पार्लियामेंटों या विधान सभाओं को ऐसे परिवर्त्तन करने का अधिकार नहीं है।

---

कोढ़ी, अन्धे आदि दायाद नहीं बन सकते थे (सुरय्या व सुब्बाम्मा ४३ म० ४, १४)। अतः इन्हें दाय से वंचित करने का मुख्य कारण इनका किसी प्रकार का कार्य करने की असमर्थता थी (जाली-हिन्दू ला एण्ड कस्टम पृ० १८२), इसीलिये बौधायन ने इन्हें नाबालिगों के साथ गिना है (२।२।३।३६, ३७-४०)। वर्तमान काल में इन्हें दायाधिकार देने का कारण समानता का सिद्धान्त और शारीरिक तथा मानसिक दोषों वाले व्यक्तियों के साथ सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार की भावना है।

कट्टरपंथियों की पहली और प्रधान युक्ति यह है कि सनातन वेद एवं वेदानुसारी आर्ष धर्मग्रन्थ हिन्दू समाज का आधार हैं, इनमें किसी प्रकार का कोई परिवर्त्तन नहीं हो सकता। वेद प्रतिपादित शाश्वत व्यवस्था को ईश्वर के अतिरिक्त कोई बदल नहीं सकता। किन्तु ऐसा मत रखने वाले कट्टरपन्थी प्रायः यह भूल जाते हैं कि प्राचीन शास्त्रों में इस बात का स्पष्ट रूप से विधान है कि समय-भेद के अनुसार रीति-रिवाज़ बदल जाते हैं; हिन्दू समाज में बीसियों ऐसी रीतियां हैं, जो श्रुति द्वारा प्रतिपादित होने पर भी मध्यकाल में शास्त्रकारों ने कलिवर्ज्य के नाम से निषिद्ध ठहरायीं। ब्रिटिश काल के प्रारम्भ तक पांच हज़ार से अधिक धर्मशास्त्री हिन्दू व्यवस्थाओं का समयानुकूल संशोधन करते रहे हैं[६८]। प्राचीन काल में कालभेद के अनुसार धर्मों के परिवर्त्तन का मनुस्मृति में स्पष्ट उल्लेख है। इसके अनुसार चारों युगों में धर्म बदलते रहते हैं; कृतयुग में तप, त्रेतायुग में ज्ञान, द्वापर में यज्ञ और कलियुग में दान सब से बड़ा धर्म होता है[६९]। पराशर स्मृति ने न केवल युगभेद से धर्मभेद का उल्लेख किया है (१।२२); किन्तु प्रत्येक युग में प्रामाणिक माने जाने वाले धर्मशास्त्रकारों का भी निर्देश किया है—'कृतयुग में मनु द्वारा बताये, त्रेता में गौतम द्वारा प्रतिपादित, द्वापर में शंख लिखित द्वारा तथा कलियुग में पराशर द्वारा निर्दिष्ट धर्म (पालनीय) होते हैं[७०]। इसके अतिरिक्त प्राचीन स्मृतिकारों ने यह घोषणा

---

६८. उदाहरणार्थ जब भारत पर मुस्लिम आक्रमण हुए और मुसलमानों द्वारा छीने हुए हिन्दुओं की शुद्धि का प्रश्न उठा तो इसका हल करने के लिये सिन्ध् तीर पर देवल मुनि ने नई स्मृति का निर्माण किया—सिन्धु तीरे सुखासीनं देवलं मुनिसत्तमम्। समेत्य मुनयः सर्वे इदं वचनमब्रुवन्। भगवन्म्लेच्छ-नीता हि कथं शुद्धिमवाप्नुयुः (१-३)। काणे ने हिस्टरी आफ् धर्मशास्त्र के प्रथम खण्ड में पांच हजार से अधिक ग्रन्थों और लेखकों की सूची दी है (पृ० ५०७-७६० )।

६९. मनु० १।८५-८६ अन्ये कृतयुगे धर्मास्त्रेतायां द्वापरेऽपरे। अन्ये कलियुगे नृणां युगह्रासानुरूपतः॥ तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते। द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेकं कलौ युगे॥ ये श्लोक महाभारत (१२।२३२। २७-२८), पराशर स्मृति (१।२२-२३) और बृहत्पराशर (१, पृ० ५५) में भी मिलते हैं।

७०. पराशर १।२४ कृते तु मानवो धर्मस्त्रेतायां गौतमः स्मृतः। द्वापरे

की है कि शास्त्र द्वारा प्रतिपादित धर्म भी यदि जनता द्वारा निन्दित हो तो उसका परित्याग करना चाहिये। मनु ने न केवल धर्मविरुद्ध अर्थ और काम का अपितु लोक विरोधी धर्म का भी पालन न करने का विधान किया है। याज्ञ० ( १।१५६ ) विष्णु धर्म सूत्र ( ७१।८४-८५ ), विष्णु पुराण ( ३।११।७), बृहन्नारदीय पुराण ( २४।१२) शुक्रनीति ( ३।६४) और बार्हस्पत्य सत्र ने धर्म होने पर भी लोकविरुद्ध कार्य के आचरण का निषेध किया है[७१]। पहले यह बताया जा चुका है कि विज्ञानेश्वर ने याज्ञवल्क्य के उपर्युक्त वचन (१। १५६ ) के आधार पर सम्पत्ति के बंटवारे में बड़े भाई को विशेष हिस्सा देने की प्राचीनकाल में प्रचलित और शास्त्रोक्त व्यवस्था का विरोध किया था (या० २।११७ पर मिता० तथा ऊ० दे० पृ० ३७८)

मध्ययुग में हिन्दू कानून के समयानुकूल संशोधन और परिवर्त्तन का कार्य शास्त्रकारों ने 'कलिवर्ज्यों' की व्यवस्था द्वारा किया। उस समय के समाज में वैदिक एवं प्राचीन युगों से बड़ा अन्तर पड़ गया था। अश्वमेध, राजसूय, अग्निहोत्रादि वैदिक यज्ञों की परिपाटी लुप्त हो चुकी थी, बड़े पुत्र को सम्पत्ति में विशेष अंश ( उद्धार ) देने, देवर से नियोग द्वारा सन्तान प्राप्त करने, श्राद्ध में मांस और शराब देने, दत्तक तथा औरस के अतिरिक्त क्षेत्रजादि गौण पुत्रों को स्वीकार करने की परिपाटी हिन्दू समाज से उठ चुकी थी। ये सब बातें शास्त्रविहित होने पर भी लोकाचार विरोधी थी। इन्हें अमान्य ठहराने के लिये

---

शांखलिखितः कलौ पाराशरः स्मृतः ॥ आचार रत्न ( पृ० १३ ) में यह श्लोक बृहस्पति के नाम से उद्धृत है।

७१. मनु० ४।१७६ परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ। धर्मं चाप्यसुखोदर्कं लोकविक्रुष्टमेव च ॥ कुल्लूक की व्याख्या के अनुसार मनु ने यहां दो प्रकार के धर्मविहित कार्य को न करने को कहा है —(१) जिसका परिणाम (उदर्क) भविष्य में सुखकर न हो, जैसे पुत्रादि के होते हुए सारी सम्पत्ति का दान करना (२) लोक विरोधी कार्य जैसे कलियुग में अष्टकादि में गोवध। विष्णु पुराण ( २।११।७ ) में मनु से मिलती-जुलती व्यवस्था है—परित्यजेदर्थकामौ धर्मपीडाकरौ नृप। धर्ममप्यसुखोदर्कं लोकविद्विष्टमेव च ॥ याज्ञ० १।१५६ अस्वर्ग्यं लोकविद्विष्टं धर्म्यमप्याचरेन्न तु। बार्हस्पत्य सूत्र ५।२६ धर्ममपि लोकविक्रुष्टं न कुर्यात् लोकविरुद्धं न चरेत्। विष्णु धर्म सूत्र ७१।८४-८५ धर्मविरुद्धौ चार्थकामौ। लोकविद्विष्टं च धर्ममपि (परिहरेत् )।

धर्मशास्त्रियों ने यह कल्पना की कि ये प्राचीनकाल में पालन करने योग्य धर्म थे, जब कि मनुष्यों के नैतिक आदर्श का स्तर बहुत ऊंचा था। कलिकाल में पाप बढ़ जाने के कारण नियोगादि धर्म शास्त्रप्रतिपादित होने पर भी निषिद्ध हैं। कलिकाल में इस प्रकार वर्जित ठहराये जाने वाले धर्म 'कलिवर्ज्य' कहलाये। बारहवीं और तेरहवीं शती के स्मृत्यर्थसार, स्मृतिचन्द्रिका तथा हेमाद्रि के ग्रंथों में कलिवर्ज्यों की पहली विस्तृत सूचियां मिलती हैं[७२]। इन में पचपन कलिवर्ज्य गिनाये गये हैं। इनके विश्लेषण से ज्ञात होता है कि एक चौथाई कलिवर्ज्य वेदविहित यज्ञों[७३] (पुरुषमेध, १२ दिन से १२ वर्ष तक चलने वाले सत्र नामक लम्बे यज्ञ, गोसव) तथा इन यज्ञों में हिंसा तथा सुरापानादि को वर्जित ठह-

---

७२. कलिवर्ज्यों के विस्तृत विवेचन के लिये दे० काणे—हिस्टरी आफ धर्मशास्त्र खण्ड ३ पृ० ८८५-९६४। इसी ग्रन्थ के पृ० १०१३ पर इनकी विशद सूची दी गयी है। प्रारम्भ में कलिवर्ज्यों की संख्या कम थी (स्मृति चन्द्रिका खं० १, पृ० १२) में ऋतु के निम्न वचन द्वारा चार बातों (नियोग, स्त्री का पुनर्विवाह, यज्ञ में गोवध, स्नातक द्वारा शौच के लिये कमण्डलु धारण) का कलियुग में निषेध है—(देवराच्च सुतोत्पत्तिः दत्ता कन्या न दीयते। न यज्ञे गोवधः कार्यः कलौ च न कमण्डलुः॥)। अपरार्क द्वारा उद्धृत (पृ० ९८) ब्रह्मपुराण के एक वचन में तीन ही कलिवर्ज्य गिनाये हैं—स्त्री का पुनर्विवाह, नियोग और स्त्रियों की स्वतन्त्रता और इस का कारण पाप की वृद्धि बताया गया है—स्त्रीणां पुनर्विवाहस्तु देवरात्पुत्रसन्ततिः। स्वातन्त्र्यं च कलियुगे कर्त्तव्यं न कदाचन॥ यतः पातकिनो लोके नराः सन्ति कलौ युगे॥ स्मृति चन्द्रिका में उद्धृत पुराण के एक वचन में तथा स्मृतिमुक्ताफल में इन की संख्या पांच है (स्मृच० १।१२ ऊढायाः पुनरुद्वाहं ज्येष्ठांशं गोवधं तथा। कलौ पंच न कुर्वीत भ्रातृजायां कमण्डलुम्॥ स्मृति मुक्ताफल वर्णाश्रम धर्म पृ० १७६ अग्निहोत्रं गवालम्भं संन्यासं पल पैतृकम्। देवराच्च सुतोत्पत्तिं कलौ पंच विवर्जयेत्॥) 'स्मृत्यर्थसार' (पृ० २) में २६ छब्बीस कलिवर्ज्य गिनाये गये हैं। बाद के ग्रन्थों में यह संख्या ५५ तक पहुंच गयी है।

७३. तै० सं० ५।३।१२।२ तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते। बृहन्नारदीय पुराण (पूर्वार्ध २४।१३-१६)—समुद्रयात्रा स्वीकार: कमण्डलुविधारणम्।.........नैष्ठिकं ब्रह्मचर्यं च नरमेधाश्वमेधकौ। महाप्रस्थानगमनं गोमेधश्च तथा मखः। एतान् धर्मान् कलियगे वर्ज्यानाहुर्मनीषिणः॥

राने वाले थे। वानप्रस्थ और संन्यास को कलियुग में निषिद्ध ठहराने वाले वचन प्राचीन आश्रम-व्यवस्था पर कुठाराघात करने वाले थे। कलिवर्ज्यों की इस व्यवस्था से यह द्योतित होता है कि भगवती श्रुति द्वारा विहित धर्मों में परिवर्त्तन होता रहा है, कट्टरपंथियों का 'एष धर्मः सनातनः' का विचार ऐतिहासिक दृष्टि से सत्य नहीं है। हमारी सामाजिक परम्परायें और रूढ़ियां समयानुसार बदलती रही हैं[७४]। अतः 'अपरिवर्त्तनीय, शाश्वत एवं सनातन हिन्दू धर्म' कोरी कल्पना मात्र है।

कलिवर्ज्यों के अतिरिक्त विविध निबन्ध ग्रन्थों के निर्माण द्वारा मध्यकाल में हिन्दू समाज में समयानुकूल परिवर्त्तन और संशोधन स्वीकार किये जाते थे। मिथिला के उदाहरण से इसकी पुष्टि होती है। इस प्रदेश में पहले लक्ष्मीधर का कृत्यकल्पतरु प्रामाणिक समझा जाता था, पुनः १३ वीं शती के अन्त में उसका स्थान चण्डेश्वर (१३१४-१३२४) के विवाद रत्नाकर ने ग्रहण किया। तदनन्तर यहां वाचस्पति मिश्र के (१४५०-१४८० ई०) विवादचिन्तामणि को प्रधान स्थान प्राप्त हुआ[७५]। मध्यकालीन निबन्धकार अपने व्याख्या कौशल से प्राचीन व्यवस्थाओं को कैसे समयानकूल बनाते थे, इसे पहले स्पष्ट किया जा चुका है (दे० ऊ० पृ० ३७७-९)। प्रिवी कौन्सिल ने इस सम्बन्ध में सत्य ही लिखा है—"स्मृतियों के अनुसार कानून की व्याख्या का दावा करते हुए भी टीकाकारों ने अनेक परिवर्त्तन किये, ताकि कानून जनता द्वारा अनुसरण किये जाने वाले आचार के अनुकूल हो सके"[७६]। एक अन्य निर्णय में यह कहा गया है कि मिताक्षरा अनेक स्थानों पर शास्त्र को लोकाचार का अनुवर्त्ती मानती है[७७]। अतः यह स्पष्ट है कि प्रायः जड़ता का प्रतीक समझे जाने वाले

---

७४. इस विषय की संक्षिप्त विवेचना के लिये दे० अल्तेकर—सोर्सेज आफ हिन्दू धर्म १९५२ (शोलापुर)

७५. गंगानाथ झा—मनुस्मृति नोट्स भाग ३, भूमिका पृ० २५

७६. भगवान सिंह ब० भगवान सिंह (१८९९) २६ इं० ए० १५३, १६५

७७. भैया रामसिंह ब० भैया डगरसिंह (१८७०) १३ म्यू० इं० ए० ३७३३९०। प्रिवी कौन्सिल ने अपने एक प्रसिद्ध निर्णय में यह माना है कि हिन्दू कानून में रूढ़ि या परम्परा का स्पष्ट प्रमाण शास्त्रीय वचन से अधिक महत्ता रखता है (कलेक्टर आफ मदुरा ब० मुट्टू रामलिंग (१८६८) १२ म्यू० इं०

मध्यकाल में समयानुकूल परिवर्त्तन की प्रगतिशील भावना हिन्दू समाज में बनी रही। इसका अन्त ब्रिटिश काल में न्यायालयों द्वारा मध्यकालीन निबन्धग्रन्थों को परम प्रमाण मानने तथा उनके आधार पर निर्णय करने से हुआ है।

हिन्दू कोड के विरोधियों की दूसरी युक्ति यह है कि लोकसभा को हिन्दू कानून में संशोधन का अधिकार नहीं है। "सनातन वेद एवं वेदानुसारी आर्य-धर्मग्रन्थ ही हिन्दुओं का विधान है, उस में रद्दोबदल करने का अधिकार राम कृष्ण आदि अवतारों और मनु, वसिष्ठ विश्वामित्रादि ऋषियों को भी नहीं, फिर वर्त्तमान धारासभा उसमें रद्दोबदल का साहस कैसे कर सकती है"[७८]। इस सम्बन्ध में यह भुला दिया जाता है कि सनातन वैदिक विधान में प्राचीन और मध्यकाल में महत्वपूर्ण परिवर्त्तन होते रहे हैं। इसे ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है। पिछले डेढ़ सौ वर्ष से हिन्दू कानून के सभी जटिल प्रश्नोंका निर्णय सात समुद्र पार लन्दन में प्रिवी कौन्सिल की जुडीशियल कमेटी के 'म्लेच्छ' ब्रिटिश जज करते रहे हैं। ब्रिटिश सरकार तथा उस समय की व्यवस्थापिका परिषदें विविध अधिनियमों[७९] द्वारा हिन्दू कानून के विभिन्न अंगों को बहुत प्रभावित एवं

---

ए० ३९७,४३६)। इसके अनुसार शास्त्र का प्रामाण्य रूढ़ि की तुलना में नगण्य है।

७८. हिन्दू कोड बिल और उसका उद्देश्य पृ० ५२

७९. इनमें निम्न उल्लेखनीय हैं —(१) १८२९ का लार्ड विलियम बैंटिक का सती प्रथा के निषेध का नियम (२) १८५० का जाति अनर्हता निवारक कानून-इसके अनुसार हिन्दू धर्म छोड़ने वाला व्यक्ति पैतृक सम्पत्ति पर अपने स्वत्व नहीं खोता था। (३) १८५६ के हिन्दू विधवा पुर्नाविवाह कानून ने विधवा विवाह को वैध बनाया। (४) १८७२, १९२३ तथा १९५४ के विशेष विवाह कानून ने हिन्दुओं को धर्मेतर (सिविल) तथा अन्तर्जातीय विवाहों और तलाक़ की सुविधा प्रदान की है। (५) १८७५ के भारतीय बालिग़ होने के कानून ने वयस्क होने की आयु १८ वर्ष की समाप्ति मानी। (६) १९२८ के हिन्दू उत्तराधिकार अनर्हता निवारक कानून ने जन्मजात पागलपन और मूर्खता के अतिरिक्त दायहरण की अन्य सब अयोग्यताओं को रद्द कर दिया। (७) १९२९ के हिन्दू उत्तराधिकार संशोधन कानून ने पोती, दोहती, बहिन और भांजे को दादा के बाद और चाचा से पहले उत्तराधिकारी बनाया (८) १९२९ तथा १९४९ के बाल विवाह निषेधक कानून ने १५ वर्ष से कम आयु की कन्या का तथा

परिवर्तित करती रही हैं। अतः हिन्दू कोड विरोधियों की इस युक्ति में भी कोई बल नहीं है [७९क]। साधारण जनता का उग्र विरोध होते हुए भी अगले कुछ वर्षों में हिन्दू कोड सम्बन्धी विविध बिलों के पास होने की पूरी आशा है और इनसे हिन्दू परिवार में उपर्युक्त परिवर्त्तन होंगे, जन्मना स्वत्ववाद के मिताक्षरा सिद्धान्त तथा संयुक्त परिवार की समाप्ति होगी, पैतृक सम्पत्ति में कन्याओं को हिस्सा मिलेगा, सम्पत्ति पर स्त्रियों का सीमित स्वत्व समाप्त होगा और उन्हें इस पर पूर्ण प्रभुत्व मिलेगा, दत्तक पुत्र लेने के तथा उत्तराधिकार सम्बन्धी नियम अधिक सरल और समयानुकूल हो जायेंगे।

हिन्दू परिवार के भविष्य पर प्रभाव डालने वाले उपर्युक्त तत्वों की विवेचना के बाद इस कुटुम्ब पद्धति में होने वाले परिवर्त्तनों की मीमांसा उचित प्रतीत होती है। भावी हिन्दू परिवार में निम्न परिवर्त्तनों का होना अवश्यम्भावी प्रतीत होता है (१) पुरुष-प्रभुता का क्षीण होना (२) संयुक्त परिवार का विघटन (३) परिवार के स्थायित्व में कमी आना। (४) कानूनी विषमताओं की समाप्ति।

(१) पुरुष-प्रभुता की क्षीणता—हिन्दू परिवार में पति और पिता के रूप में पुरुष को अब तक असाधारण शक्ति प्राप्त रही है। महाकवि कालिदास के शब्दों में पति को स्त्रियों पर सर्वतोमुखी प्रभुता है [८०]। पहले इसके कारणों

---

१८ वर्ष से कम आयु के लड़के का विवाह वर्जित ठहराया। (९) १९३० में 'हिन्दू विद्या धन कानून' के अनुसार विद्या द्वारा उपार्जित द्रव्य कमाने वाले की पृथक् सम्पत्ति माना गया। (१०) १९३७ के 'आर्य विवाह कानून' के अनुसार आर्य समाजियों में अन्तर्जातीय विवाह वैध बनाये गये। (११) १९३७ के 'हिन्दू स्त्रियों के साम्पत्तिक अधिकार के कानून' ने विधवाओं को पति की सम्पत्ति में अंशहर बनाया (१२) १९४६ का 'विवाहित हिन्दू स्त्रियों के पृथक् निवास और भरण का कानून' कुछ विशेष दशाओं में स्त्रियों को पति से अलग रहने तथा भरण पोषण पाने का अधिकार देता है। (१३) १९४६ में सगोत्र विवाहों को वैध बनाने का कानून बनाया गया (१४) १९४९ में अनुलोम प्रतिलोम सभी प्रकार के अन्तर्जातीय विवाहों को वैध बनाने का कानून बना। (१५) १९५४ के विशेष विवाह कानून द्वारा हिन्दुओं को तलाक् का अधिकार दिया गया है।

७९क. हिन्दू कोड के विरुद्ध उठायी जाने वाली विभिन्न युक्तियों के खण्डन के लिये दे० टोपे तथा उरसेकर —ह्वाई हिन्दू कोड पृ० ३८-६७

८०. अभिज्ञान शाकु० ५।२६ उपपन्ना हि दारेषु प्रभुता सर्वतोमुखी।

(पृ० ९४-९९ ) का तथा स्वरूप ( पृ० १००-११५ ) का वर्णन हो चुका है। पतिपत्नी के लिये हिन्दू परिवार में देवता माना जाता रहा है। पिता के रूप में पुरुष के परिवार पर असाधारण अधिकारों का तथा पितृप्रभुत्व का उल्लेख भी पहले हो चुका है[८१]। किन्तु अब पति को देवता समझनेवाले युग की समाप्ति हो रही है और पिता के असाधारण अधिकार मर्यादित हो रहे हैं।

हिन्दू परिवार में पति की प्रभुता के निम्न मुख्य स्तम्भ थे—बाल विवाह, पत्नी की आर्थिक पराधीनता और स्त्रियों की अशिक्षा, पति का पत्नी छोड़ने का तथा दूसरा विवाह करने का अधिकार। अब हिन्दू समाज में स्त्रीशिक्षा के प्रसार तथा नवीन कानूनों से ये स्तम्भ खोखले हो रहे हैं, अतः इनके आधार पर प्रतिष्ठित पति की प्रभुता का अन्त अनिवार्य है ( दे० ऊ० पृ० ९९–१०० )। शिक्षा से व्यक्तित्व का विकास होने पर पत्नी परिवार में पति के साथ बराबरी का दर्जा चाहती है, उसकी इस न्याय्य मांग की देर तक उपेक्षा असम्भव है, अतः अब देवता युग की समाप्ति होकर वैदिक काल का सखायुग ( दे० ऊ० पृ० ८९ ) फिर लौट कर आने वाला है।

परिवार में पिता की प्रभुता क्षीण करने वाला प्रधान तत्व राज्य है। वह शनैः-शनैः पिता द्वारा सन्तान को शिक्षा देने और दण्ड देने के अधिकारों का अपहरण कर रहा है। ( दे० ऊ० पृ० ६१४–५ )। इस का एक मुख्य कारण वर्त्तमान काल में बालक की शिक्षा और विकास को बहुत अधिक महत्व दिया जाना और उसके कल्याण और देखभाल को सामाजिक कर्त्तव्य समझा जाना है[८२]। प्राचीन काल में पुत्र अनेक कारणों से पिता की वश्यता में रहा करता था। पिता के प्रति भक्ति, धार्मिक विश्वास, तत्कालीन आर्थिक परिस्थितियां उसे पिता का वशंवद बनाये रखती थी। आजकल धार्मिक विश्वास संदेहवाद और नास्तिकता की बाढ़ से आप्लावित हो चुके हैं। व्यावसायिक क्रान्ति द्वारा उत्पादन का केन्द्र बदल जाने से पुत्र आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी होने लगा है; अतः उसे पिता का वशंवद होने की पहले जैसी अनिवार्यता नहीं रही।

---

८१. दे० ऊ० पृ० १८१-१९०; कठोपनिषद् ( प्रथम वल्ली ) में पिता द्वारा नचिकेता का यम को दान भी पिता का पुत्र पर असर्यादित अधिकार सूचित करता है। (१।४ स होवाच पितरं तत कस्मै मां दास्यसीति। द्वितीयं तृतीयं त ँ होवाच मृत्यवे ददामीति )

८२. सेट-न्यू होराइजन्स फॉर दी फैमिली पृ० २२५-३९६

परिवार में पुरुष-प्रभुता की समाप्ति का एक प्रधान कारण प्रजातन्त्र, समानता और स्वतन्त्रता के आधुनिक विचार हैं। प्रजातन्त्र की भावना ने राजनैतिक क्षेत्र में राजा की निरंकुश सत्ता का अन्त कर दिया है, वह परिवार में पुरुष की प्रभुता को क्षीण कर रही है।

(२) **संयुक्त परिवार का विघटन**—सम्मिलित कुटुम्ब पद्धति चिरकाल से हमारे समाज में प्रचलित है ( दे० दूसरा अध्याय )। महाभारत में एक रोचक कथा द्वारा इसका प्रबल समर्थन किया गया है[८३]। वर्त्तमान समय में इस प्राचीन परिपाटी का अन्त हो रहा है। दूसरे अध्याय में यह बताया जा चुका है कि कृषिजीवी समाज के लिये संयुक्त परिवार बड़ा उपयोगी होता है (पृ० ३७, ६६), औद्योगिक क्रान्ति द्वारा हमारे देश में जो नवीन आर्थिक परिस्थितियां उत्पन्न हो रही हैं ( पृ० ६८-६९ ), उनमें इस का देर तक टिका रहना संभव नहीं प्रतीत होता। इसके अतिरिक्त व्यष्टिवाद, स्वतन्त्रता और समानता की भावनायें, पश्चिमी कानून और अंग्रेजी शिक्षा इस के विघटन में सहायक सिद्ध हो रहे हैं ( दे० ऊ० पृ० ७०-७५ )। संयुक्त परिवार पद्धति के अनेक लाभ ( पृ० ८१-८३ ) होते हुए भी उसकी हानियों का पलड़ा इस समय भारी हो रहा है ( पृ० ७५-८१ )। वह इस समय हमारे समाज में अकर्मण्य व्यक्तियों की वृद्धि का साधन है, व्यक्तित्व के विकास में बाधक है, स्त्रियों की दुर्दशा का तथा पारिवारिक कलहों का एक मुख्य हेतु है, इन सब कारणों से संयुक्त परिवार प्रथा का अन्त अवश्यम्भावी है।

१९५१ की भारतीय जनगणना की रिपोर्ट के आंकड़े उपर्युक्त स्थापना को भली भांति पुष्ट करते हैं। इसमें पहली बार सदस्यों की संख्या के आधार पर कुटुम्बों की गणना के लिये यह निश्चित किया गया कि तीन या इससे कम सदस्यों वाले कुटुम्ब (Household) को लघु, चार से छः सदस्यों वाले को मध्यम, सात से नौ सदस्यों वाले घर को बृहत् (Large) तथा इससे अधिक सदस्य संख्या वाले घर को अति बृहत् ( Very large ) कहा जाय। इस हिसाब से गांवों और कस्बों में विभिन्न प्रकार के परिवारों की प्रतिशत संख्या निम्न तालिका में दी गयी है[८४]—

---

८३. **महाभा० भाण्डा० १।२५।१४-१५ भिन्नानामतुलो नाशः क्षिप्रमेव प्रवर्त्तते। तस्माच्चैव विभागार्थं न प्रशंसन्ति पण्डिताः॥**

८४. **सैन्सस आफ इंडिया १९५१ खं० १, भाग १—ए, पृ० ४९-५०**

| कुटुम्ब का प्रकार | एक सामान्य गांव में कुटुम्बों की संख्या | एक सामान्य कस्बे में कुटुम्बों की संख्या |
|---|---|---|
| लघु | ३३ | ३८ |
| मध्यम | ४४ | ४१ |
| बृहत् | १७ | १६ |
| अति बृहत् | ६ | ५ |
| सर्वयोग | १०० | १०० |

इस तालिका से यह स्पष्ट है कि गांवों और कस्बों में मध्यम अर्थात् चार से छः सदस्यों वाले कुटुम्बों की संख्या सबसे अधिक है और इससे अधिक सदस्यों वाले अति बृहत् परिवारों की संख्या सबसे कम है। जन गणना रिपोर्ट में इस बात पर आश्चर्य प्रकट किया गया है कि गांवों में प्रति तीसरा परिवार ऐसा है, जिसकी सदस्य संख्या तीन या इससे कम है[८५]। "छोटे घरों का इतने अधिक अनुपात में होना प्रथम दृष्टि में इस बात का सूचक है कि परिवार अब देश की परम्परागत प्रथा के अनुसार संयुक्त नहीं रहते, संयुक्त परिवार से अलग होने

इस तालिका में कुटुम्ब ( Household ) का अर्थ है--एक स्थान पर एकत्र रहने तथा एक सामान्य रसोई में भोजन करने वाले व्यक्ति ( वही रिपोर्ट पृ० ४८ )। गांव का आशय ऐसी बस्ती से है, जिसकी आबादी ५००० से कम हो, पांच हजार से एक लाख तक की जनसंख्या वाली बस्तियां कस्बा (Town) तथा इससे अधिक संख्या वाली नगर (City) कहलाती हैं ( वही रिपोर्ट पृ० ४४-४५ )।

८५. इस संख्या का महत्व इस बात से स्पष्ट होगा कि भारत की ३५ करोड़ ६९ लाख जनता में से २९ करोड़ ५० लाख भारत के ५,५८,०८९ गांवों में रहती है। गांवों में संयुक्त कुटुम्ब पद्धति इतनी तेजी से टूटने का यह कारण है कि आर्थिक दृष्टि से इनकी उपयोगिता ( दे० ऊ० पृ० ६६ ) समाप्त हो गयी है, भूमि इतने छोटे टुकड़ों में बंट गयी है कि उन पर बड़े परिवारों का तो क्या, छोटे परिवारों का पालन भी दुष्कर हो रहा है। शहरों में संयुक्त परिवार को भंग करने वाली परिस्थितियों का पहले उल्लेख हो चुका है ( दे० ऊ० पृ० ६८-६९ )। अतः गांवों तथा शहरों में समान रूप से संयुक्त परिवार का भविष्य अन्धकारमय है।

तथा पृथक् घर स्थापित करने की प्रवृत्ति प्रबल है"[८६]। अतः यह स्पष्ट है कि भावी हिन्दू परिवार एकाकी और छोटे होंगे।

(३) **परिवार के स्थायित्व का कम होना**—अभी तक हिन्दू परिवार में दम्पति यावज्जीवन इकट्ठा रहते हैं। विवाह-विच्छेद की व्यवस्था न होने से, पत्नी के आर्थिक दृष्टि से पति पर अवलम्बित होने से तथा परिवार के सदस्यों के आर्थिक हित एक जैसे होने से दाम्पत्यकलह होने पर भी परिवार का स्थायित्व अखंड बना रहता है। पारिवारिक जीवन दुःखमय होने पर भी भंग नहीं हो सकता। किन्तु भविष्य में परिवार का यह स्थायित्व बना रहना सम्भव नहीं प्रतीत होता। १९५४ के 'विशेष विवाह कानून' के अनुसार दम्पति कुछ प्रतिबन्धों के साथ पारस्परिक सहमति ( Mutual Consent ) से एक दूसरे को तलाक़ दे सकते हैं। प्रधान मन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरू द्वारा इस व्यवस्था के प्रबल समर्थन से इस बात की पूरी संभावना है कि १९५२ के हिन्दू विवाह और तलाक बिल के पार्लियामेंट में उपस्थित होने पर उसमें उपर्युक्त व्यवस्था अवश्य सम्मिलित की जायगी और पार्लियामेण्ट उग्र विरोध करने पर भी इसे उसी तरह पास करेगी, जैसे विशेष विवाह कानून ( स्पेशल मैरिज एक्ट) में इसे पास कर चुकी है। इसमें कोई संदेह नहीं कि इससे दुःखी और असन्तुष्ट दम्पतियों को एक दूसरे से मुक्ति पाने का अवसर मिलेगा। वर्तमान समय में भारत में तलाकों की संख्या बहुत कम है[८७], यह हिन्दू समाज के निम्न वर्ग तक ही सीमित है[८८],

---

८६ वही रिपोर्ट पृ० ५०

८७. १९५१ की जनगणना के अनुसार भारत में तलाक पाये व्यक्तियों की कुल संख्या १,४४,७८६ अर्थात् जनसंख्या का ०.४ प्रतिशत है।

८८. मेन—हिन्दू ला—११ वां संस्करण पृ० १७५-७६, स्त्री द्वारा एक पति को तलाक़ देने के बाद उस द्वारा दूसरे पुरुष के साथ पुनर्विवाह को गुजरात में नातरूँ और महाराष्ट्र में पाट कहते हैं। स्टील ने ला आफ कास्टस् एण्ड ट्राइब्स इन दक्खन में ( २६, १५९,१६८ ) वैस्ट और बुहलर ने अपने डाइजैस्ट ( ४र्थ संस्करण १९२१ ) में यह बताया है कि पति के नपुंसक होने, दम्पति में निरन्तर कलह होने, विवाह के ठीक ढंग से न होने, पति के बारह वर्ष तक बाहर रहने तथा पारस्परिक सहमति से पति द्वारा पत्नी का गले का आभूषण तोड़ने तथा पत्नी को 'छोड़ चिट्ठी' (तलाक नामा) देने से विवाह सम्बन्ध भंग हो जाता है। पंजाब के जाटों तथा दक्षिण कनारा के लिंगायतों में पति द्वारा परित्याग किये

भविष्य में मध्यम एवं उच्च वर्ग में भी इसकी प्रवृत्ति बढ़ेगी। इन वर्गों में स्त्री-शिक्षा का प्रसार अधिक होने से स्त्रियों का आर्थिक स्वावलम्बन भी कुछ अंशों में परिवार के स्थायित्व को कम करने में सहायक सिद्ध होगा। कृषि-प्रधान एवं देहाती परिवारों में पड़ोस का असर, गांव वालों द्वारा निन्दा एवं सामाजिक बहिष्कार की आशंका परिवार की स्थिरता का एक कारण होता है। औद्योगिक समाज में बड़े नगरों का विकास होने पर इस प्रकार का सामाजिक नियन्त्रण लगभग समाप्त हो जाता है[८९] और तलाक़ की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है। इसके साथ ही औद्योगिक क्रान्ति आर्थिक जीवन में परिवर्त्तन कर ( दे० ऊ० पृ० ६१० ) उन आर्थिक बन्धनों को लगभग समाप्त कर देती है, जो पहले परिवार को सुदृढ़ बनाये रखने में सहायक थे। धर्म पहले परिवार को स्थायित्व प्रदान करता था, किन्तु अब उसका प्रभाव क्षीण हो रहा है।

इस प्रकार परिवार को स्थिर बनाये रखने के लगभग सभी तत्वों—आर्थिक परिस्थितियों, सामाजिक नियन्त्रण और धर्म का असर कम होने तथा तलाक की व्यवस्था से भावी हिन्दू परिवार अतीत काल के अथवा वर्तमान काल के परिवार जैसा चिरस्थायी नहीं होगा।

(४) **कानूनी विषमताओं की समाप्ति**—भावी हिन्दू परिवार में नर-नारी के अधिकारों में कोई वैषम्य नहीं रहेगा। पहले ( दे० ऊ० पृ० ६३३ ) यह बताया जा चुका है कि दोनों के दाम्पत्य अधिकारों में समानता लाने वाले अनेक नये बिल पार्लियामेण्ट में पेश हैं। यद्यपि इनका उग्र विरोध हो रहा है, किन्तु इसमें कोई संदेह नहीं कि वे शीघ्र ही कानून का रूप धारण करेंगे और हिन्दू समाज में सभी क्षेत्रों में नर नारी के अधिकार लगभग समान हो जायेंगे[९०]।

जाने पर अथवा उस के मृत होने पर पत्नी दूसरा विवाह कर सकती है (पंजाब कस्टमरी ला २।१३१,१७४,१९०, ८ म० ४४० )। हिन्दू समाज में उच्च वर्ग के ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्यों को छोड़ कर शेष सभी जातियों में तलाक़ की परिपाटी है। हिन्दू समाज में तलाक का अधिकार देने का प्रभाव दोहरा होगा, इससे जहां एक ओर हिन्दू समाज के अल्पसंख्यक उच्च वर्ग में विवाह-विच्छेद की संभावना बढ़ेगी, वहां दूसरी ओर बहुसंख्यक शूद्र वर्ग को वर्त्तमान काल में रिवाज़ द्वारा प्राप्त तलाक़ का विस्तृत अधिकार नये विवाह कानून में बताये कारणों तक सीमित हो जायगा और इससे उनमें तलाकों की संख्या घटेगी।

८९. मोरर—दी फैमिली पृ० २०६

९०. लगभग शब्द का प्रयोग यहां जानबूझकर किया गया है, क्योंकि

अब तक भारत में सामाजिक परिवर्त्तनों की गति बड़ी मन्थर रही है। १८५६ ई० के विधवा पुनर्विवाह कानून को पास हुए लगभग एक शताब्दी बीत चली है, किन्तु अब तक इससे विधवाओं के विवाहों की संख्या में कोई बड़ा अन्तर नहीं आया। क्या भविष्य में उपर्युक्त कानूनों और परिवर्त्तनों का प्रभाव हिन्दू-परिवार पर इसी मन्दगति से पड़ेगा? वर्त्तमान समय में पंचवर्षीय तथा सामुदायिक योजनाओं द्वारा हमारे देश के आर्थिक जीवन का कायापलट तेजी से हो रहा है, हम औद्योगिक युग में प्रवेश कर रहे हैं। इस युग में सामाजिक परिवर्त्तन बड़ी शीघ्र गति से होते हैं[९१]। अतः इस बात की पूरी सम्भावना है कि भावी हिन्दू परिवार में परिवर्त्तनों की गति मन्द नहीं रहेगी। कुछ पश्चिमी देशों में कई पारिवारिक परिवर्त्तन चिन्ताजनक सीमा तक पहुँच गये हैं। क्या भारत में यही स्थिति उत्पन्न होगी? उदाहरणार्थ इंगलैण्ड में गर्भ-निरोध के साधनों के प्रसार और मातृत्व के विरुद्ध विद्रोह से जनसंख्या की वृद्धि की दर इतनी कम हो गयी है कि शाही कमीशन द्वारा लगाये एक हिसाब के अनुसार ग्रेट ब्रिटेन की जनसंख्या १९६२ ई० में ४ करोड़ ९९ लाख होगी तथा २०४७ ई० में घट कर २ करोड़ ९६ लाख ही रह जायगी[९२]। सं० रा० अमरीका में वर्त्तमान नैतिकता और पारिवारिक व्यवस्था के विरुद्ध युवक युवतियों ने जबर्दस्त विद्रोह किया है,[९३], वहां १९२९ में तलाकों की संख्या २,०५,८७६ थी, अर्थात् प्रति

---

स्त्री-पुरुष के अधिकारों में पूरी कानूनी समानता स्थापित करना स्त्रियों की दृष्टि से वांछनीय नहीं है। स्त्रियों के स्वास्थ्य की रक्षा की दृष्टि से कारखानों में उनके काम करने के सम्बन्ध में अनेक विशेष कानून बने हुए हैं, उन्हें प्रसूति तथा सन्तान पालन आदि के लिये विशेष सुविधायें प्रदान की जाती हैं। नर-नारी की समानता पर अत्यधिक बल देने वाले सोवियत रूस में भी ऐसे कानून विद्यमान हैं। संयुक्तराज्य अमरीका में सीनेट ने २५ जनवरी १९५० को जो समानाधिकार संशोधन बिल पास किया है, उसमें यह शर्त्त रखी गयी है कि स्त्रियों की रक्षा की दृष्टि से बनाये गये विशेष कानून बने रहेंगे। समानाधिकारवादी स्त्रियां वहां इस शर्त्त का विरोध कर रही हैं। ( इलियट एण्ड मैरिल—सोशल डिसआरगैनिजेशन पृ० ३५०-५१ )

९१. सेट—न्यू होराइजन्स फार दी फैमिली पृ० ३६-४५

९२. १९५१ की भारत की जनगणना रिपोर्ट खं० १, भाग १ प्र० १७८

९३. लिन्जी—रिवोल्ट आफ दी माडर्न यूथ, सेट—न्यू होराइजन्स फार दी फैमिली पृ० ५४७-४५

दो मिनट में एक विवाह-विच्छेद होता था। १९४६ में संभवतः युद्धकालीन परिस्थितियों के कारण यह संख्या ६,१०,००० तक पहुँच गयी, इसके बाद इसमें कमी होने लगी, १९४८ में यह संख्या घटकर ४,०५,००० हो गयी अर्थात् प्रति मिनट वहां एक तलाक दिया जाता था[९४]। नवीन कानूनों से हिन्दू परिवार में भविष्य में इस प्रकार के विवाह-विच्छेदों की संख्या कहां तक बढ़ेगी ? जन-संख्या कहां तक घटेगी ? वर्त्तमान नैतिकता, परिवार-व्यवस्था और मातृत्व के विरुद्ध कितना उग्र विद्रोह होगा ? वर्त्तमान परिस्थितियों में ये अतिप्रश्न हैं। इनका यथार्थ उत्तर कालापेक्ष है और भविष्य के गर्भ में है। इस समय तो केवल उन प्रवृत्तियों का निर्देश मात्र किया जा सकता है, जो भावी हिन्दू परिवार में प्रबल होंगी, उन प्रवृत्तियों की प्रबलता की मात्रा का निर्धारण संभव नहीं है।

**उपसंहार**—उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि भविष्य में हिन्दू परिवार में संयुक्त कुटुम्ब पद्धति का लोप हो जायगा, परिवार एकाकी ( Single ) होंगे, उनमें बच्चों की संख्या कम होगी, मातृत्व ऐच्छिक तथा आयोजित होगा, बालविवाह कम होंगे, अविवाहित रहने तथा बड़ी आयु में परिणय करने की प्रवृत्ति बढ़ेगी। युवक युवती अपना जीवन-संगी स्वयं चुनेंगे, प्रणय-विवाह अधिक होंगे। परिवार में पुरुष की प्रभुता का अन्त हो जायगा, बच्चों पर पिता के अधिकार कम होंगे, उनकी शिक्षा, स्वास्थ्य और भरण पोषण की व्यवस्था राज्य की ओर से अधिक मात्रा में होने लगेगी। पति-पत्नी कुटुम्ब में समान स्थिति का उपभोग करेंगे, कामन्दकी के शब्दों में उस समय पति पत्नी की तथा पत्नी पति की प्रियतम वस्तु होगी, वे एक दूसरे के मित्र, बन्धु, निधि और जीवन होंगे[९५]। उस समय भार्या की वर्त्तमान हीन स्थिति का अन्त हो जायगा। पति-पत्नी के कानूनी अधिकारों में कोई विषमता नहीं रहेगी। परिवार का आर्थिक और धार्मिक महत्व लगभग समाप्त हो जायगा। परिवार के वर्त्त-

---

९४. इलियट एण्ड मैरिल—सोशल डिसआरगैनिजेशन पृ० ४४०। तलाक के उपर्युक्त आंकड़े ऊपर से देखने में काफी भयावह प्रतीत होते हैं, किन्तु प्रतिवर्ष के कुल विवाहों के साथ तुलना करने में ये उतने भीषण नहीं रहते। १९३० से १९४७ तक १०० विवाहों के पीछे तलाकों की औसत दर २०.१ प्रतिशत ही थी ( इलियट—पू० पु० पृ० ४३७-३८ )।

९५. मालती माधव ६।१८ प्रेयो मित्रं बन्धुता वा समग्रा, सर्वे कामाः शेवधिर्जीवितं वा। स्त्रीणां भर्त्ता धर्मदाराश्च पुंसामित्यन्योन्यं वत्सयोर्ज्ञातमस्तु ॥

मान स्थायित्व में कमी आयेगी, विवाह-विच्छेदों की संख्या बढ़ेगी। विवाह द्वारा परिवार-निर्माण एक आवश्यक कर्त्तव्य नहीं, किन्तु ऐच्छिक कार्य होगा और उसका प्रधान आधार दाम्पत्य प्रेम होगा। संभवतः इस स्थिति में पति-पत्नी में अनुराग का पूर्ण विकास होगा। वर्त्तमान समय में पत्नी के आर्थिक पराव-लम्बन के कारण पति से प्रीति न होने पर भी वह उसके साथ दाम्पत्य जीवन बिताने के लिये विवश है। भविष्य में यदि हिन्दू स्त्री स्वावलम्बी हो सकी तो दुःखमय विवाहों से मुक्ति पा सकेगी। इससे तलाकों की संख्या बढ़ेगी, परिवार की स्थिरता कम होगी। किन्तु इसके साथ ही स्नेह परिवार का एकमात्र आधार होने से, दाम्पत्य प्रेम की प्रगाढ़ता में वृद्धि होगी, भवभूति [९६] द्वारा उत्तरराम-चरित में वर्णित दाम्पत्य स्नेह का वह स्वरूप अधिक पुष्ट होगा, "जो सुख-दुःख में एक जैसा अपरिवर्त्तित ( अद्वैत ) रहता है, ( निर्धनता, समृद्धि आदि ) जीवन के ऊँच नीच में भी निरन्तर बना रहने वाला है, जो हृदय का विश्राम स्थल है, जिसका आनन्द बुढ़ापे से भी कम नहीं होता, जो बहुत दिनों तक साथ रहने तथा हृदयों के आवरण हट जाने से परिपाक को प्राप्त हुए प्रकृष्ट प्रेम पर अवलम्बित है।"

---

९६. उत्तर रामचरित १।३९ अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगतं सर्वास्ववस्थासु यद्विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्नहार्यो रसः। कालेनावरणात्ययात्परिणते यत्स्नेहसारे स्थितं भद्रं तस्य सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत्प्राप्यते ॥

# प्रथम परिशिष्ट

## धर्मशास्त्रसम्बन्धी प्रधान ग्रंथों तथा लेखकों का काल

अग्नि पुराण—८००-९०० ई० ( हरप्रसाद शास्त्री )

अर्थशास्त्र—कौटिल्यकृत, चौथी श० ई० पू०

अनन्तदेव—संस्कार कौस्तुभ ( १६५०-८० ) का प्रणेता

अपरार्क—याज्ञवल्क्य स्मृति का टीकाकार —११२५ ई०

असहाय—नारद स्मृति का पहला भाष्यकार ७००-७५० ई०

आपस्तम्ब धर्मसूत्र—६००-३०० ई० पू०

कमलाकर भट्ट—विवाद ताण्डव ( १६१०-४० ) का लेखक

कात्यायन स्मृति—४००-६०० ई०

कुल्लूक भट्ट—मनुस्मृति का एक टीकाकार १२५० ई० लग०

कृत्यकल्पतरु—लक्ष्मीधर मिश्र ( ११००-११५० ) द्वारा लिखा हुआ पहला निबन्ध ग्रन्थ ।

कौटिलीय अर्थशास्त्र—चौथी शती ई० पू०

गृह्यसूत्र—श्रौतसूत्र देखिये ।

गोविन्दराज—मनुस्मृति का एक टीकाकार १०५०-११०० ई०

गौतम धर्मसूत्र—६००-४०० ई० पू०

चण्डेश्वर—विवाद रत्नाकर ( १२९०-१३७० ई० ) का लेखक

जैमिनि—पूर्व मीमांसा दर्शन का प्रणेता, ५००-२०० ई० पू० लग०

दत्तकमीमांसा—नन्द पण्डित कृत, १५९५-१६३० ई०

दायभाग—जीमूतवाहन कृत, ११००-११५० ई०

दायतत्व—रघुनन्दन कृत १५२०-१५७५ ई०

दीपकलिका—शूलपाणि देखिये

देवण्ण भट्ट—स्मृति चन्द्रिका का लेखक १२००-१२२५ ई०

धर्मसूत्र—गौतम, बौधायन, आपस्तम्ब और वसिष्ठ के धर्मसूत्रों तथा पारस्करादि कुछ गृह्य सूत्रों का काल ६००-३०० ई० पू० है ।

नन्द पण्डित—दे० दत्तक मीमांसा

नारद स्मृति—१००-४०० ई०

निरुक्त—यास्काचार्यकृत, ८००-५०० ई०

निर्णय सिन्धु—कमलाकर भट्ट कृत १६१०-१६४० ई०

नीलकण्ठ—व्यवहार मयूख देखिये

पराशर माधवीय—पराशर स्मृति पर माधवाचार्य की टीका १३००-१३८० ई०

पराशर स्मृति—१ ली से ५ वीं श० ई०

पाणिनि—अष्टाध्यायी का प्रणेता ६००-३०० ई० पू०

पुराण—वायु, विष्णु, मार्कण्डेय, मत्स्य और कूर्मपुराण ३००-६०० ई० के बीच में लिखे गये हैं। इनके कुछ अंश अधिक प्राचीन हैं।

प्रतापरुद्रदेव—सरस्वती विलास का निर्माता १५००-१५२५ ई०

बालक्रीडा—विश्वरूपकृत याज्ञवल्क्य स्मृति की सबसे पुरानी टीका, ८००-८५० ई०।

बालम्भट्टी—बालम्भट्ट पायगुण्डे कृत याज्ञवल्क्य स्मृति की मिताक्षरा टीका की व्याख्या, १७५०-१८२० ई०

बृहस्पति स्मृति—३००-५०० ई०

बृहत्संहिता—दे० वराह मिहिर

बौधायन धर्मसूत्र—५००-२०० ई० पू०

भोज ( धारेश्वर )—१०००-१०५५ ई०

मदन पारिजात—विश्वेश्वर भट्ट कृत, १३६०-९० (जाली और काणे) ; ११७५ ई० ( पटना हाई कोर्ट )।

मनुस्मृति—२००-१०० ई० पू०

महाभाष्य—पतंजलिकृत, १५० ई० पू०

मिताक्षरा—विज्ञानेश्वरकृत याज्ञवल्क्य स्मृति की टीका १०७०-११०० ई०

मित्रमिश्र—वीर मित्रोदय देखिये

मेधातिथि—मनुस्मृति का पहला टीकाकार ९०० ई०

याज्ञवल्क्य स्मृति—१००-३०० ई०

यास्क—निरुक्त का लेखक ८००-५०० ई० पू०

रघुनन्दन—दायतत्व का लेखक १५२०-१५७५ ई०

लक्ष्मीधर मिश्र—कृत्यकल्पतरु का लेखक ११००-११५० ई०

वरदराज—व्यवहार निर्णय का लेखक १२००-१३००

वराहमिहिर—बृहत्संहिता का लेखक ५०५-५८७ ई०
वसिष्ठ धर्मसूत्र—३००-१०० ई० पू०
वाचस्पति मिश्र—दे० विवाद चिन्तामणि
विज्ञानेश्वर—याज्ञवल्क्य स्मृति पर मिताक्षरा नामक टीका का लेखक १०७०-११०० ई०
विवाद चन्द्र
विवाद चिन्तामणि—वाचस्पति मिश्र कृत, १५००-१५५० ई०
विवाद ताण्डव—कमलाकर भट्टकृत १६१०-४० ई०
विश्वरूप—याज्ञवल्क्य स्मृति की बालक्रीडा टीका का लेखक ८००-८५० ई०
विश्वेश्वर भट्ट—मदन पारिजात देखिये
विष्णु स्मृति—इसका पुराना अंश ३००-१०० ई० पू० का है और नवीन अंश ३ री से ७ वीं० श० ई० का है
वीरमित्रोदय—मित्रमिश्र कृत, १६१५-४५। यह ग्रन्थ संस्कार प्रकाश, व्यवहार प्रकाश आदि अनेक प्रकाशों में बंटा है।
वैजयन्ती—नन्दपण्डितकृत विष्णुधर्मसूत्र की टीका, १५९५-१६३० ई०
वैद्यनाथ दीक्षित—स्मृतिमुक्ताफल का प्रणेता, १६०० ई०
वैदिक साहित्य—४०००-१००० ई० पू०, संहिताओं, ब्राह्मण ग्रन्थों तथा प्राचीन उपनिषदों का यह आनुमानिक काल है। इनके अंश ४००० ई० पू० से प्राचीन तथा १००० ई० पू० से अर्वाचीन हो सकते हैं।
व्यवहार निर्णय—वरदराज कृत, १२००-१३०० ई०
व्यवहार मयूख—नीलकण्ठ भट्ट कृत १६१५-४५ ई०; इसके अन्य ग्रन्थ नीतिमयूखादि हैं।
व्यास स्मृति—दूसरी से पांचवीं शती ई० लग०
शंखलिखित—३०० ई० पू० से १०० ई०
शबर—जैमिनि के पूर्वमीमांसा दर्शन का भाष्यकार, २००-५०० ई०
शूलपाणि—याज्ञवल्क्य स्मृति पर दीपकलिका नामक टीका का लेखक, १३७५-१४६०
श्रौतसूत्र—आपस्तम्ब, आश्वलायन और बौधायन श्रौतसूत्रों का तथा आपस्तम्ब और आश्वलायनादि कुछ गृह्यसूत्रों का काल ८००-४०० ई० पू० है।
सरस्वती विलास—प्रतापरुद्रदेव कृत १५००-१५२५ ई०

स्मृतिचन्द्रिका—देवण्ण भट्ट कृत, १२००-१२२५ ई०

स्मृति मुक्ताफल—वैद्यनाथ देखिये

हरदत्त—गौतम तथा आपस्तम्ब धर्मसूत्रों का टीकाकार ११५०-१३०० ई०

हरिनाथ—स्मृतिसार का लेखक १३००-१३५० ई०

हारीत—धर्मसूत्र प्रणेता ४००-७०० ई०

हिरण्यकेशी धर्मसूत्र—६००-३०० ई० पू०

हेमाद्रि—चतुर्वर्गचिन्तामणि का लेखक, रचना काल १२६०-७० ई०

धर्मग्रन्थों का उपर्युक्त कालक्रम मुख्यरूप से श्री पाण्डुरंग वामन काणे की प्रसिद्ध पुस्तक हिस्टरी आफ धर्मशास्त्र के प्रथम खण्ड के आधार पर दिया गया है ।

—

# द्वितीय परिशिष्ट

## (क) परिवार का वैदिक आदर्श

(१)

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः ।
अन्यो अन्यमभिहर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥

(२)

अनुव्रतः पितु पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः ।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम् ॥

(३)

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मा स्वसारमुत स्वसा ।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ॥

(४)

येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः ।
तत् कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः ॥

(५)

ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः ।
अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोमि ॥

(६)

समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि ।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः ॥

(७)

सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोम्येकश्नुष्टीन्त्संवननेन सर्वान् ॥
देवा इवामृतं रक्षमाणाः सायं प्रातः सौमनसो वो अस्तु ॥

अथर्ववेद ३।३०

## (ख) परिवार प्रशस्ति

यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम् ।
तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम् ॥

मनुस्मृति ६।९०

यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः ।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः ॥

मनु० ३।७७

यस्मात् त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम् ।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तमाज्ज्येष्ठाश्रमो गृही ॥

मनु० ३।७८

देवैश्च मनुष्यैश्च तिर्यग्भिश्चोपजीव्यते ।
गृहस्थः प्रत्यहं यस्मात् तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही ॥

दक्ष संहिता ।

यदि रामा यदि च रमा यदि तनयो विनयधीगुणोपेतः ।
तनये तनयोत्पत्तिः सुरवर नगरे किमाधिक्यम् ॥

चाणक्य शतक १७।१६

सानन्दं सदनं सुताश्च सुधियः कान्ता न दुर्भाषिणी,
सन्मित्रं सुधनं स्वयोषिति रतिश्चाज्ञापराः सेवकाः ।
आतिथ्यं शिवपूजनं प्रतिदिनं मिष्टान्न पानं गृहे,
साधो संगमुपासते हि सततं धन्यो गृहस्थाश्रमः ॥

चाणक्य शतक १२।१

——

# तृतीय परिशिष्ट

## पारिभाषिक शब्द सूची

*अंग्रेजी-हिन्दी*

Absolute Estate —पूर्ण स्वत्व, दे०, Estate ।
Acquire —अर्जन करना ।
Acquisition —अर्जन, अवाप्ति, उपलब्धि ।
Act —अधिनियम, राजनियम ।
Adoption —पुत्रीकरण, गोद लेना, दत्तक ग्रहण करना ।
Adult —प्रौढ़ ।
Adultery —जारकर्म, विवाहित पुरुष या स्त्री का व्यभिचार मि० Fornication या व्युच्चरण (महाभा० १।१२२।५ ), पारदार्य ।
Adulterer —जार Adulterire जारज, Adulteress जारिणी ।
Adverse Possession भोग ( व्यास-सागमो दीर्घकालश्च छेदोपाधि-विवर्जितः । प्रत्यर्थिसंनिधानश्च पंचांगो भोग उच्यते ), विपरीत भुक्ति ।
Affliation —पुत्रीकरण, गोद लेना ।
Agnate —गोत्रज ( याज्ञ० २।१३६ ), गोत्री ( हारीत व्यप्र० ४८६ ), मि० हिन्दी गोती, पितृबन्धु (कौ० ३।७) पिता के पक्ष से संबद्ध पुरुष सम्बन्धी, सकुल्य ।
Alienation —अपहार ( महाभारत १३।४७।२५, स्त्रीणां तु पतिदायाद्यमुपभोगफलं स्मृतम् । नापहारं स्त्रियः कुर्युः पितृवित्तात्कथंचन), निर्हार (मनु० ९।१९९ न निर्हारं स्त्रियः कुर्युः कुटुम्बाद्बहुमध्यगात्), परहस्तकरण ।
Alienor —अपहारक, परहस्तकर्त्ता ।

Alienee —अपहारग्राही ।

Ancestral Property—पैतृक सम्पत्ति, पैतामह द्रव्य ( बृह०—ऋणं लेख्यं गृहं क्षेत्रं यस्य पैतामहं भवेत् दा० पृ० १३२-३३ में उ०), पित्र्य धन (ना० स्मृ० १६।४४) ।

Antecedent Debt —पूर्ववर्त्ती ऋण ।

Appointed Daughter—पुत्रिका, लड़का बना कर रखी हुई लड़की ।

Bare maintenance—दे० maintenance

Bastard —जारज, कुंड (हारीत स्मृच० २३९) ।

Chastity —सतीत्व ।

Code —विधि-संहिता, विधि-संग्रह, विधान ।

Code of Civil Procedure व्यवहारक्रियाविधिसंग्रह, ज़ाब्ता दीवानी ।

Code criminal Procedure दंडक्रियाविधि संग्रह, ज़ाब्ता फौजदारी ।

Cognate —मातृपक्ष द्वारा संबद्ध व्यक्ति, मातृबन्धु, मिताक्षरा में इसके लिये केवल बन्धु शब्द का प्रयोग है । मि० Agnate ।

Collateral —एक ही पूर्वज की वंशपरम्परा से सम्बन्ध रखने वाले किन्तु पिता, पुत्र, पौत्र जैसा क्रमागत (Lineal) संबन्ध न रखने वाले, जैसे चचेरे भाई, पितृबन्धु, सपिण्ड, समानोदक ।

Collateral succession–पिता से भिन्न चाचा आदि की सम्पत्ति का उत्तराधिकार, पितृव्य परम्परा ( मिता० याज्ञ० २।१३५-३६ ) पितृबन्धूत्तराधिकार (कौ० ३।७ ) ।

Commensality —एकपाक, एक ही चूल्हे पर या रसोई में भोजन करने वाले ।

Compact series —बद्धक्रम ।

Consanguity —प्रत्यासत्ति ( मिता० २।१३५-३६), रक्तसंबन्ध की समीपता ।

Contingent Property—सप्रतिबन्ध दाय ।

Coparcenary —समांशिता, साझेदारी, समभागिता ( व्यास अप० २।११९ में, शेषास्तु समभागिनः ) ।

Coparcener —एक पूर्वज की सम्पत्ति में समान अंश का अधिकार रखने वाले, समांशी ( बृह० स्मृच० २६४ में उ०—पितृरिक्थहराः पुत्राः सर्वे एव समांशिनः) ।
Custom —रिवाज़, रूढ़ि, परम्परा, आचार ।
Customary —आचारिक, पारम्परिक, लोकप्रचलित ।
Deceased —प्रमीत, मृत ।
Deformity —विरूपता, व्यंगता ।
Descendant —वंशज, वंश्य, अन्वयी ।
Desertion —त्याग, किसी पति का अपनी पत्नी की इच्छा के विरुद्ध उसे छोड़ना ।
Devise —वसीयत या संकल्पपत्र द्वारा सम्पत्ति देना ।
Devolution —संक्रमण पिता आदि से पुत्र प्रभृति को सम्पत्ति का मिलना ( पुत्रसंक्रान्तलक्ष्मीकै : —उत्तररामचरित १।२२ ) ।
Disability —असमर्थता ।
Disinherit —दायाधिकार से वंचित करना, निर्भाजन (कात्यायन दायभाग ५३ में उद्धृत ) ।
Disposal —विनियोग ।
Divorce —विवाह-विच्छेद, मोक्ष (कौटिलीय अर्थशास्त्र ३।३) ।
Entitled —अधिकारी ।
Entitled to a share—अंशार्ह, अंशाधिकारी ।
Escheat —अदायाद सम्पत्ति पर राज्य का अधिकार होना, राजगामिता (ना० स्मृ० १६।५१ ततः सजात्याः सर्वेषामभावे राजगामि तत् ) ।
Estate —भूमि, मकान तथा अन्य किसी प्रकार की सम्पत्ति में स्वत्व, किसी व्यक्ति की सब प्रकार की सम्पत्ति ।
Exclusion —निःस्सारण, निषेध, व्युदास ।
Execution —निष्पत्ति, सिद्धि, निर्वहण ।
Exposure —किसी व्यक्ति को जंगल में छोड़ देना, ताकि वह जंगली जानवरों का भक्ष्य बन सके । परासन, उद्धिति ।

Free love —स्वच्छन्द प्रणय ।
Free marriage —स्वच्छन्द विवाह ।
Forfeiture —अधिकारभ्रंश ।
Fornication —अविवाहित स्त्री या पुरुष का अवैध मैथुन, व्युच्चरण (महाभा० १।१२२।५–तासां व्युच्चरमाणानां कौमारात्सुभगे पतीन् )।
Full Blood Brothers सोदर्य, सोदर मि० Half-blood Brothers ।
Gains of Learning—विद्याधन ।
Group marriage —गणविवाह ।
Half Blood Brothers -ऐसे भाई जिनका पिता एक किन्तु माता भिन्न हो, भिन्नोदर, वैमात्र, अन्योदर्य ।
Harlot —पुंश्चली ( का० सं० ३४।५ ), बंधकी (महाभा० १।१२३।७७ )।
Heir दायाद, रिक्थहर, अंशहर, रिक्थभागी ।
Hereditary —वंशागत, परम्परागत, पैतृक, पित्र्य ।
Hereditary succession—पैतृक उत्तराधिकार ।
Heritable —दायार्ह ।
Heritage —दायाद को मिलने वाली सम्पत्ति, दाय, ऋक्थ, दायाद्य ( दायाद्यं दायादग्राह्यमृक्थम् विर० ५९२ )।
Hetaera —स्वैरिणी ( नारद स्मृ० १३।४९-५३ )।
Hetaerism —स्वैरिणीत्व, समाज की वह कल्पित आदिम अवस्था जिसमें स्त्रियां सारे समाज की समझी जाती थीं।
Idiot —जड़, मूढ़।
Immovable Property—स्थावर सम्पत्ति ।
Illegitimate son —जारज, कौलटेय ।
Inherit —उत्तराधिकार में दाय पाना ।
Inheritance (क) उत्तराधिकार में दाय पाने की क्रिया, रिक्थहरण (ख)इस प्रकार प्राप्त सम्पत्ति, दाय, ऋक्थ ।
Intestate Death —विना वसीयत या संकलपत्र किये किसी व्यक्ति का मरना ।

Intestate succession निःसंकल्पपत्रक उत्तराधिकार ।
Interest --किसी वस्तु में अधिकार या स्वत्व ।
Joint --संयुक्त ।
Joint family --संयुक्त परिवार ।
Joint family property-संयुक्त परिवार की सम्पत्ति ।
Joint Heir समांशी, समभागी ।
Joint Property --संयुक्त सम्पत्ति ।
Kinsman --बन्धु ।
Kinship-- --बन्धुता ।
Law --(१) विधि, कानून, (२) धर्मशास्त्र ।
Limited Estate --सीमित स्वत्व ।
Line --वंश, कुल, अन्वय ।
Lineal --कुलक्रमागत, परम्परीण ।
Lineal descent --कुलक्रमागम, अन्वयागम ।
Lineal Descendant--सन्तान, सन्तति ।
Lineal Heir --क्रमागत उत्तराधिकारी ।
Lineally --क्रमागम द्वारा ।
Lineally Dscended--वंशक्रमागत ।
Lineal succession--क्रमागत उत्तराधिकार, मि० Collateral succession
Maiden --कुमारी ।
Maintenance --जीवन निर्वाह के लिये दी जाने वाली राशि, भरण, भर्म ( कौ० ३।२ ), जीवन ( हारीत-विधवा यौवनस्था चेन्नारी भवति कर्कशा । आ आयुषः क्षपणार्थं तु दातव्यं जीवनं तदा ॥ मिता० २।१३५ में उद्धृत )।
Bare maintenance--ग्रासाच्छादन ( कात्या० स्मृच० २७१ में--ग्रासाच्छादनमत्यन्तं देयं तद्बन्धुभिर्मतम् ) ।
Major --संप्राप्त व्यवहार ( कौ० ३।५ ), व्यवहारज्ञ ( नारद स्मृ० ४।३१ ), बालिग़ ।
Male agnate --पुरुष गोती ।

Male heir —पुरुष उत्तराधिकारी ।
Male lineal descendant–पुरुष क्रमागत उत्तराधिकारी ।
Male members of the family —परिवार के पुरुष सदस्य ।
Maternal —मातृक ।
Maternal Inheritance—मातृक दाय ।
Maternal relatives—मातृ सम्बन्धी ।
Maternity —मातृत्व ।
" —Improvident—अव्यवस्थित मातृत्व ।
Matrimony —परिणय ।
Matriarchal Family–मातृतन्त्रीय परिवार ।
Matrilineal Family –मातृवंशी परिवार ।
Metronymic —मातृनामी ।
Minor —नाबालिग, पौगण्ड ( नारद विचि० पृ० २४ द्वारा उद्धृत—बाल आषोडशाद्वर्षात्पौगण्डश्चेति कथ्यते )।
Moiety —अर्धांश ।
Monogamy —एकविवाह ।
Mortgage —बन्धक, आधि ( बृह० स्मृच०, पृ० २९१ ), आधमन ( बृहस्पति स्मृच०, पृ० २९२ )।
Motherright —मातृकाधिकार ।
Nephew —(१) भाई का लड़का, भ्रातृव्य, भतीजा (२) भांजा, बहिन का लड़का भागिनेय, स्वस्त्रीय ।
Paraphernalia —विवाहित स्त्री की दहेज के अतिरिक्त वस्त्राभूषणादि की ऐसी सम्पत्ति जिस पर उसे पूर्ण स्वामित्व होता है, परिच्छद, परिणाह्य ।
Patriarchal Family–पितृतन्त्रीय परिवार ।
Patria Potesta पूर्ण पितृप्रभुत्व ।
Patriliny पितृवंशीयता ।
Patronymic पितृनामी ।
Partition —विभाग, बंटवारा ।

| | |
|---|---|
| Partition made during the life-time of the father or parents | —जीवद्विभाग ( कौटिलीय अर्थशास्त्र) । |
| Pater familias | —गृहपति, कुटुम्ब का मुखिया । |
| Paternal | —पैतृक । |
| Paternal Wealth | —पितृदाय, पितृद्रव्य । |
| Paternal grandfather and mother | –पितामह, पितामही, दादा, दादी । |
| Paternal ancestor in the fourth, fifth, and sixth degree | —लेपभागी, लेपी । |
| Paternity | पितृत्व । |
| Patrmiony | पितृदाय । |
| Pedigree | वंशावलि । |
| Per Capita | मुण्डशः, प्रतिव्यक्ति । |
| Per Stirpes Division of the property | —दायभाग की वह पद्धति जिसमें सम्पत्ति सब दायादों की संख्या के अनुरूप हिस्सों में नहीं बांटी जाती, किन्तु पिता अथवा मूल दायादों की संख्या के अनुरूप हिस्सों में बांटी जाती है, दे० पृ० ३०३। इसकी पुरानी संज्ञा पितृतो विभाग है ( याज्ञ० २।१२० ) । अंग्रेजी शब्द के धात्वर्थ के अनुसार इसे प्रतिशाख कह सकते हैं । |
| Polyandry | —बहुभर्तृता, बहुपतित्व । |
| Polygamy | —बहुविवाह । |
| Polygyny | —बहुभार्यता, बहुपत्नीत्व । |
| Posthumous child | —ऊर्ध्वजात, मृत्यूत्तरक । |
| Pre-emption | —पूर्वक्रयाधिकार । |
| Primogeniture | —ज्येष्ठ पुत्र द्वारा पैतृक सम्पत्ति के एक मात्र उत्तराधिकारी होने का नियम, अग्रजाधिकार, ज्यैष्ठ्य । |
| Progenitor | —जनक । |

Property —सम्पत्ति।
Personal Property वैयक्तिक सम्पत्ति।
Real Property स्थावर सम्पत्ति।
Movable, immovable property चल, अचल सम्पत्ति।
Property of reunited coparceners संसृष्टधन (याज्ञ० २।१३८ पर मिता०)।
Property for which there is no claimant प्रहीण द्रव्य (वसिष्ठ धर्मसूत्र १६।१७)।
Propositus वह मूल पूर्वज या आदि पुरुष जिससे ऊपर और नीचे की पीढ़ियां गिनी जाती हैं, मध्य स्थित (दायभाग ११।१।३८)।
Promiscuity —कामचार, अनावरण (महाभा० १।१२२।४ अनावृताः किल पुरा स्त्रिय आसन्वरानने। कामचारविहारिण्यः स्वतन्त्राश्चारुहासिनि)।
Putative father —अवैध सन्तान का अभिकल्पित पिता।
Restitution —प्रतिस्थापन।
of conjugal rights दाम्पत्य अधिकार प्रतिस्थापन।
Reunion —हिन्दू परिवार के विभक्त सदस्यों का मिलना, संसृष्टि।
Reunited coparceners संसृष्ट दायाद।
Reunited Hindu family संसृष्ट हिन्दू परिवार।
Reversion —किसी सम्पत्ति का उसे देने वाले या उसके उत्तराधिकारियों को लौट जाना, परावर्त्तन।
Reversioner —परावर्त्ती, परावर्तनभागी।
School —सम्प्रदाय, शाखा।
Self-acquired property—स्वार्जित सम्पत्ति।
Share —अंश, भाग।
Allotment of shares—भागकल्पना (याज्ञ० २।१२०), अंशकल्पना (मनु० ९।११६), अंशप्रदान (मनु० ९।२२१)।

Equal share —समभाग।
Sharer —अंशहर।
Simultaneous heir—युगपद् दायाद, समकालीन अंशहर।
Single family —एकाकी परिवार वि० संयुक्त परिवार।
Subsidiary son —औरस के अतिरिक्त अन्य प्रकार के पुत्र, गौणपुत्र।
Succession —उत्तराधिकार।
—Intestate S. वसीयत रहित अथवा निःसंकल्पपत्रक उत्तराधिकार।
—Testamentary S. वसीयती अथवा संकल्प पत्रक उत्तराधिकार।
Survive —उत्तरजीवी, अतिजीवी या पश्चाज्जीवी होना।
Survivorship —उत्तरजीविता, अतिजीविता।
Title —भूमि अथवा सम्पत्ति के स्वामित्व का अधिकार या ऐसे अधिकार के प्रमाणीकरण का साधन, आगम ( याज्ञ० ३।२८ आगमेन विशुद्धेन भोगो याति प्रमाणताम् )।
Transfer —हस्तान्तर करना।
Transfer of property—सम्पत्ति का हस्तान्तर।
Unchastity —असतीत्व, कुलटापन।
Undivided —अविभक्त।
Usage —आचार।
Uterine Brother—सोदर, सोदर्य।

---

# शुद्धिपत्र

| पृष्ठ संख्या | पंक्ति संख्या | अशुद्ध | शुद्ध |
|---|---|---|---|
| १७ | २६ | ८।९१।२५ | ७।९१।२५ |
| २१ | ७ | और उस | और आप उस |
| २६ | २४ | घर में एक पति | घर में पति |
| ३३ | फोलियो | दूसरा प्रयोजन धर्म का पालन | संयुक्त परिवार के उपादान |
| ४६ | ३१ | जिनीससमें यूसुफ | जिनीसस ( अ० ३७, ३९-५० ) में यूसुफ |
| ५६ | २८-२९ | याज्ञ० ( २।१११८-५९ ) | याज्ञ० (२।११८-९) |
| ७९ | २६ | पृ० | पृ० २४ |
| ९१ | २२ | या भर्त्ता | यो भर्त्ता |
| १०१ | १५ | लतर्नो | लतूर्नो |
| १११ | २२ | जातिषु | ज्ञातिषु |
| १२१ | २६ | मादा किसी पेड़ में | नर किसी पेड़ में |
| १२५ | ५ | उसका | उनका |
| १३२ | २९ | मय पत्नीं | मम पत्नीं |
| १३२ | ३० | ८।९१।२५ | ७।९१।२५ |
| १३४ | २२ | १०, रजस्वला | १०, दे० ऊ० टि० ७; रजस्वला |
| १३५ | २२ | अपलिवत्र | अपवित्र |
| १३६ | ७ | कारक्ष | कारण |
| १३६ | ८ | कृष्णवर्ला | कृष्णवर्णा |
| १३६ | २८ | ८।१७ | १८।१७ |
| १३८ | १ | मनु विवाह | मनु ने विवाह |
| १४० | ७ | स्वर्ग के देवताओं से | देवताओं से स्वर्ग के |
| १४२ | ३ | विचारर | विचार |
| १४२ | २९ | शनपथ | शतपथ |

| | | | |
|---|---|---|---|
| १४३ | १३ | कालोलूकीय | काकोलूकीय |
| १४३ | २१ | इंसा० रि० ई० | इंसा० रि० ई० खं०८पृ० ४५०, का० सं० ३।१।१ |
| १५१ | २२ | बचन | वचन |
| १५३ | ३ | डालेंगें। | डालेंगे (वा० रा० ५।२२।९ ) |
| १५३ | ९ | अनुरक्त थीं। | अनुरक्त थीं ( वा० रा० ५।२४।९-१२ ) |
| १५५ | २ | शक्ति है नेत्र | शक्ति है |
| १५५ | ३ | क्रोधदीप्त से | क्रोध दीप्त नेत्र से |
| १५६ | २३ | एकांकी | एकांगी |
| १५७ | १ | क्योंकि सतीत्व | सतीत्व |
| १६२ | ५ | सैव्या | दीर्घिका |
| १६४ | २ | प्रायः | पाया |
| १६६ | २७ | प्रष्या | प्रेष्या |
| १७१ | २२ | इन्द्र था | इन्द्र था ( वा० रा० ७।३०।३३) |
| १७४ | ३ | इंसा० रिली० खं० १२३ पृ० | खं० १, पृ० १२३ |
| १७४ | ३ | मध्ययुगीय | मध्ययुगीन |
| १८० | २७ | अन्य | अनेक |
| १८२ | १७ | व्यवस्था | अवस्था |
| १८४ | २ | अश्विनों | अश्विनियों |
| १८४ | १० | काले | काणे |
| १८७ | १९ | शवर | शबर |
| १९१ | ११ | पिता प्रभुता | पितृ प्रभुता |
| १९१ | ४ | १३ | १२ |
| १९४ | ३० | जायज | क्षम्य |
| २०१ | फोलियो | सन्सान | सन्तान |
| २०१ | २७ | कस्टाज | कस्टम्ज |
| २०४ | २ | उपनिषद् | उपनिषद् (१।१।१।१) |

| | | | |
|---|---|---|---|
| २०६ | १० | १० | ११ ( यह टिप्पणी पृ० २०७ पर छपी है। |
| २०७ | ५ | बर | दूर |
| २०७ | ९ | ११ | १२ |
| २०७ | ८ | के शैराव | शैशव |
| २०७ | १० | आवो | आओ |
| २०८ | १२ | पृ० | पृ० ९८-९९, १४२-४, १७५-७६ |
| २०८ | २४-२६ | १२, महा०–१३।८५।६ | |
| २०८ | २५ | आय० | आप० |
| २११ | २६ | नमक | नामक |
| २१४ | २५ | लोकाम् | लोकान् |
| २१५ | १५ | पुन् | पुत् |
| २१८ | १ | रोते कहा | रोते हुए कहा |
| २२७ | १ | अकांक्षा | आकांक्षा |
| २३१ | १ | तै० ड० | तै० उ० |
| २४५ | २९ | इंस्ट्रीटचूट | इंस्टीटचूट |
| २५३ | ३० | ही थी। | ही थी ( किन्जी–पू० पु० पृ० ३२३ )। |
| २७४ | ४ | करण | कारण |
| २७८ | ३ | सूत्र | सूक्त |
| २९३ | ६ | Surviuor | Survivor |
| २९७ | २५ | पुत्रयौत्रयो | पुत्रपौत्रयोः |
| ३११ | ३१ | सप्तमद्रूर्ध्व | सप्तमाद्रूर्ध्व |
| ३१७ | १४ | ऊपर से नीचे तक | ऊपर तथा नीचे |
| ३२७ | २३ | और दादी से | और परदादी को परदादा से |
| ३३३ | ४ | स्त्रीशब्दों वैनतेय से ( विनता का पुत्र ) | स्त्री शब्दों-विनता आदि से वैनतेय ( विनता का पुत्र ) |
| ३३४ | ७ | आलिय | अलिय |

| | | | |
|---|---|---|---|
| ३३४ | १८ | आलिय | अलिय |
| ३३४ | १८ | एजमान | यजमान |
| " | १९ | एजमन्ती | यजमानी |
| ३३५ | | तखाड़ | तरवाड़ |
| ३३८ | २१ | युक्त | |
| ३५२ | १६ | मानी है ! | मानी है ३९ । |
| ३५४ | ३० | पृ० | पृ० ४२० । |
| ३६८ | १ | सम्पत्ति का | सम्पत्ति से |
| ३७८ | ५ | अनुवन्ध्या | अनुबन्ध्या |
| ३८८ | १५ | पोमण्ड | पौगण्ड |
| ३९५ | १६ | उस | उसका |
| " | २६ | गम्यत | गम्यते |
| ४०० | ११ | अधिकार थे | अधिकार |
| ४०५ | ७ | ले लो | ले ले, |
| ४१९ | १३ | पिता से | पिता का |
| ४३५ | १२ | ( अविभाज्य ) पर | पर |
| ४५७ | २१ | प्रतिष्ठा बड़ी | बड़ी प्रतिष्ठा |
| ४६७ | २० | गोपाल चन्द्र | गोलाप चन्द्र |
| ४६९ | १४ | " | " |
| ४७३ | ९ | वयक्तिक | वैयक्तिक |
| ४७६ | ८ | पिण्ड दान के | पिण्डदान तथा अंश ग्रहण के |
| ४८९ | ७ | बचा हुआ है। | बचा हुआ है ( दे० ऊ० पृ० ४७८ ) । |
| ४९७ | १५ | वसिग्ठ स्त्री | वसिष्ठ के स्त्री |
| ५०० | ८ | देवण्ण भट्ट | कुबेर |
| ५०१ | २५ | दत्तक पुत्र बनने | दत्तक पुत्र बनाने |
| ५०२ | २० | 'पति की अनुमति' | 'स्त्री पति की अनुमति |
| ५१५ | ४ | ब्राह्मण | ब्राह्मणों |
| ५१८ | ५ | कानून | बिल |
| ५१९ | १३ | होता | होती |

| | | | |
|---|---|---|---|
| ५४३ | १ | Jeristic | Juristic |
| ५४३ | २६ | पारीहृचे | पारिणह्च |
| ५५९ | १७ | परिणेयं | पारिणाय्यं |
| ५७० | १२ | अपना पुत्र | अपने पुत्र |
| ५८८ | १७ | तद्गमी | तद्गामी |
| " | २० | आदायादकं | अदायादकं |
| ५८९ | ९ | विधवाओं का | विधवाओं को |
| ५९२ | ८ | बने रहे। | बने रहें १९ । |
| ५९५ | १० | पृ० ५१ | ५९१ |
| ६०१ | ९ | विधवा स्त्री धन | विधवा के स्त्रीधन |
| ६१५ | २२ | कनफ्लिटिंग | कन्फ्लिक्टिंग |
| ६३१ | २९ | समह | समूह |
| " | ३० | " | " |
| ६३४ | २३ | किया जाय। | किया जाय ६० । |
| ६३७ | १९ | स्पष्टता माता | माता |
| ६४६ | १२ | अलिप | अलिय |
| ६५० | ५ | सत्र | सूत्र |
| " | २३ | कार्य | कार्यों |

---

# अनुक्रमणिका

–––

## ...न्द। मडल द्वारा पुरस्कृत तथा प्रकाशित पुस्तकों की सूची

| पुस्तक का नाम | लेखक |
|---|---|
| १. सूरदास और उनका काव्य | पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी |
| २. तुलसीदास और उनकी देन | श्री रामनाथ 'सुमन' |
| ३. महाकवि भूषण | श्री भागीरथ प्रसाद दीक्षित |
| ४. सुगम हिन्दी शिक्षा | प्रो० शिवनारायण लाल |
| ५. पूर्वी तथा पश्चिमी दर्शन | डा० देवराज |
| ६. विजयनगर साम्राज्य का इतिहास | श्री वासुदेव उपाध्याय |
| ७. विषपान (नाटक) | श्री हरिकृष्ण प्रेमी |
| ८. भारतवर्ष का आर्थिक इतिहास | श्री कृष्णदत्त भट्ट |
| ९. आधुनिक व्यापार | प्रो० दयाशंकर दुबे<br>प्रो० कान्तानाथ गर्ग |
| १०. वीर सतसई (श्री सूर्यमल्ल मिश्रण कृत) | प्रो० कन्हैयालाल सहल<br>प्रो० पतराम गौड़<br>ठा० ईश्वरदान आशिया |
| ११. द्रौपदी-विनय अथवा करुण बहत्तरी | प्रो० कन्हैयालाल सहल |
| १२. बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन (दो भाग) | श्री भरत सिंह उपाध्याय |
| १३. हिन्दू परिवार मीमांसा | श्री हरिदत्त वेदालंकार |

(अप्रकाशित)

| | |
|---|---|
| १४. हिंदू विवाह का विकास | श्री हरिदत्त वेदालंकार |
| १५. राजस्थानी कहावतें | प्रो० कन्हैयालाल सहल |
| १६. भारतवर्ष का सांस्कृतिक इतिहास | श्री कृष्णदत्त भट्ट |
| १७. विष्णुगुप्त चाणक्य (एतिहासिक उपन्यास) | डा० सत्यकेतु विद्यालंकार |
| १८. राम (बालकोपयोगी) | श्री अतुलानन्द चक्रवर्ती |

---